सुभाषित रत्न संदोह प्रवचन

(भाग १, २, ३)

मूल ग्रन्थकर्त्ता :—

श्रीमदमितगति आचार्य (द्वितीय)

प्रवचनकार —

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, गुरुवर्य श्रीमनोहर जी वर्णी, 'सहजानन्द महाराज'

सम्पादक :—

पवन कुमार जैन

सदर, मेरठ

प्रकाशक :—

खेमचन्द जैन

मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५-ए रजीतपुरी, सदर मेरठ

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

क्र०	नाम	स्थान
१	श्री ला० महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स	सदर मेरठ
२	श्रीमती फूलमाला देवी धर्म पत्नी श्री महावीर प्रसाद जी जैन बैंकर्स	" "
३	श्रीमती शशिकान्ता जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल सिंह जी जैन सर्राफ	सोनीपत
४	श्री ला० लालचन्द विजय कुमार जी जैन सर्राफ	सहारनपुर
५	श्रीमती सुवटी देवी जैन सरावगी	गिरीडीह
६	श्रीमती जमना देवी जैन धर्मपत्नी श्री भवरीलाल जैन पाण्ड्या	झुमरीतिलैया
७	श्रीमती रहती देवी जैन धर्म पत्नी श्री विमल प्रसाद जी जैन	मन्सूरपुर
८	श्रीमती श्रीमती जैन धर्मपत्नी श्री नेमिचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	श्रीमान शिखर चन्द जियालाल जी एडवोकेट	"
१०	श्रीमान चिरजी लाल फूलचन्द बैंजनाथ जी जैन बडजात्या नई मण्डी	"
११	श्रीमती पूना बाई धर्मपत्नी स्व० श्री दीप चन्द जी जैन	गोटेगाव

समादरणीय पाठक वृ द,

ग्रन्थराज 'सुभाषित रत्न सदोह' पर परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज के प्रवचन आपके सम्मुख प्रस्तुत है। इस ग्रन्थराज के मूलकर्त्ता आचार्य प्रवर श्रीमत् अमितगति है जो राजा मु ज के समकालीन थे।

सकल जैन वाङमय के पारगत आचार्य देवसेन के शिष्य श्रीमान पूज्य अमितगति (प्रथम) आचाय हुये। उनके शिष्य श्री नेमिषेण आचार्य हुये जो सज्जनो मे प्रधान और माथुर सघ के तिलक स्वरूप थे। उनके शिष्य श्री माधवसेन सूरि तथा उनके विद्वान शिष्य श्री अमितगति (द्वितीय) आचार्य हुये जिन्होने इस पवित्र शास्त्र की रचना की।

इस ग्रन्थ मे ससार के विषयो के त्याग आदि ३२ प्रकरण है जिनको वडे ही विशद रूप मे समझाया गया है। सवसे अधिक उपयोगी वात तो यह है कि ये सभी प्रकरण मानव मात्र के काम के है चाहे वह किसी भी जाति का क्यो न हो। आचार्य प्रवर की लेखन प्रणाली अपने मे बेजोड है। क्योकि इन्होंने प्रत्येक विषय को अनेको प्रकार से समझाया है और फिर भी सतुष्ट न होने पर उसी विषय को अन्य स्थल पर अन्य प्रकार से समझा दिया है। सभी समारी जीवो के हित की उत्कट भावना को अपने अन्त करण मे रखते हुये ही मानो आचार्य प्रवर श्री अमितगति ने इस ग्रन्थ की रचना की। प्रस्तुत ग्रस्थ मे सर्वाधिक विवाद ग्रस्त प्रकरण आप्त गुरू व आगम के स्वरूप वर्णन का है परन्तु आचार्य प्रवर ने इन विषयो को इस ढग से समझाया कि जैन अजैन सभी ने इस स्वरूप को स्वीकार किया है। अस्तु प्रस्तुत ग्रन्थ वास्तव मे एक कल्प वृक्ष व चिन्तामणि रत्न है जिसके अभ्यास व चिन्तवन से सासारिक सुखो से परे पारलौकिक शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

ऐसे ग्रन्थराज पर परम पूज्य अध्यात्म योगी श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज ने प्रवचन करके जनसाधारण का महान उपकार किया है। महाराज श्री की प्रवचन शैली से प्रत्येक अध्यात्म प्रेमी मुमुक्षु भली-भाति परिचित है। लगभग ५०० ग्रन्थो के रचियता श्री मनोहर जी वर्णी ने अध्यात्म प्रेमियो के लिये इस सर्वोपयोगी ग्रन्थ को सरल भाषा मे प्रस्तुत करके अध्यात्म साधना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मैं आशा करता हू कि ये प्रवचन रत्न के समान हमारे जीवन को प्रकाशित कर अज्ञानाधकार को दूर करने मे सहायक होंगे।

पवन कुमार जैन,
ज्वैलर्स
सदर मेरठ

अध्यात्मयोगी गुरुवर्य श्री सहजानन्द जी (मनोहर जी वर्णी) महाराज ने आत्म-विशुद्धि की धुन मे करीब ५०० से अधिक ग्रन्थो की रचना की है। जैन शासन मे जो प्रसिद्ध ग्रन्थ है, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, ज्ञानार्णव, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मानुशासन, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्रमेयकमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री, पञ्चाध्यायी, रत्नकरण्ड, द्रव्यसग्रह, मोक्षशास्त्र आदिक सभी ग्रन्थो पर प्रवचन है, लघुजीवस्थानचर्चा, लघुकर्मस्थानचर्चा, सम्यक्त्वलब्धि, कर्मक्षपणदर्पण, गुणस्थानदर्पण, अध्यात्मसिद्धान्त आदि कई कुञ्जीरूप ग्रन्थ हैं जिनके अध्ययन से धवला, गोम्मटसार, लब्धिसार, समयसार आदि ग्रन्थो मे सुगमतया प्रवेश होता है। सहजानन्दगीता अध्यात्मसहस्री, आत्मसबोधन आदि अनेको ग्रन्थ शान्तिकारक एव महत्वपूर्ण हैं। यह समाज के वडे सौभाग्य की बात है जो ऐसे ज्ञानरत्न प्राप्त हुए हैं। जो महापुरुष इस साहित्य का अध्ययन करते हैं वे जानते हैं कि हमको कैसा अलौकिक ज्ञानलाभ व शान्तिलाभ मिला है। आशा है कि विवेकशील पुरुष इस साहित्य का अध्ययन कर अपना यह दुर्लभ जीवन सफल करें।

—प्रकाशक

卐 आत्म-कीर्तन 卐

हू स्वतन्त्र निश्चल निष्काम ।
ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।।टेक।।

मैं वह हू जो है भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान ।।
सुख-दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहि लेश निदान ।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हार जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुचू निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ।।
होता स्वय जगत परिणाम मै जग का करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, "सहजानन्द" रहू अभिराम ।।

✡ मगल-तन्त्र ✡

मैं ज्ञानमात्र हू, मेरे स्वरूप मे अन्य का प्रवेश नही अत निर्भार हू ।
मैं ज्ञानघन हू, मेरे स्वरूप मे अपूर्णता नही, अत कृतार्थ हू ।
मैं सहज आनदमय हू, मेरे स्वरूप मे कष्ट नही, अत स्वय तृप्त हू ।

ॐ नम शुद्धाय, ॐ शुद्ध चिदस्मि ।

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

प्रथम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

जनयति मुदमंतर्भव्यापाथोरुहाणी, हरति तिमिरराशिं या प्रभा मानवीया ।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतीद्धा, वितरतु धुतदोषा सार्हती भारती वः ।।१।।

मंगलाचरणमें आर्हती भारतीका आशीर्लाभ—भारती अर्थात् जिनवाणी हम सबको तुम सबको भारती प्रदान करे अर्थात् जिनवाणीकी उपासनाके प्रसादसे हमको जिनवाणी प्राप्त हो, जो जिनवाणी सत्य खोजी भव्य जीवोंको हर्ष उत्पन्न करती है, जो जिनवाणी सूय की प्रभाकी तरह अज्ञान अंधकारकी राशिको नष्ट करती है, जो जिनवाणी समस्त पदार्थोंका यथार्थस्वरूप प्रकाशन करती है, जिस जिनवाणीमें रंच भी दोष नही है वह अरहंत भगवान से प्रकट हुई भारती हम सबको भारती प्रदान करे अर्थात् सद्बुद्धि दे, तत्त्वज्ञान देवे ।

भव्य जीवोंको आनन्द देने वाली भारतीका गुणानुवाद—इस मंगलाचरणमें पहला विशेषण दिया है वाक्य रूपमे कि यह जिनवाणी सत्य खोजी भव्य जीवोको आनन्द प्रदान करती है। वास्तवमे आनन्द वस्तुस्वरूपके सम्यग्ज्ञानमें है और वस्तुस्वरूपके सम्यक् बोध होने पर जो आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दकी तुलना यहाँ संसारके बड़ेसे बड़े सुखोंसे भी नही दी जा सकती है संसारके प्रत्येक सुखमें आकुलता भरी हुई है और पहले तो यह ही देखें कि आकुलतासे ही सुखका भोगना होता है। ५ इन्द्रियके विषय और मनका विषय इनके सुखोंको जो कोई भी भोगता है वह शान्तचित्त होकर नही भोग सकता, किन्तु अन्त: क्षोभ आकुलता विकल्प मचा कर ही उसको भोग सकता है। तो सांसारिक सुखमें प्रथम तो यह ही एक अवगुण है कि वह आकुलतासे ही भोगा जा सकता है। तो जगतका कोई भी सुख

सत्य तथ्यके ज्ञान होनेमे हुए आनन्दकी तुलना नही कर सकता। जिस समय जीवको समस्त पदार्थोंकी स्वतन्त्रताका परिज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु परिपूर्ण स्वतन्त्र सत् है। एकका दूसरे पर रच भी अधिकार नही है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही परिणमता है ऐसा ही स्वरूप मेरा है। मैं असाधारण चैतन्यस्वरूप हू। अपने आपमे ही अपनेको परिणमाता रहता हू। इसका बाह्यसे रच सम्बन्ध नही। यह स्वय खुदमे अनन्त आनन्द और ज्ञानसे परिपूर्ण स्वभाव वाला है। वस्तु तत्त्वका जब यथार्थ। बोध होता है तो वहाँ अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्दको देने वाली कौन है ? यह भारती माता, जिनेन्द्र भगवानकी वाणी। सो जो सत्यके खोजनहार पुरुषोको अलौकिक आनन्द प्रदान करती है वह प्रभु वाणी हम आप सबको सद्बुद्धि प्रदान करे, निर्मल ज्ञान दे।

अज्ञानान्धकारको हटानेवाली प्रभुवाणीका गुणानुवाद—यहाँ दूसरा विशेषण दिया है कि यह जिनेन्द्र वाणी सूर्यकी प्रभाकी तरह तिमिर राशिको नष्ट करती है जैसे सूर्यकी प्रभा अधकारको दूर कर देती है। यद्यपि सूर्य अपने आपमे ही है, जैसे वह पृथ्वीकायिक विमान है वह अपने आपमे अपना परिणमन कर रहा है। वह विमान अपने प्रदेशोसे बाहर किसी को कुछ प्रदान नही करता, न किसीका कुछ हरता है, पर निमित्त नैमित्तिक योग है ऐसा कि सूर्यका उदय हुआ, सूर्यकिरणोका सन्निधान हुआ कि ये पृथ्वी आदिक प्रकाशावस्था वाले बन जाते है और जहाँ प्रकाश रूप बने पदार्थ वहाँ अधकार पर्याय विलीन हो जाती है। इस तरह निमित्त नैमित्तिकयोग वश यह बात होती ही है कि सूर्यकी किरणे इस तिमिर राशिको दूर कर देती है, अधकार है पुद्गलद्रव्यकी पर्याय और यह है द्रव्य पर्याय, क्योकि अंधकार पुद्गलद्रव्यके रूप, रस, गध स्पर्श इन चार गुणोमे से किसी भी गुणकी पर्याय नही है। कोई वस्तु यदि सफेद है तो अधेरा छा जानेसे क्या उस वस्तुका रग काला हो जाता है ? रूपमे कुछ परिणमन नही होता। वह तो सफेद ही वहाँ पडी हुई है, सो देख लो, तुरन्त ही प्रकाशका सन्निधान पाकर वह वस्तु अपनी अधकार अवस्थाको त्यागकर प्रकाश अवस्थामे आ जाता है। तो यह अंधकार जैसे गुणपर्याय नही है, किन्तु पुद्गलकी द्रव्य पर्याय नही है, प्रदेश पर्याय है, इस प्रकार प्रकाश भी पुद्गलद्रव्यकी गुणपर्याय नही है, किन्तु द्रव्यपर्याय है। सो जब पुद्गलद्रव्यमे प्रकाश पर्याय जगती है तो अधकार पर्याय बिलीन हो जाती है। सो जैसे सूर्यकी प्रभा अंधकारकी राशिको दूर कर देती है इसी प्रकार यह जिनेन्द्र वाणी अज्ञान अधकारको दूर कर देती है। ऐसी जिनेन्द्र वाणी हम आप सब लोगोको निर्मल ज्ञान प्रदान करे।

वस्तुस्वरूपका द्योतन करने वाली प्रभुवाणीका गुणानुवाद—तीसरा विशेषण दिया है कि यह भारती समस्त पदार्थोका द्योतन करती है। जो पदार्थ जिस रूपमे है उस पदार्थ

को उसी रूपमें जीवोंके ज्ञानमे प्रकाशित कर देना यह इस भारतीका कार्य है। भारती अर्थात् जिनवचन, ये वचन दो प्रकारके है---(१) भाववचन और (२) द्रव्यवचन। द्रव्यवचन तो पौद्गलिक है, भाववचन भावरूप है। सो प्रभुकी दिव्यध्वनि तो द्रव्यवचन है, पर उसको सुनकर श्रोताजन अपने आपमे उसे भाववचन बना लेते हैं। उन वचनोका जो अर्थ है उन अर्थो के रूपमे उनका अन्तर्जल्प चलता है। सो वचनो द्वारा पदार्थोके स्वरूपका द्योतन किया जाता है। यदि यह भारती न होती तो पदार्थका स्वरूप लोग कहांसे प्राप्त करते और मोक्षमार्गका कैसे उपाय बनाते ? इस कारण जिनेन्द्रवाणीका जितना उपकार माना जाय वह सब थोडा है, भले ही जिसको इस जिनेन्द्रवाणीका महत्त्व नही मालूम है वह भले ही इसकी उपेक्षा करे, सो उपेक्षा करके वे अपना भवितव्य ही बिगाड़ रहे है। जैनेन्द्र वाणीके विरोधमे, उपेक्षामे ज्ञानलाभ न अब है, न भविष्यमे हो पायगा, पर जो जानते है कि हमारी अगर कोई हितकारिणी माता है तो वह प्रभुवाणी है।

प्रभुवाणीमें असत्यताकी असभवता---अरहंतदेवके वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकट हुई है, जिसके रागद्वेष नही रहा और समस्त पदार्थोंका परिपूर्ण ज्ञान हो रहा उसके वचन कभी भी असत्य नही हो सकते। असत्य वचन निकलनेके दो कारण है। एक तो रागद्वेष भाव होना, दूसरे—ज्ञानकी कमी रहना, किसीको ज्ञान पर्याप्त भी हो किन्तु किसी इष्ट अनिष्ट पदार्थमे रागद्वेष जग रहा हो तो अपनी खुदगर्जीके लिए जैसेमे इसका मन संतुष्ट हो उस प्रकार का वचन बोलेगा, वहाँ असत्य बात भी कही जा सकती है अथवा कोई प्रकट रागद्वेष तो नही है, किन्तु ज्ञान-कम है, जानकारी ही नही है तो वह भी किसी प्रसगमें असत्य बात कह सकता है। तो कही बिना जाने असत्य वचन निकले और कही कषायवश असत्य वचन निकले, किन्तु परमात्मामे रागद्वेष विकार रंचमात्र नही है और ज्ञानका परिपूर्ण विकास है, उसमे रंच भी कमी नही है, फिर शरीरसहित होनेसे ये परमात्मा दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश करते है। उस ध्वनिमे कोई भी वचन असत्य नही है। और उस ध्वनिको सुनकर गणधर देवने उसको स्पष्ट द्वादशांगकी वाणीमे समझा है, फिर उस वाणीमें समझकर लोक भाषामें उन्होने उपदेश किया है। तो ऐसी शुद्ध परम्परासे आयी हुई वाणीमें किसी भी प्रकारका दोष नही है, प्रत्युत वह वाणी सत्य ही है, उसमे जो कुछ पदार्थका स्वरूप बताया है वह निर्दोष है।

शुद्ध परम्परामें जिनवचनोंकी आज भी उपलब्धता—यह जैन शासनका उपदेश तीन तरहकी वचन रचनामे हुआ है। प्रथम भाषावर्गणा तो अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिमे है, उसमे लोक भाषाके योग्य कोई अक्षर नही होता, इसी कारण उसे निरक्षरी कहा करते है।

फिर भी कुछ ध्वनि तो होती ही है, वह ध्वनि मन्त्रस्वरूप बीजाक्षर रूप होती है, जिसका बोलना कुछ कठिन है। जैसे कि कभी मंत्रशास्त्रमे ७-८ व्यञ्जनोका सयुक्त अक्षर देखनेको मिलता है। जैसे तल्व्यूँ ह म् ल् र् व् य् ऊ म, इतने व्यञ्जन उसमे पडे है, स्वर एक है, तो ऐसी कोई बीजाक्षररूप ध्वनि होती है। उस ध्वनिको झेलते है गणधरदेव। तो गणधर देव द्वादशांग वाणीमे उसे समझते है। यह दूसरी वाणी है। द्वादशाग वाणी भी लोकभाषाकी वचनरचनाके समान नही है। भला जहाँ दो तोन आदिक अक्षरोको लेकर ५०-६० अक्षरो तकका संयोगी अक्षर होता है, वह वचनके द्वारा हम आपसे कैसे बोला जा सकता है? उस द्वादशांग वाणीको वचनरूपसे कहनेमे भी एक ऋद्धि होती है। उस द्वितीय वाणी द्वादशांग वाणीको समझकर गणधरदेव चूकि वे लोकभाषा और द्वादशांग वाणी दोनोके जानकार हैं सो फिर वे लोकभाषामे लोगोको उपदेश करते है, तो ऐसे वीतराग सर्वज्ञदेवके मूलसे विनिर्गत यह जैनशासनका उपदेश सही वस्तु स्वरूपको बताने वाला है। ऐसी यह भारती समस्त पदार्थोंको प्रकट करने वाली है।

धुतदोषा प्रभुवाणीका आदर—चौथा विशेषण दिया है धुतदोपा, जिनके दोप धुल गए है, दूर हो गए हैं, जैनेन्द्र वाणीमे दोप रच नही है, क्योकि उनके मूल वक्ता आप्त सर्वज्ञदेव है और वे भी आशय, अभिप्राय रख करके नही बोलते, किन्तु भव्य जीवोका भाग्य व प्रभुके वचनयोगका प्रवर्तन इन दो कारणोसे वह दिव्यध्वनि निकलती है। जैसे मेघ बरसते हैं तो मेघ कभी यह अभिप्रोय नही रख पाते कि मैं इस गाँवमे बरस जाऊँ, किन्तु उस गाँव वालोका ही भाग्य है कि उनके भाग्योदयसे, सातोदयसे इष्ट मेघवर्षा हो जाती है तभी तो ऐसी विचित्रता देखनेमे आयी है कि जब जरूरत है पानी बरसनेकी तो एक गाँवमे तो बरस गया और उसके पासके अन्य गाँवमे नही बरसा तो ऐसा बरस जानेका कारण वहाँकी जनता के भाग्यका उदय है। तो ऐसे ही भगवानकी दिव्यध्वनि खिरती है उसमे मुख्य कारण है भव्य जीवोका भाग्योदय। और वहाँ है प्रभुमे वीतरागता और सर्वज्ञता तो ऐसे निर्दोष आत्मासे जो भी ध्वनि पैदा होती है उसके जानकार जो गणधरदेव है वे यथार्थ प्रकाश पाते है। ऐसी धुतदोषा प्रभुवाणी हम आपको सम्यग्ज्ञान प्रदान करे। अब इस ग्रन्थमे ३२ प्रकरण है, उनमे से पहला सांसारिक विषयसुख निराकरण नामका प्रकरण है। उसका प्रारंभ किया जा रहा है।

१—सांसारिक विषयसुख निराकरण प्रकरण

न तदरिरिभराजः केसरी केतुरुग्रो, नरपतिरतिरुष्टः कालकूटोऽतिरौद्रः।
प्रतिकुपितकृतांत. पावक. पन्नगेंद्रो, यदिह विषयशत्रुर्दुःखमुग्रं करोति ॥२॥

विषयशत्रुकी उग्रदुःखकारिताके वर्णनके प्रसंगमे स्पर्शनविषय व रसनाविषय शत्रुका

निर्देश—संसारके प्राणियोंको जैसा उग्र दु:ख ये विषयसुखरूप शत्रु उत्पन्न करते हैं उतना उग्र दु:ख ससारकी अन्य कठिन-कठिन घटनाये भी नही करती। विषयशत्रुका अर्थ है—विषयोंकी तृष्णा। ५ इन्द्रिय और मन इन ६ के विषयोकी तृष्णा जिस पुरुषको लगी हो उसको अतीव उग्र दु:ख उत्पन्न होता है। स्पर्शनइन्द्रियका विषय है स्पर्श। किसीको ठंढा अच्छा लगता है, किसीको गर्म छूना अच्छा लगता है किसीको चिकना, किसीको रूखा स्पर्श अच्छा लगता है। किसीको कठोर, नरम, भारी अथवा हल्का अच्छा लगता है तो उन स्पर्शोंके छूने मे तृष्णा जगाना यह है स्पर्शन विषयशत्रु। रसमे किसीको खट्टा अच्छा लगता, किसीको मीठा अच्छा लगता। किसीको कडवा, तीखा अच्छा लगता, यह जीवकी भिन्न-भिन्न प्रकृति है और भिन्न भिन्न कर्मोदय है। कोई पुरुष ऐसे होते है कि उनसे मीठा नही खाया जाता। खट्टा उनको बडा रुचता। कोई कोई बालक दूध जरा सा भी नही पी सकते, किसीको मीठा ही अच्छा लगता। खट्टेसे बहुत दूर रहना चाहते। किसीको कडवा भला लगता। करेलेकी साग बड़े चावसे खाते जितनी कडवी लगती है उतनी ही अच्छी भी मानते है। और ऊंट आदिक जानवर तो कडवी चीजको बडे चावसे खाया करते है। तो ऐसी जीवोकी भिन्न-भिन्न रुचि है रसके स्वादमे। जिसको जो रुचता हे उसकी उस विषयमे तृष्णा बढ जाती, यह है रसना विषय शत्रु।

घ्राणेन्द्रियविषयशत्रु, चक्षुरिन्द्रियविषयशत्रु व कर्णेन्द्रियविषय शत्रुका निर्देश—सुगध दुर्गन्धमे भी विचित्र रुचि है जीवकी। सुगंध तो प्राय: लोगोको रुचती ही है, पर ऐसे भी मनुष्य देखे गए अथवा कीट आदिक प्राणी देखे गए, पशु पक्षी देखे गए कि जिनको दुर्गन्ध रुचती है। जो तालाबमे मछली आदिकका शिकार करते। व्यवसाय करते ऐसे ढीमर जन, उनको मछलियोकी दुर्गन्ध ही रुचती है। कही फूलको या इत्रकी सुगधकी जगह पहुंच जायें तो वह उनको नही रुचती और तिर्यञ्चोमे तो अनेक है ही ऐसे। विष्टाके कीटको विष्टा ही रुचता है। अन्यत्र वह नही जाता। तो सुगंध दुर्गन्ध जिसको जो इष्ट है उसकी तृष्णा जग जाना यह है घ्राणविषय शत्रु। चक्षुइन्द्रिय द्वारा रूप भला लगता है। जिसको जो रूप रुचता है उसको मिल क्या जाता है। दूरसे उस रूपको निरखते रहने से इस निरखने वाले को लाभ क्या हो जाता है? आंखका परिश्रम किया। मनका बिगाड़ किया। आत्मामे निर्बलता उत्पन्न की। लाभ कुछ नही होता। उसे कोई लौकिक लाभ भी नही है, पर तृष्णा एक ऐसी प्रेरणा करती है कि जिसको जो रूप रुचा वह उस रूपको निरखनेमे अपना सारा बल खो देता है। तो रूप निरखना, तृष्णा होना यह है नेत्रविषयशत्रु। किसीको राग रागनी के शब्द अतीव इष्ट है और उनके सुने बिना चैन भी नही पड़ती। उसके लिए न जाने कहाँ कहाँ जाते। रातोरात जगना, बहुत-बहुत परिश्रम करना यह सब तृष्णाके कारण होता है।

तो इस तृष्णाको कहते है कर्णविषयशत्रु ।

मनोविषयशत्रुकी उग्रदुःखकारिता—छठा शत्रु है मनोविषय । यह मनोविषय बड़ा प्रबल वैरी है । इस असार ससारमे यदि किन्ही मायावी पुरुषोका मायामयी नाम मायामयी लोगोसे मायामय बन जाए तो उससे उस पुरुषको लाभ क्या मिलता है । वह आत्मा अमूर्त ज्ञानमात्र है । सर्वसे निराला है । इसका लाभ तो अपने आत्मामे रमण करने से है, पर तृष्णा ऐसी है कि उस मनके विषयमे बढ जाती है यह है मनोविषयशत्रु । तो इन विषय शत्रुवोसे जैसा दु.ख उत्पन्न होता है वैसा दुःख अन्य किसी घटनासे नही होता । मनोविषय-शत्रु तो बहुत ही क्लेशकारी है, विषय शत्रुवोमे सर्व कठिन शत्रु है मनोविषयशत्रु । यह मन कितने भविष्य तक की किन-किन बातोकी इच्छा करके इस आत्माको दु खी करता है । मन के अनुकूल कार्य बनानेके लिए यह प्राणी किसी भी जीवकी हिंसा कर सकता है । झूठ चोरी आदिक सभी प्रकारके पाप कर सकता है जिसको इस दुनियामे अपने ख्यातिकी तीव्र लाल-सा जग गई हो । तो ऐसा यह मनोविषय शत्रु इस जीवको उग्र दुःख उत्पन्न करता है । बड़े-बड़े राजपुत्र और और भी राजा महाराजा एक इस मनके विषयसे पीडित होकर ही सारे जीवन दुःख पाते रहे । अनेक कथायें आती है—जिनमे जीवन दु खसे भरा रहा है । किसी राजपुत्रने किसी सेठकी पुत्री या बहूको देख लिया तो उससे वह कामवासनासे पीडित हो गया, आहार छोड दिया, बडी आहे भरने लगा, अधमरा सा हो गया' यह क्या है ? यह मनोविषयका आक्रमण है ।

मदोन्मत्त हाथीसे भी अधिक विषयशत्रुकी दुःखकारिता—ये विषयशत्रु इस जीवको ऐसे कठिन दुःख उत्पन्न करते है जैसे दुःख बडे भयकर अनिष्ट समागममे भी नही होते । मदोन्मत्त हाथी जब बिगडनेपर भागता है तो जो भी पुरुष मिलता है उसे सूँडसे पकडकर झकोर देता, पैरके नीचे रखकर दाब देता, कितना भयकर उत्पात करता है । पुराणोमे ऐसी कथायें बहुत आयी है और यहाँ भी देखा जाता है । कि जब कोई हाथी बिगड जाता है तब वह बहुत सहार करने लगता है । मदोन्मत हाथियोको तो वश किया जा सकता है, ऐसा किया भी है । एक कथानकमे स्वामी श्री महावीर जी ने भी किसी मदोन्मत्त हाथीको वश किया था । और भी अनेक ऐसे कथानक है कि उन उन हाथियोको वश किया जा सकता, और वे जितना भी दुःख देते है वह दुःख एक भवका है । किसी हाथीने किसीपर आघात किया, किसीने किसीको मार डाला, मगर ये विषय शत्रु इस भवमे भी दुःखी करते है और इनके कारण भव भवमे जन्म मरण सकट ही सहना पडता है । तो मदोन्मत्त हाथी भी जितना भयकर क्लेश उत्पन्न कर सकते है उससे कई गुना दु ख ये ५ इन्द्रियके विषय और मनके विषयका अनुराग व्यामोह इस जीवको दुःखी करता है । अब इन विषयोके मोहसे यह जीव

भव भवमे जन्म धारण करे, जीवनभर कष्ट पाये और मरण किया करे ।

मांसलोलुपी सिह, उग्रकेतु, अतिक्रुद्ध राजासे भी भयकर विषयशत्रुकी दुःखकारिता—मांसलोलुपी सिह, एक तो सिह मासभक्षी होता ही है और फिर जिसको मांसकी लोलुपता हो जाय तो वह अनावश्यक ही अनेक जन्तुवोको, मनुष्योको मारता रहता है । चाहे पेट भी भर गया हो, आवश्यकता न हो तो भी उसकी प्रकृति बन जाती है कि जो भी सामने आये उसीको ही खाता जाय । तो ऐसा मांस लोलुपी सिंह जितना कष्ट उत्पन्न कर सकता है जीवो को उससे भी भयकर उग्र कष्ट ये विषयशत्रु उत्पन्न करते है, क्योकि सिहके आघातसे प्राणी एक बार ही मरा, लेकिन इन विषय शत्रुओके आघातसे यह जीव भव-भवमे कष्ट पाता है । भयकर राहु केतु लोकमे इन्हे दु खकारी मानते है, एक ऐसी प्रसिद्धि है । चाहे वे निमित्तनैमित्तिक योगवश या कोई अशुभकी सूचनाके कारणवश ऐसा लोग कहने लगे हों या जो कुछ भी हो, पर उससे भी भयकर दुःख इन विषयशत्रुवो द्वारा प्राप्त होता है । क्रुद्ध राजा जनता को बहुत पीडित कर देता है । राजा अपने नगरका पूरा मालिक कहलाता है । वह जिस किसीका भी कुछ कर दे । अन्याय अत्याचार सब तरहसे वह वर्तता है । किसीपर कितना ही अत्याचार करे, उसकी सुनवाई कहाँ हो सकती ? तो किसीपर कोई राजा क्रुद्ध हो गया हो तो उसकी खैर नही, और इतना ही नही, कभी कभी क्रोधी राजा इतना भी हुक्म कर डालता है कि इसके समस्त कुटुम्बको कोल्हूमे पेल दो । तो कोई राजा यदि क्रुद्ध हो जाय तो उसके आघातसे रक्षा करने वाला कौन हो सकता है ? जितना दुःख क्रुद्ध राजा देता है उससे भी कई गुना दु ख इन विषयशत्रुवोसे प्राप्त होता है । ये विषयशत्रु कही बाहरसे नही आते किन्तु यह जीव खुद अपने अज्ञानसे, अपनी विषय तृष्णासे भाव बिगाडता है और अपने आपको भव-भवमे कष्टमे डालता है ।

अतितीक्ष्णविष व अतिक्रुद्धयमसे भी अधिक विषयशत्रुकी क्लेशकारिता—अति तीक्ष्ण विष, कालकूट, हालाहल ये जितने भयकर विष है उनको कोई पी ले, खा ले तो उसका फल क्या है ? तडफ-तडफकर मरना, बेहोश हो जाना, शरीरमे अनेक बाधायें होना और उन सब कष्टोको भोगते हुए यह मनुष्य मर जाता है । तो यह अतितीक्ष्ण विष, यह बहुत कठिन दुःख देता, पर यह विष जितना दु ख दे सकता है उससे भी कई गुणित दु.ख इन विषय शत्रुवोके प्रेमसे होता है विष खानेसे एक ही भवमे प्राणघात होगा, मगर इन्द्रियके विषयोमे रमनेसे या मनके विषयका पतग उडाते रहनेसे तो भव-भवमे जन्म होगा, मरण होगा, सारा जीवन दु खमय व्यतीत होगा । तो अतितीक्ष्ण विषपानसे भी जो दु ख उत्पन्न होता है उससे कई गुना विषयकषायोसे होता है । अतिक्रुद्ध यमराज जीवोको कष्ट पहुचाता है । लोकप्रसिद्धि

है ऐसी कि यमराज कोई यमदूत होता है और जो लोग ईश्वरको सृष्टिकर्ता मानते हैं उनके सिद्धान्तमे ईश्वरके पास रोकड बही हुआ करती होगी उनमे सबका हिसाव रहता है। किसके मरनेकी बारी आयी है ? तो यमराजको हुक्म देता है और जाकर वह उसकी जान निकाल लेता है, ऐसी प्रसिद्धि कर रखी है, पर वस्तुत ऐसा नही है। ये सभी जीव अपने उपार्जित कर्मके अनुसार आयुके क्षय होनेपर मरते है, तुरन्त ही नवीन आयुका उदय होता है, उसी समय जन्म ले लेता है, तो यह एक निमित्तनैमित्तिक वाली बात है, पर यहाँ यह समझाया गया है कि मरणकाल जब आता है तो वह मृत्यु कितना कठिन दुःख जीवको देती है, पर उससे जितना कष्ट होता है उससे कई गुना कष्ट इन विषय शत्रुवोके द्वारा हुए आक्रमणसे होता है।

प्रज्वलित अग्नि व विषधर पन्नगेन्द्रसे भी अधिक विषयशत्रुकी कष्टकारिता—प्रज्वलित अग्निसे सभी भस्म हो जाते हैं और वहाँ हिरण, खरगोश, मनुष्यादिक जो भी प्राणी उस बीच आ फसा उसका मरण हो जाता है, और कोई जीवित प्राणी अग्निसे जल-जलकर मरे तो वह कितना कष्ट पाता है। तो ऐसी भयंकर अग्निसे, जाज्वल्यमान अग्निसे जीवोको जितना कष्ट होता है उससे कई गुणित कष्ट इन विषय शत्रुवोसे होता। अग्निमे थोडा भी जल जाय तो यह मनुष्य कितना कष्ट मानता है ? पर विषय शत्रुसे यह व्यामुग्ध हो जाता है। विषयोको भोगते हुए यह मौज मानता है किन्तु मौज काहेकी ? तुरन्त भी आकुलता है आगे भविष्यमे भी आकुलता है। अनेक जन्म मरण करने पडेंगे, ऐसा है इन विषय-शत्रुओका आक्रमण। पन्नगोका इन्द्र—जो भयकरसे भयकर विषधर सर्प हैं वे यदि किसी मनुष्य या जानवरको डस लें तो बहुत देर तक जिन्दा नही रह सकता यथाशीघ्र मरण कर जाता है। तो ऐसे विषधर सर्पोंके डसनेसे जितना कष्ट होता है जीवोको उससे कई गुना कष्ट इन विषय शत्रुवोके व्यामोहसे होता है।

आत्महितार्थ विषयशत्रुसे दूर रहनेका कर्तव्य—इस छदमे यह वताया गया कि सासारिक सुख इस जीवके बैरी है। जैसे कोई ठगिया बडी भोली मनमोहनी बातोसे लुभा कर किसीका सर्वस्व ठग लेता है, ऐसे ही ये इन्द्रियके विषय मनमोहक बनकर इस जीवको ठग लेते है। कहाँ तो जीवका अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिका स्वभाव और कहाँ विषय व्यामुग्ध होकर यह जीव अपने ज्ञान और आनन्दको भी खो देता है। जो आनन्द और मौज मानता है वह विकृत आनन्द है। आकुलतासे भरा हुआ कल्पित मौज है। इन विषयोसे पीडित होकर यह जीव अपना सर्वस्व गमा देता है, इस कारण भव्य पुरुषोको अपने इस दुर्लभ पाये हुए मनुष्यभवकी बडी जिम्मेदारीका भव समझना चाहिए।

यहाँ इन्द्रिय आदिक योग्य मिली है, मन श्रेष्ठ मिला है इन सबका सदुपयोग आत्मज्ञानके लिए करना चाहिए ।

न मरदिविजनाथा येषु तृप्यति तेषु, कथमपरनराणामिन्द्रियार्थेषु तृप्तिः ।
वहति सरिति यस्यां दतिनाथोऽतिमत्तो, भवति हि शशकाना केन तत्र व्यवस्था ॥२॥

सुरेन्द्र नरेन्द्रोको अतृप्तिकारक इन्द्रियविजयोंसे साधारण मनुष्योके तृप्तिकी असंभवतो—यह विषयसुखकी नदी, विषय तृष्णाकी सरिता इतना प्रचण्ड वेग वाली है कि जिस विषय सुखकी नदी वेगमे बड़े-बडे इन्द्र चक्रवर्ती जैसे महान जीव भी वह जाते हैं । फिर अन्य पुरुषरूपी खरगोशकी तो कथा ही क्या है ? कोई बहुत बड़ी विशाल वेग वाली नदी हो, पर्वतसे बहुत बडी मोटी धारोसे गिरने वाली नदी हो, उस नदीमे बडे बडे मस्त हस्ती भी वह जाते है जिनमे इतना प्रचण्ड बल है कि जिसको कभी कोई कवि ऐसी उपमा देते हैं कि जितना २० वकरोमे बल है उतना बल एक गधेमे जितना बल बीसो गधोमे है उतना बल एक घोड़ेमे है । अनेक घोडोमे जितना बल है उतना बल एक भैसेमे, बीसो भैसोंमे जितना बल है उतना बल है सिहादिकमे और अनेक सिहोमे जितना बल है उतना बल है एक हाथीमे । यद्यपि सिह हस्तीको मार डालता है, कारण कि उसमे आक्रमणकी कला है, उसके चारो पैरोमे बडे पैने नख है, मुखके भी दाँत नखोकी तरह पैने है, इस कारण आक्रमण हो जाता है । यदि उसके नख काट दिए जायें, मुख बद कर दिया जाय और कहा जाय कि अब लडो हाथीसे तो हमारी समझसे हाथीसे सिह पार नही पा सकता । इतना बलशाली हाथी किसी बडी महानदीके वेगमे वह जाय तो फिर वहाँ खरगोश आदिक वह जायें तो इसमे क्या आश्चर्य ? उनमे तो कुछ बल नही, ऐसे ही सांसारिक विषयसुखकी नदियोमे इन्द्र चक्री आदिक भी वह गए । बड़े बडे राजा महाराजा, बड़े-बड़े देव ये भी विषयसुखमे आसक्त हो कर कष्ट पाते है ।

महान देवोके भी इन्द्रियार्थवृत्तिसे विडम्बनाका एक उदाहरण—श्री वृषभदेवके पूर्व जन्मकी एक घटना है । जब ये ललितागदेव थे, महाबल राजा ललितांग देवकी देवांगना हुई और जब वहांसे चलकर श्रीमती देवागना एक राजाकी कन्या हुई और यह ललितांग दूसरे देशके राजाके यहाँ पुत्र हुआ । उस राज कन्याने आकाशमे किन्ही देव देवियोको जाते हुए देखा और इससे पूर्वभवका स्मरण हो आया तो उसने यह चाहा कि जो मेरा पति पूर्वभवमे था वही इस भवमे मेरा पति हो । तो उसने एक चित्र बनाया जिसमे अनेक बातें दिखाई गई और एक यह घटना दिखाई कि ललितांग देवके सिरमे कोई दाग था तो वह चित्रपट मदिर के आगे बिछाकर उसकी दासी खडी रही और बता दिया कि जितने लोग दर्शन करने आयेंगे

ग्रौर कितने ही झूठे लोग चित्रको देखकर झूठ-मूठ बेहोश हो जायेंगे। पहले स्वयवरका या वरपरीक्षाका एक रिवाज था। तो उनसे बादमे पूछा कि तुमको किस घटनाको देख कर इतना विषाद हुग्रा ग्रौर बता दिया कि इस घटनाको जो बताये सो उसको रोके रहना। बहुतसे राजपुत्र ग्राये, कितने ही देखकर चले गए, कितनोने ही झूठी बेहोशी बताया। एक राजपुत्रसे पूछा कि ग्रापको किस बातपर विषाद हुग्रा ? तो उसने बताया कि यह जो इस देवके मस्तकमे एक चिन्ह लगाया हे इसको देख करके मुझे स्मरण हो ग्राया वह घटना क्या थी कि ये देव देवागना जब यथेष्ट विहार कर रहे थे, किसी बात पर यह देवांगना रूठ गई ग्रौर इस देवागनाने ग्रपने ललितांग देवके मस्तकपर लात मारी थी, उस लात मारनेका यह चिन्ह दिखाया गया है। समझा, गया कि यह वही ललितांग देवका जीव है, ग्राखिर उनका परस्परमे विवाह हुग्रा। तो बतानेका मतलब यह है कि उन देवोमे भी जो बडे बडे देव होते है सो उनमे भी विषय सम्बधित घटनायें चलती रहती है। तो इस विषयसुख नदीमें बडे बडे देव भी बह गए, फिर साधारण मनुष्योकी तो कथा ही क्या है ? वे कोई भी विषयोसे तृप्त न हुए। ग्रज्ञानमे जो चेष्टायें हो जाती है उन चेष्टावोसे तो तृष्णा बढती है। तृप्ति होने का वहां कोई सवाल ही नही। तो यह विषयसुख ऐसा भयंकर शत्रु है। इस ज्ञानबलसे इस विषयसुखसे हटना ग्रौर ग्रात्मदृष्टि करके जो ग्रात्मीय सहजग्रानन्द है उसमे तृप्त रहना, यह कर्तव्य है कल्याणार्थी पुरुषोका।

> ददति विषयदोषा ये तु दु ख सुराणां, कथमितरमनुष्यास्तेषु सौख्य लभते।
> मदमलिनकपोल क्लिश्यते येन हस्ती, क्रमपतितमृग स त्यक्ष्यतीभारिरत्र ॥४॥

विषयदोषोंकी ग्रतिकष्टकारिता—ये इन्द्रिय विषय देवोको भी बडा कष्ट उपजाते है फिर ये ग्रन्य प्राणियोको सुखकारी कैसे हो सकते है ? जो सिह मदोन्मत्त हस्तीका घात करने मे भी हिचकता नही याने बडे बलवान हाथीको भी दु खी बना देता है वह सिह ग्रपने पञ्जे मे फँसे हुए हीन हिरणको कैसे छोड सकता है ? उसे तो ग्रवश्य ही मारकर खा जायगा। स्वर्गोमे कल्पवृक्ष होते है, जिनके नीचे पहुचकर जो मनमे चाह करें, जिसको याचना करें वह वस्तु उन्हे प्राप्त हो जाती है, ऐसा सासारिक सुख है स्वर्गोमे, फिर भी विषयसुख साधन मिलनेकी इतनी सुविधा होनेपर भी उन देवोकी विषय तृष्णा शान्त नही होती ग्रौर वहांपर भी कोई सीमा तो होगी ही। भले ही कल्पवृक्षोसे मनमाना सुख साधन मिल जाते है फिर भी सर्व सुखोके साधन मिल ही जायें, ऐसी बात न होगी। तो बहुत कुछ मिल जानेपर भी कुछ मनकी इच्छा ग्रौर बाकी रह गई तो उससे व्यथित होकर वे देव कितने ही खोटे कर्मों का बंध कर लेते है। उन देवोकी विषयलोलुपता घटती नही, किन्तु बढती ही जाती है।

यहां मनुष्य खुद अंदाज कर लें। सबसे किसीने १० वर्ष पहले, २० वर्ष पहले यह ख्याल बनाया होगा कि इतना सुखका साधन और बना लें, फिर इच्छा नही है, आनन्दसे रहेगे। फिर आकुलता विशेष न होगी और धर्मध्यानमे अधिक लगेगे, पर जैसे जैसे उनको मनमानी चीज प्राप्त होती गई, क्या उनकी तृष्णा उसी विधिमे बढती नही गई? जैसे जैसे विषयसुख साधन मिलते जाते है वैसे ही वैसे तृष्णा और बढती जाती है।

विषयभोगके प्रसंगमे नपुंसक मनकी विडम्बितता—जब कभी यह शरीरसे इतना अशक्त हो जाता है बुढापा आनेसे कि वह अब विषयोको नही भोग सकता, बढिया पदार्थोंमे नही रम सकता, आँखोंकी लाइट कम हो जानेसे सिनेमा वगैरह नही देख सकता, कानोसे राग रागनीके सुन्दर शब्द नही सुन सकता, तो इसका यह नपुंसक मन भीतर ही भीतर रुषता रहता है, और यह जीव दुःखी होता रहता है। आत्मानुशासनमे एक जगह इस मन को नपुसक बताया है। व्याकरणकी दृष्टिसे भी मनः शब्द नपुसक है। यह सकारान्त शब्द है, जिसके रूप चलते है—मन. मनसी, मनासी, नपुसक लिङ्गमें रूप चलते है। शब्द शास्त्र की दृष्टिसे तो मन नपुंसक है ही, पर यह प्रवृत्तिसे भी नपुंसक है। जैसे कोई नपुंसक विषयो को नही भोग सकता, पर कल्पनाकी अग्निसे वह अपनेको जलाता रहता है ऐसे ही यह मन किसी विषयको नही भोग पाता। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये ही ५ तो विषय है। इनको भोगने वाली इन्द्रियां है, किन्तु यह मन व्यर्थ ही उद्धत होता हुआ कष्ट पाता है। जीवको दु.खी करता है। तो ऐसे ही ये प्राणी मनमाने विषयसाधन न पानेसे कल्पनासे दुःखी होते रहते है। इन विपयसुखोकी तृष्णाने बडे बडे देवोको भी बख्शा नही, किन्तु महापुरुष देव भी इन विषयसुखोके वेगसे कष्ट पाते रहे। अतः कल्याणार्थी पुरुषोको इन विषय सुखोमे, असार बातोमे बुद्धि न जोडना चाहिए और सहज आत्मस्वरूपको निरखकर अलौकिक सहज आनन्द पानेका उपाय बनाना चाहिये।

यदि भवति समुद्र सिधुतोयेन तृप्तो, यदि कथमपि वह्निः काष्ठसघा ततश्च।
अयमपि विषयेषु प्राणिवर्गस्तदा स्यादिति मनसि विदंतो मा व्यधुस्तेपु यत्नं ॥४॥

नदियोसे समुद्रकी अतृप्तिकी तरह विषयोसे प्राणिवर्गकी अतृप्ति—यदि समुद्र नदियो के जलसे तृप्त हो जाय अर्थात् उससे भरपूर होकर अपनी मर्यादा छोडकर वह निकले तो भले ही मर्यादा छोड दे, किन्तु विषय भोगोमे, यह प्राणिवर्ग कभी भी तृप्त नही हो सकता। समुद्रमे नदियां कितनी ही आती है, किन्तु समुद्रसे नदियां निकलती नही है। तो जितनी भी नदियां आती जायें फिर भी समुद्र मानो इस तरह तृषामय है कि उसे अभी और भी नदियां चाहियें। उसकी अभी तृप्ति नही हुई। तृप्तिका अर्थ यह है कि उस समुद्रमेसे भी कोई नदी

भूख लगती है तो इच्छा करते ही उनके कंठसे अमृत झड जाता है और वे तृप्त हो जाते है । तो बडे बडे मौजमे रहते हैं वे इन्द्र, पर वे भी भोगोमे रह-रहकर तृप्त नही हो पाते । मनुष्योमे भी चक्री या अन्य बडे-बडे राजा महाराजा जिनके बडा ठाठ है, हजारो रानियाँ हैं, सभी आज्ञाकारिणी है, उनके विरुद्ध कोई नही रहता, सर्व प्रकारके आराममे पले हुए राजा महाराजा भी कभी भोगोमे तृप्त न हो सके । जिन किन्ही भी राजावोको एक दीक्षाका प्रसग मिला और वे उस दीक्षित अवस्थामे आनन्दमग्न रहे, तृप्त रहे तो वे भोगोको छोडकर तत्त्व ज्ञानके बलसे ही तो तृप्त रहे, भोग साधनोके सगमसे तृप्त न हो सके । सो बडे-बडे देवेन्द्र आदिकमे भी जिन्होने उत्कृष्ट भोग भोगे वे भी तृप्त न हो सके, फिर यह ख्याल बनायें कि मै अमुक भोग भोगू, मुझको तृप्ति हो जायगी, यह बिल्कुल भ्रम है । प्रति समय यह ही प्रतीति रखना कि जब भी तृप्ति होगी तो भोगोके त्यागनेसे तृप्ति होगी । भोगोके मेलसे तृप्ति न होगी । सो दृष्टान्तमे निरखिये कि जो प्यास समुद्रके समान अर्थात् इतने महान जल के पी लेने पर नही बुझती वह प्यास क्या घासके ऊपर पडी हुई ओसकी बिन्दुवोके चाट लेनेसे बुझ जायगी ? नही बुझ सकती । जिस मनुष्यको, जिस किसी जीवको समुद्रका सारा जल पी जाने पर भी प्यास बनी रहती है उसकी प्यास ओसकी बूदोसे कैसे बुझ सकती है ? इसी तरह अत्यन्त उत्कृष्ट भोगोको भोगकर भी जो जीव तृप्त नही हो सकता उस जीवको सामान्य भोग तृप्तिदायक कैसे हो सकते है ?

परसे परकी तृप्ति हो सकनेकी वस्तुस्वरूपकी अनाज्ञा—आत्महित चाहने वाले पुरुषोको यह सोचना चाहिए कि जगतमे जो कुछ भी पौद्गलिक ढेर पडा हुआ है उसके लगावसे, उसके सग समागमसे इस जीवका उद्धार नही हो सकता । इसको शान्ति और आनन्द नही प्राप्त हो सकता, इस कारण बाह्य पदार्थोंको बाह्य है-ऐसा ही जानना । इन समस्त परपदार्थोंका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेसे अत्यन्त जुदा है, सो उनका कुछ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेमे कभी भी नही आ सकता । तो बाह्य पदार्थोंसे तृप्त हो सकनेकी बात तो अत्यन्त गलत है । जब किसी परका मुझमे प्रवेश ही नही होता तब फिर तृप्तिका ख्याल रखना कोरा मिथ्यात्व है । इससे बाह्य पदार्थोंसे आनन्दकी आशा न रखकर अपने ही ज्ञानस्वभावके दर्शन अनुभवसे अपने आपमे आनन्द पानेका प्रोग्राम बनाना चाहिए । ऐसे आत्मकल्याणके लिए जीवनका बहुभाग स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन तत्त्वचर्चामे व्यतीत करना चाहिए । यह जीवनका समय अत्यन्त वेगसे बहता चला जा रहा है । जिसकी जो आयु व्यतीत हो गई अनगिनते प्रयास करनेपर भी एक पल भी तो वापिस नही आ सकता । जो समय गया सो गया । अब जो रहा हुआ समय है उस समयका सदुपयोग करे यह एक बुद्धिमानी

है। यदि गए गुजरे समयके समान कुछ भी व्यस्तता रखी जिससे कि ऐसा महसूस करें कि धर्मकार्यके लिए, स्वाध्यायके लिए समय नही मिलता तो फिर समय कब मिलेगा ? जब हाथ, पैर, आंख, कान आदि थक जायेंगे याने सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेगी तब तो स्वाध्याय, ध्यान करेंगे ही कैसे। और जब तक सामर्थ्य है तब तक यह सांसारिक कार्योंमे व्यस्त रहना चाहता है। तो इसके मायने यह है कि इस जीवनमे वे क्षण कभी प्राप्त ही न हो पायेंगे जब कि धर्मध्यानको प्रमुखता दी जा रही हो। सो सांसारिक विषय सुखोमे लगाव रखना बरबादी है, ऐसा निर्णय कर इन सुखोसे व्यावृत्त हो और अपने आत्माके कल्याणमे क्षण बितायें।

सततविविधजीवध्वसनाद्यैरुपायैः स्वजनतनुनिमित्तं कुर्वते पापमुग्रम्।
व्यथिततनुमनस्का जतवोऽमी सहंते, नरकगतिमुपेता दुःखमेकाकिनस्ते ॥७॥

जिनकी प्रसन्नताके लिये पाप किया जाता, पापफलमें नरकादि कुगतिमें जन्म लेने पर उनके साहाय्यकी असंभवता–ये मनुष्य अपने कुटुम्बी जनोके और अपने शरीरके निमित्त घोर पाप करते है, किस उपायसे घोर पाप कर रहे है कि निरन्तर नाना प्रकारके जीवोका जिनमे ध्वंस हो रहा है उन उपायोसे अपने रिस्तेदार अथवा अपने शरीरके निमित्त उन जीवो की इच्छा पूरी करनेके लिए ऐसे उग्र पाप किया करते है। आरम्भ उद्यममे जो लगता है सो कितना ही बचाव किया जाय फिर भी अनेक जीवो की बाधायें होती रहती है फिर भी इन पर क्रियावो मे उपयोग फंसानेसे कर्मबध भी विकट होता रहता है। तो यह सब अपने आपके विध्वसका ही उपाय बनाया है। सो ऐसे उपायो से स्वजनकी इच्छा पूर्तिके लिए ये अनेक पाप करते है। सो पाप करते है इतना ही नहो, किन्तु उन्ही पाप कार्योंमे अपनेको धन्य समझते है। चतुराई जानते है। स्त्री पुत्रादिकका मन खुश कर दिया। जो वे चाहते है वही प्रसग उनको बना दिया। यह सोचते हुए वे अपने को धन्य समझते है कि मैं बडा ऊँचा कार्य कर रहा हू। और किया कैसा यह सब कार्य कि कितने ही जीवोंको सताया, कितनोंको धोखा दिया, कितने जीवोंके प्रति क्या बर्ताव किया, ऐसे उग्र पाप द्वारा जो कुछ इष्ट समागम जुटाया सो केवल इस खुशीके लिए कि ये स्वजन कह उठें कि मेरे पालनहार ये है, तो उनकी रक्षाके लिए नाना जीवोकी हिंसा आदिक पाप करते है और उस ही मे अपनेको धन्य समझते है, परन्तु जब इस पापकर्मका उदय आयगा और वह मनुष्य मरण करके नरकमे जन्म लेगा और वहाँ नरकोमे शारीरिक और मानसिक नाना पीडायें सहन करेगा, उस समय उसकी उन घटनावोमे से कोई भी जीव उन रिस्तेदारोमे से कोई भी जीव जिनके लिऐ अनेक पाप किया था और खुश किया गया था वे तक भी इस अपरिमित

दुःखमे साथ नही दे सकते हैं। इस उग्र पापके करने वालेको ही नरक सम्बंधी अपरिमित दुःख अकेले ही भोगना पडता है।

पापफलको अकेले पापकर्ता द्वारा ही भोग्य जानकर पापसे विराम लेनेकी शिक्षा— यदि कोई जीव नरकमें पहुचकर थोडा सही ख्याल बनाये तो वहाँ सोचता है कि जिन कुटुम्बी जनोके लिए, जिन सम्बन्धी जनोके लिए मैंने न करने योग्य कार्य भी करके पापकार्य कर उनको खुश किया है अब वे मेरे इस दुःखमे कोई भी साथ देने वाले नही है। ऐसा घोर दुःख इस जीवको अकेला ही भोगना पडता है। यहाँ यह विचार करना चाहिये कि जो ये खोटे पाप किए जा रहे है सो जिनको प्रसन्न करनेके लिए किए जा रहे हैं वे अब भी प्रसन्न नही हो पाते मुझपर। अपनी खुदगर्जीसे अपने आपमे मौज मानते रहते हैं, पर मुझपर प्रसन्न हो ही नही सकते, मुझसे वह प्रसन्नता ला ही नही सकते। वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है कि कोई भी वस्तु अपनी कोई भी पर्याय किसी अन्य वस्तुमे दे नही सकती। तो जब मेरे पापके फलको कोई भोग ही न सकेगा, मुझको ही अकेलेको सारा पापफल भोगना पडेगा तो अब यह कर्तव्य है कि ऐसे समताभावका आदर करें कि हमसे पर नही छोडा जाता और गृहस्थी मे बसना पड रहा है और यहाँ कुछ जीवोका समागम हुआ है तो इनका जैसा भाग्य है उसके अनुकूल इनको साता असाता प्राप्त होगी। सो मेरे सहज प्रयाससे जिस प्रकार भी इनक पालन पोषण बने सो बने, पर अन्याय अत्याचार करके मैं कभी भी अपने आपको कलंकित न करूँगा। सो इन सब अकेले भोगने वाले दुःखोको निरखकर भोगोसे, दुष्कृत्योसे अलग ही रहना चाहिए।

> यदि भवति विचित्र सचितं द्रव्यमर्थ्यं परिजनसुतदारा भुंजते तं मिलित्वा।
> न पुनरिह समर्था ध्वंसितुं दुःखमेतत्तदपि बत विधत्ते पापमंगी तदर्थं ॥८॥

अन्यायार्जित द्रव्यको भोगने वालोके द्वारा अन्यायकर्ताके दुःखफलको बांटनेकी असमर्थता— यह मनुष्य नाना तरहके पापमयी आचरणोसे जो द्रव्य उपार्जित करता है उस द्रव्य का फल भोगादिकको तो ये स्वार्थी जन, दासी, दास, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक मिलकर भोग लेते हैं। लेकिन जब उस पापकर्ता पुरुषको उन पाप आचरणोके फलमे नरकादिक गतियोमे जन्म लेकर जो दुःख भोगने पडते हैं अथवा इसी भवमे जब किसी झंझटमे कष्ट पाना पडता है तब कोई भी उसकी मदद नही करते। याने खाने भोगनेको तो सब मिलकर साथी बन जाते हैं मगर कष्ट भोगनेके लिए कोई साथी नही बन सकता। सामर्थ्य ही नही है कि कोई कष्ट भोगनेमे साझीदार बन जाय। कभी किसी कुटुम्बमे बडा प्रेम भी हो परस्परमे और वहाँ कोई ऐसी घटना गुजर जाय कि जो सभीको कष्टदायी हो, मानो इष्टका वियोग हो गया तो उससे

वह सारा घर कुटुम्ब दुःखी होता है पर उस समय भी किसीके कष्टको दूसरा कोई बाँट नही रहा। सभी कष्टोमे पड जायें तो वे अपने अपने ही कष्टको भोग रहे है। किसीके कष्टको कोई दूसरा परिवारका सदस्य नही भोग सकता। तो इस जीवपर जो भी दुःख आता है उस दुःखसे बचानेमे ये कोई भी समर्थ नहीं है, जिन्होने पापसे अर्जित सामग्रीको भोगा था। तो मतलब यह है कि पाप तो करेगा कुटुम्बका कोई एक मनुष्य और भोगेंगे उस कमाईको सभी लोग। लेकिन पापका फल जब फूटेगा तो इस पापकर्ताको महान् कष्ट होगा। उस कष्टसे बचानेके लिए यहां कोई समर्थ नही है, परन्तु खेद और आश्चर्यकी बात है कि अपने ऊपर आने वाली ऐसी विपत्तियोका कारण समझ रहा है कोई मनुष्य अपनी वर्तमान प्रवृत्तिको, फिर भी यह प्राणी रात दिन कुटुम्बी, सम्बंधी आदि जनोके लिए ही प्रयत्न कर रहा है। और अपने ही सिरपर पापका बोझ बढा रहा है। मोहकी बडी विचित्रता है। मोहमे सन्मार्ग की सुध नही होती, बल्कि कुमार्गमें बढे चले जानेमे ये अपनी चतुराई मानते है और पाप कार्योंसे हट नही सकते। सो ऐसे तथ्योको जानकर आत्महितार्थीका कर्तव्य है कि वह निष्पाप अविकार सहज परमात्मतत्त्वकी ओर उपयोग करे और बाह्य कामोंमे आशक्ति न करे।

धन परिजनभार्याभ्रातृमित्रादिमध्ये, व्रजति भवभृता यो नैव एकोऽपि कश्चित्।
सदपि गतविमर्षा कुर्वते तेषु रागं, न तु विदधति धर्मं यः समं याति यात्रा ॥६॥

शरीरसे जीवका निष्कासन होनेपर किसी भी परिजन मित्र आदिके द्वारा साथ निभानेकी अशक्यता—यह संसारविषय सुखके निराकरणका प्रकरण है। सुख भोगते भोगते जीवन बिताकर जिस समय यह जीव मरता है अर्थात् एक पर्याय छोडकर दूसरी पर्यायको धारण करता है उस समय इसके साथ कुछ भी नहीं जाता। धन धान्य, दासी दास स्त्री पुत्र मित्रादिक कोई रंच मात्र भी इसके साथ नही जाते। ऐसी यह संसारकी प्रकट स्थिति है। और लोग देख भी रहे है, अनेक लोग है ऐसे जिनको अनेक मुर्दोंके जलानेमे शामिल होना पडा। जान रहे है कि कितने ही जीव शरीरको छोडकर चले गए पर उनके साथ कुछ भी नही गया। ऐसा देखते हुए भी ये जीव ऐसे विचाररहित मूढ है कि उन ही में अनुराग करते है। जो साथ नही निभा सकते उन्हींमे इसकी आसक्ति बनी हुई है और जो साथ निभाने वाला है अर्थात् धर्म आत्माके स्वभावकी दृष्टि सो उस धर्मसे रंच भी प्रेम नही करता बल्कि उसको भूले ही रहता है। यहाँ जीवका आन्तरिक स्वरूप तो चैतन्यस्वभाव है और जितने ये इन्द्रियगोचर बाह्य समागम हैं वे सब बाह्य पदार्थ है। इस जीवपर ऐसा मोहविष चढा है कि इन बाह्य समागमोंको तो अपना सर्वस्व समझता है, इनके बिना मेरा जीवन कैसे चलेगा? यही मेरे जीवनका सार है। यह कुटुम्ब, यह वंश, ये पुत्रादिक, इन्हीसे ही

मेरा महत्त्व है। ऐसा इन बाह्यपदार्थोंके बारेमे समझ रहा है। किन्तु जो शाश्वत शरण है ऐसे अपने धर्मका जरा भी ख्याल नही करता।

मोही जीवकी धर्मके प्रति बेसुधी और मायामय अर्थोंमे आसक्ति—जीव सत् है और जो सत् होता है वह स्वभावरूप होता है, उसका कुछ न कुछ स्वभाव है। जीव पदार्थ है, परमाणु है, उसका स्वभाव मूर्तिकरूप रहता है। यह आत्मा सत् है, उसका स्वभाव चैतन्य रूप रहता है। सो जो जिसका स्वभाव है वह उसका धर्म कहलाता है। स्वभाव कभी भी मिटता नही है, निरन्तर स्वभाव साथ है। अथवा वह पदार्थ स्वभावमय है, सो यह आत्मा भी अपने चैतन्यस्वभावमय निरन्तर है। तो यह आत्मा साक्षात् स्वय धर्मरूप है, उसको कही धर्म बाहरसे नही लाना है, धर्मरूप तो यह खुद है ही, बस उसकी दृष्टि करना है, उपासना करना है, यह ही धर्मपालन कहलाता है। जीवके साथ स्वभाव ही जायगा, धर्म ही जायगा, और जितनी दृष्टि बना ली है, जैसी दृढता स्वभावदृष्टिकी कर ली है वह सस्कार भी साथ जायगा। सो जो साथ निभाने वाला है वह सदैव उसके साथ है। मानो यह भगवान सहज परमात्मा बाट जोह रहा है कि कब यह उपयोग मेरेपर दृष्टि दे कि मै इसको परिपूर्ण आनन्दमय कर दूँ, ऐसी प्रतीक्षा करता हुआ यह भगवान चैतन्यस्वभाव जो निरन्तर बना हुआ है, यह मोही जीव उसकी तो सुध नही ले पाता है और ये बाहरी पदार्थ जो विनाशीक है, ये अन्य जीव जिन्हें कुटुम्ब मित्र पुत्रादिक कहते है, जो स्वय अपने स्वार्थमे रत हैं उनके लिए अपना जीवन खो देते है। प्रत्येक जीव अपना अपना ही तो परिणमन करता है। तो कुटुम्ब माने गए ये जीव ये अपना परिणमन करेंगे। जैसी उनकी कषाय है, जिसमे वे अपने को सुखी मान सकते है उसरूप ही तो वे अपनी प्रवृत्ति करेंगे कही दूसरेके रूप तो प्रवृत्ति न करेंगे? तो वस्तुस्वरूप ही यह बतला रहा है कि एकका दूसरा कुछ हो ही नही सकता। त्रिकाल भी इसका साथ नही निभा सकता।

जीवनमे परस्पर सहयोगमे भी वस्तुतः सबको स्व स्व सुखके प्रयासकी ही शक्यता—वर्तमानमे जो किसी घटनामे ऐसा समझ बैठता है यह मनुष्य कि मेरा साथी पुत्र है, मेरा साथी घरके अमुक लोग है, मेरे साथी ये मित्रजन है, वह भी भ्रम है, साथ कोई नही निभा रहा है किन्तु उन पुत्र मित्र आदिकको भी अपना सुख चाहिए और उनकी समझमे यह बैठा है कि पिता आदिकसे हम ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार बनायेंगे तो हमको सुखके साधन खूब मिलेंगे ऐसा उनके चित्तमे विश्वास बैठा है जिसके कारण वे अपने सुखके लिए पिता आदिकका विनय करते, आज्ञा मानते, पर वस्तुत. वे अपने ही सुखके लिए सब कुछ कर रहे है दूसरेके

लिए कुछ नही करते, और उसकी परीक्षा भी हो जाती है। किसी समय पिता पुत्रके खिलाफ भी कुछ कह दे तो वहाँ पता पड जायगा कि वह पुत्र कितना चाहता है पिताको। तो जगत मे जितना जीवोका परस्पर मित्रताका, कुटुम्बपनेका सम्बध बन रहा है वह सब अपने अपने सुखका निमित्त जानकर बन रहा है। तो यह जीव जब अपनी पर्याय छोडकर दूसरी पर्याय को ग्रहण करता है तो यहाँका यह समागम एक भी साथ नही निभाता, फिर भी आश्चर्य और विषादकी बात है कि यह जीव उनही मे रमता है जो साथ नही निभा सकते। और जो साथ निभा सकता है आत्मधर्मरत्नत्रय भाव, स्वभावदृष्टि यह उसकी सुध नही लेता।

यदिह भवति सौख्य वीतकामस्पृहाणा, न तदमरविभूनां नापि चक्रेश्वराणां।
इति मनसि नितांत प्रीतिमाधाय धर्मं, भजत जहित चैतान कामशत्रून् दुरतान् ॥१०॥

सहजात्मस्वभावोपयोगज आनन्दकी अनुपमता—जो आनन्द संसारसुखसे विरक्त हुए पुरुषको प्राप्त होता है वह आनन्द देवोके शिरोमणि स्वर्गोके अधिपति इन्द्रको भी प्राप्त नही होता और छह खण्डके अधिपति चक्रवर्तीको भी प्राप्त नही होता। आनन्द वास्तविक वह है जहाँ आकुलता रच नही है। अब सांसारिक विषय भोगोके सुखोमे यह लक्षण घटाकर तो देखिये घटता है अथवा नही। संसारका सुख क्या है? मानो स्पर्शनइन्द्रियजन्य सुख, कामसेवनका सुख, उसके लिए प्रयत्न करने वाला कितना आकुलित रहता है। पहले आकुलित रहा, भोगके कालमे आकुलित रहा, अन्यथा भोगके लिए प्रवृत्ति क्यो हुई? ऐसा कौनसा मनुष्य है कि जिसको फोडा फुसीकी वेदना न हो और मलहम पट्टी लगाता फिरे, ऐसे ही ऐसा कौनसा जीव है जिसमे आकुलता न हो और वह विषयोमे प्रवृत्ति किया करे। जो विषयोमे प्रवृत्ति करता है वह आकुलताके कारण ही कारण है और विषयभोगके बाद वह और भी अधिक आकुलित या विषादमग्न होता है। तो ऐसे ही ५ इन्द्रियके विषयोका सुख और मनके विषयका सुख, ये आकुलताओसे भरे हुए है। यह मोही जीव आकुलता भी करता जाता है और इस इन्द्रिय व मनके सुखके लिए भी प्रयत्न करता जाता है। सो संसारके जितने भी सुख है वे सब आकुलतासे भरे हुए है। उन सुखोके मालिकोमे ऊँचे मालिक इन्द्र और चक्रवर्ती कहे जा सकते है, सो इन्द्र भी इन विषयसुखोके भोगते समय आकुलित रहता है और इन बडे देवोंको मानसिक व्यथा बहुत रहती है। जैसे यहाँ कोई समझता हो कि यह राजा, यह जमीदार, यह नेता, यह मालिक ये बडे सुखी होगे, क्योकि इनका दूसरोपर हुकुम चलानेका काम रहता है। सो लोग ऐसा सोचते तो है कि ये हुकुम चलाने वाले, आज्ञा देने वाले, ये लोग बडे कहलाते है और ये बडे सुखी है, पर आज्ञा देने वाले लोग आज्ञा पालने वालोसे भी अधिक दुःखी है। आज्ञा पालने वाले सेवकोने, मजदूरोने तो जो हुक्म मिला उसे

झट कर डाला पर आज्ञा देने वालेपर देख लो कितना बोझ है ? उसे न जाने किस किसकी क्या क्या बात सोचनी पडती है, बडे विकल्प होते है उसे, और बडा कठिन दु ख है । तो ऐसे ही लोग सोचते होगे कि स्वर्गोंका इन्द्र बडा सुखी होगा, आखिर वह इन्द्र ही तो है या यहाँ मनुष्योमे बडे-बडे महाराजा चक्रवर्ती बडे सुखी होगे, पर ससारके इन विषय प्रसगोमे, इन पौद्गलिक सम्पदावोमे जो अधिक धनी है, ऊँचा है वह उतना ही अधिक कष्टमे पाया जाता है । तो सांसारिक सुख भोगने वालेमे शिरोमणि जो धरणेन्द्र और चक्रवर्ती है उन्हे कहाँ आनन्द रखा है ? आनन्द तो वास्तवमे विषयसुखोसे विरक्त पुरुषोमे ही पाया जाता है । और यह विरक्ति ऐसी विशुद्ध होना चाहिए कि आत्महितके भावोपूर्वक ही विरक्ति हो ।

मायामय लोकके लगावसे व विषयव्यासङ्गसे हटकर आत्मधर्मकी उपासना करनेका अनुरोध—इन विषयोके प्रसगमे पूरा नही पड सकता । इनके लगावमे ससारमे जन्म मरण ही करते रहना पड़ेगा । आज यह दुर्लभ मनुष्यभव, यह दुर्लभ जैन शासनका समागम बडे सुभवितव्यसे प्राप्त हुआ है, अब इसको व्यर्थ नही खोना है । इन मायामयी मनुष्योमे मुझे क्या दिखाना ? इनसे मुझे क्या नाम लूटना ? यह दिखने वाला जितना मनुष्यलोक है यह सब मायामय है । मायामयका अर्थ यहाँ कपट करने वाला नही, हाँ कपट करने वाला भी मायामय हो सकता है व सरल भी मायामय हो सकता है, पर जीव, कर्म, शरीर वर्गणा इनके पिण्डसे बनी हुई यह पर्याय है जो मनुष्य दिख रहे है, जो अनेक पदार्थोंके सम्पर्कसे बने हुए है वे सब माया कहलाती है । जब अनेकका सम्पर्क है तो यह बिघटेगा, यह परमार्थ नही, यह वास्तविक नही । ऐसे इस मायामय जगतमे किससे क्या चाहना ? ये सब असार है, अपने आत्मस्वरूपको निरखूं और उपयोगको सहज ज्ञानस्वरूपमे लगाऊ, इसका ही ज्ञाता बना रहू जिसके प्रसादसे समस्त विकल्प मिटकर निर्विकल्प स्थिति पाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव प्राप्त होगा । आत्महितकी जिसको सुध है, ऐसा जिसका प्रयास है, पौरुष है उन पुरुषोको जो आनन्द प्राप्त होता है वह आनन्द इस लोकके बडेसे बडे पुरुषोको भी प्राप्त नही हो सकता । जब यह अन्तर है विषयविरक्ति और विषयासक्तिमे कि विषयासक्ति तो क्षोभसे भरी हुई है और विषयविरक्ति आनन्दसे भरी हुई है, इतना महान अन्तर है इन दोनो परिणतियोमे । तब है आत्मदृष्टि चाहने वाले भव्य पुरुष ! तू विषयासक्तिसे मुख मोड । उससे बिल्कुल अलग हट और अपने आपके इस सहज आनन्दमय स्वरूपमे प्रवेश कर । इसके लिए इस दुष्ट मनको, नपुंसक मनको वशमे कर । इस मनके वश करनेके कारण फिर अपने आत्माकी ओर उपयोग रमेगा । सो विषयोसे विरक्त होकर आत्माके इस चैतन्यस्वरूपमे रमनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

यदि कथमपि नश्येद्भोगलेशेन नृत्वं, पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात् ।
इति हतविषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं, यदि भवमृतिमुक्ते मुक्ति सौख्येऽस्ति वाञ्छा ॥११॥

संसारमें भ्रमण कर उपलब्ध कष्टोंका दिग्दर्शन—हे आत्मन् ! यह मनुष्य पर्याय संसारकी सब योनियोमे भ्रमण कर बडी कठिनतासे प्राप्त हुई है । संसारके जीवोपर दृष्टिपात तो करें कितने प्रकारके, कैसी-कैसी निकृष्ट पर्यायोके बीच जीव बस रहे है । जो समझमे आ रहे उन एकेन्द्रिय जीवोपर भी तो कुछ दृष्टिपात करो । ये बनस्पति, पेड, एकेन्द्रिय जीव खडे है, इनके स्पर्शनइन्द्रिय मात्र है, कुछ बोध नही है । मिट्टी, जल इन्हीको ही जडसे खीचकर यही उनका आहार चल रहा है । जिनके अगोपांग नही है, कैसा अटपट शाखाओमे बढ गई है उन सबमे ये आत्मप्रदेश ही तो चल रहे, जिनपर लोगोको कुछ करुणा नही अथवा इतना तक भी नही समझते कि ये जीव है । उन्हे कुल्हाडीसे काट लिया, अग्निमे झोक दिया देखिये कैसा कठिन उपद्रव इन एकेन्द्रियोने सहा । बताओ उन्हे कष्ट नही होता क्या ? लोग इस पृथ्वीको खोद डालते है, जलको खौला देते है, अग्निमे पानी डालकर अग्निको बुझा देते है, अग्नि भी मरी, पानी भी मरा, हवाको टायर ट्यूब वगैरहमे एक जगह रोक देते है अथवा पंखोसे झकोरते है, तो इससे इन एकेन्द्रिय जीवोको बाधा नही होती क्या ? मगर वे करें क्या ? विवश है । और उनके विषयमे लोग इतना तक भी नहीं जानते कि ये भी जीव है । फिर निगोद जीवोंकी तो कहानी ही क्या कहना ? वे हमारी इन्द्रियोंके विषयभूत नही है, उनको बडे दु:ख है । इन कीडा मकोडों पर कौन रहम करता ? प्राय: बाल वृद्ध सभी इन कीडियोंको मारनेमे जरा भी दया नही करते । बहुत कम सज्जन लोग हैं ऐसे जो कि जीवो पर करुणाभाव ला पाते है । ढीमर आदिक मछुवे अपनी वंशीमे केंचुवा आदिक जीवोंको बाँधकर पानीमे डाल देते है, मछलियां उन्हे खाती है, क्या उनको कष्ट नही होता है ? ऐसी ऐसी कुयोनियोंमे तू रहा बार बार उन भवो मे उस उस प्रकारकी व्यथायें सही । कुछ और आगे बढा, पंचेन्द्रिय जीव हुआ, पशु पक्षी हुआ, तो पशुवोंकी दुर्दशा तो आंखों दिख रही है । जब तक वे काम आ रहे है तब तक उनको घास फूस आदिक खाना पीना दिया जा रहा, दुर्बल हो गए तो भी उनको गाडियोंमें या हलमे जोता जा रहा । यदि वे नही चल पाते तो उनपर डंडोंकी मार पडती, जबरदस्ती चलाये जा रहे । कधे सूझ गए, खून टपक रहा फिर भी मार मारकर उनसे काम लिया जा रहा ? बताओ कौन रहम कर रहा उन पर ? और जब वे किसी कामके नही रहते तो उनको कसाइयों के हाथ बेच देते । कसाई उनका वध कर देते ।

अनादिसे कुयोनियोमें भ्रमण कर सुयोगसे दुर्लभ नरजन्मकी प्राप्ति—हे आत्मन् !

तूने बडे कठिन कष्ट अब तक सहे। उन कष्टोको भोग भोगकर आज इस मनुष्यपर्यायमे आया है तो यहां भी तू अपने भगवान आत्माकी भक्ति नही कर रहा, अपने आपपर करुणा नही कर रहा और विषयसेवनके प्रयासोसे यह अपने आत्माका हनन कर रहा है। सो कितनी कठिनाईसे यह मनुष्यपर्याय प्राप्त की। यदि भोग भोगमे ही रम करके इस मनुष्य पर्यायको गमा दिया तो फिर बडा ही कठिन होगा कि यह मनुष्य पर्याय फिर मिल सके। इस मनुष्य पर्यायका मिलन इतना कठिन है जैसे समझ लो कि किसी विशाल समुद्रमे एक छोरसे तो बैलोके जोतनेकी माची (जुवा) को डाल दिया जाय और दूसरे छोरमे उसके अन्दर पडे हुए सैल डाल दिए जायें (सैल उन्हे कहते जिनको उस माचीके छिद्रोमे फसा देनेपर बैल इधर उधर निकलकर बाहर नही जा सकते) तो मानो अब वे सब बह रहे है उस विशाल समुद्रमे, तो क्या कभी ऐसा हो सकेगा कि वे दोनो सैल उसी माचीमे फिरसे स्वत ही लग जायें यह तो अत्यन्त दुस्तर बात है, दुस्तर भी क्या असम्भवसी बात दिखती है। तो इसी तरह समझिये कि इस संसाररूपी समुद्रमे बहते-बहते इस मनुष्यभवका पाना इससे भी कठिन और दुर्लभ है। ऐसे मनुष्य पर्यायकी प्राप्ति पुनः होना कठिन है। यदि इस मनुष्य जीवनको भोग विषयोमे ही लगा दिया तो बडी दुर्लभतासे प्राप्त हुआ यह मनुष्यजीवन व्यर्थ गया समझिये। जैसे समुद्रमे कोई रत्न डाल दिया गया तो कही वह रत्न पुनः मिल सकता है? कितना कठिन है। समुद्र अगाध है और फिर भीतर अंधकारमय नीचे दलदल भी पड़ा हो, जहां फँस जाय या कंकडोमे मिल जाय तो अब ऐसे रत्नका पाना कितना कठिन है।

दुर्लभ नरजन्म पाकर ससारसंकटोसे निवृत्त होनेका उपाय करनेमे ही वास्तविक चतुराई—आत्मन्! इस खोये हुए मनुष्यभवको इस संसारसागरमे पुनः पाना बड़ा कठिन है, इस कारण यदि आत्महित चाहते हो तो विषयसुख भोगनेकी इच्छाका त्याग करो और अपने अंत प्रकाशमान सहज परमात्माकी दृष्टि रखकर धर्म धारण करो। जब तक सत गुरुजनकी करुणा नही प्राप्त होती तब तक अपने अन्त प्रकाशमान इस परमात्मतत्त्वका दर्शन नही हो पाता। जब तक इस सहज परमात्मस्वरूपका दर्शन नही हुआ तब तक इन विषयसुखोको त्यागनेकी शुरूआत हो ही नही सकती। यह जीव सुख चाहता है, प्रत्येक जीव सुख चाहता है, सो इतना तो हो जाता है कि बडा सुख मिल जाय तो वह छोटे सुखकी बातको त्याग देता है, किन्तु यदि कोई महान् सुख नही मिलता तो वर्तमान अल्प सुखको कैसे त्यागेगा? तो विषयसुखोका त्याग उसीके बन सकेगा जिसने विषय सुखोसे उत्कृष्ट अलौकिक अनुपम आत्मीय आनन्दका अनुभव किया हो। इस कारण बस जीवनमे एक ही पुरुषार्थ है करनेके लिए कि अपने अविकार आत्मस्वभावकी दृष्टि करके ऐसा ही शुद्ध चैतन्यमात्र अपनेको अनु-

भव करे और अलौकिक आनन्दको प्राप्त करे। 'यह आत्मीय अलौकिक आनन्द मिलनेके पश्चात् फिर ये संसारके विषयसुख तुझे न सुहायेगे। सो शास्त्रको पढकर, लोगोसे सुनकर यदि केवल यही प्रयत्न करते रहे कि इन विषयसुखोको त्याग दें, इन परिग्रहोको त्याग दें, इनसे हटकर बाहर चले जावे तो इतना करने मात्रसे सिद्धि न बन पायेगी, न अंतरंगसे विषयसुखोकी भावना छूट सकेगी और न भविष्य भी उत्तम बन सकेगा। यद्यपि विषय सुख त्यागने योग्य है, त्यागना चाहिए, पर विषयसुखोसे बढकर जो अलौकिक आनन्द है उसकी धुन बिना उसकी दृष्टि और प्राप्ति बिना इन बाह्य विषयोको त्यागते रहनेपर भी पार नही पड़ सकता, इस कारण इन सब जगतके सुखोको असार जानकर सारकी बात अन्तरगमे परखें। सार मिलेगा 'ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो,' इस स्थितिके प्राप्त करनेमे। तब एक मात्र यही पौरुष करना कि मै अपने इस ज्ञानके सहज शुद्ध स्वरूपको ही जानता रहूँ। इसके लिए तत्त्वज्ञान, वस्तुस्वरूपका अध्ययन और ध्यानका अभ्यास करना। आत्मध्यानके प्रतापसे ही संसारके समस्त संकट दूर हो सकते है।

विषमविषमभान्नाशिनः कामभोगांस्त्यजति यदि मनुष्यो दीर्घससारहेतून्।
व्रजति कथमनंतं दुःखमत्यंतघोरं, त्रिविधमुपहतात्माश्वभ्रभूम्यादिभूतं ॥१२॥

त्याज्य काम और भोगका विश्लेषण—यदि यह मनुष्य विषम विषके समान नाशवान, अहितकारी बहुत काल तक संसारमे भ्रमानेके कारणभूत काम भोगोको छोड़ देता है अथवा छोड़ दे याने उन काम भोगोसे सर्वथा मुख मोड़ ले तो निश्चयसे इसे अनन्त संसारके घोर दुःखोका सामना न करना पडे, नरकादिक कुयोनियोमे जन्म मरण न करना पड़े। ये कामभोग कठिन विषके समान अहितकारी है। काम और भोग दोनो इन्द्रियके विषय कहलाते है। इन्द्रियके विषय ५ प्रकारके है। जिनमें स्पर्शन और रसनाइन्द्रियके विषयोको काम कहते है और घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कर्णेन्द्रियके विषयको भोग कहते हैं। काम और भोग मे दो बातोका अन्तर है। एक तो विषयभूत पदार्थोका स्पर्श करना, मथना चबाना याने विषयभूत पदार्थोंके दलन मलनसे तो काम होता है और बाहरसे दूरसे ही केवल एक इन्द्रियविषयका सेवन है, उनका दलन मलन नही है वे सब भोग कहलाते है। यद्यपि कामविषयक इच्छा भी काम कहलाती है, पर स्पर्शनइन्द्रियके विषयमे स्पर्श होता है, आघात होता है और रसनाइन्द्रियके विषयमे भी आघात है। मुखसे चबाते है, पर इस तरहका चबाना, दलन मलन ये घ्राण, चक्षु और कर्णके विषयोमे नही है। यह अन्तर काम और भोगमें समझा जा सकता है। दूसरा अन्तर है आसक्तिका। यद्यपि मोही जीव पचेन्द्रियके सभी विषयोमे आसक्त है फिर भी अपेक्षाकृत देखा जाय तो काम अर्थात् स्पर्शन और रसनाके विषयमे आसक्ति

बेसुधी अधिक होती है। स्पर्शन और रसनाके विषयोके भोग कालमे इस जीवको अपने स्वरूपकी अत्यन्त बेसुधी हो जाती है। तो आसक्ति और अधिक आसक्ति इनका अन्तर है भोग और काममे,

काम और भोगकी अहितकारिता व विनश्वरता—ये काम और भोग ये ही जीवको ससारमे रुलाने वाले है। इससे बढ़कर और क्या विपत्ति कही जा सकती कि यह जीव नया भव पाये, जन्मे, फिर मरे, फिर जन्मे, फिर मरे, ऐसे जन्म मरण बराबर अनन्त कालसे चले आ रहे है और यह जीव अपने स्वरूपको न निरख सका, तो यह जन्म मरण परम्परा चिर काल तक चलती रहेगी, ऐसी जो कठिन विपत्ति है उसपर तो जीवका ध्यान नही है जो सामनेके आगतुक थोडे वचनकी किसीकी चेष्टा की, इस बातको देखकर केवल कल्पना करके दु:खी होते है, उन दु:खोको यह बडा पहाड मान लेता है, ये सब महा व्यामोहकी चेष्टायें है, तो यह जीव यदि इन काम भोगोको त्याग देता, तो ससारमे ऐसा अत्यन्त घोर दु ख न पाता। ये काम भोग अहितकर है। आकुलता इनमे बहुत है। काम भोगके समय भी आकुलता है। काम भोगके पश्चात् भी आकुलता है, और काम भोगके समय आकुलता होनेसे जो विकट कर्मका बंध किया उसके उदयमे बहुत भविष्यकाल तक भी यह आकुलतायें पाता रहेगा। अब निरखिये कि काम भोगका समय कितना अल्प है। जैसे भोजन कर रहे है तो उसका स्वाद लेनेका कितना समय है? पाव मिनट भी नही होता, चबाया, पेटमे गया उसके बाद तो स्वादसे कुछ मतलब न रहा। तो ऐसा पाव मिनट अथवा और कम समयकी थोडी मौज के खातिर अपने सागरो पर्यन्तका भविष्यकाल खोटा बना लेना यह कितनी मूढताकी बात है। तो ये काम भोग विषय विषके समान अहितकारी है। ये काम भोग विनश्वर है। ये बहुत देर तक रहे, मिटें नही, ये जीवको साथ रहे तो चलो यह भी मान लिया जाय कि भोगनेमे आकुलता बहुत अधिक होती है तो होने दो, मगर बहुत बहुत काल तक काम भोग भोगकर मौज तो मान लिया जायगा सो भी नही। ये विनश्वर है, क्षण भरके बाद फिर ये विषय नही रहते। तो ऐसे विनाशीक काम भोगको यदि यह मनुष्य छोड दे तो इसको फिर ससारमे चिर काल तक जन्म मरणकी व्यथायें न सहनी पड़ें।

काम और भोगोकी दीर्घसंसारहेतुता—इस जीवको ससारमे भ्रमण कौन कराता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही कर सकता। लौकिक जन इस समस्याको न सुलझा पानेसे सुख दुःख पुण्य पाप कराने वाले, एक किसी ईश्वरकी कल्पना कर लेते है कि वह ससारके सब जीवोको पैदा करता है, पुण्य पाप कराता है, सुख दुःख देता है, गतियोमे भेजता है। परतु यदि किसीसे कहा जाय कि बोलो तुम ऐसा ईश्वर बनना चाहते

हो, कैसा कि सब जीवोंका हिसाब रखो, किसको सुख देना, किसको दुःख देना, किससे पाप कराना, किससे पुण्य कराना। ऐसे सब अधिकार तुम्हे दिए जायेंगे, तुम्हें ऐसा ईश्वर बना दिया जायगा, बोलो बनना मंजूर है क्या ? तो जो थोडी भी बुद्धि रखता है वह मनुष्य यह कहेगा कि हम तो घरके थोडे कुटुम्बियोकी संगतिसे ही इतना कष्ट पा रहे है तो हम ऐसी उलझन लेकर क्या अपना सारा जीवन दुःखमय बना डालें ? मुझे न चाहिये ऐसी अवस्था जिसमें नाना चिन्तायें और क्षोभ उत्पन्न करने पड़े। मुझे तो अनन्तज्ञानानन्दमय निर्विकल्प ऐश्वर्य चाहिये। ईश्वरका रूप क्षोभ वाला नही है, क्योकि ईश्वरके स्वरूपमे दो बातें मुख्य है दोष तो रंच न रहे और गुण पूरे प्रकट हो जायें। ऐसा चूंकि आत्माका स्वरूप है, उसके सहज सत्त्वमे दोष नही और गुणपर आवरण नही। वह एक चित् शक्ति है। तो चूंकि ऐसा स्वभाव है तब ही यह आत्मा पूर्ण निर्दोष और सर्वज्ञ हो सकता है। तो जिस आत्मामे दोष रंच न रहे हो और गुण पूरे प्रकट हो गए हो उसे कहते है भगवान। तो ऐसा भगवान समस्त ज्ञेयोका ज्ञायक है और अपने आनन्दरसमे ही लीन है, प्रभुमे विकल्प तरंग उत्पन्न ही नही होती, कल्पना ही नही जगती। तो वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही कर सकता सो भगवान भी किसी दूसरेकी परिणति न कर सकेगा लेकिन उनके तो कोई कल्पना ही नही जगती, विकल्प ही नही उठता। भगवान तो परमशुद्ध है। तो कोई दूसरा, ईश्वर या अन्य लोग इस जीवको संसारमे नही घुमाते। संसारमें यह जीव अपने आपकी करतूतसे भ्रमण करते हैं। उसमे निमित्त है कर्मोदय। मगर भ्रमण करनेकी करतूत तो यह जीव ही बनाता है। जैसे कोई ध्वजा हवाका निमित्त पाकर उलझती है, सुलझती है, टेढ़ी जाती है, किसी दिशामें जाती है, उसमें नाना बातें बनती रहती हैं तो वह ध्वजा उस पवनका निमित्त पाकर स्वयंमे ही उलझती रहती, ऐसे ही यह जीव कर्मविपाक का निमित्त पाकर खुद ही में उलझता रहता है तो इस जीवको संसारमें घुमाने वाला है कौन ? खुद यही जीव अपने विचित्र शुभ अशुभ भावोको बनाकर इस करतूतके निमित्तसे विकट कर्मबन्ध करता हैं और उनके उदयमे यह जीव खुद बेहोश, चारित्रहीन, कषायवान बन बनकर आगेके लिए कर्मबन्ध करता है और संसारमे रुलता रहता है। तो ये कामभोग संसारमें भ्रमण कराने वाले हैं। इनको यदि यह जीव छोड़ देता तो इसे संसारके घोर, दुःखोंका सामना नही करना पड़ता।

काम व भोगसे प्राप्त होने वाले दुःखोंका दिग्दर्शन—संसारमे कैसा घोर दुःख है। जो जो एकेन्द्रिय आदिक जीव है, कीट पतिंगे आदिक हैं, पशुपक्षी है उनके दुःख तो नजर आ

रहे है, पर एक कठिन भव नरक गतिका है। सो नारकी जीवोकी कहानी प्रभुकी दिव्यध्वनि की परम्परासे ज्ञात हुई है। उस कथामे कुछ भी, रच भी असत्य नही है। नारकियोके कितने कठिन दुःख है। कोई पापी जीव मरण करके नरकगतिमे जन्म लेता है तो उसके जन्मकी यह विधि है कि बिलके ऊपरी भाग याने जैसे छतका नीचेका तलभाग होता है उस प्रकारके अधः पृथ्वी तलभ, चिन्हित कुस्थलोसे नारकी जीवका शरीर तैयार हुआ और गिरा। गिरते ही सैकडो बार नीचे नरककी जमीनपर, गेंदकी तरह उछलता, गिरता। उछलता गिरता लो प्रारभसे ही नरकगतिमे कष्ट शुरू हो गए। बहुत उछलने गिरनेके बाद यह थमा, तो चारो ओर से नारकी जीव आ-आकर उसपर टूट पडते है। जैसे कोई नया कुत्ता किसी मोहल्लेसे निकला तो उस मोहल्लेके कुत्ते उसपर टूट पडते है सो नारकियोमे ऐसी अशुभ विक्रिया होती है कि चाहे कि मैं इसको कुल्हाड़ीसे मारू, ऐसा आशय करके हाथ उठाया मारनेको कि वही हाथ कुल्हाड़ा बन जाता है। उन्हे शस्त्रसंग्रह नही करना पड़ता या शस्त्र उठानेमे विलम्ब नही करना पडता। उनका ही शरीर हाथ करोत बन जाय, कुल्हाडी बन जाय। बरछी बन जाय जिस रूप वे चाहे उसी रूप परिणमन हो जाय, तब समझिये कि उनका दुःख कितना कठिन है। यह नारकी भी तो नया-नया पहुचता है सो अन्तर्मुहूर्त वह भी उसी प्रकारका हो जाता। तो परस्परमे एक दूसरेसे विकट लडाइयां चलती रहती है। वहां ठड गर्मीके प्राकृतिक दुःख तो भयकर है ही, पर ये परस्परके दुःख बड़े कठिन है और उनका शरीर तिल-तिल बराबर कट-कट कर अलग हो जाय तिस पर भी बीचमे मरण नही होता। वे बिखरे हुए कण टुकडे फिर इकट्ठे होकर वही का वही शरीर बन जाता है। ऐसे दुःख सागरों पर्यन्त सहने पडते है। ऐसे दुःखदायी भवमे इस जीवको कौन ले गया? उसकी खुदकी करतूत। काम भोग सम्बन्धी इच्छायें रखी और उनके आधीन होकर इस मनको चचल बना डाला, धर्मसाधनाको स्थान न दिया। दूसरो के पीछे पागल रह रहकर यह समय गुजरा तो उसका फल यह है कि नरकगति जैसी दुर्गतियो मे जन्म लेकर घोर दुःख सहना पडता है। यदि यह जीव उन काम भोगो को त्याग देता तो फिर मन, वचन, कायके ऐसे क्लेशों को न सहना पडता।

संसारमे मानसिक कष्टोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन—संसारमे जो भी क्लेश है वे तीन प्रकारके है। (१) मानसिक (२) वाचनिक और (३) शारीरिक। दूसरेकी विभूतियोंको देखकर मनमे ईर्ष्या करना, अफसोस करना, वांछा करना, यह मानसिक कष्ट है। किसी को इष्ट मान लिया, अनिष्ट मान लिया, अनिष्टसे कतरा रहे है, इष्टसे लगाव रख रहे है, इन घटनाओ से मनको बडा कष्ट पहुंचता है। तो यह कष्ट इनकी बेवकूफीका ही तो कष्ट है, क्या

मतलब पड़ा, क्यों कल्पनायें करे, जगतमें जो पदार्थ जिस रूप परिणमता है उसके ज्ञाता द्रष्टा रहे, प्रयोजन क्या पड़ा है ? फिर धर्मदृष्टि ही किसे कहेंगे ? तो यह मानसिक कष्ट बेवकूफी का कष्ट है, जैसे देवगतिमें अनेक प्रकारके सुख आराम होने पर भी वह देव मानसिक कष्टोंमें दुःखी रहकर सागरों पर्यन्त जीवनको निकाल देता है ऐसे ही यह मनुष्य भी पशु आदिक संज्ञी जीव भी नाना प्रकारके भावोंमें, दूसरेके बारेमें कल्पनायें करके, इच्छायें करके व्यर्थ कष्ट पाता है। तो यह मानसिक कष्ट इस जीवके लिए बहुत विकट कष्ट हैं। मनुष्यभव मिला, खाने पीने के साधन भी बहुत ठीक मिले, मन भी समझनेकी शक्ति रखने वाला मिला, सत्संग भी मिलता रहता है, देव, शास्त्र, गुरुविषयक उपासनाकी भी सुविधा मिली है, ऐसे सुन्दर वातावरणको पाकर भी कोई मनुष्य यदि परके विषयमें कुछसे कुछ कल्पनायें उठाकर मानसिक कष्ट पाये तो वह उसकी महामूढ़ता है। पर व्यामोही प्राणी मानसिक कष्ट उठाता रहता है और उनसे उपेक्षा करनेकी बात चित्तमें नहीं लाता।

वाचनिक कष्ट माननेकी व्यामुग्धता—इस जीवको वाचनिक कष्ट भी है। किसी पुरुष ने कुछ भी वचन कह दिया, निन्दा वाली बात कह दी, तो अव्वल तो सोचना यह चाहिये था कि जो भी निन्दा वाली बात कही जाती है उस सम्बंधमें कुछ न कुछ दोष मुझमें होगा तब ही तो यह बात प्रचलित हुई है। तो उसने तो अच्छा ही किया जो मुझे सावधान कर दिया कि अब मैं उस प्रकारके दोषमें रच भी न जाऊँ। सो यह चिन्तन तो दूर रहा, किन्तु मोहकर्मके तीव्र उदयसे वह उसपर खेद करता और उसके प्रति विरोध भावना रखता है। यहाँ वाचनिक कष्ट भी बहुत है। किसीने कुछ वचन कह दिया तो हुआ क्या कि उस उपादान जीवकी ऐसी योग्यता थी, उसका इतना ही हृदय था और उस कष्टसे पीडित होकर उस ने वचन निकाला, सो ये वचन भाषावर्गणा जातिके पुद्गलका परिणमन है। अजीव है। शब्द में चेतना नहीं है। वह अजीव कहलाता। [जैसे यहाँ प्रकट अजीव पजीव पदार्थोंके संघर्षसे शब्द निकलते है, हाँ उन शब्दोंसे भाषा नहीं है क्योंकि उनका अटपट सम्पर्क है, किन्तु इस मुखमें रहने वाले जीभ, ओठ, दांत, कंठ, तालू, मूर्धा इनका सम्पर्क नाना प्रकारसे चलता है। उनसे भाषा जैसे शब्द निकल बैठते है तो आखिर वे शब्द है तो अजीव ही। उन अजीव शब्दों को सुनकर इस चैतन्य तत्त्वमें कौनसे कष्टकी बात आयी थी ? अजीव है, उनका परिणमन है इस तरहका परिणमन हो गया, पर मेरेमें उन अजीव शब्दोंकी किसी परिणतिसे कौनसी घटना घट गई ? कहाँ यह जीव मेरा गया ? वह शब्द समूह तो बाहर है। यह जीव तो उनका जानने वाला रहे। लेकिन यह जीव मात्र उनका ज्ञाता नहीं रह पाता किन्तु उस समय उन वचनोंको सुनकर बड़ा कष्ट मानता है। तो यह संसारी प्राणी जब तक मन न

मिला तब तक और तरहके कष्ट मानता रहा और जब मन मिल गया तो उससे हजार गुना कष्ट मान लेता। पहले तो कोई शारीरिक ही कष्ट थे, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदिक जीवोको बस शारीरिक कष्ट है, और कष्ट नही, पर यह मनुष्य तो मन पाकर उन सब जीवोके कष्टों से कई गुना कष्ट अपना बना लेता है। तो इसने मनसे वचनविषयक कल्पनायें करके वाचनिक कष्ट भी बहुत बना डाला, ससारके ये कष्ट है जिन कष्टोको यह मोही प्राणी काम भोग मे रत होकर भोगता रहता है।

संसारमें शारीरिक कष्टोकी बहुलता—एक शारीरिक कष्ट है। शरीरमे रोग हुआ, शरीरमे कोई आघात हुआ चोट लग गई, हड्डी टूट गई या अनेक प्रकारके कोई रोग हो गए तो वह व्यथा भी तो कठिन व्यथा है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो शारीरिक व्यथा होने पर कष्ट मानना, इसमे जितनी मूढता है उससे कई गुनी मूढता मानसिक और वाचनिक कष्ट माननेमें थी, पर शारीरिक कष्ट भी तो सहा नहीं जाता। ये ससारके दु:ख है जिन दु:खोको यह जीव काम भोगके आधीन होकर प्राप्त करता है। कीडा मकोडा, वृक्ष आदिकको छेदते भेदते समय कौन जीव उनपर कृपा करता? बहुत कम है ऐसे दयालु प्राणी जो दूसरे जीवो के कष्टोमे खुद दु:खी हो जाते है। पर अनेक मनुष्य तो इन कीडा मकोडोको सतानेमे खुश होते है, मौज मानते है। किसी भी कीडे पतिंगेकी टाँग डोरेसे बाँध ली, अब उसे घुमा रहे है तो देख लो उस जीव पर क्या बीत रही है? एक बार कही देखा दिलका विनोद करनेके लिए क्रूर चित्त मनुष्यने किसी चूहेकी टाँग डोरेसे बांध ली या पूछ डोरेसे बांध ली, फिर आगकी तरफ उसे ले जाय, फिर उठाये फिर ले जाय, तो वह चूहा कितना तडफता था, पर उसकी तडफनसे ही वह क्रूर मनुष्य बडा खुश होता था बडी मिन्नतके बाद उसे छुटा पाया था। संसारके दु:खोकी कहानी एक जीभसे क्या कही जा सकती है? हजारो जीभ भी हो जायें त इतनी जिह्वाओसे भी संसारके दु:खोका वर्णन नही किया जा सकता जिन दु:खोको हम आपने भोगा है, पूर्वभवके दु:खोको भी छोड़िये, इस ही भवमे जिन दु:खोको हम आपने भोगा है उन दु:खोका भी हम आप वर्णन नही कर सकते। दूसरे को बता नही सकते कि हम कितनी तकलीफमे है, फिर ससारके इन दु:खोका वर्णन करनेकी सामर्थ्य किसमे है? ऐसे कठिन दु:ख इस जीवने इन काम भोगोके आधीन होकर भोगे। यह जीव अपने आपको ही संसारमे रुलाता है और अपने आप ही अपने आपको संसारसे छुटाकर मोक्षमे ले जाता है। तब सारी जिम्मेदारी अपने आपके आत्मा पर ही तो आयी।

भ्रमसे जीवोंकी कष्टपात्रता—संसारमे दु:ख अनेक है। यह संसारका स्वरूप है, पर उन दु:खोके बीच रहकर घबड़ाना क्या इस जीवकी बुद्धिमानी है? तत्त्वज्ञान करके भेद-

विज्ञान करके समस्त परद्रव्यो व परभावोसे निराला सहज ज्ञानानन्दमय अपने स्वरूपको निरखकर भीतर प्रसन्न रहना इसमे चतुराई है। जैसे स्वप्नमे कभी ऐसा दृश्य दिख जाय कि मेरे ऊपरसे रेलगाडी जा रही है और यह सोने वाला पुरुष उस स्वप्नमे अपने आपमे श्वास भरे बल लगाये पडा हुआ है व यह भी जान रहा कि यह रेलगाडी भाग रही है, बहुत भाग गई। थोडी और रह गई। निकल जायगी, हम सुरक्षित है, तो यह केवल एक स्वप्न जैसी बात है, अब उसके मुकाबलेमे इस जगते हुए की स्थितिमे भी निरखिये—जैसे स्वप्नमे एक झूठी ही विपत्ति मान रखी थी तो इस जागतेमे भी इस जीवने झूठी विपत्ति मान रखी है। विपत्ति नामकी कोई भी चीज इस जीवपर नही है। कोई धन बिगड़ गया तो पौद्गलिक वस्तु बिगड गई और वह बिगड़ी ही नही, वह तो ध्रुव है। इस जगह न रहा दूसरी जगह पहुच गया। कोई पैसे की चीज, सोने चाँदीकी वस्तु, वह मिटी कहाँ, वह तो सुरक्षित है। यहाँ नही है दूसरी जगह पहुच गई। उस भिन्न वस्तुसे वह चाहे कही रहे, उससे मुझमे क्या कष्ट आया? अन्य अन्य जीवोके भी जो परिणमन हो उनसे भी क्या कष्ट आया? उस बीच अपने अविकार ज्ञानस्वभावको निरखकर अपनेको सहज आनन्दमय अनुभवनेका पौरुष करें, इसमे ही बुद्धिमानी है।

बिगलितरसमस्थि स्वादयन् दारितास्यः स्वकवदनजरक्ते मन्यते श्वा सुखित्वं।
स्वतनुजनित खेदाज्जायमानं जनानां तदुपममिह सौख्यं कामिनां कामिनीभ्यः ॥१३॥

कामासक्त जनोंकी विडम्बना और भ्रान्ति—कामासक्त पुरुष अपने शरीरसे उत्पन्न हुए शक्ति वीर्यके प्रच्ययनसे उत्पन्न हुए सुखको स्त्रीजन्य सुख मानते है, अर्थात् काम प्रवृत्ति के समय यह मनुष्य अपने शरीरको, अपनी शक्तिको बरबाद कर रहा है और उस बरबादी में यह सुखकी कल्पना कर रहा है और मान रहा है यह कि यह सुख कामिनीसे प्राप्त हुआ है। यह ठीक ऐसी ही मूर्खता है जैसे कि कोई कुत्ता सूखी हड्डीको चबाता है जिस हड्डीमे लोहू, मांस आदिक रस रंच भी नही लगे है, ऐसी सूखी हड्डीको चबानेपर वह हड्डी और दांतके संघर्षणसे उस कुत्तेके ही अपने मुखमे उस ही के मसूढे बह जाते है और उसमें वह आनन्दमानता है। यह सोचता है कि मुझको यह सुख इस हड्डीसे प्राप्त हुआ है, पर यह हड्डी तो सूखी है, वहांसे न खून मिला न मांस मिला, न सुख मिला और कुत्तेके उस प्रयत्नसे, उस हड्डीके चबानेके श्रमसे, संघर्षसे जो उसके मुखसे खून निकला तो वह स्वाद ले रहा है उस खून निकलनेका और मान रहा है कि मुझको हड्डीसे स्वाद आया। इसे कहते हैं परात्मबुद्धि, ऐसे ही तो अज्ञानी जीव हर जगह पाते तो है अपनी कल्पनाका सुख हर स्थितिमे सुखके अनुकूल कोई कल्पना बनाये, उस कल्पनासे सुख उत्पन्न हुआ, पर

मानता है आश्रयभूत पर परदार्थका सुख । धन मकान परिजन मित्रजन आदिकका मुझे बडा सुख है, ऐसा लोग कहते ही है । तो वहाँ से सुख कैसे निकल सकता है ? वे तो स्वय सुख-हीन हे अथवा जो चेतन पदार्थ परिग्रह है उनमे सुख तो है, पर उनका सुख उनके ही लिए है । उनका सुख निकल कर किसी दूसरेमे नही आता । तो वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमे कोई परिणति नही आती । तब स्पर्शनइन्द्रियजन्य विषय सुख क्या किसी स्त्री आदिक बाह्य पदार्थसे मिल सकते है ? केवल ये कल्पनायें करते है और अपनी शक्ति बरबाद कर रहे है ।

मिथ्या मान्यताको छोड़कर निज सहज स्वरूपमे उपयुक्त होनेमे कल्याण—अहो कैसी मूढता वाली बात है परपदार्थसे अपना सुख माननेकी । जिसके पूर्वापर विचार नही है, बुद्धि हीन है वह उस सुखको मिथ्या मान्यताके साथ भोगता रहता है । जहाँ मिथ्यात्वभाव है, पर्याय बुद्धि बन रही है वहाँ तथ्य रहस्य कैसे समझमे आ सकता है । पहले बाँधे हुए मिथ्यात्वकर्म प्रकृतिका उदय चल रहा है, जिसका निमित्त पाकर इस जीवके विपरीत अभिप्राय ही बन रहे है । यह देहको ही मान रहा है कि यह मैं हू, तब इस देहका पालन-पोषण जिनके निमित्तसे होता है उन्हे मान लेते है सुखका कारण । सो ये अज्ञानी जीव इन बाह्य पदार्थोंको सुखका कारण मानकर बाह्य पदार्थोंके सग्रह विग्रहमे ही अपना सारा जीवन गमा देते है, मेरे को सही सत्का ध्यान करना चाहिए । इन बाह्य पदार्थोंमे जो दृष्टिगोचर हो रहे है इनमे एक एक परमाणु सत् है उन अनन्त परमाणुओका पिण्ड है यह दृश्यमान लोक जिसको मोही जीव सत्य मान लेते है, पर है ये सब मायारूप । जो सही नही है किन्तु सही अनेक पदार्थों के मेलसे बनी हुई कोई तीसरी अवस्था है तो वह तो मायारूप ही होगी, क्योकि उस तीसरी अवस्थाका आधार कोई एक द्रव्य नही है । जो स्कधदशा है इसका आधार एक-एक परमाणु नही है, किंतु उन परमाणुओका सयोग बनकर कोई तीसरी हालत हुई है, यह सब माया है । इस मायाके तथ्यको न जानने वाले अज्ञानी पुरुष इस मायाको ही परमार्थ मान लेते है और जहाँ मायाको परमार्थ माना वहाँ फिर उनसे अपना सम्बध स्थापित करते हैं, पर इस सम्बध मे अपनी कल्पनासे कोई सुख हुआ तो उसे मान लेते है कि यह सुख इन परपदार्थोंसे आया है । सो आत्महित चाहने वाले पुरुष मिथ्या मान्यताका परिहार करें अन्यथा जैसे अनन्तकाल ससारमे भ्रमण करते करते गुजर गए है ऐसे ही आगे भी ससारकी इन कुयोनियोमें भ्रमण कर करके गुजरेंगे ।

किमिह परमसौख्य निःस्पृहत्व यदेतत्किमथ परमदुःख सस्पृहत्वं यदेतत् ।
इति मनसि विधाय त्यक्तसगाः सदा ये, विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवत ॥१४॥

निःस्पृहत्वकी परमसौख्यरूपता व सस्पृहत्वकी परमदुःखरूपता—इस संसारमे नि-

स्पृहता ही परम सुख है। किसी भी बाह्यपदार्थ विषयक इच्छाका न रहना ही सुख है और स्पृहतासे युक्त होना ही परम सुख है। दुःख तो इच्छा है. इच्छासे दुःख होता है, यह भी कहा जा सकता है और इच्छा ही दुःखरूप है, यह भी कहा जा सकता है। जहाँ इच्छा है वहाँ तत्काल कष्ट है। यह आत्मा परम ब्रह्म समभावमे अवस्थित एक सहज सत्त्वकी दृष्टिसे अविकल आनन्दमय है। इस ज्ञानानन्द सागरमे कर्मोदय डला फेका कि यहाँ तरंग उठने लगती है, और यह तरग उठ-उठकर किनारेका भी उल्लंघन कर देती है। मै परमार्थतः सहज सिद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व हू इसके स्वरूपमे कष्टका कोई काम नही। ऐसे ही स्वरूपकी दृष्टि कर निस्पृहता जगे तो इस जीवको अलौकिक आनन्द मिलेगा। यह निस्पृहता भेदविज्ञान तत्त्वविज्ञानके आधारपर ही निर्भर है, अन्य उपायोसे निस्पृहता नही बन सकती, क्योंकि जबरदस्ती ही किसी प्रकार निस्पृहता बनायी जाय। तो इतना हो सकेगा कि एक पदार्थकी इच्छा न रहो, दूसरेकी इच्छा हो गई। दूसरेकी इच्छा न हो, जिसकी इच्छा की जा रही है उसकी भी इच्छा समाप्त हो जाय तब तो इस जीवका भला है अन्यथा एक इच्छा दूर की, अन्य इच्छायें जग गईं तो इससे तो अच्छा यह ही था कि उसी पुरानी बातकी इच्छा ही निरन्तर चलती रहती तो कमसे कम इच्छा बूढी जीर्ण तो कहलाती, पर एक इच्छा दूर होते ही नवीन इच्छा बने तो उस युवती इच्छाने तो इसे और भी परेशान किया। तो इच्छा-वोंका अभाव भेदविज्ञान और तत्त्वज्ञान हुए बिना नही हो सकता।

निस्पृहत्वकी पात्रता—जिन साधुसंत पुरुषोने चेतन अचेतन समस्त पदार्थोंका असाधारण स्वरूप जान जानकर एक दूसरेसे असम्बद्ध है, इस प्रकारका निर्णय किया है वह ही पुरुष निष्पृह हो सकता है। निष्पृहतामे जो आनन्द है वह आनन्द उत्कृष्ट आनन्द है, अन्य किसी भी स्थितिमे पाया ही नही जा सकता। ससारी मोही जीव स्पृहाको नही छोड़ पाते, क्योकि आत्माका अविकार स्वरूप उनके लक्ष्यमे नही आया और चूंकि यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण वाला है सो चारित्रगुणकी परिणतिमे रमणका ढग हुआ करता है। सो रमनेकी आदत इस जीवकी है और आत्मस्वरूप इसे दिखा नही तो यह तो कही न कही रमेगा। कहाँ रमेगा ? जिसको सुखदायी माना हो, जिसमे आत्महितकी आशा रखी हो उस मे रमेगा। तो इस अज्ञानी जीवने पचेन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंमे आस्था रखी है सो वहाँ रमता है। तो ऐसा परपदार्थोंमे रमना, पर पदार्थोंकी स्पृहा जगना यह सब कष्टरूप है। यही परम दुःख है। जगतके इन सब जीवोको दुःख है किस बातका ? बस बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धमे इच्छा बन रही है, इस कुवृत्तिका ही कष्ट है। ये ज्ञानी संतजन निष्पृहताको सार और सस्पृहताको असार जानकर समस्त परिग्रहोका त्याग कर देते है और वे पुण्यवान मनुष्य इस

जिनधर्मका आचरण करते हैं।

निःस्पृहत्वकी अनुभूतिके लिये पौरुष करनेका अनुरोध—इस छदमे मुख्य बात यह कही गई है कि परम आनन्द प्राप्त करना हो तो निस्पृहता बनना चाहिए। दूसरी बात यह है कि निष्पृहता तब ही बन सकती है जब निष्पृहता सार है और सस्पृहता असार है, यह बात जीवनमें उतर जाय। जिसके मनमे इन दोनो तथ्योका यथार्थ निर्णय हो चुका है वे सर्वपरिग्रहका त्यागकर अपने आत्मामे ही मग्न होनेका पौरुष किया करते हैं। सो वे मनुष्य बडे भाग्यशाली है जो निस्पृहताकी ओर उत्साहशील है और इस निरपृहताकी प्रतीक्षा करते हैं। आत्मानुशासनमे श्री गुणभद्राचार्यने बताया है कि जीनेकी आशा और धनकी आशा जिनके लगी है उनके लिए ही कर्म कर्म है। और जिन्होने निराशापनेकी ही आशा रख रखी है उनके तो निराशताकी परिणति हुई। आशाका सर्वथा अभाव हो, ऐसी जिन्होने अपनी वृत्ति बनाया है उनके लिए कर्म कर्म नही रहते। उनका कर्म क्या कर लेंगे ? सो इस कर्माधीन ससारमे इन सारे सकटोसे बचनेकी भावना हो तो प्रथम सर्व पदार्थोंका उनके असाधारण स्वरूपको घटित कर स्वतंत्र स्वतंत्र सत् जानें। एकका दूसरेपर न प्रभाव है न परिणमन है, भले ही निमित्तनैमित्तिक योगमे कोई निमित्त बन रहा और उपादानमे वह कार्य हो रहा, पर सब अपने अपने कार्यमे ही लग रहे है। ऐसा भान होनेपर विवेकी जन सर्व परिग्रहोका त्यागकर जिनधर्मका आचरण किया करते है।

उपधिवसतिपिडान् गृह्णते नो विरुद्धास्ननुवचन मनोभि. सर्वथा ये मुनीद्रा।।
व्रतसमितिसमेता ध्वस्तमोहप्रपचा ददतु मम विमुक्ति ते हतक्रोधयोधाः ।।१५।।

साधुपुरुषो द्वारा विरुद्ध उपकरण वसतिका व पिण्डका अग्रहण—जिसने ज्ञाताद्रष्टा रहने मात्र स्थितिको सार समझा है और बाह्यपदार्थ विषयक विकल्पको असार जाना है वह पुरुष असार तत्त्वोंको छोडकर सार तत्त्वोमे ही प्रयत्न करता है। सो इस प्रयत्नमे मुनिजनो ने विरुद्ध उपकरण निवासस्थान आहार आदिकका त्यागकर दिया है। वस्त्रादिकका त्याग करके मुनि अवस्था धारण की है लेकिन अब भी तीन विधियोका सम्बन्ध बनाना ही पड रहा है। एक तो उपकरण पिछी कमण्डल शास्त्र आदिक इनकी आवश्यकता रहती है। पिछी न हो तो प्रवृत्ति कैसे करें, दया पाले बिना बिहार आदिक नही हो सकता है और दयापालनका ऊँचा साधन है पिछी। सो पिछी आवश्यक है और जीवन चलानेके लिए आहार आवश्यक है। यदि आहार न किया जाय तो यह जीवन न टिक सकेगा और जीवन न टिका और किसी खोटी योनिमे जन्म हो गया तब तो उत्थानसे बिलकुल दूर हो गए। सो मुनि जन आहार क्रिया भी करते है पर विरुद्ध न करेंगे। अनुचित सदोष आहार ग्रहण न

करेंगे । इसी प्रकार रहनेको कोई स्थान होना ही चाहिए । पर्वतकी गुफा हो, वृक्षकी खोह हो, छोड़ा हुआ खण्डहर हो, चैत्यालय हो, मन्दिर जी हो, क्योंकि स्थान पर निर्विघ्न रहे बिना संयमकी, ज्ञानध्यानकी साधना नही बन सकती । तो ये तीन बातें आवश्यक हो जाती है । उपकरण, वसतिका और आहार । सो ये मुनीन्द्र उनमे भी विरुद्ध पदार्थोंको मनसे, वचनसे, कायसे ग्रहण नही करते । मुनि सतजनोकी दृष्टि केवल निरपेक्ष सहज चैतन्यस्वरूप मे ही लगी है । यह मै हू, इस ही को बारबार निरखते है । इस चैतन्यस्वभावके आश्रयसे विकल्प हटकर विशुद्ध आनन्द जगता है । इस कारण ये ज्ञानी संत एक इस विशुद्ध कारण समयसार पर ही दृष्टि लगाये रहते है, सो अब ऐसे आत्मप्रेमी मुनिराज विरुद्ध पदार्थोंको कैसे ग्रहण कर लेगे, जो शास्त्रविधिसे अनुचित है । जैसे केवल मुनिके लिए ही बनाया गया आहार अथवा जतुवोसे व्याकुल गुफा आदिक स्थान ऐसे विरुद्ध पदार्थोको मन, वचन, काय तीनो योगोसे ग्रहण नही करते ।

व्रतसमितियुक्त जितक्रोध मुनिवरोंसे आशीर्लाभ--ये मुनिराज व्रत और समितिसे युक्त होते है । ५ पापोसे विरक्त होनेको व्रत कहते है और आहार विहार प्रतिष्ठापन आदिक करने पड़ें तो निर्जन्तु जमीन देखकर करते है, ऐसी उनकी समिति रहती है । तो व्रत और समितिसे युक्त इन मुनिराजने मोह प्रपंचको दूर कर दिया है । जहाँ सत्यकी लगन हो गयी वहाँ असत्यकी प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है ? सो मोहरहित साधुजन इस अविकार चैतन्य-स्वभावकी ही उपासना किया करते हैं । ऐसे मुनिराज जिनके क्रोध रूपी योद्धा न टिक सका, क्रोधको जीतने वाले है वे मुनिराज हमे मुक्ति प्रदान करें । जो बात जिस योग्यतामे जीवके जिस तरह होती है वैसा हो जाना उसके लिए आसान है । यदि अज्ञानी मोही क्रोधी जन बाह्य परिग्रहोको सुखकारी जानकर उनका ही लगाव रखते है और उस लगाव रखनेके कारण उनमे बाधा देने वालेके प्रति क्रोध करते है तो ऐसी प्रकृति मोही जीवकी है, जिस बातसे हटना उनके लिए सामर्थ्यसे बाहर है । ऐसे ही ये ज्ञानी सतजन जिनको सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन हुआ है और इस स्वत सिद्ध विशुद्ध सहज परमात्मतत्त्वका दर्शन होनेके कारण अलौकिक आनन्द जगा है, अब उनसे हिंसा आदिक पापकी प्रवृत्ति कैसे बन सकती है ? यदि मोहीजन शुद्धभाव करनेमे असमर्थ है तो ज्ञानी योगीजन अशुद्धभाव करनेमे असमर्थ है । ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभादिकसे रहित मुनिजन मुझको मुक्ति प्रदान करें । यद्यपि कोई दूसरा जीव मेरेको मुक्ति प्रदान नही कर सकता, पर मुक्ति जिन भावोसे मिलती है उन भावोको यह भव्य जहाँ देखता है तो उसमे इतना प्रसन्न हो जाता है कि उन भावोमे और अपनेमे वह भेद भूल जाता है क्योकि वे शुद्धभाव इसके ज्ञानोपयोगमे तो आये है । तो जिस समय

जो भाव उपयोगमे है उस समय वह उसी रूप अपने को अनुभवने लगता है। तो वह शुद्ध भाव जब इस ज्ञानोपयोगमें आया है तो अभेद करके इन्ही भावोसे इसके भीतरसे यह प्रार्थना बनती है कि मुझको मुक्ति प्रदान करें। जिसको बादमे फिर आराध्य और आराधक भिन्न भिन्न देखकर उपचारसे कहा जाता है कि ये मुनिराज मुझको मुक्ति प्रदान करें। मुक्ति प्रदान करनेका अर्थ है ससारसे छुटकारा पाना।

स्वभावकी उपासनामे श्रेयोलाभ—जहाँ स्वभाव और विभावमे सही परख हो गई, ये विभाव कर्माधीन है, नैमित्तिक है, विनाशीक है और यह मैं चैतन्यस्वभाव स्वाधीन हू। मेरा स्वरूप है, ऐसा भेद जो जानता है वह विभावोसे छुटकारा पाता है और अपने स्वरूपमे अनुभूति पाता है। कुछ थोडा यह विचार करना चाहिए कि ये विकार मेरे निकटकी चीज है या ज्ञानस्वभाव मेरे निकटकी चीज है? तो निकटकी चीजको छोडकर बाहरकी चीजमे उपयोग फसाना यह अनर्थकारी कदम है। इससे हटकर मैं अपने आपके इस चैतन्यस्वभावमे ही मग्न होऊँ ऐसी भावना रखना चाहिये।

जनयति परभूतिं स्त्री धन नाश दुःखं ददति विषयवांछावधनं बधुवर्गा.।
इति रिपुषु विमूढास्तन्वते सौख्यबुद्धि, जगति धिगिति कष्ट मोहनीयं जनानां ॥१६॥

स्त्री धन बन्धुजनोकी अहितकारिता—इस मनुष्यकी इस लोक सगतिमे कितनी विडम्बना है यह इस छदमें बताया गया है। स्त्री तिरस्कार करवाती है। कई घटनायें होती है ऐसी जिनमे स्त्री द्वारा तिरस्कार होता रहता है, वचनोसे या कुछ करतूत घटनासे इसका तिरस्कार होता है। धन पाया है तो यह धन दु खका ही कारण बनता है। जब कमाया तब दु खसे कमाया। उसकी रक्षामे भी दुःख है और रक्षा करते करते भी नष्ट हो जाता है तो अतीव दुःख पैदा करता है। पर पदार्थ आत्माको दुःख उत्पन्न करता है, यह एक कहनेकी रूढि है, वास्तविकता तो यह है कि उस दु खका आश्रयभूत कारण बनकर चित्त मे कल्पनायें करके कर्मोदयवश यह जीव दु खी होता रहता है। पर धनमे लगाव तो रखता है। सो ये जीव भी समझ रहे है कि धन नष्ट होनेसे दुःख होता है। बधु लोग विषयोकी इच्छामे बाधा डालते है। इन मनुष्योका प्रेम तीन बातोमे अधिक है—(१) स्त्री (२) धन और (३) बन्धु। सो तीनोकी ही बात दिखा रहे है कि इन तीनका सग कितना अनर्थके लिए है। बंधु लोग विषयोमे बाधा डालते है या विषयकी इच्छावोका बन्धन बनाते है। कई भाई हो गए, आखिर उनमे जब कभी लडाई होती है तो इन विषय साधनोपर ही तो होती है। एक दूसरेको कुछ नही देना चाहते। तो यह ही तो बाधावोका डालना है। इस को मेरेसे अधिक क्यो मिला, मुझे कम मिला, मुझे और मिलना चाहिए तो इन विषयो

की इच्छावोका बंधन ही तो मिला। तो बंधु वर्गके होनेसे विषयोकी इच्छावोका बंधन बढता है और विषयोमे बाधा आती है तो यह मनुष्यके लिए अहितकारी है और अहितकारी होनेसे यह सब शत्रुवत् है। परमार्थ दृष्टिसे भी देखिये तो किसी भी परद्रव्यका लगाव आत्माके कष्टके लिए ही होता है। यद्यपि पर पदार्थ इसको कष्ट देने नही आते। वे तो जहाँ है वहाँ अपने अस्तित्वसे मौजूद है, अपनी योग्यतासे परिणमते है पर यह मोही जीव उन बाह्यपदार्थों का आश्रय करके अपने चित्तमे नाना विकल्प बनाता रहता है। तो विकल्पका आश्रय तो रहा, उसपर इतना ख्याल तो रहा। उस आश्रयभूतको छोड दें, किसी पर पदार्थका ख्याल न करे तो कर्मोदय अव्यक्त होकर निकलेगा, सो कब तक अव्यक्त रहेगा? व्यक्त होने न दिया जाय तो ये कर्म भी यथाशीघ्र नष्ट हो जायेंगे। पर यह जीव ख्यालमे तो पर वस्तुओं को ही लाता है, जो विकार हुए, न उनका ख्याल करता, कर्मोदय होनेपर हुए न उनका ख्याल करता। ख्यालमे तो ये इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ही रहते है सो ये अहितकर हो गए। तो ऐसे अहितकर होनेसे परमार्थसे कल्याणमे बाधक होनेसे ये सब समागम शत्रु है।

शत्रुवत् अहितकारी होनेपर भी मुग्ध प्राणियोकी स्त्री आदिकी सेवा सुश्रूषामें अपनेको धन्य माननेकी प्रकृति—विषयोमें रमकर किसीने कोई लाभ पाया हो तो एक भी उदाहरण बता दो। स्त्री पाकर, धन पाकर, कुटुम्ब पाकर किसी आत्माने कोई अपनी उन्नति की हो, मोक्ष पाया हो या बडा पुण्य सचय करले इसके लगावमे एक भी ऐसा उदाहरण नही है। कल्पित इष्ट पदार्थोका लगाव तो इस जीवकी बरबादीके लिए ही है। यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि स्त्री, धन, बधु आदिकका लगाव इस जीवके विनाशके लिए है, बरबादीके लिए है, पर यह मनुष्य इतना मूढ है, मोहसे इतना दबा हुआ है कि उन बैरियोकी सेवा सुश्रुषा करनेमे ही सुख मानता है, अर्थात् जो बैरी जैसा आचरण करता है याने स्त्री, धन, बधु इनका संग कष्टके लिए है तो भी इनकी ही सेवा चाकरी करनेमें यह मनुष्य अपनेको सुखी मानता है। कुछ थोडा भी गुण हो स्त्रीमे तो यह पुरुष अपनी मित्र गोष्ठीमे बैठकर स्त्रीकी बहुत प्रशसा करता है। घरमे पुत्रादिक जिनमे मोह है उनकी यह बडी प्रशसा करता है, मेरा एक लडका कलेक्टर है, एक डाक्टर है, एक मिनिस्टर है, एक इन्सपेक्टर है, एक और टर है, ऐसी प्रशंसा करता है। तो उस प्रशंसाका सीधा अर्थ क्या है कि उसके लड़के तो होशियार है समझदार है पर वह खुद कुछ नही है, कोरा बुद्धू है। तो जिन वचनोसे स्पष्ट जाहिर होता है कि सुनने वालेके हृदयमे यह आस्था बन जाती कि इन सेठजी के वधू व लड़के तो कलावान है पर इनमे खुदमे कोई कला नही। सो अपना अपमान भी सहते, जीवन भर कष्ट भी सहते पर ये मोही प्राणी मुग्ध होकर उन्ही की ही सेवामे सुख मानते है।

मोहका धिक्कारवाद—इस मोहनीय कर्मको धिक्कार है जो ऐसा जीवको भ्रममे डाल रहा है। गल्ती करने वाला पुरुष गलत है, पर गल्तीको सही मानने वाला पुरुष उससे भी अधिक गलत है। गल्ती होती है, कर्मके उदय है और वे गल्तियोको गलती स्वीकार कर लेते है, यह बात होती है सम्यक्त्व व विवेक जगनेपर। जो कुछ थोडा वहुत प्रसग है विषय समागम आदिक उनमे जो विभाव बनते है वे भी तो गल्तियां है। पर ज्ञानी जीव उन गल्तियोको जानता है कि मेरेमे इतनी कमी है, त्रुटि है पर मिथ्यादृष्टि जीव गल्ती करके भी अपनेको सही मानता है, कि मैं सही मार्गपर चल रहा हू। कदाचित' उन्हे कोई त्यागी ज्ञानी समझाये तो वे यह मानते कि इस बेचारेको कुछ पता नही, इसके पास धन, कुटुम्ब आदिक तो कुछ है नही, इसलिए ऐसा कहता है, उन्हे यह दयापात्र तक समझता है। तो यह मोहनीयकर्म इस जीवका बहुत प्रबल वैरी है। परमार्थत: तो मोह भाव जो इस जीवमे भ्रान्तिका परिणाम होता है यह है इसका प्रबल वैरी। सो आत्महित चाहिये है तो अपने स्वरूपकी सभाल करें और इस समस्त पर पदार्थोंसे, परभावोसे अपने को निराला जाने और निर्दोष निज सारभूत इस ज्ञानप्रकाशमे ही रत रहे।

जैनी दीक्षा लेकर मद मदन कषायोके वशीभूत पुरुषोकी भ्रष्टता—यह विषय सुख निराकरणका प्रकरण है। इस प्रकरणमे विषय सुखोकी असारता बताकर उनका निराकरण करनेका उपदेश किया है। इस छदमे कहते हैं कि कोई पुरुष मुनि हो गया, उसने जिन दीक्षा ले ली, पर मुनि होनेपर भी अभिमान, काम, क्रोध, मान, माया आदिक कषायें ये शत्रु शान्त नही हुए है, तो उनकी दीक्षा मुक्तिके लिए तो नही है पर हां मुक्तिके लिए है याने संसारमे रुलता रहे इसके लिए समर्थ हो गई वह दीक्षा। मुनि दीक्षा लेने पर ऐसा प्रसग आ भी जाता है क्योकि लोग उनकी पूजा प्रतिष्ठा प्रणाम, वदन करनेमे लगे रहते हैं, तो जिनको अतस्तत्वका बोध नही है, जिन्होने इस सहज स्वरूपकी सारता नही समझी है उनको घमंड हो जाया करता है। यदि लोगोके पूजा प्रणाम आदिक निरखकर घमंड हो जाय तो उसकी दीक्षा व्यर्थ रही। वह पुरुष तो अतीव विमूढ है। जो कामविषयक विकल्प बनाये रहे। इसके कई नाम है एक नाम है मन मथ जो मनको मथ दे, मनोज जो केवल मनकी कल्पनासे ही उत्पन्न हो। किसीको मानो बुखार चढ जाय तो शरीरकी परिस्थिति है ऐसी जो असह्य बन रही है, सिर दर्द कर रहा, पेटदर्द कर रहा, तो ये व्यथायें ऐसी हैं कि जिनके बारेमे कह सकते है कि क्या करे बेचारा, ऐसा असाताका उदय आया, पर यदि कोई कामवासनाके भावोसे मूर्ख होता फिरे, जगह-जगह डोलता फिरे, किन्हीको मनाता फिरे तो यह अतीव मूढ है। उसके शरीरपर कौनसा कष्ट आया है जो इस तरहकी विडम्बनामे

पड गया है ? तो दीक्षा लेनेपर जिसके चित्तमे कामविषयक विकल्प रहता है उनकी दीक्षा मुक्तिके लिए नही। किन्तु चिरकाल तक संसारमे जन्म मरण भोगते रहनेके लिए है। क्रोध मान, माया, लोभ ये चार इस जीवको कठिन दुःख देते है। ऐसे ये चार कषाय प्रायः सभी को आते है, तो अपने अनुभवसे समझ सकते है कि इन कषायोमे कितनी अन्तर्व्यथा है। क्रोध आनेपर सारे गुण भस्म हो जाते है, घमड आने पर इसकी दृष्टि कैसा दुनियामे चली जाती है। जो केवल एक इसकी कल्पनाकी ही दुनिया है, जिसे जगतके सभी लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं, माया और लोभ तो बड़ी विडम्बनायें है, उनमे बडा कष्ट भोगना होता है। उससे कितनी ही उलझनें बढ़ जाती है। तो ये सारे कष्ट इन कषायोसे प्राप्त होते है। कोई मुनि दीक्षा तो ले ले और उसके ये कषाय बैरी यदि शान्त न हो तो उसकी दीक्षा मुक्तिके लिए तो समर्थ नही है, पर ससारके दुःखोको भोगनेके लिए समर्थ है।

जैनी दीक्षा लेकर विषयोमे देहसुखमे आसक्त पुरुषोकी भ्रष्टता—कोई पुरुष जिन दीक्षा लेकर विषयोसे विरक्तिके परिणाम नही बना पाते, विषयोसे विरक्त होनेकी भावना ही नही बना पाते, बल्कि ख्याल कर कर इन इन्द्रियके विषयोमे प्रीति बढ़ाये जाता है तो ऐसी जैनेन्द्र दीक्षा लेनेसे लाभ कुछ न रहा, बल्कि ससारके दुःखोका भोग करना ही लाभ रहेगा। साधु होनेके मायने तो यह है कि वह निरन्तर अपने सहज ज्ञानस्वभावकी साधना बनाये हुए है। जिस सहज ज्ञानस्वभावका जन्म नही, मरण नही, किसी प्रकारका जहाँ कष्ट नही उस निज सहजस्वरूपको जो आत्मा मान रहा है उसके चित्तमे जन्ममरण आदिकके कोई क्लेश नही है। निमित्तनैमित्तिक योग वश जो होता हो हो, उस ओर ज्ञानीका चित्त नही है। यह तो अविनश्वर अनादि अनन्त अहेतुक निज सहज स्वभावमे ही दृष्टि लगाये हुए है। तो ऐसे सहज स्वभावकी साधना करनेके लिए ही साधु दीक्षा हुआ करती है। तो कोई पुरुष ऐसी साधु दीक्षा लेकर जन्म मरणके दुःखसे डर रहा है उसकी यह जिनदीक्षा मुक्तिके लिए नही है, मोक्ष मार्गमे बढनेके लिए नही है। किन्तु वह संसार सकटोमे ही लगनेका उपाय है।

जैनी दीक्षा लेकर कातर व देहसुखेच्छु बननेकी निन्द्यता—सर्व परिग्रहोका त्याग तो कर दिया, नग्न केवल गात मात्र ही रह गए, पर शरीरके सुखसे वैराग्य नही जगा, चाह चाहकर कोमल शैया होना, पुराल होना, शरीरका स्वच्छ रखना, शरीरका आराम चाहना, ऐसी स्वयं चित्तमे बुद्धि बनी हुई है। शरीर सुखोसे वैराग्य नही जगा है बल्कि शरीरसुख भोगनेकी इच्छा ज्यो की त्यो बनी हुई है। भोजन भी स्वादिष्ट हो और और तरहसे शरीर की शोभा बढ़े, बड़ी कीमती चटाई आदिक होने चाहिए और इतना ही क्या, जिन उपक-

रणोकी जरूरत रहती है वे बडे शौकिन श्रृङ्गारपूर्ण होने चाहिए, कागज, कापी, पेंसिल आदिक बहुत उच्च कोटिके साफ साफ सजे हुए होना चाहिए। यदि यह वान्छा रह गई तो उसकी जिनदीक्षा लेनेका क्या फल रहा ? वह तो ससारमार्गमे ही बढ रहा है। मोक्षमार्ग मे बढना तो तब बनता जब सारी धुन एक सहज ज्ञानस्वभावकी साधनाके लिए हो जाती तो जो मनुष्य दीक्षा लेकर जन्म मरणके दुःखोसे भयभीत है, शरीरके सुख भोगनेकी इच्छा पूर्ववत् ज्योकी त्यो बनी हुई है उन मनुष्योकी वह दीक्षा तपश्चरण मुक्ति प्रदान करने वाली नही, किन्तु उससे उल्टा ससार ही वह बढा रहा है। ऐसा पुरुष तो जो कुछ भी तपश्चरण कर रहा है और दुनियाको दिखावाके लिए अथवा विषयभोगोके साधन सुगमतया मिलते रहे, इसके लिए कर रहा है अथवा ढोग रच रहा है, उसे यह मायामयी जगत ही सुहा रहा है ? मायामय पुरुषोका समूह उस मायामय मुनिका जयवाद कर रहा। मानो इस तरह वह केवल संसारके बढ़ावाके लिए ही साधु दीक्षा लेकर एक यश और सुख भोगोकी भूमिकामे उतरा हुआ है। जगतमे ऐसे बहुत मनुष्य है जो साधु दीक्षा तो ले लें, अपनेको साधु प्रकट करें परन्तु साधुता जैसे भाव और कार्य नही बन पाते। निरन्तर कषाय शरीरानुराग, इन्द्रियभोग की इच्छा जिनसे ससार बढता है उन कार्योंको ही करता है। सो आचार्य मानो सकेत कर रहे है कि हे मुनिजन जो दीक्षा ली है उसके अनुसार ही काम करो। तब मोक्षमार्ग मिलेगा, मोक्षपद मिलेगा अन्यथा ससारमे ही रुलना होगा। गृहस्थजन भी इससे यह शिक्षा लें कि यदि मायाचार करके दुनियाको दिखानेके लिए ही धर्मप्रवृत्ति की जा रही है तो वह धर्म नही है किन्तु संसार सकट बढानेका ही एक उपाय बना रखा है।

श्रुतमतिबल वीर्यप्रेमरूपाय रगस्वजनतनय कांताभ्रातृपित्रादि सर्वं।
तितउगतजल वा न स्थिरं वीक्षतेंऽगी, तदपि बत विमूढो नात्मकृत्य करोति ॥१८॥

सर्व समागमोंकी विनश्वरता—

इस जगतमे जिसे जो कुछ मिला है, वह सब विनश्वर है। जैसे कहते है आदिसे अन्त तक जो भी संग मिला है, खूब निगरानी करके देख लो, कुटुम्ब, मकान, धन, दुकान कारखाना शरीर यश और और भी अनेको नाम लेते जाइये, जो जो भी चीजें मिली है वे सब विनाशीक है, और इतना ही नही, जो और सूक्ष्म वस्तु विकार भाव है वे भी विनाशीक है। जो श्रुत पाया है याने शास्त्रज्ञान वह भी मिटेगा। हाँ शास्त्रज्ञान करके भीतरी अनुभूति पायी है उसका सस्कार अगले भवमे जायगा वह तो काम देगा मगर जो केवल विद्याके रूपसे अर्जन किया है वह भी यही पडा रह जायगा। जो इन्द्रियजन्य बुद्धि पायी।

शक्ति पाया, प्रेम पाया वह भी विनाशीक। शरीरका रूप, आयु, बंधुजन पुत्र, स्त्री, बहिन माता पिता आदिक जो जो भी पदार्थ मिले है वे सब विनाशीक है। इस जीवनमे क्या है? जबसे जीवन पाया है तबसे मरण तक दु:ख ही दुख है। कभी किसी घटनाके कारण दु:ख कम हो गया उसको यह सुख मान लेता है। सो ये सारे पदार्थ ये दिखते दिखते ही नष्ट हो जाते है। जैसे चलनीमे कोई पानी डाले तो चलनीके छेदसे जल देखते देखते ही निकल हा है। तो जैसे कोई चलनीमे पानी डालता है तो देखते देखते ही खतम हो जाता, ऐसे ही जिनको इन पदार्थोंका समागम बना है उनके देखते देखते ही ये सब नष्ट हो जाते है।

सब कुछ तथ्य देखनेपर भी व्यामुग्ध जनोंमे आत्मकृत्य करनेकी सूझका अभाव—यह सब कुछ आँखो देख रहा है कि यह सब सग प्रसग विनश्वर है लेकिन खेदकी बात है कि यह सब तथ्य जानते हुए भी ये मूढ प्राणी अपने आत्माके कल्याणके लिए कुछ नही विचारते। सब कुछ नष्ट हो जायगा, पर यह पहलेसे ही मान ले कि सब कुछ मेरेसे अलग है और किसी भी पदार्थके कही भी चले जानेसे इस मेरे आत्मामे कोई परिणमन नही बनता। मेरा परिणमन मेरे ही परिणमनसे बनता है। ऐसा वस्तु स्वातत्र्यको जान लें तो उसका फल क्या होगा कि बाह्य पदार्थोंसे लगाव हटा लेगा और अपने आत्माके सहज स्वरूपमे ही आत्मत्व अनुभव करेगा। सो यह दृष्टि सृष्टि आत्माके हितके लिए है, लेकिन यह मूढ प्राणी हितकर कार्योको नही करता। जो आत्माकी भलाईके कारण है सम्वेग वैराग्य, तत्त्वज्ञान, इनमे स्थिर नही रहता और वह रात दिन इन बाह्य पदार्थोंके लगावमे, धुनमे, सग्रहमे ही फसा रहता है। कर्तव्य यह है कि सब समागमोको असार जानकर उनके प्रति आसक्त न रहना और अपने स्वरूपको ही अपना शरण जानकर इस स्वरूपमे ही रमण करना, यह ही आत्म हितका सही उपाय है।

त्यजत युवतिसौख्यं क्षांतिसौख्य श्रयध्वं, विरमत भवमार्गात् मुक्ति मार्गे रमध्व।
जहित विषयसंगं ज्ञानसग कुरुध्वममितगतिनिवास येन नित्य लभध्वं ॥ १६ ॥

मोक्षमार्गरुचिकोंको युवतिसंगत्यागका उपदेश—अपने आत्माको सहज आनन्दमे, परमार्थ संतोषमे रखना चाहते हो तो संसार भ्रमण बर्द्धक कार्योको समाप्त करो। युवतियोके सौख्यको छोड़ दो, पञ्चेन्द्रियोमे सर्वाधिक बाधक स्पर्शनइन्द्रियका विषय है। यद्यपि स्पर्शनइन्द्रियका विषय तो शीत उष्ण आदिक स्पर्शरूप ही है, वहाँ तो काम मैथुन संज्ञाका प्रभाव है, पर उसमे अति निकट विषय स्पर्शनइन्द्रिय है। सो कामवासना जन्य सुखकी अभिलाषा को त्याग दो। वह सुख नही, वह तो परम दु:ख है। उस सुखके भोगनेके कालमे यह जीव अपने आत्मस्वरूपसे बिल्कुल जुदा रहता है, सुध ही नही रहती है कि मै कुछ आत्मा हूं और

फिर इस सुखके परिणाममे विपत्तियाँ, विडम्बनायें, लाचारी आदिक अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ बनती है और इस बेसुधी वाले विषयमे इतना तीव्र पापका बध होता है कि जिसके फलमे कोडा कोडी सागर तक ससारमे जन्म मरण कर भटकना पडता है। अत युवतीजनोके सौख्य का परित्याग कर दे।

मोक्षार्थियोंको क्षमाशीलताका आश्रय करनेका उपदेश—हे आत्मकल्याणार्थी क्षमा-सम्बधी आनन्दका आश्रय लो। क्षमाभाव रखनेमे कितना आनन्द है। आत्मसमतासे अपने ऐश्वर्यको अनुभवता हुआ स्थित रहता है। किसी भी घटनाको लेकर किसी प्राणीपर क्रोध, भाव आना, इसके फलमे दुःखी कौन होता? क्षमासे हटकर क्रोधमे आया हुआ यह ही जीव दुखी होता है। क्षमाशील न रहनेका काम तो अज्ञानीजनोका है। जिनको अविकार अतः स्वरूपकी स्मृति नही है, सुध नही है वे सब कुछ अपना निर्णय इस मायामय जगतके निग्रह अनुग्रहमे किया करते है, ये बाह्य पदार्थ इतने आ जायें तो मेरा महत्त्व बढ जाय, मेरे विषयो मे यह बाधक है, इसका समूल नाश हो जाय तो 'मेरेको आगे सुविधा रहे, निर्विघ्नता रहे, ऐसी कितनी ही कल्पनायें अज्ञानीजनोके चित्तमे उत्पन्न होती है, और इस कल्पनाजालसे ही फिर बाहरमे क्रोधभावके अनेक प्रसग आते हैं। क्रोध करनेकी इसकी आदत ही हो जाती। तो ऐसे क्रोधके फलमे इसके सारे गुण जल भुन जाते है और अपने सन्मार्गपर यह गमन नही कर पाता, इस कारण हे हिताभिलाषी भव्य पुरुष अपने आपपर दया करके क्षमा शील बननेका प्रयत्न करो। क्षमामे जो आनन्द है वह किसी भी श्रममे नही है, सर्वत्र आकु-लता है। पर वस्तुका यथार्थ स्वरूप जानकर शान्तचित्त होकर रहे कोई तो उसका आनन्द परमात्माके आनन्दकी जातिका होता है। उस आनन्दका जगतमे अन्य कोई उदाहरण नही है। इस कारण हे आत्महितार्थीजनो क्षमा सम्बन्धी आनन्दका आश्रय करो।

मोक्षसौख्यार्थियोको संसारमार्गसे विरक्त होनेका उपदेश—प्रथम तो आत्महितकी अभिलाषा होना ही कठिन है। जगतके जीव विषय सुखोके पीछे ऐसा अंधाधुध दौड रहे हैं कि इनको अपनी कुछ सुध ही नही कि मैं क्या हूं और किस प्रकार रहनेमे मेरा कल्याण है। यह अज्ञानियोको नही विदित है, वे तो अपनेको भी इस मायामय देहरूप ही समझते है, यह भाषा भी ज्ञानियोकी भाषा है, कही वे अज्ञानी मनमे यह नही सोचते कि यह शरीर है सो मै हू, किन्तु वे शरीरमे आत्मरूपसे ही आस्था रखते है। उनके लिए दो चीजें नही है अलग-अलग कि शरीर और मैं। पर कहना पडता है ऐसा समझानेके लिए जैसे कोई घडा गोल है तो लोग यह कहते हैं कि इस घड़ेका आकार गोल है, तो ये दो चीजें है क्या कि घडा अलग है और आकार अलग है। और फिर यह घड़ेका आकार है तो मेहरबानी करके

इतना ही कोई कहदे कि गोल-गोल आकार तो रहने दे और घड़ा लाकर दे दे, ऐसा कोई कर सकता क्या ? पर समझानेके लिए दो बातें है। कि घड़ेका आकार गोल है, पर वहाँ दो बातें है ही नहीं। ऐसे ही समझनेके लिए दो बातें कही गई है कि मिथ्यादृष्टि जीव देहको आत्मा मानता है, पर मिथ्यादृष्टिकी निगाहमे दो चीजें है ही नही देह और आत्मा। वह तो अपनेको ही मानता है कि मैं यह हूं देहको। निरन्तर फिर इस भ्रमके कारण जितनी भी करतूत बनती है व सब संसारवर्द्धक है। किसीसे प्रेम करेगा, किसीसे द्वेष करेगा, किसी स्वार्थ सिद्धिके लिए कुछ छल कपट करेगा। जितनी भी प्रवृत्तियाँ बनेंगी फिर लोगोंके निग्रह की अनुग्रहकी वे सब प्रवृत्तियाँ संसारवर्द्धक है। सो हे आत्महिताभिलाषियो उन समस्त सांसारिक कार्योंसे विरक्त हो जो कार्य जन्ममरण आदिक दुःखोंके देने वाले हैं। जो समय सांसारिक कार्योंमे गुजरे वह समय बहुत ही खोटा गया, जिसके फलमे यह जीव जन्म-मरण के और भी इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग वेदना आदिकके अनुकूल दुःख पाता रहा। संसारमें कौनसा पदार्थ ऐसा है जो इस जीवके स्वभावरूप ही जीवको आनन्द देने वाला हो ? कोई पदार्थ नही है ऐसा। जीवको अपने ही सहज स्वरूपपर दृष्टि जाय तो आनन्द प्राप्त होगा दूसरा आनन्द पानेका कोई विधान ही नही है। सारे श्रम केवल कष्ट पानेके हैं, सो हे आत्महितके अर्थी पुरुषो, समस्त संसार मार्गसे विरक्त होओ।

मुमुक्षुवोंको मोक्षमार्गमे रमनेका आदेश—यह जीव उपयोगमय है, सो यह अपना उपयोग कही न कही रमावे, यह इसका स्वभाव कही छूट नही सकता। सिद्ध भगवान हो गये, जहां कोई परपदार्थ उपाधिके झंझट ही नही तो अब वे सिद्ध भगवान अपने ही स्वरूप मे रमे रहे इसमे कौन सी बड़ी तारीफ हुई ? तारीफ तो तब कहलाती प्रभुकी कि संसारके झंझटोंमे रहकर फिर उस शुद्धस्थितिकी तरह अपना परिणमा करके दिखा दे। वह तो शुद्ध द्रव्य है। उनके अपने स्वभावके अनुरूप आनन्दमय परिणमते रहना यह तो एक आसान बात है उस स्थितिमे, पर वह स्थिति जब प्राप्त नही होती तो यह संसारका प्राणी मनुष्य विवेकी उस सिद्ध प्रभुके आनन्दको चाहता है तो उसे यह पौरुष पहिले करना पड़ता है। उसकी दृष्टिमे वह आनन्द प्रशंसनीय है और वह है भी प्रशंसनीय, मगर बात यह सरल नहीं कि शुद्ध अवस्था होने पर रागद्वेष मोहकी बात करना कठिन है, असम्भव है। कभी हो ही नहीं सकती। वह स्वभाव त्रिकाल ही इस प्रकारका है कि स्वतः ही सहज स्वरूपमे ही परिपूर्ण सहज आनन्दका अनुभव होता रहता है। तो ऐसे निर्विकार अपने स्वरूपमें स्वभावतः होने वाला जो आनन्द है उसकी चाह करें और उसके लिए मोक्षमार्गमें रमण करें अपनेमें रमनेकी आदत तो है किन्तु तू इन्द्रियविषयोंमे मत रम। यह तो इसी हेतु प्रकार

है, जिसमे रमकर तू अपनेको भस्म कर डालेगा। उन विषयोसे विकारोसे छूटनेका उपाय सहज आत्मस्वरूपकी भावना है। मै स्वत: अपने ही सत्त्वके कारण किस प्रकारके स्वरूपमे हू उसका ज्ञान करें और उस ज्ञानमे अपने उपयोगको रमाये, यही कहलाता है मुक्तिमार्गमे रमण करना। सो हे हितार्थी जनो, एक ही निर्णय रखो कि मेरेको जीवनमे करनेका दूसरा काम ही नही है। केवल एक ही काम है, इस मोक्षमार्गमे रमण करना।

धर्मपालनके लिये ही मानवजीवन माननेकी आस्थामे श्रेयोमार्गका सहज लाभ—ये बीच वाली झझटे कोई बढिया चीज नही है। लोक दृष्टिसे देखो तो अज्ञानी मूर्ख मिथ्यादृष्टि उसकी अपनी दृष्टिमे द्विविधावाले झझटमे तो नही है। उसका तो एक ही निर्णय है कि विषयोमे ही सुख है और घरके ये कुटुम्बी लोग ही मेरे सब कुछ है। सो बडे प्रेमसे बच्चोको खिलाता है, सुखमे रमता है, वह एक इस किनारेपर है। और, जो संयत ज्ञानी निर्विकल्प समाधिके अनुरागी, उस समाधिके निकट ही रहने वाले है वे भी एक किनारेपर है, उनका एक ही निर्णय है कि इस विधिसे आत्महित करना, दूसरा कर्तव्य करना ही नही, किन्तु कुछ धर्मकी सनक रखने वाले और भीतरसे अनन्तानुबंधी लोभको न त्याग सकने वाले, कुछ समय मिला यदि सुखसुविधासे बचा हुआ तो धर्मवार्ता, प्रवचनश्रवण चर्चामे भी समय दे देते है, बाकी तो भीतरी लगनके साथ सांसारिक कार्योंमे ही समय गुजरता है, ऐसे पुरुष बडी द्विविधामे है और उनका वह कृत्य हस्तिस्नानकी तरह है। जैसे हाथीने किसी सरोवरमे स्नान किया, खूब बिल्कुल साफ हो गया, पर बाहर निकलते ही सूढसे धूल उठा उठाकर शरीरके चारो तरफ फेंकता रहता है इस कामके लिए हाथीकी सूढ मनुष्यके हाथसे भी अधिक काम करने वाली बन गई। एक तो सूढ चारो ओर घूमती जाती है, दूसरे जहां नही घूम सकती, नही जा सकती तो भीतरकी श्वासकी, हवाकी प्रेरणा मिलती है जिससे कि सारे शरीरको धूल धूसरित कर देती है। वही स्थिति है बीच बिचौनियाकी, समय मिलने पर धर्म करना, बाकी सारा समय सांसारिक कार्योंमे गुजारना, ऐसे जीवोकी क्रिया हस्तिस्नानकी तरह है, सो प्रगति चाहिये हो तो उस द्विविधाको छोडो और अपने पर दया करके एक प्रकाशकी स्थिति पानेके लिए ही अपना तन, मन, धन आदिक सर्वस्व लगायें। मोक्ष मार्ग ही हम आपका सच्चा रक्षक है। उसमे ही रमण करना योग्य है।

शाश्वत शान्ति चाहनेवालोको विषयसंग छोड़नेका उपदेश—जो पुरुष आत्मशान्ति चाहते है उनका कर्तव्य है कि सर्व प्रकारके इन्द्रिय विषयोका ससर्ग छोड दें और उनसे भी कठिन मनका विषय है, उसका भी परिहार कर दें। मनके विषयमे यह जीव यश नाम कीर्ति की चाह रखता है। जिनके भी मन है उन सबके यह रोग लगा है। मनुष्य ही नही, बैल,

घोड़ा, हाथी, गधा, पशु पक्षी ये सब यश कीर्तिकी चाहमें लगे हुए हैं। हाथी, गधा, बैल आदिक पशु मनुष्योंसे क्या नाम चाहेंगे? जैसे यहांके मनुष्य बैल आदिक पशुवोंसे अपना नाम नहीं चाहते कि ये पशु भी मेरा नाम जान लें, ऐसे ही ये पशु भी मनुष्योंसे नाम नहीं चाहते, पर अपनी बिरादरीमें वे अपना नाम चाहते हैं। कोई भी बैल अपने बैलोंमें, गायोंकी गोष्ठीमें अपनको महत्त्वशाली जतानेकी कोशिश करते हैं। लड़कर भिड़कर किसी पशुको भगाकर व किसीको शरणमें लेकर वे एक गर्वका अनुभव करते हैं। ये सब बातें उनकी क्रियावों से विदित होती रहती हैं। तो वे क्या यश, नाम नहीं चाह रहे? मनकी प्रकृति है यह। उसका सर्वप्रथम प्रहार नाम यशकी चाह द्वारा अपने भगवन्त सहज परमात्म स्वरूपका घात करनेसे होता है। सो सर्व प्रकारके विषयोंका प्रसंग छोड़ दो। किसी भी विषय सुखके प्रसंग में इस जीवकी सुरक्षा नहीं है। पाया हुआ अमूल्य समय बरबाद करना और उन सुख प्रवृत्ति से प्राप्त पश्चात्तापसे अपने आपको दुःखी करना, यह ही विषय सुखोंका परिणाम निकलता है, जो भी आज वृद्ध मनुष्य हो गए उन्होंने अपने जीवनमें क्या क्या चालें नहीं खेलीं, क्या क्या विषय प्रसंग नहीं किया, पर आज उनका वर्तमान नक्शा तो देखो, उनके पास कुछ रखा है क्या? बाहरी परिग्रहमें मानो अनाजको ही जोड़ते जावो तो एक बोरा भर जाता है। मगर विषयसुखोंको यह करता रहा, जोड़ता रहा, मगर जोड़ जोड़करके इन वृद्ध लोगोंके हृदयमें सुख भर गया क्या? अरे वे तो और भी अधिक रीते हो गए। तो ये विषयप्रसंग इस जीव के अहितकारी हैं, अतः मुमुक्षुजन इन विषयोंका प्रसंग त्याग दें।

शेषताकी दशा बनती है। कर्म कोई एक ईश्वर नही है अलगसे कि उसपर कुछ नियत्रण नही, जो कर्मकी दशा जीवके विकारका कारण बन जाय, यही इकतरका पक्ष हो। यदि कर्म-दशा जीवके विकारका कारण बनती है तो जीवके परिणाम कर्मोंको ध्वस्त करनेका कारण बनते हैं! सो यदि नही प्राप्त हुआ है मानो विशेष ज्ञान तो यह तो उपाय बनायें कि जिससे ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम बने और क्षयोपशम प्राप्त होने पर हम ज्ञानविकासको पायें। वह उपाय यही है ज्ञानके प्रति रुचि जगना। अब ज्ञानके प्रति जिनको रुचि है उनकी चेष्टायें, ज्ञानविकास और ज्ञानप्रसारके लिए जो जो साधन होते है उन सब साधनोमे प्रीति जगती है। देखिये प्रारम्भमे ऐसे परिणाम हुए बिना ज्ञानावरणके विशिष्ट क्षयोपशमके अधिकारी नही बन सकते। सो ज्ञानका सग कीजिए। ज्ञानका सग नही प्राप्त हो रहा है तो ज्ञानके साधनोमे उमग बढाइये।

मोक्षमार्गविषयक ज्ञानके साधनोमे उमंग रखने वालोकी सुभवितव्यता—उन पुरुषो का जीवन धन्य है जिनका जीवन ज्ञानके साधनोमे लगा है। उनका भवितव्य उत्तम रहता। वे ही ज्ञानसाधनोके सब कार्य करते। अपनी सारी जायदाद ज्ञानप्रसारके कार्योंमे लगाने वाले अनेक उदाहरण मिलेंगे। सागरका जैन महाविद्यालय एक कमरयावशीय रज्जीलाल जी नाम के पुरुषने ही पूरा बनवाया। अपना सारा वैभव उसीमे लगाया, ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है, जिन्होने संतान होते हुए भी सर्वाधिक भाग दानमे लगा दिया। ज्ञानके साधनोमे जिसकी बुद्धि लगती है उसका जीवन धन्य है, ऐसे ही पढानेमे लगाना, पढने लिखने वालोको मदद करना ज्ञानके साधनभूत शास्त्रोका प्रसार प्रचार करना, ऐसी बातोमे बुद्धि किसी बिरले जीवके लगती है। अच्छे कामोमे सभीकी उमग कैसे हो सकती है? ये ही उमगे वे बीज बन जाती हैं जो ज्ञानावरणके क्षयोपशम बना-बनाकर ज्ञानविकासको उत्पन्न कर देती है। यदि आत्मकल्याण चाहिये हो तो ज्ञानका सग करें। उसमे यह बहाने बाजी न हो कि कोई लौकिक विद्याके प्रसार प्रचारमे ही अपना तन, मन, धन, वचन लगा कर उसमे दम भरें कि हम ज्ञानदान कर रहे, वह तो एक धनार्जनकी कला है। चाहे किसीको व्यापार सिखाकर उसे धनार्जनके योग्य बना दें और चाहे उसे लौकिक विद्या सिखाकर धनार्जनके योग्य बना दें। यद्यपि यह भी कर्तव्य है मगर वह मोक्षमार्गके कर्तव्यमें नही रहा, वह रहा दीन दुःखी व समाजका उपकार करने वाला, कर्तव्योमे जो अरहत भगवानने उपदेश किया उस सम्यग्ज्ञानके प्रचारमे उमग हो तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम वृद्धिगत होता है। जिसके परिणाममे इस जीवको *अलौकिक ज्ञानविकास प्राप्त होता है। सो हे आत्महितार्थी, ज्ञानके सगको करो*

जिससे तुम अपरिमित सुखका साधन जो मोक्ष है उस मोक्षपदको प्राप्त कर सको।

श्रुतिसहजविवेकज्ञानसंसर्गदीपास्तिमिरदलनदक्षाः सर्वदात्यंतदीप्ताः।
प्रकटितनयमार्गा दस्य पुंसोऽत्र सति स्खिलति यदि स मार्गे तत्र दैवापराधः ॥२०॥

पौरुषकी कर्तव्यताका संदेश—जिसके पास शास्त्रज्ञान, सहजविवेक, ज्ञान, सत्संगति का दीपक मौजूद है जो कि सभी अंधकारके नष्ट करनेमे समर्थ है अत्यन्त दीप्त है। जिसने नयमार्गको प्रकट किया, ऐसा दीपक भी जिसके पास है, प्रयोग भी करे उसका यह पुरुष यदि मार्गसे चूक जाय तो इसमे भाग्यका ही अपराध समझना। इस छन्दमे यह बात बतायी जा रही है कि पुरुषार्थ करना अपना कर्तव्य है। तत्वज्ञान करें, मनन करें, भावनायें बनायें, सत्संगति बनायें, सब तरहसे अपने आपको मुक्तिमार्गके लिए पौरुष करें, निष्कपट पौरुष करें आत्महितके लक्ष्यसे पुरुषार्थ करे, ऐसा समस्त पुरुषार्थ करनेपर भी यदि कोई मनुष्य धर्म मार्गसे चूक जाय तो यहां यह सोचना चाहिए कि इस चूकमे इस बेचारे भव्य आत्माका कोई अपराध नही है, यह अन्दरसे खोटे आशय वाला बनकर नही चूक रहा है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मोंका ऐसा ही तीव्र विपाक है कि जिसके उदयमे यह अचल नही रह पाता अपने लक्ष्यमें और डगमगा जाता है। और बात है भी सही। आत्मा तो स्वभावतः निरपराध है। इसक स्वरूप ज्ञान है। ज्ञाताद्रष्टा रहना यह इसका काम है। तो स्वभावकी ओरसे देखा जाय तो आत्माका क्या अपराध है? जो भी अपराध बन रहा है सो यह कर्मोंके अनुभागका प्रतिफलन है और उस कर्म निमित्तके सन्निधानमे उस कर्मविपाकके प्रतिफलनमे यह चोट खाकर मानो बाह्यपदार्थोंकी ओर लग जाता है। तो जीवकी गसा समझना चाहिए कि इसका भीतरी आशय क्या है? जिस जीवका आशय गंदा हो, वह माना जाता है अतिभ्रष्ट पर जिसका आशय गंदा नही और पुरुषार्थ भी भलेके लिए कर रहा है तिसपर भी चूक जाय तो वह दैवका अपराध समझना चाहिए।

पुरुषार्थी भव्यात्माके शास्त्रज्ञानपौरुषकी व नयमार्गगमनकी सराहनीयता—देखिये जिस भव्यात्माके लिए यहां सकेत किया है वह भव्यात्मा कितने पुरुषार्थमे चल रहा है। सदा दैदीप्त रहने वाले अज्ञान अंधकारको नष्ट करनेमे समर्थ इसके पास अलौकिक दीपक है। इसे शास्त्रज्ञान भी अधिक स्पष्ट है। जैनशास्त्रोके परिचयसे नयमार्गका स्पष्ट बोध होता है। नयमार्ग एक ऐसे गहन बनके बीच जाने वाला मार्ग है कि इसका पार वही पा सकता है जिसने वस्तुस्वरूपका अध्ययन मनन किया और अपनेमे सहज स्वरूपका अनुभव किया है। अन्यथा नयोका जाल इतना गहन है कि एक नय जो इस समय कह रहा है कि वास्त-

विकता यह है यही नयका विषय कुछ ऊँची दृष्टि बनने पर वह गौण और हेय हो जाता है।

लोकभाषामें ठीक माना जानेपर भी निमित्तनैमित्तिकव्यवहारके समक्ष उपचार कथनकी असमीचीनता व गौणता—जैसे यह कहा जाय कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया तो ऐसा कहनेमे भी कोई बडी चूक नही है। समझने वाले समझते ही है कि निमित्त को भी लौकिक भाषामे कर्ताके रूपसे बोला जाता है। समझने वाले इस वाक्यको सुनकर भी भ्रममे नही आते, किन्तु संक्षेपमे बोलने की यह ही भाषा है अन्यथा इस बातको आप ठीक सही भाषामे बोलिये तो इतना लम्बा बोलना पडेगा कि पूर्वकालमे जीवविकारका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणामे कर्मत्व आया था सो उन अनुभाग विशिष्ट कर्मोंका जब उदय काल आया तो उसका निमित्त पाकर जीवमे अपनी परिणतिसे विकार हुआ है। अब इतना लम्बा बोलनेका अवसर कहाँ है? हाँ कोई निर्णय वाली सभा हो तो उस सभामे तो यो बोला जायगा मगर शीघ्र शीघ्र ज्ञान कराना है तो इस भाषामे बोलते ही है। जैसे घरमे किसीने कहा अपने बडे बच्चेसे कि बेटा जरा वह घी का डिब्बा उठा लाना, तो क्या वह लडका यहाँ भ्रममे पड जाता कि घी से बना हुआ। डिब्बा तो यहाँ कही रखा नही। मैं कैसे उठाऊँ, कैसे ले जाऊ? यो वह जरा भी भ्रम नही करता और घी भरे डिब्बेको उठाते समय भी वह यह नही जानता कि यह टीनसे बना डिब्बा नही है, यह घी से बना है। कोई भ्रम नही होता सच्चाई उसके हृदयमे रहती है और उसकी आज्ञाका तुरन्त पालन कर देता है। तो उपचार भाषामे जिसको प्रयोजन विदित हो गया और उस प्रयोजनके लिए यह भाषा बोली गई है ऐसा स्पष्ट ज्ञान करने वालेको क्या हर्ज है ऐसा सुनने और बोलनेमे कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया। ऐसी भाषा सुनकर अगर कोई अज्ञानी जीव कर्ताकर्मकी बुद्धि लाद ले कि जीवका वश क्या है? ये कर्म है ईश्वर, सो ये जीवको रागी कर डालते है। तो यदि कोई अज्ञानी भ्रममे आकर अपना विघात कर ले तो उससे कही ज्ञानियो की भूमिका तो न बदल जायगी। सो एक बार यह भी सुन लेना ठीक लग रहा कि पुद्गलकर्मने जीवको रागी कर दिया। पर जब इसके मुकाबलेमे निमित्त नैमित्तिक भावकी सही वाक्य रचना आती है कि कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव रागी बन गया तो पहले कही हुई बात अब इसकी मिथ्या अथवा गौण हो जाती है।

निमित्तनैमित्तिकव्यवहारभाषाकी भी निश्चयदृष्टिके समक्ष गौणता—अब यह बात तो ठीक है कि पुद्गलकर्मका उदय आये तो उसका निमित्त पाकर जीव रागी बन जाता है, किन्तु जब एक और नई वाक्य रचना और दृष्टि आती है कि जब एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बध नही है तो सम्बध क्यो जोडना? वहाँ तो यह जीव अपनी योग्यतासे, अपने

परिणमनसे रागी बन रहा है। तो यह है निश्चयनयकी भूमिका। एक ही द्रव्यको निरखा गया है। तो लो वह निमित्त नैमित्तिक व्यवहार भी गौण हो गया, अब केवल यही नजर आ रहा कि जीव अपनी परिणतिसे रागी बन रहा, किन्तु जब जीवका स्वभाव निरखते है तो स्वभावमें तो यह बात पडी ही नही है कि जीव अपने स्वभावसे रागी बन जाय तो उस दृष्टिमे जब यह बोलते है कि जीव अपने भावसे रागी नही बनता, किन्तु वह रागी परिणमन तो पौद्गलिक है, तो इस दृष्टिमे अब पहलेका कथन गौण हो गया। जब इसके बाद एक अखण्ड निरखनेकी ही दृष्टि आती है कि यह आत्मा अखण्ड एक सहज चैतन्य स्वरूप मात्र है तब उसकी अन्य सारी दृष्टियां गौण हो जाती है। कब किस मूडमे किस नयसे लाभ मिलता है, इस सबका विश्लेषण करना यह सब उसे सुगम नही है। इस प्रकार नयजाल एक कठिन वन है। उस नय जालका भी जिसने विश्लेषण कर दिया और स्पष्ट मार्ग दिखा दिया ऐसे आगमका जिसको ज्ञान है, इतना महान दीपक है वह अपनी सद्‌भावनामे ही तो रहता है और फिर भी कोई कठिन बेदना आ गई, उपसर्ग आ गया, किसी बातके आनेपर यदि स्व-स्वभावके आश्रयसे हट गया, चिग गया धर्मसे तो यहाँ दैव (भाग्य) का अपराध समझना और वहाँ स्वभावकी दृष्टि रखकर अपने स्वभावका भी पोषण करना।

सत्सङ्गतिका महत्त्व—ज्ञान और सत्सगति ये बहुत महान दीपक है जो कल्याणार्थी-जनोको सन्मार्ग दिखाते है। ज्ञान न हो तो किस ओर आचरण करें, सत्सगति न हो तो उस ज्ञानको ताजा और प्रगतिशील कैसे बनाये रखे ? स्वाध्याय द्वारा ज्ञान भी प्राप्त कर लिया, पर प्रकृति है और जीवके कर्मोदय है कि वह ज्ञान एक बासी सा पड जाता है, जैसे बासी भोजनमे किसीको खानेकी उमंग नही रहती। हाँ तीव्र भूख लगी हो तो विवश होकर खाना पड रहा है पर उसमे उमंग तो नही। तो ऐसे ही जब सत्संगति नही प्राप्त होती तो अर्जित किया हुआ ज्ञान भी उसके लिए बासी सा बन जाता और उसमे उमंग सी नही रहती। इसे ठठेरेके कबूतर जैसी उपमा दी है। जैसे किसी तांबा, पीतलके बर्तन बनने वाले कारखानेमे जहां कि तांबे पीतलकी ठुकाईसे निरन्तर शब्द होते रहते है उस हालतमे जरा सी आहटमे उड जाने वाला कबूतर पक्षी है मगर वह इतनी तेज आवाजमे जिसमे रहकर मनुष्य भी घबडा जाय, पर वह कबूतर वहीका वही बैठा रहता है, उडता भी नही। उस कबूतरसे यदि कोई पूछे कि रे कबूतर तू इतनी तेज आवाजमे भी क्यो बैठा रहता, उडकर भाग क्यो नही जाता ? तो शायद उसका यही उत्तर होगा कि ऐसी ठन-ठन तो रोज-रोज चल रही है, हम कहाँ तक उडें, भागें ? तो ऐसे ही सत्संगतिकी प्रेरणा जिसको प्राप्त नही होती और स्वाध्याय द्वारा ज्ञान करते जा रहे है या बनाये हुये है और उनके आत्मामे वीतरागताके लिए उमग नही बन पाती,

स्वभावानुभूतिके लिए उनको उमंग नही हो पाती तो ऐसे द्रव्य ज्ञानीसे पूछा जाय कि भाई तुम्हारे ज्ञान तो बहुत बना हुआ है, पर तुम आगे प्रगति क्यो नही करते ? तो उसका उत्तर यह ही होगा कि ऐसे ज्ञानका तो हम रोज रोज पाठ करते रहते है। सत्संगति एक अमूल्य निधि है, पर लोगोको चूँकि सत्संगति मिलनेमे कुछ खर्च नही करना पडता इसलिए उसका कोई महत्व नही है लोगोके चित्तमे मगर सत्संगति हो जाना तो इतना महत्वशाली धन है कि जिसके बिना शान्ति नही, प्रगति नही और प्रकाश भी नही प्राप्त होता। तो ऐसे ज्ञान और सत्संगका भी जिन्होने अमूल्य वैभव प्राप्त कर लिया है वे पुरुष भी कोई तीव्र कर्मविपाक आनेपर अपनी दृष्टिसे चिग जायें तो लो अब इस जीवका अपराध कैसे कहा जाय इसने कोई मायाचारी नही की, पुरुषार्थमे भी बराबर लग रहा। पर तीव्र उदय है ऐसा कि वह चिग गया, तो ऐसी स्थिति पा लेने पर उस पुरुषका अपराध नही कहा जा सकता। यह अपराध है दैवका।

ज्ञानदीपककी महिमा—यह ज्ञानदीपक अंधकारको नष्ट करनेमे समर्थ है। ज्ञानस्वरूप है यह आत्मा, पर कर्मोंका आवरण ऐसा छाया है कि जिसके उदयमे इस ज्ञानका विकास नही हो पा रहा और साथ ही मिथ्यात्वका उदय हो तो वह ज्ञान उल्टी दिशामे लिये जा रहा है, जिस ज्ञानको यह मानता था कि निजको निज और परको पर, पर मिथ्यात्वके प्रसगसे वह ज्ञान निजको पर अथवा निजकी सुध ही नही है। और परको निज मानने लगा, तो ऐसे ही ज्ञानकी चेष्टायें अज्ञान कहलाने लगती है, तो ऐसे अज्ञान अधकारको दूर करनेमे पूर्णतया समर्थ है यह सहज ज्ञानका प्रकाश, सो यह ज्ञानप्रकाश भी जिसे प्राप्त हो गया यो कह लीजिए कि सम्यक्त्व भी जिसके जग गया और फिर भी सम्यक्त्व छूट जाता है तो उस सम्यक्त्वके छूट जानेमे किसका अपराध माना जाय ? जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो गया तो सम्यग्दर्शनके रहते सहते कोई परिणाम बिगडे तो नही हो सकते फिर क्या वजह है कि उसका सम्यक्त्व छूट जाता है ? जिसका भी छूटता है उसका कारण क्या इस आत्माकी गल्ती कहा जाय ? वह तो ठीक पुरुषार्थमे लगा है। अगर ऐसी स्थिति आती है तो वहाँ मानना पडेगा कि यह सब दैवापराध है। जैसे कोई पुरुष अच्छे उजेलेको करने वाली लालटेनको हाथमे लेकर चले, सावधानीसे चले, निरखकर चले तिस पर भी वह मार्ग भूल जाय या किसी गड्ढेमे गिर जाय तो लोग उसका अपराध नही कहते। वह बेचारा तो अपनी शक्तिके अनुसार पूरा पुरुषार्थ करके चल रहा था, भूल गया रास्ता तो भाग्यका दोष कहा जाता है ऐसे ही जो सभी उपायोसे मुक्तिके मार्गमे लगा है तिसपर भी वह मुक्तिके मार्गसे चलित हो जाता है तो यही कहना होगा कि उस आत्माका क्या दोष है ? दोष

तो उसके आश्रयका है । इस वर्णनसे हमे यह शिक्षा लेना चाहिये कि अपनी सामर्थ्यके अनुसार मोक्षमार्गमें लगे रहना चाहिए । आगेका संशय न रखना और उस पुरुषार्थसे ही अपने को निर्दोष बनाना ताकि अपनेमे दोष न रहे ।

जिनपतिपदभक्तिर्भाविना जैनतत्त्वे विषयसुखविरक्तिर्मित्रता सत्त्ववर्ग ।

श्रुतिशमयमशक्तिर्मूकतान्यस्य दोषे मम भवतु च बोधिर्यावदाप्नोमि मुक्तिं ॥२१॥

मुमुक्षुकी जिनपतिपदभक्तिकी अभ्यर्थना—इस विषयसुख निराकरणके प्रकरणमे अन्तमे यह भावना की गई है कि जब तक मुझे मुक्ति प्राप्त न हो तब तक ये बातें मुझको मिलती रहें । जिनेन्द्रभगवानके चरणोकी भक्ति । प्रभुका, सिद्धका जो भक्तिभावसे स्मरण करता है उसको ऐसी उमग जगती है कि वह अतरगमे कह उठता है कि हे प्रभो ! मुझे तो वही बुला लो । मैं तो इस ही स्वरूपमे रह जाऊ, अन्य घटनावोकी मुझे चाह नहीं है । जिनेन्द्र भगवान, भगवद्भक्ति एक अपना ही विकास है, जहाँ दोष न हो ऐसे हृदयमे ही तो भगवानके गुणोका स्मरण रहता है । सो प्रभुभक्ति मेरे हृदयमे बनी रहे जिससे मैं सन्मार्ग को तो न भूलूं । जब प्रभुकी सुध रहती है तो सन्मार्गकी भी सुध रहती है । ससार सकटों से छूटनेका उपाय केवल एक यह सन्मार्ग है । जहाँ सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनी रहती है और उस सहज आत्मस्वरूपमे ही अपने आत्मत्वकी प्रतीति बनी रहती है । प्रभुभक्तिके प्रसादसे जन्म जन्मके किए हुए पाप भी नष्ट हो जाते है । सो मैं निष्पाप बनूं इस ही मे कल्याण है । सो जब तक मैं मुक्तिको न प्राप्त कर पाऊं तब तक प्रभुचरणोमे भक्ति बनी रहे ।

मुमुक्षुकी जैनतत्त्वभावनाकी अभ्यर्थना—दूसरी कामना है जैनतत्त्वकी भावना । जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वकी भावना भाता रहूं । उस प्रभुकी दिव्यध्वनिकी परम्परा से ही आज ये आर्ष ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे है, जिनमे वस्तुस्वरूपकी स्पष्ट घोषणा है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त है । अपने आपमे स्वरूपतः ध्रौव्य है और चूंकि वह द्रव्य है सो द्रव्यका स्वभाव ही यह है कि प्रति समय परिणमन करता रहे । सो जब यह स्वभाव यह लक्षण प्रत्येक द्रव्यमे मिल रहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपमे अपना परिणमन करत रहता है और सदा बना रहता है तो उसका फिर मोह कहाँ ठहर सकता ? और मोह न ठहरे तो उसको शान्तिका मार्ग मिल जायगा ।

मुमुक्षुकी विषयविरक्तिकी भावना—तीसरी कामना है विषय सुखोसे विरक्त होना । ये विषयोके सुख इस आत्माके बड़े भयंकर शत्रु है । विषयसुखकी भावना ही शत्रु है । जगत का कोई दूसरा जीव शत्रु नही है, यह जीव तो अज्ञानी है । अपनी अज्ञानदशासे उल्टा बुद्धि

करके आज यह उसके विरोधमे है तो यह ही जीव कल अर्थात् कभी भी उसका अत्यन्त मित्र बन जायगा। तो इसकी शत्रुता मित्रताका तो ठिकाना ही नही है, कोई उसका आधार ही पक्का नही है। इस जीवको अपने मनके खिलाफ कोई बात दिखती है तो यह उसका शत्रु बन जाता है और अपने मनके अनुकूल कोई बात नजर आती है तो मित्र बन जाता है। ये बाहरके जीव कोई किसीके शत्रु अथवा मित्र नही है उनमे अदल बदल भी चलती है, और वास्तविकता भी नही है, पर यह विषयसुख इस जीवका ही तो परिणमन है, कोई यह बाहरी चीज नही है, नैमित्तिक अवश्य है, सो ये विषयसुख केवल क्षोभको ही उत्पन्न करते है। विषय सुख पानेसे पहले क्षोभ, विषयसुख पानेके समयमे क्षोभ, विषयसुख भोग लेनेके पश्चात् भी क्षोभ। तो ये विषयसुख नियमत जीवको कष्ट ही उत्पन्न करते है। ये चाहे कष्ट मानें या न मानें, यदि कष्ट नही मानते तो यह तो और भी बड़ा कष्ट है। मिथ्यात्वका कष्ट बडा भयंकर होता है। तो मेरा वास्तविक शत्रु तो विषयसुख है। इन विषयसुखोसे विरक्त होवे तो ये विषयसुख भी हैरान हो जायेंगे। इनका अड्डा न जम पायगा और ये सदाके लिए विदा हो जायेंगे और इनके विदा होते ही आत्मामे अन्तः बसा हुआ सहज विशुद्ध परम आल्हाद रूप आनन्द इसके प्रकट हो जायगा। सो यह ज्ञानी भावना करता है कि जब तक मैं मुक्तिको न प्राप्त करलू तब तक मेरी विषयसुखसे विरक्ति रहे, अर्थात् उन विषय सुखोसे उपयोग हटा रहे जिससे मेरे सहज स्वाधीन आत्मीय आनन्दकी प्राप्ति हो जाय।

मुमुक्षुकी सर्व जीवोमे मित्रताकी भावना—पञ्चेन्द्रिय और मनके विषयोको असार जानकर उनमे इस मुमुक्षुका चित्त हट गया है तो अब यह आत्माकी ओर अभिमुख हो रहा। इस समीचीन कार्यके साधक कुछ अवस्थावोकी यह भावना भा रहा है। मेरा समस्त प्राणियो मे मित्रताका परिणाम हो। कोई प्राणी मेरे लिए अपराधी न जचे। जो कोई भी प्राणी कुछ विरोधकी भावना रखता है तो वह अपने कर्मोदयके अनुसार अपनेमे नैमित्तिक परिणमन करता है। वस्तुत वह भी आत्मा निरपराध है अर्थात् स्वभावसे कोई अपराध नही, कोई विकार नही, ऐसा निरखने वाले किसी भी प्राणीमे शत्रुताका या विरोधका भाव नही रख सकता। सो सर्व जीवोमे मेरा मित्रताका परिणाम हो। मित्रतामे किसी भी प्रकारसे दुखका काम नही जुटाया जाता। मित्रताका लक्षण ही यह बताया है, दु खानुत्पत्त्यभिलाषी मैत्री। दु ख अनुत्पत्तिकी अभिलाषा रखना अर्थात् इस जीवको दु ख उत्पन्न न हो, ऐसी मनमे, अभिलाषा होनेको मित्रता कहते है। सर्व जीव स्वरूपतः ज्ञानमय हैं, आनन्दमय है, निरपराध हैं, ऐसे ही उनमे विकास बने, ऐसा इच्छा रखता है यह साधक, जो अपने आपमे चाह रहा है। मित्रतामे यह होता ही है कि जो बात अपनेको इष्ट होती है उस ही की भावना दूसरेके लिए

होती है। सर्व जीवोको जब अपने स्वरूपके समान समझा है तो सर्व जीवोमे मित्रता होना स्वाभाविक ही बात है। यह ज्ञानी साधक सर्व जीवोमे मित्रताकी भावना कर रहा है।

मुमुक्षुके श्रुतिशक्तिके लाभकी अभिलाषा—विषय सुखकी रच भी भावना न रहे, ऐसा निर्लेप शुद्ध आत्मा बने, इस कार्यके लिए अनेक योग्य उपाय साधक है, उनमे श्रुतिका पोरुप भी एक साधक है। ज्ञान प्राप्त करना, शास्त्र पढना, उपदेश सुनना, अनुभवी पुरुषोकी वाणी सुनकर उसका मनन करना, और उस उपदेशपर अपनेको चलाना, ऐसी भावना बनती है। सो यह साधक श्रुतिकी दृढ भावना रख रहा कि मेरेमे श्रुतज्ञान और उसके अनुसार प्रयोग मेरेमे दृढ रहे। जीवका हित श्रुतिसे प्राप्त होता है। देशनालब्धिमे श्रुतिकी ही तो विशेषता है। सभी जीवोको सम्यक्त्व प्राप्त करनेमे पञ्चलब्धि अनिवार्य है। पञ्चलब्धि पाये बिना जीव सम्यक्त्व प्राप्त नही कर सकता। उनमेसे क्षयोपशमलब्धि तो प्रायः अयत्नसाध्य है। जो कुछ भी थोडा परिणामका प्रयोग चलना है वह न कुछके बराबर है। इस जीवकी कर्मस्थितियाँ और उनका अनुभाग विचित्र प्रकारकी अपनी स्थितिओमे फैल जाता है। तो अनेक भवोके बाँधे हुए कर्म पूर्वके प्रति समयसे अनेक सागरो पहलेके भी बाँधे हुए कर्म अपनी स्थितिके अशपर उदित होते है। तो उस उदित निषेकमे कैसा अनुभाग आता है, वह विचित्र हो जाता है। यो कभी मद अनुभाग आया और उस कालमे इस जीवके कुछ विशुद्ध परिणाम बढे तो यह कल्याणका मार्ग प्रारम्भ कर लेता है। जैसे कि किसी नदीमे बडा तेज बढाव चल रहा है, कोई मनुष्य उसको पार कर रहा है उस बीच बहाव कम हो जाय, वेग छोटा हो जाय तो उस हल्के वेगमे उस पुरुषका साहस बन जाता है। और पुरुषार्थ बन जाता है कि वह नदीको पार करले। तो ऐसे ही क्षयोपशमलब्धि होने पर इस जीवका पुरुषार्थ चलता है। उससे विशुद्धि बढती है और उस विशुद्धि बढने पर आचार्य गुरुजनोंकी देशनको धारण करनेकी योग्यता आ जाती है। उस देशनालब्धिमें श्रुतिका ही तो लाभ है। तो यह साधक भावना करता है कि मै श्रुतिमें खूब दृढ़ रहूँ।

आत्महिताभिलाषीके प्रशमभावकी भावना—शान्त परिणामका होना एक जीवका विशष महत्त्वशाली कदम है। अज्ञानी जीवोको यह भ्रम बना है कि किसी भी कार्यको हम क्रोध और उद्दण्डताके बलसे सिद्ध कर लेते है। क्रोध, उद्दण्डता होने पर कोई कार्य सिद्ध भी हो जाय तो वह पूर्वकृत पुण्यका तीव्र उदय था, सो वह सिद्ध हो गया, पर क्रोध उद्दण्डतासे कोई सिद्धि नही होती। वह तो पापभाव है। वहाँ तो पापकर्मका बध है तो यह कहा जा सकता है कि जो सिद्धि होनेकी थी उसमे कमी हो गई। प्रशमभाव कोई पुरुष मेरे प्रति विरोध कर रहा है तो भी मेरा उसके प्रति बदलाका भाव न आये और उसको क्षमा

कर सकू और मेरेमे प्रशम भाव बना रहे। सहज शुद्ध आत्माकी अनुभूति प्रशमभाव पूर्वक ही हो पाती है। किसी भी कषायका वेग होनेमे, वर्तनामे इस जीवको स्वानुभूतिकी पात्रता नही रहती। कषाय शान्त हो, ऐसा प्रशमभाव बिराजा हो तो उसका उपयोग सहज शुद्ध आत्माकी अनुभूतिके लिए चलता है, क्योकि अनुभूतिमे ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, यह स्थिति हुआ करती है। तो ऐसी स्थिति पानेके लिए ज्ञान शुद्ध होना चाहिए ना ? और ज्ञानकी शुद्धता कषायके शान्त होनेसे ही होती है। अत यह साधक आत्महितके लिए भावना कर रहा है कि मैं शम परिणाममे खूब दृढ रहू। कितनी ही घटनाये विरुद्ध आयें तो भी तत्त्वज्ञानके बलसे मेरी शान्तिमे, कषायशमनमे बाधा न आये।

आत्मकल्याणार्थीके यम नियमकी दृढताकी भावना—यह साधक आत्माभिमुख रहनेके लिए भावना कर रहा है कि मैने जो यम और नियम धारण किया है उनमे खूब दृढ रहू। यमका मतलब है यावज्जीव पाप कर्मोका त्याग करना। और, नियमका मतलब है कुछ अवधि लेकर विशेष विरति धारण करना। नियम भी यमकी एक श्रेणी है, यह कुछ समयको लेकर है। यम यावज्जीव है, पर त्याग भावना दोनोमे ही चल रही है। जो भी व्रत सयम धारण किया है उस व्रत परिणाममे मै सदा दृढ रहू, स्खलित न होऊँ, ऐसी भावना साधक कर रहा है। व्रत सयम आत्माका हितकारी कदम है, यदि यह किसी नियममे शिथिल बने और सोच ले कि क्या हर्ज है, पीछे ठीक कर लेंगे, प्रायश्चित्त कर लेगे शुद्धि हो जायगी, अभी यह एक स्थिति है इसलिए नियमका भग होने दो। एक बार भग किया, प्रायश्चित्तसे शुद्ध हो गए। दूसरी बार भी शुद्ध हो सकता है। और ऐसा भग कई बार बने तब तो फिर उसमे नियमकी पात्रता नही रह पाती। किसी भी समय वह उन नियम व्रतोको एकदम छोड सकता है। ऐसी शिथिलता निरन्तर बनी रहती है। सो साधक भावना कर रहा है कि मैंने जो पापकर्मका त्याग किया है और अच्छे कार्योके धारणका नियम किया है सो मेरा यह यम और नियम खूब दृढ रहे ताकि मै आत्माभिमुख रहनेमे निर्विघ्नतया सफल हो सकू।

आत्महितार्थीका परदोषवादमे मौनत्वका प्रयोग—साधक जानता है कि किसीके दोषको बोलना यह एक ऐसा अनर्थ कदम है कि जिसमे यह भी रीता हो जाता है और दूसरे लोगोके द्वारा सदैव उपद्रव होनेकी शका बनी रहती है। जिन पुरुषोके दूसरोके दोष कहते रहनेकी प्रकृति बनी रहती है वे पुरुष आचरणमे हीन है और सदैव विपत्तियोका बोझ लदे हुए हैं। जब किसीके दोषका वर्णन करता है कोई तब उसके ज्ञानमे दोषका स्वरूप तो आया ही है और जब ज्ञानमे दोषका स्वरूप समाया है तो वह ज्ञान उस कालमे सदोष बन गया तो सर्वप्रथम तो दूसरेके दोष कहने वालेने अपनेको सदोष बनाया, फिर वह जब दोष कह-

है तो सुनने वालोके चित्तसे उसके प्रति उपेक्षा हो जाती है याने उसमे आस्था नही रहती है कि यह सज्जन पुरुष है। सुनने वाले लोग जानते है कि इसको दोषवादमे बडी उमग बनी रहती है। यह तो उदार नही है, अनुदार है। तीसरी आपत्ति यह है कि जिसके दोष कहे गए है वह पुरुष जब जान जाता है कि यह पुरुष मेरी निन्दा करता फिरता है तो वह उसका कठिन शत्रु हो जाता है और उसका अपमान करनेके लिए, पीटनेके लिए, बध करनेके लिए अपनी इच्छायें बनाता है, साहस करता है और ऐसा ही आरम्भ कर देता है। तो दूसरेके दोष कहनेमे अन्तरंगमे भी हानि है, बहिरगमे भी हानि है। तो जो आत्मा-भिमुख होना चाह रहा है वह भावना कर रहा कि मेरा दूसरोके दोष कहनेमे मौन भाव रहे। कभी दूसरोके दोष मेरे मुखसे न निकले। दूसरोके दोष कहनेमे मै गू गा हो जाऊ, ऐसा साधक आत्महितके लिए भावना कर रहा है। ये सब भावनायें जो कही गई है ये बिषयसुखके निराकरणमे साक्षात् अथवा परम्परया कारण बनती है। जिनका चित्त विशुद्ध है, आत्मावो ओर लगनेकी जिनको सुगमता है ऐसे पुरुष इन्द्रियविषयोको और मनके विषयो को सुगमतया दूर कर डालते है, तो उन विषयसुखोके निराकरणके लिए ये सब भावनाये साधन है और उन विषयसुखोसे उत्कृष्ट शाश्वत आनन्दकी प्राप्तिमे बढनेके लिए उसका कदम बढा रहता है।

मुमुक्षुके बोधिलाभकी भावना—यह साधक भावना कर रहा है कि मुझे बोधिका लाभ हो। बोधि रत्नत्रयभावको कहते है। आत्माके सहज स्वरूपका विश्वास और उस नि-श्चय सम्यक्त्वकी साधक सप्त तत्वोके यथार्थ श्रद्धान, देव, शास्त्र, गुरुका विनय, अनायतनो से उपेक्षा इन भावोकी अभ्यर्थना कर रहा है कि ऐसा भाव मेरा बना रहे, जिसके प्रसादसे कभी निर्विकल्प समाधि पाकर मुक्तिको प्राप्त कर लू। यथार्थ विश्वास सहित जो आत्म-तत्वकाअधिगम है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सही ज्ञान और सम्यग्ज्ञानमे कुछ अन्तर है। सम्यग्दर्शनसे पहले जो ज्ञान है वह भी सही ज्ञान है। कही विपरीत ज्ञानसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नही हुआ करती। ७ तत्वोका ज्ञान, देव, शास्त्र, गुरुके स्वरूपका ज्ञान यह सही हो तो सम्यक्त्व प्राप्त हो, पर सम्यक्त्व प्राप्तिसे पहले उन सही ज्ञानोके समय सही आत्स्वरूपकी अनुभूति और प्रतीति नहीं है इस कारण उन्हें सम्यग्ज्ञान न कहेगे। पर उन सहीज्ञानोके प्रसादसे सम्यक्त्वका लाभ होते ही वह सही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और जैसे सहज आत्मस्वरूपका दर्शन हुआ, जैसा उनका सम्यक् बोध हुआ उस ही प्रकार आ-चरण बने अर्थात् ऐसा ही ज्ञाता द्रष्टा रहे वह है सम्यक्चारित्र। तो यह साधक विषयसुख निराकरण प्रकरणके अन्तमे अपने हितके लिए भावना कर रहा है कि जब तक मै मुक्तिको

प्राप्त न होऊ तब तक मेरेको बोधिका लाभ बना रहे ।

कोपोऽस्ति यस्य मनुजस्य निमित्तमुक्तो नो तस्य कोऽपि कुरुते गुणिनोऽपि भक्तिं ।
आशीविषं भजति को ननु दन्दशूकं नानाग्ररोगशमिना मणिनापि युक्तं ॥२८॥

क्रोधी पर अनुरागकी असंभवता—इस छंदसे क्रोधके निराकरणका प्रकरण चल रहा है । क्रोध ऐसा दुःखदायी विकार है कि जिसमे क्रोध हो ऐसा पुरुष यदि गुणवान भी हो तो भी उसके प्रति, लोगोकी आस्था नही जमती और सर्वत्र उससे शङ्का बनी रहती है, न जाने उसे कब क्रोध आ जाय और उसके प्रति क्यासे क्या बर्ताव करे । जिस मनुष्यके कोध बना रहता है । जो मनुष्य बात बातमे क्रोध करता है, कोई निमित्त भी न हो, कोई खास विशेष कारण भी नही है फिर भी जिसके क्रोध करनेकी आदत बनी रहती है वह अपने आपको भी दुःखी करता है और दूसरे मनुष्योको भी दुःखी करता है । क्रोधी मनुष्य चाहे अनेक गुणोका भण्डार भी क्यो न हो । दूसरे कोई पुरुष उसकी भक्ति सेवा सुश्रुषा नही कर सकते, क्योकि लोगोको उससे अशान्तिकी आशा रहती है । पता नही कब यह क्रुद्ध हो जाय और मेरे साथ यह क्या बर्ताव करने लगे । यह तो सब व्यावहारिक बात है । आप सबके उपयोगी उतरी हुई बात है । जिस पुरुषको क्रोध करनेकी आदत है उस पुरुषके प्रति दूसरा कोई लगाव नही रख सकता । सभी उससे दूर रहना चाहते ताकि मेरे पर कोई विपत्ति न आ जाय । सो क्रोधी पुरुष अनेक गुणोका भण्डार हो तो भी वह सेवनीय नही है ।

गुणभण्डार होनेपर भी क्रोधीके प्रति अनुरागकी असंभवताका दृष्टान्त द्वारा समर्थन—जैसे एक दद शूक जातिका महान विषधर सर्प होता है । उस सर्पके फणमे मणि होती है, जैसे गजमुक्ता बताया जाता है । किसी किसी हाथीके मस्तकमे मोती भी होते है, तो आखिर वे मोती बनते ही तो है । समुद्रमे किसी किसी सीपमे जब कि किसी भले समयमे कोई मेघ की बूंद पड जाय तो उसका ससर्ग पाकर वहाँके स्कधोकी मणिरूप रचना हो जाती है । उसे कहते है मुक्तामणि । तो जब सीपोमे मोती बन जाते है तो गजके मस्तकमे भी मोती हो तो इसमे आश्चर्यकी क्या बात ? और, किसी विशिष्ट सर्पके फणमे भी मोती हो तो यह भी सम्भव है । तो किसी विशाल विषधर सर्पके फणमे मणि होती है जो कि बडी अमूल्य होती है तो भी उस सर्पको कोई नही पकड़ता है । क्योकि वह सर्प हानि पहुचाता है । बड़ा विषैला होता है । थोडा भी छू जानेपर वह छूने वालेको काट लेता है, उसका मरण हो जाता है । तो ऐसा सर्प जिसमे मणि पडी हो फिर भी वह भयकर क्रोधी मृत्युकारी होनेसे सेवनीय नही होता, उसे कोई पकडना भी नही चाहता । तो ऐसे उस महान् विषधरके समान है

विषको रखने वाले पुरुष चाहे कितने ही अपूर्व गुणोके धारी हो फिर भी उनकी सेवा सुश्रुषा करनेमे लोगोको हिचक रहती है ।

सर्व गुण भस्म कर देने वाले क्रोध ज्वालाके शमनमे ही अपना विवेक—यह क्रोध एक विकट ज्वाला है जिसमे सारे गुण भस्म हो जाते है और यह भी जीवन भर दुःखी रहता है । घरोमे देख लो, जो पुरुष या स्त्री क्रोध करनेकी ही आदत बनाये रहते है तो घरमे रहकर भी वे दुःखी, बाहर जाकर भी दुःखी । उनका सारा जीवन क्लेशमय होता है । क्रोध करते समय बुद्धि ठीक काम नही देती, तब ही तो चतुर लोग मुकदमेकी सुनाईके समय प्रतिपक्षीके वकीलके विरुद्ध अटपट बात भी बोलते है ताकि इसमे क्रोध आ जाय, फिर यह सही तरहसे वकालत न कर सके । क्रोधी पुरुष चाहे गृहस्थ हो, श्रावक हो, साधु हो, त्यागी हो, जो भी हं, क्रोधमे होनेके कारण उसके वचन सही नही निकलते और यह देखा भी होगा कि जिसको तीव्र क्रोध आता हो वह जब बोलता है तो उसके वचन साफ नही निकलते । ओठ अटपट फडफडाते है, जिह्वा टेढ़ी मेढी चलती है । वे शब्द स्पष्ट हो ही नही पाते । तो क्रोधका प्रभाव मनपर भी है, वचनपर भी है और कायपर भी है । क्रोधी पुरुषके हाथ पैर कांपने लगते है, वह सही ढंगसे खडा भी नही हो पाता । तो जैसे क्रोधका असर मन, वचन, काय पर भी पडे तो समझिये कि उस क्रोधका दुष्प्रभाव जिसको क्रोध प्राप्त हुआ है उस आत्मापर कितना पड जाता है । तब ही तो बताया है कि क्रोधमे सब गुण भस्म हो जाते हैं । तो क्रोध करनेसे इस लोकमे भी हानि है और तत्काल पापबध होनेसे परलोकमे भी हानि होती है । सो आत्महित चाहने वाले ज्ञानी पुरुष इस क्रोधभावके त्यागके लिए अनेक पौरुष करते है मगर सब पौरुषोमे प्रधान पौरुष है तत्त्वज्ञान । मै ज्ञानमात्र हू, ज्ञाता द्रष्टा रहू यही इसकी वास्तविक वृत्ति है, इसमे विकारका प्रवेश नही है । ये विकार तो, ये क्रोधादिक तो कर्मके अनुभागसे झलक रहे है, ये मेरे स्वरूप नही है, इस प्रकार जो विकारसे विविक्त अपने आत्माके सहज स्वरूपको निरखता है उससे ही यह वास्तविक उपाय बनता है। ऐसा ज्ञान जगता है कि जहाँ फिर क्रोधके ठहरनेकी, आनेकी, पनपने की गुञ्जाइश नही रही । सो यह साधक सर्व पौरुष पूर्वक इस क्रोधपर विजय पानेका मुख्य ध्यान रखता है ।

पुण्य चित्त व्रततपोनियमोपवासैः क्रोधः क्षणेन दहती घनवद्धुताशः ।
मत्वेति तस्य वशमेति न यो महात्मा तस्याभिवृद्धि मुपयाति नरस्य पुण्यं ।।२३।।

क्रोधाग्नि द्वारा व्रतसञ्चित पुण्यका दहन—यहाँ इस प्रकरणमे क्रोध दूर करनेका उपदेश किया गया है । क्रोध ऐसी विकट ज्वाला है कि जिस ज्वालासे किया हुआ पुण्य सब नष्ट हो जाता है । व्रतके धारणसे विशेष पुण्यबध तो होता ही है ।यद्यपि व्रतमे विरक्तिका भाव

है और विरक्तिमें कोई कर्मबंध न होना चाहिए, पर व्रतमें विरक्तिके साथ व्रतोंका भाव है। जैसे अहिंसा महाव्रतमें हिंसाका त्याग किया है तो साथमें यह बात लगी है कि दया रूप प्रवृत्ति करना। किसी की हिंसा न हो ऐसे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति रखना और इसी कारण उसे शुभ आश्रव कहा गया है। मात्र विरक्तिमें व्रतका नाम नहीं आता। रागका अभाव जहाँ है वहाँ तो निर्विकल्प समाधि है। जहाँ व्रत है वहाँ साथमें प्रवृत्ति है और उस शुभ प्रवृत्तिसे, उस शुभ भावसे पुण्यका बंध होता है सो यह क्रोध जब आता है तो यह क्रोध ज्वाला इस पुण्यको भस्म कर देती है। क्रोध कषाय कितना बड़ा कलंक है, कैसी अद्भुत अग्नि है कि जिसमें यह जीव व्याकुल हो जाता है। उस क्रोधको दूर करनेमें ही आत्माका हित है।

क्रोधाग्नि द्वारा तपःसञ्चित पुण्यका दहन—इस जीवने तपश्चरण द्वारा पुण्यबंध किया। तपश्चरण भी कर्मनिर्जराका कारण होता है, क्योंकि इच्छावोंका निरोध होना ही तप है। जहाँ इच्छायें दूर हुई कि वहाँ तो रागांश दूर हुआ और जितने अंशमें राग दूर होता है उतने अंशमें उसकी निर्जरा चलती है, पर तपकी भावना, तपरूप प्रवृत्ति, तपके साथ जो कुछ भी शुभ राग चला उसके कारण पुण्यका बंध हुआ। तो ऐसे पुण्यको भी यह क्रोध समाप्त कर देता है। द्वीपायनमुनि सम्यग्दृष्टि मुनि थे। मिथ्यादृष्टि मुनिको तैजस ऋद्धि नहीं प्राप्त होती। उनके सम्यक्त्व था, सही मुनि थे, उनका इतना विशुद्धभाव था कि जिसके प्रतापसे उनको तैजस ऋद्धि प्राप्त हुई थी। तैजस ऋद्धिके बलसे दो तरहकी बातें होती है। यदि किसी पर कृपा करें वे मुनि तो उसका भला हो जाय, नगरका भला हो जाय, दुर्भिक्ष दूर हो जाय, रोग शान्त हो जाय और कदाचित उस मुनिको क्रोध आ जाय तो उस नगरको भस्म कर दे, ऐसा तैजस शरीर निकलता है। तो जब उनको क्रोध आया द्वारिकापुरीमें युवकोंके उपद्रवके कारण तो बाँये कंधेसे उनका तैजस शरीर प्रकट हुआ और सारी नगरीको भस्म कर दिया और खुद भी भस्म हो गए और वहीं मरण कर नरकमें गए। तो क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि किए कराये भले कामको भस्म कर देता है।

नियम एवं उपवास द्वारा सञ्चित पुण्यका क्रोधाग्नि द्वारा दहन—जीवनमें अनेक प्रकारके नियम किए जाते है। उन नियमोंसे आत्माकी भलाई है। कोई नियम यावज्जीव होता है कोई कुछ कालके लिए होता है। नियम वही पुरुष कर पाता है जिसको कि खोटे कामोंसे विरक्ति हुई है। तो नियमोंके द्वारा नियमरूप प्रवृत्तिके द्वारा इस जीवने पुण्यबंध किया, पर क्रोध आ जाय उसको तो वह सारा पुण्यबंध भस्म हो जाता है। पुण्य पापरूप

हो जाय तो यह पुण्य भी भस्म हुआ ही तो कहलाया। उपवास किये जाते है आत्मशान्तिके लिए। उपवासका अर्थ है उप मायने समीप वास मायने बसना आत्माके समीपमे अपने उपयोगको बसाना उपवास कहलाता है। उपवासमे अपना उपयोग, ध्यान, आत्माकी ओर रहना चाहिये। उस उपवासका पयोजन यह है कि यह मुमुक्षु यह अभिलाषा करता है कि मुझको दूसरेके सम्बन्धका विकल्प भी न करना चाहिए। आहार करनेमे बडा विकल्पजाल चलता है। जो भक्षण किया जा रहा है उसमे चित्त रहता है। अब अच्छा लगा, अब कडवा लगा, उसे राग तो होता ही है, तो इस विकल्प जालसे बचनेके लिए उपवास ग्रहण किया जाता है। साथ ही उपवासमे यह ध्यान रहता है कि आहार करनेसे कुछ न कुछ आलस्य आता है। तत्काल आलस्य आता है। तो उस आलस्यसे भी बचे, विकल्पसे भी बचे और हमारा सारा समय धर्मध्यानमे जाय, ऐसी जिसको आत्माकी धुन हुई है वह उपवास किया करता है और इस प्रयोजनके बिना जो अन्य किसी ध्येयसे उपवास किए जाते है जैसे कि लोग जान जायें कि इन्होने उपवास किया ये बडे तपस्वी हैं.... तो वे उपवास वास्तविक उपवास नही है। उपवासके द्वारा पुण्यबंध हुआ, फिर यदि किसी समय उसे क्रोध आ जाय तो वह क्रोध उस पुण्यको भस्म कर देता है।

क्रोध न होनेसे व्रतादिकी सार्थकता—यहाँ यह शिक्षा लेना कि जो व्रतमे, तपमे, नियममे, उपवासमे अपनी साधना बनाता है उसको यह ख्याल अधिक रखना चाहिए कि किसी भी बात पर सयोगपर क्रोध न आना चाहिए। यदि क्रोधपर विजय किया है तो उसके व्रत सयम आदिक सार्थक है और क्रोधादिक हो तो निरर्थक है। जैसे गृहस्थीमे शुद्ध चौका शुद्ध होकर बनाते है और उसमे छुवाछूतका बहुत अधिक विचार किया करते है। कोई छू न जाय ठीक है छूनेसे बचना अच्छा ही है मगर देखनेमे आता कि किसी बच्चेने यदि छू लिया तो इतना तेज गुस्सा आ जाता है कि दूसरोको आफत सो आ जाती। अब यह बतलावो कि किसी दूसरे ने छू लिया उससे अपवित्रता आयी या इसमे खुदमे क्रोध जगा उससे अपवित्रता आयी। पवित्रता और अपवित्रता तो आत्माकी निरखना चाहिये। तो यह ध्यान रखना आवश्यक है धर्मार्थी पुरुषोको कि किसी भी प्रसगमे क्रोधभाव न जगे। क्रोध न जगना यही तो उसके धर्मात्मापनका चिन्ह है। ज्ञानकी दृढता और निर्विकल्पताका परिचय है। जिसका ज्ञान निर्बल है, वस्तुस्वातन्त्र्यका परिचय नही है, दृढ विकल्प उठ बैठते है परके द्वारा परमे कुछ माना जानेका, उनके कोध शीघ्र जगता है और जिन्होने वस्तुके स्वरूपका सही निर्णय रखा है उन्हे क्रोध नही जग पाता। तो क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि बड़े पुण्यको भी यह कोध सहसा भस्म कर देता है। जैसे कि विकट अग्नि ईंधनको

शीघ्र खतम कर देना है । सो धर्मके अभिलाषी पुरुषोको यह समझ कर क्रोधके वशमे न आना चाहिए । जो महात्मा क्रोधके वशमे नही आता उसका पुण्य वृद्धिको प्राप्त होता है ।

पुण्यकी भी चाह न करके धर्मधारणका कर्तव्य—यह एक साधारणतया उपदेश है । वैसे तो पुण्यकी भी चाह न करना चाहिए । पापके फलमे दुर्गतियोमे जन्म होता है । दुर्दशायें मिलती है तो पुण्यके उदयमे क्या मिलता है ? इष्ट सम्पदा समागम प्राप्त होते है, उसकी प्राप्तिमे इसका उपयोग कैसा बनता है ? किसीका अहकार रूप, किसीका चिन्ता रूप । आखिर बाह्य समागमोसे कष्ट ही प्राप्त होता है । तृष्णा एक ऐसी बुरी लत है कि किसी भी स्थितिमे मनुष्य पहुच जाय वहाँ वह अपनेको हीन ही समझता है । अपनेको चिन्तातुर बना लेता है, मेरेको कुछ नही मिला । और मिलना चाहिए । वह सब भूल जाता है कि अनेक लोग हमसे भी कितनी छोटी स्थितिमे रहकर गुजारा करते हे । बराबर धर्मध्यान भी बनाये रहते है । इनसे तो कई गुना अधिक सम्पदा मेरे पास है । कौन सा कष्ट है ? मगर कितना ही वैभव मिले फिर कल्पनायें करके वह अपनेमे कष्ट हो अनुभव करता है कि अभी मेरेको कुछ नही है । पुण्यके उदयमे यह इल्लत मिल जाती है । तृष्णा कौन करेगा ? जिस के पुण्योदय है और समागम अच्छा मिला है तृष्णा उसके जगेगी अधिक । जो गरीब है, छोटी स्थितिका है उसके तृष्णा कितनी सी जगेगी ? कल (अगले दिन) के लायक कमायी हो जाय कि खाना खा सके या और और भी खर्च चला सके, मगर वैभववान पुरुषकी तृष्णा अथाह हुआ करती है । जो ज्ञानी पुरुष है वह ही वैभवको पाकर तृष्णासे दूर रहता है । ज्ञानबल बिना इस कलकसे बचना बडा कठिन है । तो यो पाप और पुण्य दोनो ही ससाररूप है, पर स्थिति ही ऐसी है कि यदि खोटे भाव बनते है तो पापरस बढता है, पुण्य भस्म होता है । इसलिए खोटे भावमे क्या मिलता है वह बात बतायी जा रही है । तो क्रोध एक खोटा भाव है, उसके होने पर पाये हुए गुण, पाया हुआ पुण्य सब भस्म हो जाता है, इस कारण क्रोध से दूर होनेका ही उपाय करना, उसका उपाय है अपने स्वभावकी दृष्टि रखना । मैं तो क्रोध रहित हू । मेरे स्वरूपमे विकार कहाँ है ? यह तो चैतन्यमात्र है । इसका कार्य तो प्रतिभासमात्र है, ऐसे अविकार स्वरूप मुझ आत्माके क्रोध क्यो जगे अर्थात् न जगे ऐसी भावना करना चाहिये ।

> दोषं न तं नृपतयो रिपवोऽपि रुष्टा कुर्वंति केसरिकरीद्रमहोरगा वा ।
> धर्मं निहत्य भवकाननदाववन्हि य दोषमत्र विदधाति नरस्य रोष ॥२४॥

क्रोधमे दुष्ट नृपनियोसे भी अधिक पुरुषकी विघातकारिता—मनुष्यका क्रोध उस दोषको उत्पन्न करता है जिस दोषके कारण इस भवमे भी कष्ट होता । अगले भवमे भी कष्ट

होता। जीवका जितना अहित क्रोध करता है उतना अहित दुनियाका कुछ भी समागम नही करता। किसी राजाको क्रोध आ जाय बहुत किसी का बिगाड करनेका तो वह क्रुद्ध राजा कितना बिगाड कर सकेगा? अधिकसे अधिक धन छीन लेगा, अपने नगरसे भगा देगा। क्या करेगा क्रोध करके पर यदि इस मनुष्यमे क्रोधविकार उत्पन्न हुआ तो यह तो धर्मधनको ही समाप्त कर देगा। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म कैसे टिक सकता? एक भवमे दुःख दे सकेगा क्रुद्ध राजा भव भवमे दु ख न दे सकेगा, पर यह क्रोध विकार इस धर्मको ध्वस्त कर देता है। जो धर्म ससार वनको जलानेके लिए अग्निके समान समर्थ है अर्थात् ससारके कष्टोमे छुटकारा धर्मभाव ही दिला सकता है, ऐसे धर्मको क्रोध नष्ट कर डालता है जिससे कि भव भवमे इनको कष्ट भोगना पडता है। जीवका मित्र मात्र धर्म है। यह बडी बिपदा है जो किसी जीव पर ऐसा भाव बना है कि यह मेरा हितू है, यह मेरेको सुख देगा। इससे ही तो मेरा महत्त्व है, ऐसा जीवोके प्रति जो भाव बनता है यह भाव विपदा है, कलंक है, आत्माको कल्याणसे वचित रखने वाला है और ऐसा भाव करके यह जीव पायगा क्या? कष्ट ही पायगा। घरोमे होता क्या है? बहुत काल तक आराम पाते है, आराम मानते है और किसी भी समय किसी इष्टका वियोग हो जाता है तो वहाँ कष्ट उठाना पडता है। किसीका भी जीवन ऐसा नही हो पाता कि वह जीवनमे कल्पित सुख भी सदा सुख ही सुख पाता रहे और बीचमे कोई कष्ट न उठाना पडे। सबके जीवनमे कोई न कोई कष्ट आता है। क्यो आता है यह कष्ट? धर्मदृष्टि न होने से।

जीवका सच्चा मित्र धर्म—कभी कभी लोग ऐसा कह देते कि अमुक भाई बडा धर्म पालते है, सुबह नहा कर आते है, पूजा प्रक्षाल करते है, बडी भक्तिसे पूजा पढते है, लेकिन इनका कष्ट तो नही मिटा। दरिद्रता तो नही मिटी, और और प्रकारके उपद्रव तो नही मिटे। तो धर्मसे होता कुछ नही है, ऐसी शङ्का करते है, मगर यह निर्णय नही किया कि उसने धर्म किया कहाँ? धर्म यदि करता तो उसको दु'ख हो ही नही सकता। अब इस बातको विचारे कोई मनुष्य वास्तवमे धर्मभाव करे तो क्या करेगा? वह अपने आपमे ज्ञाता द्रष्टा मात्र अनुभव करेगा। मै चेतन परम पदार्थ हू, जिसका स्वभाव मात्र प्रतिभासका है। इष्ट लगना, अनिष्ट लगना, तरग होना, विकल्प जगना, यह मेरे स्वरूपमे नही है। यह तो कलक है, विकार है। इस रूप मै नही हूँ, मैं अविकार चैतन्यस्वरूप हूँ। ऐसी जो भावना भरेगा उसके प्रतापसे वह अपने आपमे आनन्द पायगा, तृप्त रहेगा। अब एकदम पूर्वपापके उदयसे ऐसे धर्मात्माके दरिद्रता भी आये पर उसको तो रंच भी दु.ख नही है। वह तो आनन्दघन आत्माको निरखकर तृप्त हो रहा है, खाने पीनेको क्या आज इतनी तेज महगाई

है तो लोग सोचते है कि रोज-रोज १०) से कममे तो भोजन हो ही नही पाता। हिसाब भी लगा लो, घी, दूध, फल, सब्जी वगैरहका मगर आज भी कोई चाहे तो १) मे भी पेट भर सकता है। उतना ही तृप्त हो सकता है जैसे कि बडे मिष्ठ रसीले भोजन करने वाला। दरिद्रता आये तो उससे बिगाड क्या? थोडेमे पेट भर लिया, साधारण कपडोमे रह लिया, पर यह धर्मात्मा अपने आत्मस्वरूपकी दृष्टि रखकर निरन्तर तृप्त रहता है। उसको दुःख कहाँ हुआ? कदाचित उसको इष्ट पुत्र मित्र स्त्री जनोका, किसीका वियोग हो जाय तो चूँकि उसकी धर्मदृष्टि है, अविकार आत्मस्वरूपमे आत्माका अनुभव है तो उसको इस स्थितिमे भी रच भी दु.ख नही है। तो जो वास्तविक रीतिसे धर्मपालन कर रहा है उसको दु ख हो ही नही सकता यह तो बात कही है उसकी जिस धर्मात्माके पूर्व संचित पापकर्म का उदय आ रहा है किन्तु प्राय धर्मात्मा जनोके दारिद्रय हो, ये बातें नही हुआ करती। कोई तीव्र ही पापबध हो पहलेका तो ऐसा हो जाता है पर धर्मात्माको इससे भी कोई हानि नही है। तो ऐसा धर्म जो ससारके सकटोसे छुटा सकता है उस धर्मको नष्ट करके अनेक आकुलता विकार दोषोको यह क्रोध उत्पन्न करता है।

क्रोधमे दुष्टरिपु सिंह सर्प आदिसे भी अधिक पुरुषकी विघातकारिता—क्रोध आत्मा का इतना तेज बिगाड करने वाला दुश्मन है जितना बिगाड अन्य कोई नही कर सकता। वस्तुत: बिगाड तो खुद ही किया करता, पर व्यवहारमे जो कहा जा रहा उस दृष्टिसे भी देखें। तो बडासे बडा क्रुद्ध दुश्मन राजा भी इस मनुष्यका वह अहित नही कर पाता जैसा अहित इसका क्रोध कर बैठता है। कोई दुश्मन बहुत अधिक क्रुद्ध हो जाय और उसका दांव भी लगे तो अधिकसे अधिक वह क्या बिगाड कर देगा? एक भवका मरण भी कर दे, इतना तक बिगाड कर सकता है, पर उसकी परभवमे भी कोई गति है क्या कि उसका बिगाड कर दे, किन्तु क्रोध जिससे कि धर्मका ध्वस हुआ है वह तो अनेक भवो तक पीडा दे सकता है। लोग डरते है सिंह, हाथी, साँप आदिकसे, क्योकि इनसे खतरा है, प्राणघात हो सकता है, पर ये सिंहादिक जानवर कितना ही क्रुद्ध हो जायें तो वे क्रोधमे अधिकसे अधिक प्राणघात कर देंगे, शरीरका विदारण कर देंगे, मगर एक भवमे ही वो कर सके, भव भवमे दु.खी कौन करने वाला है? एक आत्माका दुर्भाव। तो समझो कि जिन दुर्भावोके करते हुए भी मस्त रहते है। कौन जानता है कैसा ही अन्याय करे, कैसा ही दूसरो पर अत्याचार करे, कैसा ही वह विषयोका लोलुपी बने, इन अनेक पापोमे रहने वाला पुरुष अपने आपका कितना बिगाड कर रहा है, यह बात इस मोही जीवके चित्तमे नही उतरती। दो काम एक साथ नहीं होते कि मोक्षमार्ग भी मिल जाय और ससारके ये सुख भी मिलते रहे। जिसे मोक्ष चा-

हिए उसे सांसारिक सुखोसे उपेक्षा करनी ही पडेगी । यह त्रिकाल असम्भव है कि वैषयिक सुखोकी वाञ्छा भी रखे और कुछ ऊपरी ढगसे धर्मके क्रियाकाण्ड करके चाहे कि मेरेको मोक्ष मिल जाय तो ये दो काम एक साथ नही हो सकते । अब यह निर्णय कर लें कि हमको ससार मे जन्म मरण करते रहना अच्छा है या इस शरीरसे, कर्मसे, विकारसे, इस ससारसे हटकर अपने आपमे मग्नता पाना अच्छा है । जो बात भली है उसका लक्ष्य तो बना लें । उस पर जितना चलते बने उतना चलें, पर लक्ष्य रहेगा तो उसका कभी न कभी लाभ हो जायगा । गुरूजी सुनाते थे कि एक बार सिमरिया ग्रामके कुछ लोग सांभर ग्राम नमक खरीदने गए । वह गांव कोई २०० मील पडता था । उस समय रेल मोटरके साधन तो थे नहीं सो बैल गाडियोसे गए । खैर वहांसे नमक खरीदकर चल दिये, कोई एक मील ही चल पाये थे कि वे अब यह कहते जा रहे थे कि सांभर दूर सिमरिया नीरे याने जिस ओरसे मुख मोड लिया, जिधरको पीठ कर लिया वह दूर हो गया और जिस ओर मुख कर लिया वह निकट हो गया, जितना चलते जायेंगे उतना निकट ही तो होगा । सो लक्ष्य यही बन जाय तो आत्मकल्याण बिल्कुल निकट है ।

य: कारणेन वितनोति रुषं मनुष्य: कोप प्रयाति शमन तदभावतोऽन्य ।
यस्तत्र कुप्यति विनापि निमित्तमगी तो तस्य कोऽपि शमन विदधातुमीशः ॥२५॥

अकारण ही क्रोध करनेकी प्रकृतिवाले पुरुषके क्रोधके शमनकी अशक्यता — अनेक मनुष्य ऐसे होते है जो बिना कारणके भी चित्तमे क्रोध बसाये रहते है । सूक्ष्म दृष्टिसे ऐसा होता नही है कि कुछ भी कारण न हो और क्रोध बसाये रहे लेकिन स्थूलरूपसे यह बात देखी जाती है कि किसी भी कुटुम्बपर, मित्रपर, अन्य किसी भी प्राणीपर, क्रोधकी बात नही आ रही है, कोई प्रतिकूल करने वाला सामने नही है तब भी वासना बसी रहती है इस कारण क्रोधका स्वभाव रहता है । सो यह देखा जाता है कि ऐसा क्रोधका स्वभाव रखने वाला पुरुष जिस किसी पर भी क्रोध करने लगता है तो उसने कारण बादमे बनाया । किसीने विरोध किया, निन्दाकी, दुर्वचन बोला तब क्रोध कषाय आयी । किसीके चित्तमे तो क्रोध बसा रहता है सो जिस चाहे पर क्रोध उतार दिया । उसको लक्ष्यमे ले करके कह रहे है कि जो पुरुष बिना कारणके ही क्रोध किया करते है उनके क्रोधका शमन करने के लिए कोई समर्थ नही है । हाँ कारण मिलनेपर क्रोध करता हो कोई तो कारण हट गया तो क्रोध भी दूर हो जाय गा किन्तु जिनकी प्रकृति बिना कारण ही क्रोध करनेकी है उनके क्रोधके शमनको करनेके लिए कोई समर्थ नही है । ऐसी आदत बनती है अज्ञानीजनोकी । सो ऐसे क्रोधका दुःख मिटानेके-लिए केवल एक ही उपाय है कि वह तत्त्वज्ञान करे । यथार्थता समझे और अपनी इस

आदतको खतम करे ।

> धैर्यं धुनाति विधुनोति मतिं क्षणेनारागं करोति शिथिलीकुरुते शरीरं ।
> धर्मं हिनस्ति वचनं विदधात्यवाच्यं कोपो ग्रहो रतिपतिर्मदिरामदश्च ॥२६॥

कोप ग्रहकी धैर्यध्वंसकता—जैसे कि कामवासनाका वेग आया तो वह अपने धैर्यको नष्ट कर देता है शान्तिको उत्पन्न करता है । अन्य पुरुषोमे द्वेष करने लगता है जिन्हे अपने विषयोमे बाधक समझता है । शरीरके अंजर पंजर ढीले कर देता है । धर्म वहाँ रहता नही । ऐसे ही इस गृहपिशाच कामके समान यह क्रोध भी इस मनुष्यके धैर्यको खण्डित कर देता है । क्रोध होने पर विवेक नही रहता, दूसरोके विनाशका इसके भाव बन जाता है । और इसको इतनी आतुरता उत्सुकता हो जाती है कि इसका विनाश जल्दी ही किया जाय और क्रोध होने पर अपने योग्य कार्यके लिए भी धैर्य नही रहता । धैर्यका वास्तविक अर्थ क्या है ? यह शब्द बना है धीरसे । धीरस्यभाव धैर्य, धीर पुरुषके परिणामको धैर्य कहते हैं और धीर कहते किसे है ? इसमे दो शब्द है—(१) धी और (२) र । धी तो सज्ञा है और र धातु है, जिस का अर्थ होता है धी रंति ददादि इति धीर, जो परिणाम, जो भाव बुद्धि देवे उसे धीर कहते है । धैर्यभाव ही बुद्धिको विकसित करता है इस कारण यह बुद्धि प्रदायक भाव है धैर्य । जब क्रोध जगता हे तो इस मनुष्यका धैर्य समाप्त हो जाता है ।

कोपग्रहकी मतिभ्रान्तिकारिता—क्रोध बुद्धिको भ्रान्त कर देता है । कभी कभी अदालतमे वकील लोग ऐसा किया करते है कि दूसरे वकीलके खिलाफ कुछ ऐसे शब्दोमे बोलते कि जिससे उस वकीलको क्रोध आ जाय, बस क्रोध आ जाना चाहिए फिर वह अपना पार्ट ठीक अदा न कर सकेगा, क्योकि क्रोधमे बुद्धि भ्रांत हो जाती है । जहाँ बुद्धि विवेक सही नही है वहाँ वह सही वचन नही बोल सकता । किसी पुरुषका अपमान करना हो तो उसका एक ही उपाय है कि धीरेसे कोई ऐसी बात बना दो कि जिसमे उसके क्रोध जग जाय । क्रोध जग जायगा तो वह अटपट तो बोलेगा । बडे नेता लोग, बडे पुरुषोके अपमानका एक यह उपाय है, क्योकि क्रोध जगनेपर फिर वह अपनेको नही सभाल सकता और अटपट वचन बोलेगा । इससे उसका अपमान हो जायगा । दूसरेसे बदला लेनेका एक बहुत सुगम तरीका है कि इस तरहका वचन बोले कि जिससे उसके चित्तमे क्रोध आ जाय और वह अपनी सारी बुद्धिको खतम कर दे । क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि जिससे उसके सभी गुण भस्म हो जाते है । जीवनमे क्रोध न आये यह बहुत बडी साधना है और इस साधनाके लिए अनेक गुणोकी आराधना उपासना बनानी होगी तब ये क्रोधादिक विकार ये दुर्वचन छूट सकते है । जिसमे धैर्य हो, जिसको ज्ञान हो जिसे मात्र अपने हितका प्रयोजन हो, ऐसी सीख जिसके

चित्तमे आयगी वही पुरुष क्रोधपर विजय प्राप्त कर सकता है। तो यह क्रोध बुद्धिको भ्रान्त कर देता है।

क्रोधग्रहकी द्वेषकारिता व अङ्गशैथिल्यकारिता—यह क्रोध राग भावको याने दूसरेके प्रीति भावको समाप्त कर देता है, दूसरे लोग क्रोधीके द्वेषी बन जाते है। क्रोधी तो द्वेषी हो ही जाता है। किसीका कितना भी उपकार किया गया हो, अनेको बार उपकार किया गया हो, किन्तु एक बार उसके साथ क्रोध वाला व्यवहार बन जाय तो वह सब उपकारोको भूल जाता है और इसही बुनियाद पर आज अनेक घरोमे झगडे चलते है। बच्चेका कितना ही उपकार किया, जब छोटा था तब कितनी ही खुशामद की, जब कुछ बडा हुआ तो उसे पढाया लिखाया, यह पिता खुद अपने आप तकलीफ भोगकर गरीबीमे समय बिताता रहा, पर उसके पढाने लिखानेका इन्तजाम करता रहा। जब और बडा हुआ तो विवाह कर दिया बडी उमंगसे सब कुछ उस बच्चेका उपकार किया, धन भी दिया, कुछ दुकान धधा भी कराया, पर एक ही बार यदि उसको प्रतिकूल जच जाय, पिताके किसी बात पर क्रोध आ जाय और उसे कोई कडा वचन कह दे तो वह लडका उन सब उपकारोको भूल जाता है। क्रोध भी एक विष है यह शरीरके अजर पजरको ढीला कर देता है। जिसके क्रोध जगता है वह भली भाँति खडा भी नही हो पाता। उसके पैर कांपने लगते। शरीर शिथिल हो जाता है। क्रोध ऐसी एक ज्वाला है कि यह तो चेहरे पर भी झलकने लगता है क्रोध उसके चेहरेको भी कुरूप बना देता है। कोई पुरुष या महिला कितना ही सुन्दर हो शरीरसे। पर क्रोध करता हो तो उसकी आकृति कितनी भयकर हो जाती है। वहाँ फिर सुन्दरता रच भी नही रहती। बल्कि वह अदर्शनीय हो जाता है। तो यह क्रोधका वेग जिस पर आता है उसके मन, वचन, काय तीनो ही बिगड जाते है।

क्रोध पिशाचकी धर्मध्वसकता—क्रोध कषायका कितना खोटा प्रभाव है, यह इस प्रकरणमे बताया जा रहा है। क्रोधभाव धर्मका नाश कर देता है। जैसे काम, मान आदिक कषायोके वेगमे कोई आत्माकी सुध नही रख पाता ऐसे ही क्रोधके वेगमे तो आत्माकी सुध रखनेकी गुन्जाइश भी नही है। कदाचित लोभ आदिकके कारण कोई विपत्ति आयी हो ऐसी विपत्तिमे वह आत्माकी सुध कर भी सकता है। आत्महितमे जितना सहयोग दु:खका है उतना सुखका नही है। सुख प्राप्त होनेके कालमे आत्माकी सुध करना बहुत कठिन है, कोई दु:ख आये, विपत्ति हो, ऐसे समयमे तो कुछ आसान है कि वह आत्माके स्वरूपकी सुध ले सकता है पर सुखोके समागममे सुध लेना कठिन है और उससे भी कठिन है क्रोध कषायके वेगमे आत्माकी सुध लेना। क्रोध जगता जाय और आत्माकी सुध लेता जाय यह

बात नही हो पाती और जहाँ आत्माकी सुध नही है वहाँ धर्मका नाश है। धर्म कही बाहर नही पडा है जहाँसे उठा लिया जाय, खरीद लिया जाय या केवल एक धर्मके बलपर धन बना लिया जाय। धर्म तो आत्माका स्वभाव है, स्वरूप है और धैर्यके साथ, गुप्त पुरुषार्थके साथ इस आत्मस्वभावकी दृष्टिकी जाती है। जहाँ अपने आपमे यह अनुभव बना कि मैं आत्मा केवल चैतन्यस्वरूप हू। इसका इससे बाहर रच मात्र भी कुछ नही है। यह अपने आपमे पूरा है, आनन्दमय है, ज्ञानस्वरूप है, इसको अब क्या कमी है ? जब अपने आपके स्वरूपका अनुभव परिचय चलता है तो वहाँ धर्मका पालन कहलाता है, इस ही धर्मपालनके लिए मन, वचन, कायकी, प्रवृत्ति सभीकी जाती है। ऐसे धर्मको यह क्रोध भाव नष्ट कर देता है।

कोपग्रहकी अवाच्यवचनविधायकता—यह क्रोध न कहने योग्य बातको भी कहलवा देता है। गाली गलौज देना, मर्म भेदी वचन कहना, यह सब क्रोधके कारण ही तो होता है, ऐसी अनेक घटनायें होती है कि भाई भाई परस्पर जब जुदे होते है तो बडेसे बडे वैभव बँटते जाते है, शान्तिसे सब बंटवारा बनता जाता है। अन्तमे कोई एक छोटी सी बात पर जैसे मान लो एक फुट किसी जगह पर कुछ बात अड जाय और हठ कर जाय कोई और क्रोध युक्त वचन बोले, अपमान करे तो एक उस ही विषयको लेकर इतना बडा विवाद हो जाता, कचहरियाँ हो जाती कि अन्तमे एक भाईके पास तो रह जाता है निर्णय फैसलाका कागज और दोनो भाई धनसे हाथ धो बैठते है। तो यह क्रोध इतना भयकर है कि जिसके कारण भाई भाईमे विवाद हो, कुटुम्ब शान्तिसे न रह सके। ये सारी विडम्बायें बनती है, जहाँ अशान्ति है वहाँ आत्मसाधना नही है। जैसे किसी को किसी बातकी धुन हो जाय, अनेक घटनायें इतिहासमे आयी भी है कि कोई राजपुत्र किसी कन्यामे मुग्ध हो गया, उसके पीछे उसका खाना पीना तक छूट गया, बस एक उस कन्याके ही स्वप्न देखता रहा, सबके देखनेमे वह एक पागल सा बन गया, उसके उसको उसके लिए बडी तेज धुन बन गई। ऐसी तेज धुन वाला अन्य किसी बातकी पर वाह नही करता। तो वह तो उसकी एक खोटे धुनकी बात है, पर धुनमे बात जो होती है वह सबके हुआ करती है। जिसको आत्मतत्त्वकी धुन लग गई उस पुरुषका व्यवहार बाहरमे रूखा रहे, मौन रहे, उपेक्षा रहे। कैसी भी स्थिति हो वह अपनी धुनको नही छोड पाता। ऐसे आत्माकी धुनको क्रोधी पुरुष कैसे रख सकता ? क्रोधीका चित्त तो बहुत जगह फैल जाता है। किसका क्या निग्रह अनुग्रह करू, कल्पनायें बढा लेता है और वह क्रोधी ऐसे वचन बोलनेपर उतारू हो जाता कि जो वचन बोले न जाने चाहियें। सो यह क्रोध महान् उपग्रह है, इस क्रोधसे बचनेका उपाय विवेकीजन करते है

और क्षमाशील, बनकर अपने आत्माको आराधनामें रहा करते है।

रागं दृशोर्वपुषि कपमनेकरूप चित्ते विवेकरहितानि च चिंतितानि।
पुंसाममार्गगमनं समदुःखजातं कोपः करोति सहसा मदिरामदश्च ॥२७॥

क्रोधसे नेत्रोंमे लालिमा तथा शरीरमें कम्पन—यह क्रोध नेत्रोमें लाली ला देता है। कैसा निमित्तनैमित्तिकयोग है कि इस जीवमे क्रोध प्रकृतिके अनुभागका प्रतिबिम्ब आया और यह अज्ञानी जीव इस अजीव क्रोधके प्रतिबिम्बको अपनाने लगा और इस क्रोधबिम्बको अपनानेके कारण यह क्रोधभावसे परिणत हो गया। अब क्रोध आ जाने पर शरीरपर भी प्रभाव आ गया, नेत्र लाल हो गए। तो अब समझिये कि भीतर कितनी उसके वेदना है, क्रोधकी कितनी तडफन और आकुलता है कि जिसका निमित्त पाकर यह सफेद आँख भी लाल हो गई। इससे उस क्रोधकी बेचैनी अनुभव कीजिए। यह क्रोध आँखोंमे लालिमा उत्पन्न कर देता है। शरीरमे अनेक प्रकारकी कंपकपी पैदा कर देता है। जब किसी बापको अपने बच्चेपर तेज क्रोध आता और उसको डाटता है तो उस बच्चेके वचन उस समय साफ नही निकल पाते। अनेक बार तो अनुभवमे भी नही आता कि यह बोल रहा है, क्योंकि वे ओठ, जीभ, आदि सब ऐसे कँप गए कि वहाँ शुद्ध शब्द भी नही निकल पाते। हाथ पैर आदिक सभी कँप जाते है। तो इस कंपकंपीको देखकर यह अंदाज करें कि यह क्रोध कितना अनर्थ करने वाला भाव है और इसने भीतरमे अपनी ज्वालासे कैसा गुणोको भस्म कर दिया होगा।

क्रोधसे चित्तमें विवेक रहित चिन्तन—क्रोध भाव चित्तको विवेक रहित कर देता है, विवेक पूर्ण विचारोसे गिरा देता है। क्रोधमे ऐसे ही विचार बन जाते कि जिनका फल बडा खोटा होता है और खुद ही उससे हानि प्राप्त कर लेता है। कभी कभी घरके लोग क्रोधमे आकर अपनी ही चीज फेंक देते है। डबलेमे घी रखा हो, उसे लिए हो और क्रोधका वातावरण हो तो उस क्रोधमे कहो उस घी के डबलेको फेंक दे और सारा घी बगर जाय। अपने आप अपनी हानि कर लिया। कहो अपने ही कपडे क्रोधमें आकर फाड ले। तो क्रोधमे यह जीव विवेकरहित हो जाता है। और जिससे अपनी हानि हो ऐसा काम लोग क्रोधमे आकर कर डालते है।

क्रोधसे जीवका कुमार्गमें गमन—यह क्रोध जीवको कुमार्गमे गमन कराता है जहाँ अनेक प्रकारके दुःख समूह भरे हुए है। जैसे मदिरा पीने वालेमे मद अनेक बुराइयोंको पैदा करता है। उन बुराइयोमे, इस क्रोधके बेगमे जीवको बडे दुःख सहने पडते है। अब जरा बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे विचारें तो क्रोध वास्तविक अपने आपका अहित करने वाला वह भीतरी

भाव है जो अपने परमात्मस्वरूपका घात करता है। अनन्तानुबधी क्रोध कहते किसे है ? बाहर मे गुस्साका रूप आये, लोगोको दिखे, वेग होवे, इसे अनन्तानुबधी क्रोध नही कहते। भले ही यह क्रोध चारो प्रकारके क्रोधोमे प्रधान और भयकर है मगर जो ऊपरसे दिखे क्रोध वही भयकर, बडा क्रोध है, ऐसा नही कहा जा सकता। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, श्रावकका क्रोध दिखनेमे इतना भयकर लगता है कि कितना महान क्रोध है यह, पर वह अनन्तानुबधी क्रोधसे भयंकर नही है। एक कोई मुनि जिसको सम्यक्त्व नही हुआ किन्तु इस देहमे ही, इस मुनिभेषमे ही आप अनुभव कर रहे कि मैं यह मुनि हू और मुझको ऐसा व्यवहार रखना चाहिए कि जिससे दूसरेको कष्ट न हो। कोई शत्रु इस मुनिपर उपद्रव भी करे, घानीमे भी पेले तो भी वह उसपर द्वेष नही करता, उसका बुरा नही सोचता, इस कारणसे कि मै मुनि हू। यदि मैं इस पर द्वेष करूँगा तो मुझे मोक्ष न मिलेगा। यो केवल देहके नाते से बात कर रहा है, उस मुनिके अनन्तानुबधी क्रोध है। जो मिथ्यात्वका सम्बध बनाये उस क्रोधको अनन्तानुबधी क्रोध कहते है।

अनन्तानुबंधी कषायके अभावमें भी अप्रत्याख्यानावरण कषायके वेगमें अद्भुत प्रवृत्ति की संभवता—अनेक लोगोको शका होती कि श्री रामने सीताजी के वियोगमे ऐसा पागलपन जैसा काम किया कि जगलोमे पशुपक्षियोसे भी पूछते फिरे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी ? तो शका यह करते कि जब ऐसी पागलपनकी बात वहाँ दिखती तो वह सम्यग्दृष्टि कैसे कहलाये ? अथवा एक शका यह करते कि चक्रवर्ती जब अनेक राजा महाराजावोका विध्वस कर देता है तो फिर वह सम्यग्दृष्टि कैसे ? पर इस बातको समझनेके लिए एक दृष्टान्त लो। एक राजा यदि अपनी प्रजाके किसी गरीबको मारना चाहे तो जब चाहे जितने चाँटे जड दे, उसका विशेष विकल्प या श्रम उसे नही करना पडता पर वह गरीब यदि उस राजाको मारना चाहे तो वह सुगमताओसे उसे नही मार सकता उसे महीनो पहलेसे बडे विकल्प करने होगे बडी तैयारी करनी होगी तब कही वह एक चाटा राजाके लगा सकेगा। अब बताओ भयकर क्रोध यहाँ राजाको रहा या उस गरीबको ? उस गरीबको भयकर क्रोध रहा, क्योकि महीनो तक उसने क्रोध किया, बडा विकल्प मचाया। राजाको उसके लिए कोई विशेष क्रोध नही करना पडा। तो क्रोध अधिक रहा उस हीन पुरुषका। देखनेमे तो यो लग रहा कि उस हीन पुरुषने कोई खास क्रोध नही किया, पर राजासे भी कही अधिक क्रोध किया। तो ऐसे ही समझलो कि दिखने वाला क्रोध अनन्तानुबंधी क्रोधसे भी बहुत भयकर होता, ऐसा नियम नही है। श्रीराम या चक्र महापुरुष है इनकी थोडी कषायें भी प्रवृत्ति अधिक बन जाती, अधिक प्रवृत्तिसे कषायकी अधिकता नही आंकी जा सकती। वास्तविक क्रोध यह जीव अपने

आप पर करता है जिसके कारण यह परमात्मस्वरूपकी सुध नही ले सकता। तो सभी प्रकारके क्रोध हम दूर करें और ऐसा अपनेको क्षमाशील बनायें कि अपने आपके स्वरूपकी आराधनामे समय लगा सकें।

मैत्रीयशोव्रततपोनियमानुकंपासौभाग्यभाग्यपठनेद्रियनिर्जयाद्या:।
नश्यंति कोपपुरुवैरिहता: समस्तास्तीव्राग्नितप्तरसवत्क्षणतो नरस्य ॥२८॥

क्रोधवैरी द्वारा मैत्री व यशका विध्वंस—क्रोधरूपी बैरीसे अच्छे गुण भी शीघ्र नष्ट हो जाते है मित्रता परस्परमे मित्रता हो, जीवोके साथ प्रीतिका व्यवहार हो, कुटुम्बमे, संघमे, आपसमे बडे अनुरागसे रहना हो और उनमे यदि कोई तेज क्रोध करे तो वह मित्रता खतम हो जाती है। मैत्री एक गुण है और वह कुछ भूमिकाओं तक करने योग्य है। जैसे घर कुटुम्बके लोग मैत्री व्यवहारके बिना गृहस्थीमे नही रह सकते। घरमे रहने वाले लोग परस्पर लडें, झगडें तो उन्हे न नीद आयगी, न खाना पीना भायगा, उन्हे निरन्तर विकल्प रहेगे, और मैत्री हो तो सुख शान्ति रहेगी, इसी तरहमे सगमे भी लोग धर्मानुराग और मित्रतासे रहे तो शान्ति बर्तती है और यदि क्रोध करने लगे कोई जिससे मित्रता खतम हो जाय तो वहांका रहना दूभर हो जाता है। तो क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि बड़े समय से प्राप्तकी जा रही हुई मैत्री भी क्षण भरमे नष्ट हो जाती है। यश जैसे कोई बडा अनुष्ठान करके, परोपकार करके, त्याग करके, दान देकर किसी भी तरह सत्कार्योंको करके बहुत काल मे यशकी प्राप्ति होती है। किसीका यश तुरन्त ही नही हो जाता। बहुत काल तक साधना होती है। बहुत काल तक उपकार किया जाय तो उसका यश प्रकट होता है। तो जो यश बहुत समयसे अच्छे कर्तव्योके द्वारा प्राप्त किया है वह यश यदि वह पुरुष किसी समय सभा गोष्ठीमे क्रोध कर बैठे और वह क्रोध भी दूसरोमे अपह्य हो जाय तो उसके क्रोध करनेके कारण अब तक का कमाया हुआ यश सब नष्ट हो जाता है। क्रोध एक ऐसी ज्वाला है।

क्रोधबैरी द्वारा व्रतका विध्वंस—क्रोधको वशमे वही पुरुष कर सकता है जो क्रोध रहित ज्ञानमात्र अपना स्वभावकी धुनमे रहता है। उसका ऐसा सस्कार बनता है कि घटनायें घटने पर भी उसके क्रोध उपस्थित नही होता। कल्याणार्थी पुरुष आत्मकल्याणके लिए व्रतोका पालन करते है। व्रतोके पालनसे ऐसा सदाचार बनता है कि जिसकी सुगंधमे अनेक धर्मार्थी भी प्रसन्न रहा करते है। हिंसा पापका त्याग कर दिया। किसीका दिल दुःखें ऐसी कोई काम नही किया जाता। प्राणघातकी बात तो अत्यन्त ही दूर है। सदा सत्य वचन बोलते है। कभी झूठ कपटका मायाचारका दुःख देनेके आशयका कोई वचन नही बोलते। दूसरेकी चीजको चुरानेका कभी भाव नही होता। ऐसी वृत्तिमे रहने वाला पुरुष कदाचित

कोई किसी पर क्रोध कर जाय तो उसका यश भी गया, मित्रता भी गई, लोगोका आकर्षण भी गया, पर स्वयंमे पापका बंध कर लिया, व्रतका विनाश भी कर लिया। शील व्रत पालन कर अनेक भव्य जीव अपने आपको बहुत शान्तिके वातावरणमे रखते है। खूब शीलपालन किया, स्वप्नमे भी काम वासना नही बनती, ऐसा शीलका दृढ अभ्यासी पुरुष सदा क्रोध करनेका स्वभाव रखे और अपनी गोष्ठीमे क्रोध करता रहे तो शीलके गुणका तो कोई ध्यान न देगा, पर यह बडा क्रोधी है, यह किस कामका है, इस प्रकार उसका क्रोध प्रकट होगा और शीलको नष्ट कर देगा। परिग्रह त्याग किया, सब कुछ त्याग दिया, केवल एक शरीर मात्र परिग्रह रहा, ऐसी बडी साधना करते हुए भी जिसके क्रोध करनेका स्वभाव है, क्रोध करता रहता है तो उस क्रोधकी स्थितिमे क्या वह निर्ग्रन्थताका लाभ ले रहा है? परिग्रह २४ प्रकारके कहे गए है—बाह्य परिग्रह त्यागा तो क्या त्यागा, अन्तर परिग्रह तो त्यागे ही नही। वहाँ भी यह क्रोध कषाय है। ऐसी क्रोध कषाय कर बैठे तो उसका निर्ग्रन्थपना भी खतम क्योकि अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग दोनो ग्रन्थोका (परिग्रहोका) त्याग होना चाहिये और फिर लोगोमें अपवाद, जैनधर्म हँसी यशका विगडना आदिक अनेक उपद्रव होते हैं।

क्रोधवैरी द्वारा तप अनुकम्पा और नियमका विध्वस—क्रोध एक ऐसी विकट ज्वाला है कि पाये हुए गुणोपर पानी फेर देता है, उन्हे जला देता है। बहुत काल तक तपश्चरण भी किया, बडे बडे कठिन तपश्चरण भी किया, जिस तपश्चरणके प्रभावसे बड़ी बड़ी ऋद्धियाँ भी पैदा हो जायें, जो किसीसे करते न बनें, ऐसे कठिन कठिन तपश्चरण हुए, पर ऐसा तपस्वी पुरुष कभी क्रोध करे तो उसका तपश्चरण खतम हो जाता है। द्वीपायन मुनिका चिर सचित तपश्चरण क्षण भरमे क्रोधमे नष्ट हो गया था ऐसे ही कितने ही क्रोधी पुरुषोने अपनी दुस्साध्य कठिन तपस्यावोका भी विनाश किया। क्रोध भयंकर ज्वाला है। अनेक प्रकारके नियम भी भव्य जीव पालन किया करते है। असिधारा व्रत, शीलका पालन, एकान्तनिवास, उपसर्गोका सहना, कभी कभी एक बार भोजन अनशन ऊनोदर आदिक १२ प्रकारके तप कहे गए है। उनमे अनेक तरहके नियम शीतकालमे रात्रि भर एक ही खड्गासनसे नदीके तीर खड़े ग्रीष्मकालमे पर्वतपर तपश्चरण किया, वर्षाऋतुमे वृक्षके नीचे बरषते पानीमे बडी मोटी मोटी बूदोको सहा, अनेक तरहके नियम किया, पर ऐसा नियमवान पुरुष भी कभी क्रोध आ जाय तो अन्तरमे ही ऐसी ज्वाला बढी उस क्रोधकी कि बाहरमे यश आदिक बिगडे सो तो ठीक है और उनके बिगडनेका नुकसान भी कुछ नही किन्तु जिन नियमोका पालन किया वे नियम भी सब जल जाते है। कोई पुरुष बडा दयालु है, दुःखी दीन पुरुषो पर अनुकम्पा किया करता है, दयामे होता क्या है? अनुकम्पा। अनु मायने अनुसार, कम्पा मायने कँप जाना।

जो दूसरा जीव दु:खी है उसके दुःखको देखकर यह देखने वालेका हृदय भी कँप गया यह कहलाता है दया। जिसने दया करके अनेको पुरुषोका पालन पोषण किया, अनेकोका उपकार किया, रोजिगार धंधोमे लगाया, व्रत, नियम, शील आदिकमे प्रवर्ताया, लौकिक दया, सर्व प्रकारकी दयायें की, पर ऐसा दयालु पुरुष भी यदि कभी क्रोध करे तो वह दया सब खतम हो जाता है। क्रोधके समय दया कैसे रह सकती ? दया होना और क्रोध होना, ये दो बातें कहाँ से बनेंगी ? जिस पर क्रोध जगा है उस पर दयाका भाव नही रहता, जिस पर दयाका भाव जगा है उसके लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है, वह क्रोध कैसे करेगा ? खूब दया की, अनेकोंका उद्धार किया, पर ऐसे दयालु पुरुषको कभी क्रोधका वेग आ जाय तो उसकी दया भी खतम, और लोकमे उसकी कृतज्ञता भी खतम हो जाती है।

क्रोध वैरी द्वारा सौभाग्यका विध्वंस—पूर्वकृत पुण्यके उदयमे सौभाग्य जगा, सुख साधन मिले, धर्मका वातावरण मिला, धर्मात्मावोकी सेवामे भी समय व्यतीत किया गया, सम्पदाकी रात दिन वृद्धि होती रहती है। आज्ञाकारी स्त्री पुत्रादिक प्राप्त हुए, सर्व तरहका सौभाग्य मिला, ऐसे सौभाग्यमे रहता हुआ पुरुष कभी क्रोध करे तो उस क्रोधके वेगसे वे सारे सौभाग्य नष्ट हो जाते है। क्रोधका परिणाम पापरसको बढाता है, पुण्यरसको मिटाता है। तो जिसके पाप बढ रहे, पुण्य दूर हो रहे तो उसकी स्थिति दुर्भाग्यकी आ ही जायगी। तो जो पुरुष क्रोध करता है वह अपने सौभाग्यको समाप्त कर देता है। क्रोधसे पुरुष बेचैन हो जाता है। भीतर आत्मा खौलने लगता है। जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि शरीर कँपने लगता है और वह चाहता है क्रोधी कि मेरे पैर डगमगायें नही। पक्के दृढ बने रहें, पर उसके पणकी बात नही रहती। क्रोध एक ऐसा भयकर वेग है कि सारे शरीरको हिला देता है, तो पहले आत्मा ही खौला डाला तव तो शरीर हिला डाला। तो अब समझिये कि यह क्रोध कितनी विकट ज्वाला है कि जिस पुरुषके क्रोध आये उस पुरुषके सौभाग्य और भाग्य नही रहता।

क्रोध वैरी द्वारा पठनका व पठितका घात—बहुत काल तक विद्याध्ययन किया किसी ने। अच्छे-अच्छे गुरुजनोसे विद्याध्ययन किया वस्तुके तथ्योको परखनेकी विद्या भी प्राप्तकी ऐसी ऐसी लौकिक और अलौकिक विद्यायें जिसको देखकर लोग आश्चर्यमे निरखते है कि इनको कहाँसे इनका ज्ञान जगा ? कैसे इतनी विद्या बनी, इनकी विद्याकी तो थाह ही नही है, ऐसी ऊची विद्याका कोई अर्जन भी करले, ऐसा उच्च पठन करले, किन्तु उस पुरुष को कभी क्रोधका वेग आ जाय, दूसरोको गाली गलौज दे, दूसरोसे रूठ जाये, दुर्वचन कहे, ऐसा क्रोध उमड गया तो उसका जिन्दगी भरका पढना वह सब नष्ट हो गया। भोजन किस

लिए बनाया जाता ? भोजन बना चुके तो आरामसे उसे खाये । अब भोजन तो बनाये जा रहे है और खानेका काम न करे, सिर्फ बनाता भर जाय तो बतावो वह भोजन किस लिए बनाया गया ? निरर्थक रहा । न खाना न खिलाना, सिर्फ बनाने बनानेका ही शौक बना लिया तो वह भोजन किस कामका ? तो ऐसे ही कोई विद्यार्जन करे । पठन करे तो यह सब किस लिए कि कषायें मद हो जायें और अपने आत्माकी दृष्टि बने । इसके लिए है यह सब पठन । पर पढे तो कोई खूब, किन्तु आ गया उसे विकट क्रोध तो उस क्रोधकी वृत्तिमे वह सारे जीवनका पढना वह सब बेकार हो जाता है, ध्वस्त हो जाना है, याद भी नही रहता। अवधिज्ञानके विषयमे बताया गया है कि ६ प्रकारके अवधिज्ञान होते है—वर्द्धमान, हीयमान आदिक अब उनमे दो प्रकार भी होते है सबमे अनुगामी और अननुगामी । तो अवधिज्ञान इस क्षेत्रमे उत्पन्न हुआ, इस नगरमे उत्पन्न हुआ और वह दूसरे नगरमे पहुचा, कहो अवधिज्ञान न रहे, इतने मे ही न रहे अवधिज्ञान । सुबह था दोपहर अवधिज्ञान नदारद । दूसरे क्षेत्रमे पहुच गया तो न रहा अवधिज्ञान, किसी किसीके रहता भी है । मरने पर अगले जन्म मे साथ गया अवधिज्ञान, किसीके नही गया, खतम हो गया । तो जो ज्ञान खतम हो जाता है दूसरी जगह पहुचने पर, तो होता क्या है ? विशुद्धिमे अन्तर आया व सक्लेश भाव होने लगा । पाया हुआ ज्ञान खतम हो गया । तो ऐसे ही जो पढा, जो ज्ञान अर्जित किया, अर्जन करने वाले पुरुषको क्रोध आने लगा वेगसे तो वह पढा भी भूल जाता है । पढना निरर्थक तो हो ही गया मगर वह विद्या भी विस्मृत हो जाती है ।

क्रोध बैरी द्वारा इन्द्रियविजय आदि गुणोंका ध्वंस—इन्द्रियविजय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन ५ इन्द्रियके विषयोपर विजय प्राप्त करना, खूब अभ्यास किया, अपना ज्ञानबल भी बढ़ाया और उस ज्ञान द्वारा कषायोपर विजय प्राप्तकी मनको वश किया मन पर विजय पायी, ऐसा इन्द्रियविजयका महान इन्द्रियसयम पालन करने वाला पुरुष भी यदि कभी क्रोध कर बैठे तो उसका इन्द्रियविजय व्यर्थ और नष्ट भी हो जाता है । इन्द्रियविजय साधारण बात नही है । बडे बडे पुरुषोसे ही इन्द्रियविजय बनता है । स्पर्शनइन्द्रियका विषय काम वासनाको मूलसे उखाडना, रसास्वादनकी भावना खतम करना, सुगधकी चाह करना, दुर्गन्धसे घृणा करना यह सब लोगोसे होता ही रहता है, इनपर विजय पाना यह बहुत बडे ज्ञान और विवेक द्वारा हो सकता है । चक्षुइन्द्रियसे रूप देखा जाता । दूर खड़े होकर किसीका रूप ही तो देखा जाता । न वहाँ कुछ पकडा गया न खाया गया, न कुछ किया गया । रूप किस काम आ सकता ? केवल दूरसे देखा गया, बस देखने भरका काम किया है मगर मोही पुरुष दूरसे देखकर भीतरमे अपना सब कुछ खो डालते है ऐसे चक्षु

इन्द्रियके विषयपर विजय करना यह बडे ज्ञान और सदाचार द्वारा सम्भव है। इन्द्रियसे शब्द सुनते है कोई बोलने चालनेको न मिले तो घबडा जाते है। जहाँ अच्छे शब्द सुननेको मिलें वहाँ ही जी रुचता रहता है तो ऐसे शब्द विषयको दूर करना, इन विषयोपर विजय करना कठिन काम है। जिसने विजय पा लिया और किसी समय क्रोधका वेग आया तो लो मन तो तुरन्त ही खराब हो गया। जहाँ मन खराब है वहाँ सब खराब है। इन्द्रियविजय आदिक समस्त गुण क्रोध ज्वालाके द्वारा भस्म हो जाते है और उनमे उनके भस्म होनेमे देर नही लगती, शीघ्र ही भस्म हो जाते है। जैसे कोई पारा अग्निके समीप रख दिया जाय, जहाँ बडी प्रचण्ड अग्नि चल रही है उसके निकट, उसके ऊपर किसी बर्तनमे कही भी रख दिया जाय तो अग्निका संताप न सह सकनेसे वह पारा क्षण भरमें ही ध्वस्त हो जाता, खतम हो जाता उड जाता, ऐसे ही क्रोध कषायकी अग्निसे ये सब मैत्री आदिक गुण उस क्रोधके शीघ्र ही ध्वस्त हो जाते है। इससे यह शिक्षा लेना कि वह तत्त्वज्ञान बनायें जिसके बलपर दूसरेकी प्रतिकूल परिणति देखकर भी ज्ञान सही जागृत रहे और क्रोधसे गुण भस्म न हो जायें।

मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्य ध्यान करोतु विदधातुबहिर्निवास।
ब्रह्मव्रत धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्य रोष करोति यदि सर्वतनर्थकं तत् ॥२६॥

क्रोधके कारण मासोपवास, सत्य व ध्यानकी अनर्थकता—यदि कोई मनुष्य महीनो तक भी उपवास कर रहा है, सिर्फ जल लेना या कोई एक आध पदार्थ भक्षण करना, और उपवास करता हुआ भी अपनेमे धैर्य रखना यह बहुत कठिन तप है। किया किसीने महीनों उपवास, पर ऐसा उपवासी पुरुष भी यदि क्रोध कर डाले तो उस क्रोधमे उपवासका गुण खतम हो जाता है। कोई पुरुष सदा ही बोलता है, कभी असत्य नही बोलता, कभी किसीके साथ कपटका व्यवहार नही किया, बिल्कुल सरल पुरुष है। ऐसा सदाचारसे रहने वाला पुरुष समीचीन हितकारी वचन बोलनेकी प्रकृति वाला पुरुष कभी क्रोध कर जाय, क्रोधके वेगसे वह आत्मा भुल जाय तो उसका सत्य बोलना कोई शुभ फल देने वाला नही हो सकता। तीनो संध्यावोमे ध्यान करने वाले भी बहुत है, प्रातः, मध्याह्न, सायं आत्माका ध्यान, भावनाओंका चिन्तन, स्वपर पदार्थका बोध सर्व कुछ ध्यान किया, सामायिक किया, पर ऐसे पुरुषको भी क्रोध आ जाय तो यह सब निरर्थक है। जहाँ क्षमा नही है वहाँ यह सदाचार भी व्यर्थ हो जाता है।

क्रोधके कारण बहिर्निवास, ब्रह्मव्रत व भैक्ष्यरतताकी अनर्थकता—कोई पुरुष घर बार छोडकर जंगलमें रहने लगा। परिग्रह भी छोडकर जंगलमे बसने लगा, वही सत्सग हो गया, अनेक लोग रहने लगे तो अब देखिये—घरका छोड़ना कितना कठिन तप है। लोग

घरमे ही बडे बडे आरामके साधन रखते है। अच्छा कमरा, सजा हुआ पलग, कुर्सी ठीक हो, पासमे ही लैट्रिन हो, पासमे ही स्नानगृह हो, भोजन, वस्त्रादिकके भी उत्तमसे उत्तम साधन हों, बड़े आरामके सब साधन हो तो ऐसे लोगोको घर छोडकर जगलमे रहना कितना कठिन है। कोई पुरुष घर छोडकर जगलमे रह रहा तो उसके घर छोडते ही कुटुम्ब छूटा, धन सम्पदा छूटी, अकेला ही रह रहा वनमे, तो यह एक बडी तपस्या है। ऐसा तपश्चरण करने पर भी यदि वह क्रोध करने लगे तो उसके ये सब तपश्चरण, एकान्त निवास, घर बार छोडना सब व्यर्थ हो जाता है। कोई पुरुष अखण्ड ब्रह्मचर्यको पाल रहा है और सदा भिक्षा वृत्तिसे उदर पूर्ति करता है अर्थात् निर्ग्रन्थ मुनीश्वर बन गया, सब प्रकारके व्रतोका वह ठीक ठीक पालन कर रहा, उदर पूर्ति करना हर एकको आवश्यक है यदि जिन्दा रहना है तो, और जिन्दा रहना मुनिको भी आवश्यक है, क्योकि सयमकी साधना करना है। असमयमे यो ही मर गए तो अधिकसे अधिक देवगतिमें चले गए, वहाँ भी देवियोका राग, अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं। संयम वहाँ प्राप्त हो ही नही सकता है। तो खोटा ही तो जन्म पाया। मुनि पदके आगे वे सब खोटे पद है। तो संयमके लिए उदर पूर्ति करना आवश्यक है और वह मुनि भिक्षावृत्तिसे उदर पूर्ति करता है। निराकुल रहनेके लिए ऐसे बडे बडे दुर्धर तपश्चरण मे लगने वाला पुरुष भी किसी समय प्रचण्ड क्रोधी बन गया तो उसके उस क्रोधके द्वारा ये सब गुण भस्म हो जाते है। तो यहाँ यह बात शिक्षामे लेना कि क्षमा एक ऐसा सुगुण है, अपना हितकारी मित्र है कि जिसके प्रतापसे कोई व्रत भी न पालन करे तो वह भी उत्तम गतिको प्राप्त होता और व्रतका पालन करे, क्षमाशील हो तब तो उसको सर्वोच्च दशा प्राप्त होती है। क्षमा गुण न रहा, क्रोध आ गया तो जप तप आदिक समस्त धार्मिक कार्य ये निरर्थक है। इनका कोई उत्तम फल प्राप्त नही होता। इससे तत्त्व ज्ञान ऐसा जागृत करें कि किसी भी प्रतिकूल घटनामे क्रोध भाव न जग सके।

> आत्मानमन्यमथ हन्ति जहाति धर्मं पापं समाचरति युक्तमपाकरोति।
> पूज्यं न पूजयति वक्ति विनिंद्यवाक्यं किं किं करोति न नरः खलु कोपयुक्तः ॥३०॥

क्रोधीकी हिंसकता—जिसके क्रोधका स्वभाव है, जो क्रोध करने वाला है वह स्वाभाविक क्षमा गुणका नाश करता है। आत्माका स्वभाव क्षमा है, क्रोध नही। जो चीज अपने आप अपनेमे से प्रकट हो दूसरेके निमित्त बिना वह कहलाता है स्वाभाविक। तो क्षमा तो स्वाभाविक है, क्योकि आत्माका स्वरूप ही क्षमा है, किन्तु क्रोध प्रकृतिका उदय आनेपर क्रोध होता है इस कारण क्रोध स्वाभाविक नही है। तो जो क्रोध करता है उसके क्षमा गुण नहीं रहता। जीव यदि अपने सहज चैतन्यस्वरूपका ध्यान करे तो स्वयं ही वहाँसे क्षमा प्रकट होती

है और किन्ही परवस्तुवो पर ध्यान करें, उन्हे इष्ट अनिष्ट मानें तो वहाँ विकार भाव जगता है। जहाँ क्रोधभाव जगा वहाँ क्षमा नही रहता। जहाँ क्षमा नही रहती वहाँ आकुलता है और निरंतर भीतर अंधेरा छाया हुआ रहता है। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है इस कारण क्रोधका बचाव करनेका, क्रोधसे दूर रहनेका पौरुष होना चाहिए। तो यह क्रोध स्वाभाविक क्षमा गुणका नाश करता है और फिर अपने और दूसरेके प्राणोका भी नाश करके हिंसा करता है। क्रोधमे क्या होता है ? स्वयंकी हिसा तुरन्त हो गई, क्योकि वह विकारमे लग गया। जो विकारभावमे लगा है उसने अपने परमात्मस्वरूपका घात किया है। तो क्रोध करनेवालेने प्रथम तो अपनी ही हिंसा की और फिर दूसरेकी हिसा की। तो इसे जो पाप लगा है वह स्वकी हिंसासे पाप लगा है, उसमे जब दूसरेका विघात हो जाता है या दूसरेका प्राण पीडा जाता है तो वह भी बदला लेनेका उद्यम करता है, तब इसे फिर अनेक विडम्बनायें बन जाती है। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है कि क्षमा गुणका नाश करके अपने प्राणोका भी नाश करता है और दूसरेके प्राणो का भी नाश करता है। आत्महत्या करने वाले पुरुष क्रोधवश ही तो आत्महत्या करते है। कोई क्रोध इतना तेज जगा किसी भी बात पर तो फिर यह ही उपाय सूझता है कि मैं अपनी हत्या कर लूं और मेरे हत्या होनेसे इन लोगोपर विपत्ति आयगी, तो यो क्रोधी पुरुष हिंसक होता है।

क्रोधीके धर्मपरित्याग, पापसमाचरण व योग्यकार्यपरिहार—जो पुरुष क्रोध करता है वह धर्मको छोड देता है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म कहाँ है ? धर्म तो आत्माके ज्ञाताद्रष्टा रहनेमे है। जो आत्माका स्वभाव है उसके अनुरूप इसका आचरण बने तो धर्म पालन कह-लाता है। स्वभाव वह होता है जो आत्मामे स्वयं सहज अपने आप प्रकट होता हैं। सदैव रहता है स्वभाव और उसकी वृत्ति स्वाभाविक होती है। तो केवल जानना देखना यह है स्वाभाविक वृत्ति। तो जहाँ क्रोध उत्पन्न होता वहाँ स्वभावका कौन ध्यान रखता है ? क्रोध मे दूसरेका विनाश करनेकी ही वासना जग जाती है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म नही रहता। तो क्रोधी पुरुष धर्मको छोडकर पाप करने लग जाता है। और सर्व योग्य कार्योंको छोड बैठता है मायने पुण्यकर्म तो खतम कर देता है और पापकार्योंमे लग जाता है। कोई पुरुष धर्मकार्य करके भी यदि क्रोध कर रहा है तो वहाँ धर्मकी व्यवहारक्रिया भी ठीक नही चल रही है। जहाँ क्रोध है वहाँ धर्म नही। वहाँ पुण्य कार्य भी नही बनता है, क्योकि क्रोधकी ज्वालामे इसका उपयोग दूसरेसे घृणा करनेका बन गया है। जब दूसरेसे घृणा करनेका भाव है वहाँ सर्व जीवोके समान स्वरूपका ध्यान कहाँ रह सकता है ? उसके कारण कोई पुरुष योग्य कार्योंको छोड बैठता है और पाप कार्य करने लगता है।

क्रोधीके पूज्योंमें अनादरभाव--जिस जीवके क्रोध आता है वह अपनेसे बडोका भी आदर सत्कार नही कर पाता। जब क्रोध आ गया किसी पर, बडे पर या अन्य पर तो अब उसमे आदर बुद्धि न रही। मानो क्रोध किसी दूसरेपर ही आया, आत्मा पर ही आया या कही आया तो ऐसी स्थितिमे जो बड़े पुरुष हैं उनकी उपेक्षा हो जाती है। वे सामने भी खड़े हो तो उनका विनय सत्कार नही बन पाता, क्योकि क्रोधका बेग चढ रहा है और कभी मानो किसी बडे पुरुष पर ही क्रोध आ जाय तब तो उसका आदर सत्कार कर ही कैसे सकता है ? तो क्रोधी पुरुष कभी विनयशील नही हो सकता और वह बडेका सत्कार भी नही कर सकता तो क्रोधभावमे दूसरेके प्रति विनय और आदरकी बुद्धि नही रहती। जब दूसरेके प्रति विनय आदरकी बुद्धि न रही तो उसका जीवन बेलगाम बेतुका अटपट बन जाता है। वह फिर अपने सत्कार्योंमे प्रगति नही कर सकता ? प्रायः लोग अविनयसे ही दुःखी हैं, एक दूसरेका विनयभाव नही चाहते और अपने आपमे मैं ही सब कुछ हू, इस अहकार भावके कारण उसे क्रोध आता है। क्रोध और मान ये दो द्वेष कषाय माने गए है। माया और लोभ ये राग माने गए है। क्रोध आनेका मुख्य कारण मान है। अथवा अपने विषयोमे विघ्न होना दो कारणोसे प्रायः क्रोध आता है। जिन विषयोको कोई चाहता है उन विषयोमे कोई विघ्न डाल दे तो क्रोध जगेगा या जहाँ अपना मान चाह रहे है और उसमे विघ्न आ जाय तो क्रोध जगेगा। क्रोधी पुरुष दूसरेका आदर सत्कार नही कर सकता।

क्रोधीके भंडवचनका व्यापार एवं अयोग्यकार्यमे उमंग--जो जीव क्रोधी है वह नाना प्रकारके भड वचन बोलता है। क्रोधमे अच्छे वचन कैसे निकल सकते ? मर्मभेदी अपमान कारक, आत्मप्रशसा (अपनी प्रशसा) करने वाले वचन ही निकलेंगे, और ऐसे भड वचन क्रोधमे निकल जाते कि जिन्हे बोलकर यह क्रोधी खुद क्रोध शान्त होनेपर पछताने लगता है। मेरेको क्या क्रोध चाण्डाल आया जो मेरी बुद्धि खराब हो गई और इस इस प्रकारसे लोगोको सज्जनोको भड वचन बोल दिया। भड वचनोसे झगडा शुरू होता है और झगडेमे भड वचनकी धारा बन जाती है और ये सारी बातें क्रोधवश होती है। यदि क्रोध न रहे चित्तमें तो न भंड वचन बोलेगा और न कलह होगी। जीवनमे एक बहुत बडी साधना है यह। गृहस्थोको भी आवश्यकता है इस साधनाकी कि क्षमा भावका आदर करें। यदि क्षमा गुण नही रहता तो परिवारमे, कुटुम्बमे रहकर वह शान्ति नही पा सकता। क्रोधसे दूसरे लोगोमे शिक्षा न आ सकेगी किन्तु क्षमा गुणसे दूसरोको शिक्षा मिल जायगी। जिन बच्चोको शिक्षा देना चाहते है उनपर कोई क्रोध करके उन्हे शिक्षा देना चाहे तो उनको शिक्षा मिलना तो दूर रही, वे उल्टा परिणमने लगेंगे और स्वय माता पिताके अपमानमे भी प्रवृत्त हो जायेंगे। तो

बडे पुरुषोका आभूषण है क्षमा। क्षमा होनेसे कुटुम्बके सभी लोग क्षमाशील बन जायेंगे। क्रोधी होनेसे ऐसा वातावरण बनेगा कि कुटुम्बके लोग भी क्रोधप्रकृतिके बन जायेंगे। तो क्रोध ऐसा दुर्गुण है जिसके वेगसे भड वचन निकलते है और उन भड वचनोके कारण कलह बढने लगती हैं और भड वचन बोलनेसे यह संसारमे निन्दाका पात्र होता है। मनुष्यका धन वचन है। वचनोसे ही परखा जाता है कि यह भला मनुष्य है या दुष्ट मनुष्य है। परखा जाय या न परखा जाय इसकी बात छोडो पर स्वयकी भलाई चाहिये तो क्रोधको त्यागकर क्षमा गुण को अपनाना चाहिए। तब इस क्रोध पिशाचके वश होकर यह जीव नाना अन्य कुकर्मोंको कर डालता कि जिनको कहना बोलना भी कठिन है, जिनका वचनोसे उल्लेख भी नही किया जा सकता। तो इन सब अवनतियोका कारण क्रोध जानकर इसे दूर करें और क्षमाभावको धारण करें।

दोषेषु सत्सु यदि कोऽपि ददाति शापं सत्यं ब्रवीत्ययमिति प्रविचिंत्य सह्य।
दोषेष्वसत्सु यदि कोऽपि ददाति शाप मिथ्या ब्रवीत्ययमिति प्रविचिंत्य सह्यं ॥३१॥

ज्ञानीके दोष होनेपर दोष बतानेवाले निन्दकपर क्षमाभाव—यदि कोई पुरुष गाली देता है, निन्दा करता है, ऐब लगाता है तो उस समय यह विचारना चाहिए कि मुझमे यह दोष है या नही। जिन बातोंको यह दूसरा पुरुष कह रहा है झूठा, चोर, कपटी या जो जो भी शब्द बोले, जिन जिन शब्दोको गालियोको यह पुरुष दे रहा है वे दुर्गुण मुझमे मौजूद है या नही, पहले यह निरखूं। यह मुझमे वे दोष हे तो वह बेचारा तो सत्य बोल रहा है। उस समय क्रोध करनेका क्या काम? मैं ही दोष निकालूं तो मेरा भला होगा। दूसरा यह पुरुष यदि मेरे दोषोको जताता है तो यह तो उपकारी हुआ। ऐसा पुरुष तो मिलना दुर्लभ है जो मेरे दोषोको मुझसे बोले। चाहे किन्ही वचनोसे बोले—प्राय: करके अनुरागी पुरुष दोषोको ढक देता है और व्यर्थकी प्रशसा करता है जिससे कोई लाभ नही है। आज यदि इस मनुष्यने मेरे दोष कह दिया तो यह तो मेरा बडा उपकारी है, सत्य बोलने वाला है तो इसका क्या बुरा मानना, वह बात सहन कर लेना चाहिए।

दोष न होनेपर भी दोष व निन्दित वचन कहने वालेपर ज्ञानीके दयाभावकी वृत्ति—अब यदि अपनेमे वह दोष नही है, ऐसा निरखमे आ जाय, यह व्यर्थ झूठ बोल रहा है मुझमे तो इस प्रकारका ऐब नही, मैंने कभी असत्य नही बोला, यह असत्यका नाम लगा रहा है, मैंने कभी किसीका दिल नही दुखाया, किसीके साथ कलहका व्यवहार नही किया। यह व्यर्थ ही मुझे कपटी आदिक कहकर मेरी निन्दा कर रहा है। मैंने कभी बुरी दृष्टि नही की। कभी किसीका बुरा नही बिचारा, यह व्यर्थ ही दोष लगा रहा, मुझमे दोष नही है, ऐसा

निरखकर यह ध्यानमे लायें कि यह तो मिथ्या बोल रहा है। इसके बोलका बुरा क्या मानना ? दूसरी बात यह है कि जिसने आत्मस्वरूपका ध्यान किया है वह पुरुष जानता है कि यह भी मेरे ही समान, प्रभुके समान चैतन्यस्वरूप है। इस आत्माका स्वय कोई अपराध नही है, किन्तु कर्म उपाधिके सम्बधमे ऐसा विकार उमड आता है सो वह परभाव है। औदयिक दोष है। यह आत्मा भी स्वय निरपराध है, यह नही बोल रहा, इसका क्या बुरा मानना ? जैसे कोई मदिरा पिये हुए पुरुष हो और वह गाली देने लगे। जब मालूम पड जाय कि इसने शराब पी रखा है तो उसकी गालीका कोई बुरा नही मानता। जानता है कि यह बेहोश है, इसकी मदिरा इससे ऐसा बुला रही है। तो इसी तरहसे जो दोष कहता है। गाली देता है उसके स्वरूपको निरखें कि इसका तो निरपराध स्वरूप है। यह तो कषायके वेगमे आकर ऐसे वचन बोल रहा है। यह जान लेनेपर फिर उसका बुरा नही माना जा सकता। सो यदि मुझमे दोष नही है और कोई दोष ला रहा है तो यह मिथ्या कहाँ रहा ? ऐसा जानकर उसे भी सहन कर लेना चाहिये और आत्मगुणोका घात न होना चाहिये।

कोपेन कोऽपि यदि ताडयतेऽथ हंति, पूर्वं मयास्य कृतमेतदनर्थबुद्धया।
दोषो ममैव पुनरस्य न कोऽपि दोषो, ध्यात्वेति तत्र मनसा सहनीयमस्य ॥३२॥

किसीके द्वारा ताड़े जाने पर भी अपने पूर्वापराधका चिन्तन करने वाले ज्ञानीके क्षमाकी वृत्ति—यह क्रोध निराकरणका प्रकरण चल रहा है। ग्रन्थकर्ता आचार्य अमितगति देव क्रोध जैसे दूर हो उस प्रकारकी भावना बता रहे है। यहाँ यद्यपि कहा जा रहा है कि क्रोधके वश होकर यदि कोई पुरुष मेरेको ताडने लग जाय, मारने पीटने लग जाय तो वहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मैंने पूर्व कालमे किसीका बुरा विचारा था कि इसका अनर्थ हो जाय, इसका बिगाड हो, बरबादी हो ऐसी भावना की थी, जिसके फलमे ऐसा ही कर्म बंधा उसके उदयमे ऐसा ही योग निमित्त जुडा है कि इसके द्वारा पिट रहा हू। तो मैने जो पहले अनर्थ किया था उसी का ही तो दण्ड मिल रहा है। मैंने तो पहले मारा। पहले अपराध किया, यह तो पीछेसे मार रहा है। इसमे दोष मेरा ही है। इसका नही है। तो अब इसका कार्य कारणभाव देखिये जो मैं आज किसीके द्वारा ताडा जा रहा हू या किसी तरह बरबाद किया जा रहा हूं तो यह ध्यानमे रखिये कि मेरे ही अपराधसे ऐसा हो रहा है। पूर्वकालमे मैंने ऐसे ही खोटे भाव किया था और उन खोटे भावोमे ऐसा ही कर्म बधा था जिसके उदयमे आज मेरी ताड़ना हो रही है। यदि मैं ऐसा न करता पहले भवोमे तो फिर यह मुझे क्यो ताडता, क्यो मारता ?

कर्मबन्धसे दूर रखने वाले भावोकी हितकारिता—देखिये कर्मबध करना आसान

है, पर कर्मका उदय जब आता है तो उसे टालना आसान नही है। जो जैसा करता है उसे वैसा भोगना पडता है। भले ही कभी विशिष्ट ज्ञान हो और ज्ञानस्वभावमे ही उपयोग रम जाय ऐसी समाधि बने तो उस परिणामसे उन पाप कर्मोंका संक्रमण निर्जरण हो जाता है तो तिस पर भी जो परमाणु बंध गए वे दूसरी प्रकार बन कर उदयमे आये, पर उदयमे आते ही है इसीलिए बताया है कि कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते। हाँ अन्तर यह हो जाता है कि उनका सक्रमण भी हो सकता। स्थिति कम हो जाय, अनुभाग कम हो जाय, पुण्यरूप में विकल जाय, पर जो परमाणु बांध लिया, वे भोगेसे ही जाते है और फिर इतना तेज समाधि कि ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, इतनी स्थिति बनना आसान है क्या ? तो यह ध्यान मे लें कि मुझसे कोई खोटा भाव न बने जिससे खोटा कर्म बधे और उसका फल भोगना पडे। तो यह पुरुष क्षमाशील है सो चिन्तन करता है कि यदि मैंने अपराध न किया होता तो न ऐसे कर्म बँधते, न उदय होता और न आज यह दुःखका सामना करना पडता। ऐसा सोच करके यह दूसरोपर क्रोध नही करता और मन शुद्ध करके उस घटनाको सहन कर लेता है।

व्याधादिदोषपरिपूर्णमनिष्टसगं, पूतीदमंगमपनोय विवर्ध्य धर्मं।
शुद्धं ददाति गतबाधनल्पसौख्यं, लाभोममायमिति घातकृतो विषह्य ॥३३॥

ज्ञानीके घातकर्तापुरुषके प्रतिउपकारकताका चिन्तन—क्रोधवश होकर कोई पुरुष कदाचित पीटते पीटते प्राण लेने तक भी उतारू हो जाय तो जिसको अपने सहज परमात्मतत्त्वकी रक्षाकी धुन है वह उसमे भी क्षमा प्रदान करता है। उस समय ऐसा चिन्तन करता है कि यह मुझे मारने वाला पुरुष मेरा बडा ही उपकारी है। कैसा उपकारी है कि मेरा यह वर्तमान शरीर नाना चिन्तावोमे ग्रस्त है, व्याधि चिन्ता आदिक अनेक दोषोका घर है। जिस शरीरके सहारे मुझे नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़ रहे है। और फिर जिस शरीरके मोहमे पडे है, रागमे पड़े है वह शरीर अत्यन्त दुर्गन्धमय है। ऐसे दुर्गन्धित शरीरका वियोग हो जाना निश्चित है। होता है वियोग तो हो जाय ऐसा चिन्तन करता है ज्ञानी पुरुष। कौनसा ज्ञानी ? जिसने आत्माकी साधना करके अपने आपको स्वच्छ बना लिया है और यह सहज ज्ञानतत्त्व जिसकी धुनमे, ध्यानमे सतत् रहता है वह तो इस प्राणवियोगको भी उपकारी मानता है। तो ऐसे शरीरका नाश करके यह पुरुष तो उसके अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि कर रहा है और इस घटनाके समय जो उसका अधिक ध्यान इस आत्मस्वरूपकी ओर आ रहा है तो यह तो मेरे धर्ममे भी सहायक बन रहा। प्रायः ऐसा होता है कि जब यह जान लिया कि मेरा मरण निश्चित है। किसी तीव्र रोगमे उपसर्गमे या किसी भी कठिन

स्थितिमे जहाँ यह बोध हो जाता कि मेरा मरण निश्चित है तो थोडा भी विवेकी हो तो उसका ध्यान आत्मकल्याणकी ओर हो जाता है। मोह ममतामे नही रमता। हाँ कोई अज्ञानी ही है, विशेष मोही है, तो उसके यह बात नही आ पाती, किन्तु थोडा भी अगर धर्म की साधना रही है तो मरण कालमे उसे धर्मकी ओर आकर्षण होगा। तो यह ज्ञानी उस समय विचार कर रहा है कि यदि यह मेरे प्राण ले रहा है और इस समय मेरी बुद्धि आत्म-स्वभावकी ओर जानेको तैयार हो रही तो यह तो मेरा बडा उपकारी है, ऐसा चिन्तन करके कोई प्राणघात भी करे तो भी उस पर क्रोध नही करता है, क्योकि यदि शान्तिभाव पूर्वक मरण होता है तो यह संस्कार, यह लगार जन्म तक पहुचता है और जैसा सस्कार जन्मके समय रहा वह जीवनमे भी रहता है इस कारण समाधिमरण होना यह जीवका बडा उप-कारी है।

धर्मे स्थितस्य यदि कोऽपि करोति कष्ट, पाप चिनोति गतबुद्धिरय वराकः।
एव विचिन्त्य परिकल्पकृतं त्वमुष्य, ज्ञानान्वितेन भवति क्षमितव्यमत्र ॥३४॥

धर्ममे स्थित ज्ञानीपर उपसर्ग करने वाले अज्ञानीपर ज्ञानीका क्षमाभाव—ज्ञानवान पुरुष अपनेको कष्ट पहुचाने वाले पुरुषके प्रति विचार करता है। उस कष्ट पहुचाने वाले मनुष्य को ऐसा समझता है कि भाई मैं तो धर्ममे स्थित हू। अपने सहज चैतन्यस्वभावके उपयोगमे आ रहा हूँ और यह पुरुष मुझ पर उपसर्ग कर रहा है, किसी कारणसे क्रुद्ध हो रहा है, गाली दे रहा है, तो यह तो पापार्जन कर रहा तो यह कितना उपकारी है कि स्वय पापका अर्जन करके नारकादिक गतियोमे जानेकी तैयारी कर रहा है और मुझे धर्ममे लगाकर मेरा उपकार कर रहा है। तो ऐसा उसे उपकारी समझता है। सो ऐसे अपनेपर ससर्ग करने वाले या बि-घात करने वाले पुरुष पर क्रोध क्या करना ? वह बेचारा स्वय ही अपने क्रोधसे रह रहा, दुर्गतिमे जा रहा, अब इस बेचारे पर क्या क्रोध करना। ज्ञानीके कैसा विलक्षण ज्ञान है कि अपनेको सताने वाले पुरुष पर भी दया कर रहा कि यह बेचारा बडा दुःखी है। कषायके वेग मे आ रहा है। अपने आपको नही सम्हाल पा रहा है और ऐसा मन, वचन, कायकी खोटी वृत्तिपर उतारू बन गया। यह अपना ही बिगाड कर रहा है। तो जो स्वय अपना महान बि-गाड कर रहा ऐसे बेचारे अज्ञानीपर क्या क्रोध करना ? यह तो भविष्यमे अपने आप महान दुःख भोगनेकी तैयारी कर रहा है। अब क्रोधमे मैं आऊँ और इसका अनिष्ट करूँ याने सोचूं यह तो बिल्कुल निरर्थक है अथवा क्रोध करने वालेने मेरेको सावधान ही किया प्रेम-प्रेमकी बात सुनाने वाले लोग मेरे आत्माको उतना सावधान नही कर सकते जितना कि स्पष्ट और दोषकी बात कहने वाले लोग मुझे सावधान बना सकते है और फिर जो यह आज मेरे प्राण

ले रहा है तो पहले मैंने ही तो अनर्थ किया था जिससे ऐसा ही कर्मबंध हुआ, जिसके उदयमें आज मुझपर भी यह घटना आ रही है। तो ऐसा सर्वप्रकार पूर्वापर विचार करके ज्ञानी पुरुष दूसरेपर क्रोध नही करता।

शप्तोऽस्मयनेन न हतोस्मि नरेण रोषान्नो मारितोस्मि मरणेपि न धर्मनाशः।
कोपस्तु धर्ममपहंति चिनोति पाप, संचित्य चारुमतिनेति तितिक्षणीय ॥३५॥

आत्मधर्मानुरूप उपायोसे ही शान्तिकी संभवता—सब जीवोको अपनी अपनी शान्ति इष्ट है। जिस किसी भी प्रकार हो मेरे आत्माको शान्ति साता मिले। किसी प्रयोजन से मनुष्य घर बार बसाते है, व्यापार करते है, मंदिर आते है, मुनि बनते है। जो कुछ भी चेष्टा पुरुष करते है उसका प्रयोजन है कि मेरे आतमाको शान्ति प्राप्त हो। अगर शान्तिका उपाय सच्चा किया जाय तब ही शान्ति हो सकती है। मिथ्या उपायोमे शान्ति नही मिल सकती। वह सच्चा उपाय क्या है इस विज्ञानसे निर्णीत कर लीजिए। मै क्या हू और शान्ति नाम किसका है ? इन दो बातोका सही निर्णय होने पर शान्तिका मार्ग अवश्य मिल जायगा। लोगोको इन दो बातोकी सुध नही है। मैं क्या हू इसकी खबर नही है तो भले ही धर्मके नाम पर बड़े बड़े विधान पूजन भी करने चलें, पर जिसे उसकी खबर नही है वह शान्तिका रास्ता नही पा सकता। मै क्या हू इसका निर्णय करे बडी समतासे। मै हू कोई जानने वाला पदार्थ हू वह अमूर्त हू। यदि मैं इन दिखने वाले पदार्थोंकी तरह रूपरस आदिकका पिण्ड होता तो मै कभी जान न सकता था। जो जानने वाला मै हूँ सो आकाश की तरह अमूर्त पदार्थ हूँ। कभी यह मै आत्मा न आँखोसे दिख सकता, न किसी इन्द्रियसे जाना जा सकता। मैं हूँ, ज्ञानस्वरूप पदार्थ हूँ, जो मैं हूँ स्वयं अकेला वह कष्टरहित है। विकार रहित है। स्वयमे स्वरूपसे उसमे न कष्ट है, न विकार है, फिर ये कष्ट, ये विकार आये कैसे ? ये कष्टविकार आये तो कर्मोदयका निमित्त पाकर मगर इनकी व्यक्ति हुई है इन्द्रियके विषयभूत इन पदार्थोमे दिल लगाकर। देखिये बहुत ध्यानसे मनन करना है। कर्मोदय आया, यदि मैं इन विषयभूत पदार्थोंमे उपयोग न फसाऊं तो विकार व्यक्त न होगा। अन्दर ही प्रतिफलित होकर अव्यक्त रहकर विकार निकल जायेगा। तो अब देखिये कि जो ही बात मेरे दुःखका कारण है उस ही बातमे लोगोकी उमग रहती है। उन्हे शान्ति कैसे प्राप्त हो ? इन्द्रियके विषयभूत, मनके विषयभूत इन दिखने वाले पदार्थोंमे उपयोग लगानेसे कष्ट होता है। किन्तु लोग इसी पर ही कमर कसे हुए है कि विषयोको अधिकसे अधिक भोगें। विषयोके साधनोको अधिकसे अधिक जुटायें। तो विपरीत उपाय करनेसे कभी शान्ति नही प्राप्त हो सकती है।

प्रत्येक परिस्थितियोमे ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्वकी प्रतीतिकी आवश्यकता—

यद्यपि यह आवश्यक हो गया गृहस्थीमे रहनेके कारण गृहस्थोको कि वे मकान भी रखें, आजीविका भी करें, धन भी रखें सब आवश्यक हो गया, मगर उद्देश्य तो यह न रहना चाहिये कि मेरा काम तो केवल धन जोडना और दुनियामे वाहवाही लूटे और अपना नाम सबसे ऊपर करें। यदि यह लक्ष्य रहा तो शान्ति कभी नही मिल सकती। आवश्यक होनेके कारण गृहस्थीमे व्यापार करना, धन भी रखना यह सब करना पडता है, इनके करते हुए भी गृहस्थके योग्य धर्ममे बाधा नही आ सकती। अपना लक्ष्य शुद्ध हो तो सारे काम सही बनेंगे, किन्तु जिसने इस जीवनका उद्देश्य यह बनाया हो कि मुझे इस दुनियामे बहुत बडे नाम वाला बनना है, बहुत बडा धनिक बनना है और लोगोको दिखाना है कि मेरे पास कितने आरामके साधन है, ऐसा लक्ष्य करने वाला पुरुष जीवनमे कभी शान्ति नही पा सकता। अब जाने कि मैं ज्ञानमात्र हू, स्वय आनन्दमय हूँ। मेरे स्वरूपमे विकार नही है। कष्टका यहाँ कोई काम ही नही है। अब रही यह बात कि पहले बाँधे हुए कर्म उदयमे आ रहे है तो अब मैं क्या करूँ ? आ रहे है उदयमे तो आप यह करिये कि जगतमे इन सारे पदार्थोंको असार जानकर भिन्न जानकर इनमे मेरा कुछ नही रखा, ऐसा समझकर इन सब पदार्थोंका मोह छोड दीजिए और अपने ज्ञानस्वरूप आत्माकी भक्तिमे लगिए। सारे कार्य आपके सिद्ध हो जायेंगे। जो शान्ति अपने आपमें है, आत्मदृष्टिकी आवश्यकता है। सच्चा ज्ञानप्रकाश चाहिये फिर इस आत्माका नियमसे उद्धार है।

गाली गलौज एवं ताडना होनेपर भी ज्ञानीका क्षमागर्भित चिन्तन—इस अनन्त आनन्दस्वरूप आत्माकी रक्षाके लिए हमे बाहरमे कोई भी उपद्रव आयें, सबको हँस करके सह लेना चाहिये, क्योकि बाहरकी बाते क्या है ? बाहरी परिणतियाँ है। किसी पुरुषने गाली दी तो उसने मेरा क्या बिगाड दिया ? ध्यानसे तो सोचें, वह पुरुष ऐसे ही कर्मोंसे घिरा हुआ है, उसके इस ही प्रकारकी कषायोका उदय चल रहा है उसका निमित्त पाकर ऐसा बोल निकल पडा है, ये सब बाहरी बातें है। ये सब परपदार्थोंमे हुई घटनायें हैं। उनसे मेरेमे क्या बिगाड ? मैं तो सहज आनन्दस्वरूप ज्ञानमात्र परमात्म पदार्थ हूँ। सो इस निज परमात्मदेवकी रक्षाके लिए बाहरमे कुछ भी बीते उसकी उपेक्षा करना और कोई कष्ट दे उसे भी सहन करना और इसके साथ ही साथ कष्ट देने वाले पर क्षमाभाव रखना यह इतना बडा काम किसलिए करना है कि मेरे सहज परमात्मस्वरूपकी रक्षा रहे। क्योकि मैंने इस परमात्मतत्वका घात किया तो मेरा सब बिगड गया। ऐसा ही विवेक रखने वाले ज्ञानी पुरुष चिन्तन करते है कि यदि इस मनुष्यने क्रोधके आधीन होकर मुझे गाली दी है तो उसने क्या किया ? उसने तो अपने आपका परिणमन किया और वह परिणमन दूर दूर

ही रहा। उसने मुझे मारा तो नही कदाचित कोई पुरुष मुझे पीट दे तो आखिर मेरा कषाय भाव मेरी ऐसी चेष्टा सब कुछ हुई उसका शरीरपर ही संयोग रहा, मेरे प्राणका घात तो नही किया। सयमका साधनभूत यह शरीर यह जीवन अभी इसने लिया तो नही। क्या इस पर क्रोध करना ?

प्राणघात होनेपर भी ज्ञानीका क्षमागर्भितचिन्तन एवं कोपका दुष्परिणाम—कदाचित् वह प्राणघातपर भी उतारू हो जाय तो जो आतमहितका अभिलाषी ज्ञानी पुरुष है वह चिन्तन करता है कि इसने प्राण ही तो लिया, मेरा और कुछ तो नही लिया। मेरेमे जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूपको कोई ले ही नही सकता। ज्ञान और आनन्द मेरा स्वभाव है, इस स्वभावको तो नही हरा। यह तो मुझे प्राणोसे भी प्यारा है। वह तो बराबर सुरक्षित है, जो होता हो बाहर सो होने दो। ऐसे समयमे यदि मैं क्रोध कर गया तो मेरा धर्म नष्ट हो जायगा, मेरे परमात्म स्वरूपका घात हो जायगा, पापका आश्रव होगा। उनके उदयकालमे मेरेपर विपत्तियाँ आयेंगी। बाहरमे किसीकी कुछ भी परिणति हो, मुझे क्रोध नही करना है, यह चिन्तन चलता है ज्ञानीका। यहाँ एक बात और समझना कि गृहस्थोंसे उतनी उत्तम क्षमा नही निभ पाती, मगर यह भावना तो करें, चिन्तन तो हो और इसी कारण चूँकि वह गृहस्थ है सो उसके संकल्पी हिंसाका त्याग कहा है। उसे क्रोध भी आता है मगर गृहस्थ का क्रोध अज्ञानभरा क्रोध नही रहता। केवल अपने बचावके वास्ते ही क्रोध आया है, उस दूसरेको बरबाद करनेके लिए क्रोध नही आया, इतनी ज्ञानी गृहस्थकी सावधानी रहती है, पर उपदेश तो सबके लिए दिया गया है। मुनि जनोंके लिए तो खासकर ही ग्रन्थ बने हुए हैं। तो ज्ञानीका यह चिन्तन बताया है कि दूसरे लोग चाहे कैसी ही परिणति करें मगर वह बाह्य परिणति है। उससे मेरे स्वरूपमें कुछ घात नही है, इस कारण किसी भी दशामे क्रोध भाव न लाना चाहिये।

> दुःखार्जितं खलगत वलभीकृतं च, धान्यं यथा दहति वह्निकणः प्रविष्टः।
> जानाविधव्रतदयानियमोपवासै रोषोऽर्जितं भवभृतां पुरुपुण्यराशिं ॥३६॥

कोपाग्नि द्वारा पुण्यराशिका दहन—क्रोध ऐसी विकट ज्वाला है कि जिस पुरुषमें यह क्रोध चाण्डाल उमड आया तो उसके सारे जीवनकी साधना, व्रत, नियम, उपवास आदिक ये सबके सब क्षणभरमे नष्ट हो जाते हैं। जैसे खेती करने वाले पुरुषने कितना ही परिश्रम किया खेतमें। सब साधन जुटाये, खेत जोता, उसे और ठीक बनाया, बीज बोया, पानी उसमें प्रवाहित किया, उसकी घास भी उखाड़कर निराई की, बराबर पानी सींचा, फसल काटकर खलिहानमे रखा। यहाँ तक कितना समय लग गया, कितना परिश्रम लग गया और वहाँ

कोई अग्निका कण उस अनाजके ढेरपर पड जाय तो सारा का सारा ढेर तत्काल भस्म हो जाता है। देखिये—कई महीनेका तो परिश्रम और कितना उसपर खर्च किया, कैसे कैसे आशय बनाया और किसी क्षण असावधानीसे अग्निका एक भी कण उसपर गिर जाय, मानो कोई किसान बीडी पीता है और वह जलती हुई गिर जाय तो कुछ ही मिनटमे वह साराका सारा उपार्जित किया हुआ अनाज भस्म हो जाता है। ऐसे ही अपने आपके बारेमे भी सोचिये—खूब पढ लिख करके तत्त्वज्ञान किया, दसो वर्ष उसमे लगाया, व्रत, नियम, उपवास आदिक भी किया, बडे-बडे तपश्चरण भी किया जिसके प्रसाद यह आत्मा अपने प्रभुके निकट आ सक रहा है। सारे जीवनभर खूब शुभ परिणाम किया, बडा पुण्य समूह सचित होनेपर किसी क्षण तीव्र क्रोध आ जाय तो सारे जीवनका सचित किया हुआ वह पुण्य क्षण भरमे नष्ट हो जाता है।

क्रोधकी अकल्याणकारिता—अज्ञानवश जरा-जरा सी घटनाओमे क्रोध जगने लगता है। घटना भी क्या? इतने लोगोके सामने मेरेको यह इस तरह बोल रहा है। बस यह सोचा, क्रोध उमड आया, लेकिन जिन लोगोके सामने बोल रहा है वे लोग मायामय है परमार्थ नही है। मेरी ही तरह जन्ममरण कर दु.ख सहने वाले लोग हैं। जैसे मैं मरण कर जाऊगा वैसे ही ये सब भी मरण कर जायेंगे। इसने यदि एक माया प्रसगमे कुछ सुन रखा उसके खिलाफ इसने मेरे आत्माका क्या बिगाड किया? यह ध्यानमे नही रहता और गाली देने वाले के प्रति या सही कहने वालेके प्रति जो दोष बोल रहा है क्रोध उमड आता मगर वह क्षण भरका क्रोध कई वर्षोंकी साधनाको नष्ट कर देता है, इस कारण क्रोधसे बहुत दूर रहना चाहिये। फिर क्रोधसे मिलता भी कुछ नही है। क्षमा करनेमे तो बहुतसे लाभ है मगर क्रोध करनेमे कोई लाभ नही। चाहे उसका प्रयोग घरमे कर लें, समाजमे कर लें। किसी जगह देखलो क्रोधसे लाभ नही है। कोई पुरुष अयोग्य कार्य कर रहा हो तो उसको क्षमाशील होकर भी समझाया जा सकता है। और ऐसा समझानेमे उस पर असर भी पड सकता है, पर क्रोध करके कोई समझाये तो उस समझानेका भी कोई प्रभाव नही होता। जीवनमे यह गुण जिसके आ जाता है उसका जीवन धन्य हो जाता है।

कोपेन य· परममीप्सति हंतुमज्ञो, नाशं स एव लभते शरभो ध्वनत।
मेघ लिलघिषुरिवान्यजनो न किंचिच्छक्नोति कर्तुमिति कोपवता न भाव्य ॥३७॥

दूसरेके घातके अभिलाषीका स्वयं निश्चित विघात—जो अज्ञानी पुरुष क्रोधके वश होकर दूसरे जीवोको मारना चाहता है उसका विघात तो हो ही गया। अब उस दूसरेका घात हो अथवा न हो, जैसे अष्टापद एक भयकर पशु होता है, वह क्रूर होता है। क्रोधी

होता है, कभी वह मेघकी तीव्र गर्जना सुनले और उसे मेघपर क्रोध आ जाय और वह ऐसा प्रयत्न करे कि मैं उछल कर इस मेघको पटक दूं और वह बहुत तेज उछल जाय तो गिर कर उसका ही तो घात होगा । मेघका उससे कुछ बिगाड न होगा । कोई पुरुष हाथमे अग्नि लेकर दूसरेको मारना चाहे, फेंके तो पहले खुदका हाथ तो जल ही जायगा, अब दूसरे का उदय है कि उसके वह अग्नि लगे अथवा न लगे । उससे वह जले अथवा न जले । तो ऐसे ही क्रोध करने वाला पुरुष क्रोधअग्नि द्वारा अपने गुणोको भस्म कर डालता है और उसमें सहज ज्ञानस्वरूपका घात हो जाता है । विकार जगने लगता है । अब जिसपर क्रोध किया उसका बिगाड हो अथवा न हो । धवल सेठनें श्रीपालकी पत्नीपर आसक्त होकर श्री पालको समुद्रमे गिरा दिया । अब सेठ जान चुका था कि यह अवश्य मरेगा और मैं निर्बाध होकर अपनी अभिलाषा पूरी करूंगा । उसके जाननेमे कोई मारनेकी कसर न रही । तो धवल सेठने खोटा भाव किया और उसको सिद्धि भी न मिली पर यहाँ श्रीपाल कोई लकड़ीके सहारे समुद्र पार हो गया, समुद्रके एक किनारे लग गया । कोई किसीको कितना ही मारना चाहे, उसका उदय है मरनेका तो मरेगा नही तो न मरेगा । श्रीकृष्ण नारायणके पुत्र प्रद्युम्नको जो कि काल संवरके यहाँ पला पुषा था, काल सवरकी स्त्रीने हो जिसको कालसंवरने बेटेकी तरह प्रद्युम्नको सौपा था । जब वह बेटा जवान हुआ । पेटका जाया न था, लाया हुआ था । तो उस रानीकी भावना बिगड गई और सोचा कि इसके साथ विषय भोगूँ पर यहाँ बात कहाँ बनती थी ? उसने बहुत उपद्रव कियां । यहाँ तक क्रोध आया कि उसके मारनेके उपाय बनाया । अन्य लडकोने अनेक प्रयत्न किया मारनेके पर जहाँ जहाँ मारने का यत्न किया वहीसे उसे सिद्धियाँ मिली । कोई किसी दूसरेका बिगाड करनेमे समर्थ है क्या ? क्यों भाव बिगाडा जाय ? सर्व जीव सुखी हो, यह ही भावना चित्तमे आनी चाहिए । भैया, अपनी सम्हाल कीजिये, दूसरेका क्या बिचारना ? जो अज्ञानी पुरुष क्रोधके वश होकर दूसरेको मारना चाह रहा है उल्टा उसका ही घात होता है । तो अपने आपके परमात्मदेवकी रक्षाके लिए अपनेको सर्व कुछ सहना मंजूर होना चाहिए और गुणोंमे क्षमा बढनी चाहिए । आत्माके स्वरूपका ज्ञान कर उसकी भक्तिमे बढना चाहिए । यही एक उपाय है उपने आपके उद्धारका, शान्ति पानेका । जिस घरमे आप बस रहे है न यह आपका घर सदा रहेगा, न कुटुम्ब सदा रहेगा, न यह देह रहेगा, न यह नगर आपके लिए रहेगा । मरण करनेपर इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे न जाने कहाँ-कहाँ जन्मेगे, मरेंगे । आज सुयोगसे मनुष्यभव पाया है तो किसलिए पाया है ? क्या इन्द्रिय विषयोको भोगते रहनेके लिए ही पायो है ? भोगोसे आखिर आत्महित क्या हो जायगा ? खूब दिलसे सोचिये ।

घरकुटुम्बका अर्थ गुजारा कमेटी—घर और कुटुम्बके बारेमे निर्णयपर पहुचें कि घर मायने है गुजारा कमेटी है। घर मायने है गुजारा, कुटुम्ब मायने है कमेटी। घर कुटुम्ब याने गुजारा कमेटी। गृहस्थी एक संस्था है जिसमे ५-७-१० सदस्य है और उस संस्थाका उद्देश्य है कि सबके प्राणोकी रक्षा रहे और जीवनमे आत्मज्ञान पाकर, आत्मभक्ति करके आत्म-कल्याण पायें। अब इस गुजारा कमेटीका उद्देश्य यह है। जैसे कमेटीमे कोई अध्यक्ष है, कोई मन्त्री है, कोई कोषाध्यक्ष है, कोई व्यवस्थापक है, ऐसे ही इस गुजारा कमेटीमे विना चुने अपने आप जो घरका मुखिया है वह अध्यक्ष है। जो उसका सलाहकार है—स्त्री हो, बडा लडका हो, वह उसका मन्त्री है। जिसके पास पैसा रखनेकी व्यवस्थाकी है, रोकड रखे, खर्च करे वह आपकी गुजारा कमेटीका कोषाध्यक्ष है। जो रसोई बनाये, व्यवस्था करे, सफाई करे, सब चीजोकी व्यवस्था बनाये या आजीविकाके कामोमे मददगार हो वह व्यवस्थापक है। घर क्या है ? एक गुजारा कमेटी है। इस कमेटीमे रहकर तो गुजारा भर करना है, और उद्देश्य एक यही रहे कि मैं अपने स्वरूपका ज्ञान करूं और उसमे ही मग्न होऊँ। रत होऊँ और इस निर्विकल्प समाधिके बलसे मैं मोक्षमार्गमें बढ़ूं। अभी इतना ही सब कुछ करनेका नही सोचना है। इसके आगे भी सोचना है। गुजारा कमेटीमे जब तक मुझे गुजारा करनेकी जरूरत है तब तक गुजारा कर रहा हू। जब मैं समझूंगा कि मैं इस योग्य हूँ कि इस गुजारा कमेटीका सहारा लेनेकी जरूरत नही है तो मैं सर्वपरिग्रहोका त्याग करके एकाकी रहकर अपना आत्महित करूंगा, ऐसा भाव है इस ज्ञानी गृहस्थका। तो अपने जीवनको ऐसा ढा-लिये, ऐसा मोडिये कि बाहरकी वासनाकी दुर्गन्ध न रहना चाहिए आत्मामे। करना पड रहा है सब कुछ मगर वासनाकी दुर्गन्ध न रहेगी तो आपका यह करना भी निर्जराका कारण बनता है। सत्य ज्ञानप्रकाश पानेमे कितना लाभ है कि जो काम आप कर रहे है दुकानका घरका, रसोईका सबका यह ही काम आपकी निर्जराका कारण बनें यदि ज्ञानप्रकाश चित्त मे है। आत्मामे है तो, और ज्ञानप्रकाश नही है तो आपके ये धर्मके कार्य भी आपके कर्मबन्ध के कारण बन जायेंगे। आत्मज्ञान कितना आवश्यक है ? यदि आत्मज्ञान सहित धर्मके कार्य बने तब देखिये उसका आनन्द। प्रभुके गुणोमे अनुराग होना, अपने सहज आत्मस्वरूपकी दृष्टि होना, इसका जो आनन्द है वह अलौकिक आनन्द है। सो ज्ञानार्जनके विधानसे उस आनन्दको पानेका प्रयत्न कीजिये, इसीमे मनुष्यजीवनकी सफलता है।

कोपः करोति पितृमातृसुहृज्जनानामप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारं।
देहक्षयं प्रकृतकार्यविनाशनं च मत्वेति कोपवशिनो न भवंति भव्या. ॥३८॥

क्षमा, शान्ति और आनन्द जीवस्वभावकी वृत्ति—जिसे जीव चाहता है वही जीवके

स्वरूपमे है, जीव चाहता है आनन्द और आनन्द ही मेरा स्वरूप है, यह चाहता है कि खूब ज्ञान बढे और ज्ञान ही इसका स्वरूप है, पर यह तो बतलावो कि वही तो स्वरूप है और वही मैं चाहता हू और फिर भी नही हो पाता, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि जिस ढंगसे स्वरूप है उस ढगसे हम स्वरूपको नही जान पा रहे सो चाह रहे है स्वरूप-विकासकी हो बात मगर और और ढगकी चाह रहे । स्वरूप है और ढंगमे और ज्ञान चाहता है बाहरी पदार्थोंका ज्ञान, पर पदार्थका ज्ञान । कौन पदार्थ कैसा है, किस ढंगमे है ऐसा ज्ञान चाह रहे, आनन्द चाह रहे तो इन्द्रिय विषयोका सुख चाह रहे । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन इनके विषयोका सुख मिले, यश हो, कीर्ति हो, नाम हो, लोग मुझे ऐसा कहें, ऐसा तो मनके आनन्दको चाहते । अच्छे शब्द मिलें । प्रेमके शब्द मिलें, राग रागनीके शब्द मिलें, विषयोमे उमग दिलायें ऐसे शब्द मिलें, यो शब्दोको सुनना चाहते है । अच्छा रूप मिले जो प्रिय लगना है । अच्छी गंध हो, अच्छा रस मिले, अच्छा स्पर्श हो, इस प्रकारके सुखको चाहते है । तो जैसे ज्ञान और सुखको चाहते है वह ज्ञान और वह सुख आत्माका स्वरूप नही । आत्माका स्वरूप तो सहज ज्ञानप्रतिभास केवल जानन रहे, उसके साथ कोई विकार न हो, ऐसा शुद्ध ज्ञान, यह ही स्वरूप है आत्माका । इसको चाहे तो क्यों न प्रकट होगा ? निराकुलता, परम आल्हाद, जिसमें किसी प्रकारका विकल्प नही, केवल शुद्धआनन्द यह है अपना स्वरूप मगर चाहते हैं क्षोभसे भरा हुआ विषयोका सुख तो उल्टी चाह कर रहा है इस कारणसे ज्ञान और आनन्द प्रकट नही हो पाता । तो ज्ञानानन्द स्वरूप निज अंतस्तत्त्वकी दृष्टि बने, यह बात बनती है तत्वज्ञानमें और समताभावमे जहां क्षमाभाव बने क्षमा एक ऐसा प्रधान गुण है कि जिसके आधार पर सभी गुण शोभायमान होगे । दशलक्षण धर्ममे दस धर्मोमे सबसे पहले क्षमा कहा है, क्योकि वह सब गुणोका आधार है । क्षमा होगी तो गुणोंका विकास होगा । क्षमा भी आत्माके स्वभावकी वृत्ति है ।

क्रोधमें स्वजनोंकी-भी अप्रियता—जहाँ समता है और अलौकिक आनन्दका अनुभव है, ऐसी क्षमा जब नही होती तो उसके एवजमे क्रोधभाव रहता है तो उस क्रोधके कारण अपने कुटुम्बमें भी प्रेम नही रहता, पिताका भी प्रेम हट जाता है । पिता यदि क्रोध करे तो यद्यपि उस पिताने बच्चेका पालन पोषण किया, बडा किया, पर क्रोध अगर करे पिता पुत्रको तो पिता पुत्र दोनोके चित्तमे, दोनोकी कदर नही रहती । क्रोध ऐसा बैरी है, इसी तरह माता आदि क्रोध करे तो वहाँ भी परस्पर प्रेम नही रहता । क्रोधी सारे गुण भूल जाता, कृतज्ञता सब नष्ट हो जाती एक क्रोध भावके जगनेसे । जो क्रोध करे उसपर क्षमा भावका असर नही रहता । क्रोध ऐसी भयंकर ज्वाला है कि जिसमें जीव बेचैन हो जाता है, उस क्रोधीके पास

जो भी बैठे वह भी अपना चैन खो देता है। ऐसी क्रोधकषायको समूल दूर करनेका उपाय क्रोध रहित आत्माके चैतन्यस्वभावकी दृष्टि है। चिन्तन करना चाहिए कि मेरा कौन सा काम अट का है दुनियामे जिसके लिए क्रोध करूँ और अपने आपके गुणोको भस्म करूँ। तो मेरा कोई काम नही अटका, ये सब ख्याल है कि धन वैभव बढेगा तो मेरा महत्व बढ़ेगा या राष्ट्रमे नेतागिरी बनेगी तो मेरा महत्व बनेगा। एक बार महत्व बन जाय लोगोकी दृष्टिमे, लेकिन उस कल्पित महत्वके पा लेने पर रात दिन व्याकुलता रहती है, यह कभी नष्ट न हो जाय। जो कभी प्रधानमंत्री था, अब न रहा और उसके थी तृष्णा और इच्छा तो अपमानसे बेचैन है। जगतमे कोई काम ऐसा नही है जो आत्माके कर्तव्यमे शामिल हो। हां करने पडते हैं गृहस्थीकी परिस्थितिमे धन भी कमाना पडता, अनेक कार्य भी करने पडते, पर ये करने पड रहे है ऐसा ध्यानमे रखें, ये आत्माके कर्तव्य नही है। आत्माका कर्तव्य तो अपने सहज ज्ञान स्वरूपको निरखना और उस निरखनेमे ही तृप्त रहना यह काम यदि बन सके तो श्रामण्य मिलेगा, अरहंत पद मिलेगा और सिद्ध भी बन जायेंगे। जीवनमे ध्येय एक ही होना चाहिए कि मै सिद्ध हो सकूं। वह उपाय करना है, बाकी समग्र उपाय केवल धोखा है अपने लिए संसारमे रुलानेका कारण है।

उपकारीजनोंका अपकार आत्मघात कार्यविनाश आदिकी क्रोधमे संभवता—जब जगतमे कोई भी घटना कोई भी काम, कोई भी पदार्थ मेरे हितका साधक नही है तो फिर मैं किसलिए क्रोध करूँ ? जो भव्य विचार सहित है वह समझता है कि क्रोध करनेसे माता पिता भाई बहिन मित्रजन इन लोगोका भी प्रेम हट जाता है। कितना ही सगा मित्र हो, कुटुम्बका हो, घरका हो और बात जाने दीजिए, पति पत्नी भी हो और कोई क्रोध करता ही रहे तो दूसरेका प्रेम भी नही रह सकता, और जहां घरमे रहना पड रहा और प्रीति परस्पर नही है तो वह घरमे रहनेका अर्थ क्या है ? उससे तो बन अच्छा है। जिस घरमे रह रहे हो उस घरमे यदि परस्परमे प्रीति न हो और एकका दूसरके प्रति घृणा और द्वेष हो वह घर तो क्या, वह तो दुर्दशाकी चीज है। तो जीवनमे एक यह साधना बनायें कि किसी भी स्थितिमे मेरेको क्रोध उत्पन्न न हो। मान लो कोई घटना ऐसी भी बने कि जो अनुचित है, अन्याय की भी है, लेकिन उस समय भी क्रोध करनेसे लाभ क्या है ? बुद्धि और बिगड जाती है। तब जो करने योग्य कार्य है वह नही कर पाता है। इससे क्षमा स्वभावका ध्यान रखते हुए क्रोध भावको दूर करनेका ही ध्यान रखना चाहिये। क्रोध करनेसे जो अपना उपकारी भी हो उसका भी ये अपकार कर बैठते है। किसीने मेरा कितना ही भला किया हो, पर मेरेको क्रोध जग जाय तो उसके भले कामका कोई ध्यान न रहेगा और उसके प्रतिकूल चलना, उसका

विघात करना यह ही चित्तमें रहेगा। तो क्रोध भाव करनेसे लोगोका भी अहित याने अपकार बन जाता है।

क्रोधकी महती अनर्थकारिता--कोई समर्थ आदमी क्रोधमे आ जाय तो कितना अनर्थ कर डालता, असमर्थ आदमी क्रोधमे आ जाय तो उसमे इस समय तो सामर्थ्य नही है कि दूसरेका अनर्थ करे पर निरन्तर इस धुनमें रहता तो अपना अनर्थ करता, और कभी मौका पाता तो दूसरेका भी अनर्थ करता। एक पौराणिक घटना बताया है कि एक राजा जिसके राज्यमे दण्डक वन भी था, वह मुनियोका बहुत भक्त था, किन्तु उसके मंत्री मुनियोके विरोधी थे। जब राजा वदनाको गया तो मंत्रियोको भी साथ जाना पडा। वे मत्री भीतरमे बडा कषायभाव रखे थे और कोई घटना भी हुई कि जिससे मुनियोका अपमान भी हुआ, तो उन्होने सोचा कि क्या उपाय रचा कि एक भांडको बहुत सा लालच दे करके सिखा दिया कि तुम मुनि बनकर पिछी कमण्डल भी कहीसे लेकर रानीके महलमे पहुचो और उससे कुछ रागवचन बोलने लगो, तो उस भांडने वैसा ही किया, उसी समय राजासे उन मंत्रियोने बताया कि आप जिनकी भक्तिमे रहते हैं उनका चरित्र भी जानते, बडा खोटा होता है और फिर दिखा दिया कि देखो वह मुनि आपकी रानीके पास पहुचकर किस प्रकारका वचन व्यवहार कर रहा है। अब उस राजाको विवेक न रहा और उसे एकदम क्रोध आ गया और उसने उस दण्डक बनमे ठहरे हुए सारे मुनियोंको कोल्हूमे पिलवा दिया। देखिये जब किसीको क्रोध जगता है तो उसके कुछ विचार नही रहता कुछ भी सोचता, कुछ बात करता, मगर क्रोधमे तो विवेक सब खतम हो जाता है। तो जीवनमे एक अपनी साधना यह होना चाहिए कि अपनेमे क्षमाका भाव रहे। उससे लौकिक काम भी सही सिद्ध होते है और पारलौकिक धार्मिक कार्य भी सही सिद्ध होते है। क्रोधी पुरुषोको देखा होगा करीब करीब दुर्बल कृश रहा करते है। तो मालूम होता कि क्रोध एक ऐसी ज्वाला है कि जिसका प्रभाव शरीर पर भी पडता है। अब जिसका इतना प्रभाव शरीर पर पड़े उसका आत्मापर कितना प्रभाव पड़ता होगा इसका भी कुछ अनुमान कर सकते हैं। क्रोध भावमे संयम, व्रत, तप, नियम, विवेक, बुद्धि सब खतम हो जाते हैं। कोई सा भी काम बहुत दिनो तक मिल जुल कर सुधार रहे है और किसी समय क्रोधका वेग आ जाय तो प्रारम्भ किया हुआ काम, सुधारा हुआ काम भी नष्ट हो जाता है। तो यह सुभाषित रत्नसंदोह नामका ग्रन्थ है इसमे क्रोध कषायके निवारणके प्रकरणमे आचार्यदेव कह रहे कि क्रोधभाव आत्माका लौकिक भी बिगाड़ करता और पारलौकिक भी बिगाड़ करता है।

तीर्थाभिषेकजपहोमदयोपवासा, ध्यानव्रताध्ययनसंयमदानपूजाः ।
नेदृक्फलं जगति देहवतां ददते, यादृग्दमो निखिलकालहितो ददाति ।।३६।।

क्षमाका तीर्थाभिषेकादिसे भी अधिक गुणकारिपना—क्षमाभाव स्वयं पुण्यका भण्डार बना देता है । जिसके क्षमा नही है वह धर्मके कितने भी कार्य करे तीर्थयात्रा आदिक मगर वे कार्य सफल नही हो पाते । क्योंकि इसके क्रोधकी प्रकृति बनी है । प्रायोगिक रूप देखो, कोई यदि भगवानके सामने खडे होकर पूजा पाठ करे और जरा जरा सी बात पर माली या किसी नौकर पर क्रोध करता हो तो बतावो उसका वह पूजा पाठ कार्यकारी है क्या ? भले ही मुखसे छंद पढे मगर भीतर जब क्रोध कषायसे भरा आशय है तो वहाँ पूजा पाठका रंच भी भाव नही आ सकता । अनेक पुरुष तीर्थयात्रा करते हैं, कुटुम्बीजन साथ हैं, पड़ोसी भी साथ है । यात्रा कर रहे है, अनेक यात्रा कर चुके, अनेक अभी करेंगे मगर रास्ते भर क्रोध ही क्रोध बरसता रहे तो फिर बताओ वह तीर्थयात्रा कुछ फलवान हो सकती है क्या ? शान्तिसे समतासे क्षमाभाव रखकर प्रभुके गुणोका स्मरण करता हुआ यात्रा करता तो वह तीर्थयात्रा थी मगर क्रोधभावमे उस तीर्थ यात्रा पर जिसमे श्रम किया, समय लगाया खर्च हुआ मगर बेकार कर दिया । जितना पुण्य लाभ एक क्षमाभावमे है वह पुण्यलाभ तीर्थयात्रा आदिक कार्योंमे भी नही हो पाता, ऐसा क्षमाका महत्त्व जानना । जो सभी देश, सभी-काल, सभी क्षेत्रोमे हित करने वाला है ऐसा क्षमाभाव धारण करें उसमे अद्भुत फल प्राप्त होता है । वैसा फल तो बडी बड़ी तीर्थयात्रावोमे भी नही प्राप्त हो सकता । यदि वह क्रोधी बना हुआ तीर्थयात्रायें कर रहा है तो । जिनेन्द्रभगवानका अभिषेक कर रहा, पूजा कर रहा और बात बातमे निरन्तर क्रोधभाव आता है तो उसका कोई फल नही ।

पूजकके योग्य भावोंकी व्यञ्जना—पूजा करते समय मनुष्यका ऐसा भाव रहना चाहिये कि सर्व जीव अपने समान नजर आयें । वहाँ जो नौकर हो या माली हो उसके प्रति भी असभ्यवचन, निरादरके वचन, ये प्रयोगमे न आने चाहिए । जैसे कि किसी किसीकी आदत होती है कि पूजा करते जा रहे और मालीको अबे तबे कहते जा रहे, अबे तूने आग क्यो जलाया मुझे धूप खेना है—वहाँ पूजा कहाँ रही ? छोटेसे छोटे पुरुष पर अपने समान भाव होना चाहिए तब तो पूजाका चित्त रहेगा नही तो नही रह सकता । कौन नौकर कौन मालिक ? स्वरूपको देखें और खासकर ऐसे समयमे जहाँ स्वरूपको दृष्टिमे लेनेका काम कर रहे, पूजाका अर्थ ही क्या है ? आत्मस्वरूपकी दृष्टि बनाना, बस यह ही पूजाका प्रयोजन है । तब ही तो कहते है कि हे प्रभो ! तुम्हारे चरण मेरे हृदयमे रहे, मेरा हृदय तुम्हारे चरणोमे रहे जब तक कि मोक्षपदकी प्राप्ति न हो । अब इन शब्दोको कोई दूसरा सुने तो क्या कहेगा

कि यह कैसा भक्त है कि भगवानसे यह कह रहा कि जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक मेरी आपमे भक्ति रहे। मगर यह तत्व ज्ञानी है। वह जानता है कि मोक्षपद प्राप्त हो तो फिर न कोई पूज्य और न कोई पूजक। केवल निजआनन्दरसलीन की दशा रहती इसी लिए कह रहा ऐसा। यदि ऐसा कोई सोचे कि हे प्रभो मैं भव भवमे हमेशा आपका पुजारी रहूँ तो उसके अभी अज्ञान बसा हुआ है। क्या यह हमेशा ससारी जीव ही रहना चाहता? यदि संसारी बनकर रहेगा तब तो पुजारी कहलायेगा। पुजारी जरूर है मगर पुजारी ही अनन्तकाल तक बना रहे भव भवमे यह तो मोह और मिथ्यात्वकी बात है। यदि कोई पुरुष भगवानकी पूजा कर रहा, अभिषेक कर रहा और उस समय क्रोधभाव कर रहा सेवक पर साथीपर तो उसका यह सब करना बिल्कुल व्यर्थ है।

क्षमाभावकी जप तप आदिसे भी अधिक गुणकारिता—कोई तपश्चरण करता, बड़ा तप करता, बहुत-बहुत उपवास करता, गर्मी सर्दी को समतासे सहता, अनेक प्रकारके तपश्चरण करता हुआ भी वह पुरुष यदि क्रोध स्वभाव वाला है तो उसका तपश्चरण व्यर्थ है। दया, उपवास, ध्यान, व्रत आदि ये सभी कार्य है तो भले मगर इनको कर रहा पुरुष क्रोधी बन रहा, क्रोध कर रहा तो उसका वे सब कार्य करना व्यर्थ है। इनसे कोई फल प्राप्त नही होता। एक क्रोधने इसकी सारी साधना बिगाड दी। अपमानका कारण है क्रोध। क्रोध करनेमे ऐसी अटपट चेष्टा हो जाती। ऐसे अटपट वचन निकल जाते, आखिर इसका ही अपमान होता है। कोई पुरुष व्रतका तो पालन करे, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण, परिग्रह त्याग, इन्द्रिय विषयोका त्याग, सर्वप्रकारसे तो साधना बनाये, मगर क्रोध करे तो उस क्रोधका कारण है घमंड। धार्मिक कार्योंको करते हुए भी जिन बधुवोको क्रोध आता रहता है तो उसका कारण है घमड। अपने आपमे यह बुद्धि बनी है कि मैं उच्च हूँ। बडा हूँ। ये सब छोटे है, ऐसी स्थितिमे क्रोधके अवसर आते है।

सर्व जीवोंको स्वस्वरूप सम माननेका प्रभाव—अपनी यह पद्धति बनाइये कि जब धर्मकार्योंमे लग रहे हो मदिरके, पूजाके कोई भी धार्मिक प्रसंगमे हैं उस समय सबको अपने समान मानना, किसीको भी अपनेसे छोटा न मानना, अगर यह गुण नही आता तो वह धर्म नही कर सकता। बड़े बड़े कार्य कर लिये जायें धर्मके और भीतरमे अगर यह भाव है कि मैं सबसे अच्छा हू, ये लोग मेरे सामने कुछ नही जानते, करते, इस तरहकी अगर दृष्टि ही बन जाय तो बस वह धर्मसे च्युत हो गया। कहाँ तो सभी समय सभी जीवोको अपने स्वरूपके समान समझना चाहिए, मानलो कभी इस बातसे चूक भी जायें तो धार्मिक कार्य करनेके समय तो रच भी न चूकना चाहिए। बल्कि यह मानना चाहिये कि यह मुझसे

महान है। कोई बता सकता क्या कि कौन महान और कौन छोटा ? किसीके भावकी परख कोई कर सकता है क्या ? जहां बताया है समतभद्राचार्यने कि अगर निर्मोह गृहस्थ है तो वह मोक्षमार्गमे स्थित है, पर मोही मुनि हो तो वह मोक्षमार्गमे स्थित नही और वह गृहस्थोसे भी हल्का है। तब किसीके दिलकी बात कोई जान सकता है क्या ? धर्मके प्रसगमे यहाँ सभी लोग आये है सभी अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार धर्मकार्य कर रहे है, कहो बहुत बहुत धर्मका व्यापार करने वाला भी इतना विशुद्ध न हो सके जितना कि एक छोटासे छोटा व्यक्ति विशुद्ध भावो वाला हो जाय। तो यहां न कोई महान न कोई छोटा। धार्मिक प्रसग मे सबको एक समान समझना है। सब मेरे समान है, मुझसे बडे है। एक भीतरी भावकी बात है। चाहे ऊपर कुछ भी वृत्ति हो, होता ही है ऐसा कि बडे समूहमें बडेको आगे बैठा देते है, पर बडेका हृदय इतना निर्मल होता है कि उसे बैठना पडता है, स्थिति ऐसी है, मगर उनके चित्तमे कोई पुरुष छोटा नही है। वे सबको अपने स्वरूपके समान निरखते है। ऐसा परिणाम हो तो धार्मिक काम करते हुए पुण्यबध होगा और वे सब कार्य सफल होगे। और एक अहकार आ गया जिसके कारण क्रोध भी आता रहता है तो उसके धार्मिक कार्य सब निष्फल हो जाते है। तो जो फल क्षमाभाव धारण करनेसे प्राप्त होता है वह फल धार्मिक बडे बडे कार्योसे भी प्राप्त नही होता।

क्षमा स्वभावके लाभ--देखिये--अपने जीवनमे यह गुण तो अवश्य ही होना चाहिये सबको क्षमा करनेका स्वभाव। कोई अज्ञानी है, छोटा है, असभ्य है, बोलचाल भी ठीक नही कर पाता तो उसे समझे कि इस आत्माका क्या अपराध ? इसके ऐसा ही कर्मका उदय है, कर्मकी छाया पडी है कि यह इस प्रकारकी बात निरखता है। यह तो निरपराधी है। ये सब कषायके वेग है, यह सोचकर उसे क्षमा क्षमा कर देता है। हर एक घटनामे जब क्षमा का स्वभाव रखें तो वह भीतर कितनी अलौकिक उपलब्धि पा लेता है और इसीके प्रतापसे उत्तम वचन बोलता है। किसीके प्रति कभी भी कटुवचन न निकालें। उस समय इतना तो सावधान रहना ही चाहिए कि मेरे मुखसे खोटे वचन न निकले, क्योकि खोटे वचन निकलेंगे तो किसका अनर्थ करेंगे ? इसही का अनर्थ होगा, दूसरेका क्या अनर्थ हो ? खुद पछतायगा बादमे और दूसरोका आकर्षण भी हटेगा, दूसरे फिर चाहेगे भी नही इसलिए दुर्वचन किसी भी समय न कहना चाहे खुद पर कोई विपत्ति भी आ रही हो किसीसे पर दुर्वचन कहनेसे विपत्ति मिट जायगी क्या ? अपने भाव और खराब किया। विपत्ति आने पर भी अगर अच्छे वचन निकलेंगे तो वह खुद शरमा जायगा और खुद आपका दास बन जायगा। क्रोधके कारण आपका कोई प्रेमी न बन सकेगा। कोई शत्रु हो उस पर भी क्षमा

भाव धारण करे तो वह अन्य मित्रोसे भी ऊचा मित्र बन जायगा । इससे जीवनमे क्षमाभाव का स्वभाव बने और अपने वचन हितमित प्रिय ही निकलें ऐसी अपनी योग्यता बने फिर ऐसा जीवन रहेगा निर्बाध कि आप अपने आत्मस्वभावकी दृष्टि रखकर धर्मसाधनामे खूब बढ सकेगे । इससे जीवनमे बस दो बातें बनें—आत्माका स्वभाव रखना और दूसरोसे अच्छे वचन कहना, हितकारी हो, परिमित हो और प्रिय भी हो, ऐसा जीवन रहेगा तो उस जीवनमे धर्मसाधना बन सकेगी ।

भ्रूभगभंगुर मुखो विकरालरूपो, रक्तेक्षणो दशन पीडित दंत वासा। ।
त्रास गतोऽतिमनुजो जननिंद्यवेष क्रोधेन कपित तनुर्भुविराक्षसो वा ।।४०।।

क्रोधकी निन्द्यता—क्रोधके आवेशमे आकर इस मनुष्यकी भौहे टेढ़ी हो जाती है और मुख भी टेढा हो जाता है । क्रोध ऐसा पिशाच है कि जिसकी मुद्रा मुख पर भी झलक ने लगती है । उसकी विकराल मुद्रा हो, जाती है । क्रोधी पुरुषकी आँखें लाल लाल हो जाती हैं, दाँतोमे मिसमिसी बंध जाती है । क्रोधी पुरुष वचनालाप भी स्पष्ट नही कर पाता है । क्रोधमे यह दूसरेको डाटता डपटता है मगर वह सुन भी नही पाता कि यह क्या कह रहा है डाटते हुए मे क्रोधी पुरुषको आगे पीछे नाना दुःख उठाने पडते है । उसका वेश भूषा निन्द्यनीय होता है । शरीरमे कम्पन होने लगती है । खडा खड़ा भी काँपता रहता, हाथ पैर भी कांपते रहते । क्रोधी पुरुष राक्षस जैसा भयकर मालूम होने लगता है । क्रोधके वश होकर बडे बड़े पुरुष भी विपत्तिमे आये । और उन्हे कोई साथी सहाय न हो सका । क्रोधीके प्रति जनताकी स्वयं ही उपेक्षा हो जाती है, उसके प्रति अनुराग नही रहता है । ऐसा क्रोधभाव दूर करने पर ही आत्माको अपने स्वभावदृष्टिका और धर्मपालनका उत्साह मिलता है ।

कोऽपीहलोहमिति तप्त मुपाददानो दह्यते निजकरे परदाहमिच्छु. ।
यद्वत्तथा प्रकुपित। परमाजिघांसुर्दुःख स्वय व्रजति वैरिवधे विकल्प: ।।४१।।

क्रोधीका स्वतः विनाश—क्रोध करने वाला पुरुष जिसपर क्रोध करता है और उसके बिगाडके लिए चेष्टा करता है सो उस दूसरे पुरुषका बिगाड़ हो अथवा न हो, किन्तु इस क्रोध करने वाले पुरुषका बिगाड़ नियमसे हो जाता है । जैसे कोई मनुष्य किसी दूसरेको जलानेकी इच्छासे आगका अगारा हाथमे उठाकर मारे तो जिसके मारा वह जले या न भी जल सके इसका कोई नियम नही, पर जलाने वालेका हाथ नियमसे जलेगा । यही हालत क्रोधी पुरुषकी है । क्रोधके प्रसंगमे पुराणोमे कितनी ही कथायें आती है कि किसी ने किसी दूसरेके लिए कुछ अनर्थ विचारा पर हुआ क्या कि खुदका ही अनर्थ हो गया, दूसरे का नही । क्रोधी पुरुष अपने वैरीको मारनेकी चेष्टा करता है तो तत्काल भी वह बड़े सक्ले-

शमे रहता है और ऐसा ही उसके कर्मबन्ध होता कि उनके उदयमे आगामी कालमे भी वह दुःख पायगा खोटी योनियोमे जन्म लेगा । तो यह क्रोध एक बहुत भयकर रोग है इससे दूर रहने वाले पुरुष ही सत्सगति ज्ञानलाभ आदिकके लाभ लूट पाते है ।

वैरं विवर्धयति सख्यमपाकरोति, रूपं विरूपयति निद्यमतिं तनोति ।
दौर्भाग्यमानयति शातयते चकीर्ति, रोषोऽत्ररोषसदृशो न हि शत्रुरस्ति ॥४२॥

क्रोधीकी चिरकाल कष्टकारिता— क्रोधके सदृश इस जगतमे कोई भी शत्रु नही है । यह क्रोध रूपी बैरी लोगोसे बैर बढा लेता है जिसके फलमे यह अनेक भवोमे मरण पायगा । कोई यहाँ देहधारी बैरी हो तो भी अधिकसे अधिक क्या करेगा ? एक बार जान ले लेगा तो एक ही बार मरण हो सका । पर क्रोधसे जिनके गुण भस्म हो जाते हैं, नाना संस्कार बना लेते हैं वे प्राणी भव भवमे दूसरेके योगसे मरणको प्राप्त होते है । क्रोधी पुरुषको मित्रता किसीसे भी नही निभ पाती । यह सबके लिए अनुभूत प्रयोग है । क्रोधीके चित्तमे सदैव विडम्बना बनी रहती है । क्रोधी पुरुष अपना रूप बिगाड डालता है । कितनी ही क्रोधी महिलायें तो अपना ही शरीर जला डालती है । दूसरेको कलंकित साबित करनेके लिए कितना ही उद्यम करती, पर उस उद्यममे सफल न होने पर स्वयं आत्महत्या कर लेती है । वे किसीके सामने मुह दिखाने लायक नही रहती । क्रोधमे विवेक भी नष्ट हो जाता है । इस क्रोधके कारण बडे श्रमसे कमायी गई कीर्ति भी नष्ट हो जाती है । इस कारण जो विवेकी जन है वे अपने हितकी भावना रखते हैं और कभी क्रोधभाव नही करते ।

३—मानमायापरिहाराधिकार

रूपैश्वर्यकुलजाति तपोबलाज्ञाज्ञानाष्टदुः सहमदाकुलबुद्धिरज्ञः ।
यो मन्यतेऽहमति नास्ति परोऽधिकोऽपि मानात्स नीचकुलमेति भगवाननेकान् ॥४३॥

आश्रयभूत कारणोंके उपयोगसे कषायकी व्यञ्जना—यह माया और अहकारको दूर करनेका उपदेश वाला तीसरा प्रकरण है । जीव सीधा स्पष्ट प्रतिभासमात्र अमूर्त है, उसका जिसको बोध नही होता वह अज्ञानी पुरुष बाह्य पदार्थोंके सगसे अपने आपमे अभिमान बसा लेता है । अभिमानके आश्रय हैं ज्ञानमद आदिक ८ प्रकारके मद । जगतमे निमित्त नैमित्तिककी व्यवस्था सही ढंगसे चल रही है । अटपट नही है कि कोई ऐसा मान ले कि नैमित्तिक काम हो तो निमित्त कहा जाता है । यदि मेरा पैर अग्निपर पड जाय तो मैं जल जाऊँ, तब वह अग्नि कहलाये ऐसा तो नही होता । योग्य उपादान निमित्तसन्निधानमे अपना प्रभाव बना ही लेता है और आश्रयभूत कारणका अन्वय व्यतिरेक नही है, ये सब बाहरी पदार्थ आश्रयभूत कारण है । इस कारण इनमे उपयोग लगे तो ये कारण बन जाते है और उपयोग न लगे तो कारण नही बनते । ये आश्रभूत कारण आरोपित कारण कहलाते हैं ।

सुन्दरताके अहङ्कारका दुष्परिणाम—

घमंड करनेके आश्रयभूत कारण क्या क्या है ? पहला ले लोजिए सुन्दरता, क्योकि जीवका शरीरके साथ घनिष्ट सम्बध है । और शरीरमे ही सुन्दर रूप दीखा तो उसका वह अभिमान करने लगता है कि मैं बहुत सुन्दर हूं, यद्यपि अपने लिए अपना शरीर सभीको सुन्दर जचता है करीब करीब । बिरला ही पुरुष ऐसा सोचता होगा जिसको कि भयंकर रोग हुआ हो, मुख सारा चेचकके दागोसे खराब हो गया हो, अत्यन्त कुरूप हो तब ही वह अपनेको मानेगा कि मेरा रूप बिगड गया । साधारण बिगडे हुए रूपमे भी कोई पुरुष अपनेको कुरूप नही अनुभव कर पाता । तो इस सुन्दरताके अभिमानमे अपनेसे भी कोई सुन्दर हो तो वह सुन्दर न जचेगा, स्वय ही सुन्दर जंचेगा इसमे कितना तीव्र मिथ्यात्व है कि देहके साथ उसने एकता मानली । यह है सो मै हू । यह ही मेरा सर्वस्व है । अपने ही देहकी सुन्दरतासे अपना महत्व आंक रहा है उस पुरुषको आत्मस्वरूपकी सुध कैसे हो सकती है ? जिसे आत्मज्ञान चाहिए उसको क्रोधकी तरह मानका भी खण्डन करना होगा । क्रोधसे मान और भी विकट कषाय है । यद्यपि ये चारो कषाय सब अपने-अपने हिस्सेमे बिकट ही विकट है, किन्तु किसी दृष्टिसे मान कषाय अतिविकट है क्योकि क्रोध कषायका बेग होता है और कुछ समय क्रोध शान्त होता है, पर मान कषाय ऐसी भीतर जमी हुई है कि उसका निकलना कठिन होता है । और क्रोधके बलपर होता है । क्रोधके कारण प्रायः किसीको मान हुआ क्या ? मानके कारण क्रोध हुआ यह बात प्रायः देखी जाती है । तो जो क्रोधकषायकी जड है वह मान कषाय अति भयकर है । जो जगत अन्य जीवोको तुच्छ मानता, छोटा मानता उसकी दृष्टिमे चैतन्यस्वरूप कहां रहा ? वह अन्य जीवोको अपने समान कैसे मान सकता है ? सुन्दरतामे अभिमान करने वाला पुरुष अपनेको तो बडा मानता है और अन्य कोई रूपमे बड़ा भी हो तो भी उसका अपमान ही करता है । अपने दिलमे उपेक्षा करना यह ही उसका अपमान है । इस मानका फल है नीच कुलमे उत्पन्न होना ।

जीवकी सर्व घटनावोंमे जीवकी मूल जिम्मेदारी—देखिये शरीर पौद्गलिक है, उसकी रचनाका कर्ता यह जीव नही है । मगर जीवने जिस प्रकारके भाव किया था, जिस प्रकारके कर्म बधे थे उस प्रकारके कर्म उदयमे आये है । तो यो शरीर रचना हुई है । तो शरीररचनाका मूल जिम्मेदार जीव ही रहा । तो जो सुन्दरताका अभिमान करते हैं वे नीच कुलका बध करते है और अशुभ प्रकृतियोका बध करते है । आगे भविष्यमे उनको फिर सुन्दर शरीर नही प्राप्त हो पाता ।

प्रभुताके मानका दुष्परिणाम—लोग प्रभुतापर अभिमान करते है । कुछ लोकमे

चला चलने लगा, अपनी बात निभने लगी तो वे अपनी प्रभुता याने नेतागिरीपर अभिमान करने लगते है। मै तो सबका प्रभु हू। मैं जैसा ले जाऊ वैसा ये चलते है। तो उसे प्रभुताका अभिमान हो जाता है। इस अभिमानमे भी वह अन्यको तुच्छ मानने लगता। अभिमानका स्वरूप ही ऐसा है कि वह दूसरोको तुच्छ मानने लगे, लेकिन अभिमान करने वाले पुरुष ऐसे कारण कलाप प्राप्त करते है, उनको ऐसी कोई घटना सामने आती है जिससे उनको विषाद बहुत भोगना पडता है। मानो दिलमे तो यह बसा रखा कि मैं इन सबका मालिक हूं प्रभु हूँ, जिस रास्तेसे इन्हे ले जाऊ उस रास्तेसे ये चलेंगे। मेरे हुक्मके खिलाफ ये नही हो सकते और कदाचित इस प्रभुतामे बाधा आये, किसीने आज्ञा न माना तो यह बेचैन हो जाता है, ऐसी बेचैनी बहुतोके पायी जाती है। कोई अपनी बात न माने तो वह बडा खेदखिन्न होता है। लौकिक बातोमे तो ऐसा होता ही है। मगर कोई अज्ञानी पुरुष कुछ धर्मकी बात बोलने लगा हो और वह अपनी ही बात सबको बताये, समझाये और मान रहा हो कि मैं इन सब मे अधिक जानकार हू और कोई बात न माने तो वहाँ भी झगडा खडा हो जाता है। बडी बडी मीटिंगोमे या धार्मिक चर्चावोमे विवाद क्यो होता है ? उसमे कारण है मद। मैं इन सबमे बडा हू, समझदार हू, जो मै कहना हूँ वह इनको मानना चाहिये ऐसा भीतर भाव भरा है। उसके कारण विवाद विसम्वाद चलता है। प्रभुतामदमे दूसरोको अपनेसे हीन मान लेता है। घमंड भी कभी कभी शरीरपर दिखने लगता है। घमंडके आसनसे बैठना, घमड जैसा मुख बनाना, घमड जैसी बात बोलना, इन सबसे प्रभुताका, घमडका अनुमान बनता है। प्रभुताका मद भी एक विकट विष है कि जिसमे यह जीव अपनी सुध नही ले पाता। बताते है कि अनात्मज्ञ लोग आत्माका ऐसा उपदेश करते कि जिसको सुनकर दूसरे लोग सुलट जायें और खुद न सुलटे। उसका कारण क्या है ? तो उसके ये ही सब कारण है। भीतरमे मोह है जिसके कारण प्रभुताका मद बना हुआ है। उस मदमे आत्माकी सही बात को कह रहा है, पर अपने आपमे असर नही होता। दूसरे लोग भले ही सुलट जायें। प्रभुता का मद भयंकर विष है।

कुल जाति मदका दुष्परिणाम—अनेक लोग कुलका जातिका मद करते है। यद्यपि यह बात पायी जाती है कि जो उच्च कुलमे जन्म लेता है उसकी प्रवृत्ति सभ्यताकी रहती है और उच्च विचारकी रहती है, यह बात प्राय पायी जाती है। पर नियमकी बात यह भी नही है, किन्तु वहाँ कोई कुलके उपयोगसे अपने आपमे गर्व करे तो वह तो उसके लिए दोष हो गया। जीवका कुल क्या ? जीव तो देहरहित चैतन्यस्वरूप है। उसके लिए देहका सम्बन्ध होना ही कलंक है। अब उस कलक्मे ही ऊँच नीचपनका विकल्प बनाते है तो यह तो

स्वरूपदृष्टिका साधक नही है। जिसको जाति कुलके विकल्पमे धर्मका आग्रह बनता है वह आत्मस्वरूपका अनुभव नही पा सकता। जो है सो है, उच्च कुल मिला है, ठीक है, भली बात है, मगर उसको ही दृष्टिमे रखे कोई कि मै अच्छे कुलमे पैदा हुआ हूं, मै उच्च कुल वाला हूँ तो इस अभिमानमे आत्मस्वरूपकी दृष्टि नही बन पाती। यह तो अच्छे आचार विचारका फल है कि उच्च गोत्र बन गया, उच्च गोत्रमे जन्म हो गया, मगर मै उच्च कुलका उच्च जातिका हू इस प्रकारका अभिमान बसाये तो उसे आत्मदृष्टि नही जग सकती। व्यवहारके प्रसगमे भले ही कुल काम आये, मगर स्वानुभूति, मोक्षके योग्य भाव, दोषोसे हटना, इनके लिए कुलकी बात चित्तमे रखना बाधक होता है, क्योकि वह तो बीचमे ही अटक गया। यह उपयोग आत्मा के अभिमुख रहा, और इस अटकके कारण उसके आत्माकी दृष्टि नही बन सकती। जो पुरुष कुलका अभिमान रखता है वह इस अभिमानमे दूसरोको तुच्छ समझता है। जैसे मानो जैन धर्मके मानने वाले वैश्योमे अनेक कुल जातियां है खण्डेलवाल, अग्रवाल, परवार, ओसवाल, जायसवाल आदिक अनेक जातियां है तो जैनत्वके नातेसे वे सब समान है। उनमे कैसे कहा जायगा कि ये ऊँचे है और ये नीचे है? मगर लोकमे प्राय: देखा जाता कि जो जिस कुलमे जन्मा है वह उसमे ऐसा अनुभव करता है कि श्रेष्ठ तो मेरा कुल है। बाकी कुल तो यो ही साधारण है। ऐसी बुद्धि है तो यह दोष वाली बुद्धि है। भले ही कुछ थोडा बहुत अन्तर हो रीति रिवाजके कारण लेकिन उस कुलका जो अहकार है वह अहकार ही स्वय दोष है और इन दोषोमे वह स्वानुभवका पात्र नही रहता। स्वानुभूतिके लिए तो यह ध्यान बनना चाहिए कि मै देह नही हू। मेरे देह नही है। मै केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हू, यह दृष्टि बननी चाहिए। कुलकी बात तो बहुत ही दूर रही। जब देहसे विविक्त अपने आपको निरखेंगे तब ही तो हम आत्माके अभिमुख बन पायेंगे। तो यह कुलमद अहंकार अपने आपका ही घात करने वाला है और अहकारमे नीच गोत्रमे जन्म हुआ करता है।

तपोमदका दुष्परिणाम– अनेक लोग अपने तपश्चरण, आचारोपर अहकार करते है। आचरण किया जाय सही, पर सही आचरण करके, तपश्चरण करके यह अहकारभाव मै अन्य जीवोसे मै ऊँचा हू, मै ऐसा कर लेता हूँ, तो यह अहकार तो खुद दोष हो गया, फिर आचरण कहां अच्छा रहा? नम्रता, विनय, मार्दवधर्म, ये ही तो आधार है इस आचारके। इन का विघात कर दिया। तो जो पुरुष तपश्चरण, आचार आदिकका अहंकार करते है वे अन्य को नीच समझने लगते है। जैसे आचरणोमे सबसे ऊँचा धर्म है मुनिधर्म। अब वहां भी यदि कोई मुनि अच्छे आचरणसे रहकर इस प्रकारका अनुभव बनाये कि मै ऊँचा आचरण करता हू, जो आचरण अन्य मुनियोसे न बने, ऐसे आचरणसे मै रहता हू, तो यह तो उसके लिए

दोष बन गया। तपश्चरण भी किया, कष्ट भी सहा और दोष बन गया। चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि पानेपर श्रावकको कैसा होना चाहिए, मुनिको कैसा होना चाहिये, ये सब बातें आसानी से (सुगमतासे) अपने आप आ जाती है और जहाँ देहके आधारसे अहकार आ जाता वहाँ सब बातें उल्टी पड जाती है। बडे बडे मुनिराजोको भी जो तपश्चरण आदिक पर अहकार हो जाता है। उसका कारण क्या है कि उसने देहका लगाव रखा और देहको देखकर माना कि यह मै मुनि हू तो देह बुद्धि हुई, मोह हुआ, जहाँ मोहभाव आया वहाँ अच्छा आचरण कहाँसे आ सकता जो मोक्षमार्गके अनुकूल हो।

बलमदका दुष्परिणाम—अनेक पुरुष बलका अहंकार करते हैं। शरीरमे बल विशेष हुआ तो मैं बलिष्ट हू, मैं इनसे ऊँचा हू, ये सब शक्ति हीन है, कायर हैं, ये मुझसे बहुत हल्के छोटे हैं, इस प्रकार बलका अहकार बन जाता है, मगर जो बलका अहकार कर रहा है उस का आत्मा निर्बल हो रहा है, यह उसे ख्यालमे नही है। यदि शारीरिक बलसे बडा माना जाय तो इस मनुष्यसे बडे तो भैसा, हाथी आदिक अनेक जानवर है, यह मनुष्य तो उनके आगे बलमे कुछ भी नही है। शारीरिक बल तो एक मैल है आत्माका। यद्यपि कभी कभी ऐसा अनुरूप चलता है कि आत्मा विशुद्ध होता है, तो शरीरका बल भी बढता है मगर शरीरबल अन्य चीज है, आत्मबल अन्य चीज है। शरीरबल वाले बीसो भैंसोको आत्मबल वाला एक ८ वर्षका बालक भी डडेके जोरसे हाँक देता है। जहाँ ले जाना चाहे ले जाता है। शारीरिक बल और आत्मबलमे बहुत अन्तर है। जिसके आत्मबल है वह तृप्ति पा सकता है, शारीरिक बल वाला तृप्ति नही पा सकता, मगर जिनको देहसे ही लगाव है वे देह बलसे अपने आपमे अहंकार अनुभव करते हैं और उस अहंकारमे दूसरोको छोटा मानते हैं।

बुद्धिमद व आज्ञामदका दुष्परिणाम—किसीको बुद्धिका भी घमंड होता, मैं बुद्धिमान हू, मैं इन सबमे अधिक जानकार हूँ। ये लोग कुछ नही जानते। अरे बुद्धिका घमड रखने वाला जीव कितना अपने आपको अधेरेमे रख रहा। जगतके सभी जीव शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। उनमे विकारका नाम नही, कष्टका नाम नही। यह तो सब कर्मकी छाया पड रही है। सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं, ज्ञानघन है यह बात उसके चित्तमे नही आ सकती जिसमे अपनी बुद्धिका घमंड बना हुआ है, जो सर्व जीवोमे उस ज्ञानस्वरूपको नही तक सकता है वह पुरुष स्वानुभवका कैसे पात्र बनेगा ? बुद्धि ज्ञानकी व्यक्तिसे देखें तो केवलज्ञानके सामने मनःपर्ययज्ञानी गणधर देव भी यह मानते हैं कि मेरे ज्ञान कुछ नही है, फिर अन्य ज्ञानकी और हम आपके ज्ञानकी तो कथा ही क्या है ? थोड़ा क्षयोपशम बढ़ गया, बुद्धि प्रकट हो

गई तो इतनेमे ही अभिमान बन गया तो ज्ञानावरण कर्मका बध विकट हो रहा और आगे ज्ञानदशा नही प्राप्त हो सकती। किसी भी जीवको मूर्ख न तकना और जो कुछ कमी है, जो कुछ मूर्खताकी बात है वह सब कर्मकी छाया है। जीव तो ज्ञानस्वरूप है सो प्रत्येक जीव के बारेमे स्पष्ट निर्णय रहना चाहिए अन्यथा अपनी बुद्धिपर अहकार आयगा, तो उस अहं-कारके कारण अपने ज्ञानका घात करेगा। जो पुरुष बुद्धिके अहकारमे रत रहा करता है वह पुरुष स्वानुभव नही पा सकता, दूसरोको तुच्छ निरखता है और नीच कुलका बध करता है। आज्ञामद भी ऐसा ही भयंकर विष है।

नीतिं निरस्यति विनीतमपाकरोति कीर्ति शशांकधवलां मलिनी करोति।
मान्यान्न मानयति मानवशेन हीन' प्राणीति मानमपहृति महानुभाव: ॥४४॥

मानसे न्याय नीति व विनयका उल्लंघन—जो पुरुष घमडी है वह नीति और न्याय को भूल जाता है, वह पुरुष विनय छोडकर उद्धत हो जाता है और अपनी निर्मल कीर्तिमे धब्बा लगा देता है। किसी पुरुषने कितना ही उपकार किया हो दूसरोका, पाठशालायें खुल-वायी, शास्त्रप्रकाशन किया, विद्वानोके व्याख्यान दिलवाये, अनेक गरीबोको सहायता दी और वह पुरुष किसी सभामे या कुछ पुरुषोके बीच यह बोलने लगे कि मैंने इस प्रकार इन दु:खियो का ऐसा उपकार किया तो लोगोकी निगाहमे फिर वह कुछ नही रहता। मानके वचनोमे उसके किए कराए कामपर पानी फिर जाता है। जो पुरुष अभिमानी है वह न्याय नीतिको भूल जाता है। कैसा बर्ताव करना चाहिए, कैसे वचन बोलना चाहिये, इस बुद्धिको भ्रष्ट कर देती है यह मान कषाय। मानी पुरुष विनय छोडकर उद्दण्ड हो जाता है। मै हू सब कुछ, ऐसा मानता है। वह दूसरे धर्मात्मा पुरुषोको भी न कुछ जैसा देखता है। कभी कोई धर्मा-त्माजन त्यागीजन दिख जायें तो उनके प्रति विनय करना तो दूर रहा, उल्टा उद्दण्डतासे पेश आते है। यह एक देहात्मबुद्धि होनेसे अहकारका रूप बन गया।

अभिमानमे निर्मल यशका भी विध्वस एव मान्योकी अमान्यता—अभिमानी पुरुष चन्द्रमाके समान भी अपनी निर्मल कीर्ति हो तो उस कीर्तिको भी नष्ट कर देता है। रावणके विषयमे लोग यह दोष देते है कि उसने परस्त्रीकी वाञ्छा की थी। इससे उसका लोकमे बडा अपमान चल रहा है, मगर साथ ही यह भी ध्यान दें कि वह परस्त्रीकी लालसाको उतना तेज न कर सका था जिससे कि वह कुशीलका बर्ताव करता, ऐसा क्यो नही कर सका कि उसने एक केवलीके सम्मुख यह नियम लिया था कि जो परस्त्री मुझे न चाहेगी उसके साथ मैं बलात्कार नही करूँगा। सो भले ही रावणने परस्त्रीकी वाञ्छा की, लेकिन उसको अपनी प्रतिज्ञा याद रही और अपनी प्रतिज्ञामें दृढ रहा। सीताने रावणको नही चाहा इससे रावणने

सीताके ऊपर अपने बलका प्रयोग नही किया। बलप्रयोगकी भावना ही उसके नही बनी एक बात, दूमरी बात—परस्त्रीकी वाञ्छा की उस दोषसे बडा विकट दोष उसका अभिमान था, वह जान चुका था कि सीता मुझे चाहती ही नही है तो सीताका रखना तो बेकार है मुझे क्योकि मेरी प्रतिज्ञा है कि जो परस्त्री मुझे नही चाहती उस पर मैं बलात्कार नही कर सकता। इसलिए सीताको तो वापिस देना ही है, क्योकि मेरे लिए वह बिल्कुल बेकार है, लेकिन उसके चित्तमे यह बात थी कि मैं इसे दे कैसे दूं, इसमे तो मेरी कायरता समझी जायगी। हां पहले श्रीरामको युद्धमे मैं जीत लूं और फिर सीताको दू तो इसमे मेरी शान है, इससे मेरा यश बढेगा, यह उसके भाव था। तो आप समझिये कि मान कषाय रावणमे तेज थी। पापकी वासना रावणमे तेज न थी, मगर अभिलाषाकी बात तेज थी रावणमे जिस अभिमानके कारण वह नीति न्याय सब भूल गया था, उसके चित्तमे आया कि मैं युद्धमे जब श्रीरामको जीत लूंगा तब सीताको वापिस दूंगा, वह इस बातको भूल गया कि इस युद्धमे तो लाखोका विध्वस होगा और मेरा भी विध्वंस हो सकता। तो अभिमान एक ऐसी विकट ज्वाला है कि जिसमे न्याय नीतिके सारे गुण भस्म हो जाते हैं। बहुत समय और श्रमसे कमाया हुआ निर्मल यश भी इस अभिमानके कारण खत्म हो जाता है। वैसे रावणकी कीर्ति बिल्कुल उज्ज्वल थी, आज भी दक्षिण देशमे लंका वगैरामे रावणके भक्त मिलते है, एक उसके अभिमानके कारण उसकी सारी कीर्ति धूलमे मिल गई। अभिमानी पुरुष हीन होकर भी बडोका अपमान करता है, पर जो विचारशील पुरुष है वे मानसे सर्वदा दूर रहते है। मान कषाय बहुत भयकर विष है, इसे हटाना चाहिए, उसका उपाय है मानरहित ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूपको अपना अनुभव करें कि मैं तो यह प्रतिभासमात्र पदार्थ हूँ।

> हीनाधिकेषु विदधात्यविवेकभाव धर्मं विनाशयति सचिनुते च पाप।
> दौर्भाग्यमानयति कार्यमपाकरोति किं किं न दोषमथवा कुरुतेभिमानः ॥४५॥

अभिमानवशीका छोटे बड़े पुरुषोमे अविवेक भाव—जो पुरुष अभिमानके वशीभूत है वह बडे और छोटे मनुष्योको एकसा समझने लगता है। आप कहेगे कि यह तो अच्छी बात है—बडे और छोटेको एकसा मान लेना, पर बडा और छोटा सबको एकसा मान लेता है, छोटेपनमे सबको एकसा मान लेता है, और अविवेकसे दोनोको एकसा ही तुच्छ नीचा बर्ताव करने लगता है। मान कषायका नाम लोग अहकार भी कहते है, पर अहकारका अर्थ मान कषायसे भी और खराब है। मानमे तो दूसरोकी अपेक्षा अपनेको ऊँचा समझना यह बात आती है और अहकारमे जो मैं नही हू उसको अहंकर डालनेकी बात आती है। अहकारका सम्बध मिथ्यात्वसे है। जो मै नहीं उसको मैं मानना अहंकार है। अनहं अहं करोति

इति अहंकारः, जो मैं नही हू उसे मैं कर डालना । तो अहकार और मानका घनिष्ट सम्बध है । मानकषायका वेग उन्ही पुरुषोके आता है जिनके देहमे आत्मबुद्धि है । वहाँ मान कषाय सम्यग्दृष्टिके भी जगता, मगर उसका तीव्र वेग मिथ्यात्व हुए बिना नही बन पाता । तो जो पुरुष मानके वशीभूत है उन पुरुषोकी निगाहमे सच्चा प्रकाश नही रहता । इस जीवनमे सबसे प्रमुख विशेषता यह होनी चाहिए ऐसा अभ्यास बनाये कि सब जीवोमे उनका सहज आत्म-स्वरूप नजर आने लगे । दोषकी बात तो बादमे नजर आयी । वह नैमित्तिक है, औदयिक है, परभाव है । इसके स्वरूपमे यह बात नही पडी है, पर सब जीवोमे वही स्वरूप है जो मुझमे स्वरूप है । इस दृष्टिका आना कल्याणार्थीको बहुत ही आवश्यक है । जिसके मान भाव है उसके यह दृष्टि नही बन पाती ।

अभिमानी पुरुषके धर्मविनाश व पापसंचय—अभिमानी पुरुष अपने धर्मका नाश कर डालता है । अपना धर्म क्या है ? चैतन्यस्वरूप, और उसरूप अपनेको मानना, यह बुद्धि अभिमानमे नही रहती है । तो जो अपने आपका विघात करे वह कषाय अपना हितकारी कैसे हो सकता ? यह जगत सब मायारूप है । जो कुछ दिख रहा है सब माया है, मायाका प्रयोग अन्य लोग भी करते, ब्रह्म है, माया है, मिथ्या है, पर मिथ्याका क्या स्वरूप है ? मायाका स्वरूप है—जो दो पदार्थोंके संयोगमे बना हो उसका नाम है माया । जो अकेला न हो, किन्तु अनेक पदार्थोंके सम्बंधसे बना हो वह सब माया कहलाती है । अब आप नजर डालिये कि जो कुछ आपको दिख रहा है वह अनेक द्रव्योका सयोग दिख रहा या कोई केवल एक द्रव्य दिख रहा । जो ये पिण्ड नजर आ रहे सो अनन्त परमाणुओका पिण्ड नजर आ रहा । पशु-पक्षी मनुष्य जो नजर आ रहे सो जीव और शरीर कर्मका पिण्ड नजर आ रहा तो यह सब मायारूप है । अभिमान करने वाला पुरुष किसको जताना चाहता है कि मै ऊँचा हू । इसका उत्तर उससे पूछो—इन लोगोको जताना है कि मै बडा हू तो ये लोग आपके भविष्यके निर्माणकर्ता है क्या ? क्यो जताना चाहते ? इनके कुछ समझ लेनेसे उसका कुछ भला होनेका है क्या ? व्यर्थ है अपनी उच्चता दिखाना । धर्मके प्रसगमे यदि कोई अपनी उच्चता दिखानेका भाव रखता है तो उसे कहते हैं अनन्तानुबधी मान । और और प्रसगोमे व्यापारमे गृहस्थीमे किन्ही अन्य घटनावोमे कुछ भाव आ जाता है अपनेमे उच्चपनका तो वह अनन्तानुबधी मान हुआ । चाहे न हो, पर धर्म प्रसंगमे जो अपनी उच्चताका भाव रखता है और दूसरेको तुच्छ समझता है वहाँ अनन्तानुबधी मान है । चारो कषायोमे यह ही बात है व्यापार करनेमे, घर गृहस्थीमे क्रोध आता रहता है, पर धार्मिक कोई अनुष्ठान करतेमे क्रोध आये और ऐसी क्रोधकी प्रकृति रहे और धार्मिक अनुष्ठानके आश्रयसे ही क्रोध करे तो

वह अनन्तानुबधी क्रोध होगा। माया और लोभसे धार्मिक प्रसगमे यदि कपट व्यवहार करे तो वह अनन्तानुबधी माया है, मिथ्यात्वके सहचारी है। धार्मिक प्रसगमे यदि लोभ आये अपनी सामर्थ्य होते हुए भी तो वह अनन्तानुबधी लोभ है। अन्य अन्य स्थानोमे कषाय जग जाय तो उसके मेटनेका उपाय धर्मस्थान है, पर धर्मस्थानके सहारे कोई कषाय जगाये तो उसके मेटनेका और क्या स्थान हो सकता है। तो यह मान कषाय, आत्मधर्मका नाश कर बैठता है। और इस अभिमानके कारण निरन्तर पापकर्मका सचय होता रहता है।

जहाँ दुसरोसे अपनेको अधिक जतानेका भाव आया है वहाँ पुण्यभाव कहाँ रहा? वह पुरुष तो पापरसको और आगे बुलाता है। अभिमान करने वालेका कोई साथ नही निभाता। भले ही कोई पुरुष उससे कुछ प्राप्त होता हो तो उस लोभमे आकर उसे निभा ले, पर लक्ष्य भी न हो और फिर भी अभिमानी पुरुषका कोई साथ-निभाये, ऐसा कभी नही देखा जाता। तो अभिमानी पुरुष दुर्भाग्यको अपने निकट बुलाता है और जो कार्य अच्छे प्रारम्भ किये उन प्रारम्भ किए हुए कार्योंको भी नष्ट भ्रष्ट कर देता है। कुछ भी रचना की, साहित्य रचना की, व्यापारकी बात, भोजन आदिककी बात कुछ भी चीज बनायी और क्रोध आ जाय तो वह अपनी बनायी हुई चीजको भी नष्ट कर देता है, और वह क्रोध मानवश, मानमे आकर वह अपना भी बिगाड करता और दूसरेका भी। कहाँ तक बात कहियेगा? ऐसा कौनसा दोष है जिसे अभिमानी पुरुष न कर सके। अपने मानकी रक्षाके लिए लौकिक जन जान जायें इसके लिए वह सब कुछ करनेको तैयार रहता है।

मानविजयसे मानवकी श्रेष्ठता—चार गतिया है और चार ही कषाय है। नरकगति मे क्रोध कषाय मुख्य है, उनका काम है लडना भिडना, मारना मरना। उनका क्रोध कषाय मुख्य रहता है। तिर्यञ्चगतिमे माया कषाय मुख्य रहती है। अब देखिये—माया कषायकी प्रबलतासे तिर्यंचगतिमे जन्म होता है, पर देखा यह जाता कि उन तिर्यंचोके मायाका भाव तो बहुत तेज रहता है, मगर मायाका कोई व्यवहार अधिक नही कर पाता। कुछ ही जानवर है ऐसे जो अपनी मायाका व्यवहार रचते है। जैसे छिपकली, बिल्ली, कुत्ता आदि कुछ जानवर है ऐसे जो माया कपटका व्यवहार रचते है, और है सबके अन्दर मायाकी विशेषता, पर उनकी रचना ही इस प्रकार है कि वे माया कपटका खिलाफ व्यवहार नही कर पाते, पर भीतरमे मायाका संताप बना रहता है। इस छिपकलीका नाम यदि कुछ उसकी वृत्तिको देखकर सोचे तो उसका नाम रखना चाहिए छिपकर ली, जो अपना शिकार छिपकर ले सो छिपकली। बडी शान्त पडी रहती है भीत पर, जैसे कि मानो कुछ हो ही नही, एक मरीसी पड़ी रहती और थोडा निकटमे कोई मक्खी, मच्छर या कीडा कीडी गिर जाय तो एकदम

उसे खा जाती है । अब जल्दी-जल्दी बोलनेमे र नही बोला जाता तो उसका नाम पड गया छिपकली । बिल्ली भी कैसा मायाचार करके अपना शिकार करती है । तो मायाचार प्रधान है तिर्यञ्चमे । और लोभकी प्रधानता है देवगतिमे । लगता है ऐसा कि लोभकी प्रधानता मनुष्योमे है, लोभके पीछे ही मर रहे, पर ऐसी बात नही, चिन्तन करें तो मनुष्योसे अधिक लोभ देवोमे पाया जाता, और मनुष्योमे मान कषायकी मुख्यता है । मनुष्य लोभ करत, तृष्णा करते तो केवल इस दृष्टिसे करते कि लोगोके बीच मेरी प्रतिष्ठा बढे, मैं बडा धनिक कहलाऊँ, लोग समझ जायें कि हाँ यह भी लखपति करोडपति है । तो मनुष्योके लोभका भी प्रयोजन मान कषाय है । तो यह मान कषाय यदि मनुष्योसे जीती जा सके तो वे मनुष्य सन्मार्गमे बढ सकते है ।

माने कृते यदि भवेदिह कोपि लाभो यद्यर्थहानिरथ काचन मार्दवे स्यात् ।
ब्रूयाच्च कोपि यदि मानकृत विशिष्ट मानो भवेद्भुवभृना सफलस्तदानी ।।४६।।

मान करनेपर लाभका अभाव व नम्रता करनेपर हानिका अभाव—इस छदमे यह बतला रहे कि भाई मानके करनेपर यदि कोई लाभ होता हो तो बताओ ? आत्माके लाभकी बात पूछो जा रही है । मान बढ गया मान लो इस देशकी जनतामे, इस देशकी सारी जनता ने इसका नाम जान लिया तो इतने मात्रसे याने दूसरे पदार्थके इस परिणमनसे इस आत्माको कौनसा लाभ मिला ? इसका आनन्द बढा या पवित्रता बढी या मोक्षमार्ग मिला । कुछ भी लाभ नही होता । और मार्दवपरिणाम यदि करे, नम्रतासे रहे, अपना उच्चताका भाव न बनाये तो इसके कौनसे प्रयोजनकी हानि हो गई ? बाह्य पदार्थोंकी कुछ भी परिणति हो उससे आत्माको कोई लाभ-हानि नही है । हाँ यदि अपना श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बिगड़े तो हानि है और श्रद्धान, ज्ञान, आचरण उज्ज्वल बने तो हमारा लाभ है । तो यदि इस ससारमे अभिमान करनेसे किसी तरहका लाभ होता हो और नम्रता करनेसे कोई हानि होती हो तब तो मानकी बात करनेकी सोची जाय ।

मानकी निरर्थकता—मानसे हानि और नम्रतासे लाभ होता ह । कोई अभिमानी अपनी प्रशंसा करता हो । तो मान करने वालेने तो अपनी प्रशंसा भी खो दी और जो नम्रता से रहे, उसकी कोई निन्दा करता हो तो बताओ । तो जब मान करनेसे कोई लाभ नही और मान न करनेसे कोई हानि नही, तब मान करना बिलकुल निरर्थक है । समाजमे, घरमे झगड़े का प्रधान कारण मानकषाय है । नही तो जिस धर्मका हम आप प्रचार करते है वह तो प्रभु का धर्म है और उस धर्मकी प्रभावना करनेके लिए हम आपकी उमंग है । तो जितना बने उतनी प्रभावना करें, मगर वहाँ कोई काम बिगडता हो तो हम आप क्यो लडें ? लडे तो

महावीर भगवान लड़ें (हसी)। देखिये--यदि कुछ ज्ञानप्रकाश किसीको जगा हैं तो समाजमे रहनेके नातेसे जितना बने उतना समाजका उपकार करें। उपकार करने पर भी यदि कोई उपकार नही मानता और विपरीत होता तो उससे यही कहे कि भाई हम क्या करें, हमसे अधिक उपकार करते नही बनता, पर किसी भी प्रसंगमे मान कषाय करना और दूसरोको नीचा दिखानेका भाव रखना यह मोक्षमार्गीकी आदत नही हुआ करती। उसका तो एक निर्णय बन गया कि मुझे दुनिया जाने तो क्या, न जाने तो क्या, मेरी दुनिया मेरे आत्मामे है। यह ही मेरा लोक है, यह ही मेरा परलोक है। जो कुछ है सो मेरी जिम्मेदारी पर मुझे है। उसके मान कषाय नही बनता।

मानी विनीतिमपहत्य विनीतिरगी सर्वं निहंति गुणमस्तगुणानुरागः।
सर्वपदां जगति धाम विरागत. स्यादित्याकलय्य सुधियो न धरति मान ॥४७॥

मान कषायसे विनय व कृतज्ञताका विनाश—मानी मनुष्य न्यायवृत्तिको छोडकर अन्यायमार्गमे, कुमार्गमे फस जाता है। क्योकि उसका एक ही ध्येय रह जाता कि चाहे किसी को नुक्सान पड़े, किसीका अपमान हो, पर मेरा नाम रहना चाहिए। नाम एक बहुत बुरी समस्या है। बौद्ध दर्शनमे तो जहाँ आश्रवके कारण बताया है वहाँ सर्वप्रथम नामको गिनाया है। वेदना, विज्ञान आदिक बादमे कहे गए। तो इस नामके सहारे कितनी ही प्रकारकी अनीतियाँ हो जाती है। सो मानी पुरुष न्यायको छोडकर अन्याय मार्गमे फस जाता है और कुमार्गमे फस जानेसे उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते है। किसी आदमीको खूब अच्छा भोजन करा दो बढिया व्यंजन बनाकर और उसके बाद उसको यदि कह दो कि कहो आज कैसा भोजन खाया आपने ? ऐसा तो कभी आपके बापने भी न खाया होगा तो उस खाने वालेकी ऐसी भावना हो जायगी कि यदि वह सब किया हुआ भोजन कम हो जाय तो अच्छा है। देखिये—सब कुछ उपकार किया, पर एक अभिमान भरे वचन बोल दिया तो सब किया कराया मिट्टी हो जाता है। यह तो बात घरकी है और समाजमे तो और भी सावधानी रखनेकी जरूरत है। घरमे भी उपकार करके अभिमानकी बात न करें और जन समाजमे, जनतामे, देशमे भी उपकार करके अभिमान करनेकी बात न करे। घरमे अभिमान करनेसे तो कही वह देशमे लोगोकी निगाहसे तुरन्त गिर जायगा।

मानके कारण गुणोका दहन हो जानेसे सब आपदावोका भार—मान कषाय इतना अहकार विष है कि मान करनेसे उसके सारे गुण नष्ट हो जाते हैं। उसने कितना ही उपकार किया हो, लोगोमे उसके प्रति कृतज्ञता आनी चाहिए, पर इस मान कषायके जगनेपर प्रायः लोगोमे उसके प्रति कृतज्ञताका भाव दूर हो जाता है। उसके गुण फिर लोगोको नही दिखते।

और जब गुण भस्म हो जाते है तो संसारमे सारी विपत्तियोका स्थान बन जाता है। जैसे मानो प्रजातंत्र राज्यमे कोई देशका प्रधान बन गया हो और उसने देशकी भलाईके लिए कितने भी कार्य किया हो, पर जब उससे कोई ऐसा कार्य बन जाता कि जिससे जनताको अतीव कष्ट होने लगता और अन्याय होने लगता और उसकी सब सूझ बूझ खत्म हो जाती तो उस समय वह जनताकी दृष्टिसे तो गिर गया, पर अभी तक शासन है सो कोई कुछ कर सकता नही, पर जब कभी शासनमे वह नही रहता याने उसका शासन नही चलता तब फिर उसका कितना अधिक पतन हो जाता है। अभिमानी पुरुषके फिर उन गुणोको भी सोचने वाला कोई नही रहता कि इसने देशको कितना विशाल बना दिया था। ऐसी ही सभी जीवोकी बात है। तो अभिमान कितना भयकर विष है कि जिसके होनेपर फिर लोगो के चित्तसे वह बिल्कुल उतर जाता है, फिर उस पर सारी विपत्तियाँ आने लगती है। उसके विरुद्ध कार्यवाही होती है और उन पर अनेक तरहके संकट आने लगते है। ये सब बातें अभिमानी पुरुष पर बीतती है। तो जिस व्यर्थके मान कषायके कारण सारी विपत्तियाँ आती है उस मानकषायको विवेकी पुरुष नही करता। इन कषायोके ऐसे सुन्दर नाम है कि उनको अगर उल्टा पढा जाय तो कषाय मेटनेका उपाय नजर आने लगता है। जैसे रोष (क्रोध), मान, माया और लोभ, इनका उल्टा करो। सरो—यदि क्रोधको छोड दिया जाय तो काम सरेगा अर्थात् बनेगा। नमा—याने नम जावो तो भला हो, यामा याने यह कुछ है ही नही मेरे लिए ऐसी दृष्टि बन जाय तो बस उसका भला हो जाय। भलो—याने लोभ कषाय न रहे तो उसका फिर भला ही भला है। इस प्रकार चारो कषायोके नाम जो दिए है उनको उल्टा करके पढ़ने पर कषायोके मेटनेका उपाय समझा जा सकता है।

हीनोयमन्यजननोपहिताभिमानाज्जानोहमुत्तमगुणस्तदकारकत्वात्।
अन्यं निहीनमवलोकयतोपि पुंसा मानो विनश्यति सदेति वितर्कभाज ॥४८॥

अभिमानका फल हीनता जानकर हीन जनोके प्रति अभिमानकी अवृत्ति—जब कभी लोकमे छोटे कहलाने वाले दरिद्र, भिखारी आचरणसे गिरे हुए छोटे लोग नजरमे आने लगते तो उनको देखकर यह चिन्तन होना चाहिए कि इन जीवोने पिछले भवोमे अभिमान किया था इससे ये नीच बन गए है। अभिमानका फल है नीच बन जाना, और मैंने पिछले भवोमे अभिमान नही किया था इसलिए मैं उत्तम बन गया, बडा बन गया, अच्छे संगमे आ गया। अब यदि इस तुलनाको देखकर कोई अभिमान करने लगे तो उसका फल यह है कि ऐसा नीचा बनना पड़ेगा। तो छोटे मनुष्योको देखकर तो अभिमान नष्ट होनेका मौका है न कि अभिमान करनेका, उनको देखकर तो यह ध्यानमे आना चाहिए कि इन्होंने अभिमान किया

था इस कारण ये नीच बन गए। यह है अभिमानका फल। ऐसा जो निरखता है वह कैसे अभिमान कर सकता? तो छोटे लोगोको भी देखकर विवेकी जनोके हृदयमे मान कषाय नही जगती।

सर्व आत्मावोके सहजात्मस्वरूपका परिचय होनेसे ज्ञानीके अहंकारका अभाव—मूल बात यह है कि जिसको आत्माके सहजस्वरूपका परिचय हुआ है वह सर्व आत्मावोमे इस ही स्वरूपको निरखता है। सो जब सब जीव मेरे ही समान है, भगवत्स्वरूप है तो मान करनेका अब कहाँ अवकाश रहा? मान होता है तब ही जब कि दूसरोको तुच्छ समझे और अपने आपमे बडप्पनका आशय रहे। मगर सहज आत्मस्वरूपका परिचय कर लेने पर वहाँ तुच्छपनेका और अपने महानपनेका आशय नही रहता। फिर इस विवेकीके मान कषाय नही जगता। जीवनमे उतारने लायक यह बात है कि घरमे भी मान न करें, काम अच्छे करें, उपकारके काम करें, पर मान न करें। समाजमे, देशमे, पुरा पडौसमे भी काम अच्छे करें, पर उनको करके अभिमान न करें। अन्यथा सब कुछ सबका भला कर दिया, पर मानकषाय जग जानेपर वह सबकी दृष्टिमे गिर जाता है, और जब गिर गया तब लोगोके सहयोगसे वह हाथ धो बैठता है। एक बात और भी देखिये—मानकषायकी बात सभा सोसायटियोमे कोई बोल भी नही सकता। बडीसे बडी सेवा करने वाला भी अगर सभाके बीचमे भाषण दे तो वह मैं मै की बात न कर पायगा, और अगर करता है तो समझो कि उसकी बुद्धि खराब है और उसमे मूढता आयी है। सब कुछ बना देने पर भी वह यह ही तो कहेगा कि भाइयो, आप सबकी कृपासे यह काम बन गया, मैंने कुछ नही किया, ऐसा कहता है तभी उसकी इज्जत रहती है और यदि वह यह कहे कि देखिये—आप लोग यहाँ वहाँ भटकते फिर रहे थे, दुःखी हो रहे थे, पर मैंने आप लोगोकी सुविधाके लिए यह काम कर दिया, धर्मशाला बनवा दिया···ऐसा यदि बोल दे तो समझो कि उसका धन भी लगा, श्रम भी किया, पर उसकी सब बात खराब हो गई। तो जो बात चार आदमियोके बीच बैठकर बोली नही जा सकती वह भाव तो खोटा ही है। इस प्रकारका खोटा भाव करना ही न चाहिए। तो जो पुरुष मान कषायसे दूर रहते है वे इस लोकमे भी सुखी है और आत्माके स्वभावकी दृष्टि करनेके वे पात्र बने रहते है।

गर्वेण मातृपितृबांधव मित्रवर्गाः सर्वे भवति विमुखा विहितेन पुंसः।
अन्योपि तस्य तनुते न जनोऽनुराग मत्वेति मानमपहस्तयते सुबुद्धि. ॥४६॥

मानी पुरुषके प्रति कुटुम्बी मित्रवर्ग व अन्य जनोका अननुराग—मानके कारण माता पिता, बंधु, मित्र सभी इस मानकर्तासे विमुख हो जाते है। किसीको दूसरेका मान

देखना पसंद नही। सम्मान देखना तो पसंद है, पर वही पुरुष यदि मान कर रहा हो तो वह नही देखा जाता, और यही कारण है कि घरमे यदि कोई मान कर रहा है तो माता-पिता भी उस मानी पुत्रसे विमुख हो जाता है। नाता कब तक है जब तक प्रीति है, राग है। जब राग नही रहता तब नाता नही रहता। चाहे वह कषायवश नाता टूटे चाहे वैराग्य से नाता टूटे, जब राग नहो, मोह नही तब वह नाता नही रहता। जैसे आजकल लडकियो के विवाहमे लडकेके माता-पिता या खुद लडका बहुत-बहुत दहेज ले लेते हैं, कहकर लेते, माँग कर लेते, तग करके लेते, तो चाहे बेटी वाला होनेसे प्रीति करे, परन्तु हृदयसे प्रीति फिर नही रहती। ऐसे ही कोई मान करे तो मान करने वालेसे भी हृदयसे प्रीति नही रहती। और मित्रता भी तब ही तक टिकती है जब तक परस्परमे कोई एक घमड नही करता। दो मित्र है, एक साथ चलते है, उनमे अगर एक मित्र मान करने लगे और दूसरे मित्रमे अपना अपमान जाहिर करने लगे या सभाओमे या किन्ही गोष्ठियोमे अपनेको ऊँचा जाहिर करे, ऊँचे आसनमे बैठे, उसे पूछे नही, किसी तरह उसे जच जाय कि यह मान कषायमे आ गया है और मुझे तुच्छ मानता है तो फिर मित्रता नही ठहरती। मान कषाय इतनी बुरी चीज है। तो जब घरके ही कुटुम्बीजन विमुख हो जाते मानी पुरुषसे अन्य पुरुष तो अनुराग करेंगे ही क्या ? मानीसे प्रत्येक पुरुष घृणा करने लगता, इस कारण जो बुद्धिमान पुरुष है वे कभी भी मान नही करते।

आयासकोपभयदु.खमुपैति मर्त्यो मानेन सर्वजननिंदितवेषरूप.।
विद्यादयादमयमादिगुणाश्च हित्वि ज्ञात्वेति गर्ववशमेति न शुद्धबुद्धि ॥५०॥

मानीके मानसिक व क्रोधकृत दुःखोकी बहुलता—मानके कारण मनुष्य मानसिक क्लेशोको प्राप्त होते है। आत्मस्वरूपकी जिन्हे खबर नही, देहको ही जो आत्मा मानते है, दूसरे देहको भी दूसरा आत्मा मानते है ऐसे पुरुष लोकमे अपना मान चाहते है, मानके लिए अनेक यत्न करते है, सो जब मान सम्मान चाह रहा है उस समय भी मनमे पीडा है और उस मानकी बात बनानेके लिए जो प्रयत्न करता है उस समय भी मानसिक पीडा है, और जिस समय लोगोने मान शुरू कर दिया, इसको बड़ा मानना प्रारम्भ कर दिया, इसकी आज्ञा मे रहते है, इसके हाथमे देशकी बागडोर आ गई। बडा मान मिल गया उस समय भी दुःख और कदाचित् यह बागडोर हाथसे चली जाय और साधारण आदमी ही रह जाय तो उस समय भी मानसिक दुःख। तो मानके कारण सदैव मानसिक दु.ख होता है, मानके ही कारण क्रोध प्रबल बनता है। जहाँ अपनी प्रतिष्ठा लोकमे गिरते देखा वहाँ क्रोध जग जाता अथवा मान प्रतिष्ठा होने पर दूसरोके प्रति जरा-जरासी त्रुटि होनेपर इसे क्रोध आने लगता है।

क्रोधका मुख्य कारण मनुष्यगतिमे तो मान है। नरकगतिमे भले ही मानकषायके कारण क्रोध नही आता, स्वतः आता ही रहता है। जन्मजात वैरसा बना रहता है, पर मनुष्योमे जिनको भी क्रोध जगता है उनको मान कषायके ही कारण क्रोध जगता है। घरमे क्रोध आता है तो मानके कारण आता है। किसीने कोई बात न माना, अब जान रहे कि मैं इनमे बडा हू मेरा यहाँ अधिकार है, तो क्रोध आने लगता है। आपसमे झगडेका भी मुख्य कारण मान कषाय है। देवरानी जेठानीमे क्रोध बन गया बहुत तो आप घटना जानेंगे तो यह पता पडेगा कि दोनोमे मान कषाय बनी है इस कारण क्रोध जगा है। इसने ऐसा क्यो कह दिया ? यह हमारा हुक्म क्यो नही मानता ? कुछ न कुछ मानकी बात है तब क्रोध जगता है। तो जिस पुरुषके मान जग रहा है, उसका उपयोग तो परकी ओर हो ही गया। अब स्वकी सुध कैसे ले ? और स्वकी सुध न लेना। यही सबसे बडी विपत्ति है। इसीको भटकना कहते है। पर परपदार्थ ही उपयोगमे रह जायें इसीके मायने है आत्माका भटकना। कोई तेज दौड लगानेको भटकना नही कहते। एक ही जगह बैठे है, मगर जगह-जगह उपयोग जा रहा है, अपने आपमे उपयोग नही आता, तो इसको कहते है कि भटक गया। तो ये सारी आपत्तियाँ मानसे उत्पन्न होती है।

मानीके भय और विविध दुःखोका उद्भव—मानके कारण भय होता है। मैं इतना बडा हो गया हूँ। कही मेरे बडप्पनमे हानि न आ जाय। कही कोई दूसरा मेरेको कुछ हल्की बात न कह दे। कभी कोई मुझे इस पदसे न उतार दे आदिक अनेक भय जगने लगते है जिसके मान कषाय है। एक दृष्टान्त है लालबहादुर शास्त्रीका। वह रेलमत्री बन गए थे। और केवल एक दुर्घटना हुई तो तत्काल कह दिया कि मै इस लायक नही हूँ जो इस पदको निभा सकूं, प्रधानमत्री होनेपर यदि कोई घटना हुई तो तत्काल कह दिया कि मैं इस पदको निभाने लायक नही हु। तो ऐसे पुरुष तो बिरले ही होते है, मगर जिसको जो पद मिला उस पदमे वह चिपका रहना चाहता है। चाहे अन्याय हो, मायाचार हो चाहे किसी पर अत्याचार करना पडे, पर वह अपना पद नही छोडना चाहता। तो यह क्या है ? यह है उसकी मान कषाय। इस मान कषायसे सदा दुःख है। लोग तो सोचते है कि ये बडे लोग, धनिक लोग या बडे पद पर पहुचे हुए लोग बडे सुखी है, पर वे कोई सुखी नही है। जरा कुछ दिन उनके निकट रहकर देख लो, वे तो बडे दुःखी है। सुखी शान्त होनेका उपाय वह है ही नही। सुखी शान्त होनेका उपाय तो सहज आत्मस्वरूपका ज्ञान ही है, अन्य कोई न हो सका, न है, न होगा। यह तो एक गणितका जैसा हिसाब है सही निमित्तनैमित्तिक भाव है। यदि मछली उछलकर पानीसे बाहर कही रेतमे गिर जाय तो वह मछली व्याकुल होती

है। व्याकुल होना ही पडता है उसे शांति नही प्राप्त होती ऐसे ही यह आत्मा अपने ज्ञानबल से फिरकर दूर बाहर पर पदार्थों में गिर जाय इसका उपयोग पर पदार्थोंमे लग जाय तो सिवाय अशान्तिके दूसरा उसका फल है ही नही। परका आश्रय करके कोई शान्ति चाहे तो शान्ति मिलना असम्भव है। जैसे सूईके छिद्रसे ऊँटका निकलना असम्भव है।

जितने भी जीव प्रभु हुए, मुक्त हुए वे सब परका आश्रय छोडकर ही हुए, सदाके लिए शान्त हुए। तो हम भगवानकी पूजा करें, वंदना करें, दर्शन करें, भक्ति करें और भगवानके बताये हुए मार्गको मानना ही न चाहे तो उसे भक्तिका रूप कहा जा सकता क्या? नही कहा जा सकता। जैसे—मान लो कोई पिताकी खूब शारीरिक सेवा करे, खूब हाथ-पैर दबाये, पर उसे खाने-पीनेको न पूछे उसकी आज्ञा न माने जरा-जरासी बातमे उस पर झुझलाता फिरे तो वह उसकी भक्ति कहलायगी क्या? ना कहलायगी। ऐसे ही प्रभुकी भक्ति तो कोई बहुत-बहुत करे, पर उनकी आज्ञा न माने तो वह प्रभुकी भक्ति न कहलायगी। मान कषाय वालेको गुण कैसे प्राप्त हो सकते है? वह तो स्वयं ही अपनेको भगवानसे कम नही समझ रहा। वह सन्मार्ग नही पा सकता। तो मानमें इतना अनर्थ है।

आबालगोपाल सभीके दुःखोका मूल प्रायः मान कषाय—जितने भी दु.ख होते है मनुष्योको वे करीब मान कषायके वश होते है। छोटे-छोटे बच्चोंकी भी हालत देख लो वे भी मानकषायसे दु.खी होते रहते है। कोई छोटा बच्चा माँ की या किसीकी गोदमे बैठा हो और उसे नीचे बैठा दे तो वह बच्चा रोने लगता। क्यो रोता? इसलिए कि वह यह समझता कि मैं अभी इतना ऊँचे चढ़ा था, अब मुझे नीचे जमीनमे पटक दिया तो इसमे अपना अपमान समझकर वह रोने लगता है। मान लो किसी बच्चेको लेकर उसके माता-पिता किसी सभामे पहुच गए और उस बच्चेके मनमे आ जाय कि अब तो मुझे घर जाना चाहिए, पर माता-पिता घर नही जा रहे, वही सभामे बैठे रहे तो वह रोने लगता है। वहाँ वह यह समझता कि ये मेरे माता-पिता मेरा कहना नही मानते, सो इसमे अपना अपमान महसूस कर वह रोने लगता है। तो हर जगह देख लो, क्या नेताजन, क्या साधुजन, क्या गृहस्थजन जो जो भी दुःखी होते वे इस मान कषायके कारण पद-पदपर दुःखी होते रहते हैं। एक बार रुड़कीमे मेरे एक सहपाठीने मुझसे कहा—महाराज आजकल जो बड़े बड़े मुनियो को भी गुस्सा आते देखा जाता तो उसमे मूल कारण क्या है सो यदि आप कहो तो मैं बताऊँ? तो मैने कहा—हाँ हाँ बताओ तो सही, पर मैं तो बतानेसे पहले ही समझ गया कि आप क्या कहना चाहते? तो फिर वह बोले—हाँ आप समझ तो गए होगे पर मेरे मुख से भी सुन लो। तो कहा—अच्छा सुनाओ। तो वह बोले—आजकल मुनि लोग अपनेको

मानते कि मैं मुनि हू, ऊँचा हू, पूज्य हू और ये श्रावक लोग नीचे है, ये मेरे भक्त हैं, पुजारी है, इनको मेरी आज्ञामे रहना चाहिए'' पर वैसा जब देखनेको नही मिलता तो वे पद-पद पर क्रोध कर बैठते और दुःखी होते। तो हमने कहा—ठीक है। देखिये कोई भी मनुष्य दुःखी हो उसमे उसका मूल कारण है मान कषाय।

मानसे विद्या विनय दया आदि सब गुणोका विनाश—मान कषायसे अभिभूत हो जाना यह सबसे बडी एक कमजोरी है। मानके वश होकर यह जीव बडे-बडे निंदित कार्य भी कर डालता है, विद्या दया आदिक गुणोसे भी वह हाथ धो बैठता है। गुरुजी एक घटना सुनाते थे कि कोई एक लाठी चलानेकी विद्या सिखाने वाला गुरु था। उसने कई शिष्योको इस कलामे निपुण बना दिया। एक बार कोई एक नवयुवक शिष्यके मनमे आया कि मुझे तो गुरुजी से ही लाठी चलाकर उनपर विजय प्राप्त करनी चाहिए। अब गुरु तो था बेचारा बुड्ढा और वह शिष्य था, खूब हृष्ट-पुष्ट नवयुवक। उसने गुरुको भी नीचा दिखाना चाहा सो बोला—गुरुजी हम तो अब आपसे ही लट्ठ चलायेंगे, देखेंगे कि कौन जीतता है? अपने ही शिष्यके मुखसे यह बात सुनकर गुरु दग रह गया, मगर बोला—ठीक है बेटा, कोई बात नही। चला लेना हमसे लट्ठ। आजके १० दिन बादकी तिथि इसके लिए निश्चित कर रहा हू। इन दस दिनोमे तुम भी अपनी तैयारी कर लो। ठीक है। अब गुरुने क्या किया कि कोई १०-१५ हाथका बांस मगाया और अपने द्वार पर खडा कर लिया। उधर शिष्य इस ताकमे रहा करता था कि देखें तो सही कि गुरु जी अपनी किस तरहकी तैयारी कर रहे है, उससे बढकर तैयारी मैं करूंगा। सो शिष्यने जब देखा कि गुरुजी ने १०-१५ हाथका बाँस हमसे लडनेके लिए मगाया है तो उसने कोई २५ हाथका बाँस लाकर अपने द्वार पर खडा कर लिया, क्योकि गुरुसे बढकर तैयारी करनी थी ना? प्रतिदिन उस बाँसमे तेल लगाये, उसे ठीक करे। जब लडनेका दिन आया तो वह अपना वही २५ हाथका बाँस लेकर आया और गुरु वही तीन साढ़े तीन हाथकी लकडी लेकर आया। अब भला बताओ कैसे वह उस उतने बडे बाँससे लडे, उसका घुमाया ही न घूमे, और गुरुने उसे छोटी लकडीसे ही परास्त कर दिया। तो देखिये—मानकषायके वश होकर वह शिष्य अपनी विद्या भी भूल गया। उसके दिमागमे यह बात न आयी कि इतने बडे बाँससे मै कैसे लड सकूगा? मानके वश होकर विद्या भी नही रह पाती। इस मान कषायके रहते हुए कोई अपना आत्महित भी नही कर सकता। आत्महित चाहने वालोको तो यह मान कषाय दूर ही कर देना चाहिए, क्योकि मान कषायके रहते हुए आत्मविद्या टिक नही सकती। आत्मविद्या पाये बिना जीवका कल्याण हो नही सकता।

स्तब्धो विनाशमुपयाति नतोऽभिवृद्धि मर्त्यो नदीतटगतो धरणीरुहो वा ।
गर्वस्य दोषमिति चेतसि संनिधाय नाहं करोति गुणदोषविचारदक्षः ।।५१।।

दृष्टान्तपूर्वक मानीके विनाशका व नम्रके अविनाशका कथन—इस छंदमे एक दृष्टांत दिया है कि जैसे नदीके किनारे पर सीधा लम्बा खडा हुग्रा कोई वृक्ष हो तो उस नदीके वेग के या नदीके जलसे कट-कटकर वह गिर जाता है, पर नदीके किनारे जो छोटी-छोटी घास लगी होती है वह घास कभी नष्ट होते नही देखी गई । वेग ग्राता तो भी नम जाती, मगर बहुत कम उखडती हुई देखी गई, पर ऊँचे लम्बे मानी वृक्ष जो इतने ऊँचे लम्बे उठ गए है वे नदीके किनारे टिक नही पाते इसी प्रकार जो ग्रहंकारसे दूसरेसे नही नमता है वह पुरुष ससारमे नाना कष्ट पाता है ग्रौर नम्र होने वाला यह यश कीर्ति गुणोको प्राप्त करता है । यह तो है लौकिक बात, पर जो नम्र होगा वह अपने ग्रात्माकी ग्रोर ग्रा जायगा ग्रौर जो कठोर परमे ग्रपनी जान लडाने वाला होगा वह ग्रपनी ग्रोर कहां ग्रा पायेगा ? वह तो पर-पदार्थकी ग्रोर ही ग्रपना उपयोग फसायेगा । देखो गजबकी बात कि यह उपयोग मेरे प्रदेशमे है, मेरी ही चीज है, पर दु खसे सतप्त होकर यह उपयोग मेरे स्थानको छोडकर भग गया है । यद्यपि रहा प्रदेशोमे ही मगर बाहरके बाह्य पदार्थोंमे जब यह उपयोग रम रहा है तो यह कहा जायगा कि स्थानभ्रष्ट होकर यह बाहर भटक रहा है । यह बाहर भटकने वाला उपयोग जो निरतर दुःखी ही रहा है इसका भटकना ग्रौर दुःखी होना कैसे मिटेगा ? उसका उपाय है कि यह नम्र बनकर ग्रपने ग्रापके स्थानमे ग्रा जाय ।

स्वधामसे जुदे हुए उपयोगका परसे निवृत्त होकर स्वधाममे ग्रानेपर ही शान्तिकी संभूति—जैसे समुद्रका पानी सूर्यकी तीव्र किरणोसे सतप्त होकर भापके रूपमे उडकर अपने स्थानको छोडकर ग्राकाशमे भटकने लगता । वह बादल क्या है ? वह समुद्रका भाप ही है । ग्रब वह पानी मेघके रूपमे स्थानभ्रष्ट होकर ग्राकाशमे यत्र तत्र डोलता है । जहाँ वायुका झोका लगा उसी तरफ दौड गया । ग्रब यह बादल भटकता रहता है । सुयोगसे जैसा वर्षा ऋतु ग्रादिकमे उसमे कुछ गीलापन ग्राया, कठोरताको छोड दिया तो वह मेघ ग्रौर गीलापन ग्राकर वह बदल जाय, नीचे गिर जाय ग्रौर उसे नीची गली मिलती ही है सब गलियोसे तो नम्र गलीसे चलकर ग्रपने स्थानमे ग्रा जाता है । समुद्रमे ग्रा जाता है । तो पानी जब तक भ्रष्ट रहा ग्रपने स्थानसे तब तक भटकता रहा, ग्रौर नम्र होकर ग्रपने स्थानमे ग्रा गया तो वह शान्त हो गया, ऐसे ही हम ग्रापका उपयोग रूपी जल मोह राग द्वेष ग्रादिकके तीव्र ग्रातापसे सतप्त होकर ग्रपने ज्ञान सरोवरसे हट गया ग्रौर हटकर बाह्य पदार्थोंमे भटकने लगा सो जरा ही वातावरण मिला, ग्राश्रयभूत पदार्थ मिला तो वेगमे ग्राकर उसी ग्रार वह

गया । यह भटकने वाला उपयोग जब कभी थोडा नम्र बने, कुछ इसको अपने आपकी सुध आये और यह बरष जाय । तत्वज्ञानमे आ जाय और इसमे फिर विनयभाव आय, नम्रता आये तो उस विनयकी गलीसे चलकर यह अपने ज्ञानमागर आत्मतत्वमे मिल जायगा तब यह शान्त हो पायगा । तो जब तक यह मानके वश रहा, कठोर रहा तब तक सर्वत्र भटकता हीं रहा । सो जो गुण दोषके विचार करनेमे चतुर पुरुष है वे कभी भी मान नही करते ।

हीनानवेक्ष्य कुरुते हृदयेऽभिमान मूर्खः स्वनोऽधिकगुणानवलोक्य मर्त्यान् ।
प्राज्ञ परित्यजाति गर्वमतीव लोके सिद्धांतशुद्धविषणा मुनयो वदति ॥५२॥

अज्ञानी मुग्धजनोमे गर्व आनेकी प्राकृतिकता—आचार्योंका यह उपदेश है कि जो मूर्ख मनुष्य है, तत्वज्ञानसे अनभिज्ञ है वे तो इस संसारमे अपने से हीन मनुष्योको देखकर घमड करते है, अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझते है । एक अहाना सा है ना कि माने जगतमे कुल दो आँखें है जिनमे डेढ आँखें तो मेरे पास है बाकी आधी आँख जगतके सारे मनुष्योको मिली भयी है । मैं सारे जगतसे बढकर तिगुना बुद्धिमान हू, सो मूर्ख मनुष्य हीन मनुष्योको देखकर विकल्प करते है किन्तु जो बुद्धिमान मनुष्य है वे अपनेसे अधिक गुण वालोको देख कर नम्र हो जाते है । अपने से हीन तुच्छ व्यक्ति मानते है । चार भावनायें कितनी सुन्दर है । (१) सब जीवोमे मैत्रीभाव करना (२) गुणीजनोको देखकर हर्षभाव करना (३) दुखी जीवोपर दयाभाव करना और (४) अविनयी जीवोके प्रति मध्यस्थभाव रखना । जिसके मान कषाय है उसके ये चार भावनायें नही बन सकती । सब जीवोमे मित्रता तो तब रहे जब सबको अपने स्वरूपके समान मानने पर मानमे अन्तर तो नही आ सकता । गुणीजनो को देखकर हर्षका परिणाम करना यह तब ही बनेगा जब खुदमे घमड न हो । अगर घमड है तो यह तो भगवानकी भक्ति करके, पूजा करके या मनौती मनाकर तीर्थयात्रा करके महावीर जी या पद्मपुरी वगैरहमे जाकर कोई काम बन जाय तो यह समझता है कि मैंने देखो प्रभुको मना लिया, अपना काम कर लिया । प्रभु भी उतने चतुर नही है, और हम जो चाहते है सो प्रभुसे करा लेते हैं, प्रभुमे भी हमसे अधिक कोई खास अक्ल नही है । तो जो मानी पुरुष है वह तो प्रभुसे भी अधिक अपनी महत्ता समझता है, वह गुणियोको देखकर क्या प्रमोद करेगा, गुणियोको देखकर क्या दया करेगा और विपरीत बुद्धि वालोको देखकर कैसे मध्यस्थ रह सकता ? तो मान कषायसे सब प्रकार के अवगुण उसके लग जाते है । तो जो विवेकी पुरुष है वे मान कषायको दूर कर मानरहित चैतन्यस्वरूप अपने आपको अनुभवते हैं ।

जिह्वासहस्रकलितोऽपि समासहस्रैर्यस्यां न दुःखमुपवर्णयितुं समर्थः ।
सर्वज्ञदेवमपहाय परो मनुष्यस्तां श्वभ्रभूमिमुपयाति नरोऽभिमानी ।।५३।।

अभिमानवश प्राप्त नरकवासके दुःखोके वर्णन करनेकी हजार जिह्वावोंसे भी अशक्यता—अभिमानी पुरुष अपने अभिमान दुर्गुणके कारण नरकभूमिको प्राप्त होता है। सो उस नरकभूमिमे कितना दुःख है उसका वर्णन करनेके लिए वह भी समर्थ नही हो सकता जिसके हजारो जिह्वायें हो। सर्वज्ञदेवको छोडकर और कोई मनुष्य उस नरकके दुःखका ज्ञान नही कर सकता। तो सर्वज्ञदेव भी मात्र ज्ञाता रहते नही तो उनको बडा कष्ट हो। वे केवल ज्ञातामात्र रहते है। जैसे कहीं नदीके किनारेपर खडे हुये वहाँ पडी हुई रेतको एक निगाहसे देख लेते है, पर उसे गिन नही पाते कि इसमे कितने कण है। एक मुट्ठीभर रेत भी नही गिन सकते। उसकी भी बहुत संख्या है, तो ऐसे ही एक निगाहसे सर्वज्ञने परख लिया, पर वह दुःख अनन्त है। उसका वर्णन तो कही आ ही नही सकता, वह नरकभूमि क्या है जिस पृथ्वीपर अपन चलते, बैठते उठते है। ये पृथ्वी बहुत मोटी है, और इस पृथ्वीके नीचे तीन भाग है, जिसमे ऊपरके पहले और दूसरे भागमे भवनवासी और व्यन्तरोके भवन बने हुए है। नीचेके तीसरे भागमे पहला नरक कहा जाता है, सो तीसरा जो वह हिस्सा है सो एकदम खुला हुआ नही है, किन्तु जैसे एक फुट लम्बे चौड़े मोटे काठका पाटिया हो, बीच-बीचमे छिद्र हो १०-२०-५० उन छिद्रोका मुख न ऊपर है न अगल-बगल, न कही वह बीचमे ही छिद्र है ऐसे ही उस तीसरे खण्डमे उस मोटी भूमिमे जगह-जगह बिल बने है, मगर वे बिल करोडो अरब योजनके लम्बे है और ऐसे बिल पहिले नरकमे ३० लाख है फिर इस पृथ्वीके नीचे बहुत सा आकाश छोडकर दूसरी पृथ्वी आती है। उस दूसरी पृथ्वीमे भी बिल है। खुली हुई बिल्कुल जगह नही है, लेकिन वे बिल भी करोडो अरबो योजनके है इसलिए खुला सा लगता है मगर उनका मुख किसी ओर नही है निकला हुआ कि जिससे कही आसमानमे या पृथ्वीके ऊपर आ सके। ऐसे बिल दूसरे नरकमे २५ लाख है। तीसरे योजनमे याने पृथ्वी मे नीचे बहुतसा आकाश छोडकर तीसरी भूमि है, उसके बीच बिल है, वह तीसरा नरक कहलाता है। ऐसी ये ७ पृथ्वियाँ है जिसमे ये ७ नरक कहे गए है।

नरकोंके दुःखोका संक्षिप्त दिग्दर्शन—उन नरकोमे पृथ्वीके पूर्व भगायें ऐसा दुःख होता कि हजार बिच्छुवोके डसनेसे भी नही होता। तो देखिये उसी पृथ्वीपर उसी नरकमे देव पहुच जायें तो देवोको दुःख नही होता, ऐसी क्या वजह है ? तो जैसे मानो इसी कमरेमे करंट आ जाय भीतमे या नीचे फर्शमे तो वहाँ खुले पैर पहुचनेपर दुःख होता है कि नही ? होता है। और यदि कोई प्लास्टिक या रबडके जूते या चप्पल पहिनकर आ जाय तो उसे

कष्ट नही लगता। तो ऐसे ही उन देवोके शरीरकी ऐसी प्रक्रिया है कि उनको उन नरकोकी जमीनसे भी दुःख नही होता। भूख प्यासका दुःख एक दूसरेने मारा काटा उसका दुःख, तीसरे नरक तक असुर कुमार जातिके देव आपसमे भिडाकर दुःख बढा दें तो उसका दुःख, ठंड गर्मीका बडा कठिन दुःख, यह मान कषाय वाला पुरुष नरकमे जाकर ऐसे दुःखोको सहन करता है, इस कारण अपने आपकी रक्षा करना हो तो मानकषाय चित्तमे न जगना चाहिए। सब जीवोको अपने स्वरूपके समान निरखें। जीवनमे व्यवहार भी करना पडता आवश्यक, मगर स्वरूप प्रतीति खतम नही हो, इसीके आधारपर मानकषाय न जगेगी। अब मायाके विषयमें कह रहे हैं।

या छेदभेददमनाकनदाहदोहवानातपाश्नजलरोधवधादिदोषा।
मायावशेन मनुजो जननिंदनोया तिर्यग्गति व्रजति तामतिदुःखपूर्णा ॥५४॥

मायावी पुरुषोका तिर्यग्गतिमे जन्म लेकर नाना दुःखोका सहना—माया कहते है छल कपटको, कैसा छल? कि मनमे और, वचनमे और, करे कुछ और, ऐसी माया जिसमे भरी है वह मायावी पुरुष बडा भयकर होता है, उससे अपनी रक्षा करना बडा कठिन है। तो ऐसा मायाचार करने वाला पुरुष मरकर तिर्यंच गतिमे उत्पन्न होता है। तिर्यञ्चगतिमे बडे कठिन दुःख है। ऐसे पशु-पक्षियोकी बात तो हम आप रोज-रोज देखते ही हैं। गाडोंमे बैल लदे जा रहे है, उसमे कितना ही बोझ लदा है। चलनेमे यदि मदगति कर दी तो उन पर चाबुक मारे जाते है, और जब वे इतना अशक्त हो जायें, वृद्ध हो जायें, कामके न रहे, तो प्राय. लोग अब इस जमानेमे उन्हे कसाइयोके हाथ बेचनेमे भी रच सकोच नही किया करते है। उनको बडे कठिन दुःख है। क्या ऐसे पशु हम न थे? न जाने कैसे कैसे दुःख भोगे, आज भी यदि अपनी सम्हाल न करें तो बस यही ससारके जन्म मरण चलते रहेंगे। बडा कठिन दुःख होगा। यह अवसर ऐसा चेतनेके लिए मिला है कि एकदम अपना मोड बना लें और इसी भवमे उसका आनन्द ले लें जो ज्ञानस्वरूप आत्माकी अनुभूतिसे प्राप्त होना है, जिसके प्रसादसे आगेका भव भी ठीक रहेगा और और निकट कालमे ही मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। एक निर्णय बना लें कि मुझे तो मुक्तिका उपाय बनाना है और इस जीवनका दूसरा कोई कार्य मेरे लिए है ही नही। जो कुछ करना पड रहा है सो कर्मोदयवश गुजारा करनेके लिए करना पड रहा है, पर मेरे करनेका काम तो केवल मोक्षमार्ग है। मुझे किसी परका विश्वास नही, मेरा तो मोक्षका प्रोग्राम है, ऐसा चित्तमे बसा हुआ होना चाहिए, अन्यथा कषायोमे लगकर फिर ससारका परिभ्रमण बना रहेगा।

मायावी जीवके तिर्यग्गतिके दुःखोका सक्षिप्त दिग्दर्शन—इस छदमे बतला रहे है कि

जो मनुष्य मायाचार करते हैं वे तिर्यंच गतिमे नाना बाधावोंको सहते है। उनके नाक, कान आदि छेद दिये जाते। उनकी नसबन्दी जैसे कर दी जाती। जैसे कि किसान लोग बैलोको नसबन्दी किया करते है। वे कोई डाक्टर तो नही है। वे तो बैलोको रस्सियोसे बाँधकर गिरा देते और उनके अडकोषोको मूसल या किसी अन्य चीजसे कूट-कूटकर उनको नपुंसक जैसा बना देते जिससे कि ये कभी अपनी वीर्यशक्तिको बरबाद न कर सके, और इनकी शक्ति से हम लाभ उठाये। तो इस प्रकारसे उन पशुवोका छेदन-भेदन करते, जब मर्जी आयी तब उन्हे खाना पीना दे दिया नही तो भूखे-प्यासे बँधे है, ठडी गर्मीके भी बडे दु:ख सहते हैं, बोझा ढोते हुए मे यदि चलनेमे कुछ कमी की तो उन पर डडेकी मार पडती है। तो देखिये मायाचारी करनेके फलमे पशु बनकर ये सब दु:ख सहने पडते है। यह माया कषाय बडी ही कलुषित है तब ही तो इसको शल्यमे गिनाया है। माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं। मायाचार करने वाले पुरुषको जीवन भर शल्य बना रहता है। जिनके बीच मायाचार किया है उनके बीच कही हमारा कपट खुल न जाय इस शल्यमे वह मायाचारी पुरुष निरंतर रहा करता है, पर मायाचार खुल सबका जाता है। चाहे किसीका जल्दी खुले, चाहे देरमे खुले, पर यह मायाचार प्रकट हो जाता है, और जब मालूम पड जाता है लोगोको कि यह बडा छली पुरुष है तो फिर उसकी जिन्दगी बडी खराब हो जाती है। उसे कोई पासमे नही बैठाता, कोई उसका विश्वास नही कर पाता।

मायाचारकी विडम्बनाका एक दृष्टान्त एक बार एक राजा अपने बगीचेमे घूम रहा था तो उसको एक जगह एक पेडके नीचे बहुत बढिया सेब पडा हुआ दिख गया। उसे देखकर राजाका जी ललचा गया, पर पडा था वह गोबरके ऊपर। सो उसने पहले तो देखा कि कोई देख तो नही रहा, फिर उसे उठाकर, कपडेमे पोछकर खा लिया। अब खा तो लिया, पर शल्य उसे बराबर बनी रही कि कही किसीने इस तरहसे हमको खाते हुए देख तो नही लिया। देखिये—राजावोको इस तरहसे खाना तो नही बताया। वे तो तब खाते जब कि लोग बडी भक्तिपूर्वक थाल सजाकर लायें और निवेदन करें कि महाराज भोजन ग्रहण कीजिए तब कही वे भोजन करते। यदि इस पद्धतिके विरुद्ध कार्य करें तो वह तो चोरीमे शामिल हो गया। अब कोई यो भी कह सकता कि वह चोरीकी क्या बात? वह बाग राजा का ही तो था सो ऐसी बात नही। जो विधि है राजाके भोजन करनेकी, उसके विपरीत चेष्टा करने पर चोरी ही कहलायगी। खैर वह राजा बगीचेसे चलकर महलमे आया। तो महलमे प्रतिदिन दिनमे दो ढाई बजेके करीब नृत्य गायन वगैरा हुआ करते थे। सो अनेक प्रकारके गायन हुए, पर उस दिन राजाने किसी भी गायन पर खुश होकर किसीको इनाम न

दिया। सबसे बादमें एक नर्तकी (नृत्य करने वाली) उठी और एक गीत गाते हुए नृत्य करने लगी उस गीतकी टेक थी·····"कहि देहौं ललनकी बतियाँ।" अब इस टेकको उस नर्तकीने कई बार बोला तो राजाको यह भ्रम हो गया कि कहीं इसने मुझे बगीचेमे सेब खाते देख तो नही लिया जिससे कह रही कि कहि देहौं ललनकी बतियाँ। अगर इसने सभाके बीच कह दिया कि राजाने गोबरसे भिडा हुआ सेब उठाकर बगीचेमे खाया था, तब तो मेरी मिट्टी पलीत हो जायगी, सो यह नर्तकी सभाके बीचमे वह बात न कहे यह सोचकर उसने अपना एक सोनेका आभूषण उतारकर दे दिया। नर्तकीने यह समझा कि राजाको हमारा यह गीत प्रिय लगा सो बार-बार उसीको दोहराये, राजा बार-बार एक-एक आभूषण उतार-उतारकर देता जाय। यहाँ तक कि राजाके सारे आभूषण इसी गीतमे उतर गए। जब एक भी आभूषण पासमे न रहा तो स्वय बोल उठा—अच्छा जा, कह दे, यही तो कहेगी कि राजाने अपने बगीचेमे गोबरसे भरा सेब उठाकर उसे पोछकर खाया था···। लो उसकी बात उसीके द्वारा प्रकट हो गई। तो मायाचारी किसीकी छिपती नही। एक न एक दिन वह प्रकट हो जाती है। मायाचारी प्रकट होने पर उसे बडा दुःखी होना पडता है। तो ऐसा निर्णय करके इस मायाचारीके दोषसे बचना ही चाहिए।

यत्र प्रियाप्रियवियोगसमागमान्यप्रेष्यत्वबान्धवधनर्बांधवहीनताद्यैः।
दुःखं प्रयाति विविधं मनसाप्यसह्यं त मर्त्यवासमधितिष्ठति माययोगी ॥५५॥

मायावी जीवका मनुष्यगतिमे भी जन्म लेकर कठिन दुःखोंका सहन—मायाचारी पुरुष मनुष्यगतिमे भी उत्पन्न हो जाय तो भी वहाँ बडा दुःख है। जैसे इष्टवियोग। इष्टवियोग मे इस जीवका बिगडता कुछ नही है, दूसरा पदार्थ है, रहे तो रहे, चला जाय तो चला जाय, किन्तु जिसके ज्ञान नही है और इसी कारण उसको बडा इष्ट समझ रखा है तो उसका वियोग होने पर कितना उसे कष्ट होता है, सो जगतमे दिख ही रहा है। तो ऐसा मनुष्य इष्ट वियोग का, अनिष्ट सयोगका घोर दुःख भोगता है। जो वस्तु खुदको इष्ट नही है उसका संयोग हो तो उसकी बडी वेदना मानता है। मायाचारी पुरुष मरकर मनुष्यगतिमे भी उत्पन्न हो तो वहाँ भिखारी, भृत्य, दास जैसा जीवन व्यतीत करता है तथा दरिद्रता, बधुहीनता आदिकके असह्य दुःख भोगता है और जहाँ शारीरिक मानसिक अनेक बाधायें सहनी पडती है।

सहजात्मस्वरूपका बोध न होने पर विविध विषयकषायोकी विडम्बितता—काम एक है कि मेरा जो शाश्वत शरण है, मेरा स्वयका स्वरूप जो कभी मुझसे हटता नही उस ही की दृष्टिमे तृप्त रहना, बस यह ही एक कार्य है, पौरुष है, जिसके बलसे इसकी रक्षा है बाकी बाहरमे इन चर्मचक्षुओसे जो देखा तो मायावी पुरुषोको निरखकर ईर्ष्या, दाह, आशा

आदिक कितने ही प्रकारके अवगुण लग जाते है, पर जो बाहरमे अंधा है, भीतरमें ज्ञानचक्षुसे जागृत है उसके लिए कोई समस्या नही है । बाहरी काम करने पड रहे है, उन्हें सम्हालता है और अपनी आन्तरिक प्रसन्नताको भी अनुभवता रहता है, आत्मदृष्टिके सिवाय कोई उपाय नही है कि यह जीव शान्त हो सके आनन्दमय हो सके । किसीको अगर बहुत अधिक धनिक देखा, जैसे— बिडला, टाटा, बाटा, डालमिया आदि माने हुए देशके दो-चार बडे फर्म हैं, उनके प्रति तो ऐसा भाव होना चाहिए कि वे तो बेचारे बडे कष्टमें हैं, क्योंकि उनको आत्माकी अनुभूति, पहिचान, दृष्टि करने तकका भी समय नहीं मिलता, निरन्तर आरभ परिग्रह सम्बंधी बात ही उनके चित्तमें बसी रहा करती है, उसकी आशा तृष्णामे ही वे निरन्तर संतप्त रहा करने है । ऐसा सोचने पर न उन्हे डाह जगेगी, न इतना बडा उच्च होनेकी बात चित्तमे आयगी । पुण्योदयसे यह सब हो रहा है, ऐसा सोचकर वे तृप्त रहेगे, और अपना लक्ष्य अपने इस शाश्वत चित्स्वरूपका बनेगा । मै तो यह हूं अमूर्त, ज्ञानमात्र, आनन्दमय, इसमे कष्टका नाम नही । ऐसा जिसको ज्ञानप्रकाश नही मिला वह अटपट व्यवहार करके विषयोंके पोषण करने की ही धुनमे रहता है । कोई पुरुष मायाचारीमे मरकर मनुष्य भी हो तो भी बडी दुर्दशाओ से ग्रस्त वह मनुष्य रहता है ।

यत्रावलोक्य दिवि दीनमना विभूतिमन्यामरेष्वधिककान्तिमुखादिकेषु ।
प्राप्याभियोगपदवी लभतेऽतिदुःखं तत्रैति वंचनपरः पुरुषो निवासे ॥५६॥

मायावी पुरुषका देवगतिमें उत्पन्न होनेपर भी ईर्ष्यादिवश व्यर्थ क्लेश सहन—यह मायाचारी पुरुष कदाचित कारणवश जैसी कि पहले आयु बांध रखो थी, देवगतिमे भी पैदा हो जाय तो वहाँ भी उसे कठिन दुःख होता है । देवगतिकी इतनी बात सुनकर कि उनको कमाना नही पडता । जब कभी हजारो वर्षोंमें भूख लगती तो उनके ही कंठसे अमृत झड जाता और उससे वे तृप्त हो जाते, फिर भूख-प्यासकी वेदना नही सताती । उनका वैक्रियक शरीर है, आयुसे पहले वे मरते नही, ऐसी कुछ बातें सुनकर मैं देव बनू ऐसी भावना बहुतसे लोग करने लगते, मगर देव क्या मनुष्योसे भले है ? उनको कष्ट नही है क्या ? अरे उनको तृष्णा, ईर्ष्या, विरोध, चिन्ता आदिकका बडा दुःख होता है । वे देव तो सब ठलुवा ही हैं, न रोजगार करनेकी उन्हें फिक्र, न घर गृहस्थीके सम्बंधकी अन्य कोई फिक्र, तो ऐसा ठलुवापन उन्हे मिला जिससे कि वे बडे दुःखी रहते, क्योंकि यह मन ऐसा ही विचित्र है कि अन्याय न्यायकी अनेक कल्पनायें करके बडे दुःखी होते है । दूसरेके ऋद्धि वैभवको देखकर मनमे बड़े विषाद किया करते है देवगण । अपनेसे किसी दूसरे देवकी कांति अधिक दिखे, वैभव दिखे, सुख अधिक दिखे तो देख करके उन्हे बड़ा दुःखी होना पड़ता ।

मायावी पुरुषोंका हीन देवोंमे 'उत्पन्न होकर संक्लेशसहित कष्टोंका अनुभव—कुछ देव ऐसे है कि उन्हे बडे देवोकी आज्ञामे रहना पडता। देखिये—उनका कर्मविपाक ऐसा ही है कि उन्हे आज्ञामे रहना जरूरो हो जाता। भला बताओ जिनको किसी प्रकारका कष्टका प्रसग नही वे अगर मना कर दें कि हमे नही आज्ञामे रहना है तो इन्द्र उनका क्या बिगाड कर सकता ? कुछ नही कर सकता, पर ऐसा ही उनका नियोग है कि उन्हे इन्द्रको आज्ञामे रहना ही पडता है। यदि इन्द्र कहे कि हाथी बनकर यह सामान लादकर या इतनी सवारी लेकर चलो तो उन्हे वैसा करना पडता। उनका ऐसा ही नियोग है कि वे उस आज्ञाका विरोध नही कर सकते। तो जब आज्ञामे रहकर उन देवोको चलना पडता तो भला बताओ उन्हे दु ख न होता होगा क्या ? अरे वे तो बडा दु ख मानते होगे। देवगतिमे न बडे देवोको शान्ति, न छोटे देवोको शान्ति। तो कदाचित् मायाचारी पुरुष देवगतिमे भी उत्पन्न हो जाय तो भी वह भला देव नही बन पाता। छोटी जातिका देव बनकर ऐसी ही आज्ञामे रहना पडता है जिससे वह अपनेको बडा दुःखी अनुभव करता है।

देवगतिमे भी पुरुषोको भांति अपमानके दुःख- अच्छा यह दु ख है सो तो है हो, मगर जैसे किन्ही-किन्ही मनुष्योको घरमे सब प्रकारके आरामके साधनोके बीच रहते हुए भी स्त्री-पुत्रादिकके दुर्वचन सुनकर बडा दुःखी रहना पडता है इसी प्रकार उन देवोको भी सब प्रकारके आरामके साधन होते हुए भी देवांगनाओके रति आदिके समय होने वाले अनेक दुर्व्यवहारोसे बडा दु.खी रहना पडता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता कि देवियां देवोके साथ क्या किसी प्रकारका दुर्व्यवहार कर सकती ? तो उसका समाधान दिया कि हां कर सकती। इसे एक दृष्टान्त द्वारा सुनो—ऋषभदेव अपने पूर्व भवोमे एक बार ललितांग देव हुए थे, उनकी पूर्व भवकी स्त्री एक देवी हो गई थी। जब वह ललितांग देव वज्रजघ बना तो वह देवी बनी श्रीमती कन्या वही। उस श्रीमतीने जब ऊपरसे देवोको जाते देखा तो उसे पूर्व भवकी याद आ गया और उसने सोचा कि मेरा जो पति था देवगतिमे वही पुरुष मेरा अब पति बने। सो उसे एक घटना स्मरण आ गयी। एक बार किसी बात पर ललितांग देवकी देवीने ललितांग देवके सिरमे लात मारी थी और उसको निशानी ललितांग देवके मस्तकपर बन गई थी। उस श्रीमती कन्याने ललितांग देवका एक चित्रपट बनाया, उस चित्रपटमे वह निशान उसने अंकित कर दिया। उसका प्रण था कि जो भी देव उस लात मारनेके निशानकी घटनाको सही-सही बता देगा उसीको अपना पति चुनूगी। सो उस चित्रपटको देखने अनेक लोग आये, सभीने मूर्छाका रूपक दिखाया, इसलिए कि यह कन्या श्रीमती जान जाय कि यही मेरा पति था, पर सभीको वह अस्वीकार करती गई। अतमे जब जिस देवने उस लात मारनेके निशानकी घटना बतायी तब उसे अपना पति चुना। तो इस घटनाका अर्थ यही हुआ ना कि देवगतिमे भी

दुर्व्यवहार संबंधी कितनी ही बातें चलती है, क्योंकि वे कोई ज्ञानी थोडे ही होते । तो मायाचारी पुरुष देवगतिमे भी जन्म ले ले तो भी उसे देवगतिमे सम्बंधित अनेक प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं ।

या मातृभ्रातृपितृबांधवमित्रपुत्रवस्त्राशनाभरणमडनसौख्यहीनाः ।
दीनानना मलिननिंदितवेषरूपा नारीषु तासु भवमेति नरो निकृत्या ॥५७॥

मायाचारी पुरुषोकी दुर्दशा—जो पुरुष मायाके वश होकर दूसरोको ठगते है वे नारियोमे भी विकृत और दुर्व्यवस्था वाली नारियाँ होती है । माया एक ऐसा शल्य है कि जिसके कारण धर्ममार्गमे व्रत, तप आदिक भी किए जायें तो भी वे निष्फल होते है । यह मायाचार उनके ही जगता है जिनको अपने मायारहित सरल सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव नही हुआ । मायाचारी पुरुष अपनेको बुद्धिमान समझता है । उसकी दृष्टिमे अन्य लोग तुच्छ नजर आते । वह जानता है कि इन लोगोको मेरी कलाका ज्ञान नही हो पाता और मै माया से इन दूसरोको ठग लेता हू या अपनी स्वार्थसिद्धि कर लेता हू, पर जितना भी बाहरी स्वार्थ को बात सोचता है वह सब उसीके लिए धोखा है । जैसे जगतमे कोई किसीका सहायक नही । वस्तुका स्वरूप ही वह है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कर्ता नही, कुछ उसम परिणतिमे सहयोग दे सकता नही । जो कुछ है वह अपने ही आपकी परिणतिसे चलता है, वह परिणति कैसी होती है यह विषय अलग है, वह नैमित्तिक है । पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर होता है, क्योंकि वह विकार है । जो भी विकार है वह इसी कारण ? विकार कि निमित्त पाकर होता है अतएव स्वभावके अनुरूप नही हो पाता । जिसे अपना हित चाहिए उसे कपट जाल छोडना पडेगा । कदाचित् कपटके बलसे दुनियामे अपना यश भी फैला ले तो भी वह काहेका यश ? मायावी पुरुषोमे थोडा मायावी नाम बन गया, इसपर क्या खुश होना, मगर कपटके फलमे जो दुर्गतियाँ मिलेंगी उनकी जगत्का कोई पुरुष मदद न कर सकेगा ।

धर्मकी आड लेकर कपट व्यवहारकी रचनामे अधिक खतरा—कपट लोक व्यवहार मे भी होता, कपट धर्मकी आड लेकर भी होता और लोकव्यवहारमे जो कपटका व्यवहार चलता है उससे अधिक खतरनाक है धर्मकी आडमे कपट करनेका काम । जो धर्मकी ओट लेकर कपट करके अपना यश फैलाने पर तुला हो उसके अनन्तानुबंधी माया कषाय समझना चाहिए । अपने उद्धारका मार्ग बिल्कुल सीधा स्पष्ट है । जैसा कि आचार्य देवोने सीधे शब्दोमे बताया । स्वभावदृष्टि करिये । स्वभावके आश्रयसे आत्मविकास होता है । और वह स्वभाव दृष्टि कैसे बने ? जो विकार है यह स्वभाव नही है, यह बात समझमे आये तो विकारोको छोडेगा स्वभावदृष्टि बनेगी । विकार मेरा स्वरूप नही है, यह बात जब समझमे आती है तब

यह विदित होता कि ये विकार मेरे स्वभावसे स्वतः उत्पन्न नही हुए, किन्तु निमित्तकी माया, छाया प्रतिफलन है यह नैमित्तिक है अतएव विकार है, और यह मेरा स्वरूप नहीं है। जो विकारको स्वरूप नही मान रहा उसके स्वभावदृष्टिका बल है ही, अन्यथा विकारमे स्वरूपका निषेध कैसे कर लेता ? अविकार चैतन्यस्वरूप यह मैं हू ऐसा अनुभवन करना यह है सीधा मोक्षमार्ग। अब किसीको अधिक ज्ञान नही है, दार्शनिक करणानुयोग आदिक विषयोका विशेष ज्ञान नही है तो उसे सीधी सादी चालसे ही अपने उपयोगको निर्मल बनाकर अपना काम निकालना चाहिए, पर प्रयत्न यह करें कि हम दार्शनिक और करणानुयोगके ज्ञानके बलसे हम अध्यात्मतत्त्वको स्पष्ट बनायें।

भेद्य पदार्थोंके स्पष्ट बोधसे भेदविज्ञानमे विशेषता—कोई एक घटना है कि एक सेठ के यहां एक मुनीम और अनेक पल्लदार रहते थे। उसके यहां गल्लेका व्यापार चलता था। अब मुनीमका वेतन था पल्लेदारोसे कई गुना अधिक। इस बातको पल्लेदार लोग सोच सोचकर बडा कष्ट मानते थे कि देखो हम सेठका कितना तो काम करते बडा बडा बोझ दिन भर ढोते और यह मुनीम बैठे बैठे सिर्फ कलम भर हिलाता रहता कोई खास काम नही करता, आरामसे रहता फिर भी इसको हमसे कई गुना अधिक वेतन क्यो मिलता ? इस बातकी शिकायत भी की सेठसे पल्लेदारोने। तो सेठने उस समय तो कोई खास उत्तर न दिया पर मनमे यह आया कि इनको किसी घटना द्वारा ही मौका पाने पर उत्तर देगे। अब एक दिन क्या हुआ कि पास ही सडकसे कोई बारात जा रही थी, बडा कोलाहल मचा हुआ था क्योकि बडे गाजे बाजेसे धूम धामसे बडे जलूसके साथ वह बारात जा रही थी। सो वहाँ सेठ ने उन पल्लेदारोको भेजा कि जावो मालूम करके आवो कि सडकपर वह क्या चीज है। अब वे पल्लेदार कोई पढे लिखे तो थे नही, सो सडक पर गए और मालूम किया कि क्या चीज है ? पता लगा कि बारात है और वापिस आकर सेठसे बस इतना ही भर कहा कि वह बारात है। उसी वक्त मुनीमसे कहा कि अब मुनीम जी तुम जावो पता लगाकर आवो कि सडक पर वह क्या चीज है ? तो मुनीम गया और बीसो बातें पूछ पूछ कर लिख लाया और सेठसे आकर बताया कि बारात है। अमुक जगहसे आयी है, अमुक जगह जायगी। अमुकका लडका है। अमुकके घर जायगी, अमुक समयमे वापिस होगी। यो बीसो बातें बतायी। तो सेठने उसी समय पल्लेदारोसे कहा कि देखो तुम लोगोमे और मुनीममे यही फर्क है कि बात हमने तुम दोनोसे एक ही कहा कि मालूम करके आवो कि क्या है ? सो मुनीमने तुम लोगोकी अपेक्षा कितना स्पष्ट करके सब बातें बतायी। पल्लेदारों को समझमे सब बात आ गई ? ठीक यही बात अध्यात्मक मार्गमे लगायें। बात तो कुल

इतनी भर समझना है कि यह आत्मा सर्व पर भावोसे विविक्त और अपने स्वरूपमात्र है, अब इतनी सी बातको स्पष्ट रूपसे समझे बिना उसका स्पष्ट ज्ञान नही हो पाता। किसी ने मानो इतना भर सुन लिया कि ये कर्म धूल है, मेरेसे भिन्न है तो इतनी भर बातसे वह स्पष्टता नही आ पाती। स्पष्टता तब होती जब कि सब बातोंका ज्ञान हो कि इन कर्मोंका क्या स्वरूप है। क्या कार्माण वर्गणाय है, कैसे कर्मत्व आता है, कैसा उनकी स्थितिका बटवारा चलता है, कैसा विपाक है—ये सब बातें जब स्पष्ट रूपसे समझमे होती है तब उनसे विविक्तताका ज्ञान भी स्पष्ट होता है।

मायाचारीको धर्मनायक बनानेका दुःसाहस—जब तक स्पष्ट ज्ञान नहीं होता तब तक उसका ज्ञान डगमग रहता है। जैसे इन्द्रियके विषयभूत समस्त पर पदार्थ ये सब बाह्य चीजें है, यहाँ तक कि न दिखने वाली जो कर्मदशा है वह भी बाह्य चीज है। उसको हम युक्ति और आगमसे स्पष्ट रूपसे समझते है, अब जो कुछ भी विकार जगता है उस विकारके जगनेमे निमित्त कारण केवल कर्मदशा है। लोग प्रायः जानते है और रोज रोज समझमे आता है कि इन बाहरी विषयोको आश्रय करके, धन वैभव कुटुम्ब आदिकको ख्यालमे लेकर कषायें जग जाया करती है। तो अब अज्ञानमे यह भ्रम हो जाता है कि ये भी निमित्त हैं, जिन विषयोका आश्रय करके हमारे विकार व्यक्त बनते है और कर्मकी बात आगमसे सुन रखी है उसे भी निमित्त कहते है। अब जब थोडा मनोबल जगता है जिसे कहो अधकचरा विवेक और यह विदित होता है कि ये बाहरी विषयभूत पदार्थ ये तो सच्चे निमित्त नहीं जंचते। कभी ये सामने हो तो भी कषाय नही जगती, कभी ये न हो और कुछ हो तो भी जगती, तो निमित्त कुछ नही है यो निमित्तमात्रका खंडन करने लगते अरे ये दृश्य निमित्त है ही कहाँ ? ये तो सब नोकर्म है और विकारके आश्रयभूत है। विकार दशामे निमित्त तो केवल कर्म विपाक दशा ही है। सो जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक हो ऐसे परपदार्थको कहते है निमित्त और जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक न हो किन्तु उपयोगके आश्रयभूत हो ऐसे पर पदार्थको कहते है बाह्य कारण आरोपित कारण। कदाचित यह भेद भी ज्ञात हो जाय तो सही बात कहनेमे चित्तमे पोजीशनकी बात सतानेको आती है कि मैं तो अब इस तरह लोगोको कैसे समझाने लगूं कि ये बाह्य पदार्थ निमित्त नही है बल्कि केवल कर्मदशा निमित्त है और निमित्तका प्रतिफलन विकार है सो यह नैमित्तिक है। निमित्तत्वका खडन मै अज्ञान मे करता रहा यह बात कहनेमे शर्म आने लगती है। भैया, ये बाहरी पदार्थ मात्र आश्रयभूत है। निमित्त नैमित्तिकयोगका उल्लघन नही हो सकता है। नैमित्तिकताकी वजहसे जो ये

विकार परभाव कहलाते है, मेरे स्वभाव नही है। इस सब परिचयसे स्वभाव दृष्टि बड़ी सुगम होती है। मायाचारी पुरुषके मनमे कभी सच कहनेको मन करता है लेकिन तब फिर पोजीशन इज्जत सताने लगती है, कैसे कह दू? जो कहना आया पहलेसे, आज उसके विरुद्ध कैसे कह दूं? नही तो सारे जीवनकी कमायी हुई यश कीर्ति मेरी धूलमे मिल जायगी। अब इस प्रकारका यदि ज्ञानप्रकाश प्राप्त है, किन्तु कुछ मायाचार करना पड़ता है तो यह एक ऐसा कर्मविपाक है कि जिसका निमित्त पाकर ऐसा कर्मबध होता है जो कि दुर्दशा प्राप्त होती है।

निमित्तनैमित्तिक भाव व वस्तुस्वातन्त्र्यके परिचयमे स्वभावदृष्टिकी सुगमता—ज्ञानी पुरुष किसी भी बातमे सकोच नही करता। जो सत्य है वही वस्तुतत्व है। वस्तुतः यदि स्वरूप देखा जाय तो ये रागादिकभाव यदि परसंग बिना होने लगें तो आत्मा नित्यकर्ता बन जायगा ऐसा कुन्दकुन्दाचार्यने, अमृतचन्द्रसूरिने, जय सेनाचार्यने स्पष्ट शब्दोमे अनेक बार कहा "तस्मिन्निमित्तपरसंगएव, तस्तु स्वभावोऽयमुदेति तावत्" अर्थात् ये रागादिक विकार यदि परसग बिना हो तब तो ये विकार स्वभाव बन बैठेंगे, फिर ये विकार हटाये नही जा सकते। ये विकार तब ही हटाने लायक है कि जब ये औपाधिक है, नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूप की वृत्ति नही है। मैं हू चैतन्यस्वरूप। मेरेमे मेरे लिए मेरे ही सत्त्वसे जो वृत्ति जगेगी वह केवल चेतनाकी दृष्टि, ज्ञाताद्रष्टापनेकी दृष्टि, अविकार वृत्ति जगेगी। जितने भी विकार जिस किसी भी पदार्थमे आये, एक जीवकी ही बात क्या पुद्गलमे भी जितने जब जो कुछ विकार आते है उसमे भी परसग ही कारण है। वैज्ञानिक लोग इस पर काफी प्रयोग करते हैं और वे जानते है कि अमुक वस्तुका सग पाकर यह वस्तु इस प्रकार बन जायगी। और हम आप लोगोके भी रोज रोज घटनायें घटती है, जैसा काम रोज करते है उस प्रकारकी घटनायें चलती है, रोटी पकानेके लिए रोज रोज आग ही सुलगाती है महिलायें। कभी उनको यह भ्रम नही होता कि रोटी आगमे रोज सिकती थी सो सब अटपट था, आग निमित्त है नही, रोटी सिकी तो निमित्त कहलाने लगती है तो आज पानीसे ही रोटी सिक जाय तो क्या हर्ज है। ऐसा पागलपन निमित्तत्व खडन करने वाले स्वामी स्वामिनी कभी नही करते। यह प्रतिनियत व्यवस्था क्यो बनी है? यह प्रतिनियत व्यवस्था निमित्तनैमित्तिक योगको सिद्ध करती है, पर वहां कर्ता कर्मभाव रच भी नही दिखता।

वस्तुस्वातंत्र्य, निमित्तनैमित्तिक भाव, कर्तृकर्मत्वाभावका परिचय होनेपर अहङ्कार व कायरताका अभाव—आत्महितके लिये सत्य ज्ञान प्रकाश आवश्यक है। यदि मैं अपने विकारके बारेमे यह श्रद्धा लेकर बैठूं कि मेरे विकारोको कर्म कर देते है तब तो मैं कायर

बन गया। फिर तो यह उमंग ही नही जग सकती है कि इन कर्मोंसे हट सकूं। तो कर्तृकर्म भाव माननेसे अपनेमे विकार मिटनेकी बात कभी हो ही नही सकती। ये कर्म कर देते है राग द्वेष। यदि ये कर्म ही गम खायेंगे तो ये मेरे रागद्वेष मिटेंगे। मेरा इनमे क्या वश है ? यो कायर होकर सदा भ्रमण करते रहेगे। ऐसा कर्तृकर्म भाव नही है स्वरूपमे, यह बात समझ लें और जान लें कि केवल निमित्तनैमित्तिक भाव है यहां कि जो कर्मविपाकका निमित्त पाकर मैं ही खुद रागादिक रूप परिणमता हू। कही कर्म नही, रागरूप परिणमते। मैं ही परिणमता हू। परस्पर कर्तृकर्मभावके अभावकी दृष्टि होनेसे न तो उसे अहकार जगेगा, न तो यह भाव जगेगा कि मैं दूसरोका पालन-पोषण करता हूँ, मै दूसरोको ऐसा प्रगतिशील बना देता हू, ऐसा भाव न आयगा। तो अहकार भाव न रहेगा। यदि कर्ता कर्मकी बुद्धि होवे तो इसके अहकार बना रहेगा। जगतके जीवोको क्यो अहंकार बना हुआ है कि वे प्रत्येक द्रव्य का कर्ता अपनेको मानते है। मैंने मकान बनाया, दुकान बनाया, लडकोको ऐसा कुशल बनाया, मैं समाजको पालता हू, मै अमुक अमुक काम कर देता हू। इस प्रकार परपदार्थोंमे कर्तृत्वकी बुद्धि होनेसे अहकार जगता है और इसी तरह दूसरे मेरेको दु:खी कर डालेंगे। वे जो चाहे मेरा बिगाड़ कर सकते है, यो परकी ओरसे कर्तृत्व माना जाय तो वहाँ कायरता बनती है। पर जो वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिक भाव इनका सही परिचय पाते है वे न कायर बनते है, न अहकारी बनते है, न कुमार्गगामी हो सकते है, किन्तु सन्मार्गपर यथाशक्ति चलते हुए ज्ञानस्वभावकी भावनाको भरते रहते है। तो अपना शुद्ध स्वरूप जानें और ऐसा ही दुनियाको बतायें जैसा कि स्वरूप है, उल्टा बतानेका कपट न रखें तो इस जीवकी वर्तमानदशा भी समीचीन होगी। भविष्य भी उज्ज्वल रहेगा।

मायावी पुरुषोका दुर्दशापूर्ण नारीभवमे जन्म—जो पुरुष मायावी है उनकी उत्पत्ति ऐसे दीन हीन नारियोमे होती है कि जैसे कोई माताके न होनेसे बेचारी लडकी कहलाती है या पिताके न होनेसे असहाय होती। बांधवका वियोग होनेसे कुटुम्बहीन होनेसे उसका कोई सहायक नही रहता। माता, पिता, पुत्र, बांधव आदिक रहित दीन दरिद्र ऐसी स्थिति वाली नारियोमे जन्म होता है। तो बुद्धिमान पुरुषोको सोचना चाहिए कि जगतमे कौन सी वस्तु ऐसी है मेरे हितरूप कि जिसकी प्राप्तिके लिए मुझे मायाचारी करनी चाहिये। कोई पुरुष उदार भी हो। धन दौलतकी विशेष परवाह न रखता हो किन्तु उसे यश इज्जतकी ममता लग जाती हो तो उसके कारण मायाचार करता। तो यश कीर्ति नामवरी ये भी असार बातें है। यशका क्या अर्थ ? कुछ लोगोको जिनको कुछ सहूलियत मिल जाय तो उस लोभके कारण वे कुछ नाम गा दें तो आखिर इतना ही तो किया उन्होने। लोभके

कारण ही तो वे यश गाते है, वे कोई ऐसे न मिलेंगे जो बिना लोभके वश होकर यश गाते हो। हाँ जिनमे धर्मरुचि हो वे ही पुरुष धर्मात्माजनोका, गुणीजनोका, परमेष्ठियोका, प्रभुका गुणगान करते है। बाकी लोग जिनको वस्तुस्वभावकी श्रद्धा नही है वे यदि किसीका गुण-गान करते है तो उसमे कोई न कोई लोभ कारण होता है। तो लोभके कारण कुछ पुरुषो ने कुछ नाम गा दिया तो यह गुणगान उनका कहाँ तक सहायक होगा ? उसका क्या महत्त्व है ? मेरेको ऐसा कुछ निर्णय तो रखना चाहिये कि क्या संसारके इन मायामय प्रसगोमे, कीर्तिमे ही अपने आपको बहाकर खो दिया जाय ? कुछ नही बाहरमे देखना ? कोई कुछ कहे, उससे मेरा उद्धार नही। मै ही आचरणसे यदि सही हू, मैं प्रभुके मार्गमे चल रहा हू तो मेरा उद्धार है और प्रभुका मार्ग छोडकर कुमार्गमे चल बैठें तो मेरा पतन है। कोई दूसरा मेरा न सुधार करता न पतन करता।

देखिये—सबसे बडा व्यामोह होता है नामवरीका। सो नामवरी खूब करते जावो यदि होती हो तो। अब पूछा जाय कि बताओ तुम कितने लोगोमे और कितने क्षेत्रमे नाम-वरी चाहते हो ? तो शायद यही उत्तर होगा कि हम तो संसारके सब जीवोमे अपना नाम चाहते है। अब जीव तो है ससारमे अनन्तानन्त। तो क्या संसारके सब जीवोमे किसीका नाम फैल सकता ? अरे सब जीवोकी तो बात छोडो, सारे मनुष्योमे भी नही फैल सकता। जब ऐसी बात हैं तब फिर थोडेसे परिचित क्षेत्रके थोडेसे लोगोमे अपना नाम चाहनेमे क्या फायदा ? इतना सा परिचित क्षेत्र सारे विश्वके सामने तो कुछ भी गिनती नही रखता। विश्व तो ३४३ घनराजू प्रमाण है तो क्या सर्वत्र किसीका यश फैल पाता है ? इस सारी दुनियाके आगे एक बिन्दुभर जगहमे कुछ स्वार्थी जनोने यदि कुछ यश गा दिया तो इतने व्यामोहसे अपने अनन्त संसार भ्रमणका कारण क्यो बनाया जा रहा है ? अच्छा कितने समय तक यश चाहिए ? क्या कोई कह देगा कि हमे तो बस १००-५० वर्ष ही यश चाहिए ? अरे वह तो यही कहेगा कि हमे तो यश सदैव चाहिए। तो ऐसा कहनेसे होता क्या ? काल अनन्त है। उस अनन्त कालके सामने ये १००-५० वर्ष तो कुछ गिनतीमे ही नही आते, इतनासा समय तो एक विशाल समुद्रके एक बिन्दु बराबर है। इतनेसे समयका व्यामोह अगर छोड़ दिया जाय तो सन्मार्ग मिलेगा।

निज सहज स्वभावमे स्वात्मत्वके अनुभवसे उद्धार—जिनका होनहार भला है, जिनको स्वरूपदृष्टि मिली हुई है वे सर्व कार्य अपने आप बना लेते है। क्या चाहिए ? स्वभाव का अनुभव। मैं वास्तवमे सहज स्वरूपसे क्या हू, ऐसा अपनेको सोचना चाहिए। यह बात यदि बनेगी तो सब काम ठीक बनने लगेंगे। फिर अन्य कामोमे विशेष प्रतिबोधकी आवश्य-

कता नही होती। यही एक मौलिक उपाय है अपने आपके उद्धारका। सो जो मायाचार करता है वह अपने सहज परमात्मतत्त्वको ही ठगता है दूसरेको नही ठगता। कोई भी ठगने वाला खुदको ठगता है। अब जिसका ठगा जाय उसकी दुर्गति हो, यह नियम नही, पर ठगने वालेकी नियमसे दुर्गति होती है। अब बताओ ठगने वाला टोटेमे रहेगा या ठगा जाने वाला। टोटेमे तो ठगने वाला ही रहा, ठगा जाने वाला टोटेमे नही रहा। थोडे प्रसंगोमे धैर्य खो देना, अपने स्वरूपको भूल जाना और लौकिक रीतिमे बढ जाना यह अपने आपके घातके लिए है। इससे नित्य शाश्वत अन्तः प्रकाशमान सहज आनन्दरूप अपनी ही सत्ता मात्रके कारण अपनी चिद्वृत्तिरूप अन्तस्तत्त्वमे यह मै हू ऐसी दृढ पकड होनी चाहिये। इस ही पकडके बलमे हम आपका उद्धार होगा।

शीलव्रतो यमतपःशमसंयुतोऽपि नाश्नुते निकृतिशल्यधरो मनुष्य.।
आत्यंतिकी श्रियमबाधसुखस्वरूपा शल्यान्वितो विविधधान्यधनेश्वरो वा ॥५८॥

नाना सम्पन्नतायें होनेपर मायाशल्ययुक्त पुरुषके शान्तिका असंभवपना—जिसके चित्तमे माया शल्य है वह अनेक तरहकी सम्पन्नताये होने पर भी शान्त नही हो सकता, क्योकि भीतरमे मायाचारका परिणाम बडा कुटिल है और सब जगह अनेक स्थानोमे इस उपयोगको बुरी तरह भ्रमाता है जैसे कि कोई पुरुष धन-धान्यादिकसे सम्पन्न हो तो भी मन मे चित्तमे रहनेसे किसी भी प्रकारका सुख नही प्राप्त कर पाता, क्योकि वह चिन्तासे ही दुःखी रहता है। तृष्णा एक ऐसी बुरी बला है कि अनावश्यक व्यर्थके विकल्प और चिन्तायें करना रहता है। मनुष्यको क्षुधा तृषाको मिटानेका साधन चाहिए और ठडी गर्मीसे बचनेका साधन चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई ऐसी आवश्यक चीज नही है कि जिसके बिना काम न सरता हो। इसके अतिरिक्त गृहस्थीमे चूंकि वह सयम पालन करनेका पूरा पात्र नही है सो गृहस्थी बसायी, वहां कुछ दद फंद बढ गया, वहां भी सबका गुजारा हो, इतने मात्रकी आवश्यकता है, इससे अधिक कुछ न चाहिए। और चाहनेसे होता भी क्या है? पुण्य पापके उदयके अनुसार थोडेसे प्रयाससे सर्व समागम बन जाते है। फिर इसका कर्तव्य है कि जो भी स्थिति बने उस स्थितिमे अपने गुजारेका ढंग बनाना और धर्मपालनकी धुन बनायी। सम्पन्नता भी होना, धन-वैभव जुडना यह तो अपने लिए सार बात नही है, पर जो भी वैभव हो, सम्पन्नता हो उसमे ही गुजारा कर लेना, यह अपनी कला आवश्यक है। तब उसके लिए क्यो ललचायें? सुखी ही तो रहना है, सुखी शान्त होनेके लिए धर्म ही एक आश्रय है।

विषयसुखोकी क्षोभरूपता—जिसको हम विषय सुखोका मौज कहते है। वे सब आकुलतायें हे। कोई भी विषयका भोग शान्तिके साथ कोई करता हो तो बतलावो? क्षोभ

के साथ करता है । गायनका सुनना, सिनेमा थियेटरका देखना, किसी रूपका देखना, गंधका सूंघना, स्वाद लेना और विषय मैथुन प्रसग करना । कोईसा भी विषय ले लो ? क्षोभसे प्राप्त होता है, और क्षोभसे वही अत्यन्त पीडित है । जैसे एक मैथुन प्रसगकी ही बात ले लो । आकुलता न हो, क्षोभ न हो, वेदना न हो तो कौन उस खोटे प्रसंगमे लगे ? और जिस समय खोटे प्रसंगमे लगता है उस समय भी कितना भीतरमे व्यग्रता और घुडदौड मची रहती है कल्पनाओकी और विषयप्रसगकी बात अपनेको शक्तिहीन करनी है और तुरन्त कोई पुरुषार्थ नही कर सकता । ऐसी ही सभी विषयोकी बात है । जब रसनासे स्वाद लेते है, खानेका मौज लेते है तो वेदना हुए बिना कोई खाना खाता है क्या ? पीडा होती है और उस पीडा को प्रकट करनेके लिए खाना खानेका परिश्रम किया जाता है और खाना खाते हुए क्या यह समता और शान्तिका अनुभव करता है ? व्याकुलता भी अनुभव करता है । अभी यह खाया अब यह खा रहे है, अब यह खायेंगे, कुछ मौजसा आ रहा है तो उसमे व्याकुलताके साथ प्रवृत्ति हो रही है । उसके बनानेमे भी क्षोभ, खानेमे भी क्षोभ । हर बातमे क्षोभ । कौनसा ऐसा भोग है जो शान्तिके साथ भोगा जाता हो और भोगनेके बाद शान्ति प्राप्त होती हो ? ये सब अनावश्यक बातें है ।

सात्विकता व उदारताके प्रसगमे जीवनक्षणोकी उज्ज्वलता—भैया, अपना ऐसा जीवन बितायें कि अपने खाने पीनेकी साधन-सामग्री मध्यम वर्गके लोगोकी तरह रखें । गरीब लोगोकी तरह सात्विक वृत्तिसे अपने जीवनमे रहे और पुण्योदयसे अगर धन बढता है तो उस धनका सदुपयोग करे परोपकारमे । तब वह जीवनमे जितनी शान्ति पायगा वह शान्ति वह पुरुष नही पा सकता जो अपने आरामके लिए बडे साधन जुटाये । बँगले, कार, अच्छे दोस्तो का प्रसग आदि बडी-बडी बातें जुटायें तो एक तो धन विशेष, कामकी चिन्ता, दूसरे जितना ही अधिक पुरुषोका प्रसग होगा उतनी ही विपत्तियां आयेंगी । कभी कभी कोई परिवार मौज मे ही बहुतसे रिश्तेदारोको अपने घर बुला लेते, जैसे मानो गर्मीकी छुट्टी है तो उन दिनो अनेको लोगोको अपने घर बुला लिया, इसलिए कि कुछ दिन आनन्दका वातावरण रहे, मगर होता क्या है कि वहां रात दिन क्षोभ और क्रोधके प्रसगोकी बात अधिक रहती है । जितना अधिक प्रसग होगा उतना ही अधिक क्षोभकी बात बनती जायगी । तो ये सब अनावश्यक बातें है । आवश्यक जितना हो उतनेसे ही सतुष्ट रहे और बाकी सब कुछ धर्मपालनके लिए समय और उपयोग लगायें, जीवन तो उसका निष्फल है, पर तृष्णा ऐसी पिशाचिनी है कि वह विवेकको खो देती है और जहां तृष्णा बढती है वहां मायाचार करना पडता है । किसी को मायाचार करनेकी कुछ अटकी थोडे ही है मगर व्यर्थ की तृष्णा लगी है और उस तृष्णा

के अनुकूल साधन चाहते है । और साधन मिल जायें ऐसा पुण्य नही है तो छलसे, कपटसे, किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, यों मायाचारका व्यवहार करते है । तो ऐसा व्यवहार करने वाला पुरुष कदाचित् सम्पन्नता भी पाये तो भी वह शान्ति प्राप्त नही कर सकता ।

सरलता व आत्मधुनमे ही आत्मलाभ—दुनियाकी दुनियावी दृष्टिमे बेवकूफसा (उल्लू सा) बनकर रहनेमे लाभ है । यह सारी दुनिया, इसके लिए कौन बुद्धिमान बनता फिरे ? और बुद्धि बढाता फिरे तो वह सब उलझन है । और यदि इस मायाचारको छोडकर, विषय कषायको छोडकर सरल विधिसे चलें तो यद्यपि दुनियाके लोग उसे बेवकूफ कहेंगे, पर कह लेने दो बेवकूफ, अगर खुद धर्मपालन करते हुए चल रहे अपने जीवनमे तो उससे सारा फायदा हो फायदा है । धर्मस्वरूपको छोडकर दुनियामे सर्वोच्च जंचनेके लिए जिसने प्रयत्न किया है उसको तो इस जीवनमे भी बडा दुःख सहना पडता है । वह एक घटा भी आरामसे सो नही पाता । मान लो कोई बडा नेता बन गया या राज्याधिकारी मिनिस्टर बन गया तो बनते समय भी उसे दुःख और यदि उसका वह पद मिट गया तो उस समय भी दुःख । यद्यपि दुःखके कारण ये नही है किन्तु आत्मज्ञान न होनेसे दुनियाकी दृष्टिमे उच्च बननेका भाव बन गया तो उसको तो केवल कष्ट ही कष्ट है । शान्ति कभी नही मिल सकती । तो मायाचार छोडकर सरल भावसे अपने जीवनमे रहे । अनादि कालसे भव भवमे भ्रमण करते करते आज मनुष्यभव मिला है जिसमे मन भी श्रेष्ठ मिला है, तो आत्महित जिसमे हो, केवल यह हो धुन होना चाहिए और बाकी दुनियाकी पार्टी चक्कर, अर्थसग्रह, कीर्ति, चाह आदिकी बातें ये सब व्यर्थ है । केवल आत्महितकी धुन रहे, उसके लिए जो कुछ भी छोडना पडे उसमे कोई सकोच न हो । सो सरल भावसे रहनेका कर्तव्य इस जीवनमे हो ।

दुर्लभ योग्य जिह्वाके लाभका सदुपयोग हित मित प्रिय सभाषण—देखिये—अनन्त काल निगोदमे बीता, वहां तो जीभ मिली नही । एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चोइन्द्रियको जीभ मिली तो वे जीभसे क्या बोलें ? वे कहां स्पष्ट शब्द बोल पाते है । पशु पक्षी हो गए, उनको भी जीभ मिली तो भी वे वचन वर्गणायें नही बोल पाते । भाषा तो है उनके भी, मगर जैसे अक्षर हम आप बोलते वैसे अक्षर वे कहां बोल पाते ? वे तो बांय बांय, भौं भौं, चीं चीं करते रहते है । तो उस जीभसे भी वह लाभ उन जीवोको न मिल पाया जो मनुष्योको मिल रहा । मनुष्योंको ऐसा जीभ, ओठ, मुख, तालू आदिकी रचना मिली कि जिससे अपने मनकी सब बात दूसरो स्पष्ट बता सकते और दूसरोके मनकी बात सुन सकते । अब कोई इस जिह्वाको पाकर यदि इसका दुरुपयोग करे तो अलंकारमे यो समझो कि कर्म फिर उसे जीभ न देंगे, समझ लेंगे कि इसे तो जीभकी कुछ जरूरत नही है । तो फिर

एकेन्द्रिय बनना पडेगा । वहाँ फिर जीभ न मिलेगी । तो अपनी एक बडी जिम्मेदारी है कि इन पाये हुए दुर्लभ वचनोका सदुपयोग करें । अपना हित, मित, प्रिय वचन व्यवहार रखें । मायाचारी रहित अपना वचन व्यवहार रहे । अपने इन वचनोके द्वारा किसीको ठगनेका विचार न करें । कष्ट आखिर दूसरोको ठगने वाला ही पायगा । जो ठगा गया वह कष्ट पाय ही. ऐसा कोई नियम नही । वह तो उसके उदयसे सम्बधित बात है ।

क्लेशार्जित सुखकर रमणीयमर्ध्यं धन्यं कृषीबलजनस्य शिखीव सर्वं ।
भस्मीकरोति बहुधापि जनस्य सत्यं मायाशिखी प्रचुरदोषकरः क्षणेन ॥५६॥

मायाग्नि द्वारा गुणसमूहका दहन व मायाचारी पुरुषसे विशेष खतरा—जैसे कोई कृषक बडे परिश्रमसे धान पैदा करे—खेत जोते, बीज बोये, उसे समय-समय पर पानी दे, उसकी निराई की गई, और और भी उससे सम्बधित बडे-बडे श्रम करे । सब श्रम करके बडे कष्ट उठाकर फसल तैयार करे, उसे काटकर खलियानमे रखे, उसकी दाँय करे, सब काम कर डाले, पर अन्तमे उस धानकी बडी राशिमे कोई अग्निकरण गिर जाय तो वह सारा धान भस्म हो जाता है इसी प्रकार बहुत-बहुत कष्ट उठाकर दुनियामे बडा यश भी प्राप्त किया, बडे बडे गुणसमूह भी प्राप्त किए फिर भी पीछे यदि बुद्धि बिगड जाय, क्रोध, मान, माया आदिक कषायोमे प्रवृत्त हो जाय तो उसके वे सारे गुणसमूह भस्म हो जाते है । जिस पुरुषको क्रोध कषाय करनेका स्वभाव है उसके पास तो आप बैठ भी सकते है, देखा जायगा, जब क्रोध करेगा तब हट जायेंगे, सावधान हो जायेंगे, मान करने वालेके पास भी आप बैठ सकते है, और लोभ करने वालेके पास भी आप बैठ सकते है । जिस समय उसकी वैसी प्रवृत्ति होते देखा उस समय सावधान होकर उससे दूर हट गए, मगर मायाचारी पुरुषके पास कोई नही बैठना चाहता, क्योकि वह बडा खतरनाक है । उसके प्रति यह पता नही कि कब कैसा मायाचारीका बर्ताव कर दे कि घोर विपत्तिका सामना करना पड जाय ।

मायाचारी असत्यवादियोके संगका बड़ा खतरा—एक कथानक है कि किसी पुरुष को झूठ बोलनेकी बहुत आदत थी, वह एक बार एक सेठके पास पहुचा और बोला कि सेठ जी हमे अपने यहाँ नौकर रख लो । तो सेठने पूछा— क्या वेतन लोगे ?··· अजी वेतन कुछ नही, सिर्फ सीधा-सादा भोजन देते रहना और पूरा काम लेते रहना । इससे अधिक हमे कुछ न चाहिए । तो सेठने समझा कि यह तो बडा सस्ता नौकर मिल रहा । इतना सस्ता नौकर कहाँ धरा ? सेठ बोला—भाई और कुछ बता दो—क्या लोगे ? /तो वह पुरुष बोला—सेठ जी हमको सालमे एक बार झूठ बोलनेकी आज्ञा दे दो, इससे अधिक नही, क्योकि हमको

कुछ झूठ बोलनेकी भी आदत है। तो सेठ बोला—हाँ हाँ सालमे एक बार झूठ बोल लेना। सेठने सोचा कि हम तो रोज-रोज कितना ही झूठ बोलते, यह तो सालमे एक ही बार झूठ बोलनेको कह रहा, और फिर जब यह झूठ बोलेगा उस समय हम सावधान हो जायेंगे। यह सोचकर सेठने उसे अपने घर नौकर रख लिया। खैर चलता रहा, जब करीब १ वर्ष होनेको हुआ तो उस पुरुषने एक माया रची। आखिर उसे झूठ बोले बिना चैन तो पड नही रही थी, क्योंकि एक आदत ही ऐसी बन गई थी। सो क्या किया कि सेठानीसे कह दिया कि सेठानी जी आपको कुछ मालूम भी है, ये सेठजी प्रतिदिन रात्रिको करीब ११ बजे एक वेश्या के घर जाते है। इनका चरित्र बहुत बिगड गया है। (देखिये—स्त्रियोको सबसे बडा दु.ख इस बातमे होता जब कि उसका पति परस्त्रीगामी या वेश्यागामी है) तो इस बातको सुनकर सेठानी बहुत दुःखी हुई। फिर वह पुरुष सेठानीसे बोला—देखो तुम्हे अगर इस बातकी परीक्षा करना हो तो एक उपाय करो, हम वह उपाय बताते है—रात्रिके करीब १० बजे जब सेठजी सो जावें तब तुम बढिया उस्तरेसे उनकी दाढ़ी एक तरफ बना देना, जब सेठजी उस रूपमे वेश्याके घर जायेंगे तो वहाँ हो हल्ला मच जायगा, बस तुम्हे उसका सही पता पड जायगा। तो सेठानी बोली—ठीक है ऐसा ही करूँगी। उधर सेठसे कह दिया कि देखो सेठ जी तुम्हारी सेठानीका चरित्र बिगड गया है वह आज रात्रिको करीब १० बजे उस्तरा लेकर तुम्हारी गर्दन साफ करने आयगी, सो सावधान रहना। अब उस दिन जब सेठजी बिस्तरमे सोनेके लिए लेटे तो उन्हे नींद न आये। यों ही बनावटी आँखें मीचकर लेटे रहे। उधर वह सेठानी उस्तरा लेकर सेठकी एक ओरकी दाढ़ी बनाने आयी। (देखिये कुछ उस्तरे ऐसे भी होते कि सोतेमें हजामत बना दी जाय, पर पता न पडे) सो जब सेठानी उस्तरा लेकर आयी तो सेठने समझ लिया कि मेरा नौकर ठीक ही कह रहा था, सो झट उठा और सेठानीसे लड़ने लगा। दोनोमे बडी तेज लड़ाई हुई, मार-पिटाईकी नौबत आ गई। बादमे वह नौकर बोला—सेठजी बस लडाई बद कर दो, हमने अपना वेतन पा लिया। तुम दोनो ही ठीक हो, खराब कोई नही। यह तो हमने अपना वेतन चुकाया है। तुमने ही तो सालमे एक बार झूठ बोल लेनेका वायदा दिया था। बस लडाई बद हो गई। तो मायाचारी पुरुष बड़ा खतरनाक होता है, पता नही उसके द्वारा कब विपत्तिका सामना करना पड जाय। यह माया रूपी अग्नि बडे बडे गुणसमूहको भी क्षणभरमे ध्वस्त कर देती है।

विद्वेषवैरिकलहासुखघात भीतिनिर्भर्त्सनाभिभवनासुविनाशनादीन्।
दोषानुपैति निखिलान् मनुजोऽतिमायी बुद्ध्वेति चारुमतयो न भजति मायाँ ॥६०॥

नाना दोषोंकी खान मायाके व्यवहारसे स्व पर दोनोंकी हानि—मायाचारी पुरुष

इस संसारके बैरको बढाता है, एक दूसरेकी मित्रताको खत्म करा देता है, उनमे परस्पर बैर को बढा देता है और वह खुद शत्रुवोके डरसे चिन्तित होकर दुःख पाता है। ऐसा पुरुष कहलाता है दोगला। इससे बढकर होता है चोगला। चुगलखोरको चुगला कहते। देखिये— जिसके दो गले हो सो दोगला और जिसके चार गले हो सो चोगला। याने एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा वह हो गया दोगला और एक ही बातको एकसे कुछ कहा, दूसरेसे कुछ कहा, तीसरेसे कुछ कहा और चौथेसे कुछ कहा तो यह हो गया चोगला। ऐसा मायाचारी पुरुष निरन्तर चिन्तित रहता है। कहो इन दोनोमे या सबमे दोस्ती न हो जाय, और मेरी मायाचारीको बात खुल न जाय इस बातकी शल्य उसे निरन्तर बनी रहा करती है। मायाचारी करने वाला पुरुष रात-दिन लडाई झगडेमे फसा रहा करता है, सुखसे वह हाथ धो बैठता है। उसे सुख शान्ति नही मिलती। शान्ति पानेका बहुत सुगम तरीका यह है कि जब गृहस्थजन हैं तो अपना और कुटुम्बी जनोकी भूख-प्यासकी बाधा मिटे, ठड गर्मीकी बाधा मिटे, इसके लिए कमाई करना भी जरूरी हो जाता है, मगर उसकी भी विशेष चिन्ता क्या करना? जिस पुण्य प्रकृतिके उदयसे मनुष्य हुए, श्रेष्ठ समागम मिले, श्रेष्ठ कुलमे उत्पन्न हुए तो इतना भाग्य तो कमसे कम है ही कि गुजारा आसानीसे कर सके, फिर सारे समय खुद धर्मपालनके लिए और अपने कुटुम्बमे रहने वाले लोगोको धर्मपालनकी शिक्षाके लिए प्रायोगिक काम करें।

व्यवहारधर्म व निश्चयधर्मकी उपयोगिता—धर्मपालन है मात्र स्वभावदृष्टि, इसके पानेके लिए उतना कार्य करना पडता है जितना कि हम भूलकर भटक गए है वहांसे लौटने के लिए आवश्यक है उस ही का नाम व्यवहारधर्म है मायने है विकार शत्रुओ पर प्रहार करना। युद्धमे जो योद्धा लडने जाता है उसके हाथमे ढाल और तलवार दोनो रहते है। आजकल चाहे ढाल और तलवारका रूप कुछ भी रख लिया हो वैज्ञानिक तरक्की कर लेने की वजहसे, मगर बिना ढाल और तलवारके योद्धा लोग युद्धमे सफलता नही प्राप्त कर सकते। बचाव करनेके उपायका नाम है ढाल और प्रहार करनेकी जो वृत्ति है उसका नाम है तलवार। इन दोनोको जो युद्धमे लेकर जाता है वह योद्धा युद्धमे सफल हो पाता है। अब कोई सोचे कि युद्धमे तो प्रहार भर करता है, ढालकी क्या जरूरत? केवल तलवार लेकर उतर जाय तो बचावका उपाय न होनेसे चारो ओरसे घिर जायगा और मार दिया जायगा। अब कोई सोचे कि ढाल ही ढाल ले जावें, वही सब कुछ है, तलवारकी वहां क्या जरूरत? तो केवल ढाल लेकर युद्धमे जाने वाला भी मारा

जायगा। वह अपनी रक्षा नही कर सकता। ढाल और तलवार जैसे ये दोनों उपयोगी हैं युद्धमे विजय पानेके लिए ऐसे ही ससारयुद्धमें विजय पानेके लिए व्यवहारधर्म निश्चयधर्म ये दोनो ही उपयोगी है। व्यवहारधर्मसे अपनेको सुरक्षित बनायें, क्योकि व्यसन, पाप आदिके खोटे सस्कार जो अनादिकालसे साथ लगे है वे उदयमे आते हैं, उनसे दूर होनेका सीधा तात्कालिक उपाय क्या है? पूजा, भक्ति, दया, दान आदि शुभ कार्योंमें लगना। धर्मात्मा जनोकी सेवा-भक्तिसे सम्बधित जो कार्य है उनका नाम है व्यवहारधर्म। उससे तो अपनेको सुरक्षित बनायें ताकि व्यसनोका, पापवासनाका प्रहार अपने पर न आ सके। उनसे अपनेको बचा लें। अब उस सुरक्षित दशामे कर्तव्य यह है कि अपनी प्रखर तत्त्वज्ञानदृष्टिसे अपने आपको ज्ञानमात्र सहज स्वरूप अनुभवनेका प्रयत्न करें, सफलता हो जायगी। यह एक सीधी सादी सी बात है। विवाद विसम्वाद आदिमे पडकर सारा जीवन यो ही व्यर्थ खो देनेमे कोई बुद्धिमानी नही है।

पक्षपोषणकी कषायमें नाना विडम्बनायें—एक घटना है कि किसी स्टेशनके पास कोई दो मित्रोमे विवाद हो गया, इस बातपर कि एक तो कह रहा था कि खण्डवाके लिए इस स्टेशनसे ११ बजे रात्रिको एक्सप्रेस गाडी मिलती है बीचमे कोई गाडी नहीं है। एक कह रहा था कि ८ बजे रात्रिको एक एक्सप्रेस जाता है, इसी बातपर दोनोंमें बात बढ़ गई, तेज झगडासा दोनोमे मच गया, यहाँ तक कि मार-पिटाई तककी नौबत आ गई। इतनेमें कोई विवेकी पुरुष आया और पूछा कि भाई तुम लोग आपसमे क्यो झगड़ते हो? तो उन दोनोने अपनी-अपनी बात कही। एक बोला कि यहाँके स्टेशनसे खण्डवाको गाडी रात्रिके ८ बजे जाती है और यह झूठ बोलता कि ११ बजे जाती है, दूसरा बोला—यहाँसे खण्डवाको गाड़ी ११ बजे मिलेगी, यह झूठ बोलता है कि ८ बजे रात्रिमे मिलेगी। तो उस विवेकी पुरुष ने पूछा कि भाई तुम दोनोमे से किसे खण्डवा जाना है? तो वे दोनो ही बोले कि हमें नहीं जाना है तो वह विवेकी बोला—जब तुम्हे जाना नही है तब फिर इतना बडा झगडा कर डालनेसे फायदा क्या? तो यही बात यहाँ समझ लो, कल्याण तो किसीको करना नही है, सिर्फ कल्याणके सम्बन्धकी बातें कर-करके आपसमे झगड रहे है। अरे व्यर्थके झगड़ोमे पड़-कर इस दुर्लभ मानव-जीवनको क्यो व्यर्थ खोया जा रहा है? व्यर्थकी मायाचारी करनेका फल तो बड़ा भयंकर होगा। मायाचारी करने वालेके चित्तमे धर्मका प्रवेश नही हो सकता। जैसे मालाके किसी दानेमें टेढा छेद हो तो उसमें सूत नही पिरोया जा सकता, इसी प्रकार टेढे हृदय वाले व्यक्तिके अन्दर धर्मका प्रवेश नही हो सकता। मायाचारीसे भरा हृदय तो बेकार हृदय है, यह तो उसके संसारका परिभ्रमण ही बढ़ायेगा। इसलिए अपने हितकी धुन

रखनी चाहिए कि किसी भी प्रकार जैसे बने मेरेको ज्ञानप्रकाश मिले और उस पर अपनी शक्ति अनुसार चलकर जो कुछ शेष काम है, आगे करके ससार सागरसे छुटकारा पायें यही केवल एक भावना होनी चाहिए। करनेका कर्तव्य तो केवल एक यही है, बाकी तो सब व्यर्थ समझिये।

या प्रत्यय बुधजनेषु निराकरोति पुण्य हिनस्ति परिवर्द्धयते च पापं।
सत्य निरस्यति तनोति विनिद्यभाव तां सेवते निकृतिमत्र जनो न भव्य. ॥६१॥

मायाचारीके विश्वासकी समाप्ति—माया मायने छल-कपटका व्यवहार विद्वानोमें विश्वास खो देता है। याने मायाचारी पुरुषोका विद्वानोमे फिर विश्वास नही रहता, लोग उसके प्रति विश्वास नही करते और जिसका विश्वास उठ गया उसका जीवन यो ही गया। तो मायासे इतना बडा नुक्सान है और फिर मायासे कुछ बनता भी नही। बहुत संक्लेश करनेसे बडे मायाचारके भाव बनाये तो भी इससे मिलता कुछ नही है। जो जितना पुण्योदय है मिलेगा उतना ही, पुण्यसे बाहर न मिलेगा और पुण्य गया तो मिली हुई सम्पत्ति भी गई। मायाचार करनेसे क्या होता कि जो पुण्यबध था या होता उसमे भी कमी आ जाती है।

सम्पत्तिलाभकी पूर्वकृत पुण्यके उदय पर निर्भरता—एक बार एक सेठ गरीब हो गया। बहुत बडा सेठ था। इतना गरीब हो गया कि खानेके लिए उसे कही छोटा काम करना पडा। मिल गया काम उसे अर्जीनवीसीका। अर्जीनवीसीका काम वह कहलाता है कि किसीका पत्र लिख दिया, किसीका कुछ लिख दिया, और मिल गए दो-चार आने पैसे। उन्हीं से अपना गुजारा करे। बडी गरीबीकी स्थिति थी। वही सेठ एक बार जीनेसे नीचे उतर रहा था तो वहाँ एक आवाज आयी—क्या मैं आऊँ? तो सेठने तुरन्त तो कोई जवाब न दिया और न कुछ समझ ही पाया कि यह किसकी आवाज है? अब सेठने सेठानीसे बताया तो सेठानी थी चतुर, वह सब समझ गई कि वह लक्ष्मीकी आवाज थी, सो बोली— इस बार यदि कहे कि क्या मैं आऊँ तो मना कर देना कि मत आवो। सो दुबारा जब आवाज आयी कि क्या मैं आऊँ? तो सेठने मना कर दिया कि मत आवो। वही आवाज लगातार ७ दिन तक आती रही और सेठ बराबर मना करता रहा कि मत आवो। बादमे सेठानीने कहा कि अच्छा आजके दिन कह देना कि आवो तो सही, मगर आकर जावो नही तो आवो। सो सेठ ने वैसा ही कह दिया। वहाँ लक्ष्मी बोली—ऐसा तो हो नही सकता कि मैं आऊँ तो फिर जाऊँ नही, पर हम तुम्हे एक सहूलियत देती है कि जब जाऊँगी तो बताकर जाऊँगी। (देखिये यह भी कम सहूलियत नही है, लक्ष्मी कही किसीसे बताकर नही जाया करती। जब जाना होता तो बिना किसीको बताये, तुरन्त चली जाती है।) सेठने वही बात सेठानीसे आकर

बताया। तो सेठानी बोली—अच्छा कह दो कि आ जाय। अब क्या था, लक्ष्मी धड़ाधड आना शुरू हो गया। उसी दिन क्या हुआ कि उस नगरका राजा जो कि बहुत दिन पहले परदेश गया हुआ था उसकी रानीने उस अर्जीनवीससे कहा कि हमारी ओरसे एक पत्र राजा जी को लिख दो और इस ढंगसे लिखो कि उस पत्रको पढ़कर राजाको रंच भी विषाद न हो और तुरन्त चले आवें।....ठीक है। सो उस अर्जीनवीसने वैसा ही पत्र राजाके लिए लिख दिया। रानीने पत्र लिखाईकी उस अर्जीनवीसको एक मोहर प्रदान की। देखिये—कहाँ तो कुछ थोडेसे पैसे प्रतिदिन मिल पाते थे, पर उस दिन अन्य दिनोकी अपेक्षा सैंकडों गुना धन अधिक मिल गया। अब वह पत्र पहुंचा राजाके पास तो उसे पढकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और विचारने लगा कि अहो, मेरे नगरमें ऐसा कौन बुद्धिमान रहता है जिसने इस प्रकारका उत्तम ढंगका पत्र लिखा। आखिर अपने नगर आया और आते ही तुरन्त पता लगाया कि वह पत्र किसने लिखा था। तो रानीने बता दिया कि अमुक अर्जीनवीसने लिखा था। राजा ने उसे अपने पास बुलवाया और कहा कि आजसे तुम अर्जीनवीसीका काम छोडकर मेरे यहाँ का मंत्रीपद सम्हालो। अब मंत्री हो गया वह अर्जीनवीस। (सो आप सब जानते ही हैं कि मंत्री हो जाने पर आमदनीके कितने ही जरिये बन जाते हैं।) एक तो वेतन ही अधिक, दूसरे—मान लो किसी सडकसे जा रहा और किसी सेठसे कह दिया कि तुम्हारा यह मकान सडकको काफी दाबे हुए है। इसकी वजहसे सडक सीधी नही है, यह गिरवा दिया जायगा, तो बस मकान गिरवानेके भयसे, सेठ तो न जाने कितने ही रुपये उस मंत्रीको दे डालेगा। खैर वह मत्री पदपर हो जानेसे थोड़े ही दिनोमे मालोमाल हो गया। देखिये लक्ष्मीको आते हुए देर न लगी।

पुण्योदयसमाप्तिपर सम्पत्तिसमाप्ति—अब वही लक्ष्मी जब जाना हुआ तो किस तरह गई, सो भी देख लीजिए। उस मंत्रीने धनको अपने मकानके आंगनमे खूब अच्छी तरहसे सम्हालकर गाड दिया था, इसलिए कि यह अब मेरे पाससे कही जा न सके, पर देखिये—एक दिन वह राजा उस मंत्रीके साथ जगल घूमने गया। सो चलते चलते थक जानेसे दोनों एक वृक्षके नीचे बैठकर आराम करने लगे। मत्रीकी जंघापर सिर रखकर वह राजा सो गया, उसी बीचमे वहाँ वह लक्ष्मी मायामयी स्त्रीका रूप रखकर पहुंची और बोली—अब मैं जाती हू। तो मंत्रीने समझ लिया कि यह लक्ष्मी है जो जानेको कह रही है। सो उसे तो गर्व था कि मैंने सारे धनको खूब छिपाकर रख दिया है, वह जा कैसे सकती है ? सो बोला—तू नही जा सकती। फिर लक्ष्मी बोली—मैं तो जाऊँगी।...,...तू नही जा सकती।....मैं तो जरूर जाऊँगी। इसी प्रसंगमे मंत्रीको तेज क्रोध आ गया और राजाके कमरमे लटकी हुई तलवार

खीचकर बोला—तू मेरे पाससे नही जा सकती। खैर लक्ष्मी तो मायामयी थी, अन्तर्ध्यान हो गई, पर उसी प्रसगमे राजाकी नीद खुल गई और नीद खुलते ही राजाने अपने सिरके ऊपर खिची हुई तलवार देखी। राजा डर गया, पर कुछ बोल न सका, इस भयसे कि यदि मै कुछ बोलता हूं तो यह मंत्री मुझे मार देगा। मेरेसे यह बलवान भी है। सो राजा तो यो चुप रह गया, और मत्री यो चुप रह गया कि मैं यदि लक्ष्मीको मारनेकी बात कहू तो इसे कौन मान लेगा ? खैर दोनो ही चुपचाप चले। राजा राजमहल पर पहुचा और पहुचते ही राजाने सेनापतिको बुलाकर आदेश दिया कि उस मत्रीको अविलम्ब इसके समस्त परिवार सहित तुरन्त ही राज्यसे बाहर निकाल दिया जाय। अब क्या था, राजाका आदेश पाकर सेनापतिने उस मत्रीको तुरन्त ही सपरिवार राज्यसे बाहर निकाल दिया। अब बताओ उसके पास कहां लक्ष्मी रही। वह तो फिर ज्योका त्यो गरीब हो गया। तो यहां यह बता रहे कि जब लक्ष्मीको आना है तब आती है और जब जाना है तब जाती है।

मायाचारकी अनर्थकारिता—सम्पत्तिके पीछे मायाचारीका परिणाम करनेसे कुछ लाभ नही। बल्कि मायाचारीका परिणाम करके अपने पुण्यको और भी खोया जा रहा है। यह मायाका परिणाम सज्जनोमे मायाचारीके विश्वासको नष्ट कर देता है। पुण्यको नष्ट करता है और पापको बढाता है, क्योकि वह दुर्भाव है। देखिये—निमित्तनैमित्तिक सम्बध अटल तो है कि जो दुर्भाव करेगा, उसके दुर्भाव निमित्तके सन्निधानसे बँधा हुआ पुण्यकर्मका अनुभाग क्षीण हो जाता है, पापकर्मका अनुभाग बढ जाता है, यह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बधसे होता रहता है। प्रायः सभी लोग जानते है कि इस चीजका सम्बंध होनेसे इस चीज मे ऐसा परिवर्तन हो जाता है। इस निमित्तनैमित्तिक सम्बधका खडन नही किया जा सकता, बस ज्ञान इतना रखनेकी जरूरत है कि वह निमित्तभूत पदार्थ, कुछ उसकी परिणति न कर देगा, किन्तु वह दूसरा पदार्थ स्वय उसका निमित्त पाकर अपनी योग्यतासे उस रूप परिणम जाता है। तो इस मायाचारीके परिणामसे पापरस बढता है और पुण्यरसका क्षय हो जाता है। मायाचारीके भावसे सत्यकी जगह झूठ का साम्राज्य आ जमता है। जो मायाचारी करेगा वह सत्यवादी नही हो पाता, उसे झूठ बोलना ही पडता। यहां कुछ बोला, वहाँ कुछ बोला, ऐसा जिसने कपट जाल रचा हो वह सत्य नही बोल सकता। यह सत्यवादिताका एक ही गुण समस्त कषायोको और दुर्भावोको दूर कर देता है। मायाचार करनेसे तो सत्यकी जयह झूठका साम्राज्य छा जाता है और नाना प्रकारके जो निन्द्य भाव हैं वे भी आ जाते हैं।

मायाचार न करनेकी शिक्षाकी उपादेयता—यह शिक्षा पुरुषोको भी लेनी चाहिए और स्त्रियोको तो विशेष करके लेना चाहिए, क्योकि प्राय· देखा जाता है कि जो घरमे

ठलुवासे अधिक रहते उनमे ये प्रवृत्तियाँ अधिक बढ़ जाती है। दूसरी बात यह है कि वह स्त्रीका भव ही ऐसा है कि वहाँ ये बातें अधिक पायी जाती है। देखिये—स्त्री शब्दके अनेक पर्यायवाची शब्द बताये है—स्त्री, भार्या, नारी, महिला, दारा, अबला, औरत, आदि तो इनमे जो दारा शब्द आया है उसका अर्थ है—दारयति भेदयति भ्रातानि इति दारः अर्थात् भाई-भाईमे जो बँटवारा करा दे, लडाई करा दे या एक दूसरेका प्राण हरने वाला बैर, विरोध उत्पन्न करा दे उसे दारा कहते है। उनमे प्रायः ऐसे हो आदत होती कि कभी कुछ भिडाया, कभी कुछ, वे भाई भाईके प्रेममे बहुत बडा आघात पहुंचा देती है। उन स्त्री पुरुषो को बड़ा पुण्यवान समझना चाहिए जिनको धन वैभवके प्रति अधिक ममता न हो और परस्परमे धर्मसाधना करनेकी दृष्टिसे खूब हिल-मिलकर रह रहे हो। तो यह मायाचारीका परिणाम स्वयंको भी बहुत दुःखी कर डालता है और दूसरोको भी भयकर दुःखमे डाल देता है।

प्रच्छादितोपि कपटेन जनेन दोषो लोके प्रकाशमुपयातितरां क्षणेन।
वर्चो यथा जलगत विदधाति पुंसां माया मनागपि न चेतसि सन्निधेया ॥६२॥

मायाचारकी जलगत विष्टाकी तरह प्रकटता व उसकी पीड़ा—किसीका मायाचार बहुत दिनो तक छिपकर नही रह पाता। वह दबाये दबाये दबा रहता है, मगर कुछ समय बाद वह स्पष्ट हो जाता। उसीके मुखसे या किसी वृत्तिसे या उसके किसी चिन्हसे वह माया प्रकट हो जाती है। इस विषयमे आचार्यदेवने एक दृष्टान्त दिया है कि जैसे किसी सरोवरके जलमे या नदीमे किसी जगह कोई मनुष्य वहाँ विष्टा कर दे तो एक बार वह विष्टा पानीमे नीचे पहुचता है, मगर उसके अंश जो वजनके है जैसे ही वे घुलते है वैसे ही वह विष्टा तुरन्त ऊपर आ जाता है। ऐसे ही यह मायाका दुष्परिणाम दबाता है, मगर यह दब नही सकता। किसी कालमे किसी भी समय यह फिर उभर जाता है और जब मायाचार प्रकट हो जाता है तब फिर उसका जीवन दूभर हो जाता है, लोगोंकी दृष्टिसे वह गिर जाता है। सो इस प्रकरणमे मान और माया कषाय दूर करनेका उपदेश किया है। अब तक इसके तीन प्रकरण हुए हैं। पहले प्रकरणमे विषयसुखका निराकरण किया था। वह प्रकरण बहुत ही लाभदायक और हृदयको स्पर्श करने वाला है। दूसरे प्रकरणमे क्रोध कषायको दूर करनेका उपदेश किया। अब चतुर्थ प्रकरण आ रहा है जिसमे लोभ कषायका दूर करनेका उपदेश किया जा रहा है।

४—लोभनिराकरण प्रकरण

शीतो रविर्भवति शीतरुचिः प्रतापी स्तब्ध नभोजलनिधिः सरिदंबुतृप्तः ।
स्थायी मरुच्च दहनोऽदहनोपि जातु लोभानलस्तु न कदाचिददाहक स्यात् ॥६३॥

लोभाग्निकी दाहकता—लोभरूपी अग्निको विषयसुखका इंधन मिलता रहे तो वह कभी बुझती नही है । दुनियामे जितनी भी असम्भव बातें हैं वे चाहे सम्भव हो जायें, पर लोभकी अग्नि, लोभके विषय धन सम्पदा आदिक ये मिलते रहे और कोई सोचे कि इतना मिल जाय, जुड जाय, फिर मैं लोभ न करूँगा, आरामसे खूब धर्मसाधना करूँगा तो ऐसा सोचना उसके लिए स्वप्न जैसी बात है कि धन सम्पदा भी सामने बनी रहे, पास बनी रहे और तद्विषयक उसके लोभ कषाय न जगे, यह कैसे हो सकता ? चाहे जो चीज स्थायी है वह अस्थायी बन जाय, जिसमे जो स्वभाव है चाहे वह अपना स्वभाव छोड दे, सूर्य चाहे गर्मी छोडकर शीतल हो जाय, पर लोभरूपी अग्नि यह कभी शीतल (ठडी) नही हो सकती । एक कविने कहा है कि भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः, तपो न तप्त वयमेव तप्ता । कालो न यतो वयमेव याताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः । मैंने भोगोको नही भोगा । बल्कि मैं ही भोगोंसे भुग गया । अब भरपेट भोजन कर लिया तो अफरा हो गया, पेट पकडे बैठे हैं, कष्ट मान रहे हैं तो इसमे खुद ही तो भुग गए, भोजनका उसमे क्या बिगडा ? इसी प्रकारकी बात सभी भोगोकी है । भोग नही भुगे, किन्तु मैं ही भुग गया तप नही तपा, किन्तु हम ही तप गए । जहाँ अज्ञानभाव है, ज्ञानप्रकाश नही है वह कितना ही तप करे तो तप तो नही तपा, किन्तु वह मनुष्य ही तप गया । काला हो गया, जीर्ण हो गया, हड्डियाँ निकल आयी, ये सारी परिस्थितियाँ बन गईं । और समय नही व्यतीत हुआ, हम ही व्यतीत हो गए । समय तो आ ही रहा है, वह कभी नष्ट न होगा, अनन्तकाल तक रहेगा, मगर हम ही व्यतीत हो गए, वृद्धावस्थाकी सारी बातें आयी और कुछ समय बाद रोगादिक होकर मरे या न भी रोगादिक हो तो भी जब आयु समाप्त होती है तो बैठे बैठे यो ही चले जाते है । कुछ समय ही नही लगता, लोग आश्चर्य करके रह जाते, कि कल तक तो वह दुकानमे बैठता था आज सुबह भी मेरेसे बातें कर रहा था और अब एकदम चल बसा । तो काल नही व्यतीत हुआ, किन्तु हम ही व्यतीत हो गए । तृष्णा जीर्ण नही होती, किन्तु हम ही जीर्ण हो गए ।

लोभाग्निमे दाहकतापरिहारकी अशक्यता—भैया, धर्मपालनके लिए कभी ऐसा नही सोचा जाता कि पहले इतना धन बढा लें, इतनी जायदाद जोड लें बादमे सब कुछ छोडकर फिर धर्म करूँगा । तो धर्म करना तो स्वभावदृष्टि है, और यहाँ खूब जोड-जोडकर धन रख लिया और उसमे ही मन लगा है तो उसमे ही मन लगा रहेगा । स्वभावदृष्टि कहाँसे बनेगी ?

ओर जिसको परवाह नही और धन भी मिले तो भी स्वभावदृष्टि रहेगी। उसकी रुचि घरमे, धनमे, भोग प्रसंगोमे न रहेगी। किसी भी इष्टके समागममे उसे न हर्ष होगा और न विछोह में विषाद। वे सर्व कुछ बाह्य है यह ही उसकी नजरमे रहा, इसलिए वह विरक्त माना गया। तो तृष्णा अग्नि ऐसी है कि किसी पदार्थमे व्यामोह हो, तृष्णा हो और उसका ईंधन जुडता रहे तो यह हो सकता क्या कि वह तृष्णाअग्नि शान्त हो जाय। चाहे सूर्य अपने ग्रीष्म स्वभाव को छोडकर शीतल हो जाय, पर यह तृष्णारूपी अग्नि विषयरूपी ईंधनके पानेपर कभी शान्त नही हो सकती। चन्द्रमा चाहे अपनी शीतलताको त्याग दे, देखिये—चन्द्रमामे स्वय ऐसा गुण है कि वह मूलमे भी ठडा और उसका निमित्त पाकर जहाँ-जहाँ जो-जो चीज प्रकाशित हो रही है वह भी ठडी, जिसे सीधा यो कह दें कि चन्द्रमाकी किरणें ठडी होती है। सो चंद्र चाहे शीतलता छोड दे, लोभाग्नि दाहकताको नही छोड़ सकती।

वस्तुस्वरूपपर कुछ प्रकाश व लोभपरिहारका उपदेश—अब वस्तुस्वरूप देखिये—भाई लगता जरूर है कि इस चद्रमामे से किरणें फूट रही, मगर चद्रमाकी कोई भी चीज चन्द्रमाके प्रदेशोसे बाहर नही जा सकती। वस्तुस्वरूप देखिये—चन्द्रमामे या सूर्यमे बाहर निकलने वाली किरणें नही हुआ करती। हीरा रत्न वगैरा जो जो भी चमकीले पदार्थ हैं उनमे बाहर जाने वाली किरणें नही हुआ करती। किसी भी पदार्थकी कुछ भी चीज उस पदार्थके प्रदेशसे बाहर नही होती, तब फिर देखते तो खूब है कि ये किरणें है और ग्रन्थोमे भी लिखा है कि सूर्यको इतनी किरणे है, चन्द्रकी इतनी किरणे है तब फिर कैसे कह रहे कि किरणें नहीं है? तो भाई उन किरणोंका अर्थ यह है कि अपनी जो आँखोकी दृष्टि है सो जब ये आँखें किसी चमकदार पदार्थको निरखती है तो आँखोमे ही एक ऐसी कला है कि उसके द्वार देखनेपर प्रकाशक पदार्थनिमित्तक जो आकाशगत सूक्ष्म स्कन्ध प्रकाशित है उनकी पक्तियाँ दृश्य बन जाती है, प्रकाशमान पदार्थको देखनेमे इतनी पक्तियाँ बन जाती है एक बात, दूसरी बात यह है कि आकाशमे बहुतसे सूक्ष्म स्कध पडे हुये हैं सो जैसे सूर्य चन्द्रका सान्निध्य पाकर यहांके पदार्थ प्रकाशमान हो जाते है, यह प्रकाश चन्द्रका नही, सूर्यका नहीं, बिजली का भी नहीं, सूर्य, चद्र, बिजली आदि ये सब अपनी-अपनी जगहपर है, उनकी जितनी बोडी है बस उतने ही मे हैं, मगर वे ऐसे प्रकाशमान पदार्थ है कि उनका सन्निधान मिलने पर ये सब पदार्थ प्रकाशरूप हो जाते है। अब देखिये—यह निमित्तनैमित्तिक सम्बध बडा अबाधित है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। वहाँ तो कर्ताकर्मभाव नहीं है, बस इस दृष्टि की विजय तो बन सकती है, मगर कोई सही बातका निराकरण करे तो भले ही थोड़ेसे ही बहकाया जा सके, पर हृदय निराकर्ताओका भी सब समझता है। अब जो यथार्थ बात है

उसे निरखिये। वहाँ निमित्तनैमित्तिक भी बराबर है और कर्ता कर्म भाव किसीका किसी दूसरेमे रच नही है, ऐसा ही योग है कि अमुकका सन्निधान पानेपर यह पदार्थ इस रूप परिणम जाता है। तो जैसे सूर्य चन्द्रका सन्निधान पाकर ये भीत, पृथ्वी, मकान आदिक प्रकाशमान हो गए, इसी प्रकार यहाँ भी पड़े हुए सूक्ष्म स्कंध प्रकाशमान हो जाते है। अब आँखोसे जब देखते हैं तो आँखोके देखनेकी विधि ही यह है कि प्रकाशमान पदार्थको देखनेके समय पक्ति बन जाती है और उन पक्तियोका नाम किरण है। तो जैसे प्रकाश सूर्यका निमित्त पाकर आया है ऐसे ही गर्मी भी सूर्यका सन्निधान पाकर जो पदार्थ गर्म हुए है उन ही की परिणतिसे वे गर्म हुए हैं। तो वह ऐसा निमित्त है कि पदार्थके गरम होनेमे निमित्त बन गया इसको सब जानते है कि यह इस जातिका निमित्त है कि इसका योग होनेपर यह पक जायगा, यह गल जायगा, यह सड जायगा। सबका अलग अलग निमित्त योग बराबर व्यवस्थित है। निमित्त कुछ न हो, अटपट हो जाय कार्य, ऐसा नही होता। जो सामने खडा हो उसे निमित्त मान लो ऐसा अगर निमित्त हो तो प्रतिनियत व्यवस्था कहाँ रही और वह विज्ञान पद्धति कहाँ रही? सो सब प्रतिनियत व्यवस्था है? लेकिन कर्तृकर्मभाव नही है। अमुकका योग होनेपर अमुक पदार्थ किस रूप परिणम जाता है, उसकी योग्यता और अनुकूल निमित्तका सन्निधान यह कहलाता है निमित्तनैमित्तिक योग। सो चाहे चन्द्रमा भी शीतलताको त्याग दे, गरम बन जाय, ऐसी असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, लेकिन लोभ कभी शान्ति उत्पन्न नही कर सकता। जिसके चित्तमें तृष्णाकी दाह आ गयी उसके तो वह दाह रहेगी, वहाँ कभी शान्ति नही आ सकती। इस कारण लोभको अपना तीव्र वैरी जानें और यह भावना भरें कि मेरे हृदयमे लोभ विकार न आ सके और मैं अपने अविकार सहज ज्ञानस्वभावमे ही तृप्त रहू, ये ही क्षण मेरेको इष्ट हैं।

विषयेन्धनोंसे तृष्णाग्निकी तृप्ति असंभव—लोभकषाय इस जीवको कितना प्रेरती है उसके विषयमे हजारो जीभ हो तो भी बताया नही जा सकता। अनुभव सबको है कि जब लोभ कषाय चित्तमे होता है तो कितना परेशान होना पडता है? आचार्यदेव कहते हैं कि आकाश चाहे स्तब्ध हो जाय, कोई पिण्डरूप बन जाय, रूपी हो जाय, मगर तृष्णारूपी अग्नि अपने दाहपरिणमनको छोड दे याने लोभी पुरुषके गुणोंको भस्म कर दे और उसे व्याकुल कर दे, इस स्वभावको लोभ अग्नि छोड दे यह कभी नही हो सकता। कदाचित् समुद्र नदियोसे तृप्त होकर अपनी मर्यादा छोड दे, होता नही ऐसा, जैसे कहने लगते कि चाहे पूरब का सूर्य पश्चिममे उगने लगे, ऐसा कहकर एक दृढता बतायी जाती है। नदियाँ सभी समुद्रमे मिलती हैं, पर समुद्रसे नदी कोई नही निकलती। तो मालूम होता कि यह समुद्र नदियोसे तृप्त ही नही होता कितनी ही नदियां पड़ जायें समुद्रमे, पर समुद्र मानो यह न कह सकेगा

कि बस खूब नदियाँ आ गईं, अब मेरेमे समाती नही तो चाहे नदियोसे समुद्र तृप्त हो जाय और अपनी मर्यादा छोड़ दे अर्थात् समुद्रमे पानी बहने लगे, इतनी असम्भव बात चाहे होने लगे, पर लोभरूपी अग्नि कभी शाँतिदायक नही हो सकती। पवनका स्वभाव है बहते रहना। कोई हवा एक जगह स्थिर होकर रही क्या ? हाँ कोई पहियेमे भर दे वह बात अलग है, क्योकि चारो तरफ उसके आवरण है, हवा कहाँ जायगी ? अगर खुली जगहमे हवा एक जगह रुक जाय, ऐसा तो नही होता या तो हवा है ही नही और है तो वह बहती हुई ही है। एक जगह खड़ी हुई, बैठी हुई हवा नही हो सकती। सो चाहे हवा अपने बहनेका स्वभाव बंद कर दे, बहना बंद कर दे, पर लोभ अग्नि कभी अशान्तिदायकताको नही छोड सकता है। जहाँ लोभ है वहाँ अशान्ति होगी ही।

व्यवहृत पाप व अशान्तिका जनक पापस्वरूप लोभ—लोभ पापका बाप बखाना। बापके मायने जनक। पापको उत्पन्न करने वाला कौन ? लोभ कषाय। कदाचित् अग्नि जलानेका काम बंद करके शान्त होकर बैठ जाय, जो कि अत्यन्त असम्भव है। अग्नि होती जाज्वल्यमान और उसपर कागज कूडा कुछ भी डालें, उसको जला देती है। शान्त होकर बैठ जानेकी बात अत्यन्त असम्भव है, पर कह रहे कि चाहे असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, पर लोभ अग्नि कभी शान्तिदायक नहीं बन सकती। यह दुर्लभ मानवजीवन गुजार दिया लोभ और मोहमे ही रहकर, पाया क्या ? सब खोया ही खोया है। दूसरे पदार्थसे मोह किया, उसका फल क्या मिलता है ? प्रत्येक मनुष्यको देख लो, पछतावा मिलता है। कोई भी जोड़ा हो, चाहे पिता-पुत्रका ले लो या पति-पत्नीका ले लो, यह समागम सदा बना रहे, ऐसा हो सकता क्या ? मृत्यु सबकी है। अब मृत्यु होनेपर कोई पहले मरेगा, कोई बादमे मरेगा। तो जो पहले मर गया वह उतना टोटेमे नहीं रहता जितना कि जिन्दा रहने वाला टोटेमे रहा, क्योकि जो मर गया सो चला गया, नये शरीरमे पहुच गया, नया उपयोग बन गया, नई बात हो गई और जो घरमे बच गया, जिन्दा है वह उस मरेकी याद करके, सोच-सोच करके बहुत दिनो तक दुःखी रहता है। तो कौन रहा टोटेमे मरने वाला या जिन्दा रहने वाला ? जिन्दा रहने वाला। तो मतलब यह है कि मृत्यु सबकी होती है, जो मोह करेगा उसके फलमे अन्तमे पछतावा ही हाथ लगता है।

मोहका दुष्परिणाम—गुरुजी एक घटना बतलाते थे कि बम्बईका कोई एक बड़ा ऊँचा गणितका प्रोफेसर था। उसे अपनी स्त्रीमे बड़ा मोह था। जब स्त्री घरसे कहीं बाहर जाती थी तो वह उस स्त्रीके ऊपर छाता लगाकर साथ जाया करता था, इतना मोह था उस पर। ऐसा तो आजकल भी कोई नहीं करता। तो उस स्त्रीने उस प्रोफेसरसे कहा कि देखो

हमसे इतना अधिक मोह न रखो। नही तो हमारे मर जाने पर तुम पागल बन जावोगे। आखिर हुआ भी वैसा ही। वह स्त्री मर गयी तो वह प्रोफेसर उसके पीछे पागल बन गया। वह एक दिन बनारसके भदैनो घाटकी एक धर्मशालामे ठहरा हुआ था। अकेला ही था। वही पर हमारे गुरु गणेशप्रसाद जी व धर्ममाता चिरोंजाबाई जी भी ठहरी हुई थी। सो एक बार सहसा ही आवाज आयी—अरे तुम अभी उठोगी नही क्या, सवेरा हो गया है, मन्दिर नही जावोगी क्या ? खाना नही बनाओगी क्या ?···इस प्रकारकी आवाज सुनकर बाई जी ने सोचा कि यहाँ उस एक प्रोफेसरके अलावा दूसरा कोई ठहरा नही है, यह कह किससे रहा ? यह जाननेके लिए उस प्रोफेसरको अपने पास बुलाया और पूछा कि अभी तुम किससे बातें कर रहे थे ? तो उस प्रोफेसरने उस अपनी स्त्रीकी फोटो निकालकर दिखायी और सारी घटना बतायी कि इस तरहसे हमारा दिमाग बिगड गया। तो देखिये मोह करनेसे नफा कुछ नही, उल्टा बरबादी ही है। मतलब कुछ नही, लेना-देना कुछ नही, भिन्न सत्ता है, न कभी कुछ मेरा हुआ, न हो सकता है, न हो सकेगा। सो यह बाहरी पदार्थ तो मानो यह कह रहा है कि तुम मुझसे मोह न करो, मैं भिन्न हू, परपदार्थ भिन्न हैं और यहाँ मोही कह रहे कि मान न मान मैं तेरा महिमान। ये चेतन अचेतन सब पदार्थ रोज घटना द्वारा शिक्षा देते रहते है कि हम तुम्हारे कुछ नही है, पर यह मोही यह कहता है कि तुम मुझे मानो या न मानो, हमारे तो तुम महिमान हो, बडे हो, सर्वस्व हो। तो मोहमे ऐसी स्थिति बिगडती है कि इसको संसारमे रुलकर दुःखी ही होना पड़ता। सबसे बडी विपत्ति है जीवपर तो यह है कि अज्ञान और मोहभाव इसपर लदा हुआ है। दूसरी कोई विपत्ति नहीं। बाहरी पदार्थ जुड गए या कम हो गए यह कोई विपत्ति नही। इतने कम हो गए तो हो गए, अमुक जगह हो गए तो हो गए, यह कोई विपत्ति नहीं। जो आत्मामे मोह और लोभके परिणाम बन रहे हैं ये विपत्ति है। यह भार है अपने ऊपर। सो इस छदमे यह बताया गया है कि किसी समय असम्भव बात भी सम्भव हो जाय तो हो जाय, पर लोभसे शान्ति सुख मिल नहीं सकता।

लब्धेंधनज्वलनवत्क्षणतोपि वृद्धि लाभेन लोभदहनः समुपैति जतो।।
विद्यागमव्रततपः शमसयमादीन् भस्मीकरोति यमिनां स पुनः प्रबुद्धः ॥६४॥

जैसे कोई अग्नि बुझने वाली हो, ऐसी स्थितिमे उसको ईंधन मिल जाय तो वह अग्नि फिरसे जवान बनकर, तीव्र बनकर बडेसे बड़े मकानोको भस्म कर सकती है, इसी प्रकार कभी लोभ रूपी अग्नि कुछ बुझ सी रही हो याने झक मारकर लोभ छोडा जा रहा हो, हर बातमे निराशा ही निराशा पा रहा हो और बाह्य पदार्थोंकी प्राप्ति नही हो पाती है

तो यह अपनी लाभ कषायको भी क्षीण कर देता है। उसमे अब लोभकी जवानी नही बन पाती। तो ऐसी स्थितिमे जहाँ कि लाभ कषायरूपी अग्नि बुझसी रही हो उसको मिल जाय कुछ ईंधन। कुछ वैभव तो वह लोभ फिरसे बढकर इतना प्रबल हो जाता है कि बडे-बडे तपस्वियोकी विद्या, यम नियम संयम इन सबको खत्म कर देता है। द्वीपायन मुनिका लोभ कितना बुझासा ही तो था सभी कषायें बुझी थी तब ही तो उनको तैजस ऋद्धि प्राप्त हुई थी। मिथ्यादृष्टिको तैजस ऋद्धि कहाँ प्राप्त होती ? वह सम्यग्दृष्टि थे। उनके लोभकषाय तो बहुत बुझा सा ही था, मगर एक घटनामे जरा सा क्रोधका ईंधन मिला कि एकदम दहक उठा और सारी नगरीको भस्म कर दिया। खुद भी भस्म हो गया। तैजस ऋद्धि वालेके क्रोधमे बायें कंधेसे बिलावकी तरह बुरे आकारका तैजस पुतला निकलता है सो वह ९ या १२ योजन तक फैलकर जो कुछ है सबको भस्म कर डालता है। ऐसी ही लोभकी बात है। लोभ कषाय कुछ बुझसा रहा हो और ऐसे समयमे विषयसाधनोका ईंधन मिल जाय तो फिर यह लोभ कषाय फिरसे तगडा बन जाता है, और सारे गुणोको भस्म कर देता है। कषाये तो सभी अग्निकी तरह है। क्रोधको भी अग्नि कहा, मानको भी अग्नि कहा, मायाको भी अग्नि कहा और अब लोभको भी अग्नि कह रहे। और ऐसी तीव्र अग्नि है ये सभी कषायें कि इस दिखने वाली अग्निसे भयंकर है। मान भी गुणोको भस्म करता, मायासे भी सब गुण भस्म हो जाते है और लोभसे भी सब गुण भस्म हो जाते है। लोभसे उल्टा चलें तो भला। लोभका उल्टा शब्द है भलो। अगर लोभसे उल्टा चलें तो भला होगा। इससे इस लोभ कषायका परिहार करना चाहिए।

उदारता एवं सत्कृतिसे पुण्यकी वृद्धि—इस सम्बधमे एक किम्वदन्ती है कि एक बार ब्रह्माजी किसीको करोडपति सेठके घर पैदा होनेके लिए भेज रहे थे और उसके भाग्य में लिख रहे थे—काला घोडा और ५ रुपया। उधरसे निकले कोई साधु महाराज और पूछ बैठे कि ब्रह्माजी, आप क्या कर रहे है ? तो ब्रह्माजी बोले—हम इस जीवको एक करोडपति सेठके घर पैदा होनेके लिए भेज रहे है और इसका भाग्य लिख रहे है। तो साधु बोला—इसके भाग्यमे आपने क्या लिखा ?····काला घोडा और ५ रुपये।····अर अरे यह तो आप उसके साथ अन्याय कर रहे। इससे तो अच्छा है कि उसे किसी दरिद्रके घर भेज दो।····नही नही हमने तो जो इसके भाग्यमे लिखना था सो लिख दिया।····अच्छा तो आपका इस रेखाको हम मेटकर ही रहेगे। (देखिये यह अन्य मत वाले लोगोका कथानक है। मात्र प्रयोजनकी बात इससे लेना) अब वह बालक पैदा हो गया उस धनिक सेठके घर। उसके पैदा होते ही सेठका धन कम होने लगा। ज्यो-ज्यो वह बालक बडा होता गया त्यो-त्यो सेठका

सारा धन क्षीण होता गया। अन्तमे उस लडकेके पास रह गया वही काला घोडा और ५ रुपये। वहा वह साधु पहुचा और बोला—–बेटा, तुम मेरा कहना मानोगे ?··'हां हां अवश्य मानेंगे। कहो क्या आज्ञा है ? ··तुम अपना घोडा बेच दो और तुम्हारे पास जो ५ रुपये हैं उन सहित सबको भोजन-सामग्री (शक्कर, तेल, दाल, चावल, आटा वगैरा) मंगा लो और नगरके सभी लोगोंको खूब भोजन कराओ। अब उस लडकेने वैसा ही किया। बाजार गया, १००) मे घोडा बेच दिया, अब उसके पास हो गए १०५) सो १०५ रु० की भोजन-सामग्री मंगाकर सभी लोगोंको खूब खिलाया। अब उसके पास घोडा और ५ रु० तो रहे नही सो ब्रह्माजी ने सोचा कि हमने इसके भाग्यमे काला घोडा और ५ रुपये लिख रखा है सो तुरन्त भेजना चाहिए। यह सोचकर दूसरे दिन फिर उस लडकेके पास काला घोडा और ५ रुपये हाजिर हो गए। दूसरे दिन भी उस साधुने वैसा ही कार्य कराया। यही काम बीसो दिन चलता रहा। अब रोज-रोज कहांसे ब्रह्मा जी काला घोडा लायें ? ५ रुपये तो जब चाहे टपका दें, पर काले घोडे वाली समस्या उनके सामने भारी आ गई। आखिर परेशान होकर ब्रह्मा जी को उस लडकेकी वह रेखा मेटनी पडी और उसके भाग्यमे वैसा ही लिखना पड़ा जैसा कि उसके पिताका भाग्य था। यह किंवदन्ती शिक्षाके लिये दुहराई है।

उसमे कोयला निकलता है । अब बताओ कोयला भरकर कोई गाड़ेगा क्या ? अरे गाड़ा तो था धन, मगर वहाँ कोई ऐसी ही विधि बन जाती कि वहाँसे कोयला निकलता है । इस बात का अंदाज आप एक दृष्टान्तसे कर लीजिए । आप लोगोने अनेको बार जादूगरोके तमाशे देखे होगे । उसमे क्या बात देखनेमे आती सो आप सब जानते ही हैं । बडा आश्चर्य हो जाता है उनका वह कार्य देखकर । मान लो उस जादूगरने पूछा किसीसे कि बोलो तुम कौनसी चीज कहाँकी मंगाना चाहते हो, हम तुरन्त हाजिर करके दिखायेंगे । यदि वह कहे कि हमे तो विदेशकी अमुक चीज मगाकर दिखा दो तो वह जादूगर झट वही चीज मंगाकर सबके सामने हाजिर कर देता है । अब बात वहाँ क्या हुई, सो मेरे ख्यालसे तो उन्हे किसी देवकी सिद्धि होती है । सो वह देव तुरन्त अपनी कलासे वह चीज लाकर सबके सामने हाजिर कर देता है, नही तो उस जादूगरमे ऐसी सामर्थ्य कहाँ जो ऐसा करके दिखा दे । एक बात यहाँ समझना कि जिनको भूत प्रेतकी सिद्धि होती है, उनका जीवन बिल्कुल बेकारसा रहता है, दूसरे वे किसीके धनको हर नही सकते । हाँ भले ही किसीका धन भूला हुआ हो, जिससे किसीको कुछ कष्ट न हो, ऐसे धनको भले ही वे वहाँसे निकाल सके । तो बात यह बतला रहे कि जब किसीके पुण्यका अस्त होता है तो वही धन उसे कोयलेके रूपमे प्राप्त होता है और जिसके पुण्यका तीव्र उदय होता है उसके साथ कोई कितने ही उपाय करे, पर उसका कोई बाल-बाँका नही कर सकता है । देखिये—कालसम्वरके पुत्रने प्रद्युम्नको मारनेके लिए कितने ही उपाय किए, पर जहाँ जहाँ भी वह प्रद्युम्न गया वहीसे उसको अनेक विद्यायें मिली । तो ये सब बाहरी बातें पाप पुण्यकर्मके आधीन हैं । बुद्धिमान् पुरुष वे है जो इनकी चाह नही करते । सबका अपने-अपने भाग्यके अनुसार गुजारा चलेगा, उसकी अधिक क्या चिंता करना ?

सहजज्ञानानन्दसम्पन्न अन्तः प्रभुको भूलकर अन्य नाना प्रयत्नोंमें भी शाँतिकी असम्भवता—धनकी आशासे लोग पृथ्वी तलको खोदते है । कितने ही लोग धन जोडनेके लिए पर्वतकी शिलावोका धातुवोका दहन करते है । और भी न जाने कितने ही कष्ट उठाते एक धन जोडनेके लिए । धन सचय करनेके प्रयत्नमे रात-दिन रहते फिर भी कभी तृप्त नही हो पाते । कितने ही मनुष्य तो राजाके आगे-आगे दौड़ते है, क्योकि धन प्राप्तिका स्थान राज्याश्रय है । आज भी यही देखा जा रहा है । भले ही कोई राजा नही रहा, मगर किसी तरह परमिट लेना, किसी प्रकारके अन्य कोई अधिकार पाना, उससे धनसचयका काम करते है । तो धनसंचयके लिए राजाके आगे-आगे दौड़नेपर भी मिलता वही है जितना कि उसके पुण्य बधा है उससे अधिक यह मनुष्य एक धनसचयकी आशासे ही तो देश-विदेश भागता-फिरता है । बहुत-बहुत यत्र-तत्र भटकनेपर भी जिसके जैसा पुण्यका उदय है उसके अनुसार उसे धन प्राप्त

सारा धन क्षीण होता गया । अन्तमे उस लडकेके पास रह गया वही काला घोडा और ५ रुपये । वहां वह साधु पहुचा और बोला——बेटा, तुम मेरा कहना मानोगे ?" 'हां हां अवश्य मानेंगे । कहो क्या आज्ञा है ? "तुम अपना घोडा बेच दो और तुम्हारे पास जो ५ रुपये हैं उन सहित सबकी भोजन-सामग्री (शक्कर, तेल, दाल, चावल, आटा वगैरा) मंगा लो और नगरके सभी लोगोंको खूब भोजन कराओ । अब उस लडकेने वैसा ही किया । बाजार गया, १००) मे घोडा बेच दिया, अब उसके पास हो गए १०५) सो १०५ रु० की भोजन-सामग्री मगाकर सभी लोगोको खूब खिलाया । अब उसके पास घोडा और ५ रु० तो रहे नही सो ब्रह्माजी ने सोचा कि हमने इसके भाग्यमे काला घोडा और ५ रुपये लिख रखा है सो तुरन्त भेजना चाहिए । यह सोचकर दूसरे दिन फिर उस लडकेके पास काला घोडा और ५ रुपये हाजिर हो गए । दूसरे दिन भी उस साधुने वैसा ही कार्य कराया । यही काम बीसो दिन चलता रहा । अब रोज-रोज कहांसे ब्रह्मा जी काला घोडा लायें ? ५ रुपये तो जब चाहे टपका दें, पर काले घोडे वाली समस्या उनके सामने भारी आ गई । आखिर परेशान होकर ब्रह्मा जी को उस लडकेकी वह रेखा मेटनी पडी और उसके भाग्यमे वैसा ही लिखना पडा जैसा कि उसके पिताका भाग्य था । यह किंवदन्ती शिक्षाके लिये दुहराई है ।

पुण्यविपाकसे पुनः समागमोकी घटनायें——भैया ! लोभ करनेसे फायदा क्या ? इस लोभसे उल्टा चले तो भला होगा । आज जो पुण्योदयसे धन प्राप्त हुआ है उसको योग्य कार्यों मे खर्च करें तो उससे कही धन कम नही होता । अगर पुण्यका उदय है तो धन तो धाधाकर आयगा । बडे बडे राजा महाराजावोके कथानक सुननेको मिलते है कि वे सब कुछ छोडकर चले गए, पर उनके पुण्यका उदय होनेसे फिर ज्योंके त्यो धनिक बन गए । यहींकी बात देख लो — जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तानमे बंटवारे पर आंतरिक युद्ध शुरू हो गया तो कितने ही लोग सब कुछ छोडकर मात्र एक तौलिया पहनकर भगे, पर कुछ ही दिनोमे वे फिर ज्योके त्यो धनिक बन गए । तो इस लोभकषायका त्याग करें । इस लोभ कषायके ही कारण बडे-बडे गुणसमूह भस्म हो जाते है ।

विताशया खनति भूमितलं सतृष्णो धातून गिरेर्धमति धावति भूमिपाग्रे ।
देशांतराणि विनिधानि विगोहते च पुण्यं बिना न च नरो लभते स तृप्तिं ॥६५॥

पुण्यके बिना इष्टलाभकी अशक्यता——यह मनुष्य धनकी आशासे पृथ्वीके तलको खोद देता है । यहां मिलेगा धन, घरके इस हिस्सेमे मिलेगा धन । खोदता है और कुछ प्राप्त नही होता । एक विचित्र बात जिसकी शोहरत है कि घरमे बहुत धन उसके पिता या बाबा गाढकर रख गए थे और कदाचित् वह खोदता है तो कभी-कभी निकलता तो मटका है, पर

चक्षुःक्षयं प्रचुररोगशरीरबाधाश्चेतोभिघातगतिभंगममन्यमानः ।

सत्कृत्य पत्रनिचयं च मषी विमर्द्य तृष्णातुरो लिखति लेखकतामुपेतः ॥६७॥

लोभीका मषिकार्य करके दुःखभाजनपना—अब मुनीमीका भी एक व्यवसाय है वह भी लोभवश किया जाता है । पहले तो स्वयं ही मुनीम लोग काली स्याही भी बनाते थे घोट घोटकर और उसे १२ महीनेके लिए रखते थे, उससे रोकडखाता लिखते थे । उस लेखनकार्य से नेत्रोंकी ज्योति मंद हो, शरीरमे अनेक प्रकारके रोग पैदा हो गद्दीमे बहुत समय तक बैठे रहनेसे, तो ये जो मसीके कार्य किए जाते है वे सब लोभवश ही तो किये जाते हैं । यहां क्या कार्य किए जाते है उन सभी कार्योंका वर्णन है । आजीविकाके जितने साधन हैं वे ६ प्रकार के बताये गए । असि—तलवार आदिकसे रक्षा करनेकी नौकरी करना, मसि—स्याहीसे लिखना याने मुनीमी करना, शिल्पी—कारीगरीके काम करना और सेवा करना, जैसा कि नाई, धोबी वगैरा करते हैं । तो आजीविकाके जितने भी कार्य है ये सब लोभवश ही तो करने पड़ते हैं । यद्यपि कुछ लोग संतोषी है और केवल अपने गुजारे मात्रका ध्यान रखते है, पर वह भी आखिर है तो लोभ ही । फिर अनेक लोग जो आवश्यकतासे कुछ सम्बंध नही रखते और चाहते हैं कि मैं सबसे अधिक धनिक बन जाऊँ ऐसी भावनासे कार्य करते हैं, ये सब कार्य लोभवश ही तो किए जाते हैं ।

विश्वभरां विविधजतुगणेन पूर्णां स्त्री गर्भिणीमिव कृपामपहाय मर्त्यः ।

नानाविधोपकरणेन हलेन दीनो लोभार्दितः कृषति पापमलोकमानः ॥६८॥

लोभवशीका विविधजन्तुपूर्ण पृथ्वीका कर्षण—यह पृथ्वी विश्वम्भरा कहलाती है । नाना प्रकारके जीव-जंतु प्राणियोसे यह भरी हुई है, सो नाना प्रकारके उपकरणोसे, हलोसे यह पुरुष दीन होकर, लोभसे पीडित होकर पापको न गिनता हुआ इस जमीनको जोतता है, खोदता है । यद्यपि कुछ न कुछ कार्य आजीविकाके लिए करना तो पडता ही है सो जैसा जो करना पडता, करे, मगर है तो पापका ही घर । यह खेती विषयक बात कही जा रही है कि कितने जतु इस पृथ्वीमे होते है, फिर भी इस पृथ्वीको यह मनुष्य जोतता है, खोदता है, उसमे कितने ही जीव मर जाते है, ऐसा कार्य लोग लोभके वश होकर ही तो करते है । गर्भिणी स्त्रीके उदरमे बच्चा रहता है तो उस पर कृपा न करके कामवश होकर यह उसको गिरानेमे पाप नही समझता । कितने ही पुरुष हैं ऐसे और आजकल तो सुना है कि कुछ उस कामके लिए दफ्तर भी बने है जैसे कि चिकित्सालय । तो चाहे वे सरकारसे मजूरी लेकर खुलकर बने हो या बगैर मंजूरीके मगर अनेक जगह बने हैं जहां कि गर्भिणी स्त्रियोके बच्चे गिरानेका कार्य होता है । तो जैसे उन कामी जनोका हृदय है, पाप नही तकते, ऐसे ही लोभी

होता है । यही देख लो—एक ही मां के दो सगे भाइयोमे एक भाई तो कहो बडा राज्याधिकारी बन जाय, कडा धन वैभव, यश-प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले और एक भाई कहो दो रोटियोके लिए भी मोहताज हो जाये । तो कितना ही प्रयत्न कर लिया जाय, पुण्यके योग बिना कही भी लाभ सम्भव नही । ये सब-बाह्य बातें हैं, इससे अपने चित्तको ऐसा बनाना चाहिये कि इन बाह्य पदार्थोंकी क्या आकांक्षा करना ? एक ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वकी आराधनामे ही सर्व सिद्धि है । बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे मानो ये बाह्य पदार्थ प्राप्त भी हो जायें फिर भी शान्ति तो नही मिल पाती, पुण्यके प्रभावसे कहो घर बैठे ही सम्पदा आये और पुण्यके अभावसे कही भी जाये कितना हो श्रम करे, पर सम्पदा नही मिल पाती, बल्कि जो पासमे है वह भी निकल जाती । तो धनकी आशा छोड़कर पुण्यका अर्जन करना यह तो आगे सुखी होनेका मार्ग है, पर आशामे प्रयत्न करते रहना यह सुखी होनेका मार्ग नही है । और सही मार्ग तो पुण्य पाप दोनोमे विलग होकर आत्मधर्मकी दृष्टि अनुभूति करना सच्चा मार्ग है ।

वर्धस्व जीव जय नद विभो चिर त्वमित्यादिचाटुवचनानि विभाषमाणः ।
दीनाननो मलिननिंदितरूपधारी लोभाकुलो वितनुते सधनस्य सेवां ॥६६॥

लोभीका तृष्णावश चाटुकारिताका व्यवहार—तृष्णाके वश होकर जीव क्या-क्या करता है, उन सब घटनाओका दिग्दर्शन कुछ छदोमे चलेगा । इस छदमे बता रहे हैं कि यह जीव धनकी आशासे धनीके पास जाता है और दीन दुःखी होकर उनके मनको प्रसन्न करने वाले चाटुवचन बोलता है—जीवो, बढो, जयवत हो, आनन्दित हो । और भी अपनी-अपनी भाषामे जैसे कहा जाता—दूधन नहावो, पूतन फलो आदिक नाना चापलूसीके वचन कहकर उनकी सेवा सुश्रुषा करते है । तृष्णाके परिणामकी चेष्टा बतायी जा रही है । जीव स्वय ज्ञानानन्द सम्पन्न है, उसकी तो सुध नही लेता और बाहरी उपयोग करके बाह्य पदार्थों से मुझे सुख शान्ति मिलती है, ऐसी बुद्धि करता हुआ परके आधीन बना रहता है । लोभ कषाय—यह बहुत मुश्किलसे छूटने वाली कषाय है, तभी बताया है आगममे कि इसके क्रोध, मान, माया पहले छूटते है और लोभकषाय अंतमे नष्ट होती है । सूक्ष्म रूपसे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये ९वें गुणस्थानमे नष्ट हो जाते हैं । यह सूक्ष्म लोभ १०वें गुणस्थानमे चलता है, उनका अतमे नष्ट हो पाता है । लोभका रग निरतर चित्तमे बना रहता है । सोया हुआ, जगता हुआ कैसी भी स्थितिमे हो, जिसके लोभकषाय है उसकी ओर दृष्टि वासना भीतर निरन्तर रहा करती है । सो यह जीव लोभके वश होकर दीन दुःखी होकर अनेक प्रकारके चाटु वचन बोलते है ।

चक्षुःक्षयं प्रचुररोगशरीरबाधाश्चेतोभिघातगतिभंगममन्यमानः ।
संस्कृत्य पत्रनिचयं च मषी विमर्द्य तृष्णातुरो लिखति लेखकतामुपेतः ॥६७॥

लोभीका मषिकार्य करके दुःखभाजनपना—अब मुनीमीका भी एक व्यवसाय है वह भी लोभवश किया जाता है । पहले तो स्वयं ही मुनीम लोग काली स्याही भी बनाते थे घोट घोटकर और उसे १२ महीनेके लिए रखते थे, उससे रोकडखाता लिखते थे । उस लेखनकार्य से नेत्रोंकी ज्योति मंद हो, शरीरमे अनेक प्रकारके रोग पैदा हो गद्दीमे बहुत समय तक बैठे रहनेसे, तो ये जो मसीके कार्य किए जाते है वे सब लोभवश ही तो किये जाते हैं । यहाँ क्या कार्य किए जाते है उन सभी कार्योंका वर्णन है । आजीविकाके जितने साधन हैं वे ६ प्रकार के बताये गए । असि—तलवार आदिकसे रक्षा करनेकी नौकरी करना, मसि—स्याहीसे लिखना याने मुनीमी करना, शिल्पी—कारीगरीके काम करना और सेवा करना, जैसा कि नाई, धोबी वगैरा करते है । तो आजीविकाके जितने भी कार्य है ये सब लोभवश ही तो करने पडते हैं । यद्यपि कुछ लोग संतोषी है और केवल अपने गुजारे मात्रका ध्यान रखते है, पर वह भी आखिर है तो लोभ ही । फिर अनेक लोग तो आवश्यकतासे कुछ सम्बंध नही रखते और चाहते हैं कि मैं सबसे अधिक धनिक बन जाऊँ ऐसी भावनासे कार्य करते हैं, ये सब कार्य लोभवश ही तो किए जाते हैं ।

विश्वंभरां विविधजंतुगणेन पूर्णां स्त्री गर्भिणीमिव कृपामपहाय मर्त्यः ।
नानाविधोपकरणेन हलेन दीनो लोभार्दितः कृषति पापमलोकमानः ॥६८॥

लोभवशीका विविधजन्तुपूर्ण पृथ्वीका कर्षण—यह पृथ्वी विश्वम्भरा कहलाती है । नाना प्रकारके जीव-जंतु प्राणियोसे यह भरी हुई है, सो नाना प्रकारके उपकरणोसे, हलोसे यह पुरुष दीन होकर, लोभसे पीडित होकर पापको न गिनता हुआ इस जमीनको जोतता है, खोदता है । यद्यपि कुछ न कुछ कार्य आजीविकाके लिए करना तो पडता ही है सो जैसा जो करना पडता, करे, मगर है तो पापका ही घर । यह खेती विषयक बात कही जा रही है कि कितने जतु इस पृथ्वीमे होते है, फिर भी इस पृथ्वीको यह मनुष्य जोतता है, खोदता है, उसमे कितने ही जीव मर जाते है, ऐसा कार्य लोग लोभके वश होकर ही तो करते है । गर्भिणी स्त्रीके उदरमे बच्चा रहता है तो उस पर कृपा न करके कामवश होकर यह उसको गिरानेमे पाप नही समझता । कितने ही पुरुष है ऐसे और आजकल तो सुना है कि कुछ उस कामके लिए दफ्तर भी बने है जैसे कि चिकित्सालय । तो चाहे वे सरकारसे मजूरी लेकर खुलकर बने हो या बगैर मंजूरीके मगर अनेक जगह बने हैं जहाँ कि गर्भिणी स्त्रियोके बच्चे गिरानेका कार्य होता है । तो जैसे उन कामी जनोका हृदय है, पाप नही तकते, ऐसे ही लोभी

जनोका भी हृदय है कि जीव जंतुवोसे भरी हुई इस पृथ्वीको जोतनेमे पाप नही समझते, और ऐसा करना पडता है। यहाँ सभी प्रकारके व्यवसायोके सम्बंधमे सकेत दिया है कि लोभ ही एक ऐसा कारण है कि जिससे ये सब कार्य करने पड़ते हैं।

भोगोपभोगसुखतो विमुखो मनुष्यो रात्रिदिवं पठनचिंतनशक्तचित्तः।
शास्त्राण्यधीत्य विविधानि करोति लोभादध्यापनं शिशुगणस्य विवेकशून्यः ॥६६॥

लोभवशीका रात-दिनका अध्ययन अध्यापन—यह मनुष्य भोग और उपभोगको भी तिलाञ्जलि देकर मानो अपने आरामको खोकर रात-दिन पढनेको ही अपना ध्येय समझता है। स्कूलो कालेजोमे जो पठन-पाठन किया जाता है वह कोई धर्मपालनके उद्देश्यसे नही किया जाता, किन्तु अपनी आजीविकाका काम बनानेके लिए किया जाता है। जो रात-दिन पठन-पाठनमे अपना उपयोग लगाते और अपना सारा आराम खो देते हैं कभी नाना प्रकार के शास्त्र पढकर कुछ ज्ञान हासिल कर लिया, पर लोभके फन्दे मे फसकर उस विद्याको पढाने की नौकरी कर लेते है। देखिये—पहले जमानेमे पढाने लिखानेकी नौकरी नही हुआ करती थी। वह एक गुरु और शिष्यका सम्बध चलता था और भावोके कारण चलता था, पर जैसे-जैसे समय बीता, जरूरत बनी तो स्कूल कालेजोमे पढने पढानेकी पद्धति चली, उसमे बुरे अच्छेकी बात नही कह रहे, किन्तु ये कार्य भी लोभके वश होकर ही तो करने पडते है। बडे बडे शास्त्र पढ लिए, परीक्षायें पास कर ली और चूकि कमानेकी चिन्ता रहती है, अन्य कोई उपाय सूझता नही, तो द्रव्य लेकर पढाना प्रारम्भ कर देत है और लोभ एक ही किस्मका नही होता। इज्जत बचानेका भी एक लोभ होता है। सो कितने ही पडित लोग वृद्ध होकर भी रातोरात जगकर बहुत-बहुत अध्ययन करते है। बनारसकी एक घटना है। वहाँ कोई शास्त्रीजी थे। वे बहुत वृद्ध हो चुके थे। उनका नाम विद्वतामे बडा प्रसिद्ध था। उनके अनेक विद्वान शिष्य भी तैयार हो गए थे। यह सब कुछ होते हुए भी वे रात-दिन बहुत बहुत अध्ययन किया करते थे। एक दिन उनसे कोई पूछ बैठा कि आप इतने विद्वान होकर भी इस अवस्थामे रात-दिन पढते रहनेका श्रम क्यो किया करते हैं? तो उनका जवाब मिला कि हमारी इज्जत लोगोके बीचमे अच्छी बनी हुई है। अब मान लो कोई दूसरा व्यक्ति या कोई हमारा ही शिष्य यदि हमसे शास्त्रार्थ कर बैठे और हम उससे शास्त्रार्थमे हार जायें तब तो हमे सिवाय कुवेमे गिरकर मरनेके और कोई चारा न रहेगा। सो हुआ भी वैसा ही। कोई उनका ही युवक शिष्य उनसे एक दिन बोल उठा कि हम तो आपसे ही शास्त्रार्थ करना चाहते है। आखिर हुआ शास्त्रार्थ। अब कोई कारण था या वृद्धावस्थामे कुछ स्मृति भी कम हो जाती। आखिर वह सब पडितोका गुरु उस विवादमे हार गया जिसके कारण वह वृद्ध

पंडित कुवेंमें गिरकर मर गया । तो लोभ धनका भी होता, इज्जतका भी होता, सांसारिक सुखोका भी होता । यह जीव लोभवश अनेक चेष्टायें करता है ।

वस्त्राणि सीव्यति तनोति विचित्रचित्रं मृत्काष्ठलोहकनकादिविध चिनोति ।
नृत्यं करोति रजकत्वमुपेति मर्त्यः किं किं न लोभवशवर्तितया विधत्ते ॥७०॥

लोभवश सीना, कढ़ाई, चित्र, नृत्य, धुलाई आदि कर्मोका करना—यह मनुष्य लोभ के वश होकर कपडे सीता है याने दर्जीका काम करता है । अब करना चाहिये या न करना चाहिये इसकी चर्चा यहां नही कर रहे, किन्तु यह कह रहे कि लोभवश होकर यह मनुष्य न जाने क्या क्या चेष्टायें करता है । लोभके वश होकर नाना प्रकारके चित्र खीचनेका काम (फोटोग्राफरका काम) करता है, बर्तन वगैरा बनाता है । फर्नीचर कारखाने आदिक बनाता है, आभूषण तैयार करता है, लोहेके शस्त्र, वर्तन, कल-पुर्जे वगैरा तैयार करता है । देखिये—ये सब कार्य एक लोभके वश होकर ही तो किये जाते है । बडी-बडी सभा सोसायटियोमे नृत्य गायन करना, अपवित्रसे अपवित्र कपड़े धोना, अब क्या-क्या काम गिनायें, सभी कामों के करनेका कारण मिलेगा एक लोभकपाय । देखिये—आजकल कपडे धोनेका काम सिर्फ धोबियोके हाथ नही रहा । जगह-जगह ड्राईक्लीनर्स खुल गए जिनमें अच्छे-अच्छे लोग भी ये काम कर रहे, तो एक लोभके कारण ही तो कर रहे ना ? ऐसे कौन करेगा ? तो लोभके कारण कोई योग्य अयोग्य कार्य भी नही गिनता । इस लोभकषायका कितना बडा साम्राज्य छाया है इस जगतमे यह बात इन कुछ छंदोमे बताई जा रही है ।

लोकस्य मुग्धधिषणस्य विवचनानि कुर्वन्नरो विविधमानविशेषकृत्या ।
ससारसागरमपारमवीक्षमाणो वाणिज्यमत्र विदधाति विवृद्धलोभः ॥७१॥

लोभी पुरुषके वञ्चनापूर्ण वाणिज्यका परिश्रम—इस छंदमे वाणिज्य (व्यापार) की बात कही गई है । लोभवश सब कुछ करना पडता है । जिन-जिन चेष्टावोको यह मनुष्य करता है उनका वर्णन यहां चल रहा है । लोभके वश होकर यह मनुष्य देश-विदेश पहुंच-कर, वडे-बडे कष्ट उठाकर, बडे मिष्ट वचन बोलकर, नाना प्रकारके हाव-भाव दिखाकर द्रव्य कमानेका प्रयत्न करता है । यह वाणिज्य ऐसा ही होता जिसमे अनेक प्रकारके विकल्प किए जाते है । तभी तो इसका नाम रखा है दुकान । दुकानके दो अर्थ यहां समझिये—एक तो दुकानका अर्थ है—दो कान वाला काम याने एक तो ग्राहकका कान और एक बेचने वालेका काम । इन दो के व्यापारको दुकान कहते है, दूसरा अर्थ है दुका न, याने अपने मालको छिपाकर (दुकाकर) रख न, तभी तो दुकानदार लोग अपने बेचे जाने वाले मालको ग्राहकोके सामने खोलकर बड़ी अच्छी हालतसे रखते । यदि मालको कोई दुकानदार छिपाकर रखे तो

उससे कौन माल खरीदे ? तो दुकानका मतलब हुआ कि दो कानोमे जहाँ मतलब चले, ग्राहक और वेचने वाला उसका नाम है दुकान । अब मनुष्योका सम्बन्ध हुए विना वाणिज्य तो नही किया जा सकता । सो उस वाणिज्यमे भले मीठे वचन बोलकर उनका आकर्षण करना और फिर उससे लाभ लेना यह वाणिज्यमे होता है । तो यह जीव लोभवश होकर वाणिज्यका कार्य करता है ।

अध्येति नृत्यति लुनाति मिनोति नौति क्रीणाति हृति वपते चिनुते विभेत्ति ।
मुष्णाति गायति धिनोति विभर्ति भित्ते लोभेन सीव्यति पणायति याचते च ॥७२॥

लोभसे नाना चेष्टावोका श्रम—यह मनुष्य लोभसे द्रव्य कमानेकी इच्छाको बढाता है । कितने ही लोग आजकल जो कालेजोमे बायलोजी (जीवविज्ञान) पढते है, जिसमे मेढक वगैरा कितने ही जीव चीरे जाते है, वे बताते हैं कि हम लोग इस जीवविज्ञानको पढकर, परोपकार करेंगे, कितने ही प्राणियोका उपकार करेंगे, पर उनकी यह बात सही नही है । उपकारकी भावना वहाँ नही है, वहाँ भावना होती है धन कमानेकी । यदि परोपकारकी भावना होती तो सीखते हुएमे जो कितने ही जीव मारे जाते, वह काम न करते । तो वह तो उनकी सकल्पी हिंसा है, उसे हिंसासे दूर नही किया जा सकता । हाँ लोग एक धर्मकी आड लेकर इस तरहसे बात करते है कि हम परोपकार करेंगे । सो उनकी वह बात मिथ्या है । तो लोभके वश होकर ही तो लोग इस प्रकारकी विद्यायें पढनेका कार्य करते हैं । देखिये एक निर्लज्जसा होकर जो नृत्य करनेका काम बहुतसे लोग करते है, बडे हाव भाव दिखाकर लोगोमे आकर्षण पैदा करते है, वह कार्य भी लोभकषायके विना कोई नही करता । यह मनुष्य लोभके वश होकर घास लकडी आदि अनेक चीजोको काटता है, उनको काटकर वाणिज्यका व्यवसाय करता है । राजा महाराजावोकी स्तुति करनेका काम भी तो लोभवश ही किया जाता । पहले जमानेमे राजाके पास भाट लोग जाकर राजाकी स्तुति किया करते थे उस स्तुतिमे उस राजाके अनेक पीढीके लोगोका नाम ले लेकर वे भाट लोग उस राजाका गुणानुवाद किया करते थे । तो इस प्रकारके कार्योंको लोभके कारण ही तो किया जाता है । लोभके वश होकर ही मालका क्रय-विक्रय करनेकी चेष्टायें की जाती है । लोभके वश होकर ही यह मनुष्य कितने ही जीवोकी हत्या कर देता है । लोभके वश ही यह मनुष्य बीज बोता है, फूल चुनता है ।

नाना विचित्र चेष्टावोके बीज लोभकषायकी विडम्बनाका प्रदर्शन—देखिये—ये सब कार्य तो बताये गए है । इनको सुनकर अगर कोई कह बैठे कि ये सब कार्य न करने चाहिये क्या ? तो यहा करने न करनेकी बात नही कही जा रही, करना चाहिये या नही, इसका

प्रसंग अलग है, वह विषय ही दूसरा है । यहाँ तो यह बताया जा रहा कि इन सब प्रकारकी चेष्टावोमे एक लोभ कषाय ही कारण है । यह जीव लोभसे ही भय खाता है और जोडता है, गाना गाता है । देखिये—आजकल पंडितोको बुलाया जाय दसलक्षणके दिनोमे तो कहो कम खर्चमे निपट जाय और किसी गायकको, संगीतज्ञको बुलाया जाय तो उसका बहुत बडा खर्च बेठता है । राग रागनीकी चीज लोगोको अधिक सुहाती है । एक उत्सवमे कोई विद्वान् पंडित बुलवाया गया और साथ ही एक नर्तकी भी । सिर्फ एक दो दिनका ही कुल प्रोग्राम था । उस विद्वान् पंडितका नाम था मनीराम और उस नर्तकीका नाम था कंचनिया । खैर उत्सव मे दोनोके प्रोग्राम हुए, जब उनकी विदाई की जाने लगी तो दोनोंको एक ही साथ विदाई दी गई । उस विदाईमे नर्तकीको तो ३०० रु० दिए गए और उस विद्वान् पडितको ३० रु० दिए गए । तो उस समय उस विद्वान् पंडितने आशीर्वाद देते समय लोगोसे कहा एक दोहा पढकर—"फूटी आंख विवेककी, काह करे जगदीश । कंचनियाको तीन सौ, मनीरामको तीस ॥" तो गायन और धार्मिक भजन गाकर द्रव्य कमाना, यह भी लोभवश होता है, और इसी लोभके कारण कर्ज लेना, दूसरोका भरण-पोषण करना, जुवा खेलना, भीख मांगना आदि सारे कार्य किए जाते है । कई घटनायें ऐसी घटीं कि किसी भिखारीके मरनेके बाद उसकी झोपडीमे रखे कथरी गूदडीमे भरे, सिले सिलाये सैकड़ों मोहरें निकली । हजारोंका धन निकला, उसका वे कुछ उपयोग न कर सके । जिन्दगीभर भीख मांगी और अपने लिए भी कुछ खर्च न कर सके और अतमे यो ही छोडकर चले गए । तो यह सब लोभवश ही तो हुआ । इटावाकी एक घटना है कि वहाँ कोई एक ब्रह्मचारी था । वह कोई पढा लिखा तो था नही, अकेला था, अपने ही हाथसे खाना बनाता, खाता था । वह कहीसे कुछ मांग लावे, कहीसे कुछ । लोगोके देखनेमे वह बडी गरीबीमे अपना गुजारा करता था । एक दिन वह अचानक ही गुजर गया । तो उस समय देखा गया कि वह जो बडी पहने था उसमे १०-१२ हजार रुपयोके नोट निकाले । अब देखिये वह उन रुपयोका अपने जीवनमे भी कुछ उपयोग न कर सका । लोगोसे भीख जैसे मांगकर अपना गुजारा करता था । आखिर यो ही अन्तमे छोडकर चला गया । तो इसमे लोभ कषाय ही तो कारण था । यद्यपि उसके उन रुपयोसे धर्मशाला वालोने दो कमरे बनवा दिए, पर उसके लिए तो कुछ काम न आये । तो लोभवश यह प्राणी न जाने क्या क्या काम नही करता । यहाँ तक कि यह भिक्षा तक भी मांगता है । तो ये सब लोभकषायके ही परिणाम हैं । अब जब गृहस्थ हैं तो आवश्यकता है, करना सब पडता है, मगर यह सोचना चाहिए कि ऐसा करते रहना ही तो हमारा ध्येय न होवे । इस जीवनमे यह ही करूँ, भव-भवमे वही करूँ, यह तो कोई कर्तव्य नही है । मैं तो कषायरहित

विकाररहित ज्ञाताद्रष्टा रहने वाला चैतन्यस्वरूप मात्र तत्त्व हू । निज दृष्टिके प्रतापसे मुक्त होऊँ तो न संसार रहेगा और न यह सब झंझट रहेगा, ऐसी दृष्टि और प्रतीति चित्तमें रहनी चाहिए ।

कुतासिशक्तिभरतोमरतद्वलादिनानाविधायुधभयंकरमुग्रयोध ।
सग्राममध्यमधितिष्ठति लोभयुक्तः स्व जीवितं तृणसम विगणय्य जीवः ।।७३।।

लोभवश मरणको तृणसम गिनकर भयंकर संग्राममे पतन—लोभके कारण यह मनुष्य न जाने क्या-क्या कार्य करता है, यह विवरण चल रहा है । लोग सेनामे भर्ती होते है, क्या काम करनेके लिए कि कही युद्ध करना हो तो भयकर युद्धमे भी वह जाकर युद्ध करे । कही हथियारोसे दूसरोसे लडना ,शौककी बात तो है नही, जो अपनी इच्छासे सग्राम करता हो । जो इच्छासे सग्राम करते है वे मालिक लोग होते सो प्राय युद्ध करते नही, किंतु कराते है तो जो योद्धा है वे किसी लोभवश ही तो सग्राम करने जाते है । जहाँ नाना प्रकार के हथियार पुराने हथियार जैसे भाला, तलवार, बाण आदिक नये हथियार जैसे बम पटकना, पैंटन टैंकमे बैठना, गोली चलाना आदि नये प्रकारकी बातें हैं । इन सबके बीच जो युद्ध करने जाता है तो हाथपर प्राण धरकर ही तो जाता है । जो युद्धमे जाता वह पहले विचार लेता कि प्राणो का अब क्या सोचना ? तो अपने प्राणोको जीवनको तृणके समान जानकर वैराग्यसे नही जानता तृण समान, किन्तु उस लोभके सामने अपने जीवनको भी तृणकी तरह कर लेता है और बडे संग्रामोमे वह युद्ध करता है । हर एक मनुष्य करता है कुछ न कुछ, इस बात पर विचार नही किया जा रहा, किन्तु यह सब हो रहा लोभकषायवश जो आत्माका स्वरूप नही, अपने स्वभावके विरुद्ध चल रहा है ।

अत्यतभीमवनजीवगणेन पूर्णं दुर्गं वन भवभृतां मनसाप्यगम्य ।
चौराकुल विशति लोभवशेन मर्त्यो नो धर्मकर्म विदधाति कदाचिदज्ञः ।।७४।।

लोभवश भयंकर वनोमे प्रवेश व आवास--यह लोभी पुरुष भयानक जगलमे भी रहा, मगर चोर डाकू तो प्राय: ऐसे वनोका ही आश्रय लेते है । तो वनमे रहना मोही रागी रहकर यह तो एक कठिन कष्टकी बात है, मगर लोभके वश होकर मनुष्य भयानक जीव जंतुवो द्वारा व्याप्त बन जंगलमे रहता है । ऐसे दुर्गम स्थानमे चला जाता है, यह तृष्णावान जहाँ अपने प्राणोको भी हथेलीपर रखकर व्यवहार करता है, वह धर्म करता हुआ सभीको भूल जाता है । अपने गुजारेके लिए पुण्योदयके अनुसार थोडेसे प्रयत्नसे सहज जो हो उस ही मे अपनी व्यवस्था बनाकर जीवनका गुजारा चलाना और धर्मपालनमे अपना समय लगाना यह तो व्यवहारधर्ममे शामिल हो जाता है, यह भी कर्तव्य है । जब गृहस्थ है तो उसे उपदेश किया है कि वह न्यायसे धन कमाये और उस ही मे अपनी व्यवस्था बनाये और धर्मपालन

करे, पर जो तृष्णा अपने चित्तमे लगाये हुए है कि मुझे इतना धन इकट्ठा क्यों न हुआ, इतना वैभव कर लू, इस प्रकारका लोभ जिनके जगा है उनकी बात कही जा रही कि अपने लोभ की पूर्तिके लिये ये मनुष्य न जाने कहाँ-कहाँ श्रम करते है ।

जीवान्निहति विविध वितथ ब्रवीति स्तेय तनोति भजते वनिता परस्य ।
गृह्णाति दु खजनन धनमुग्रदोष लोभग्रहस्य वशवर्तितया मनुष्यः ॥७५॥

लोभवश नाना जीवोका हनन—जो लोभरूपी पिशाचके वशमे है वे मनुष्य इस लोभ के कारण नाना जीवोकी हिंसा करते है । कसाईखाने खोलना, मछलियाँ मारना, मेढक चीर कर विद्या सीखना आदिक सभी बातें लोभके वश होकर की जाती है । सो ये मनुष्य लोभ-पिशाचके वश होकर नाना विधियोसे जीवोकी हिंसा करते है । ऐसे कारखाने बनाते कि जिनमे बहुतसे जीवोकी हिंसा हो । जैसे ईंटोका भट्टा लगानेका काम है, इसमे कितने ही जीवो की हिंसा होती है । कितने ही जीव उसकी आगमे भस्म हो जाते है । जैनशासनके अनुसार जितने रोजिगारकी आज्ञा है उसे अगर देखा जाय तो आज तो बडा कठिन मामला पडेगा क्या करें, फिर भी उनमे भी छंटनी की जा सकती है । एक बहुत बड़े दोषके व्यापार एक कम दोषके व्यापार, उनमे भी छाँटें अगर तो महान दोषके व्यापार । जयपुरमे कोई २५ वर्ष पहले हमारा एक चातुर्मास हुआ, तो वहाँ एक ऐसा व्यक्ति देखा कि जो बड़ा समझदार दिखता था, स्वाध्याय भी विशेष करता था, रईस घरका था, पर वह मिलिटरीको मांस सप्लाई करनेका ठेका लिए हुए था । अब उसके प्रति उस प्रकारकी बात सुनकर हम दंग रह गए । यद्यपि वह कहता था कि हम खुद मांस छूते नही हैं, उसे देखते भी नही है, सब बाहर ही बाहर काम चलता है, मगर है तो वह आखिर घोर हिंसाका ही व्यापार ।

लोभवश हिंसायुक्त व्यापारोंका कलन—आजकल तो ऐसे लोग बहुत हो गए जो हिंसात्मक व्यापार करनेमे रच भी नही सकोच करते । जूते बनानेकी कम्पनियाँ बेचनेकी कम्पनियाँ तो अच्छे-अच्छे लोग खोलने लगे । बहुत सूक्ष्मदृष्टिसे देखें तो सर्राफेके काममे भी बडा मेल मिलावट किया जा रहा, उसमे क्या कम पाप किया जा रहा । सरकारी नियम कानून भी ऐसे विचित्र विचित्र बनते कि जिससे सारी जनता परेशानी अनुभव करती, आखिर किस तरहसे उस परेशानीसे बचाव किया जाय, कैसे परिवारका पालन-पोषण किया जाय, इस कारण भी बडे-बडे अन्यायके काम किये जा रहे । जो कुछ भी किया जा रहा है वह सब तृष्णावश ही तो किया जा रहा है ।

केवल अगर गुजारेका ही सवाल हो तब तो सारी समस्या झट हल हो जाय । लोग सोचते है कि हमारा गुजारा नही चल रहा । आमदनी कितनी ? हजार रुपये महीनेकी ।

अरे तो देख लो १००–१५० रुपये मासिक आय वालोका भी गुजारा चल रहा कि नहीं ? ऐसे लोग है नहीं क्या ? जो भी परिस्थिति आये उस ही मे गुजारा करनेकी कला इस जीवमे पडी हुई है, और यदि धर्मबुद्धि नही है, तृष्णामे बुद्धि है तो जिसके १० हजार रुपया महीने की आमदनी है वह भी यही महसूस करता कि मेरा तो गुजारा ही नही चल रहा। अभी तो बहुत कम आमदनी है। तो विधि यह है कि पुण्योदयसे अगर आता है तो आने दो खूब, आखिर चक्रवर्तीके पास भी तो खूब धन आता है, मगर तृष्णा अग्नि भीतरमे ऐसी जल रही है कि जिससे यह जीव सुखी शान्त नही हो पाता। तो लोभवश ही तो लोग जीवहिंसा करते है। बहुतसे लोग रेशमके कपडेका व्यापार करते हैं सो देख लो वह कितना हिंसात्मक कार्य है। रेशमके कीडोको मारकर उनके अन्दरका रेशा निकालकर उससे कपडे बनते हैं। अब कोई कहे कि हम तो बस बेचते भर है, बनाते तो नही। तो भाई बेचनेमे बनाने और उनका उपयोग करनेकी अनुमोदना तो हो ही गई। और फिर कोई यह कहे कि हम न बेचेंगे तो कोई दूसरे लोग बेचेंगे, आखिर बिकेंगे तो हैं ही, तो भाई जो बेचेगा उसे उसके सम्बंधका पाप लगेगा, तुम तो उस पापसे बच जावोगे। तो लोभके वश होकर न जाने कैसे-कैसे व्यवसाय किए जा रहे।

लोभवश मिथ्यावाद—लोभपिशाचके वश होकर ही तो यह मनुष्य झूठ बोलता है। झूठ बोलना तो लोगोके लिए बिल्कुल आसान बन गया है। उसमे कुछ कष्ट तो उठाना नही पडता। अपने मुखमे अपनी जीभ है जैसा चाहे लटका दी, बल्कि झूठ बोलनेमे अपनी एक चतुराई समझते, उसे एक कला मानते, मगर झूठ बोलनेका जो परिणाम किया वह हिंसाका ही तो परिणाम है। देखिये—यद्यपि पाप ५ प्रकारके कहे गए, पर मूलमे एक ही प्रकार का है। वे सब पाप हिंसाके समर्थनकी ही बात कहते हैं। झूठ बोलना भी हिंसा, चोरी करना भी हिंसा कुशील सेवन करना भी हिंसा और परिग्रह सचय करना भी हिंसा, और हिंसा तो हिंसा है ही। तो इन पांचो प्रकारके पापोमे हिंसा बसी हुई है और हिंसा होनेके कारण ही ये पाप कहलाते है। स्वहिंसा और परहिंसा। यदि खोटे भाव बने तो स्वहिंसा तो हो ही गई, इसलिए पाप है। तो यह जीव लोभकषायके वश होकर झूठ भी बोलता है। पुराणोमे बताया गया है कि पांडवोमे उनका ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर धर्मराज युधिष्ठिरके नामसे प्रसिद्ध हुआ। सत्य बोलनेमे उसकी बडी प्रसिद्धि थी। एक बार क्या घटना घटी कि कौरव पाण्डवोके युद्धमें कोई अश्वत्थामा नामका हाथी मर गया, और अश्वत्थामा नाम किसी एक सेनापतिका भी था। उस समय एक ऐसी स्थिति थी कि लोगोमे बडी व्याकुलता थी कि पता नहीं अब इस युद्धका क्या परिणाम होगा। तो कुछ लोग युधिष्ठिरसे यह कहलवानेके लिए

गये कि तुम अपने मुखसे एक बार बोल दो कि सेनापति अश्वत्थामा मर गया। तुम्हारे इतना बोल देनेसे सारी सेनाका बल घट जायगा, लोग कायर बनकर भाग जायें, हमारी विजय हो जायगी। तो उस समय युधिष्ठिरने सोचा कि इस झूठ बातको मैं अपने मुखसे कैसे बोल सकता, पर वहाँ कुछ परिस्थिति ऐसी बनी कि बोलना ही पडा। तो उन शब्दोंमे न बोलकर इस तरह बोले—अश्वत्थामा हता···अर्थात् यह नही जानता कि हाथी है या सेनापति, पर अश्वत्थामा मर गया। देखिये—इतनीसी बात बोल देनेके कारण आज भी इतिहासमे झूठ बोलनेका कलंक चला आ रहा है। तो यह जीव लोभके वश होकर असत्य भी बोलता। चोरी करनेका नाम तो साक्षात् लोभकी बात है ही। किसीका धन हर लिया अथवा कोई वचनचातुर्यसे दूसरेका माल हडप लिया, यह सब लोभकषायके वश होकर ही तो किया जा रहा।

लोभवश चौर्यवृत्ति—चोरी करने वाले लोगोको देखा ही होगा वे कितना दुःखी रहते। मारे पीटे जाते, कितना ही उनको चिन्तित रहना पडता। एक घटना है कि एक बार तीन चार चोर चोरी करने जा रहे थे, उन्हे रास्तेमे एक नया व्यक्ति मिल गया। उससे कहा कि भाई हम लोग चोर है, तुम भी हमारे साथ हो लो। तो वह बोला—भाई हम चोरी करना नही जानते।····अच्छा तो कुछ बात नही, हम जैसा कहे वैसा करते रहना, साथ बने रहना। ··· ठीक है। चल दिया चोरी करने। एक घरमे घुस गए। बहुतसा माल इकट्ठा किया इतने मे घरका मालिक जग गया तो जो चतुर चोर थे वे तो घरके मालिकके जगनेपर तुरन्त भाग गए, उन्होने पहलेसे ही देख लिया था कि मौका पडनेपर किधरसे भाग सकेंगे। अब जो नया चोर था वह कही न भाग सका। घरके अन्दर ही रह गया, इतनेमे चारो तरफसे लोगोने घरको घेर लिया। अब जल्दी-जल्दीमे उस नये चोरने क्या किया कि एक कोठरीमे जो लकडी की कडी ऊपर छतमे लगी होती है उनमे चढकर छिप गया। आखिर लोग घरके अन्दर घुस आये। उस कमरेमे भी घुसे जिसमे ऊपर वह नया चोर छिपा था। अब सभी लोग घरके मालिकसे अनेक बातें पूछ रहे थे—किधरसे आये, क्या-क्या ले गए, कितने थे, कैसे थे किधर से भागे, यो बीसो लोगोने बीसो तरहकी बात पूछा—तो वह घरका मालिक हैरान होकर बोला—भाई हम कुछ नही जानते, ऊपर वाला जाने। यहाँ ऊपर वालेका मतलब भगवानसे था, मगर ऊपर छिपे हुए चोरने स्वयं कल्पनायें बनाकर समझा कि हमे कह रहा, सो वह बोल उठा—अरे ऊपर वाला ही क्यो जाने? वे जो चार चोर और भाग गए वे क्या कुछ न जानें? लो इसकी आवाज सुनकर लोगोने उसे पकड़ लिया, मारा पीटा गया। तो चोरो की यही हालत होती है। इस चोरीके काममे तो कितने ही लोगोके प्राण तक हर लिए जाते

है। वे चोरीके कार्य लोभवश ही तो किए जाते हैं।

लोभवश कुशील एवं परिग्रह पापका योजन—कुशील सम्बन्धी पाप भी लोभवश ही किए जाते। उनमें और किस्मका लोभ है, विषय भोगका लोभ समझ लो। परिग्रह संचय करना भी लोभकषायके वश ही तो किया जाता। चारुदत्तकी कथामें बताया है कि चारुदत्त पहले बडा सदाचारी था। एक बार उसके चाचा रुद्रदत्तने उसे विषयभोग सम्बन्धी कथा सुनायी और एक उपायसे उसे एक वेश्याके घर पहुंचा दिया। उपाय क्या किया कि एक वेश्याओंकी गलीमे हाथी छुडवा दिया और उसी गलीसे चारुदत्तको ले गया, हाथीके भयसे चारुदत्त एक वेश्याके घरमे घुस गया। वहाँ रुद्रदत्तने वेश्याकी लड़कीके साथ चारुदत्तको चोपड़ खेलनेमे लगवा दिया। चारुदत्तने उस चौपड खेलनेमे अपना बडा धन लुटा दिया। देखिये—यह एक बहुत बडी कथा है। यहाँ संक्षेपमे सुनो—आखिर चारुदत्त अत्यन्त निर्धन हो गया, फिर उसे धन कमानेके लिए समुद्र पार विदेश जाना पड़ा। वहाँ धनके लोभके कारण न जाने क्या क्या कष्ट उठाने पडे। वह विषय एक अलग है। उसे यहाँ नही सुनाना है, यहाँ मूल बात यह लेना है कि एक इस धनके लोभमे आकर इस जीवको बडे-बडे कष्ट उठाना पडता है। और फिर न जाने क्या क्या पापकार्य इस धनके लोभमे आकर कर डालता है। वहाँ न्याय अन्यायका कुछ विवेक नही रहता। विवेक सब खत्म हो जाता है।

उद्यन्महानिलवशोत्थविचित्रवीचिविक्षिप्तझमकरादिनितांतभीति ।

अम्भोधिमध्यमुपयाति विवृद्धवेलं लोभाकुलो मरणदोषमनन्यमान. ।।७६।।

लोभाकुल पुरुषोंका समुद्रमे अवगाहन—लोभसे आकुल प्राणी अपने मरणके दोषको भी न मानता हुआ विकट भयानक समुद्रमे प्रवेश करता है। समुद्रको रत्नाकर कहा गया है। उसमे बहुत रत्न पाये जाते है। तो रत्न पानेके लिए उसमे डुबकी लगाते है। वह है एक मरण जैसी स्थिति। न जाने कब कैसी भंवर आ जाय, लहर आ जाय कि कहीं ऊपर ही न उठ सके। अभी समुद्रमे उठे तूफानमे देख लो कितना क्षेत्र ध्वस्त हो गया। शायद आधा प्रान्त ही ध्वस्त हो गया। तो ऐसे विकट भयानक समुद्रमे वह प्राणी लोभवश प्रवेश करता है। कैसा है वह समुद्र कि प्रचण्ड पवनके आघातसे जिसमे बड़ी तरंगें उठ रही हैं। तरंगें २५-३० फिट तककी ऊँची या इससे भी अधिक ऊँची समुद्रमे उठती हैं, अब इतनी ऊंची लहरोके चपेटमे अगर कोई आ जाय बस वह तो उस लहरके साथ ही बह जायगा। बच नही सकता। तो ऐसी भयानक तरंगोसे व्याप्त है वह समुद्र, जिसमे बड़े-बडे मगरमच्छ आदिक जंतु भरे पडे है। जो मनुष्योको यो ही खडा लील जाते हैं। मगरका मुख, कंठ व सारा शरीर कुछ ऐसे ही ढंगका बना होता है कि वह यो ही सीधा मनुष्योको निगल जाता

है । तो ऐसे बड़े मगरमच्छ विकराल जंतुवोसे भरा हुआ है यह समुद्र फिर भी लोभसे आकुल होकर ये मनुष्य उसमे प्रवेश करते है । ऐसे समुद्रोमे प्रवेश करते समय वे अपने प्रिय प्राणो तकके भी नष्ट हो जानेका भय नही मानते ।

असार भिन्न पृथ्वी समुद्रोंमें लोभीका साकुल भ्रमण--आजकल लोग इस पृथ्वीको नारंगीकी तरह गोल बताते हैं । जब उनके सामने यह प्रश्न आता है कि जब गोल है-तो पानीका क्षेत्र अधिक है, तो जो नीचे पानी है वह थमेगा कैसे ? वह तो गिर जायगा । तो एक अक्ल लडाकर उनका उत्तर होता है कि इस पृथ्वीमे आकर्षण शक्ति है जिससे गोल पृथ्वीके नीचे भी बस्ती है और आकर्षण शक्तिके कारण वे सब चिपके रहते है । अब देखिये---वह आकर्षणशक्ति है या पतनशक्ति है, याने जो वजनदार चीज है उसका नीचे जाने का स्वभाव है । पृथ्वी यद्यपि इस आर्यखण्डमे मलमा उठ जानेके कारण वह गोल जैसे शक्ल की बन गई जरासे हिस्सेमे मगर पूरा गोल नही है और बडे विस्तारकी जमीन है । तो छोटे गोलमे और बडे विस्तार वाले गोलमे बहुत अन्तर होता है । तो जो अत्यन्त नीचेका हिस्सा है वह तो शून्य है, बाकी अगल-बगल ये सब हिस्से समतल जैसे लगते है । यहाँ भी जलका हिस्सा अधिक मालूम देता है वह आजके भूगोलमे मानी हुई पृथ्वीमे और वैसे भी देखो तो जितना बड़ा आखिरी समुद्र है स्वयभूरमण समुद्र उतनी जगहमे असंख्याते द्वीप समुद्र उसके बराबर भी नही है, कुछ कम ही है । तो जलका समूह तो अधिक है ही, पर वह सब समान भूमिपर है और उसको बोलते है रत्नाकर, रत्नोका आकर । समुद्रमे रत्न पाये जाते । उसमे ऐसी सीपे होती है कि किसी एक खास स्वाति नक्षत्रके समयमे बूँदें गिर जायें मेघकी तो वह बूद मोतीका रूप धारण कर लेती है । तो ऐसे उसमे बहुतसे रत्न पाये जाते । उनके लोभसे यह जीव ऐसे भयंकर समुद्रमे प्रवेश करता और अपने प्राणो तकके भी खो जानेका भय नही करता, और लोभकषायसे मिलता क्या है ? अन्तमे सब छूटेगा, और जो सारे जीवन लीलाये की है उसका संस्कार बँधा, पाप बँधा, उसका फल आगे आयगा, इसलिए सब पुण्योदय पर छोडे, जो आना है सो आयगा । कर्तव्य है थोडा पुरुषार्थका, मगर तृष्णावश न करना । जो हो उसीमे ही उसका गुजारा सम्भव है, ऐसी अपनी दृष्टि रखनी चाहिये ।

निःशेषलोकवनदाहविधौ समर्थं लोभानल निखिलतापकर ज्वलत ।
ज्ञानांबुवाहजनितेन विवेकिजीवा. सतोषदिव्यसलिलेन शमं नयति ।।७७।।

लोभदावानलकी ज्ञानमेघसे निःसृत शान्ति सन्तोष सलिलसे ही शमनकी शक्यता—यह लोभरूपी अग्नि समस्त संसाररूपी वनको जला देनेमे समर्थ है । बाह्यपदार्थोंमे दृष्टि गई उसमे अपनेपनका अनुभव किया तो यह आत्मा जला ही हुआ है, क्योकि शान्ति संतोष वहाँ

है ही नही । तो यह लोभरूपी अग्नि समस्त संसाररूपी वनको जला देनेमे समर्थ है और विकट सतापको देने वाला है । लोभ केवल धनका ही नही होता । इज्जतका लोभ, भोगोपभोगके सुखोका लोभ, नामवरीका लोभ, दुनियामे मेरी महिमा बढे आदिक सारे लोभ हैं, जिसके कारण यह जीव सतप्त रहता है, तो जीवके सतापके कारणोके मुख्य कारण है लोभाग्नि । बस जाज्वल्यमान लोभाग्निको कैसे बुझाया जा सकता है उसका कोई उपाय है क्या ? ऐसी जिज्ञासा विवेकी पुरुषके हृदयमे होती है । अनादिकालसे इस ही परदृष्टिमे उलझे, इस ही परपदार्थके उपयोगमे यह सना रहा और दुःख पाता रहा । बात दो टूक है, सर्व पदार्थ स्वतत्र सत् हे, अपनेमे अपना ही परिणमन कर रह है । दूसरेका हममे कोई स्वामित्व नही, पर इस बातको जब भूल गए तब इस निमित्तनैमित्तिककी चक्कीमें कसे जा रहे है और यही अनादिसे होता चला आया है । तो जिसको विवेक जगा, उसकी अब यह चाह है कि मैं इस लोभरूपी अग्निको शान्त करूँ । उसका उपयोग क्या है ? ज्ञानरूपी मेघसे शान्ति और सतोष का जल बरसा दे तो लोभरूपी अग्नि शान्त हो जायगी । जैसे बडे भारी वनमे तीव्र अग्नि लगी है तो उसको बुझानेमे समर्थ न तो नगर फायर गाडियाँ (दमकले) है, न चारो तरफके देहाती जन पानी ला-लाकर उसको बुझानेमे समर्थ है । उसका उपाय है कि खूब तेज मेघ बरस जाये तो वह वनकी अग्नि शान्त हो सकती है । तो लोभाग्नि जो इतना सताप कर रही है, गुणोको भस्म कर रही है उसको बुझानेमे समर्थ तत्त्वज्ञान रूपी मेघसे शान्ति और सतोषका जल बरस जाय ।

द्रव्याणि पुण्यरहितस्य न सति लोभात्सत्यस्य चेन्न तु भवत्यचलानि तानि ।
सति स्थिराणि यदि तस्य न सौख्यदानि ध्यात्वेति शुद्धधिषणो न तनोति लोभ ।७८।

पुण्यहीनको लोभसे भी द्रव्यप्राप्तिका अभाव—कितना ही लोभ किया जाय तो भी पुण्यरहित है तो उसके द्रव्य थोडे ही आ जायगा । और यदि किसी छल-कपट आदिकसे आ भी जाय तो वह स्थिर नही रहता । प्राय करके यह देखा गया कि कोई लड़के वाला दहेज मे अधिक धन ठहराकर ले ले तो उसके पास वह धन अधिक दिन ठहर नही पाता । इस बातका अनुभव तो आप सब भी खूब कर रहे होगे । वह क्यो नही रहता कि बिना कमाये, बिना श्रम किए, बिना न्याय नीतिके लूटमार जैसा करके मिल गया है सो वह ठहर नही पाता । तो इसी तरह आजीविका आदिकमे या किसी ढगमे इस तरहका धन आ भी जाय तो वह स्थिर नही रह पाता । कुछ दिन स्थिर रह जाय तो भी सुखदायी नही होता, ऐसा विवेकी जन समझते है, इस कारण वे लोभ नही करते ।

लोभकी विडम्बना—एक पुरुषको नारियलकी जरूरत थी सो वह पासके बाजारमे

गया, पूछा—नारियल कितनेमे दोगे ?…८ आनेमे।….४ आनेका नही दोगे ?…नही। यदि चार आनेका लेना हो मद्रास चले जावो। वहाँ जाकर पूछा—नारियल कितनेमे दोगे ? …४ आनेका।…दो आनेका नही दोगे।… नही।…दो आनेका लेना हो तो बम्बई चले जावो। बम्बई जाकर पूछा—नारियल कितनेमे दोगे ?…दो आनेका।… एक आनेका नही दोगे ?….अरे एक आना भी क्यो खर्च करते ? वे देखो पासके जंगलमे नारियलके पेड़ खडे हैं जितने चाहे तोड लावो। अब वह जगल जाकर एक नारियलके पेडपर चढ गया। चढने को तो चढ गया, पर ज्यों ही डाल पकडकर नारियल तोडना चाहा त्यो ही उसके पैर फिसल गए और वह उसी पेड़पर लटक गया। बहुत घबड़ाया कि अब न जाने कैसे प्राण बचेगे ? इतनेमे वहांसे निकला एक हाथी वाला। उससे कहा—भाई हमे उतार लो, हम तुम्हे ५००) देंगे। सो उसने जब हाथीपर खडा होकर उसे पकडना चाहा उतारनेके लिए तो वह था उससे एक हाथ दूर, सो उचककर उसे पकड लिया, इतनेमे हाथी वहाँसे खिसक गया। अब दोनो लटक गए। नीचे वाला ऊपर वालेसे कहे—भैया, डालो छोड नहीं देना, हम तुम्हे ५००) देंगे। इतनेमे वहांसे निकला एक ऊँट वाला, उससे वे दोनो बोले—भैया, हम दोनोको उतार लो, दोनो ही तुम्हे ५००-५०० रु० देंगे। सो ऊट वाला जब ऊँट पर खडा होकर, उसे पकडना चाहा तो वह भी कोई एक हाथ अधिक ऊँचा था सो उचककर पकड लिया, इतनेमे ऊँट भी खिसक गया। अब तीन व्यक्ति लटक गए, वे तीनो बहुत घबडा रहे थे। इतनेमे निकला एक घोडे वाला, उससे वे तीनो बोले—भाई हम तीनोको उतार लो, हम लोग तुम्हे ५००-५०० रु० देंगे। सो वह जब उतारनेके लिए खड़ा हुआ और उचका तो वह भी लटक गया। अब चारो ही एक दूसरेसे कह रहे थे—भैया ऊपरसे छोड नही देना, नही तो हम गिरकर मर जायेंगे, हम तुम्हे ५००) देंगे। अब क्या हुआ सो नही कह रहे, उतर ही आये होगे, कुछ चोट भी लगी होगी। यहाँ बात यह समझना कि लोभ करनेका यही परिणाम होता है। थोड़ेका लोभ करके बडा नुकसान तक सहना पड जाता है। तो ऐसा लोभ कही धन कमानेका उपाय नही है। जो न्यायसे प्राप्त धन है उसीमे सतोष मानें, आनन्दसे रहे और आत्माके धर्मका पालन करें, यही एक गृहस्थीमे कल्याण पद्धति है।

विपुल स्पष्ट तत्त्वज्ञानके बलसे ही ससारविपत्तिसे हटनेकी संभवता—यह संसार एक बहुत बडे जुवेके फडके समान है। कहाँ तक कौन अपनेको सम्हाले ? दूसरोको जब लौकिक बातोमे बढता हुआ देखता है धनमे, इज्जतमे, तो यह भी आखिर लौकिक बातोको चाहने लगता है। सो जैसे जुवेका फड हो और वहाँ जितने आदमी उस फडपर खेलमे शामिल हो तो उनको वहांसे हटना बडा कठिन पडता है। हार गए तो भी नही हट पाते, जीत

गए तो भी नहीं हट पाते । जीत जाने पर यदि कोई उठना चाहे तो बाकी लोग यही कह बैठते कि देखो कितना मतलबी निकला, जीत गया तो चल दिया, यो उसका उठना मुश्किल हो जाता और यदि हार गया, कुछ पैसे बाकी बच गए, सोचा कि चलो जो बचे सो ही ठीक है अब चलना चाहिए, तो वहाँ बैठे हुए लोग यही कह बैठते बस हो गए, इतनी ही दम थी सो उसको वहाँसे उठना नही हो पाता । तो जैसे जुवाके फडमे बैठकर उठना कठिन हो जाता ऐसे ही इस समाजके बीच, घर गृहस्थीके बीच फसकर इससे निकलना कठिन हो जाता । इससे निकलनेके लिए बहुत बडे ज्ञानबलकी जरूरत है । जिसको भीतरमे ज्ञानप्रकाश एकदम स्पष्ट है कि प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न अपने अपने स्वरूपमे स्थित है, उनसे मेरेमे कुछ नहीं आता । इस प्रकारका ज्ञानप्रकाश हो तब गृहस्थीसे निकलना हो सकता । मान लो न भी निकलना हो पाये तो भी निर्मोह होकर तो रह सकता । तो बुद्धिमान पुरुष न्याय प्राप्त धनमे ही सतुष्ट रहा करता है ।

अलौकिक आत्मीय आनन्दसे ही सम्यक्त्वपरिचय कर्मनिर्जरण व सासारिक सुख-विरक्ति—ज्ञानी पुरुषने यह जाना ना कि आत्मस्वभावमे दृष्टि करूँ, साधना करूँ तो यह सबसे बडा काम है, यही सच्ची कमाई है, अन्य कुछ नही है यह उसके चित्तमे आया है जिसके बलसे ससारसे उपेक्षा करता है । जो सुख मिल रहा है उससे उत्तम आनन्द अगर मिले तब तो इस सुखको छोडा जा सकता । वैसे कहनेसे नही छूटता, पर इससे अधिक आनद का अनुभव मिले किसी बातमे तो फिर उसके छोडनेमे देर नही लगती । यदि खानेको कोई बढिया चीज मिल जाय इच्छुकको तो घटिया चीजको छोडनेमे उसे इन्कार नही रहता । तो ससारके जो ये पचेन्द्रियके विषयोके सुख है इनसे विलक्षण, इनसे उत्तम आनन्द मिलना है आत्मस्वभावको अपनानेसे, उसीमे ही अभेदबुद्धि रखनेसे । इस आत्मस्वभावको अपनानेसे जो अलौकिक आनन्द जगता है वह संसार, शरीर, भोगोसे विरक्ति लाता है । कर्म भी आनन्दसे कटते है, कष्टसे नही कटते । वह कौनसा आनन्द है ? वह आत्मीय अनुभवका आनन्द है । और जो तपश्चरण वगैरा किए जाते है वे सब साधन है । उन कठिन तपश्चरणोमे भी मुनि आनन्द पा रहा है भीतरमे तो उसके कर्म कट रहे है, और यदि वह भीतरमे आनन्द नही पा रहा है तो कितना ही कठिन तपश्चरण कर ले तो भी उससे कर्म नही कटते । तो विवेकी पुरुष जब तक गृहस्थीमे रह रहा तब तक न्यायप्राप्त धनमे संतोष मानकर आनन्दमे रहता है और धर्मपालनमे जागरूक रहता है ।

चक्रेशकेशवहलायुधभूतितोऽपि सतोषमुक्तमनुजस्य न तृप्तिरस्ति ।
तृप्तिं विना न सुखमित्यवगम्य सम्यग्लोभग्रहस्य वशिनो न भवति धाराः ॥७९॥

असंतोषमें बड़ी विभूतिसे भी तृप्तिकी असंभवता—जिन पुरुषोंको संतोष नही है उन पुरुषोके चक्रवर्ती, नारायण, बलदेव जैसी बडी विभूतियोसे भी तृप्ति नही हो सकती, क्योकि किसी असंतोषीसे पूछा जाय कि तुमको कितना वैभव मिल जाय तो तुम शान्त हो जावोगे, खूब सोच लो और सोचकर बताओ, जो चाहोगे सो तुम्हे मिल जायगा। तब तो वह बता ही न पायगा, जितना सोचेगा उससे आगेकी फिर चाह करेगा। कोई हद नही होती। अच्छा तो उसे तीन लोकका वैभव मिल जाय तो भी वह संतुष्ट हो जायगा क्या ? अरे वहां भी यह सोचेगा कि तीन लोकमे भी अधिक वैभव हो तो वह भी हमे चाहिए। असंतोषी के कोई सीमा नही होती। एक बार एक गरीब विप्र (ब्राह्मण) राजाके पास पहुंचा और बोला—राजन्, मेरी कन्या सयानी हो चुकी है, उसका विवाह करने हेतु मुझे कुछ धन चाहिए, मैं निर्धन हूँ। तो राजाने कहा—अच्छा कल सुबह मांगना, जो मांगोगे सो मिल जायगा। अब वह ब्राह्मण खुश होकर घर आया। जब घरमे वह रातके समय खाटपर लेटा तो उसके विकल्पोका तांता बनना शुरू हो गया—मैं क्या मांगू राजासे, कितना मांगूं, कितने से मेरा काम चल जायगा। अच्छा १००) मांग लूंगा, १००) मे लडकीका विवाह हो जायगा, (उन दिनो १०० रु० मे विवाह हो जाया करते थे)। मगर १००) ही क्यो मांगूं, जब राजाने देना ही स्वीकार कर लिया है तो हजार रुपये मांग लूंगा, जिससे फिर हमे कोई कष्ट न रहे। पर हजार रुपये तो हमारे पड़ोसी सेठके पास है उसको भी तो कोई खास सुख नही है, मैं तो लाख रुपये मांगूंगा, पर लाख रुपयेसे भी क्या होगा, मैं तो आधा राज्य ही मांग लूंगा ताकि जिन्दगीमे फिर कभी कोई कष्ट न रहे। तो इसी विकल्पजालमे पड़कर वह विप्र सारी रात सोया नही, उसे नीद ही नही आयी विकल्पजालके आगे, आखिर वह यही निर्णय न कर पाया कि मै क्या मांगूं राजासे ? जब सवेरा हुआ और राजाने पूछा—बोलो विप्र तुम्हे क्या चाहिए और कितना चाहिए ? तो वह विप्र बोला—महाराज जब मैंने आपसे कुछ लिया नही, सिर्फ लेना चाहा तब तो सारी रात नीद नही आयी और यदि आपसे कुछ ले लिया तो न जाने क्या होगा, इसलिए मुझे कुछ न चाहिए। तो असंतोषीकी कोई सीमा नही होती कि कितना क्या चाहिए ?

तृष्णामें दुर्दशा—एक कथानक है कि किसी सेठका पडोसी एक बढई था। सो बढ़ई तो था बिल्कुल गरीब, कोई दो-चार रुपये रोज कमा पाता था और उसीको खर्च कर लिया करता था, पर रोज-रोज खाता था अच्छा-अच्छा ही खाना, क्योंकि जोडनेकी कुछ फिक्र न थी। और उधर सेठ था बड़ा धनिक, पर जोड़नेकी फिक्र होनेसे रोज-रोज सीधा सादा भोजन करता था। एक दिन सेठानीने सेठसे कहा—सेठ जी देखो अपन लोगोसे अच्छा तो बढई है,

क्योंकि अपन लोगोकी अपेक्षा उसके घर रोज रोज खूब अच्छा-अच्छा खाना पीना चलता है। तो सेठ बोला—अरे तुम नही जानती, वह बढ़ई अभी ९९ के चक्करमे पडा नही, इसलिए गुलछर्रे मार रहा है। अब सेठानी रोज-रोज यही बात कहे तो एक दिन सेठके मनमे आया कि चलो ९९ रु० न सही, एक बार ९९ रु० फेंक देनेमे जिन्दगीभरकी सेठानीके साथकी लड़ाई तो मिटेगी, यह सोचकर एक रात सेठने उस बढईके घरके आँगनमे ९९ रु० की थैली फेंक दी। जब सवेरा हुआ और बढईने वह थैली पायी तो बडा खुश हुआ, सोचा कि भगवान ने खुश होकर हमारे घर धन भेजा, पर जब गिनने बैठा तो जहाँ १०-२०-५० गिनता हुआ ९९ तक पहुचा तो उसकी जीभ रुक गई और सोचने लगा—अरे भगवानने हमारे ऊपर कृपा तो बहुत की, पर एक रुपया काट दिया। यदि एक रुपया और होता तो मैं पूरा पूरा शतपति (१०० रु० वाला) कहलाता। (कुछ सोचकर) खैर कुछ बात नही, आजके दिन कमाईमे से सब न खर्च करके एक रुपया बचा लूंगा तब १००) पूरे हो जायेंगे। (देखिये उसी समयसे लग गया ९९ का चक्कर) पहले ही दिन प्रति दिनकी अपेक्षा १) कमकी भोजन-सामग्री बनी। दूसरी रात उस बढईके विकल्प बढ गए, वह खाटपर पडा हुआ विचार रहा था कि अरे इन १००) से क्या होगा, इतनेमे क्या सुख है? हजार रुपये होने चाहियें तब सुख मिलेगा, पर हजार तो हमारे पडोसी सेठके पास भी हैं वह भी तो सुखी नही दिखता, लाख होने चाहिएँ। खैर, वह तो अब पड गया पूरा पूरा ९९के चक्करमे प्रतिदिन रूखा सूखा खाये, खाली रोटियां बन जाती और पडोसियोके यहांसे मट्ठा मांग लाता और मट्ठा रोटी खाकर काम चलाता और धन जोड़नेका काम प्रतिदिन चलता रहता था। कुछ दिन बाद सेठने सेठानीसे कहा—अब देख लो बढईकी हालत। सो जब सेठानीने बढईके घर जाकर देखा तो वह हालत देखकर बडे आश्चर्यमे पड गई और सेठसे पूछा—तुमने कौनसा जादू कर दिया जिससे बढईकी यह हालत हो गई? तो सेठ बोला—इसको मैंने ९९ के चक्करमे डाल दिया है। तो बात यहाँ यह कह रहे कि जब तक सतोष नही होता तब तक कितना ही कुछ मिल जाय, पर शान्ति नही मिलती। इससे इस लोभ कषायको छोडकर सतोष वृत्तिसे रहे। विवेकी पुरुष कभी भी लोभके फदेमे नही आते।

दुःखानि यानि नरकेष्वतिदुःसहानि तिर्यक्षु यानि मनुजेष्वमरेषु यानि।
सर्वाणि तानि मनुजस्य भवति लोभादित्याकलय्य विनिहति तमत्र धन्यः ॥८०॥

लोभवश नरकादि गतियोमें दुर्दशा—नरकोमे जितने भी अति दुःसह दुःख होते हैं वे सब लोभके कारण होते है। लोभवश अनेक अनर्थ पहले कुटुम्बी जनोके पीछे किये, पर वे ही कुटुम्बी जन नरकोमे पहुचनेपर उसका साथ नही देते। (देखिये पार्श्वपुराणमे इसका बहुत

चित्रण किया है। जब वह नारकी नरकमे पहुंचता तो क्या सोचता है—हाय मेरा अब कोई सहाय नही हो रहा है। योगवश यदि वे ही कुटुम्बी जन नरकमे एक दूसरेके सामने-सामने पड़ जाये तो भी सहायता करना तो दूर रहा, परस्परमे एक दूसरेपर हमला करके उसके तिल-तिल बराबर खण्ड कर डालते है हैं। हाँ तो बात यह चल रही कि जितने भी नरकोके असह्य दुःख यह जीव भोगता है वह एक लोभके ही कारण तो भोगता है। तिर्यंचोमे, मनुष्योमे, देवोमे जितने भी कष्ट है वे सब लोभसे ही तो होते है। ऐसा विचार करके भव्य पुरुष लोभको नष्ट करते है। और जो लोभको नष्ट कर सके वे ही पुरुष धन्य है। बडी मुसीबत है मोही जीवोकी! छोडते बनता नही, भोगते बनता नही। बहुत-बहुत कमाकर रख लिया, अब मरण कालमे जायगा साथ धेला नही। वह जान रहा कि सबका सब यही पड़ा रह जायगा, पर मोहवश उसको दिलसे छोड़ नही पाता। तो जिसको मोह है, अज्ञान है, जिसने बाह्यसम्पत्तिको ही अपना सब कुछ समझा है उसको मरण कालमे बडा संक्लेश होता है जिसके फलमे वह आगे भी बडी दुर्दशा प्राप्त करता है।

लोभी जगत द्वारा सर्व स्थितियोंमें विडम्बना जानकर लोभपरिहार करनेका कर्तव्य—एक सेठजी थे, कोई ५ लाखके धनिक थे। चार उनके लड़के थे, उन चारोको एक-लाखका धन बाँट दिया और एक लाखका धन अपने लिए रख लिया था। सो उसने क्या किया था कि जिस कमरेमे वह रहता था उसी कमरेकी आलमारियोमे, आलोमे उस एक लाख रुपयेके धनको रखकर बद करके उसको सुरक्षित कर दिया था इस बातको उसके लडके लोग भी जानते थे। अचानक ही वह सेठ बीमार हो गया और ऐसा बीमार हुआ कि उसका प्राणान्तसा होने लगा, बोल भी बंद हो गया, ऐसी स्थिति देखकर पंच लोग उस सेठके पास पहुंचे और बोले—सेठ जी अब आप अन्तिम समयमे धर्मार्थ जो करना चाहो सो कर लो मायने जो कुछ दान पुण्य करना हो सो कर जावो, तो उस समय सेठके यही भाव हुए कि मैंने जो इस भीतमे लाख रुपयेका धन गाड रखा है वह धर्मार्थ दान कर दू, सो बोल तो सकता नही था, क्योकि बोल बंद हो चुका था, पर उस भीतकी ओर बार-बार इशारा कर रहा था। उसका अभिप्राय तो यह था कि इस भीतमे जो धन गड़ा है वह सब धर्मार्थ दान है, पर पच लोग उसका कुछ अर्थ नही समझ पा रहे थे और उसके लडके लोग सब बात समझ रहे थे कि पिताजी क्या कह रहे है। आखिर पंच लोग सेठके लडकोसे पूछ बैठे कि सेठजी इशारेसे क्या कह रहे? तो लड़के लोग बोले—पिताजी यह कह रहे है कि मेरे पास जितना जो कुछ धन था वह इन भीतोकी चिनाईमे खर्च कर दिया, अब मेरे पास दान पुण्य करनेको कुछ धन रहा नही। अब देखिये—लड़कोकी ऐसी बात सुनकर सेठके दिलमे कितनी

बडी चोट पहुच रही होगी, पर क्या करे, बोल सकनेसे लाचार था। सो ऐसी कठिन स्थिति होती है लोभ दशामे। धर्मार्थ धन खर्च करनेके परिणाम कदाचित् हो भी जायें तो भी नही लगा पाता। ये सब बातें लोभवश होती है ऐसा विवेकी जन समझते है, इसलिए वे लोभकषायका परिहार करते है। जितने भी पाप होते है उन सबका जनक है लोभकषाय। आज छोटेसे लेकर बडे बडे राज्याधिकारियो तक जितने लोग दु:खी नजर आ रहे उन सबका कारण है लोभ कषाय। इस लोभकषायसे निवृत्त होनेमे ही अपनी भलाई है। इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकके न कुछ बरावर जरासे हिस्सेमे कुछ लोगोके बीच अपनी इज्जतकी चाह करके क्यो व्यर्थमे फिजूलकी बातोमे लोभ किया जा रहा है और अपने आपको इस ससारमे जन्म मरण करते रहनेका पात्र बनाया जा रहा है। इन बाहरी व्यर्थकी बातोसे अपने चित्तको हटावें, एक अपनेको अपनेमे देखें और एक इस ही की धुन बन जाय कि मुझे तो अपने आपको विशुद्ध करना है, संसारको क्या निरखना? ऐसा महान् कार्य कर जाने वाला पुरुष धन्य है।

लोभ विधाय विधिना बहुधापि पुस. सचिन्वत: क्षयमनित्यतया प्रयाति।
द्रव्याण्यवश्यमिति चेतसि सनिरूप्य लोभ त्यजति सुधियो धुतमोहनीया ॥८१॥

लोभवश संचित किये हुए द्रव्यका भी अनित्यपना होनेसे अवश्यंभावी नाश—यह मनुष्य लोभके वश होकर नाना उपायोसे धनका उपार्जन करता है, फिर भी द्रव्य तो अनित्य है ही, इस कारण अवश्य ही एक न एक दिन नष्ट हो जाता है। इस कारण मोहके फंदेसे बचनेकी इच्छा रखने वाले लोग सदा लोभसे दूर ही रहनेका प्रयत्न करते है। अपने जीवनमे देखो क्या-क्या बातें गुजरी, कैसी-कैसी स्थितियोके प्रति लोभ किया? बच्चे थे तो इन बच्चो ही देख लो किस किस जगहमे किस-किस बातमे लोभ बना रहता है। यही बात हम आप सबकी थी। बडे हुए, जवान हुए तो लोभकी, तृष्णाकी, मोहकी पद्धति दूसरी बन गई। बडे हुए, धन कमाया, पद्धतियाँ बदल गई। लोभके विषय बदलते जाते हैं, बूढे हो जाते तब और कुछ दिखने लगता। तो सारा जीवन विकारके आश्रयमे हो गया, स्वभावका आश्रय इस जीवने कब किया, कितना किया, यह परीक्षा करनी चाहिये। यह सारा जगत् मायास्वरूप है। इस मायामय जगत्को ग्रहण करनेका, पकडनेका कोई भला फल नही प्राप्त होता, उल्टा पाप बध है। ससारमे भ्रमण है, अपने आपके स्वरूपको देखिये तो केवल एक चैतन्यमात्र अमूर्त सबसे निराला, इसका क्या मतलब है अन्य पदार्थोंसे? वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि किसीको किसीसे कुछ मिलता नही है, सब अपने स्वरूपमे परिणमते है, तो एकका दूसरा कुछ लगा क्या? अपने आपके बारेमे विचारें, जिस भवमे उस भवके पड़ौसी, कुटुम्बी जन,

मित्र जन उनमे प्रीति की, पर आज उससे कुछ फायदा मालूम पड रहा है क्या ? तो इस भवमे भी कुछ वर्षोंकी बात है, अनुराग चल रहा है, मगर मरण करनेपर इसकी भी कोई प्रीति अगले भवमे पहुचेगी क्या ? कुछ नही ।

अति निकट देहका भी विनाश देखकर सर्व नश्वर भिन्न पदार्थोंसे ममता हटाकर सहज पवित्र ध्रुव चैतन्य महाप्रभुका शरण लेनेका अनुरोध—देह भी इसका कुछ नही है, देह जड पौद्गलिक और कहाँ अमूर्त आत्मतत्त्व । इसका कुछ भी बाहर नही, लेकिन अज्ञान ऐसा छाया है कि इन मायामय मनुष्योंको निरखकर ऐसी बात बन गई कि इसको उस माया की प्रीति नही छूटती । भीतर प्रकाश तो हो सही कि मैं सबसे निराला अत्यन्त भिन्न सत् हूँ । इस दृष्टिका अभ्यास हो तो यह फर्क सामने आयगा कि कोई कुछ कहे, उसका अपनेपर बुरा प्रभाव न होगा । इस मायामय बढे हुए भौतिक जनोंको, प्रतिष्ठित जनोंको देखकर धन की या प्रतिष्ठाकी इनकी आकांक्षा न बनेगी । केवल एक ही धुन रहेगी कि मैं अपने स्वरूप को जानूं और स्वरूपमे मग्न रहकर अपने क्षण सफल करूं । जिसको लोभरहित चैतन्यमात्र आत्मस्वरूपका परिचय नही है वह अपनी ओरसे अधा रहता है और बाहर ही बाहर उसका सब कुछ निर्णय बना रहता है इससे मेरा महत्त्व है, इससे मेरी प्रतिष्ठा है । तो लोभवश यह जीव भव-भवमे दुःख प्राप्त करता है । समस्त दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये सहज पवित्र ध्रुव चैतन्यमहाप्रभुकी उपासना रूप शरण ग्रहण करें ।

पिबतु बाह्यधनधान्यपुरः सरार्थाः संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा ।
कायोऽपि नश्यति निजोयमिति प्रचिंत्य लोभारिमुग्रमुपहंति विरुद्धतत्त्व ।।८२।।

कायकी नश्वरता भिन्नता जानकर धन धान्यादि बाह्य पदार्थोंकी विनश्वरताका स्पष्ट निश्चय कर लोभपरिहार करनेका कर्तव्य—बाह्य धन-धान्यादिक जितने पदार्थ हैं ये कितना ही लोभसे बढाये गए हो, लेकिन हैं तो पृथक् ही और नष्ट हो जाने वाले । इनके नष्ट हो जानेका आश्चर्य क्या ? जब एकमेकसा लगने वाला यह शरीर भी नष्ट हो जाता है तब अन्य बातोके नष्ट होनेमे क्या आश्चर्य करना ? देह क्या है ? आहारवर्गणा जातिके पुद्गल पिण्डोका समूह है, पर यह समूह इस तरह नही बन गया । जीवका सम्पर्क है, उस निमित्त योगमे इस प्रकार शरीरकी रचना हुई । कभी यह काय था, कभी देह बना, अब यह शरीर कहलाता । वृद्ध लोगोंके देहका नाम है शरीर, जवान लोगोके देहका नाम है देह और बच्चों के देहका नाम है काय । यद्यपि ये सभी शरीरके नाम हैं, लेकिन काय उसे कहते हैं जहाँ परमाणुवोका संचय हो, देह उसे कहते जहाँ संचित परमाणु बहुलतया एकत्रित ठहरे रहें और शरीर उसे कहते हैं जो जीर्ण-शीर्ण हो जाय । तो शरीर क्या है ? परमाणुओंका आना

और जाना। यह जहाँ हो रहा है वही तो यह शरीर है, और स्पष्ट विचार कर लें। जैसे दूसरा जीव जब शरीर छोडकर चला गया तो उस शरीरसे ममतारहित होकर उसे मरघटमे ले जाकर जला देते है। तो शरीर और चेतन जब भिन्न है तब ही तो यह बात बनी। जिस शरीरसे प्रीति कर रहे उस शरीरका कुछ नक्शा आगे तो खीच लें कि यह शरीर ऐसा पडा रहेगा। सभी लोग अपने अपने शरीरका नक्शा खीच लीजिए। जब मैं इस शरीरसे विदा होऊँगा तो पडोसके लोग मिल-जुलकर इस शरीरको उठाकर मरघटमे ले जाकर आग लगा-कर भस्म कर देंगे। तो इस भस्म किए जाने वाले शरीरसे ममता क्या करना ? हाँ गुजारा कर रहे है जीवनका, पर यह शरीर अपना तो नही है। तो जहाँ शरीर भी अपना नही यह भी स्थिर नही रहता। तो बाहरी धन धान्यादिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या कहना ? नष्ट होते है, भिन्न हैं, कभी स्थिर रह नहीं सकते। तो इन समागमोको विनश्वरता जानकर भीतर मे लोभका परित्याग करना चाहिए।

अविनश्वर अभिन्न अन्तस्तत्त्वसे विनश्वर भिन्न पदार्थोंके सही निर्णयमें ही लाभ— लोभीको लोग कब समझ पाते कि इसके पास भी धन है। जब कि उसका धन लुट जाय या फिर उसके मरनेके बाद लोग समझ पाते कि देखो इसके पास इतना धन था, पर यह उसका कुछ सदुपयोग न कर सका। न खुदके काम वह धन आया न दूसरोके उपकारमे लग सका। लोभी पुरुषके बारेमे एक कविने अलंकार रूपमे कहा है कि 'कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति' कजूसके बराबर न कोई दानी हुआ, न है और न होगा। कैसे ? सो सुनो—न तो वह उस धनका कुछ भी हिस्सा अपने लिए खर्च करता, बडी कजूसी करके खूब धन जोडता रहता, उसमे से कुछ भी हिस्सा दूसरोके लिए भी नही खर्च करता, अन्तमे सब कुछ इकट्ठा दूसरोके लिए छोडकर मरण करके चला जाता। (देखिये इसमे कृपण व्यक्तिका उप-हास है न कि प्रशसा) तो अपने बारेमे यह विचारें कि चित्तमे यह बात आयी अथवा नही कि ये सब पदार्थ मेरे स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न है। अगर यह बात चित्तमे नही आयी तब तो व्यामोह कहलाया। उसे तो कोई मार्ग नही मिल सकता। वह तो जीवनभर दुःखी रहता और मरणके समय दुःखी रहता। तो द्रव्य, गुण, पर्यायके यथार्थ स्वरूपकी समझ करके यह निर्णय तो करना ही चाहिए कि मैं अमूर्त आत्मा हू। मेरी शक्तियाँ सब अमूर्त है, उसकी जा परिणतिया है वे ज्ञान दर्शन आदिक रूप है। इनमे बाहर मेरा कुछ नही है। वास्तविक स्वरूप मेरा यह है। भले ही कर्मविपाकवश कल्पनायें जग रही है और कुछ परिस्थिति खराब चल रही है, फिर भी मेरा वास्तविक स्वरूप तो यह है। मैं अपने वास्तविक स्वरूपको देखू, बाहरमे जिसका जो होता हो सो हो, ऐसा भीतरमे प्रकाश आये बिना जिंदगी निकल जायगी,

वृद्धावस्था आ जायगी, मरण काल आ जायगा, मगर वह कभी शान्ति और संतोषका अनुभव नही कर सकता । तो लोभ कषायका त्याग करके संतोष धारण करना यह मनुष्यका कर्तव्य है । अब इन्द्रिय वशीकरण नामका अधिकार कहते हैं ।

स्वेच्छाविहारसुखतो निवसन्नगानां भक्षद्वने किशलयानि मनोहराणि ।
आरोहणाकुशविनोदनबधनादि दतीत्वगिन्द्रियवशः समुपैति दुःखं ।।८३।।

अज्ञानसे जीवोका इन्द्रियसुखोकी ओर आकर्षण—इस ससारी जीवको इस शरीर रूपी हालमे प्रकट ५ खिडकियाँ मिल गई, जिनके द्वारसे यह कुछ जान पाता है । जैसे कोई होल हो, उसके बीच पुरुष हो और उसमे ५ खिडकियाँ है तो उन खिडकियोंसे ही बाहरकी बात वह जान पायगा कि क्या है तो ऐसे ही इस देह गृहमे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये ५ खिडकियाँ मिली है । इनके द्वारा यह जीव कुछ जान पाता है सो यह कलक है, यदि यह घर मिट जाय, ये खिडकियाँ नष्ट हो जायें, केवल आत्माराम रहे तो यह तो सर्व प्रदेशोंसे इस समस्त लोकालोकको तीनो कालकी बातोको जानेगा । सो लोग इस कलंकपर ही गर्व करते हैं । मेरा शरीर बढिया है, मेरी इन्द्रियाँ ठीक है, मैं इतना जानता हूं । यों अपनी चतुराई पर गर्व करते है । और है यह सब कलंक । आत्मा तो सिद्ध भगवानके समान अमूर्त चैतन्यस्वरूप है । और स्वभाव देखिये—स्वभावमे ही समानता है सिद्धकी । पर्यायमें समानता नही है सिद्धकी । स्वभाव जैसा सिद्धप्रभुका है वैसा ही मेरा है । कोई अन्तर नही । जिस उपायसे प्रभुने आत्मदृष्टि करके कर्मबंधनोसे अतीत दशा पायी है उसी उपायसे हम आप भी कर्मबधनसे छुटकारा पाकर परमात्म अवस्था प्राप्त कर सकते है । इस जगत्का कोई अणु भी रमणीक नही है कि जिसमे मन बहलाया जाय, जिसमे रमण किया जाय ऐसा जगतमे कुछ भी नही है । लोग कर्मबन्धनबद्ध हैं । आत्मस्वरूपका बोध है नही तो ये स्पर्शन आदिक इन्द्रियोका सुख चाहते है । कैसी प्रकृति है कि ये इन्द्रिय सुखोसे विराम नही लेना चाहते ।

स्पर्शन इन्द्रियके विषयके मोहसे स्वतंत्र विहारी मौजी वनहस्तीकी विडम्बना—इन इन्द्रियोमे सबसे अधिक कठिन प्रबल स्पर्शन इन्द्रिय है । जो इस जिह्वाकी बडी शिकायत चलती कि यह जिह्वा इस जीवको बहुत परेशान करती है, इसको भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यञ्जन खिलाये जायें, फिर भी कभी तृप्त नही होती, और बहुतसा समय खराब हो जाता उन भिन्न-भिन्न प्रकारके व्यञ्जनोंके बनानेमे.... पर उससे भी अधिक समय बरबाद होता स्पर्शनइन्द्रियसे सम्बंधित गपोडोमे । और यह स्पर्शनइन्द्रिय संसारके सभी प्राणियोमे पायी जाती है, बाकी अन्य इन्द्रियाँ सभी जीवोके नही पायी जाती । तो स्पर्शन इन्द्रियके विषय हैं—बाहरमे तो है ठ गर्मी आदिकका सुहाना, पर आन्तरिक विषय है विषयप्रसग, काम सेवन, मैथुन, इनके

वश होकर एक हाथीका दृष्टान्त है कि वह हाथी जो जगलमे मनमाना मन वहलाता हुआ घूमता है और कमलके कोमल पत्तोको तोड-तोडकर खाता है, बडी मौजसे रहता है, अब उसको पकडने वाले शिकारी लोग क्या करते है कि कोई १५-२० फिटका लम्बा चौडा व ८-१० फुटका गहरा गड्ढा खोदते हैं, उसपर बाँसकी पतली पर्चे बिछाकर पृथ्वी जैसे रग वाले कागज उसपर डालकर पाट देते हैं। और उस बाँसकी पंचोकी झूठी हथिनी बनाते है। उस हथिनीसे करीब ५० हाथ दूरीपर उस हथिनीकी ओर दौडकर आता हुआ दूसरा हाथी बनाते हैं, बस इतना भर काम शिकारी लोग करते है। अब उस जगलका हाथी उस हथिनी को देखकर उसके प्रति राग करता है, स्पर्शन इन्द्रियके लोभमे आकर उसके प्रति आकर्षित होता है, साथ ही उस दूसरे हाथीको देखकर उसके प्रति द्वेषभाव उत्पन्न हो जाता है, सो मैं पहले उस हथिनीके पास पहुंचू इस भावनासे वह बडी तेजीसे उस हथिनीके पास पहुचता है, परिणाम क्या होता है कि इस हथिनीके पास पहुचते ही उस गड्ढेमे गिर जाता है। बादमे कई दिन उसे भूखा-प्यासा रखकर जब कि वह एकदम शिथिल हो जाता है तब एक मार्ग बनाकर अकुश लेकर उस हाथीको वे शिकारी लोग अपने वशमे कर लेते है। फिर उस हाथीपर सवारी करते हैं, बोझा ढोते है, उसपर अंकुशके कितने ही प्रहार करते रहते है। तो देखिये वनमे स्वतत्र विहार करने वाला वह हाथी एक स्पर्शनइन्द्रियके वशीभूत होकर कितने ही दुःख पाता है। ऐसा ही दु ख अन्य पशु पक्षी मनुष्य आदिक सभी पाते है। तो अब इस स्पर्शनइन्द्रियजन्य सुखसे विराम लेना चाहिए। इन इन्द्रिय सुखोकी असारता अपनी दृष्टिमे रखें और वास्तविक बात समझें ताकि उन इन्द्रियसुखोमे आसक्त न हो और अपने सहज आत्मस्वरूप उस सहज ज्ञानानन्दमय अतस्तत्त्वका अनुभव बनाये जिसमे अलौकिक आनन्द प्रकट होता है।

तिष्ठञ्जलेऽतिविमले विपुलं यथेच्छ सौख्येन भीतिरहितो रममाणचित्तः।
गृद्धो रसेषु रसनेन्द्रियतोऽतिकष्टं निष्कारणं मरणमेति षडीक्षणोऽत्र ॥८४॥

रसनेन्द्रियविषयके व्यामोहमें मछलीका प्राणघात—रसनाइन्द्रियके वश होकर मछली ढीमरके द्वारा जलमे डाली हुई उस वशीमे कठ फसाकर अपने प्राण गंवा देती है। मछली तालाबके साफ स्वच्छ जलमे मनमाने किलोल किया करती थी, जैसा चाहे उलटती-पलटती थी, खूब आनन्दसे जलमे रहती थी, उसे कोई भय ही नही। उसका चित्त उस जल मे खूब रम रहा था, ऐसी वह मछली जब रसनाइन्द्रियके वशमे हुई और मांसपिण्डके लोभसे लोहेके फदेमे अपना कठ फसा लेती है तो बस वह तडप-तड़पकर मरणको प्राप्त हो जाती है और मांसलोलुपी लोगोके भोजनकी सामग्री बन जाती है। वैसे मछलीको लोगोने सगुन माना

है। कहीं-कहीं तो अक्षय तृतीयाके दिन ढीमर लोग कुछ जलमे मछली रखकर घर घर दिखाने जाते और लोग उन्हे कुछ उस दिखानेके एवजमे द्रव्य देते। और आपके सोलह स्वप्नों मे भी मछली दिखनेकी बात आयी है। मछली एक दयापात्र प्राणी है वह किसीका कुछ बिगाड़ नही करती। मगर शिकारी लोग थोड़ेसे मांस पिण्डका लोभ दिखाकर बड़ी निर्दयता से उस मछलीके प्राण हर लेते है।

रसनेन्द्रियविषयव्यामोहमें आबाल वृद्ध सबकी विडम्बना—भैया! यह तो मछली की बात है। सभी प्राणियोमे यही बात देख लो। आप सब भी अब तो बड़े हो गए, पर जब बच्चे थे तो क्या करते थे? अगर आपके हाथसे मान लो कोई जलेबी छुडा लेता था तो आप जमीनमे लोट लोटकर खूब रो रोकर घर भर देते थे। तो छोटे छोटे बच्चोको भी यह रसनाइन्द्रिय सताती है। फिर बडे बूढे लोगोका तो कहना ही क्या? एक इस रसनाइन्द्रिय के लोभके कारण नाना प्रकारके व्यञ्जन बनाये जाते है। हमे तो ऐसा लगता कि अन्य देशों से भी अधिक व्यञ्जन सामग्रियां आपके इस भारत देशमे बनती है। एक एक चीजकी सैंकड़ों किस्मकी चीज ले लो, ऐसे ही सभी चीजोकी सैंकड़ो तरहकी चीजें इस भारत देशमे बनती हैं। तो ये सब एक इस रसनाइन्द्रियके वशीभूत होनेके कारण ही तो बनती हैं। इन मनुष्यों का कितना ही समय व्यर्थ जाता है एक इस रसनाइन्द्रिय सम्बंधी व्यर्थकी बातोमे। इसके अतिरिक्त अन्य बातोसे भी व्यर्थ समय जाता। अगर इन मनुष्योको अन्य कोई बड़ा काम न करनेको पडा हो दूकान धधा आदिकका तो यो ही बैठे बैठे उनका चित्त कितने ही तरहके भोजन बनाने खानेमे लगा रहेगा।

रसनेन्द्रियविषयव्यामोहमूलक हठकी विडम्बनाका एक दृष्टान्त—कोई एक मास्टर मास्टरनी थे। एक दिन इतवार पड़ गया, छुट्टीका दिन था ही सो दोनोंमे सलाह हुई कि आज तो कोई नई चीज बनाकर खानी चाहिये, क्योकि रोज रोज वही वही खाना कम अच्छा लगता। अन्य दिनोमे कोई नई चीज बनानेका मौका भी नही मिलता। आखिर कौनसी नई चीज बनाई जाय, सो सलाह हुई कि आज तो मंगौडी बननी चाहिए। ठीक है अब मास्टर ने मंगौड़ीसे सम्बंधित सारी सामग्री बाजारसे खरीदकर घर पहुंचा दिया और मास्टरनीने बड़ी विधिसे मगौड़ी बनायी। वे कुल मंगौड़ी बनी गिनतीमे २१ (इक्कीस)। दोनो जब खाने बैठे तो मास्टरको १० मगौड़ी परोस दिया और अपने लिए ११ रख ली। तो मास्टर बोले— ११ तो हम खायेंगे, क्योकि हमारा परिश्रम अधिक रहा, मास्टरनीने कहा—नही नही, परिश्रम हमारा अधिक रहा, हम ११ खायेंगी। तो दोनोमे यह तय हुआ कि अच्छा दोनो ही मौन लेकर बैठ जायें, जो पहले बोल देगा उसे १० ही खानी पड़ेंगी।··· ठीक है। अब वे

दोनों घरमे अन्दरकी साँकल लगाकर मौन बैठ गए । दोनो ही इस हठमे थे कि ११ तो हम खायेंगे। इस हठमे दिन-रात दोनो ही व्यतीत हो गए । आखिर दोनो भूखे तो थे ही, पर हठ दोनोकी तेज थी । जब तेज भूख बढी तो दोनो ही लेट गए । यहाँ तक कि दो तीन दिन व्यतीत हो गए, पर दोनोने अपनी हठ न छोडी । उधर जब विद्यार्थियोने देखा कि मास्टर मास्टरनी दोनो ही दो-तीन दिनसे स्कूल नही आ रहे तो उसकी चर्चा फैली । लोग उनके द्वार पर गए, किवाड़ फाडकर घरके अन्दर घुसे तो क्या देखा कि दोनो मरे जैसे पडे थे । लोगोने यही समझा कि ये दोनो मर गए, अब इन्हे श्मशान पहुचायें । पर दो अर्थी बनानेकी क्या जरूरत ? एक ही अर्थीमे दोनोको रखकर पहुचा दिया जाय । आखिर दोनोको ही अर्थी मे रखकर लादकर श्मशानमे पहुचा दिया । वहाँ उनको जलानेके लिए चिता बनी, उस अर्थी को खोलकर दोनोको एक ही चितामे एक साथ लिटा दिया और चितामे आग लगाने ही वाले थे कि इतनेमे उस मास्टरनीको दया आयी कि देखो व्यर्थ ही एक इस हठके कारण हम दोनो के प्राण जा रहे, स्त्रियोका हृदय तो कोमल होता ही है सो वह अपनी हठ छोडकर बोल उठी—अच्छा तुम ११ खा लेना, हम १० ही खा लेंगी । अब उस दिन जलाने वाले लोग भी कुल २१ (इक्कीस) ही गए थे, सो उस मास्टरनीकी आवाज सुनकर सभी गिनने लगे कि अपन सब कितने है ? तो देखा कि २१ है । सो यह समझे कि यह चुडैल (भूतनी) तो हम लोगोमे से १० को खानेको बोल रही और इस भूतको ११ खानेको कह रही, सो वे सभी के सभी डरकर वहाँसे भग गए । बादमे वे मास्टर मास्टरनी भी घर गए । तो बात यहाँ यह समझना कि एक इस रसनाइन्द्रियके लोभमे आकर ये प्राणी न जाने कितने-कितने कष्ट सह लेते है । यदि इन कष्टोसे बचना है तो इन विषयोसे प्रीति न करें और अपने वास्तविक स्वरूपको निरखकर अलौकिक आनन्द प्राप्त करें ।

नानातरुप्रसवसौरभवासितांगो घ्राणेंद्रियेण मधुपो यमराजविष्णय ।
गच्छत्यशुद्धमतिरत्र गतो विशक्तिं गधेषु पद्मसदन समवाप्य दीन· ॥८५॥

घ्राणेन्द्रियविषयवशीभूत भ्रमरका प्राणघात—संसारके प्राणी इन्द्रियके विषयोंके वश होकर अपना प्राणघात तक कर डालते हैं, यह बात इस प्रकरणमे कही जा रही है । जीवका स्वरूप तो केवल ज्ञातादृष्टा रहनेका है । केवल जाने, देखे । आत्मस्वभावसे केवल प्रतिभासमात्र है । यह मैं अकेला स्वय आनन्दस्वरूप हू । इसमे न विषयकी वेदना है, न सांसारिक कोई कष्ट है । इसका स्वरूप कष्टरहित है, किन्तु जिसको अपने स्वरूपकी सुध नही, किसी कारण अपना अलौकिक आनन्द पा सकता नही तो वह विषयसुखोकी ओर ही आकर्षित होगा । घ्राणेन्द्रियके वश होकर बहुत प्रसिद्ध बात है कि भ्रमर कमलके पत्तोके भीतर

दबा दबा अपने प्राण खो देता है । भ्रमर अनेक पुष्पोके पराग लेकर जीता है । जिसके सारे अंग सुगंधित रहते है वह भ्रमर शामके समय किसी फूले हुए कमलके बीच बैठ जाता है और कमलकी सुगंधमे मस्त हो जाता है । कमलका ऐसा ही स्वरूप है कि रात्रिमे कमल बंद हो जाता है, कमल बंद हो गया भंवरा उसीमे ही बंद पडा है उस भंवरेमे इतनी शक्ति है कि किसी काठमे लग जाय, तो उसे भी छेदकर निकल जाता है, मगर विषयोके लोभमे वह कमलके पत्तोको नही छेद रहा और उसी कमलमे उसकी घुटन हो जाती है । श्वास खत्म हो जाती और मरा हुआ पाया जाता अथवा कोई रात्रिको हाथी आये और यो ही फूलके साथ उसे चबा जाये । तो देखिये घ्राणेन्द्रियके वश होकर ये भ्रमर अपने प्राण खो देते है । यहाँ मनुष्योमे भी देखिये—घ्राणेन्द्रियके लिए इत्र लेना, फूल लेना, ये कोई खास जरूरी है क्या ? स्वच्छ पवन है, उससे ही जीवन चलता है, मगर विषयोका लोभ ऐसा लगा है कि कोटपर इत्र लगायेंगे, कानमे इत्र खोसेंगे, मूंछमे लगायेंगे, फूलोके सुगंधित गजरा माला पहनेंगे, क्योकि फालतूके विषयोका व्यामोह होता है । फल यह होता है कि उसकी बाह्यमे ही दृष्टि रहती है । आत्माका जो सहज स्वरूप है केवल चैतन्यमात्र उस रूप अपनेको बना सके यह उसके बुद्धि नही बनती । यह बहुत बडी विपत्ति है जो मैं अपने आपके स्वरूपको न जान पाऊँ और बाहरी-बाहरी पदार्थोंमे ही रमण करूँ ।

सज्जातिपुष्पकलिकेयमितीव मत्वा दीपार्चिषि हतमतिः शलभः पतित्वा ।
रूपावलोकनमना रमणीयरूपे मुग्धोऽवलोकनवशेन यमास्यमेति ॥८६॥

चक्षुरिन्द्रियविषयवशीभूत पतंगेका प्राणघात—चक्षुइन्द्रियके वशमे होकर यह प्राणी न जाने कितनी ही विडम्बनायें पाता है । मनुष्योमे ही देख लो, ऐसे-ऐसे गरीब लोग जो रिक्शा चलाकर उदरपूर्ति करते है उनको भी सिनेमा देखे बिना चैन नही पडती । घरमे चाहे कैसा ही गुजारा करना पडे, मगर चक्षुइन्द्रियके विषयोके तीव्र लोभी है । जो स्त्री पुरुष परस्परमे एक दूसरेके रूपको निरखनेमे व्याकुल रहते है उनका वह फोकटका काम है । उससे उन्हे लाभ कुछ नही मिलता, केवल समय ही बरबाद होता है । चक्षुइन्द्रियके वश होकर पतिंगे दीपकके लौ पर गिर जाते है और अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं । बताओ विषय व्यामोहका इससे बडा क्या उदाहरण होगा ? पतिंगा दीपकमे पडेगा तो मरेगा, मगर दीपकके प्रकाशका रूप उसे इतना सुहाता है कि वह दीपकपर गिर जाता है । जो अपने प्राणोके विनाशका कारण है उसके तो निकट ही न जाना चाहिए और प्रायः करके सभी कीडे और वे ही पतिंगे अन्य कोई कारण ऐसा आये कि जिसमे प्राणघातकी सम्भावना है, तो वहाँ कभी न जायेंगे, मगर दीपकका राग ऐसा लगा है कि जहाँ जलता दीपक दिखा वहाँ अपना सर्वस्व

समर्पित कर देते हैं। उनके अज्ञान है, वे दीपककी शिखाको मानो बडी ऊँची जातिके पुष्प की कली समझते है। भ्रम भी है उनके, क्योंकि पतिंगे पुष्पोंपर मडराया करते है। दीपककी लौ को भी कोई पुष्पकली समझ रखा, उसको रमणीक रूप समझ रखा तो मानो उसको देखनेकी इच्छासे वे उनमे बैठते है और बैठते ही भस्म हो जाते हैं, अपने प्राण खो देते हैं। इतिहासमे मनुष्योकी भी बहुतसी विडम्बनायें पढनेको मिलती है पुराणोंमें। कोई राजपुत्र किसी कन्यापर या किसी सेठवधूके रूपपर मोहित हो गया, भोजनपान छोड दिया, लोग मनाने लगे, न जाने क्या-क्या विडम्बनायें हुई…, तो चक्षुइन्द्रियका विषय जिनके लगा है और नाटकादि रूपादिको देख रहे हैं उन जीवोको बहुत बडी विपत्ति है वे अपने उपयोगको सर्वत्र लगाकर निरन्तर दुःखी रहा करते है।

दूर्वांकुराशनसमृद्धवपुः कुरंगः क्रीडन् ये वनेषु हरिणीभिरसौ विलासैः।
अत्यंतगेयरवदत्तमनाः वराकः श्रोत्रेंद्रियेण समवर्तिमुखं प्रयाति ॥८७॥

कर्णेन्द्रियविषयवशीभूत मृग एवं सर्पोंका वशीकरण— कर्णेन्द्रियके विषयोके लोभमे हिरण, हिरणी, सर्प आदिक शिकारियोके चगुलमे फस जाते हैं। शिकारी लोग क्या करते हैं कि कोई बीन आदिक बाजोंका मधुर सगीत बजाते है और उस सगीतको सुननेके लिए हिरण हिरणी, सर्प आदिक पास आ जाते है, विषयोका आकर्षण ऐसा है कि वे अगल-बगलका भय कुछ नही देखते और उस विषयपर ही अपने आपको सौंप देते है। तो अच्छे संगीतकी ध्वनि सुनकर हिरण, हिरणी, सर्प आदिक पास आये तो वे इतना मस्त हो जाते कि सब कुछ भूल जाते और शिकारियोके द्वारा पकड लिए जाते हैं, शिकारियोके वशमे हो जाते है। मनुष्यो को भी देख लो, जिनको राग रागनीका शौक लगा है वे अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ खोकर, समय भी खोकर उन्ही विषयोमे लग जाते हैं। फल क्या मिलता ? समय व्यर्थ गया, उपयोग खराब हुआ और आत्माकी सुधसे दूर हो गए। तो कर्णेन्द्रियके विषयोके वश होकर ये ससारी प्राणी अपने प्राण तक गवा देते है और अपने जीवनको बरबाद कर देते है।

एकैकमक्षविषयं भजताममीषां संपद्यते यदि कृतांतगृहातिथित्वं।
पंचाक्षगोचररतस्य किमस्ति वाच्यमक्षार्थमित्यमलधीरविषयस्त्यजंति ॥८८॥

पचेन्द्रियविषयवशीभूत मनुष्योंकी दुर्दशा—अभी उक्त छदोमे एक एक इन्द्रियोके वश हुए संसारी प्राणियोकी दुर्दशा बतायी है, वे अपने प्राण तक खो बैठे। अब जो पचेन्द्रियके विषयोमे लीन है ऐसे मनुष्योकी स्थिति देखिये—ये किस विषयसे विरक्त है, स्पर्शनइन्द्रियके विषयोमे अत्यन्त व्यामुग्ध है, रसका भी लोभ है। फालतू होनेपर यह घ्राणेन्द्रियके विषयोमे भी लगता, चक्षुइन्द्रियका भी लोभ, कर्णेन्द्रियमे भी व्यामुग्ध और मनके विषयका तो अतीव

व्यामुग्ध है । जो सम्पर्क मिला है इनके बीच हमारी बडाई होनी चाहिए, इनमे हमारा नाम प्रधान रहना चाहिये या मेरा सम्मान रहे, अन्य लोग मेरे विनयमे रहे, यो न जाने किस-किस प्रकारकी मनकी विडम्बनायें चलती है जो कि एक मूढता भरी है । यह मनका विषय है । तो यह मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोका लोभी और मनके विषयोका लोभी है, तो ये अवश्य ही नष्ट भ्रष्ट हो रहे हैं, सारा जीवन किरकिरा हो रहा है । बडो-बडोपर दृष्टि डाल लो जो ऊँचे कहलाते । धनमे कहो, इज्जतमे कहो, राज्याधिकारमें कहो, वे अब भी निरन्तर अशान्त और कदाचित् उनका पतन हो जाय, पद छूट जाय तो वहाँ और भी अशान्ति । सर्वत्र अशान्त हो रहे ये मनुष्य, उसका कारण यह है कि अपना असली सहज एकत्व विभक्त जो चैतन्य प्रतिभास मात्र स्वरूप है उसमे अनुभव नही बनाया कि मैं यह हू । यह जगत माया है, ऐसा उनके निर्णय नही हो पाया, इस कारण दु:खी होते है । यदि इस दृश्यमान सर्व जगतको, अपने शरीरको, अपने वर्तमान परिणामोको, इन सभीको मायारूप जानने लगें और यह जानें कि इस मायाका स्रोत तो एक अद्वैत ब्रह्मस्वरूप सहज परमात्मतत्त्व है, वहीसे तो यह सब प्रकट होता है । इसी बातको दृष्टिमें रखकर तो सृष्टिकर्ताकी बुद्धि हो गई, अपनी सारी सृष्टियो का स्रोत तो यह चैतन्यस्वरूप है । उस स्रोतकी सुध नही है और मायामे लग रहे है तो उनको सर्वत्र अशान्ति रहती है, जिसे जीवनमे शान्ति चाहिए उसे विषयोसे विरक्त रहना कर्तव्य है ।

दंतीद्रदंतदलनैकविधौ समर्थाः संत्यत्र रौद्रमृगराजवधे प्रवीणा: ।
आशीविषोरगवशीकरणेपि दक्षाः पंचाक्षनिर्जयपरास्तु न संति मर्त्या. ।।८९।।

हस्तिराज एवं सिंहोके वधमें शूर वीर पुरुषोंकी भी विषयविजयमें असमर्थता— ऐसे मनुष्य बहुत मिलेंगे वीर जो बड़े-बडे हस्तियोके दतको तोड देनेमे समर्थ है, मगर वे मनुष्य पचेन्द्रियके विषयोपर विजय प्राप्त करनेमे समर्थ नही हैं । इतना बल पाया कि हस्तियो की अक्लको ठिकाने लगा दें, पर अपने आपके अक्लको ठिकाने नही लगा सकते । ये इन्द्रियविषय, इनकी धुन, इनका राग जिन पुरुषोके लगा है वे कायर है और कभी भी वे शान्तिका अनुभव नही कर सकते । ऐसे-ऐसे भी वीर पुरुष मिलेंगे जो क्रूर सिंहके वध करनेमे भी प्रवीण हैं, सिंहसे कुश्ती भी लड़ेंगे, उसका मुख चीर दें, उसकी भुजाओको चीर दें, इतनी भी शक्ति रखने वाले वीर पुरुष है, मगर वे पञ्चेन्द्रियके विषयोपर विजय प्राप्त कर लें यह उनसे नही बन पाता । अब इससे जानें कि इन्द्रियके विषयोका जीत लेना कितनी बडी वीरताका कार्य है । हम आप सबको मोक्षमार्गमे प्रगतिके लिए बहुतसी अभी अधूरी बातें है जिनको पार करना है । उन सबके पूर्ण होनेका उपाय तो एक ही है—निर्विषय, निर्विकार, निज सहज

चैतन्यस्वभावमे मैं यह हूँ ऐसा अनुभव रखना यह एक ऐसी औषधि है कि इसके बलपर यह सर्व संकटोसे दूर हो सकता है। तो अपने लिए कितना कार्य पडा है धर्मपालनके लिए अभी हम कितनी दूर हैं यहां भी जानें, उस दूरीको हटायें और अपने आपके भगवानके निकट आयें। जिन्होने पञ्चेन्द्रियके विषयोपर विजय किया उनसे स्वानुभूतिका आनन्द मिल जाता है।

विषैले सर्पराजोको बन्धनमे डालने वाले पुरुषोके भी विषयविजयकी अक्षमता—ऐसे बडे-बडे वीर पुरुष हो गए जो बडे कठिन विषैले सर्पोंको भी वशमे करनेमे दक्ष हैं। जो सर्प एक बार भी डस ले तो मृत्यु हो जाय, ऐसे भयकर हैं, उन सर्पोंको वश करनेकी सामर्थ्य है मनुष्योमे और करते है, किन्तु पचेन्द्रियके विषयोपर विजय पानेमे समर्थ नही हो रहे। देखिये धर्मपालनके लिए मूल प्रेरणा अपने आपके अन्दरसे होनी चाहिये। बैठे है, पडे हैं, रोगमे भी हैं, पर ऐसा अपने आपके स्वरूपका विचार करना चाहे तो किया जा सकता है। मैं क्या हू? यह बाह्य जगत् सब माया है। इस मायासे मुझे कुछ लाभ न मिलेगा। इसमे जितना ही उपयोगको फसाया जायगा उतनी ही अडचनें बढती जायेंगी। प्रायः सभीने अनुभव किया। कोई २० साल पहले सोचता होगा कि इतना कार्य हो जाय, फिर मेरेको कोई उलझन न रहेगी और धर्मदृष्टिमे ही फिर सारा समय लगाऊँगा, पर होता क्या कि जब उतना कार्य पूर्ण हो जाता तो उलझन और भी बढ जाती है, छुटकारा नही मिल पाता। तो यह माया ऐसी चीज है कि जिसमे फसनेपर विवेक सब दूर हो जाता है, तिसपर भी उपाय तो एक ही है। जैसे कोई चीटी भीतपर चढती है तो वह कुछ दूर चढने पर गिर जाती है, फिर चढती है, फिर गिर जाती है, यो कितने ही बार चढती और गिरती है, फिर भी चढना नही छोडती। आखिर एक समय वह आता है कि वह चीटी ऊपर चढ ही जाती है, ऐसे ही हम आप बार-बार चिगते है इन विषयसाधनोमे उपयोग देकर तिसपर भी कर्तव्य क्या है? क्या यह जानकर कि जब चिग जाते हैं तो अब प्रभुका क्या सहारा करें? ऐसा हो ही जाता है, ऐसा कोई विचार करे तो वह तो गया अपने कामसे।

सर्व धार्मिक कर्तव्योंका प्रयोजन स्वभावदृष्टि—कितनी भी स्थितियां बुरी आयें, पर कर्तव्य एक ही है कि अपने अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करना कि मैं तो यह हू वास्तवमे, और हू वास्तवमे निमित्तनैमित्तिकके परिचयकी बडी कृपा है, जिसके बलसे स्पष्ट जचता है कि मैं तो इस स्वभाव वाला हूँ, विकारको वे निमित्तके खातेमे बोल देते हैं। ये मेरे स्वरूप नही है, ये निमित्त पाकर हुए हैं। तो ऐसा योग है, हो जाता है, मगर मेरे स्वरूपकी चीज तो नही। मैं स्वरूपसे अविकार हू, ऐसा दृढ निर्णीत हो जाता है। तो कर्तव्य यह है कि

स्वाध्यायसे, सत्संगसे, तत्त्वचर्चासे, ध्यानसे, एकान्तसे, मननसे अपने आपको अपने स्वरूपमे निहारनेका अभ्यास बढाना चाहिये । यह ही अन्तः प्रकाश हमको मददगार बनेगा कि इन विषयोंके त्यागसे सुगमता होगी और आसानीसे त्याग सकेंगे । तो इस दुर्लभ मानवजीवनको पाकर विलक्षण काम करनेकी ठानिये । जो कार्य पशु-पक्षी भी करते है उन कामोको दोहराने की उमग न रखें । बाल-बच्चोसे मोह तो ये पशु पक्षी भी करते है । कोई उनका बच्चा गुजर जाय तो वे भी रोते है, कई-कई दिनको खाना पीना भी छोड देते है । यहाँ अगर मनुष्य होकर वही काम किया तो उनमे और मनुष्योमे फिर फर्क क्या रहा ? पेट पशु-पक्षी भी भरते और रात-दिन उसीकी धुन रखते । अगर वैसा ही काम मनुष्योने किया तो फिर पशु पक्षियो से और मनुष्योमे अन्तर क्या रहा ? तो पशु पक्षियोकी भाँति निरन्तर खाने-पीनेका ही प्रोग्राम रखनेकी धुन न होनी चाहिए । सभी विषयोमे यह ही बात है । इन विषयोसे विरक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूपकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए कि मैं तो यह हू, मेरा बाहरमे कुछ भी नही है । न कोई चेतन पदार्थ मेरा है न अचेतन, देह भी मेरा नही । तो ऐसे अन्तरग निर्णयके साथ इन विषयोका परिहार करना योग्य है ।

ससारसागरनिरूपणदत्तचित्ताः सतो वदति मधुरो विषयोपसेवी ।
आदौ विपाकसमये कटुकां तितांत किंपाकपाकफलभुक्तिमिवानिमाजो ॥६०॥

विषयोपभोगका परिणाम अति कटु—जो पुरुष ससारकी वास्तविक अवस्थाका निरूपण करने वाले है वे खूब बतलाते है कि ये विषयभोग इन्द्रायन फलके समान देखनेमे बडे सुन्दर और खानेमे बडे मीठे (मधुर) विदित होते है, परन्तु अन्तमे महान् कटुक फल देने वाले है । जिस पुरुषको जितना समागम मिला, जितनी सुविधा मिली उसके अनुसार वे भोग भोगनेको बडा सस्ता समझते है । कुछ भी दुर्विचार बनाना उनके लिए बहुत सस्ता लगता है, मगर ये भोग जो सुविधा पानेपर सडे सस्ते लग रहे इनमे उलझनेका परिणाम बडा कटुक फल देगा । ससारमे जो जीव दिख रहे है यह किस बातका फल है ? बस विषयोमे आसक्त होनेका फल है । विषयोमे वे आसक्त क्यो रहे कि उनको अपने आत्माकी सुध न थी । कुछ न कुछ जानना और सुख मानना यह जीवकी प्रकृतिमे पडा हुआ है । अब सही ज्ञान नही जगता तो विपरीत ज्ञानमे ही लग रहे है और उनको आत्मीय आनन्द नही मिलता है तो वे विषयोके आनन्दमे रहते है, किन्तु सुख और ज्ञान यह जीवकी प्रकृति है । तो जब खुदके स्वरूपका परिचय नही, जो आनन्दका अनुभव नही कर पाता वह बाहरमे लगेगा ही । तो ये विषयसुख बडे अनर्थकारी है । जिस कालमे ये विषयसुख भोगे जाते है उस कालमे आत्माकी कोई सुध रहती है क्या ? एक खानेपर ही डटा लो । बडी धर्मकी बातें करें, बडी चर्चामे

रहे, और जब खानेका समय होता है और खाते है तो कुछ भी खावें, मगर खाते समय किसीको आत्माकी सुध भी रहती है क्या ? आत्माका नाम भी वह चित्तमे ले पाता है क्या ? तो खाना तो एक जरूरी काम है। उसमे जब यह विडम्बना है तो जो जरूरी विषय नही है उन विषयोके भोगकी प्रीतिमे तो बडी विडम्बनायें भरी है। सो वास्तविकता यही है कि ये भोग भले ही देखनेमे, सुननेमे, भोगनेमे प्रिय लगें, लेकिन इनमे चूंकि उपयोग फँसा तो उसका फल अन्तमे बहुत कटुक मिलता है। सारा जीवन विषयोमे गया और सहज परमात्म तत्त्वकी दृष्टिका अभ्यास न बन सके तो उसका फल क्या होगा ? अगला भव भी ऐसा ही मिलेगा जहाँ शान्तिका प्रसंग नही है। दो बातें सामने है—एक विषयसुखोके भोगनेका झूठा मौज और एक आत्माको निरन्तर ज्ञानमात्र चिन्तन करनेपर यही उपयोग जब लगा रहता है उस समय आया हुआ अलौकिक आनन्द। इन दो मे श्रेष्ठ आत्मीय आनन्द है। इसे पानेके लिए विषय सुखके साधनोका परिहार करें और स्वाध्याय आदिक द्वारा अपने आपके स्वरूपमे अपने को निरखनेका अभ्यास बनायें।

तावन्नरो भवति तत्त्वविदस्तदोषो मानी मनोरमगुणो मननीयवाक्यः।
शूरः समस्तजनतायहितः कुलीनो यावद्धर्षीक विषयेषु न सक्तिमेति ॥६१॥

विषयोमे आसक्ति न होने तक ही तत्त्वज्ञता—उपदेशमे जो कुछ सुनना चाहिए वह इस विधिसे सुनना चाहिये कि यह बात मेरी है, मेरे लिए कही जा रही है और मुझपर ये सब बातें बीतती हैं, ऐसी बात ध्यानमे रखकर सुनना चाहिये। देखिये—हम आप सब जीव हैं, जिसका स्वरूप है ज्ञान और आनन्द, यह स्वभाव है। जैसे दिखने वाले ये पुद्गल पदार्थ हैं तो उनका रूप, रस आदिक स्वभाव है, ऐसे ही आत्मोका क्या स्वभाव है ? ज्ञान और आनन्दस्वभावसे यह अलौकिक अद्भुत परम आनन्दका अनुभव करता है, ऐसा हमारा आपका स्वभाव है, पर आज क्या हालत हो रही है ? जिस ज्ञानकी चर्चा कर रहे है कि इसका स्वभाव है तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंको जानना, मगर जान कितना रहा है ? आनद स्वभाव ऐसा है कि जिसमे रंच भी आकुलता न आये, क्षोभ न हो, लहर न हो और एकदम एक रससे लगातार कोई ढगका अलौकिक आह्लाद बने, पर यह बात कहां मिल रही है ? तो वह ज्ञान अलौकिक निधि जो नही मिल रही है इसका कारण है मोह। मोह होनेसे अज्ञान बसा है। अपने आत्माके स्वरूपकी सुध नही रहती है, और चूंकि जानना और आनद अनुभव करना यह है इसकी प्रकृतिमे बात, सो इस समय हम इन इन्द्रियोके द्वारा ही तो जानते हैं और इन्द्रियोके द्वारा ही सुख भोगते है। बस इतनासा प्रलोभन कर्मोंने दे रखा है। अब जो इस प्रलोभनमे आते है उनपर कर्म हावी रहते है, और जो इस प्रलोभनमे नहीं आते

वे कर्मोका क्षय करके परमात्मपद प्राप्त करते है ।

व्यक्त एकत्वविभक्त होनेके लक्ष्यकी प्रथमावश्यकता—भैया ! भले प्रकार विचारें कि आपको आगे किस तरह रहना है और आपको क्या होना है ? ऐसी अपने बारेमे कुछ बात तो सोचिये । क्या पशु पक्षी, लट, केंचुवा, कीडा-मकोडा आदि बनकर रहना है ? इसके लिए तो आप झट मना कर देगे कि ऐसा नही रहना है तो क्या बनकर रहना है ? क्या कहीका राजा या कोई ऊँचा पदाधिकारी बनकर रहना है ? उसमे भी कहाँ आनन्द बसा है ? राजावोको तो प्रजाके साधारण लोगोसे भी अधिक क्लेश है । लोगोको दिखता है ऐसा कि ये बड़े मौजमे होगे, किन्तु उनको तो बडी आकुलता है, और आजके राज्याधिकारियोको ही देख लो, जब अधिकार है तब आकुलता है जब चुनावमे हार गए तब आकुलता । तो दो दिनकी चांदनी फेर अंधेरी रात, यह दशा है जीवोकी । अब एक निर्णय करके तो बताओ कि भविष्यमे क्या बनना चाहते हो । देव बनना चाहते क्या ? अरे उन ठलुवा देवोको बडा कष्ट है, मनुष्योसे अधिक कष्ट है, क्योकि उन्हे न कमानेकी फिक्र, न भूख प्यास मिटानेकी फिक्र, कभी हजारो वर्षोमे कुछ भूख लगी तो उनके ही कठसे अमृत झड जाता है जैसे कि हम आपका थूक झड जाता, बस तृप्त हो जाते । तो उन देवोको सागरो पर्यन्त ठलुवा रहना पडता है । अब जो ठलुवा रहे, कुछ काम-धधा न रहे उसको कितने ही विकल्प उठते हैं सो तो आप सब लोग जानते ही हो । सो वे ठलुवा रहनेके कारण एक दूसरेके वैभवको व प्रतिष्ठा को अपनेसे अधिक देखकर मन ही मन कुढते रहते है । तो देवगतिमे भी बडे दुःख है । सभी गतियोमे ही कष्ट ही कष्ट है । अब अपने आपके बारेमे सोचिये कि हमे क्या बनना है जिससे कि ये कष्ट दूर हो ? हाँ तो उत्तर आयगा कि हमको सिद्ध भगवान बनना है, जिसके बाद न जन्म लेना पड़े, न जीवनके कष्ट भोगने पडें ।

व्यक्त एकत्वविभक्त होनेके लिये एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्वकी भावना व तदनुरूप आचरणके पौरुषका आवश्यक कर्तव्य—भैया, यह तो सोचिये सिद्ध बनने लायक आज कुछ करामात कर रहे क्या, यह भी तो ध्यानमे लाइये । क्या यो सोचनेसे मिल जायगी सिद्ध अवस्था ? सिद्धके मायने क्या है ? जहाँ शरीर नही, कर्म नही, विकार नही, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया उसे कहते है सिद्ध । तो केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय, यह तो चाहते हैं, मगर करामात मोहकी बना रखी कि यह भी मेरा वह भी मेरा । ये बच्चे मेरे, यह धन वैभव मेरा, यह मकान मेरा, यह प्रतिष्ठा मेरी । तो इन मायामय चीजोको इसने मान लिया कि ये मेरी है । क्या इस करामातसे सिद्ध भगवान बननेकी बात बन सकती है ? जब तक सत्य ज्ञान न जगे चित्तमे तब तक कल्याणका उपाय बन नही सकता । मैं आत्मा हूँ, अपने

स्वरूपसे हूँ, ज्ञानानन्दमय हू, निरन्तर परिणमता रहता हूँ। मेरा सब कुछ मुझमे है, मेरा बाहर कही कुछ नही है, बाहरका कुछ भी मेरा नही है। यह बात जिसे बिल्कुल साफ विदित हो तो वह पुरुष इस व्यामोहको छोड सकेगा। इस जीवको मोह करना बडा सस्ता लग रहा। झट दृष्टि दी कि मोह करने लगा। आँखसे देखा तो हृदय मौजसे भर गया। यह जिन्दगी जो बितायी जा रही है सो मालूम है कि एक क्षणके मोहमे ७० कोडाकोडी सागर तकके मोहनीयकर्म बँध जाते हैं। जरासी देरको कल्पित मौज माना और अनगिनते वर्षों तकके लिए इस ससारके बधनमे बध गए। तो कुछ अपने आपपर करुणा करके अपने हितके लिए थोडा सोचिये—जैसी करतूत कर रहे है भीतरकी, बाहरकी बात नही कह रहे, जब तक घरमे रहते है तब तक अच्छा बोलना पडेगा, प्रेमसे रहना पडेगा, नही तो न घरमे ठीक ठीक रह पायेंगे, न गुजारा चलेगा, पर वास्तविक बात सोचें, वह तो आपके हाथकी बात है। उसे तो कोई छीनता नही। आपका आत्मा है। आप अपने मनके राजा है। आप अपने मे सब कुछ सोच सकते, उसमे कोई बाधा डालने वाला नही है। तो इस बातको सोचिये और भीतरके सारे व्यामोहको छोड दीजिये, और नही छोडते तो छूट तो जायगा। सब कोई यह बात जान रहे। तो ऐसा छूटनेसे क्या लाभ मिलेगा ? सक्लेश होगा, भविष्यमे दुर्गति होगी। तो तत्त्वज्ञान करके इस रही सही जिन्दगीमे व्यामोह न बढायें और अपनी इन्द्रियका भी व्यामोह न हो।

इन्द्रियज ज्ञान और सुखमे आसक्त होने वालोकी दुर्दशा—इन इन्द्रियो द्वारा जो जाना जाता है इस मन द्वारा उसपर चतुराईका घमड न करें। मैं ऐसा जानता हू, मैं ऐसा फंसाता हू लोगोको, मैं सब तरहकी बात समझता हूँ, इस प्रकारसे अपनी चतुराईपर गर्व न करें। वह तो विडम्बना है। कहाँ तो आत्माका अनन्त ज्ञानस्वभाव और कहाँ इन्द्रिय द्वारा थोडा जो ज्ञान हो रहा, पराधीन ज्ञान हो रहा, परोक्ष ज्ञान हो रहा, साधारण ज्ञान है और वह भी पूरा स्पष्ट नही, उस ज्ञानपर गर्व किया जा रहा है। उस चतुराईपर गर्व करनेका फल भयकर है। उसे दोष मानें और इन्द्रिय और मनसे परे जो ज्ञान है अपने आप उस अपने आत्मस्वरूपको देखे, बस उस ही मे तृप्त रहे, अन्य कुछ मुझे न चाहिए। ऐसे ही इन्द्रिय द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह कल्पित है, दुःखसे भरा है। उसका फल भी कष्ट है। अतः इन्द्रिय विषयोके सुखमे मुग्ध न हो, यह लालसा न रखें कि मुझे ऐसा ही विषय चाहिए, ऐसा ही खाना चाहिए, मुझे ऐसे ही मौजके साधन चाहिएँ। तो यह मनुष्य तब तक तत्त्वज्ञानी रहता है जब तक इन्द्रियके विषयोमे आसक्त नही होता, और जब तक यह निरपेक्ष रहता है तब तक ही सतुष्ट रहता है। जब तक इन्द्रिय और मनके विषयोमे वह आसक्त नही

होता। जो मनुष्य इन्द्रिय विषयोमे आसक्त है वे निष्पाप हो नही सकते, विवेकी भी नहीं रह सकते। यह घमड तब तक ही बगरा सकता जब तक इन्द्रियविषयोमे आसक्त न हो। यद्यपि घमंड बुरी चीज है, मगर घमड जैसा गौरव भी तब हो कर सकता है जब विषयोमे आसक्त न हो। यह मनुष्य इतना विचारशील तब तक ही रह सकता है जब तक कि इन्द्रिय विषयोमे आसक्त नही है। इन्द्रियके विषय ५ है—स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु और कर्ण। स्पर्श, स्वाद, गध लेना, रूप देखना, शब्द सुनना और नाम चाहना, ये सारे विषय है। ये विषय जिसको न रुचें वही पुरुष वास्तविक गुणी रह सकता है, नही तो कायर हो जाय। तो हम आपको विवेकसहित इतना तो करना ही चाहिये कि इन्द्रियविषयोमे आसक्ति न रखें। हो रहा है, ज्ञाता दृष्टा रहे, यह बात भी तब बन पायगी जब आपके चित्तमे यह बात बस जाय कि ससारकी कोईसी भी दशा भली नही है। यह पुरुष सम्मानके योग्य और बडे कुलके व्यापक बर्ताव रखने वाला, न्यायपर अडिग तब तक ही रहता है जब तक कि विषयो का लोभ नही होता।

मर्त्यं हृषीकविषया यदमी त्यजति नाश्चर्यमेतदिह किंचिदनित्यतातः।
एतत्तु चित्रमनिशं यदमीषु मूढो मुक्तोपि मुचति मति न विवेकशून्यः ॥६२॥

खुब ही पुरुषको छोड़ जाने वाले विषयोको न छोड़नेके आग्रहकी मूर्खता—ये इद्रिय के विषय, ये बाहरी सभी पदार्थ इस मनुष्यको छोडकर चले जायेंगे, छोड देंगे, इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही। पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ विनाशीक है अर्थात् किसी एक ही पर्यायमे कोई पदार्थ हमेशा नही रह पाता। स्थितियाँ बदलती रहती है। तो ये सभी पदार्थ इस मनुष्यको छोड देंगे। इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही, कोई नई बात नही, हां आश्चर्यकी बात यह है कि यह मनुष्य जीते जी इन्हे छोडना नही चाहता। बल्कि विषयोके द्वारा छोडा गया यह मनुष्य तिरस्कृत होकर, विवेकरहित होकर बार-बार उनका ही सेवन करता है और वह इस नियमको भूल जाता है। ये विषयभूत पदार्थ अनित्य हैं। ये मेरेको हितकारी नही है। अपने भीतर रहने वाला परमात्मस्वरूप इसकी नजरमे रहे तो समझो कि इसने इस दुर्लभ मनुष्यभवको पाकर कोई ऊँचा काम किया और यदि एक यह काम न कर सके तो फिर आप कुछ भी कर जायें, उसका कोई महत्त्व नही। यदि तत्त्वज्ञान न बने, ज्ञानसस्कार न मिले तो कुछ भी चीज आगे साथ जाने वाली नही है। इस कारण तत्त्वज्ञानके प्रति रुचि रखनी चाहिए। जिन लोगोको ज्ञान नही जग पा रहा, जिसे कहते हैं कि निपट मूर्खता छायी है, जिनको कुछ समझ नही बन पा रही है उन्होने क्या किया था पूर्व भवोमे ? उन्होने अपने ज्ञानके साधनोको बिगाडा था, उसका फल है कि अगले भवमे

अज्ञानी बनना पडा । ज्ञानके साधनोमे उमग रखिये तत्त्वज्ञानके प्रसारकी रुचि रखिये, धर्मके लिए जितना जो कुछ किया जा रहा है यदि उसके फलमे तत्त्वज्ञानकी बात नही सकते तो इसे यो समझिये—जैसे कोई बनियेका लडका यो ही बैठा हुआ बाटोको तराजूमे धर धरकर उन्हे ही आपसमे तौलता, पर फायदा उससे कुछ नही, व्यर्थ श्रम किया और सारा समय व्यर्थ खोया । तो ऐसे ही समझो कि जिसे अपने आत्मासे सहज स्वरूपका बोध नही हुआ और वह कर रहा है अनेक धार्मिक क्रियाकाण्ड, फिर भी उसके लिए वे क्रियाकाण्ड कार्यकारी नही है । बल्कि उनमे पडकर अपना समय व श्रम खोता है । अपनी रुचि होनी चाहिए तत्त्वज्ञान करनेके लिए । इसके लिए सत्सग और स्वाध्याय इन दो बातोका मुख्य ध्यान रखें ।

इन्द्रियविषयोंके परिहारकी वृत्तिके परीक्षणका कर्तव्य—अब आप लोग ही बताओ आपका रात-दिनके २४ घटेमे कितना समय जाता है तत्त्वज्ञानके काममे और कितना समय जाता है व्यर्थके कामोमे ? इसका निर्णय तो आप स्वय दे सकते । अरे रात-दिनके २४ घटे मे अधिक नही तो कमसे कम १ घंटेका समय तो तत्त्वज्ञानके लिए देना ही चाहिए । २४ घटेमे एक बार या दो बार अधिकसे अधिक जितना समय लगा सकें उतना तत्त्वज्ञानके काम मे लगायें, तत्त्वज्ञानवर्द्धक शास्त्रोका अध्ययन करें । उससे एक तो तत्काल ही शाँति मिलेगी, चित्तमे व्यग्रता न रहेगी । आजकल प्रायः करके घरमे, समाजके देशमे जो परस्परमे विवाद होता है उसका मूल कारण है अयोग्य वचनव्यवहार (मिथ्यावाणी) तो तत्त्वज्ञान पर हम आपकी दृष्टि रहे जिससे सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव करते रहे, ऐसी धुन यदि बन सकती तो वहाँ अपना वचनव्यवहार भी बडा उत्तम बनेगा । उससे खुदका भी भला है और दूसरोका भी । एक यह ही बात अपने चित्तमे रहे कि मुझे तो अपने आत्माके सही स्वरूपको निरखना है । मान लो कोई दुनिया भरके सब काम करता फिरे और एक खुदके स्वरूपका परिचय भर न पाया तो समझो कि उसके वे सब बाहरी काम व्यर्थ गए । देखिये—अपने आत्माका ज्ञान पानेमे कुछ कष्ट नही है, क्योकि ज्ञानस्वरूप तो यह आत्मा है ही । जैसे आकाश है ना, एक प्रदेशी है ना, ठीक इसी प्रकार आकाशकी तरह यह आत्मा भी है । पर आकाश एक है और विस्तृत है । यहाँ आत्मा अनेक है और एक-एक आत्माका अपने आपमे अनुभव चलता है । जिन सयोगोमे हम आप रह रहे हैं बताओ ये पूर्वभवमे कोई साथ देंगे क्या ? अरे ये कोई साथ न देंगे, फिर इनमे मोह किस बातका ? नही रहते साथ, पर हाँ घरमे रहते हैं सो राग करना आवश्यक हो गया पर सही ज्ञान रखते हुए यदि घरमे रहे तब तो लाभ है अन्यथा अपनी बरबादी ही है ।

इन्द्रियविषयविडम्बनाका मनुष्योंमें आधिक्य—ये इन्द्रियके विषय इस मनुष्यको

छोडकर नष्ट हो जाते है, इसमे कोई आश्चर्य नही क्योंकि यह तो स्वभाव ही है सब पदार्थों का । हाँ आश्चर्य तो इस बातपर है कि ज्ञानानन्दस्वरूप होकर भी यह जीव इन विषयोको छोडनेकी चाह नही करता । और कभी कर्मोदयवश आये और जबरदस्ती छूट गए तो फिर उन्हीका उद्यम करते है । जो इसका बडा तिरस्कार करते, फिर भी विषयोको छोड नही पाता यह मोही । यह बात आप सबने खूब सुन ही रखा होगा कि एक एक इन्द्रियके वश होकर ये प्राणी अपने प्राण गंवा देते है । हाथी, मछली, भंवरा, पतिंगे, सर्प, हिरण आदिक के दृष्टान्त बडे प्रसिद्ध हैं । अब यहां मनुष्योमे देख लो ये कौनसे विषयमें कम रहना चाहते ? सभी विषयोको ये मनुष्य बडी आसक्तिमे, बडी कलावोसे भोगना चाहते है । एक खाने पीनेका ही विषय ले लो—न जाने कितने-कितने प्रकारके व्यञ्जन बनाकर कितनी ही कलावोसे यह मनुष्य खाता है । बडी एक शौक शानसे इस रसनाइन्द्रियसे सम्बंधित भोग भोगते है । अरे खाना क्या है ? एक जीनेके लिए पेट भरना है ? दो रोटी और दो वस्त्र, इनके सिवाय और कुछ काम आता है क्या आपके ? अर्थात् पेट भर लिया, कपडे पहिन लिये इसके अतिरिक्त और क्या करता है मनुष्य । व्यर्थ ही इस मायामय ससारमे मायामयी पुरुषोको अपनी माया मयी नाम जतानेका भाव रखकर इतना परेशानीमे पड रहा है यह मनुष्य ।

— दुर्लभ समागमके सदुपयोगका अनुरोध— जैनशासनके अनुसार बिल्कुल सीधी रीति है । यह कर्तव्य है कि प्रतिदिन ५ ६ घंटे आजीविकाके कार्योंमे लगायें उतने समयमे कुछ न कुछ तो आय होगी ही । उदयानुसार जो आय हुई उस ही मे गुजारा करनेकी कला बन जाय बाकी सारा समय भगवद्भक्तिमे, निज सहज परमात्मतत्त्वकी चर्चामे, उपासनामें, तत्त्व ज्ञानमे लगायें । जैनशासनके अनुसार बताये हुए मार्गपर चलें तो कही कोई झंझट नही । मगर जो तृष्णा बढा रखो है उससे ये मनुष्य जलते-भुनते रहते है और विषयसाधनोको जोडते है, अपनी तृष्णायें बढाते रहते है, किन्तु जितना जीवन शेष है उतनेमे अब अपना मुख इन व्यर्थकी बातोसे मोड लें । भाग्यके अनुसार जो होता हो सो हो, सबका भाग्य सबके साथ है । किसकी क्या विशेष चिन्ता करना ? किसके लिए सारी जिन्दगीभर अपनेको उलझन मे डाला जा रहा है । हां अपने कर्तव्यके अनुसार जो कुछ बन सकता सो करें । सुगमतासे जो बात बन सके उसमे गुजारा करके संतुष्ट रहे । अपना जो खाली समय है उसको व्यर्थ न गवायें । मदिरमे आकर बैठना, शास्त्रस्वाध्याय करना, सत्संगमे अधिकाधिक रहना, इन बातों का विशेष ध्यान रखें । यदि अपना खाली समय व्यर्थकी गप्प सप्पमे बिताया तो उससे लाभ क्या ? वह तो अपने जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ खोना है । तो अब अपने जीवनका एक नया मोड लेना चाहिए । आजीविकासे सम्बधित ४ ६ घंटे जब तक काम करें तब तक तो वह

काम करें बाकी रात-दिनके सारे समयको व्यर्थकी बातोमे गप्प-सप्पमे पडकर न खोयें। अपने खाली समयका सदुपयोग करें। खाली समयका सदुपयोग यही है कि स्वाध्याय करें, सत्सग मे बैठें जिससे ससार, शरीर भोगोसे विरक्त रहनेकी प्रेरणा मिले, और अपने आत्माके ज्ञानादस्वरूपके अनुभव करनेका लाभ मिले, यह काम करना इस दुर्लभ मानव-जीवनमे अपना प्रमुख कर्तव्य है।

आदित्यचंद्रहरिशकरवासवाद्या। शक्ता न जेतुमतिदु खकराणि यानि।
तानीद्रियाणि बलवति मुदुर्जयानि ये निर्जयति भुवने बलिनस्त एव ॥६३॥

चन्द्र सूर्य इन्द्र प्रतीन्द्रसे भी इन्द्रियविषयविजयकी अशक्यता—इस ससारमे बलिष्टसे भी बलिष्ट प्राणी इन दु खकारी विषयोको नही जीत सकते। जैसे सूर्य तो वास्तवमे क्या है? जो दिखता है गोल गोल यह तो है सूर्यका विमान और इस सूर्य विमानका जो अधिपति है वह है सूर्य नामका देवता। यह गोल गोल दिखने वाला सूर्य देवता नहीं है यह तो पृथ्वी है और प्रकाशमय पृथ्वी है, उस पृथ्वीपर उसकी रचना है, महल है, चैत्यालय भी है। उसका जो अधिपति है वह कहलाता है सूर्यदेवता। सो सूर्यदेवताने भी इन्द्रियविषयोको नही जीत पाया याने उसके भी देवांगनायें और रानियाँ होती है। ज्योतिषी देव कहलाता है वह, और वह अपनी देवियो और अग्र देवियोमे आसक्त रहता है। यह तो है एक सैद्धान्तिक बात, मगर लोकरूढिमे यह बात प्रसिद्ध कर रखी है कि पांडवोकी माता कुन्तीके कुमार अवस्थामे सूर्यके ससर्गसे गर्भ रह गया और उससे कर्ण नामका पुत्र हुआ, यह एक लौकिक रूढिमे किंवदती है। ऐसा होता नही है, पर जिन्होने माना है वे इसके जिम्मेदार हैं वे ही बता सकते कि ऐसा क्यो कहा, पर सूर्य देवता प्रतीन्द्र कहलाता है, वह अपनी अग्र देवियोमे और अनेक हजारो देवियोमे वह रमण करता है वह भी इन्द्रियविषयोको जीतनेमे असमर्थ रहता है। चन्द्रमाकी बात यह है कि जो आकाशमे दिखता है गोल गोल वह चन्द्र देवता नही है। वह तो चन्द्रविमान है। पृथ्वीकायिक है, प्रकाशमय है उसका जो अधिपति है वह चद्र देवता है। वह ज्योतिषियोका इन्द्र कहलाता है। इसकी भी कितनी ही अग्र देविया और हजारो देवियाँ है जिनमे यह भी अपने विषयोमे रमण करता रहा है। अब किम्बदन्तीमे लोग न जाने क्या कहते है, पर सैद्धान्तिक बात यह है कि वह चन्द्र इन्द्र भी अपनी देवियोमे रमण करता है और वह विषयभोगो पर विजय नही प्राप्त कर सका।

चन्द्र सूर्य इन्द्र प्रतीन्द्रकी महिमा बढ़नेका कारण—देखो ये सूर्य चन्द्र दोनो कोई भगवान नही है, ये तो भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी ये जो तीन भवनत्रिक देव बताये गए है उनमे से ज्योतिषी देवोके इन्द्र हैं, पर इनकी मान्यता जगत्मे क्यो बढी, उसका कारण

यह है कि यह जो पृथ्वीकायिक विमान है इसके होनेसे मनुष्योका, जीवोका उपकार बहुत हो रहा है। अभी लगातार १०-५ दिन बदरिया छा जाय, और एक दो दिन सूर्य बिल्कुल न दिखाई दे तो फिर देख लो क्या हालत हो जाती है। और लोगोकी ही क्या, जानवरोकी, पेडोकी, वनस्पतियोकी क्या हालत हो जाती है ? तो इससे उपकार बहुत है, खेती भी अच्छी बने, सूर्यकी किरणें न निकलें तो अकुर नही हरियाते। इससे बीज भी अच्छे पुष्ट बनते, लोगोके शरीर भी स्वस्थ रहते, तो चूकि इनसे उपकार बहुत है, तो कोई जमाना ऐसा था कि जिससे अपना उपकार मालूम हुआ, उसीको ही लोग भगवान मान लेते थे। और चन्द्र, सूर्य तो ज्योतिषियोके इन्द्र है, उनके ऋद्धियाँ है, वैभव हैं, पर आप बतलावो बड, पीपल आदिके पेडोको भी देवता मान लिया गया सो क्यो ? तो सुनो—बड़का पेड तो इतना बडा होता है कि कहो बड़ी भारी बारात या छोटी मोटी सेना ठहर जाय, साथ ही उसकी छाया अत्यन्त शीतल होती है, और पीपलके पेडके पत्तोका स्पर्श करके बहने वाली हवामे एक ऐसा गुण बताते है कि वह निरोगता लाती है, अनेक रोगोको दूर करती है। तो इस प्रकारके उपकारी होनेके कारण इन बड, पीपल आदिके पेडोको भी लोगोंने भगवान मान डाला, पर बताओ, ये कोई भगवान है क्या ? अरे भगवान तो वह होता जो सर्वज्ञ हो और वीतराग हो, पर उपकारी होनेसे लोगोने बड, पीपल आदिके पेडोको भी भगवान मान डाला। अग्नि, जल, वायु आदिक उपकारी चीजोको भी भगवान माना जाने लगा था किसी समय, पर परोपकारी होने मात्रसे कोई भगवान नही बन जाता। एक तो इन पेडोने या अग्नि, वायु आदिकने जान-बूझकर पवित्र आशयसे उपकार किया हो, ऐसी बात नही है, पर उसका फायदा उठा लेते हैं लोग।

बड़े बलशाली पुरुषोसे भी इन्द्रियविषयविजयकी अशक्यता—तो यहाँ प्रसंग यह है कि जो बहुत बड़े-बडे कहलाते हैं वे भी अतीव दु खकारी इन इन्द्रियोको जीतनेमे समर्थ न हो सके। हरि, विष्णु आदि जिनके चरित्रमे यह बात लिखी होती हो कि वह अमुक स्त्रीमे आसक्त रहा, वह उनमे खेलता रहा तो इसके मायने क्या है कि वह इन्द्रियविषयोको न जीत सका। शंकर, महादेव बहुत बडे तपस्वी मुनि थे, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि थे, जिनके तपश्चरणके प्रभावसे ११ अग और ९ पूर्वकी तो पूरी सिद्धि हो गई, इतने बड़े ज्ञाता हो गये जिनको कोई परवाह नही, कैलाशपर्वत पर निवास करते थे। भोजन-पानका कुछ विकल्प न करते थे, निरन्तर ध्यानमे लीन रहते थे। जिनके अनेक ऋद्धियाँ भी सिद्ध हुईं और विद्या भी सिद्ध हुई। जब १०वाँ पूर्व उन्हे सिद्ध होने लगा तो सैकडो विद्या देवियाँ हाथ जोडकर नाचने लगी और बोली कि हे स्वामिन् मुझे आज्ञा दीजिए, जो आप कहेंगे उसे हम कर

डालेंगी। उस समय इस नग्न दिगम्बर मुनिका चित्त कुछ चलित हो गया, बस वहाँसे चलित पनेका चरित्र प्रारम्भ हो गया। तो ये भी इन्द्रियविषयोको न जीत सके और अन्तमे पर्वत राजाकी पुत्री पार्वतीके साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। तो कहनेका तात्पर्य यह है कि बडे बडे तपस्वी प्राणी, ऊँचे लोग इन इन्द्रियविषयोसे हार जाते है। इन्द्र जो अपनी विक्रियासे आश्चर्य भरे काम कर डाले, ऐसे बलिष्ठसे बलिष्ट लोग भी इन दुःखकारी इन्द्रियोको न जीत सके।

इन्द्रियविजयीकी जिन व जिनेन्द्र संज्ञा—जिनेन्द्रदेवने इस सारे जगतको जीत रखा। एक बार रति और कामदेव ये दोनो जंगलमे घूमने जा रहे थे—रति मायने कामदेव और काम मायने भी कामदेव। एकको पुरुषका रूप दिया और एकको स्त्रीका रूप दिया। और अलंकारमें इन्हे देवता मान लिया। तो रति और कामदेव जगलमे जा रहे थे तो एक जगह एक योगी आत्मध्यान कर रहा था और आत्मानुभवके आनन्दसे प्राकृतिक मुस्कान भी चल रही थी। उसे निरखकर रति कहती है—कोय नाथ याने हे नाथ ये कौन बैठे हैं ? तो वहाँ कामदेव कहता है कि जिने याने ये जिनेन्द्रदेव है। वे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र थे। तो रति कहती है—भवेत्तववशी ? याने क्या ये तेरे वशमे है ? तो कामदेव बोला—ऊँ हू, नही ये मेरे वशमे नही हैं।... क्यो वशमे नही हैं ?....प्रिये, ये बडे प्रतापी पुरुष हैं, ये मेरे वशमे नही हैं। तो रति कहती है कि यदि ये तेरे वशमे नही है तो आजसे तू अपनी शूरताकी डीग मारना छोड दे। तू तो कहता था कि मेरे वशमे सारा जगत है, पर यदि ये तेरे वशमे नही हैं तो अब तू कायर हो गया। अब मेरे सम्मुख अपनी शूरताकी डीग न मारना। तो कामदेव कहता है—'मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किकराः के वयं' इन्होने मोहको जीत डाला है, हम तो मोहके दास हैं। जहाँ मोह हो वहाँ ही हमारी खूब बनती है। जहाँ मोह नही रहा वहाँ हमारी दाल नही गलती। जब इन्होने मोहको जीत डाला तब फिर हम किकर इनका क्या कर सकते है ? सो कविका यह कथन है कि ऐसी बात जिनके विषयमे रति और कामदेव भी कह उठते हैं वे पार्श्व जिनेन्द्र हम सबको रक्षा करें। यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—कोऽयं नाथ जिने भवेत्तव वशी, ऊँ हूं प्रतापी प्रिये। ऊँ हू तर्हि विमुञ्च कातरमते शौर्यावलेपक्रियां। मोहोऽनेन विनिर्जितः प्रभुरसौ तत्किकराः के वयम्। इत्येवं रतिकामजल्पविषयः पार्श्वो जिनः पातु वः ॥ तो जिन्होने इन्द्रियसुखोंको जीता, रागद्वेषादि विकारोको जीता उन्ही को कहते हैं जिन अथवा जिनेन्द्र। ऐसे जिन भगवानके द्वारा जो धर्म बताया गया उसे कहते हैं जैनधर्म। यह जैनधर्म कबसे है ? तो उत्तर यह है कि जबसे पदार्थ है तबसे जैनधर्म है। अब पदार्थ कबसे हैं ? तो जो जवाब जो दे सो ठीक है। अनादिनिधन है। अनादिकालसे है.

क्योंकि जो सत् है उसका कभी नाश नही होता। जो सत् नही है उसका कभी उत्पाद नही होता, यह तो भगवद्गीतामे भी बताया है—"नासतोविद्यतेऽभाव:नाऽभाव:विद्यतेमते" तो जब यह है तो अनादिसे और जैनधर्म इस पदार्थका स्वरूप बताता है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है जैनधर्म। यह कोई अलगसे बनी हुई चीज नही है, किन्तु जो पदार्थ है, उसमे जो बात है वैसी बात कही जाय, उसका नाम है जैनधर्म। तो ऐसे जिनेन्द्रके द्वारा ही ये इन्द्रिय सुख जीते गए। तो वास्तवमे बलशाली पराक्रमी वह ही कहलानेके योग्य है जो इन इन्द्रिय-सुखोको जीत लेता है, इन्द्रियोको जीत लेता है।

सौख्यं यदत्र विजितेंद्रियशत्रुदर्पः प्राप्नोति पापरहित विगतांतरायं।
स्वस्थ तदात्मकमनात्मधिया विलभ्य कि तद् दुरतविषयानलतप्तचित्तः ॥६४॥

इन्द्रियविजयी आत्मध्यानी पुरुषोके आनन्दकी विषयव्यामोही द्वारा अलभ्यता— इस ससारमे इन्द्रियके घमडको भी चूर कर देने वाले पुरुष होते है कभी और पापरहित अविनाशी इस आत्मीय आनन्दको भोगते हैं ऐसे भी होते है पुरुष। तो जिन्होने इन्द्रियके व्यापारको चूर कर दिया और आत्मीय आनन्दका अनुभव किया उसमे जो आनन्द मिलता उसे क्या ये रात-दिन विषय अग्निसे संतप्त रहने वाले पुरुष पा सकते हैं? कभी नही पा सकते। जैसे अग्निको जब तक बुझा न दिया जाय तब तक अग्निकी गर्मी शान्त नही हो सकती ऐसे ही विषयोकी गर्मी जिस अविवेकीमे आ गई वह पुरुष भी कभी शान्ति नही पा सकता। कभी-कभी लोगोको ऐसा लगता है कि हमारे विषयोकी अग्नि कम हो गई, जब तक सामने कोई घटना नही आती तब तक सभी अपनेको बहुत चतुर, धर्मात्मा सज्जन, ऊँचे मान लेते है। जैसे जब तक पर्वत निकट नही आता तब तक ऊँटको ऐसा ही लगता कि क्या है, यह पर्वत तो अभी जरासे कदमोमे ही पार कर लेंगे, पर जब उसके निकट आता है तब उसे पता पडता है कि अरे यह तो बडा ऊँचा है, इसे आसानीसे कैसे पार किया जा सकता? तो ऐसे ही कभी जीवोको ऐसा मालूम होता है कि मेरे विषयभाव कम है, पर कम समझना यों भूल है कि जैसे कभी अग्निके कुण्डमे जिसके चारो तरफ बैठकर तापते हैं ना, तो उसमे कभी अग्नि कम हो जाय, बुझनेसी लगे और उसपर अगर घास-फूस, लकडी, कडा आदिक धर दिए जायें तो उसे अब बुझी हुई न समझिये। अब भी उसमे वह दाहशक्ति है कि ईंधन मिल जाय तो फिरसे बढ जाय, ऐसे ही कभी विषयोके भाव कुछ कमसे हुए हो, विरक्ति सी लग रही हो तो भी उसका कुछ विश्वास नही है। घटना घटनेपर वह भाव उमड़ सकता है और फदेमे भी पड सकता है। जिसने मोहको अन्दरसे बिल्कुल खतम कर दिया और आत्माका सहज स्वरूप स्पष्ट दृष्टिमे रहता है वह तो है विजीय पुरुष, वह तो इन्द्रिय विषयोके

चक्करमे न आ पायगा और अगर मद राग हो जाय तो उस तकका भी विश्वास नही। ये विषयसुख जीवको इतना परेशान करने वाले होते हैं।

नानाविधव्यसनधूलिविभूतिवातं, तत्त्व विविक्तमवगम्य जिनेशिनोक्त।
यः सेवते विषयसौख्यमसौ विमुच्य, हस्तेऽमृत पिबति रौद्रविष निहीनः॥६५॥

व्यसनत्यागियोंका भी कर्मविपाकवश इन्द्रियज सुखोंमें चलचा जाना—जो लोग व्यसनकी धूलीको पवनके समान उड़ा देते हैं, जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्वोंका अध्ययन करते हैं वे पुरुष भी इन्द्रियसुखोमे फस जाते है और वे विषयभोगोंमे ही रहते हैं। उनकी करनी यो समझिये कि वे उस प्रकारके मूर्ख है जो हाथमे आये हुए अमृतके प्यालेको छोडकर प्राण-नाशक विषके भरे प्यालेको पी लेते है। पाया था तत्त्वज्ञान, विरक्तिका दशा पायी फिर भी सन्मार्गको छोडा और इन्द्रियविषयोमे रति की तो उनका किया कराया सब खराब हुआ और जैसे अनादिसे मलिन थे उस मार्गपर अब यह आ गया। अब अपनी-अपनी बात देखें। विषय भोगोमे कौन कितना चित्त रखता है? अगर रखता है तो वह अपनी गलती समझे और फिर उन गलतियोको दूर करे। रात-दिन खाने-पीनेकी धुनमे कौन रहता है? होते है ऐसे मनुष्य कि वे सोते हुएमे नही खा पाते और बाकी जब तक जगते रहते तब तक उनके मुखमें कुछ न कुछ चलता रहता है और उनसे कुछ त्याग सम्बधी बातें कही जायें तो वे डटकर कहते कि हमारा तो सोते समय तकके लिए त्याग है। कितनी चीजें है। अब क्या खाया, अब क्या पिया? अब किसी मनसे किस चीजको खा रहे, कभी पान, कभी बीड़ी, कभी चाय, कभी चाट पकौडो, कभी कोई मिठाई, कभी कोई फल, यो किसी न किसी चीजके खानेका मन चलता रहता है, ऐसे भी मनुष्य होत है, पर ऐसे मनुष्य क्या धर्मके पात्र है?

विषयासक्ति छोड़कर धर्माचरणमे आनेका अनुरोध—अपनी-अपनी सोचिये—जब चाहे खा लेना, चलते फिरते खाना, ये तो मूर्खताके चिन्ह है। कवि लोग कहते है कि जो हँसता हुआ बात करे, खाता-पीता हुआ चले और दो के बीच होने वाली बातको खडा होकर सुनने लगे, तो वह तो मूर्खोंकी गिनतीमे कहलाता। तो विषयोकी धुन रहना, यह इस जीवके लिए बडा घातक काम है। अब कोई कहे कि हमको फुरसत ही नही मिल पाती कि दो तीन बार या अनेक बार खा पी सकें, इतना हमारे सामने काम रहता है। सुबह चाय नाश्ता लेकर जल्दी ही कामपर निकल गए और करीब ३-४ बजे जब कामसे छूटे तब खाना खाया, हमारा सयम क्या किसी त्यागीसे कम है, ऐसा कोई सोच सकता, पर बताओ उसने संयम धारण कर लिया है क्या? अरे उसके विषयमे अनेक प्रकारके अन्य विषय बढ गए। क्रोध, मान माया, लोभ ये चारो कषाय इस जीवको दु:खकारी है। अगर किसी समय तृष्णा चित्त

मे है तो उस कालमे धर्मकी बात नही समा पाती । सो धर्मके कार्य करते है अनेक लोग, पर गृहस्थ दशामे बताया है कि हस्तिस्नानकी तरह है । जैसे हाथीने स्नान किया और तालाबसे बाहर जाकर सूँडमे धूल भर-भरकर अपने शरीरको फिर धूलसे खराब कर देता है ऐसे ही यहाँ लोग थोडासा धर्मसभामे या मदिरमे धर्म करनेके बहाने आ-आकर बैठते, इतने समय तो परिणामोमे बहुत कुछ फर्क हो जाता है, पर ज्यो ही वहाँसे बाहर निकले तो परिणाम फिर ज्योके त्यो मलिन बन जाते है । अरे धर्मस्थान, मदिर धर्मसभा आदि इन्हे तो धर्म सीखनेकी पाठशाला समझिये, वह तो धर्म सीखनेकी जगह है, प्रयोग करनेकी जगह तो बाकी सब जगह है । चाहे दुकानमे बैठे हो, चाहे किसीसे कुछ वार्ता कर रहे हो, चाहे सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक किसी क्षेत्रमे काम कर रहे हो वहाँ उस सीखी हुई धर्मक्रियाका प्रयोग करना है । तो धर्मस्थानमे पहुचकर जो तत्त्वज्ञान सीखा है वह दृष्टि बनाइये, जिसको सदैव अपने सत्यस्वरूपकी प्रतीति रहती है, मैं तो देहसे भी निराला केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हू, अन्य कुछ नही । इस मेरेका जगतमे परमाणुमात्र भी नही, ऐसी प्रतीति रखने वाला पुरुष मौलिक धर्मात्मा कहलाता है ।

विषयव्यामोहियोंका दुराग्रह—देखिये—गल्तीकी बात रोज-रोज कही जाती है उपदेशमे, जो भी व्याख्याता आयगा सो यही कहेगा कि मोह छोडो, मोह करना बुरा है''यह ही बात कहेगा और कहना भी चाहिए, पर आप सोच सकते कि जो भी यहां आता वह मोह छोडनेकी ही बात कहता, पर कैसे मोह छोड़ा जा सकता ? ये तो सब कहने भरकी बातें है, ठीक है ये जो कुछ कहते सो सुन लें, बादमे एक कानसे सुना और दूसरे कानसे निकाल दिया, क्या फर्क पडता, तो ऐसे भी लोग होते जो धर्मकी बातें सुननेके आदी बन जाते, बीसो वर्ष धर्मकी बातें सुनते, यहाँ तक कि सारी उम्र धर्मकी बातें सुनते, पर अपने चित्तमे धर्म धारण नही कर पाते । इस प्रसगमे एक दृष्टान्त है कि कही कोई धर्मसभा लगी हुई थी, रोज-रोज वहाँपर एक पडितजी व्याख्यान दिया करते थे । तो उस धर्मसभामे अनेक लोग पहुच रहे थे । उधरसे निकला कोई घुडसवार । उसने लोगोसे पूछा—आप लोग कहाँ जा रहे ? तो बताया कि धर्मसभामे व्याख्यान सुनने जा रहे । अब घुडसवारने भी वही पासमे घोड़ा बाध दिया और व्याख्यान सुनने चला गया । वहाँ कोई वैराग्योत्पादक प्रकरण उस समय चल रहा था, तो उस प्रवचनको सुनते ही उस घुडसवारको वैराग्य जगा और सब कुछ छोड छाडकर जंगल चला गया, मुनि हो गया । खैर उसको मुनि हुए धीरे-धीरे कुछ वर्ष बीत गए और उधर वह धर्मसभा ज्योकी त्यो प्रतिदिन चलती रही । एक बार वह मुनि उसी मार्गसे फिर निकला जहाँ कि वह धर्मसभा होती थी । देखा कि अनेक लोग उस धर्मसभामे पहुच रहे

है, तो उनसे पूछ बैठा वह मुनि कि भाई आप लोग कहाँ जा रहे हो ? तो बताया कि हम लोग धर्मसभामे व्याख्यान सुनने जा रहे । फिर मुनिने पूछा कि तुम लोग कितने दिनोसे धर्मके व्याख्यान सुनने जा रहे ? तो किसीने बताया १० वर्षसे, किसीने बताया २० वर्षसे, किसीने बताया ४० वर्षसे । तो वह आश्चर्यमे आकर बोला—धन्य है आप लोगोको । आप लोग बहुत मजबूत हो । ...कैसे ?...अरे मैं तो सिर्फ एक ही दिन कुछ देरके लिए इस धर्म-सभामे व्याख्यान सुनने बैठा था तो पंडितजी की चपेटको न सह सका और सब कुछ छोड छाडकर मुनि बन गया था, पर आप लोगोको धन्य है जो बहुत वर्षोसे पंडितजी की चपेटें सहते आ रहे, पर ज्योके त्यो बने है । तो धन्य तो आप लोग है । देखिये—अब अपनी गल्तियोका शोधन करें, यह बात दृष्टिमे रहनी चाहिये, चाहे इसमे कुछ समय लगे तो लगे, पर जगत्मे मुझे कुछ न चाहिए मैं तो अपने आत्मस्वरूपमे मग्न हो सकूँ, उस ही का निरन्तर अभ्यास बनाना चाहिये ।

दासत्वमेति वितनोति विहीनसेवां, धर्मं धुनाति विदधाति विनिंद्यकर्म ।
रेफश्चिनोति कुरुतेऽतिविरूपवेषं, किं वा हृषीकवशतस्तनुते न मर्त्यः ॥९६॥

विषयासक्तिवश प्राणियो द्वारा हीनसेवा व धर्मविध्वंस—यह मनुष्य इन्द्रियोके वश होकर न जाने क्या क्या विरूप कार्य नही कर डालता । इन्द्रियवश होकर ही हीन कुल वालो का दासपना स्वीकार करता है और उनकी सेवा करता है । जिसको अपने चिदानन्दघन सहज आत्मस्वरूप की सुध नही है, ज्ञान और सुखकी प्रकृतिके कारण कही न कही तो ज्ञान और सुख ढूढेगा, क्योकि यह जीवकी प्रकृति है । न ज्ञान बिना रह सके न सुख बिना रह सके । यह चाहता है सुख तब अपने आपमे विशुद्ध ज्ञानप्रकाश न मिल सकेगा । और अलौकिक आनन्दकी दिशा न मिल सकेगी तब यह बाहरी विषयोका ज्ञान और विषयोके सुखोमे मग्न होने लगता है । जीव पर यह बहुत बडी विपदा है । मोही जीव इस विपदाको नही देखता । कभी धर्म भी करेगा तो कुल रूढिवश कर लेगा । पाठ भी करेगा, धार्मिक समारोह भी करेगा, धर्मके नामपर सब काम कर लेगा, पर यह बात न तकेंगे कि मेरा अन्य पदार्थोमे मोह कुछ कम हुआ कि नही । यथार्थ ज्ञान प्रकाश मेरेको मिला कि नही । यह तो न निरीक्षण करेंगे और बाहरी क्रियाकाण्ड ये सब करते रहेगे । वे भी करें, मगर अपने आपकी निगरानी न हो, अपने आपमे यदि न निरखा जाय कि मेरेमे कितना मोह कम हुआ, कितनी कषाये कम हुई तो फिर समझिये कि अभी तक हमने कुछ धर्म नही किया, किन्तु धर्मके नामपर अन्य अन्य कुछ किया, इतना तो निर्णय बनेगा । दिशा तो सही मिलेगी । सो यह जीवइन्द्रिय विषयोके वश है, इस कारण वास्तविक जो धर्म है उसको दूर कर देते हैं ।

विषयसेवन व धर्मपालनमें परस्पर विरोध—विषयसेवन और धर्मपालन ये दो तो बिल्कुल प्रतिपक्षी काम है परस्परमे। जो विषयोकी सेवामे लगा है उसको धर्मपालन कहाँ है ? धर्मपालन है अपना सहज आत्मस्वरूप अपने ही सत्त्वके कारण अपने ही स्वरूपमे दृष्टि होना। जिसमे धर्मपालन है उसके विषयसेवन नही। तो इन्द्रियके विषयोके वश हुआ यह जीव नाना निंद्य कार्योंको यदि करता है, कोई उपाय बनाना, विषयभोग चाहना, स्वाद चाहना, अच्छे रूपके निरखनेका निरन्तर बर्ताव चाहना, रागरागनी चाहना। दुनियामे नाम बढे, ये सब बातें जिसको चाहिये है वह इनकी पूर्तिके लिए न जाने क्या-क्या निंद्य कार्य नही कर डालता। यह इन्द्रियवशी जीव नाना विरूप भावोको धारण कर-करके अपना जीवन व्यर्थ खोता रहता है, अपने स्वरूपकी सुध होती तो यह भगवानसे भी वार्ता कर डालता। ज्ञानी पुरुषके जब कभी अपने आपकी वर्तमान स्थितिपर घृणा होती है तो वह प्रभुसे वचनालाप कर बैठता है। प्रभु हमे भी वही ले लो। मैं अब इस संसारमे नही रहना चाहता। यहाँ कौनसी वस्तु है जिसे ग्रहण किया जाय ? कौनसा क्षेत्र है जहा इसका ठिकाना ठीक हो ? सब मायारूप है। भिन्न है, पर है, ठिकानेका तो कुछ साधन है ही नही यहाँ। एकत्वविभक्त अर्थात् ज्ञानमात्र परभावशून्य, ऐसी अपने अतस्तत्त्वकी दृष्टि बने तो वह तो काम देगा और उसे छोडकर जितनी भी बातें की जा रही है ये सब उल्टे काम करेंगी। कहाँ भूले, कहाँ भटक गए। अपने आपके धर्मकी ओर आना चाहिए। यदि यह बात बन गई तो समझो कि महान् है वह पुरुष, और यदि यह दृष्टि नही जगती तो फिर दुनियाका महान् बननेसे क्या लाभ मिलेगा ?

अब्धिर्न तृप्यति यथा सरितां सहस्त्रैर्नो चेंधनैरिव शिखीबहुधोपनीतैः।
जीवः समस्तविषयैरपि तद्वदेव, संचित्य चारुविषणस्त्वजतीद्रियार्थान् ॥६७॥

विषयभोगोंसे तृप्तिकी असभवता—इन्द्रियके भोग भोगनेसे, विषयसाधनोंके उपभोगसे यह जीव कभी तृप्त हुआ क्या ? जब उपयोग परपदार्थोंकी ओर बना हुआ है और उस ही मे अपना हित समझ रहे है तो वहाँ तृप्ति पानेका अवसर ही कहाँ है ? जैसे कभी समुद्र नदियोके द्वारा तृप्त नही होता, कितनी ही नदियाँ आ-आकर समुद्रमे गिर जायें, फिर भी समुद्र कभी तृप्त नही होता। ऐसे ही नाना विषयसाधनोके जुटानेपर यह जीव कभी तृप्त नही होता। एक मोटीसी बात समझ लो—जो समागम आज मिले है बताओ ये छूटेंगे कि नही ? अरे अवश्य छूटेंगे, और देख लो औरोके भी छूट रहे है या नही ? अपने ही देख लो, पूर्वभवमे जो समागम पाये थे वह सब छूट गए कि नही। पहले भवका कुछ आज यहाँ थोडा बहुत सुख मिल रहा क्या ? कुछ भी नही मिल रहा, और उनकी कुछ आज खबर भी नही।

अब यह बताओ कि आजके प्राप्त समागममे आगे भी कुछ सुख मिलेगा क्या ? अरे रच भी सुख इनसे न मिलेगा । तो थोडी देरको मिले हुए इन भोग साधनोमे जो अपनेको जुदा नही रख पाते उनको भव-भवमे जन्म मरण करना पडता है । सो अपना महत्त्व आकिये और अपने आपके अन्दर सोचिये कि मुझ आत्माका वास्तविक स्वरूप क्या है, करना क्या है और कर क्या रहा हू, पर किसीके कुछ थोडी समझ भी आये, पर सस्कार ऐसे लगे है कि छोड ही नही पाते । तो यह भी उनपर बडी विपत्ति है अथवा आग्रह है, हठ है खोटी बातोका । अपराधी है यह जीव । एक बार किसानोकी पचायतमे कोई सवाल आया, साधारणसी कोई बात थी कि ३० + ३० कितने होते है ? तो उन सबका मुखिया बोला कि ३० + ३० = ८० होते है । सभीने कहा कि आप गलत हिसाब लगा रहे है । ३० और ३० मिलकर तो ६० होते है । तो फिर मुखिया बोला—नही नही, ६० नही होते, ८० ही होते हैं, और यदि मेरी बात गलत निकल जाय तो मैं पंचोको अपनी सातो भैसें दे दूगा । अब यह बात सुन ली मुखियाकी स्त्रीने कि मुखिया साहबने इस तरहसे पचोके बीच बोल दिया है सो यह सोचकर बडी दु खी हुई कि अब तो हमारी सातो भैसें पचोको देनी पडेंगी । सो जब मुखिया घर पहुचा और अपनी स्त्रीसे उदासीका कारण पूछा तो स्त्री बोली—आपने पचोके बीच बोल दिया है कि ३० और ३० मिलकर ८० होते है, ६० नही, और यदि ८० न हो तो हम सातो भैसे पचोको दे देंगे, सो अब इस बातका हमे दु.ख है कि हमारी सातो भैसें पच लोग पा जायेंगे । अब हम लोग न जाने किस तरहसे अपना गुजारा करेंगे । इस बातका दु ख है । तो वह मुखिया बोला—अरी तू तो बडी बावली है । यदि मैं अपने मुखसे कह दूं कि ३० और ३० मिलकर ६० होते है तभी तो पच लोग भैसें ले पायेंगे, पर मैं तो यह बात कभी बोल ही नही सकता । मैं तो हमेशा यही कहूगा कि ३० और ३० मिलकर ८० होते है । अब देखिये—इस बातको सुनकर मुखियाकी मूर्खता पर आप सब हँस पडे, पर अपनी मूर्खतापर कुछ ध्यान नही दे रहे । आप लोग भी तो बाह्य पदार्थोके प्रति झूठी हठ बनाये हैं कि ये तो मेरे ही है और मै इनका ही हू । सम्बध है रच भी नही, फिर भी हठ यही बनाये हैं कि ये तो मेरे ही है । ज्ञानी जन समझायें तो भी नही मानते और यही हठ बनाये रहते कि ये तो मेरे ही हैं ।

मोहका हटना व कषायोंका मंद होना धर्मधारणकी पहिचान—धर्मके नामपर कितने ही काम करते, पर इस बातपर कभी विचार नही करते कि मेरे मोह और विषय कषायोमे कुछ फर्क पडा कि नही । मोह तो ज्योका त्यो बनाये हैं विषय कषायोके प्रसग ज्योके त्यो चल रहे, धर्म भी करते जा रहे, पर यह विचार कभी नही करते कि मेरे रागद्वेष मोहादिक

विकारोंमें कुछ कमी आयी कि नहीं। हठ ज्योंकी त्यों बनी है कि ये दिखने वाले प्राप्त समागम ये सब मेरे ही हैं। तो बताओ यह मूर्खता भरी बात है कि नहीं? सम्बन्ध कुछ नहीं, फिर भी अपना मान रहे। तो इस हठका परिणाम कौन भोगने आयगा सो तो विचारो। यहाँ तो धनके हानि-लाभका लेखा जोखा रखते कि सालमें इतना नफा हुआ और इतना नुकसान हुआ, पर अपनी रोज-रोजकी करनीका कुछ लेखा-जोखा नहीं रखते कि मैं कितना तो पुण्य कार्य करता हूँ और कितने पापकार्य करता हूँ। देखिये—अपनी प्रतिदिनकी करनी का लेखा-जोखा रखना बहुत आवश्यक है। इन विषयभोगके प्रसंगोंमें ये सब संसारी प्राणी रम रहे और अपने जीवनके अमूल्य क्षण व्यर्थ खो रहे, पर एक बात ध्यानमें रहे कि इन विषयभोगके प्रसंगोंमें रहकर कभी तृप्त न हो सकेंगे। सारा जीवन इन विषयभोगके प्रसंगोंमें रह-रहकर बीत जायगा, पर उनसे तृप्त कभी न हो सकेंगे। यहाँ तक वृद्धावस्था आनेपर सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी, यह भोग न भोग सकेगा, फिर भी मन ही मन कुढ़ता रहेगा। जैसे कोई रोगी किसी असाध्य रोग हो जानेसे वह कुछ खा पी भी नहीं सकता, डाक्टरों ने खाने पीनेकी मनाही कर दी है और वह देख रहा कि घरके सभी लोग अनेक बार खूब अच्छा अच्छा खाते-पीते हैं तो वह रोगी उन्हें खाता-पीता देख-देखकर मन ही मन कुढ़ता रहता है—हाय मैं क्यों न कुछ खा पी सकता, ठीक ऐसी ही दशा वृद्धावस्थामें होती। इन्द्रियाँ सब शिथिल हो जाती, भोग भोग नहीं सकते, फिर भी मन ही मन कुढ़ते रहते कि हाय मैं क्यों ये भोग न भोग सका? तो इन इन्द्रिय विषयोंकी लालसा बनाये रहनेसे उनके पीछे निरन्तर हैरान होते रहनेसे तृप्ति कभी न मिलेगी, इसलिए इन इन्द्रिय विषयोंका तो परित्याग कर ही देना चाहिये। विवेकी जन तो इन इन्द्रियविषयों को इस प्रकारसे असार जानकर त्याग देते हैं जैसे कि यहाँ प्रायः सभी लोग नाक छिड़ककर दूर फेंक देते हैं। नाक छिड़ककर फेंकनेके बाद जैसे उसे कोई दुबारा देखता नहीं, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इन इन्द्रिय-विषयोंको त्यागकर फिर उन्हें दुबारा नहीं देखते। तो इन सब बातों के लिए चाहिए अपने सहज ज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपकी निरंतर उपासना करना। बाहरमें कहीं कोई शरण नहीं। शरण है तो अपने आत्मदेवकी आराधना। इसमें विकारका काम नहीं। कष्ट और विकार आते हैं तो यह सब कर्मकी छाया है। जैसे दर्पण स्वच्छ है अपने स्वभावसे, पर उस पर बाह्य पदार्थका निमित्त पाकर छायारूप परिणमन हो जाता है, वह छाया दर्पणकी निजी चीज नहीं है, ऐसे ही ये विकार मेरे स्वभावकी चीज नहीं, यह सब कर्मकी छाया है, माया है। यदि यह बात ज्ञानमें रहेगी तो फिर इन बाहरी चीजोंके प्रति आसक्ति न रहेगी और यदि परभावों को निजभाव मान लेंगे तो आसक्ति बनी रहेगी।

आपातमात्ररमणीयमतृप्तिहेतु, किंपाकपाकफलतुल्यमथो विपाके ।
नो शाश्वतं प्रचुरदोषकरं विदित्वा, पचेन्द्रियार्थसुखमर्थविदस्त्यजंति ॥९८॥

विषभोगोकी वर्तमानमात्र रमणीयता एवं भविष्यमे कटुकष्टप्रदता—ये विषय वर्तमानमे बडे रमणीक लग रहे है, पर ये अतृप्तिके कारण है और इनका भावी परिणाम बहुत विपत्तियोसे भरा मिलेगा । जब जीवका स्वभाव ही नही है, स्वरूप ही नही है परपदार्थोंकी आशा, तृष्णा, आसक्ति आदिक करनेका फिर भी कोई अपने स्वरूपके प्रतिकूल चले तो उसे तो दुःखी होना पडेगा ही । वहाँ दुःखी होने कोई दूसरा न आयगा । अपने धामको छोडकर परधाममे अधिकार समझने वाला दुःखी तो रहेगा ही । मेरा धाम मेरे प्रदेशो मे है । मेरा सर्वस्व मुझ आत्मामे है । जो मेरा है वह कभी मेरेसे छूट नही सकता, और जो छूट जाता है वह मेरा था ही नही । जैसा हो वैसा ही अपने आपको निरखने वाले सत अपने आपमे तृप्ति पाते है अलौकिक आनन्द पाते है । जब ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो की स्थिति बनती है तो नियमसे अलौकिक परम आल्हादका अनुभव चलता है । उस आनन्दको चाहनेको इच्छासे ज्ञानीने आत्मध्यान नही बनाया, किन्तु स्वभाव ही है ऐसा कि जैसा है वैसा अपनेको माने तो उसमे यह आल्हाद आयगा अपने आप । तो यह अलौकिक आत्मीय आनन्द जिसे नही मिला, वह केवल वर्तमानके रमणीक विषयोकी ही प्रीति रखता है ।

ज्ञानसाधनोमे सहयोग व समर्थनका उज्ज्वल परिणाम-- एक बात यह समझ लीजिए कि ज्ञान जगता है ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे । नही क्षयोपशम मिला है तो बस ज्ञान कुन्द है, आवृत है, पर ज्ञानावरणका क्षयोपशम कौन करने आयगा ? उपादान दृष्टिकी बात तो ठीक है, कर्मोमे कर्मकी दशा कर्मकी परिणतिसे होगी, मगर उसमे निमित्त है अपना सद्भाव । ज्ञानवतोको देखकर रुचि होना, हर्ष होना यह ज्ञानावरणके क्षयोपशमका कारण है । ज्ञानके साधनोमे उमग होना, ज्ञानके प्रसारमे, ज्ञानके विकासमे अपना सर्वस्व भी लगे, ऐसा जिसका भाव रहता है वहाँ ज्ञानावरणका क्षयोपशम होना पडता है । यह सब निमित्तनैमित्तिक भाव व्यवस्था है । तो जिसे इच्छा है कि मुझे केवलज्ञान प्राप्त हो, अरहतसिद्ध अवस्था प्राप्त हो तो वह ज्ञानका बीज है । मूल बीज, प्रारम्भिक उपाय यह है कि ज्ञानके साधनोमे रुचि बनाइये और उसे सर्वोपरि मानिये धर्मके कार्योमे । यदि ऐसी दृष्टि बनेगी तो क्षयोपशम मिलेगा और न ऐसी दृष्टि बनेगी तो जैसे है वैसे रहे जाइये । प्रगति न हो पायगी । तत्त्वज्ञान होगा तो इन इन्द्रियविषयोपर विजय प्राप्त होगी, जबरदस्ती करके विजय न प्राप्त होगी । आज व्रत किया है, इन इन्द्रियोके विषयोका परिहार किया है । अरे विषयरहित ज्ञाता मात्र अतस्तत्त्वकी तो दृष्टि नही है, अब विषयपरिहार कैसे कहलायेगा ? विषयोके साधन छोडे,

इस प्रकारका जा विकल्प है और इस प्रकारकी जो परिस्थिति और व्यवहार है उसमे वह विषय बन गया। अपने मूल स्वरूपकी सुध हुए बिना धर्मका प्रारम्भ भी नही होता।

ज्ञानमात्र निजके अनुभवका आनन्द पानेके लिये परभावव्यामोहके परिहारकी अनिवार्यता—गजबकी बात तो यह है कि है तो ज्ञानस्वरूप और इस ही का ज्ञान नही हो पाता। जैसे तालाबमे ही तो मच्छ रह रहा और वह प्यासा बना है तो यह तो एक गजबकी बात ऐसे ही ज्ञानस्वरूप होकर भी यह जीव ज्ञान न कर सके यह भी गजबकी बात है। यहाँ तो सब घट रही है बातें ज्ञानस्वरूप होकर भी अपने ज्ञानस्वरूपका ज्ञान नही चल रहा। और जिनका चल रहा है उनको आवश्यक है कि ऐसी दृष्टि निरन्तर रहे। तो इन सबसे दृष्टि हटा लेने वाला तो यह वातावरण है विषयभोगोंका। ये वर्तमानमे तो रमणीक लग रहे है, मगर इन्द्रायण फलके समान इनका विपाक बुरा है। कोई इन्द्रायण फल होता है जो कि देखनेमे बडा सुन्दर चिकना होता और खानेमे भी मधुर होता, पर वह है विषफल। उसको खानेके बाद प्राण नष्ट हो जाते है, ऐसे ही यह पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी प्रवृत्ति वर्तमान कालमे तो बडी सुहावनी लग रही है, मगर इसका परिणाम केवल कष्टकारी है। किसी भी दूसरे पदार्थ का सयोग इस जीवके लिए अहित है। अकेला ही रहे अकेलेमे ही मग्न रहे, अकेलेका ही उपयोग रहे, बस वही एक पवित्रताकी स्थिति है। शुद्ध होनेके मायने है अकेला रह जाना। न शरीर रहे, न कर्म रहे, न विकार रहे। तो ऐसा अकेला रह जानेकी स्थिति तो सभी चाह रहे है वचनोसे और अन्दरसे अपनेको अकेला निरखनेका उपाय नही किया जा रहा। यहाँ जो सयोग देखा जा रहा है उस ही मे सुख माना जा रहा है कभी भी यह सिद्ध अवस्था (शुद्ध दशा) न प्राप्त कर सका। अकेला रह जानेके इच्छुक लोग वर्तमानमे अपने सत्त्व मात्र अपने आपको अकेला निहारे। यदि यहाँ अपने आपको अकेला निहार सके तो बस इस ही अकेले ज्ञानमात्र परभावशून्य ज्ञानघन अन्तस्तत्त्वकी उपासनाके प्रमादसे वे निकट कालमे ही सिद्ध अवस्था पा लेंगे। इसके लिए इस वर्तमान सयोगसे दृष्टि हटाकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमे अपने आपको अनुभवना होगा। ज्ञानी जन यही काम करते है। ससारके इन दृश्यमान विनाशीक विषयभोगके समागमोको अहितकारी जानकर उनका त्याग कर देते है।

विद्या दया द्युतिरनुद्धतता तितिक्षा, सत्य तपो नियमन विनयो विवेकः।
सर्वे भवति विषयेषु रतस्य मोघा, मत्वेति चारुमतिरेतिन तद्वशित्व ॥६६॥

विषय वशगत मनुष्योंके विद्या दया द्युति विनय धैर्य सत्यकी व्यर्थता व अनुद्भूति—जो इन्द्रियके विषयोके वशमे है उसके कोई गुण नही रह पाते। विषयोकी प्रीतिमे है पराकर्षण। जिसका आकर्षण परकी ओर लगा है उसके खुदमे गुण नही रह पाते। जैसे

विद्या—जो विषय लम्पटी है उसके विद्या नही ठहरती। विद्याका अर्जन नही हो पाता। पायी हुई विद्याका भी विस्मरण हो जाता। इन्द्रियके वश होनेपर कितना नुकसान होता है कि उसमे ज्ञान बुद्धि विवेक नही ठहरता। इन्द्रियविषय लम्पटीके दया कहाँ रहेगी, क्योंकि उसे विषयोका अनुराग है, उस ओर ही दृष्टि है और उस धुनमे जीवहिंसा बचनेका उपयोग नही रहता और तत्काल भी जीवहिंसा होती रहती है। तो जो इन्द्रियके विषयोका भोगी है, आसक्त है उसके दया भी नही ठहरती। कान्ति और विनय तेज और सहनशीलता ये भी उसके पास नही रहते। जिसके जितना आत्मबल है, आत्मस्वभावकी दृष्टिकी प्रखरता है उसके अन्दर तेज रहता है। शरीरसे चाहे दुर्बल भी हो, रोगी भी हो, पर आत्मतेज रहता है उसके जो विषयोसे विरक्त पुरुष है। सहनशीलता भी उसके होती है। लोग तो जरा जरासी बातो मे धैर्य खो देते है। उनके ५ इन्द्रिय और मन, इन दो विषयोमे से किसी विषयमे आसक्ति है जिसके कारण धैर्य खो देते है। फिर वहाँ सहनशीलता नही रहती। कोई मनके विरुद्ध घटना घट जाय तो वे सहन नही कर पाते। चाहे उससे भी कठिन घटना अपनी किसी वस्तु के अनुरागके कारण आती जाय, उन घटनावोको तो सहन कर लेते है, पर मनके विरुद्ध कोई बात चले तो इस घटनाको सहन नही करते। चाहे अन्य घटनासे छोटी घटना है, न कुछ जैसी घटना है, पर सहनशील नही रह पाते, क्योंकि वे विषयोके आधीन हैं। मनका विषय तो इन्द्रियविषयोसे भी कठिन है। विषय—लम्पटी पुरुषके सत्यताका भी निवास नही रहता। विषयानुराग है ना और मेरे विषय न मिटें इस लोभसे वह कुछसे भी कुछ कह सकता है और असत्य वचन भी निकल सकते है।

विषयवशगत मनुष्योकी संकटपात्रता— विषयोके जो वश है वे जगतमे रुलने वाले जीवोकी गिनतीमे है। एक भजनमे बोलते है ना—हम तो है उन चरणोके दास जिन्होने मन मार लिया। जिन्होने मन मारा उन्होने सभी इन्द्रियविषयोको ठोकर दी। उनके भक्त होते है विवेकी लोग। तो जो विषयोके वश है उनके सत्य नही रहता, तपश्चरण भी नही रहता। पुराणोमे, अन्य दर्शनके पुराणोमे प्राय ऐसी घटनायें पायी जाती है कि कोई तपस्वी पुरुष है, महत है, लोक पूजित है और कभी विषयोका अनुरागी बन गया और उसके कोई कुचेष्टा होने लगी, ऐसी घटनायें मिलती है, पर अन्य श्रद्धालु उन घटनाओको भी प्रशसाके रूपमे उपस्थित करने लगते है। करें उपस्थित महत्ताके रूपमे यह तो उनकी कल्पना है, पर वास्तवमे तो वे स्वरूपसे डिग गए। जो इन्द्रियके विषयोके वशमे है वे तपश्चरणसे भी गिर जाते। नियम और विनय ये दो बातें उसके चित्तमे नही ठहर सकती। गुरुजन हो, बडे पुरुष हो, सामने हो तो भी जो विषयोके वश है उनके चित्तमे उनके प्रति आदर विनयका भाव नही रह पाता।

क्योंकि ..का चित्त ही ठिकाने नही है, विषयबुद्धि वाले पुरुषोके विवेक नही ठहरता । विवेक कहते है हित करना और अहितसे दूर होना । ज्ञानीजन जानते है कि इन्द्रिय विषयोके अनु-रागके कितने दुर्गुण है और इसी कारण ज्ञानी पुरुष विषयो के वश नही होते । जो विषयो के वशीभूत है उनको अच्छी बात नही रुचती । विषयप्रसगकी ही बात धुनमे रहती और उसीमे ही अपनी महिमा समझते ।

विषयासक्त पुरुषोंकी वैराग्य ज्ञानसुगन्धको छोड़कर विषयदुर्गन्धमे रुचि—कोई दो सहेलियाँ थी—एक थी ढीमरकी लडकी और एक थी मालिनकी लडकी । दोनो का अलग-अलग जगह विवाह हो गया । मालिनकी लडकी तो एक शहरमे ब्याही गई और ढीमरकी लडकी एक गाँवमे ब्याही गई । ढीमरकी लड़की तो मछली बेचनेका काम करे और मालीकी लडकी फूल तोडने, माला बनाने, सेज सजाने आदिके काम करे । एक बार ढीमरकी लडकी उस नगरमे मछलियाँ बेचने पहुच गई जहाँ उसकी वह सहेली रहती थी । सारी मछलियाँ बेच चुकनेके बाद शाम हो गई, सो इस विचारसे वह ढीमरकी लडकी अपनी सहेलीके यहाँ पहुंची कि रात्रिको उसके यहाँ रहकर सवेरा होते ही अपने गाँव चली जायेगी । मालीकी लड़की अपनी पुरानी सहेलीको पाकर अत्यन्त हर्षित हुई, उसका बडा सत्कार किया, खूब खिलाया-पिलाया और सेज बहुत बढिया बिछाया सोनेके लिए । बहुत दिनो मे मिली थी ना सहेली, सो अच्छा गद्देदार पलग बिछाया और उसपर गुलाब, चमेली आदिक फूलों की पंखु-डियाँ बिछा दी । अब उसे सुला दिया, पर उस ढीमरकी लडकीको नीद न आये । मालिन की लडकीने पूछा—तुम्हे नीद क्यो नही आती ? तो ढीमरकी लडकी बोली—अरे तुमने यह क्या कर दिया, यहाँ फूलों की दुर्गन्ध ऐसी फैल गई कि उसकी वजहसे नीद नही आती । ··· अरे दुर्गन्ध कैसे ? फूल तो राजा महाराजावों की शय्यापर बिछा करते है । · बिछा करते होगे, हमे तो उनकी बदबूके मारे नीद नही आती । · अच्छा तो ये सब फूल उठाकर अलग किए देती हू । कर दिये सब फूल अलग फिर भी नीद न आये, सो पूछा—अब क्यो नीद नही आती ?···अरे फूलो की दुर्गन्ध तो इन गद्दों बिछौनों तकमे सब जगह भर गई है इन्हे हटा दो । हटा दिये मालीकी लडकीने गद्दे बिछौने वगैरा फिर भी नीद न आये । तो फिर पूछा—कहो सहेली, अब क्यो नीद नही आती ? क्या उपाय करें जिससे तुम्हे नीद आ जाय ? तो ढीमरकी लड़की बोली —देखो जो हमारा मछलीका टोकना रखा है इस पर पानी के कुछ छीटे मार दो और उसे उठाकर हमारे सिरहाने रख दो तब नीद आयगी । आखिर, वैसा ही किया तब उसे नीद आयी । तो ऐसे ही समझ लो कि जो विषयो के वश होते हैं उनको विषयसाधन मिलें तो वे तत्काल कुछ मौजसा अनुभव करते है और प्रसग मिल जाय

कोई ज्ञानका, ध्यानका, गुणानुवादका, ज्ञानचर्चाका तो उन्हे वह न सुहायेगा । और सुन लेवें कि प्रोग्राम है कुछ ज्ञानचर्चाका तो दूरसे ही उठ जायेंगे । यह इन्द्रियविषयोके वशमे हुए पुरुषोकी हालत है, क्योकि उनका दिमाग पलट गया । खाने-पीनेके प्रसग, स्त्रीप्रसग, सिनेमा आदिक देखना, रग रगीली बातें सुनना, इनमे ही मन बहलता है इन मनुष्योका । तो जो इन्द्रियविषयोके वश है उनमे कोई गुण नही ठहरते ।

विषयवशित्व अवगुण मिटानेका उपाय--अब यह निरखें कि है तो यह बडा अव गुण विषयोके वश होना, पर यह अवगुण मिटे कैसे ? उसका उपाय तो होगा कुछ । तो उपाय है दो तरहके—एक तो दवा जैसा और एक औषधि जैसा । दवा वह कहलाती है जो रोगको दबा दे और औषधि वह कहलाती जो रोगको जडसे मिटा दे । तो ऐसे ही समझो जब किन्ही धार्मिक कार्योमे लग गए, कुछ भले काम करने लगे, धर्मसभामे बैठ गए या मंदिर मे ही जाप करने बैठ गए तो यह तो है दवा । विषय वहाँ दब गया, मगर दवा कर-करके हैरान हो जाते है, वह विषय भावना फिर उछल जाती । और यदि औषधि हो जाय तो वह विषय भावना फिर न उठे । तो औषधि क्या है कि विषय विकार मलिनता आदिक कहाँ हैं मेरे स्वभावमे ? उस स्वभावका परिचय करे कोई और ऐसे स्वभावरूप मेरी सत्ता है, मैं तो यह हूं, और जो हो रहा है यह तो नैमित्तिक है, औपाधिक है, कर्मछाया परभाव है । तो जैसा अपना सहज स्वरूप है उस रूपमे अपनी स्वीकारता रहे और ऐसी ही दृष्टि बनाये रहने का प्रसंग बने तो यह है विषयोके विजयकी औषधि । कोई इस ही स्वभावका निराकरण करके माने कि मैं तो ऐसा ही हूँ, शुद्ध हू, अविकारी हू, वह तो इसमे धोखा खायगा, मगर जो जानता है कि मेरे स्वरूपमे विकार नही, मेरी भूमिमे विकार है, सो वह विकार मेरे स्व· भावसे आया हुआ नही, किन्तु निमित्त पाकर आया है ।

निमित्तनैमित्तिक भावके सुपरिचयका फल अहकारका अभाव, कायरताका अभाव व सुगमतया स्वभावदृष्टि--भैया, एक बात खास समझनेकी है कि जीवमे जो विकार जगते हैं उन विकारोका निमित्त कारण सिर्फ कर्मविपाक है । जगत्के ये सारे पदार्थ जो दिख रहे हैं ये विकारके निमित्तभूत नही हैं ये आश्रयभूत हैं । जिनको यह भेद नही ज्ञात है और इस स्वभावको भी निमित्त मानते है या मनाते है या कहते है वे इस खण्डनमे लगते कि निमित्त कुछ चीज नही । सामने पदार्थ दिखा और विकार न हुआ तो निमित्त तो न रहा । कोई वेश्या गुजरी तो उसको देखकर साधुके भाव वैराग्यके हुए और कामी पुरुषके भाव विषय वासनाके हुए, शृगाल, कुत्ते आदिकके भाव उसके भक्षण करनेके हुए, तो दृष्टान्त देते है कि देखो निमित्त तो वही है, पर काम एकसा कहाँ हुआ ? उनकी भूल है । निमित्त तो कामी

पुरुषके मोहनीय वेदका उदय चल रहा है सो उस अनुरूप उसके भाव हो रहे और उस भा० को व्यक्त करनेमे वह वेश्या आश्रयभूत हो रही और मुनि महाराजके कषायोंका उपशम है, क्षयोपशम है सो उसके अनुरूप वैराग्यके भाव हो रहे और उस वैराग्यके व्यक्त होनेमे वह मृतक वेश्या आश्रयभूत हो रही। निमित्तनैमित्तिक भावका सही परिचय करनेमें कायरता और अहंकार ये दोनों दोष दूर हो जाते हैं। जिसे यह परिचय नही ज्ञात है वह ऐसा सोचता है कि मैने दूसरेको यो कर दिया, यह ही बात कर्तृकर्मभाव दोनों ओरसे चलती है। मैने दूसरेको सुख दिया, बडा किया, ऐसा भाव यदि रहेगा तो अहंकार जगेगा और दूसरेने मुझे दु:खी किया या दूसरेके हाथमे मेरा सब कुछ परिणमन है ऐसा जानेंगे तो कायर बनेंगे, पर निमित्तनैमित्तिकका परिचय होनेपर न कायर रहेगा, न अभिमानी रहेगा। वह जानेगा कि बच्चोंके पुण्यका उदय है, उसकी वजहसे बच्चोंको सुखी होना है, उसमे मैं नौकर रूपसे सेवक बन गया। चित्तमे यों सोचेगा तो अहंकार न बनेगा या मुझको मेरी स्त्री पुत्रादिक दु:ख देते इस प्रकारकी कायरता अपनेमें न लायगा। जहाँ सत्य जाना कि मैंने ही पूर्वभवमे जो परिणाम किया था उसका उदय है यह, और उस उदयमे मेरी ऐसी स्थिति हो रही है। उसके व्यक्त होनेमे ये दूसरे लोग आश्रयभूत मात्र हुए है। तो इन विषयसाधनोंके प्रति भी ज्ञानीका यों चिन्तन रहता है कि ये स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द ये मुझको रागी द्वेषी नही बनाते, मुझे कायर नही बनाते ये तो जड अपने स्वरूपमे अपने परिणमनसे रहते है। मैं ही खुद कर्मोदयका निमित्त पाकर तदनुरूप अपनेमे विकार कर रहा हूं। इस आश्रयभूतमे दृष्टि दूंगा तो वे विकार बुद्धिपूर्वक बनते जायेंगे, व्यक्त हो जायेंगे और इस आश्रयभूतको त्याग दूं तो विकार व्यक्त न होगे। अव्यक्त होकर निकलेंगे। चरणानुयोगकी समस्त प्रक्रिया इसी आधारपर आधारित है। आश्रयभूत वस्तुवोंका परित्याग करिये, यह है चरणानुयोगकी जान। जिन जीवोंको यथार्थ बोधका परिचय नही है वे विषयोंके वशीभूत होते है और विषयवश होकर अपने समस्त गुणोंको भस्म कर डालते है।

लोकार्चितोऽपि कुलजोऽपि वहुश्रुतोऽपि, धर्मस्थितोऽपि विरतोऽपि शमान्वितोऽपि।
अक्षार्थपन्नगविषाकुलितो मनुष्यस्तन्नास्ति कर्म कुरुते न यदत्र निंद्यं ॥१००॥

लोकार्चित पुरुषोंकी भी विषयवशतामें विडम्बना—कोई पुरुष लोगोंके द्वारा पूज्य है, मान्य है, फिर भी वह इन्द्रियविषयरूपी सर्पके विषसे डसा हुआ है, आकुलित है तो वह मनुष्य कौनसा निंद्य कार्य नही कर सकता। लोगोंकी दृष्टि तो महत्ताकी है, पूज्यताकी है, बड़प्पन समझ रहे है, मगर वे चित्तमे इन्द्रियविषयोंके वश बने हुए है तो वे अपनी व्यक्त स्थितिके विरुद्ध कुछ काम कर डालते है। कोई पुरुष कुलीन है, अच्छे कुलमें पैदा हुआ है

राजकुलमे, मंत्रीकुलमे, पर वह इन्द्रियविषयोका अनुरागी बने तो वह भी क्यासे क्या काम नही कर डालता। पुराणोमे जो कही-कही यह सुननेमे आता कि अमुक राजपुत्र, अमुक जगह अमुक कन्यापर विमोहित हो गया तो उसके पीछे खाना-पीना छोड दिया, उसका दिल दब गया, बावलासा बन गया, अब चूकि घरका लाडला था सो घरके तथा बाहरके लोग उसे बहुत-बहुत मनायें—कहो बेटा क्या चाहिए ? तुम जो कहो वह सब हम करनेको तैयार है। आखिर उसके मनमाफिक किया उसके माता-पिताने। अब चूकि घरके लाडले थे सो किया वैसा नही तो दो लट्ठ लगाते तो अक्ल ठिकाने हो जाती। यह है विषय व्यामोहकी घटना। उत्तम कुलमे पैदा हुए तो भी यह स्थिति।

उत्तम कुलज पुरुषोंकी भी विषयवशतामें विडम्बना—जब राम और सीताके विवाह की चर्चा चलने लगी या ज्ञानसे जान लिया नारदने। तो वह अनेक बार सीताको देखने गया। देखिये—नारद बडे ब्रह्मचर्यमे परिपूर्ण होते है। रानियोके महलमे वे कही चले जायें, पर राजा सब जानता है कि यह ब्रह्मचर्यके बडे परिपूर्ण है, बालस्वभाव वाले है, सो गया वह नारद इस भावसे कि देखें तो सही कि कैसी है श्रीरामको चाहने वाली कन्या। जब नारद पहुंचे सीताके निकट तो उस समय सीता आईनेमे मुख देखकर अपने केश सवार रही थी। उस आईनेमे जब नारदका प्रतिबिम्ब पडा तो डरावना चेहरा होनेसे वह डर गई और डरकर दूर भाग गई। उधर नारदके मनमे यह आया कि मैं इस कन्याको इष्ट नही लगा, इस कारण यह मेरेसे दूर भागी, सो तुरन्त उसपर क्रोध कर बैठे और मनमे आ गया कि मैं भी इसे छका कर रहूगा। सो क्या किया किया कि सीताका एक चित्रपट लिया और वह चित्रपट विद्याधरोकी नगरीमे ले गया जहाँ कि उस सीताका भाई भामण्डल भी था। सो उस भामण्डलने जब सीताका चित्रपट देखा तो उसपर मुग्ध हो गया और उसे पानेके लिए सेनासहित वहांसे चल पडा। रास्तेमे जहाँ एक वन मिला तो पूर्व घटनावश उसे स्मरण हो आया कि जिसके विषयमे हम इतना खोटा विचार कर रहे थे वह तो मेरी सगी बहिन है। उसे अपने पर घृणा आयी। मगर देखो तो विडम्बना कि जो चाहे जैसा चाहे करने लगता। देखिये—पुरुषोका ऊधम आज ही नही है, पहलेसे ही चला आ रहा है। तो यह सब इन्द्रियवश हुए प्राणियोकी विडम्बना है।

बहुश्रुत आदिकी भी विषयवशतामे विडम्बना—बहुत शास्त्रोका ज्ञाता है कोई तिस पर भी यदि इन्द्रियविषयोसे व्यामुग्ध है तो वह भी आचरणसे गिर जायगा। कोई विरक्त है, क्षमाशील है मायने त्याग किया है तिसपर भी इन्द्रियविषयोका अनुरागी पुरुष ऐसा कौनसा निंद्य कार्य है जिसे वह न करे। इस जीवको परेशानी क्या है ? बस मोह और विषयानु

राग । एक द्वेषकी भी परेशानी है, मगर द्वेष नही आता । मोहमें बाधा आये जिसके द्वारा उस पर द्वेष उमडता है । तो द्वेषको जीत लेना सरल है, मगर रागको विषयको जीत लेना सरल नही है । तब ही तो करणानुयोगमे द्वेषका क्षय ९वें गुणस्थानमे बताया और रागका क्षय १०वें गुणस्थानके अन्तमे बताया । संसारमे यह जीव अकेला अपने आपमे सुख दुःख जन्म मरण आधिव्याधियोको भोगता आया है । क्यो भोगता आया कि अपने अविकार स्वरूप की सुध नही है । जो औपाधिक विकार जगा उसे स्व मान लिया, यह मैं हू, भूल कितनीसी की, पर उससे विडम्बना कितनी बन गई । एक वृक्षको ही ले लो तो वृक्षके अनेक बडी शाखायें, अनेक उपशाखायें, अनेक टहनियाँ, भिन्न-भिन्न प्रकारके पत्ते, भिन्न भिन्न प्रकारके फूल, भिन्न भिन्न तरहके फल, भिन्न भिन्न प्रकारके आकार ये सब पाये जाते है । तो यह किसका फल है ? विकारमें आत्मत्व अनुभव किया उसका फल है संसार विडम्बना, और स्वभावमे आत्मत्व अनुभव करें तो उससे मिलेगा संकटोंसे छुटकारा । तो यह बहुत आवश्यक है कि इस स्वभावकी पहिचान करें और उस रूप अपनेको माने और उसकी दृढताके बलसे समस्त विषयकषायोंसे दूर होनेका पौरुष करें ।

लोकार्चितं गुरुजनं पितरं सवित्रीं, बधु सनाभिमबलां सुहृदं स्वसारं ।
भृत्यं प्रभुं तनयमन्यजनं च मर्त्यो, नो मन्यते विषयवैरिवशः कदाचित् ॥१०१॥

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयकी विषयोंकी उलझन मिटानेमें समर्थता—जो पुरुष विषय बैरियोंके वशमे रहता है वह किसीको भी बडेको भी कुछ नही समझता । आत्माका अहित करने वाले विषय और कषाय है । सो विषयोंपर दृष्टि क्यों जाती है जीवोंकी और विषयोंकी ओर क्यो उलझे रहते है उसका कारण है यह कि इन जीवोंको अपने सहज स्व-रूपका परिचय नही है । विषयभाव ये कही अन्य पदार्थके नहीं हैं । हो रहे हैं जीवोंमे, फिर भी ये जीवके नही हैं । यह बात न समझ सकें तो विषयोंमें प्रीति दिखती है । इच्छा आशा प्रतीक्षा रागद्वेष इष्टभाव अनिष्ट भाव सुख दुःख जितने भी विकारभाव है ये विकारभाव, यह विकारपरिणति जीवके स्वभावसे उठे नही, कर्मकी परिणतिसे आये नही, किन्तु क्या स्थिति है कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर यह छाया माया हुई, इस कारण यह औपाधिक है और परभाव है । दो बातें होती है—(१) कर्तृकर्मभाव और (२) निमित्तनैमित्तिक भाव । कर्तृ-कर्मभाव वस्तुतः एक ही पदार्थमे होता है और निमित्तनैमित्तिक भाव गलत नही है । सारा विज्ञान, सारा व्यवहार सब कुछ देख रहे हैं, रसोई बनाते है तो अग्नि जलाते । जानते हैं ना कि रोटी पकानेका निमित्त अग्नि हो सकती, जीव नही हो सकता, यह खूब परिचय है, पर अग्नि जलानेपर सिकी रोटी या अग्नि सिकी । वस्तुस्वरूप और निमित्तनैमित्तिक भाव

सर्वत्र एक साथ चल रहे। अब जिनको निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका माहात्म्य नही मालूम और वास्तवमे निमित्त क्या होता है जीवके विकारमे, यह भी नही मालूम, उनकी दृष्टि यह बन जाती है कि दुनिया भरके जो पदार्थ है बाह्यमे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द जो कुछ ये दिख रहे है उन्हे लोग निमित्त कहते चले आये। सो जब कभी अन्य प्रकार बात देखते हैं तो बात क्या है कि तीन बातें होती हैं जीवके विकार प्रकट होनेमे—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। आश्रयभूतकी बात लोगोने नही समझ रखी, कोई कोई तो आश्रयभूतका नाम तक नही जानते। जब तक ये तीन बातें समझमे न आये तब तक निमित्तनैमित्तिक भावका मर्म न समझमे आयगा। निमित्तनैमित्तिक भावका परिचय स्वभाव दृष्टि करानेके लिए हुआ करता है। कर्तृकर्मभाव बतानेके लिए नही हुआ करता।

नैमित्तिक भावकी निमित्तानुरूपता—एक उदाहरण लें—मान लो कोई स्त्री मर गई, अब उसको उसके पतिने भी देखा और साधु महाराजने भी देखा, तो उसे देखकर उसके पतिको तो उसके प्रति रागभाव हुआ और साधु महाराजको वैराग्यभाव हुआ या दयाभाव हुआ, करुणा उपजी। अब ऐसी घटना देखकर जिसे बोध न हो या कुछ बोध हुआ भी हो वह झट कह बैठता कि देखो दोनोका निमित्त एक है, पर एक जैसा भाव दोनोका नही हुआ, इसलिए निमित्त फिमित्त कुछ नही, कुछ कार्यकारी नही···पर उनको यह पता नही कि साधु महाराजके जो वैराग्यभाव हुआ उसका निमित्त वह मृतक वेश्या नही है, उसका निमित्त है अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण जो कषाय है, कर्मप्रकृति है उसका क्षयोपशम। तो जैसा क्षयोपशम है उसके अनुसार साधु महाराजके भाव बने और उसमे आश्रयभूत वह मृतक स्त्री हो गई। और उस पतिके रागभाव होनेमे निमित्त उसकी वह स्त्री नही है, किन्तु मोहनीयकर्मका उदय है, वेदप्रकृतिका उदय है, सो उसके अनुसार उसके रागभाव जग रहा है और उसमे आश्रयभूत बनी उसकी स्त्री। तो तीन बातोका भले प्रकार परिचय करें। मेरे जितने भी विकार होते हैं उनका निमित्त है कर्मोदय। कर्मोदय होनेपर ही विकार होता, कर्मोदय न होनेपर विकार नही होते। कर्मका उदय कर्ममे चल रहा, पर ऐसा ही योग है कि जिस अनुभाग वाले कर्मका उदय विपाकमे है तो उसकी छाया, माया, प्रतिबिम्ब यह अनिवार्य रूपसे होगा। अब ये बाहरी पदार्थ है, ये निमित्त नही हैं, ये आश्रयभूत हैं। रागप्रकृति का उदय हुआ। हमारे रागभावमे कर्मोदय निमित्त है और उसके व्यक्त होनेमे ये बाहरी विषयभूत पदार्थ आश्रयभूत हैं।

निमित्त शब्दके बोलनेपर उसके वाच्य आश्रयभूत या वास्तविक निमित्तकी छांट करनेके विवेककी आवश्यकता—आश्रयभूतको भी निमित्त शब्दसे कहते हैं लोग और वास्त-

विक निमित्तको भी निमित्त कहते है। तो निमित्त नाम दोनोका पड जानेसे विवेक नही करते और दोनोको निमित्त मानकर चूंकि आश्रयभूतके साथ विकारका नियम नहीं है कि अमुक पदार्थ होनेपर विकार हो ही हो, पर कर्मोदयके साथ इनका सम्बंध है कि राग प्रकृति का उदय होनपर जीवमे राग होगा। अब स्वभावदृष्टि कैसे बनती? जैसे दर्पणके आगे हाथ किया तो हाथका प्रतिबिम्ब दर्पणमे है। अब वहाँ सब कोई जान रहा है कि यह प्रतिबिम्ब दर्पणके स्वभावसे नही उठा। उठा दर्पणमे, मगर समक्ष निमित्त पाकर उठा, और जब ही हाथ सामने किया तो प्रतिबिम्ब आया और हाथको हटाया तो प्रतिबिम्ब हट गया। तो निमित्तनैमित्तिक योग स्पष्ट है। उसके परिचय बिना ये विसम रचनायें हो ही नही सकती। पर यहाँ समझना क्या है कि जितनी विसम रचना है, जितनी विकार सृष्टि है वह नैमित्तिक है, वह मेरे स्वरूपकी चीज नही है। मेरा स्वभाव तो केवल प्रतिभास मात्र है।

स्वभाव और पर्यायका विश्लेषण—देखो एक ही पदार्थमे परिस्थिति बताना और बात है और स्वभाव कहना और बात है। जैसे एक दृष्टान्त लो—पानी गर्म हो गया, चूल्हेपर बटलोहीमे पानी गर्म कर दिया, तेज गर्म हो गया, ऐसे गर्म पानीके प्रति पूछा जाय कि बताओ पानीका स्वभाव कैसा है? तो हर एक कोई यही कह देगा कि पानीका स्वभाव ठंडा है, मगर सर्वथा ठंडा स्वभाव समझकर अगर उस तेज गर्म पानीको कोई पी ले तब तो उसका मुख जले बिना न रहेगा। उस तेज खौलते हुए गर्म पानीको वह पी तो नही सकता। तो उसकी परिस्थिति विकारमे है, पर स्वभाव जब सुहा जायगा तो प्रकट न होते हुए भी वह कहा जायगा जो अपनी ही सत्ताके कारण अपने आपमे पाया जाता हो। जब स्वरूपकी उपासना की जाती है तो उसका अर्थ लगाइये—शक्तिकी उपासना की जा रही है। स्वभाव की उपासना है वह। और परिणमन तो यहाँ अशुद्ध चल रहा है। अशुद्ध परिणमन होते हुए भी अपने स्वभावको निरखना है। यही एक उपाय है कि अशुद्ध परिणमनको मिटाया जा सकता है। तो यह अशुद्ध परिणमन निमित्त पाकर नही होता और यो ही कह दिया जाय कि जब अशुद्ध परिणमन होता है तो जो सामने आ जाय उसे निमित्त कह देते है। तो इसका अर्थ यह होगा कि अशुद्ध परिणमन जीवमे अपने स्वभावसे हो रहा है। अब नाम कहासे लगा दें कि यह निमित्त है। तो जब अपने स्वभावसे हो रहा है अशुद्ध परिणमन तो उसके मिटनेका कोई उपाय नही हो सकता।

विकारोद्भवमे परसंगकी निमित्तताके परिचयोके स्वभावदृष्टिका अवसर—मेरे स्वभावसे विकार नही हुआ करते। विकार होनेमे परपदार्थका सग ही निमित्त है। बंधाधिकार मे समयसारके अन्तमे निचोड रूपमे कहा है—"तस्मिन्निमित्तं परसग एव वस्तुस्वभावोऽय

मुदेति तावत्" अगर रागादिक भाव हो रहे है । संसारमे हो रहे तो उसमे निमित्त परपदार्थ का संग ही है और यह वस्तुस्वभाव है अर्थात् उपादान अनुकूल निमित्त पाकर ही विकाररूप परिणमता है । निमित्तके अभावमे विकाररूप नही परिणमता । तो इस चर्चासे स्वभावको निरखनेकी प्रेरणा मिलती है । ये विकार मेरे स्वभावसे नही उठते, ये विकार मेरे भाव नहीं है, ये परभाव है । परका निमित्त पाकर हुए हैं । तो प्रयोजन तो अपने विशुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करना है । सो जितना यह हमपर विषय कषायका बोझ 'चलरहा है तो यह सब नैमित्तिक है । जो नैमित्तिक हो वह मिटाया जा सकता है । जो स्वाभाविक हो वह नही मिटाया जा सकता ।

परभावकी उत्पत्ति व ज्ञप्तिके साध्य साधनकी भिन्नता—अब इस आश्रयभूत पदार्थ को जो अज्ञानवश निमित्त मान लेते है तो क्या दृष्टि बन जाती कि जब विकार हो तब ये निमित्त कहलाते है, पर थोडा ध्यानमे लाना, दार्शनिक विषय है थोडासा । उत्पत्ति और ज्ञप्ति । जैसे जब जानकारीकी बात कहते है कि धुवाँ देखकर अग्नि जान ली गई तो यह जानकारीका साध्य साधन है । इसका नाम है अनुमान प्रमाण । वहाँ यह बात समझमे आयी कि धुवाँ देखकर अग्निका ज्ञान हुआ । जब धुवाँ हुआ तब जाना गया कि अग्नि है यहाँ । अब यह बतलावो कि धुवाँ और अग्निमे निमित्तनैमित्तिक क्या है ? धुवाँ नैमित्तिक है और अग्नि निमित्त है, सो वहाँ नैमित्तिकका ज्ञान होनेपर निमित्तका बोध हुआ, यह ज्ञप्तिके बारेमे बात है । अब उत्पत्तिके विषयमे समझ बनाइये, धुवेंसे आग उत्पन्न हुई है या आगसे धुवाँ उत्पन्न हुआ ? उत्पत्तिमे यह ही कहा जायगा कि आग निमित्त है और धुवाँ नैमित्तिक है, और चाहे धुवेंका आप बोध करें या न करें, पर जहाँ अग्नि है सो ही है । जहाँ कारण-कलाप है वहाँ छुपा हुआ है । तो यहाँ निरखिये कर्मका उदय निमित्त है, विकार नैमित्तिक है, ऐसा कहना कि जब विकार हुआ है तब निमित्तका ज्ञान हुआ कि उस समय यह निमित्त था । सो ज्ञानके बारेमे तो यह बात ठीक है, क्योकि कर्म सूक्ष्म है । उन्हे कोई जानता नही, पर नैमित्तिक घटना जानकर निमित्तका बोध हुआ, पर ऐसा नही है कि जब विकार हो तब निमित्त हाजिर हो । निमित्त अपने समयपर आया, उपादानमे वहाँ योग्यता है और उसका निमित्त पाकर विकार जग गया । एक और दृष्टान्त लो—जैसे कोई नदी बह रही है तो जहाँ से बह रही उस ऊपरके हिस्सेमे तेज वर्षा हुई और नदीमे पूर बढ गया तो ज्ञप्तिमे तो आप यह कहेगे कि पूर बढा दिखे तो आपको ज्ञान हुआ कि ऊपर वर्षा हुई । ज्ञानमे यह बात आयी । पूर देखकर, पानीका तेज बहाव देखकर आपको ज्ञान हुआ कि वर्षा हुई । नैमित्तिक देखकर आपको निमित्तका ज्ञान हुआ, यह ज्ञानमे तो बात ठीक बैठी, पर उत्पत्तिमे क्या ऐसा

है कि जब पूर हुआ तब वर्षा हुई ? जब नदीमे जलका प्रवाह बढा तब वर्षा हुई, क्या ऐसा होता ? नही । वर्षा हुई तब यह पूर निकला । तो उत्पत्तिमे और ढगसे निरखा जायगा और जानकारीमे और ढंगसे निरखा जायगा । अब जानकारीका तो ढंग बोले और उत्पत्तिकी बात कहे तो बस वह गलत हो जाता है ।

विषम कार्योत्पादमे निमित्तकी अनारोपितहेतुता—आपको कर्मोदय ज्ञात हो या न हो, जब कर्मोदय होता है तो विकार होता है । आपने पीछे पैर रखा और वहाँ अग्नि थी । आपको अग्निका ज्ञान हो या न हो, पैर पडेगा तो वह जलेगा । निमित्तनैमित्तिक भाव किसी की जानकारीके आधार पर नही चलता । वह तो सान्निध्यपर चलता है । तो निमित्तनैमित्तिक भाव सर्व घटनावोमे पाया जा रहा है, पर यहाँ यह परिचय बनाना कि जितना नैमित्तिक भाव पाया जा रहा है वह उस वस्तुका स्वभाव नही है । वह निमित्त पाकर हुआ । आप जानते है ना कि पानी गर्म हुआ है तो पानीका स्वभाव नही है गर्म होना, वह तो निमित्त पाकर गर्म हुआ है । तभी तो जब आप अग्निको हटा लेते है तो थोड़ी देरके बाद वह गर्म पानी ठंडा हो जाता है । तो यह उपकारकी दृष्टिसे देखें तो जब निमित्तनैमित्तिकका ज्ञान होता है तो अपने स्वभावको निर्दोष देख रहा है वह । मेरे स्वभावमे राग नही, यह नैमित्तिक है । मेरा स्वरूप बिगडा नही, यह बिगडा औपाधिक है, यदि मै स्वभावको ही बिगाड दू तब तो फिर सिद्धको भी बिगड जाना चाहिए, क्योकि अब तो निमित्त पाये बिना भी बिगाड होना तुमने मान लिया । तो सिद्धभगवान हो गए, फिर विकार आ जाना चाहिए, पर आता तो नही, क्योकि उनके निमित्तका सदाके लिए वियोग हो गया । कर्मोंका उनके क्षय हो चुका । अब उनके विकार बिगाडकी सम्भावना नही । यहाँ विकार और बिगाड़ चल रहे है, मगर जिसे बोध है कि ये विकार मेरे स्वभाव नही, ये औपाधिक है, नैमित्तिक है, इनमे कोई दम नही है, ये विनश्वर है, ये टिक नही सकते और मैं ध्रुव हूँ, स्वभावमात्र हू, सहज आनन्दरूप हू । मै अपने स्वरूपको ही देखूँगा ।

आश्रयभूत पदार्थोके आश्रय व अनाश्रयसे अशुद्ध जीवके विकारोकी व्यक्तता व अव्यक्तता—मैं यह हू और विकल्पके आश्रयभूत पदार्थका मैं आश्रय न करूँगा तो ये विकार प्रकट न होगे, पर अप्रकट तो जरूर रहेगे । जैसे किसी कांचके पीछे लाल मसाला लगा दिया जाय तो उसमे प्रतिबिम्ब साफ दिखाई देता है और जिस कांचके पीछे मसाला नही लगा है, कोई प्रकारका मैल तक नही लगा है, बिल्कुल साफ है उस कांचमे तो प्रतिबिम्ब नही प्रकट होता, मगर प्रतिबिम्ब उसपर भी आता जरूर है । और दर्पणकी तरह प्रतिबिम्ब नही होता । ऐसे ही जब आश्रयभूत पदार्थोंका हम आश्रय लें तो ये विकार प्रकट नही हो पाते, लेकिन ये

अपकट रूपसे होते हैं । तो इसी स्वभावदृष्टिके अभ्यासमे जैसे व्यक्त विकारको दूर किया ऐसे ही कर्मोमे क्षय आदिक होकर ये विकार भी अव्यक्त दूर हो जायेंगे । तो कर्तव्य है अपने सहज स्वरूपमे अपना तत्त्व निरखना, इसीको कहते हैं अपनेको शुद्ध निरखना । पर्यायरूपमे शुद्ध न निरखना, वह तो गलत है, पर्याय कहाँ शुद्ध है ? और जो पर्यायरूपमे अपनेको इस समय शुद्ध निरखने लगे तो वह प्रगति कर ही नही सकता । अहंकारमे रहेगा कि मैं तो शुद्ध हू । उसको कोई अवसर ही न रहेगा अपने आपको शुद्ध करनेका, और जो स्वभावदृष्टिको शुद्ध न निरखेगा, यही निरखे कि मैं तो सर्वथा अशुद्ध हू तो वह भी शुद्ध होनेका पौरुष न कर सकेगा । स्वभाव मेरा सबसे निराला है, एकत्वगत है, परिणतियाँ ये सब औपाधिक हैं, नैमित्तिक है । मैं इन परभावोसे निराला हू और अपने ज्ञानस्वभाव मात्र हू ।

उपादान, निमित्त व आश्रयभूतके परिणामोसे तथ्यकी स्पष्टता—देखो तीन बातें स्पष्ट कर लेना । मेरे विकार आदिक होनेमे सिर्फ कर्मदशा ही निमित्त है, अन्य पदार्थ निमित्त नही होते । फिर उनके खण्डनके लिए क्यों दिमाग पच्ची किया जाय । निमित्त है ही नहीं, निमित्त तो कर्मदशा है, सो कर्मोदयका और विकारके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बध है अर्थात् कमोदय होनेपर ही विकार होवे, कर्मोदय न होनेपर विकार कभी होवे ही नही, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बध है, पर आश्रयभूत पदार्थके साथ मेरे विकारका अन्वयव्यतिरेक सम्बध नही है । सो जैसे दूध नाम गाय, भैंस, बकरी आदिकके दूधका भी है और दूध नाम आकके दूध का भी है, पर आकका दूध कोई छटांक भर पी ले तो उससे प्राणघात हो जाता है । अब आकके दूधको प्राणघातक जानकर कोई यह ढिंढोरा पीटता फिरे कि दूध तो प्राणघातक होता है, दूध न पीना चाहिए, तो उसका यह कथन भला है क्या ? अरे वहाँ तो यह विवेक रखना चाहिये कि आकका दूध तो प्राणघातक होता है, पर गाय, भैंस, बकरी आदिकका दूध प्राणपोषक होता है । जैसा कि व्यवहारमे निरखा जाता है । तो निमित्त नाम इसका भी रख दिया जो बाहरी पदार्थ है, पर निमित्त नाम वास्तवमे कर्मदशाका ही है । अब इन निमित्तोके साथ जो कि निमित्त नही है वास्तविक नहीं, आरोपित हैं, ख्याल करें तो निमित्त कहलाते, यह बात आश्रयभूतमे है, वास्तविक निमित्तमे नहीं । वैज्ञानिक लोग प्रयोग करते रहते है कि अमुक चीज मिला दी जाय अमुक वस्तुके साथ तो यह असर होता है और इसी आधार पर सारी रचना चल रही है । हम आप आज मनुष्य है, कोई पशु है, पक्षी है, तिर्यञ्च है, ऐसी गडबड विडम्बनाकी बात निमित्तनैमित्तिक भाव बिना चल सकती है क्या ? पर वहाँ खोज यह करनी है कि मेरा वास्तविक स्वरूप तो दर्शन ज्ञान है, आनन्दरूप है, सर्व परभावोसे निराला है । मैं अपने आप अपने ही सत्त्वके कारण अविकार हू ।

स्वभावपरिचय बिना निमित्तनैमित्तिक भावके सुपरिचयकी असंभवता व निमित्त-नैमित्तिक भावके सुपरिचय बिना स्वभावपरिचयकी असंभवता—भैया सहज स्वरूपको निरखना है निमित्तनैमित्तिक भावकी जानकारीसे, और यह बहुत ही सुगम तरीका है कि हम परभावोसे छूटें और अपने स्वभावमे आयें। उसमे यह तरीका सुगम है कि ये विकार नैमित्तिक है। मै इनमे न लगूँगा। ये मेरे स्वरूप नही है। जो नैमित्तिक समझता है उसे स्वभाव का ज्ञान है। दर्पणमे फोटो आ गया, अब जो उस फोटोको नैमित्तिक समझता है उसको है ज्ञान कि यह दर्पण भीतरसे बहुत स्वच्छ है। और जो उस फोटोको दर्पणका स्वभाव मानता है वह दर्पणकी स्वच्छताकी परख कैसे करेगा? जो विकार समझता है उसने स्वभाव भी समझा है और जो विकारको विकार न समझकर अंग समझ लेता है उसको स्वभावका भी परिचय नही। तो मूल प्रयोजन है स्वभावदृष्टिका। उस ही से धर्मका पालन है। सो यह आगममे जितना भी वर्णन है सबका इस ढगसे अपनेको सम्बोधिये कि मैं परभावोसे हटकर अपने स्वभावमे आऊँ। तो विषय बैरियोके वश हुआ पुरुष लोक द्वारा पूज्य गुरु जनोको भी यह कुछ नही समझता। माता-पिता, बहिन-भाई, सेवक इनको कुछ नही समझता, इनकी कुछ चिन्ता नही करता विषयोमे आसक्त हुआ पुरुष। उसे तो ये विषय ही प्रिय है। तो इन विषयभावोसे हटना है और अपने स्वभावमे अपनेको आना है, यह पौरुष करना है।

येनेंद्रियाणि विजितान्यतिदुर्धराणि, तस्याविभूतिरिह नास्ति कुतोऽपि लोके।
श्लाघ्यं च जीवितमनर्थविमुक्तमुक्तं, पुंसो विविक्तमतिपूजिततत्त्वबोधं. ॥१०२॥

इन्द्रियविजयीके ज्ञान और आनन्दकी विभूतिकी अनुपमता—जिस पुरुषने अत्यन्त दुर्धर इन्द्रियोको जीत लिया है उसकी इस विभूतिके समान दुनियामे अन्य कही भी विभूति नही है। आत्माकी विभूति ज्ञान और आनन्द है। जो मुख्य प्रकटतया समझमे आता है, यही आत्माका अतिशय है ज्ञान और आनन्दका सही प्रकट होना, सो जब तक इन्द्रियाँ नही जीत ली गईं तब तक सही ज्ञान और आनन्द प्रकट नही हो पाता। आत्माका स्वरूप जानना है, पर इंद्रियके द्वारा जानना यह आत्माका स्वरूप नही, किन्तु एक परिस्थिति है, आत्माका स्वरूप आनंद है, किन्तु विषयमे उपयोग लगाकर इस तरहका सुख पाना यह आत्माका स्वभाव नही है, किन्तु एक परिस्थिति है। जैसे कोई मनुष्य किसी कमरेमे बंद पडा है तो वह खिडकियोके द्वारा ही बाहरकी बात जान सकता है। तो खिड़कियो द्वारा जाने यह मनुष्यका स्वरूप नही है, किन्तु परिस्थिति है वह ऐसी जो खिड़कियोसे ही जान पाता है। तो ऐसे ही यह आत्मा इस देहरूपी मकानमे बंद है सो इस समय हम आप इन्द्रिय और मन इन ६ द्वारो

से ही जान पाते है। तो यह एक बधनकी परिस्थिति है, पर स्वभाव इसका जाननेका है। ज्ञान द्वारा जानता है। तब यह बंधन न रहेगा कर्मका और इस देहका तो यह चारो ओरसे ही जानेगा फिर इसके लिए सब जगतके पदार्थ साक्षात् हैं। जैसे हम अभी आँखोके सामनेकी बात जान पाते है, पर बंधन मुक्त होनेपर आत्माके लिए कौनसा सामना है ? जब तक इन्द्रिय है तब तक सामना कहलाता है यह आँखका सामना। जब इन्द्रियका बधन नही है तब सामना तो सब हो गया। जो भी सत्ता है वह इसके सामने है।

यथार्थ ज्ञान और आनन्द प्रकट न होनेका कारण इन्द्रियव्यामोह—ऐसा अलौकिक ज्ञान और निराकुल अलौकिक आनन्द जो नही हो पा रहा, उसका कारण यह है कि विषयो के ज्ञानमे और सुखमे यह जीव लगा हुआ है। सो जो इन इन्द्रियविषयो पर विजय प्राप्त कर लेता वही पुरुष सच्चा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करता है। हम आप सब दो ही बातें तो चाहते है कि हमारा खूब ज्ञान बढे और खूब आनन्द मिले। और इन दो बातोमे भी अधिकतर यह बात चाहते है कि हमको आनन्द मिले। ज्ञान पर भी हमारी अधिक दृष्टि नही रहती। तो मुख्य ध्येय है जीवका कि आनन्द प्राप्त हो। मगर वह आनन्द ज्ञानके साथ ही है, इस-लिए ज्ञान और आनन्द दोनोके लाभकी वांछा जीवके रहती है। और इसीलिए सर्वत्र यत्न भी करते, किन्तु आनन्द कही नही मिलता, उसका कारण यह है कि जो भी प्रयत्न करते हैं वह कषायवश करते है। पौरुष ही कषायका है। कभी धर्ममार्गमे भी चले तो वहाँ पर भी कषायके आधीन रहते हैं। जिसमे जो कल्पना की, जो मान लिया उसका पक्ष हो जाता। कहनेको तो यह है कि ज्ञानकी बात कही जा रही, पर प्रयोगमे यह है कि जो रुचा जो कषाय जगी बस उस ही का पक्ष है। तो धर्ममार्गमे भी ये निष्पक्षका व्यवहार नही कर पाते। लौकिक मार्गमे भी निष्पक्षताका आदर नही कर पाते। सो इष्ट विषयोमे राग बना हुआ है तो वास्तविक आनन्द इन्हे प्राप्त नही है।

यथार्थ आनन्द पानेके इच्छुकोंको अपने यथार्थ स्वरूपके व यथार्थ आनन्दके स्वरूपके परिचयकी प्रथमावश्यकता—जिसे सत्य आनन्द चाहिये उसको दो बातोका पुष्ट निर्णय करना होगा, एक तो यह कि मैं वास्तवमे क्या हू और एक यह कि आनन्द वास्तवमे कहलाता क्या है ? चाहने वाला और चाहे जाने वाली बात ये दो बातें यदि उपयोगमे सही हो तब तो मोड बनेगा, तो मैं वास्तवमे क्या हूँ, स्वय अपने आप सहज अपनी सत्तासे। मैं हूँ एक प्रतिभास स्वरूप पदार्थ। तो इसका नाम धरा जा सकता क्या ? और यदि नाम धरा जा सकता है तो वह सभीका एक ही नाम रहेगा। प्रतिभास स्वरूप आत्मपदार्थका कोई नाम धरेगा चेतन, आत्मा, जीव कुछ भी नाम धरेगा तो वह सबका नाम है। सबका न होकर मेरा ही नाम हो

ऐसा कोई नाम नही है जो मुझ चैतन्यस्वरूपका कहा जाय। जिसको नाम दिया गया है वह मैं नही हूँ, वह मैं परमार्थ नही हूँ। निरपेक्ष सहज तत्त्व नही हूं। जिसमे लोग नाम देते है वह अनेक वस्तुवोका पिण्डोला है। तो एक जीवद्रव्य और इसके साथ लगे अनन्त शरीर परमाणु और इसीके साथ लगे है अनन्त कर्मपरमाणु और साथ ही लगा है शरीर और कर्मके उम्मीदवार परमाणु। कर्मका उदय चल रहा है। इस भूमिपर छाया प्रतिबिम्ब हो रहा, निमित्तनैमित्तिक भाववश अनेक घटनायें चल रही हैं, इन सबका पिण्डोला है यह जिसका कि दुनियामे नाम धरा जाता है। तो जिसका नाम धरा जाय वह मै नही, जो वास्तवमे मैं हूं उसका नाम ही नही धरा जा सकता। और धरा जायगा तो वही सबका नाम है। मैं वास्तवमे यह हूँ ऐसा जब निर्णयमे आता है तो सारी बातोंका निर्णय बन गया कि परपदार्थ का मेरे साथ सम्बंध क्या है? कोई भी परपदार्थ मेरा नही है जहां यह आकिञ्चन्य भाव आये कि मेरा जगत्मे कुछ नही है, मैं मात्र मैं ही हू। तो वहां आनन्द पानेकी दिशा मिल जाती है।

मोहमें स्वयपर गजब सितमका ढाना—मोहमे कैसा गजब हो रहा है कि खुद ही तो मैं ज्ञानस्वरूप पदार्थ हू और खुद ही का ज्ञान नही हो पा रहा। कोई दीपक खुदका ही प्रकाश न करे और दूसरे पदार्थोंका ही प्रकाशक रहे ऐसा कोई दीपक अब तक नही देखा गया, मगर यह मोही आत्मा खुद ज्ञानमय होकर भी खुदका ज्ञान नही कर पा रहा है। यह गजबकी बात बन रही है। वेदान्तकी टीकामे एक उदाहरण दिया गया कि एक पुरुष किसी संन्यासीके पास पहुंचा और बोला—महाराज हमे ज्ञान नही है हमको ज्ञान दीजिए, तो संन्यासी बोला—भाई अमुक तालाबके अमुक घाट पर एक मगरमच्छ रहता है उसके पास जाओ वह तुम्हे ज्ञान देगा। पहुचा वह पुरुष मगरके पास और बोला—मगरराज मुझे आत्मा का ज्ञान दे दो। तो मगरराज बोला—भाई, मुझे बहुत जोरकी प्यास लग रही है। तुम्हारे हाथमे लोटा डोर है सो पासके उस कुवेंसे एक लोटा पानी भरकर पिला दो, अपनी प्यास बुझा लें तब फिर तुम्हे आत्माका ज्ञान दें। तो वह पुरुष बोला—मगरराज, हमे तो एक सन्यासीने आपको ज्ञानी समझकर आपके पास भेजा, पर आप तो पूरे मूर्ख दिखाई देते हो। ...कैसे ?... अरे आप स्वयं चारों ओर जलसे घिरे हुए है फिर भी कह रहे कि एक लोटा जल कुवेंसे भरकर दे दो, प्यासे हैं। तो मगर बोला—बस यही उत्तर तो तेरे लिए है। तू भी तो ज्ञानसे लबालब भरा हुआ है, ज्ञानघन है, ज्ञानसिवाय तेरा और कुछ स्वरूप नही है। ज्ञानमय पदार्थ है, फिर भी कह रहा कि मेरेको ज्ञान नही है, ज्ञान दे दो। सो जब अपने आपकी ओर दृष्टि हो, इन बाह्य पदार्थोंकी वाञ्छासे छुट्टी मिले तो निश्चित ही यह प्रयोग

रूपसे निज ज्ञानात्मक अन्तस्तत्त्वको जान लेता है। जगतमे कष्ट है कहां ? अपने स्वरूपके उपयोगमे न रहे और बाहरी पदार्थोंसे सुखकी आशा करने लगे तो वहां कष्ट हो गया। अपने स्वरूपको देखे और सत्य निर्णय रखें कि मेरेको आनन्द किसी बाहरी पदार्थसे मिलता ही नही है। मिल ही नही सकता और मिलनेकी जरूरत भी क्या है ? मैं तो स्वय आनन्दमय हू, अपने आपके एकत्वमे आयें तो मेरे सारे सकट समाप्त हो जाते हैं।

मोक्षप्राप्तिका उपाय उपयोगमे निज सहज स्वरूपकी सम्हाल—जिन्होने मोक्ष पाया उन्होने और किया ही क्या है ? अपने आत्माकी सम्हाल की है, अपनेको ज्ञानानन्द स्वरूप देखा है। उनके ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप ही समाया है। किसी भी परपदार्थसे आनन्द पानेकी उनके भावना नही रही, सो स्वमे स्वकी सम्हाल की है। यही काम किया है जिसमे कि मुक्ति प्राप्त हुई है। अब इन कामोको जो करेगा, जो अपने आत्माकी सम्हाल बनायेगा उसको अनेक बाधायें नियमसे होगी, क्योकि अनन्त भवोसे विषयोका सस्कार इन जीवोपर लदा आया है, सो एक बार सही ज्ञान हो जानेपर भी वे विषयसस्कार, वे दुर्भावनायें, वे सब सस्कार उखडते हैं, सामने आते है तो उनसे सुरक्षित होनेके लिए दिन-रातकी चर्यामे यह ज्ञानी अपनेको पवित्र रखता है जिससे कि व्यसन और पापका सस्कार मुझको हैरान न कर दे। उस सस्कार पर विजय पानेके लिए गृहस्थ गृहस्थधर्म जैसा आचरण करता है, मुनि मुनिधर्म जैसा आचरण करता है। धर्म यद्यपि दोनोका एक है, स्वभावदृष्टि करना और स्वभावरूप ही अपने आपको जानते रहना, यह प्रयोग करके तो कोई बताये कि सीधा यही काम खूब बन जाय, हो बन पाता। अनेक काम करने पडते है घर गृहस्थीमे अनेक बातें हैं और यह चित्त पूर्व सस्कारवश डगमग रहता है। तो इस अस्थिरताको दूर करनेके लिए व्रत, नियम, संयम रूपसे अपना जीवन बिताता है और ऐसे पवित्र जीवनमे पवित्र आत्मतत्त्वकी उपासना करता है। सो अभी गृहस्थको पूरा मौका नही मिल रहा, क्योकि घरके आरम्भ, घरके सम्बन्ध, घरके अनुराग, घरका बधन इसका चित्त डगमगाता रहता है। तो जिसमे वैराग्य विशेष बढा वह सबका त्याग करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जाता है, पर किसलिए हुआ वह निर्ग्रन्थ दिगम्बर ? एक इस स्वभावदृष्टिकी दृढ़ता बनाये रखनेके लिए धर्म प्रारम्भसे अन्त तक वास्तवमे एक ही रूप है। अपने आपको सहज दर्शन ज्ञानस्वरूप आनन्दमय निरखना। मैं यह हूँ। जैसा मैं हू परमार्थसे वैसा ही मैं दृष्टिमे रहू, इसके लिए ही सर्व व्यवहारधर्म पालन किए जा रहे हैं।

सुलक्ष्यविहीनतामे संसारविडम्बना—कोई व्यवहारधर्मका पालन तो करता रहे, सारी क्रियावोको तो निभाता रहे, पर मैं किसलिए कर रहा हू, इसका जिसको पता नही है

उसकी प्रगति कैसे बनेगी मोक्षमार्गमे ? जैसे कोई नाव पर बैठकर खुद ही नावको खूब खेता रहे और उसका कोई लक्ष्य नही बना है कि हमको कहाँ पहुंचना है ? तो वह कभी इधर नाव खेया, कभी उधर नाव खेया, यो ही भटकता फिरेगा। उसने चारो तरफ नावके खेनेका परिश्रम तो किया, मगर फायदा कुछ नही होता, क्योकि हमे कहाँ पहुंचना है यह उसके मन मे था ही नही। ऐसे ही हम कार्य तो सारे करें व्यवहार धर्मके, और उद्देश्यका पता न हो कि ये सब मै किसलिए कर रहा हू तो उससे मोक्षमार्गका लाभ नही मिल पाता। मेरेको कार्य केवल एक यही करना है अन्तरंगमे कि मैं सहज ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र हूँ। मै अपनी सत्तासे केवल अपने स्वरूप मात्र हूँ। मेरेमें मेरे स्वरूपमे अन्य पदार्थका प्रसग नही। मेरे स्वरूपमे विकारभाव नही, विकार नही है, उपाधिकी छाया है, परभाव है, मेरा स्वरूप नही। मैं केवल प्रतिभास स्वरूप हू। सो यही मैं अपनी निगाहमे बना रहूं, बस यही एक काम करनेको पडा है। अब काम तो एक ही है धर्मपालनके लिए, मगर कोई भी करके दिखा तो दे, क्योकि ऐसा अशुद्ध जीव है भव-भवके बाँधे हुए कर्मोंका विपाक है, अपने आपके विकार का चलन है कि जिसकी वजहसे ऐसा अनुभवन बनता नही है। जो उल्टा हम चल रहे है उसको दूर करनेका भी तो पौरुष होना चाहिए। बस वह पौरुष है साक्षात् व्यवहारधर्म।

यथाशक्ति चारित्रपालन—चरणानुयोगके अनुसार यथाशक्ति बताये गए व्यवहारधर्म का पालन करते हुए जो स्वभावदृष्टिका भीतरमे प्रयोग बनानेका पौरुष करता है वह सफल होता है, और जो यथा तथा जैसा चाहे स्वच्छद व्यवहारसे जीवन गुजारता है उसको स्वभाव दृष्टिका अवसर नही आ पाता। प्रभुभक्ति इसीके मायने है कि जिस मार्गसे प्रभु चले उस मार्गके प्रयोगसे हमे चलना चाहिए। यदि यह देहका वासनाका बंधन न होता तब तो कुछ करनेकी जरूरत भी न थी। यह तो स्वय आराममे था, पर इतने बंधनोमे रहते हुए इतने विचार विपरीत विपरीत उठते हैं तो उन विपरीत विचारोको तो दूर करना है, और उसका साक्षात् उपाय है व्यवहारधर्म। यम, नियम, संयम, तप आदिक, प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, सत्सग और इन सबको करते हुए लक्ष्य रहता है ज्ञानीका स्वभावदृष्टि। तो चरणानुयोगके अनुसार अपना जीवन बनाकर जैसा कि सबके लिए बताया, कम विरक्त है उस गृहस्थको बताया, कुछ अधिक विरक्त है उसको बताया, पूर्ण विरक्त है उसको बताया। उसके अनुसार अपना जीवन चलाते हुए स्वभावदृष्टि करना यह है धर्मपालन।

साधनारम्भमें ज्ञानीकी अन्तर्वृत्ति—ऐसी कल्पना करना कि मैं जो कर रहा हू सो ठीक कर रहा हूँ और दूसरे साधक लोग जो कर रहे है वे गलत कर रहे है, ऐसी भावना ज्ञानीमे नही होती। ज्ञानी पुरुष तो अपने आपके अन्दर कमी देखनेकी आदत रखता है,

मुझमे क्या दोष रह गए, क्या कमी रह गई, यह निरखनेकी आदत ज्ञानीके होती है। मैंने कितने गुण पा लिये, यह निरखनेकी आदत ज्ञानीमे नही होती, क्योंकि अपने अन्दर कमी (दोष) निरखनेकी बात रहेगी तो उन दोषोको टालनेका यत्न करेगा और जो गुणविकास हुआ उस ही को देखनेकी लत रहेगी तो उसके अहंकार जगेगा और जो गुण पाया है उसे भी खत्म कर डालेगा। इसीलिए स्पष्ट बताया है कि ज्ञानी अपनी निन्दा, अपनी गर्हा करता है, दूसरेकी निन्दा नही किया करता, स्पष्ट लक्षण है। जैसे किसी संन्यासीका हृदय पहचाननेके लिए बाह्य लक्षण, मोटा लक्षण यह है कि वह अपने पैरोमे जूते डालकर न चलेगा, क्योकि जूते पहिनकर चलने वाले संन्यासीके जीवदयाका भाव नही, नम्रताका भाव नही, कुछ गर्व भी रहेगा, वे सब बातें उसमे आती जाती। कहनेको एक बाहरी बात है। तो ऐसे ही समझिये मोटा लक्षण कि जो परनिन्दा करे, दूसरेके दोष निहारता रहे और दोषोको बताते रहने से ही अपनेको धर्मपालन माने और उसीमे ही जीवन गुजारे, वह ज्ञानीका चिन्ह नही है। जो सर्व जीवोमे अपने समान स्वरूपको निरखता है वह तो विरोधीपर भी यह दृष्टि रखता है कि यह मेरा कुछ विरोध नही कर रहा। ये सब कर्मोंके उदय हैं और वहाँ ऐसा ही बर्त रहा है, यह जीव तो निरपराध है। तो सर्व जीवोमे एक सहज परमात्मतत्त्वके दर्शन होना यह ज्ञानी की आदत है। दूसरेके दोष निरखना यह ज्ञानीकी आदत नही है। सो ऐसे आत्मज्ञान द्वारा जिसने दुर्धर इन्द्रियको जीत लिया उसका ही जीवन प्रशंसनीय है और वह सब अनर्थोंसे छूट गया है और वही वास्तविक आनन्दका पात्र है।

६—स्त्रीगुणदोषविचार

उद्यद्‌गंधप्रबंधा परमसुखरसा कोकिलालापजल्पा
पुण्यंसक्षोकुमार्या कुसुमशरबधूं रूपतो निर्जयंती।
सौख्यं सर्वेंद्रियाणामभिमतममितः कुर्वंती मानसेष्टं
सत्सौभाग्या लभंते कृतसुकृतवशाः कामिनी मर्त्यमुख्याः ॥१०३॥

पुण्यका लौकिक फल—इस प्रकरणमे स्त्री सम्बधी गुण और दोषोका विचार किया गया है। इस छंदमे यह बतला रहे है कि उत्तम स्त्री किसी पुण्यवान पुरुषको ही प्राप्त होती है। जिसका शरीर सर्वदा सुगधित रहा करता है। जो परम सुख रसका अनुभव कराती है। कोयल जैसे मीठे मीठे वचनोको जो बोलती है। समस्त इन्द्रियोको सुख प्रदान करने वाली और मनके अभीष्टको सिद्ध करने वाली, जिसका फूलकी मालाके समान कोमल शरीर है, ऐसी स्त्री किसी मुख्य मनुष्यको ही प्राप्त होती है। स्त्रियोमे जहाँ शारीरिक दोष है वहाँ किसी

पुण्यवानमे शारीरिक उतने दोष नही होते। जैसे कई स्त्रियाँ दुर्गन्धित शरीर वाली होती है, पर अनेक स्त्रियोके दुर्गन्ध नही होती, प्रत्युत लुभाने वाली गध भी मिलती है। राग स्वर अच्छा होना यह स्त्रियोमे प्रधानतया गुण पाया जाता है। तो ऐसी स्त्री उन पुरुषोको प्राप्त होती है जिन लोगोने पूर्व जन्ममे पुण्य किया है। जिसके सौभाग्यका सितारा देदीप्यमान है, स्त्रियोके इतनी सुन्दरता होती है जो रूपसे कामदेवकी स्त्री रतिको भी जीत ले। वस्तुतः जिन पुरुषोके वैराग्य है उनको तो सुन्दरता जंचती है। सो लौकिक दृष्टिमे जो विशेष सुन्दरता मानी गई है वह भी पुण्यके उदयसे प्राप्त होती है। तो ऐसी स्त्री जो सुन्दरतामे कामदेवकी स्त्री रतिको भी जीत ले वह उन्ही पुरुषोको मिलती है जिन्होंने पूर्वभवमे कुछ ठीक भाव किया, जिससे ऐसे पुण्यका बंध किया। इस छदमे यह गुण प्रधानदृष्टिसे कहा जा रहा है कि आज्ञाकारिणी सुन्दरी मधुर वचन बोलने वाली स्त्री भाग्यवान पुरुषोको प्राप्त होती हैं।

अक्ष्णोर्युग्मं विलोकान्मृदुतनुगुणतस्तर्पयती शरीर,
दिव्यामोदेन वक्त्रादपगतमरुता नासिका चारुवाचा।
श्रोत्रद्वद्व मनोज्ञाद्रसनमपि रसादर्पयती मुखाब्जं
यद्वत्पंचाक्षसौख्यं वितरति युवतिः कामिनां नान्यदेवं ॥१०४॥

लोकमें युवतियोकी तृप्तिकारिता—इस छदमे स्त्रियोकी महत्ता बतायी गई है। देखनेसे जो नेत्रोको तृप्त करती है याने इतनी शान्ति सुन्दरता जिन स्त्रियोमे है कि उन्हे देखने से देखने वालेके नेत्र तृप्त हो जाते है। जिसके कोमल शरीरके स्पर्शसे शरीर तृप्त होता है, जिसके सुगंधित मुखकी गंधसे नासिका तृप्त होती है। मीठी-मीठी वाणीके सुननेसे कर्ण तृप्त होते है, मुखकमलके अर्पण किए जानेसे जिह्वा तृप्त होती है अर्थात् कामियोको पञ्चेन्द्रियके सुख देने वाली जो स्त्री है वह इस लोकमे लौकिक जनो द्वारा ऐसी उत्तम मानी जाती है कि जैसा मानो अन्य कुछ न हो, इस छदमे स्त्रियोकी प्रशंसा की है। ये सब प्रशसायें की जा चुकेंगी, उसके बाद जब वैराग्यका प्रकरण होगा और ऐसी स्त्रियां भी परिहार्य है, उनके दोष की बात आयगी तब उनका परिहार करनेमे सुगमता मिले, यह बात सुगमतया समझमे आयगी।

या कूर्मोच्चांघ्रिपृष्ठारुणचरणतला वृत्तजघा वरोरूः।
स्थूल श्रोणीनितंबा प्रविपुलजघना दक्षिणावर्तनाभिः।
इन्द्रास्त्रक्षाममध्या कनकघटकुचा वारिजावर्त्तकठा
पुष्पस्रग्बाहुयुग्मा शशधरवदना पक्वबिंबाधरोष्ठी ॥१०५॥

संजृम्भत्पाण्डुगण्डा, प्रचकितहरिणीलोचना, कीरनासा,
सज्येष्वासाननभ्रू, सुरभिकचचया, त्यक्तपद्मेव पद्मा ।
अंगैरंगं भजतो धृतमदनमदे. प्रेमतो वीक्ष्यमाणा
ने दृश्यस्यास्ति पोषा स किमु वरतपो भक्तितो नो विधत्ते ॥१०६॥

सुमहिलावोकी महत्ता—इन दो छदोमे यह बताया है कि ऐसी स्त्री जिस पुरुषके पास नही है वह पुरुष इस ससारमे भाग्यहीन है । यह सब लौकिक दृष्टिसे वर्णन किया जा रहा है ताकि ऐसी स्त्रियोको छोड देने वाले यतिराजोके प्रति भक्ति विशेष उमडे । जो सुन्दर और दुनियामे शोभायोग्य चीज है उसे भी जो छोड सके वह बडा विजयी पुरुष कहलाता है । जिस स्त्रीके चरणोका पृष्ठ भाग कछुवेके समान ऊँचा है अर्थात् पैरका ऊपरी भाग ऊँचा होना है तो वह भाग्यवान समझा जाता है । जिसके चरणोके तल भाग लाल हैं, जघायें गोल है और जघावोके नीचे, घुटनेके नीचे जो ऊरू भाग है वह भी सुन्दर है, जिसमे श्रोणी और नितम्ब स्थूल है, जघन्न भाग विपुल है, नाभि भ्रमरके समान दक्षिणवर्त है अर्थात् दक्षिणकी ओर मुडेर लिए हुए है । कमर वज्रके समान पतली है । कुचा स्वर्णकलशके समान स्थूल है, ग्रीवा अर्थात् गला शंखके समान है, ऊँचा-नीचा है । भुजायें पुष्पमालाके समान गोल हैं, मुख चद्र सरीखे है, ओठ पके हुए बिम्ब फल जैसा लाल है, ऐसा पुण्य जिसपर झलक रहा है । सुन्दर शरीर वाली स्त्री किसी भाग्यवानको प्राप्त होती है । इन कथनोसे दृष्टि कहाँ ले जानी चाहिये कि ऐसी सुन्दर योग्य हजारो स्त्रियोको भी त्यागकर मुनि बने है बडे बडे चक्री तो उनका मन कितना ऊँचा है, कितना उनको तत्त्वज्ञान है । तो वे ही पुरुष मोक्षमार्गके वास्तविक पात्र है । जिन स्त्रियोके कपोल पीले है, नेत्र भयभीत हिरणीके समान चचल हैं, नाक तोतेकी नाककी तरह पतली और लम्बी है । जिनकी भौहे चढे हुए बाणसे युक्त धनुषके समान है, जिनके केश कोमल सुरभि गायकी तरह लम्बे है जो कमलको छोडकर स्थल पर रहने वाली मानो साक्षात् लक्ष्मी ही है । प्रेमसे देखे जानेपर शरीरके अवयवोको कामचेष्टासे युक्त अपने शरीरके अवयवोके साथ मिलान कर आनन्द प्रदान करती है, ऐसी स्त्री जिसके नही है वह भक्तिसे उत्कृष्ट तप क्यो नही करता अर्थात् इस छदमे यह बताया है कि बडे पुण्यके प्रसादसे ऐसी स्त्री प्राप्त होती है ।

सत्यक्तव्यक्तबोधस्तरुरपि बकुलो मद्यगण्डूषसिक्त
पिंडीवृक्षश्च सुचुश्चरणतलहतः पुष्परोमांचमर्च्यं ।
सौख्य जानाति यस्या जितमदनपतेर्हाविभवास्पदाया-
स्तां नारी वर्जयतो विदधति तातोप्यूनमात्मानमज्ञाः ॥१०७॥

नारीकी विशेषता—इस छंदमे भी स्त्री जनोंकी प्रशंसा बतायी है कि भाग्यवान स्त्रियोंको जो मनुष्य छोड देते हैं उनको वृक्षसे भी न्यून गिना जाता है। युवती स्त्रियोंके कुल्लोसे बकुलवृक्षकी कलियाँ खिल जाती हैं, जिनके पैरोकी ताड़नासे अशोकवृक्ष फूल उठता है, ऐसा कविजन अपने काव्योंको बताते है। उसके अनुसार इस छंदमे बताया है कि जिन स्त्रियोके स्पर्श मात्रसे एकेन्द्रिय अल्प ज्ञानी अज्ञानी वृक्ष तक भी प्रसन्न हो जाते, उन्हे भी जो लोग रुष्ट होकर छोड देते हैं वे मानो वृक्षसे भी अल्प ज्ञान वाले है।

गौरी देहार्धमीशो हरिरपि कमलां नीतवानत्र वक्षो
यत्संगात्सौख्यमिच्छुः सरसिजनिलयोष्टार्धवक्त्रो बभूव ।
गीर्वाणानामधीशो दशशतभगतामाप्तवानस्तधैर्यः
सा देवानामपीष्टा मनसि सुवदना वर्तते नुर्न कस्य ॥१०८॥

नारीकी लोकाभिलषितता—जिस स्त्रीके फंदेमें पडकर बडे-बडे देवता लोग भी अपनी शक्तिको खो बैठे हैं और उनके सेवक बन गए हैं, भला वे उत्तम बदन वाली स्त्रियाँ किस मनुष्यकी जितेन्द्रियताको वश न करेंगी अर्थात् बडेसे बडे जितेन्द्रिय भी स्त्रियों द्वारा चलित हो गए। देखो महादेवने गौरीको अपने आधे अंगमें रखकर सदाके लिए अर्द्धांगिनी बना डाला। कृष्ण जी लक्ष्मीके मोहमे इतना फंसे कि वे उसे रात-दिन अपने वक्षस्थल पर ही रखे रहा करते थे। ब्रह्माने स्त्रीविषयसुखकी इच्छासे चार मुख कर लिए। और इन्द्रने तो इतनी बेसब्री की कि अपने हजार नेत्र बना डाले। इस छंदमें यह बताया है कि बडे बडे पुरुष और कोई-कोई तपस्वी भी स्त्रीसुखकी लम्पटतासे विडम्बनाको प्राप्त हुए। यह वर्णन सुनकर इस ओर ध्यान देना चाहिए कि जो विरक्त पुरुष ऐसी स्त्रियोका भी परित्याग कर देते है उन्होने कितना ऊँचा आत्मीय आनन्दका अनुभव किया होगा जिसके कारण दुनियासे न त्यागने योग्य स्त्रियोको भी त्याग देते हैं।

यत्कामार्ति धुनीते सुखमुपचिनुते प्रीतिमाविष्करोति
सत्पात्राहारदानप्रभववरवृषस्यास्तदोषस्य हेतुः ।
वंशाभ्युद्धारकर्तुर्भवति तनुभुवः कारणं कांतकीर्ति-
स्तत्सर्वाभीष्टदात्री प्रवदत न कथं प्रार्थ्यते स्त्रीसुरत्नं ॥१०९॥

स्त्री जनोंकी लोकाभ्यर्थितता—इस छंदमें बताया है कि ऐसी स्त्रीको चाह कौनसा मनुष्य नही करता? किसकी प्रार्थनाके योग्य नही होती जो स्त्री कामपीडाको दूर करती है और सुख प्रदान करती है। बात बातमे प्रेम प्रकट करती है। जो निर्दोष पुण्यमें सहायता करती है अर्थात् गृहस्थका कर्तव्य है कि सत्पात्रको दान दे तो सत्पात्रके योग्य आहार बनाये

तब ही तो दान दिया जा सकता। तो यह कार्य स्त्रियोकी व्यवस्थामे होता है। तो सत्पात्रके दिए गए आहार दानसे उत्पन्न जो निर्दोष पुण्य है उस पुण्यके लाभमे मदद करती है। जो वंशका उद्धार करने वाले पुत्रको जन्म देती हैं। ऐसी सभी मनोकामनायें पूर्ण करने वाली स्त्री श्रेष्ठ रत्नके समान है। और रत्न बताये ही गए है १४। उन रत्नोमे एक स्त्रीरत्न भी कहा है। कन्यारत्न भी कहा है। तो ऐसी योग्य स्त्री किसके द्वारा प्रार्थना किये जाने योग्य नही होती।

कृष्णत्वं केशपाशे, वपुषि च कृशतां, नीचतां नाभिबिंबे,
वक्रत्वं भ्रूलतायामलककुटिलतां, मंदिमानं प्रयाणे।
चापल्यं नेत्रयुग्मे, कुचकलशयुगे कर्कशत्वं दधाना,
चित्रं दोषानपि स्त्री लसति मुखरुचा ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥११०॥

स्त्रीसंगसे दोषोकी लोकमें गुणरूपता—जो बातें दूसरी जगह दोषमे शामिल की जाती है वे ही बातें देखिये स्त्रियोमे गुण समझी जा रही है। जैसे कालापन यह दोषमे गिना गया है, मगर स्त्रियोके केशपाशमे अत्यन्त अधिक कालापन है और वह शोभा और गुणमे शामिल है। नीचता यह दोष माना गया है, सो नाभिमे नीचता होना अर्थात् गहराई होना यह गुण कहा गया है। वक्रता याने टेढापना होना जगतमे निंद्य माना गया है, किन्तु नेत्रके ऊपर होने वाली भौंहोमे वक्रता होना, यह शोभामे शामिल है और उससे भाग्यवान स्त्रीका बोध होता है। कृषता याने क्षीण होना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रीके शरीरमे क्षीणता हो अर्थात् मोटापा न हो तो वह गुण माना गया है। कुटिलता, अत्यन्त टेढापन या कई जगह टेढापन होना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रीके केश यदि अनेक जगह टेढे हो-होकर लहरायें तो वह शोभामे शामिल किया गया है। मदपना यह दोष माना गया है, किन्तु स्त्रियो की गतिमे जो मदपना है वह गुण समझा गया है। चपलता दोष है, किन्तु स्त्रीजनोके नेत्र चचल होते है। छिनमे कही देखना छिनमे कही देखना और नेत्रका चलना यह उनमे शोभा मानी गई है। कठोरता याने कडापन होना यह दोष माना गया है, पर स्त्रियोके कुचोमे कठोरता होना दुनियामे शोभाकी बात मानी गई है अर्थात् काव्योमे कविजन इस प्रकार शोभाका वर्णन करते है। इस छदमे यह बताया गया है कि स्त्री एक ऐसा विचित्र पदार्थ है कि जिसमे दोष आकर भी गुण बन जाया करते है। सो ये सब बातें, कामीजनोके भावोकी बातोके अनुसार हैं। वस्तुतः जो ऐसी स्त्रियोको भी त्याग देते है, प्रशसनीय पात्र तो वे कहलाते है।

बाहुद्वंद्वेन माली, मलविकलतया पद्धतोस्वर्भवानां,
हंसी गत्यान्यपुष्टी मधुरवचनतो, नेत्रतो मार्गभार्या ।
सीतां शीलेन, कांत्या शिशिरकरतनु, क्षांतितो भूतधात्री
सौभाग्याद्या विजिग्ये गिरिपतितनयां, रूपत: कामपत्नी ॥१११॥
वक्षोजौ कठिनौ, न वाग्विरचना, मंदा गतिर्नोमति,
वक्रं भ्रूयुगलं मनो न जठर, क्षाम नितबो न च ।
युग्म लोचनयोश्चलं, न चरितं, कृष्णा कचा, नो गुणा,
नीचं नाभिसरोवरं, न रमण, यस्या मनोज्ञाकृते: ॥११२॥
स्त्रीत: सर्वज्ञनाथ: सुरनतचरणो जायतेऽबाधबोध-
स्तस्मात्तीर्थं श्रुताख्यं जनहितकथकं मोक्षमार्गावबोध ।
तस्मात्तस्माद्विनाशो भवदुरिततते: सौख्यमस्माद्विबाधं
बुध्वैन स्त्री पवित्रा शिवसुखकारिणी सज्जन: स्वीकरोति ॥११३॥

महापुरुषोकी जननी—वंदनीय जो सर्वज्ञ देव हुए है वे भी आखिर स्त्रियोसे ही तो उत्पन्न हुए । जो सर्वज्ञदेव सच्चे शास्त्रोका उपदेश देते हैं, जिन सच्चे शास्त्रोसे मोक्षमार्गका ज्ञान होता है, मोक्षमार्गके ज्ञानसे संसारका नाश होता है अर्थात् ससारसे छुटकारा होता है । संसारसे छुटकारा मिलनेपर बाधारहित नित्य आत्मीय अनन्त मोक्षका आनन्द मिलता है । तो ऐसे सर्वोपकारी सर्वज्ञदेव भी स्त्री जनोसे उत्पन्न हुए है वे स्त्री जन भाग्यवान है । जिस स्त्रीकी बाहे पुष्पमालासे भी अधिक कोमल है, जो निर्मलतामे आकाशको भी मात करती है, जिसका गमन हंसके गमनसे भी मंद मद होता, जिसके वचनमाधुर्यसे कोकिलसे भी मीठे है । जो नेत्रोकी चंचलतासे हिरणीको भी जीत लेती है, जो शील द्वारा सीताको होड करती है, जिसकी कांतिसे चंद्रमाकी भी कांति फीकी पड जाती है, जिसमे क्षमा पृथ्वीसे भी अधिक होती है, ऐसी स्त्रीको लोग परम्परासे मोक्षका कारण जानकर, पवित्र जानकर हर्षके साथ स्वीकार करते है यहाँ जो परम्परासे मोक्षका कारण यह शब्द कहा है, उसका भाव यह है कि ऐसी स्त्रियाँ आहारदान आदिकमे सहयोग देती है । गृहस्थधर्मके पालनेमे उन्हे उत्साह होता है । इस कारणसे उनके संगसे भावोमे शुभ अशुभकी बात विशेष बनती है, इस कारण कहा है । जिन स्त्रियोका सौभाग्य पार्वतीके सौभाग्यसे भी बढा-चढा है । जो रूप द्वारा रतिके रूपको जीतती है, जिसके सिर्फ कुच ही कठिन है, वचन कठिन नही है, जिनकी गति ही मंद है, बुद्धि मद नही है, भौहे ही टेढी है, मन टेढा नही है । उदर ही कृप है, विचार कृष नही है । नेत्र ही चंचल है, चरित्र चचल नही है । केश ही काले है, गुण काले

नही हैं अर्थात् दोषवान नही है। नाभि ही निम्न है, पर जिसके कार्य निम्न नही, ऊँचे है, ऐसी स्त्रीको पवित्र जन, सज्जन पुरुष हर्षके साथ स्वीकार करते है। यहाँ यह प्रशंसा करके यह बात दिखाई जायगी कि ऐसे स्त्री जनोको भी जो त्याग देते है वे पुरुष बडे विजयी पुरुष हैं।

भृत्यो मंत्री विपत्तौ भवति रतिविधौ याऽत्र वेश्या विदग्धा,
लज्जा लुर्या विगीता गुरुजनविनता गेहिनी गेहकृत्ये।
भक्त्या पत्यौ सखी या स्वजनपरिजने धर्मकर्मैकदक्षा
साल्पक्रोधाल्पपुण्यैः सकलगुणनिधिः प्राप्यते स्त्री न मर्त्यैः ॥११४॥

नारीका चातुर्य—जो स्त्री विपत्तिमे चतुर स्त्रीका काम करती है याने विपत्तिके समय सही मंत्रणा देकर विपत्तियोसे बचानेका प्रयत्न कराती है। जो स्त्री रतिके समय वेश्या से भी अधिक चतुराई दिखाती है। जो स्त्री पति द्वारा निन्दित होकर लज्जाये नीचा मुख कर लेती है, जो स्त्री गुरुजनोंके प्रति विनय करती है, ज्येष्ठ सास ससुर आदिक बडे पुरुषोका विनय रखती है, घरके काम-काज करनेमे चतुर होती है, जो स्त्री भक्तिसे मित्रके समान पति का काम करती है, जो धर्मकर्म करनेमे चतुर है, अतएव किसी-किसी प्रसगमे कार्यसिद्धिके लिए स्वजन और परिजनोमे अल्प क्रोध दिखाती है वह स्त्री समस्त गुणोकी खान है। वह अल्प पुण्य वाले मनुष्योके भाग्यमे नही होती। दुनियामे देखा जा रहा है कि सभी पुरुषोके स्त्री है, पर अवसर किसीकी स्त्री कटुस्वभाव वाली है, जिससे मन न मिले, जिद्दी टाइपकी है, अनेक प्रकारकी बातें है, पर कोई स्त्री हर प्रकारसे घरके कामोमे मददगार सबको सतुष्ट रखने वाली नाना गुणोकी खान होती। वे स्त्रियाँ अल्प पुण्य वाले मनुष्योके भाग्यमे नही है, जिन्होने पूर्व जन्ममे महान् पुण्य किया, उनको ही ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त होती है। यहाँ यह विशेष जानना कि महापुरुष ऐसी विशिष्ट स्त्रियोको भी त्यागकर केवल अपने आत्मामे रमण करते हैं। उन पुरुषोका कितना ऊँचा ज्ञान और वैराग्य होता है।

कृत्याकृत्ये न वेत्ति त्यजति गुरुवचो नीचवाक्य करोति,
लज्जालुत्व जहाति व्यसनमतिमहद्गाहते निन्दनीय।
यस्यां शक्तो मनुष्यो निखिलगुणरिपुर्माननीयोऽपि लोके,
सानर्थानां निधान वितरतु युवतिः किं सुख देहभाजाम् ॥११५॥

स्त्रीसंगसे पुरुषोंके विवेकका ह्रास—ऊपरके कुछ श्लोकोमे स्त्रियोके गुण बताये गए, अब जो मनुष्य स्त्रीजनोमे आसक्त रहते है वे करने योग्य और न करने योग्य अर्थात् अच्छे और बुरे कामको नही विचारते। वे मनुष्य गुरुवचनोका पालन नही करते, उनकी उपेक्षा

करते हैं, वे पुरुष नीच पुरुषोंके बहकायेके अनुसार चलते हैं। कामासक्त पुरुष लज्जा गुणको छोड़ देते है अर्थात् बेशर्म होकर अटपट प्रवृत्ति करने लगते है। कामासक्त पुरुष निन्दनीय व्यसनोमे फस जाते है। चाहे वे कितना भी मान्य हो, पर उनके समस्त गुण भस्म हो जाते है। तो यों यह स्त्री कितने ही गुणोंकी खान हो तो भी पुरुष आत्माके लिए किसी भी प्रकार हितकारी नही है। ऐसे महान् अनर्थकी खान स्त्री संसारमे अच्छे मनुष्योंको कैसे सुख दे सकती है? तब विचारशील पुरुषोका कर्तव्य यही है कि वे कामविषयक भावोंको मूलसे नष्ट करके स्त्री संसर्गको तज दें, और स्त्रीविषयक मनमे रंच भी भावना, आशा, प्रतीक्षा मत रखें। आत्मानुभवके लिए ही अपना जीवन समझें।

शश्वन्मायां करोति स्थिरयति न मनो मन्यते नोपकारं,
या वाक्यं वक्त्यसत्यं मलिनयति कुलं, कीर्तिवल्ली लुनाति।
सर्वारम्भैकहेतुर्विरतिसुखरतिध्वंसिनी निंदनीया,
तां धर्मारामभंक्त्री भजति न मनुजो मानिनीं मान्यबुद्धिः ॥११६॥

स्त्रियोंकी प्रकृतिका वर्णन—स्त्रियां प्रकृत्या ही सदा माया करती हैं। वह भव ही ऐसा है कि जो मायाचारके फलमे प्राप्त हुआ है। स्त्रियोंका मन 'कभी स्थिर नहीं होता, चचलता उनकी प्रकृतिकी देन है। स्त्रीजन उपकारियोका भी उपकार नही मानतीं अर्थात् अपना दाव पडनेपर सबका ही अपकार कर बैठती हैं, स्त्रीजन झूठ बोलनेमें बड़ी चतुर होती हैं। कितनी जल्दी किस बातको बदल दें, किस तरहसे पेश कर दे, यह उनकी प्राकृतिक देन है। स्त्री जन अपने चारित्रसे कुलमे भी धब्बा लगा बैठती है। स्त्रीजन कीर्तिरूपी लताको काट डालती है अर्थात् अपनी कीर्ति कायम बनाये रखें, ऐसी उनकी आदत नही होती। कीर्ति रहे या कुलमे धब्बा रहे जो उनके मनमे आता है उस कषायके अनुसार अपनी चेष्टा करती है। ऐसी इन स्त्रियोके कारण मनुष्योको बड़े आरम्भ और परिग्रहोमे फंसना पड़ता है। आत्मार्थीका तो कर्तव्य यह है कि अपने एकत्वगत आत्मस्वरूपका ध्यान रखें, उसकी ही उपासनामें रहे, अन्य समागम न चाहे, फिर स्त्री समागम तो एक विडम्बनाका कारण होता है। स्त्रीकी संगति रखने वाले पुरुष वैराग्यजन्य सुखसे हाथ धो बैठते हैं। अतएव जो विचारशील पुरुष है वे धर्मके मूलको काटने वाली स्त्री जनोका सेवन नही करते और उनसे दूर ही रहा करते है।

या विश्वासं नराणां जनयति शतधालीकजल्पप्रपञ्चै-
र्न प्रत्येति स्वयं तु व्यपहरति गुणानेकदोषेण सर्वान्।

कृत्वा दोष विचित्रं रचयति निकृति यात्मकृत्यैकनिष्ठा,
ता दोषाणां धरित्री रमयति रमणी मानदो नो वरिष्ठः ॥११७॥

स्त्रियोका अन्तःकरण—जो स्त्रियाँ मनुष्योसे सैकडो बातें कहकर अपना विश्वास उत्पन्न करा देती है, पर स्वय किसीका विश्वास नही करती। जो जीव स्वय अविश्वसनीय हैं, विश्वासघात किया करते है उनको दूसरोपर विश्वास नही हो पाता। स्त्रीजनोमे ऐसी कला है कि कई प्रकारके वचनालाप द्वारा दूसरोका विश्वास करा दें, पर स्वय दूसरोका विश्वास नही करती। ये स्त्रीजन एक दोपसे ही दूसरे समस्त गुणोपर पानी फेर देती है अर्थात् एक दोष ही कोई व्यक्त कर दें तो बाकी गुणोपर फिर कोई प्रकाश नही रहता। स्त्री जन नाना प्रकारके विचित्र ढोग रचकर लोगोकी दृष्टिमे निर्दोष बनी रहती है। चाहे हो स्वय सदोप और कितने ही भीतर दोष बसे हो, उनको वे ही जानें, लेकिन अपनी वचनकलासे, अन्य कलावोसे ढोग रचकर लोगोकी दृष्टिमे अपनेको ऐसा सिद्ध कर देती है कि मानो वे अत्यन्त निष्कलक है। जो स्त्रोजन अपना ही अपना स्वार्थ साधती रहती है सो ऐसे स्त्री जनोको श्रेष्ठ पुरुष, विवेकी जन कभी स्वीकार नही करते।

उद्यज्ज्वालावलीभिर्भवरमिह भुवनप्लोषके हव्यवाहे,
रुगद्वीचौ प्रविष्ट 'जलनिधिपयसि ग्राहन क्राकुले वा।
संग्राम वारिरौद्रे विविध शरयुतानेकयोधप्रधाने
नो नारीसौख्यमध्ये भवशतजनितानतदुःखप्रवीणे ॥११८॥

स्त्रीसुखकी कष्टकारिता—इस छदमे बतला रहे है कि स्त्रियोके सुखमे पडकर जीवो को सैकड़ो और हजारो भवोमे दुःख ही दुःख भोगना पडता है। चाहे तीनो लोकको जला देनेमे समर्थ अग्निकी तेज ज्वालामे जल-भुनकर खाक हो जाय तो भी स्त्रीसुखमे पडनेकी अपेक्षा अच्छा है। पर स्त्रीसुखमे पडकर बेसुध हो जाना यह भला नही है, क्योकि इससे सैकडो और हजारो भवोमे दुःख उठाना पडता है। अग्निमे जलकर तो एक बार ही खाक हुआ, पर स्त्रीसुखमे आसक्त होकर यह भव-भवमे दुःखी रहेगा। चाहे कोई लहर और मगर मच्छोसे व्याप्त समुद्रके जलमे गिर जाय तो वह अच्छा है, स्त्रीसुखमे पडनेकी अपेक्षा अच्छा है, पर स्त्रीसुखमे पडकर तो यह हजारो भवोमे दुःख भोगेगा। किसी जल जंतु व्याप्त लहरो से परिपूर्ण समुद्रमे गिरनेसे एक ही भवमे मरता है, पर स्त्रीप्रसगसे भव-भवमे जन्म मरण करना पडता है। कोई पुरुष नाना शस्त्रोके धारक योद्धावोके युद्धमे उन वैरियोके बाणोसे प्राण दे दे तो भी उसका परस्त्रीके सुखमे पड़कर बेसुध करना और भव-भवमे दुःख पाना भला नही है, सांसारिक अनेक दुःखोका घर है यह स्त्रीसुखमे पडना, इससे आत्मा अपने स्व-

रूपकी सुध खो बैठता है और भव-भवमे जन्म मरण आदिकके दुःख भोगता है ।

विद्युद्द्योतेन रूप रजनिषु तिमिरे वीक्षितुं शक्यते यैः,
पारं गंतु भुजाभ्यां विविधजलचरक्षोभिणां वारिधीनां ।
ज्ञातु पारोऽमितनां विदति विचरतां ज्योतिषां मडलएव,
नो चित्तं कामिनीनामिति कृतमतयो दूरतस्तास्त्यजंति ॥११९॥

स्त्रियोंके चंचल मनके पारकी अशक्यता—लोग बड़ी विकट अंधेरी रातमे बिजलीके सहारे रूप देख सकते है । लोग नाना प्रकारके जलचरोसे व्याप्त समुद्रको भुजाओसे तैरकर पार कर सकते है और अनेक लोग अनगिनत आकाशके तारोको भी किसी न किसी प्रकार गिन सकते है, परन्तु स्त्रीके चचल मनकी बातका पार ये कोई पुरुष पा नही सकते । जिसके मनका कुछ पता ही न पड़े उसकी संगति इस जीवको बहुत कष्टप्रद है । सो बुद्धिमान् पुरुष स्त्रीसगतिसे दूर ही रहा करते है । इस छदमे यह बताया गया है कि जो अन्यसे असम्भव बात हो वह चाहे सम्भव हो जाय, परन्तु स्त्रीके मनमे क्या बात है इसका पता पाड़नेमे कोई समर्थ नही हो सकता । फिर यह ससार है । यहाँ सब जीव अकेले-अकेले ही जन्म मरण किया करते है । कोई किसीका साथी नही है । किसी अन्यके संगसे इस जीवका क्या लाभ है और फिर मायारूप मन वाली स्त्रीकी संगतिसे तो लाभ कुछ है ही नही ।

काऽत्र श्रीः श्रोणिबिम्बे स्रवदुदरपुरे वाऽस्ति खद्वार वाच्ये,
लक्ष्मीः का कामिनीनां कुचकलशयुगे मांसपिण्डस्वरूपे ।
का कान्तिर्नेत्रयुग्मे कलुषजलजुषि श्लेष्मरक्तादिपूर्णे,
का शोभा वक्त्रगर्ते निगत यदहो मोहिनस्ताः स्तुवन्ति ॥१२०॥

कामिनीकामनाप्रेमी कवियोंकी कलम—अहो ससारमे अज्ञानकी बड़ी अधिक प्रबलता है, लोग अज्ञानके वश होकर स्त्रियोके शोभाविहीन श्रोणिबिम्ब कुचयुगल, नेत्रयुगल और मुख कमलकी कितनी बडी-बडी प्रशंसायें कर डालते है जिससे बडी-बडी पुस्तकें कवियोने भर डाली है, पर वास्तवमे देखा जाय तो वे कविजन, वे प्रशसक पुरुष बिलकुल घृणाके पात्र हैं । अब सारा लोक ही इस कामवासनाकी व्यथासे पीड़ित है सो स्त्रियोके अङ्गोकी प्रशंसा करने वाले कवि जनोंकी वे कदर करते है । बड़े-बड़े कविसम्मेलन कराकर बड़ा खर्च करते है, खूब राग रागनीके शब्द सुनते है, पर वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो स्त्रियोंके अङ्गोंकी प्रशंसा करने वाले कविजन जनताके मित्र नही हैं, बल्कि शत्रु हैं । जनताको अहितके मार्गमे लगाने वाले हैं । बडे आश्चर्यकी बात है कि कहाँ तो वह श्रोणि (योनि स्थान) रज और मूत्र को बहाने वाला एक बाहरी इन्द्रियद्वार है और कहाँ ये कुच जिनको उपमा कविजन कलशसे

देते हैं वे मांसके लोदे है । नेत्र भी मलिन जलसे मैले है और मुख कफ, रक्त आदिक अपवित्र पदार्थोंका घर है । देखिये—कुछ समझदार कवि नाम धरा लेने वाले पुरुष भी इस अज्ञान और मोहके विकट चक्करमे आ जाते हैं ।

वक्त्रं लालाधवद्य सकलशशिभृता स्वर्णकुम्भद्वयेन,
मांसग्रन्थी स्तनौ च प्रगलदुधमला स्यंदनांगेन योनिः ।
निर्गच्छद्दूषिगस्त्रं यदुपमितमहो पद्मपत्रेण नेत्र,
तच्चित्रं नात्र किंचिद्यदपगलमतिर्जायते कामिलोक ॥१२१॥

कामी पुरुषोके विडम्बित वचन—ससारमे कामी पुरुषोकी भी बड़ी विचित्र विडम्बनायें हैं । उनकी महिमा अपरम्पार है, देखिये उन्होने जो स्त्रीमुख लार, थूक आदिक अपवित्र वस्तुवोका घर है उस मुखको पूर्णमासीके चन्द्रमासे उपमा दी जाती है । तो देखिये उन कामी पुरुषोका कैसा चित्त लुट गया है कि वे भी निर्धन होकर यथा तथा बकवाद करते हैं । इन कवि जनोने मांसके पिण्ड स्तनोको बहुमूल्य स्वर्णकलशके समान माना है यह उन कामी कवियोकी बुद्धिकी कैसी विडम्बना है ? जो सदा रक्तादिक मलोको चुवाती रहती है ऐसी योनि को चक्र तुल्य बताया है । कैसा वेतुका मेलकी बात ये कामी कविजन करते हैं, इनकी भी विडम्बना वचनोके अगोचर है । ये नेत्र जो कीचड आदिक दुर्गन्धित पदार्थोंको बहाने वाले हैं उन नेत्रोको कमलसे भी अधिक सुन्दर बना दिया गया है । तो संसारमे कामी लोग भी अति अधिक विडम्बनामे फंसे हुए है ।

यत्त्वग्मांसास्थिमज्जाक्षतजरसवसाशुक्रधातुप्रवृद्धे,
विष्ठामूत्रासृगश्रुप्रभतिमलनवस्त्रोतमत्र त्रिदोषे ।
वर्चः सद्मोपमाने कृमिकुलनिलयेऽत्यतबीभत्सरूपे,
रज्यन्नगे वधूनां व्रजति गतमतिः श्वभ्रगर्भे कृमित्वं ॥१२२॥

स्त्रीमे आसक्तिका दुष्परिणाम—स्त्रियोमे रमण करनेका अंग कितना अपवित्र वस्तुवोसे भरा हुआ है यह बात लोकप्रसिद्ध है । चमडी, मांस, हड्डी, मज्जा, रक्त, सवसा और शुक्र इन ७ धातुवोका बना है और इतना ही नही, विष्टा, मूत्र, रक्त, अश्रु आदिक ६ मलोके बहाने वाला नाला है, और इतना ही नही, किन्तु वात्त, पित्त, कफ आदिक तीन दोषोसे सहित है तथा विष्टा और कीडोका घर है । ऐसे अपवित्र देहमे यह मूढ मनुष्य क्रीड़ा करता है । कैसा महान् वीभत्स अंगोमे यह अज्ञानी, कामी पुरुष रमण करते हुए व रमणके बाद अपनेको धन्य समझते है । तो ऐसे पुरुष जो स्त्रीदेहमें आसक्त हैं और उस ही मे रमण कर अपनेको धन्य समझते हैं वे नरकमे पडे हुए कीडेके समान गिने जाते हैं अथवा सुनिश्चित ही

है कि ऐसे अज्ञानी लोग जो स्त्रियोके अगोमे आसक्त है वे पुरुष नरकोमे ही जायेंगे और वहाँ कीडोकी तरह नाना प्रकारके दुःख भोगेंगे। जो विवेकी पुरुष हैं वे स्त्रीसंसर्गसे दूर रहकर अपने स्वरूपकी आराधना करके इस दुर्लभ जीवन और शासन समागमको सफल किया करते हैं।

छायावद्या न त्याज्याचिररुचिचपला खड्गधारेव तीक्ष्णा,
बुद्धिर्वा लुब्धकस्य प्रतिहृतकरुणा व्याधिवन्नित्यदुःखा।
वक्रा व सर्परीतिः कुनृपगतिरिवावद्यकृत्यप्रचाराः,
चित्रा वा शक्रचाप श्रवयकिचबुधैः सेव्यते स्त्री कथ सा ॥१२३॥

स्त्रियोंकी असेव्यता—जो स्त्री छायाके समान पीछे-पीछे चलती है, जो बिजलीके समान चचल होती है, तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण होती है और कसाईकी बुद्धिके समान निर्दयो रहती है, वह रोगकी नाईं सर्वदा दुःख ही दुःख देती है, साँपकी गतिके समान टेढी रहती है, खोटे राजाकी तरह सदा पापका ही प्रचार करती है एव इन्द्रधनुषकी तरह विचित्र रहती है। ऐसी स्त्रीको ससारसे भीत ज्ञानी पुरुष कैसे सेवन कर सकते हैं? जो संसार, शरीर, भोगोसे विरक्त है उन पुरुषोका कर्तव्य है कि चंचल चित्त वाली स्त्रीका सेवन न करें अथवा स्त्रीविषयक कामभावके कारण ससारका वधन ही बढता है, आत्माका उसमे कोई हित नही है। स्त्रीसम्बंध परदयोरहित हो जाता है। दूसरेकी हिंसा कराने तकमे कसर नही छोड़ता। उसका प्रसंग ही यदि वह खुश है तो दुःखमे समय व्यतीत होता है और यदि वह रुष्ट है तो भी दुःखमे व्यतीत होता है। जिसका मन कुटिल है, जिसका कोई पार नही पा सकता, ऐसा पापका प्रचार करने वाली स्त्रीको कोई भी बुद्धिमान सेवन नही कर सकता। जिसको आत्मकल्याणकी भावना है वह स्त्री संसर्गसे दूर रहकर आत्मस्वभावकी आराधना करे।

सज्ञातोऽपीद्रजाल यदुत युवतयो मोहयित्वा मनुष्या-
न्नानाशास्त्रेषु दक्षानपि गुणकलितं दर्शयंत्यात्मरूपं।
शुक्रासृग्यातनाक्तं ततकुथितमलैः प्रक्षरत्स्रोतगर्तैः,
सर्वैरुच्चारपुंजं कुपित भृतपटं छिद्रितं यद्वदघ ॥१२४॥

स्त्रियोकी इन्द्रजालोपमता—स्त्रियाँ मनुष्योका मन लुभानेमे इन्द्रजालसे भी बढ़कर काम किया करती है। इन्द्रजाल तो सामान्य बढे लाखो लोगोमे ही अथवा मूर्ख जनोमें ही मोहबुद्धिको बना देता है, परन्तु ये स्त्रियाँ तो बड़े-बडे शास्त्रोके जानकार मनुष्योको भी बातो मे ही अपने मोहमे फंसा लेती है और इतना तक फंसा लेती है कि अत्यन्त निन्दनीय अपने

शरीरको गुणोंसे भरपूर दिखा दिया करती है।

या सर्वोच्छिष्टवक्त्रा ,हितजनभुषणासद्गुणास्पर्शनीया,
पूर्वाधर्मात्प्रजाता सततमलभृता निंद्यकृत्यप्रवृत्ता ।
दानस्नेहा शुनीव भ्रमणकृतरतिश्चाटुकर्मप्रवीणा,
योषा सा साधुलोकैरवगतजननैर्दूरतो वर्जनीया ॥१२५॥

साधुवो द्वारा स्त्रियोकी त्याज्यता—जिसका मुख सर्व लोकके उच्छिष्टसे जूठा रहता है, जो हितू जनोंसे बैर किया करती है, जो दुर्गन्धसे परिपूर्ण होनेके कारण स्पर्श करने योग्य नही है, जो पूर्वजन्ममे किए गए पापके उदयमे ही उत्पन्न होती है, रक्तादिक मलो से मलिन होती है, सदैव निन्द्य कार्य करती है, कुत्तीके समान जिसका दान देने वालेमे ही स्नेह रहा करता है, सदा इधर-उधर डोलनेकी आदत हुआ करती है। मिन्नत खुशामद करनेमे जो बडी कुशल होती है ऐसी स्त्रियां साधु लोगो द्वारा दूरसे ही त्याग देने योग्य है। इन स्त्रियो का हितूजनोसे स्नेह नही रहता, बल्कि जो शिक्षा दें उनसे बैर बढ जाता है। तो विद्वान् पुरुषोंको चाहिये कि वे स्त्रीससर्ग तजकर अपने आत्मानुभवमे ही रमण करनेका पौरुष करें।

दु खानां या निधान भवनमविनयस्यार्गला स्वर्गपुर्या.,
श्वभ्रावासस्य वर्त्म प्रकृतिरयशस. साहसानां निवास· ।
धर्मारामस्य शस्त्री गुणकमलहिमं मूलमेनोद्रुमस्य,
मायावल्लीधरित्री कथमिह वनिता सेव्यते सा विदग्धैः ॥१२६॥

प्रज्ञो द्वारा स्त्रियोके सेवनपर आश्चर्य—जो स्त्रियां दुःखकी खान है, जिनका सग करनेसे पुरुष दुःख ही प्राप्त किया करते है। जो स्त्रियां अविनयका घर है, किसी भी वचनों द्वारा दूसरो का अपमान करनेमे कुशल है। जो स्वर्गपुरी जानेमे भी बाधक होती हैं, जो नरक के सीधे रास्तारूप है, जो अपयशकी जड है, ऐसी स्त्रियो का सहवास करनेसे उल्टा लोकमे अपवाद फैलता है, चाहे कोई किसी भी बर्तावसे रहे। तो जो बदनामीकी जड है, जो साहसों का अड्डा है, स्त्री जन साहस करनेमे बडी समर्थ होती है, उनका साहस होता है खोटे कामो की ओर। धर्मरूपी बगीचेके लिए जो छुरी है अर्थात् धर्मका मूल काट देने वाली है। गुणरूपी कमलोके लिए बर्फकी तरह है। जैसे बर्फके गिरनेसे कमलोका वन जल जाता है, इसी तरह सर्व गुण इस स्त्रीससर्गसे जल जाते है, जो पापरूपी वृक्षकी जड है, मायाकी बेल है, ऐसी स्त्रियोका विद्वान् पुरुष कैसे सेवन कर सकते है ? यह बडे ही आश्चर्यकी बात है।

श्रोणीसद्मप्रपन्नैः कृमिभिरतिशयार्रैतुदैस्तुद्यमाना,
यत्पीडातोऽतिदीना विदधति चलन लोचनानां रमण्यः।

तन्मन्यतेऽतिमोहादुपहतमनसः ,त्वद्विलास मनुष्य,
इत्येतत्तथ्यमुच्चैरमितगतियतिप्रोक्तमाराधनात ।।१२७।।

स्त्रियोंकी अन्तर्वेदनाकी प्रतिक्रियामे कवियो द्वारा सौन्दर्यका दर्शन—इस ग्रन्थके करने वाले आचार्य अमितगति यहाँ अपना सिद्धान्त जाहिर करते है अर्थात् अपना मत बताते है कि स्त्रियोकी योनियोमे जो विषैले कीडे होते हे उनके काटनेसे स्त्रियोको एक विलक्षण रतिकी पीडा होती है जिसके कारण उस पोडाको न सह सकनेसे स्त्रियाँ अपने नेत्रोको घुमाती है, मीचती ह या इधर-उधर चढाती हे, पर मोहके फदेमे पडा हुआ यह मनुष्य ऐसा मूढ है कि वह स्त्रियोका इसमे विलास और कटाक्ष समझता है । इस छदमे यह बताया गया है कि उनकी जो चेष्टा है सो उनकी वेदनासे होती है। योनिमे रहने वाले विषैले कीडोकी रतिसे पीडा बनती हे । उस पीडाको न सह सकनेसे उनके नेत्र चचल हुआ करते है, पर मोही लोग क्या समझते हे कि यह कोई शोभाकी बात है अथवा यह कटाक्ष है, इस प्रकार इस नामसे पुकारते है । सो स्त्रियो के शरीरको अशुचि निरखकर, स्त्रियो के शरीरकी चेष्टावो को वेदनाजन्य निरखकर उनमे मोहित न होना चाहिये ।

।। इति सुभाषित रत्नसदोह प्रवचन प्रथम भाग समाप्त ।।

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

द्वितीय भाग

७—मिथ्यात्वस्वरूपनिरूपण

दुरंतमिथ्यात्वतमोदिवाकरा विलोकिताशेषपदार्थविस्तरा. ।
उशति मिथ्यात्वतमो जिनेश्वरा यथार्थतत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षण ।।१२८।।

मिथ्यात्वसे अलक्षित तत्त्वका मौलिक रूप—यहाँ अमितगति आचार्य कहते हैं कि यह जीव जिस भावके वश संसारमे अब तक जन्म मरण करता चला आया है वह मिथ्या-त्वभाव क्या है ? तत्त्वोकी वास्तविक प्रतीति न होना मिथ्यात्व है । धातुकी ओरसे मिथ्याका अर्थ उल्टा या विपरीत नही है, खोटा भी नही है, किन्तु उसका अर्थ है मिलावट होना । 'मिथ्संश्लेषणे' इस धातुसे मैथुन शब्द बना, जिसका अर्थ है मिलकर एक मानना, मिला देना, मिलावट । जैसे देहको आत्मा माना तो देहको लक्ष्य किया और आत्मारूपसे इसका भान किया, यह मिलना हुआ । जो तत्त्व जिस प्रकार है उस प्रकारसे न मानकर अन्यके मेलरूपसे मानना यह मिथ्या शब्दका शब्दार्थ है और फलितार्थ यही है—विपरीत, उल्टा और खोटा, तत्त्व किस प्रकारसे है इसका निर्णय स्वभावदृष्टिसे चलेगा । कोई पदार्थ स्वय किस रूप है उसे कहत है भूतार्थ । भूतार्थका अर्थ है—स्वयं सहज जिस रूप हो उसे कहते हैं भूतार्थ । भू धातुका अर्थ लोग होना कहते है । वह होता है, स· भवति, किन्तु भू धातुका वास्तविक अर्थ क्या है ? भू सत्तायां, सही अर्थ लगाया, तो सः भवति का अर्थ हुआ, वह है, और लोग अस्तिका अर्थ क्या कहते है ? स: अस्ति, वह है और अस्ति शब्द बना है अस् धातुसे । और अस् धातुका अर्थ है अस्भुवि, होना अर्थ है । तो कैसा इन धातुवोका आदान-प्रदान है, भू सत्तायां और अस्भुवि जिसका अर्थ यही यह निकल आता व्याकरण विधिमे कि होना है बिना नही और है होना बिना नही, भू धातुने अस्के हृदयको मजूर किया और अस् धातुने भू हृदयको मजूर किया । होना किसे कहते हैं ? है को कहते हैं । और है किसे कहते ? होने को कहते हैं । तो है और होनाका कैसा अविनाभावी सम्बंध है । यह एक व्याकरणकी मुद्रा ही बताती है, जिसका विस्तार करके चलें तो उत्पाद व्यय देख रहा है ध्रौव्यको, ध्रौव्य देख

रहा है उत्पादव्ययको । उत्पादव्यय होते रहनेके बिना ध्रौव्य नही, ध्रौव्य रहे बिना उत्पाद व्यय नही ।

आत्माके भूतार्थ तथ्यकी महिमा—पदार्थ स्वय अपने आपमे किस स्वरूप है ? सो तो है अनिर्वचनीय । कई बातें ऐसी होती है कि देखने समझनेमें आ जायें, पर बोलनेमे न आ सकें । आप जब जा रहे है, यात्रा कर रहे है, कोई रेतीली नदी निकलती है तो आप देख डालते है सब रेतोको, आपने सब दाने देख लिये, क्या है कितने दाने है, आप क्या बता सकते ? हाँ तो वस्तुका स्वयं सहज जो अस्तित्व है वह कहलाता है भूतार्थ । और जो स्वयं सहज अस्तित्वमे नही है वह कहलाता है अभूतार्थ । यहाँ अभूतार्थके मायने झूठा नही है । कोई अभूतार्थ झूठे भी होते, कोई अभूतार्थ सच भी होते । अभूतार्थका अर्थ झूठा नही, किन्तु स्वयं सहज जो न हो वह अभूतार्थ । जो स्वयं सहज है वह भूतार्थ । तो यह भूतार्थ शुद्धनय का विषय है, जिसका आश्रय लेनेसे सम्यक्त्व होता है । सम्यग्दर्शनका निमित्त क्या है ? ७ प्रकृतियोका उपशम, क्षय और क्षयोपशम । तो क्या जो यह बताया गया है और कर्तव्यमार्ग के लिए उपदेश किया गया है जिनबिम्बदर्शन, समवशरणमे जाना आदिक, क्या ये सम्यक्त्व के निमित्त नही है ? हाँ सम्यक्त्वके निमित्त नही है । फिर इनका उपदेश क्यो किया गया गया है ? क्या ये कर्तव्य नही है ? हाँ कर्तव्य है । सम्यग्दर्शनसे पहले जो शुभोपयोग होता है उस शुभोपयोगके ये आश्रयभूत है । शुभोपयोगके निमित्त भी नही है, शुभोपयोगके निमित्त जो कर्मरूप हो वह है, कुछ क्षयोपशम कुछ उदय । जीवके भावोके होनेमे कर्मदशाको छोड़कर अन्य कोई निमित्त नही हुआ करता । अन्य सब आश्रयभूत है । तो चूकि शुभोपयोग हुए विना सम्यग्दर्शन नही हुआ करता, अशुभोपयोगके बाद सम्यक्त्व नही होता । तो सम्यक्त्वसे पहले जो शुभोपयोग हुआ करते है उन शुभोपयोगके ये आश्रयभूत है, सो ये चलेंगे, पर सम्यक्त्व होता है तो एक भूतार्थके आश्रयसे ही, आत्माके सहज स्वभावके आश्रयसे ही और वहाँ निमित्त कारण होता है सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम ।

निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयसे स्वभावदर्शनकी शिक्षा—निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचयसे स्वभावदर्शनकी शिक्षा मिला करती है । पर जब लोग आश्रयभूतको निमित्त कहने लगे तब उनको समझानेके लिए निमित्तके थोड़े खडनकी जरूरत पड गई । यदि इसको आश्रयभूत कहकर ही समझाया जाय तो वहाँ भी व्यवस्था सही रही और यहाँ भी व्यवस्था सही रही । तो ७ तत्त्वो की यथार्थ प्रतीति न रहना मिथ्यात्व है, यह तो एक कार्य है, उसका उपादान यह आत्मा स्वयं है और निमित्त कारण मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय है और यहाँ

आश्रयभूत धन, घर, वैभव जिन जिनका आश्रय लेनेसे ये मिथ्यात्व व्यक्त होते है—कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ये सब मिथ्यात्वके आश्रयभूत है। आत्माका परमार्थरूप क्या है ? जो निरपेक्ष हो, अपने आपके अस्तित्वसे ही हो वह स्वरूप चेतना चैतन्य। अब उस भूमिमे अन्य वैभव प्रतिबिम्बित हुए है जो मलिन बने है और भेदविज्ञान न होनेसे अज्ञानी बने है तो ये सब विकार हैं और विकारमे परसग ही निमित्त होता है, स्वय अपने आप निमित्त नही होता। यदि विकारका आत्मा स्वय निमित्त रहे तब तो फिर विकार कभी मिट ही न सकेंगे। विकार को परभाव क्यो कहते ? परका निमित्त पाकर होने वाले विभाव परभाव कहलाते है। परभावका यो अर्थ करना कि परंपदार्थमे उपयोग लगानेसे जो भाव बनता है उसे परभाव कहते है, यह अर्थ अव्यभिचारी नही है। सर्व विकारोमे न घटेगा। आश्रयभूत पदार्थोंमे ही यह जीव उपयोग दे पाता है। कर्मदशारूप निमित्तमे कौन उपयोग देता है ? एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जीव ये कर्मको बात न सुनें, न जानें। कुछ ही मनुष्य आगमके सहारे, युक्तिके सहारे उसका निर्णय करते है। पर कर्ममे उपयोग दें तब विभाव बनें यह बात नही बनती, किन्तु वहाँ ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्मविपाक हुआ और अनिवारित प्रतिफलन हुआ, केवल एक छाया मायाकी मलिनता हुई। यदि आश्रयभूतमे उपयोग लगाया तो वह एकदम प्रकट हो गया, व्यवहारमे बन गया और यदि आश्रयभूतका उपयोग नही है, मंदिरमे, स्वानुभूतिमे, शास्त्रमे इनमे उपयोग है तो क्रोधादिक कषायोके उदय तो निरन्तर चल रहे है, पर वे व्यक्त नही होते, वे अव्यक्त होकर ही निकलते है। तो मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर जीवमे होने वाले जो यथार्थकी अप्रतीतिरूप भाव है उसका नाम मिथ्यात्व है ऐसा जिनेन्द्रदेवने बताया।

हीनानुभागीय उदयमें प्रगतिका प्रारम्भ—जिन्होने समस्त पदार्थोंको स्पष्ट रूपसे जाना उन्होने भी किस प्रकार प्रगति की कि परमात्मपदको पाया ? जो भी सिद्ध हुए, अरहत हुए वे जीव भी कभी निगोदमे ही थे, एकेन्द्रिय थे। साधारण वनस्पति थे। बडा कठिन है वहाँसे निकलना। इतना तो हम आप अपने लिए भला समझें कि निगोदसे निकल आये, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिकसे निकल आये, सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य हुए है और हम नीचेकी गडबडियोके बारेमे चर्चामे ऐसी छान-बीन करें कि जिससे द्वेष भी बने तो उसकी क्या आवश्यकता है आज, और हम जिस स्थितिमे है उससे आगे किस तरह बढें और अपना उद्धार करें, यह एक जानने भरकी बात है।

यदि मनमे शंका हो कि वे निगोद जीव कौनसे पुरुषार्थसे वहाँसे निकले है और

बन जाते सीधा निगोदसे निकलकर। वहाँ भी क्या काम बन जाता ? सो भाई व्यवस्था यों है कि आज जो कर्म उदयमे आ रहे है सो वे एक समयके बधे हुये कर्म नही है। आजसे करोड़ो पहलेके भवोके बाँधे हुए कर्म है और तबसे लेकर प्रतिसमयके बाँधे कर्म है जो आज उदयमे है कर्म कही वह एक वक्तका बँधा हुआ नही है। वह अबसे पहलेके समस्त समयोमे बँधे हुए कर्म उदयमे आये है। तो जब कर्मबन्ध होता है तो षड्गुण हानि वृद्धिके अनुसार नाना गुण हानिके अनुसार जितने समयके लिए कर्म बँधा है, आबाधाको छोडकर सारे समयो मे उदयमे आनेके लिए बँट जाते है। जैसे अबसे हजार वर्ष पहले कर्म बँधा और मानो १० हजार वर्षकी स्थितिके लिए बँधा तो तबसे थोडे समय बादकी सारी स्थितियोमे वे कर्म परमाणु बँट जाते हैं। जैसे एक खरब कर्म परमाणु एक समयमे बँधे तो उनके प्रत्येक समयमे विभाग हो जाते कि पहले समयमे हजार परमाणु उदयमे आयेगे, उस एक समयके बँधेमे से दूसरे समयमे ६५०, तीसरे समयमे ६००, यो क्रमसे घट-घटकर १० हजार वर्षके अन्तमे मानो १० परमाणु उदयमे आये। यो कम कम परमाणु उदयमे आते, मगर शक्ति कई-कई गुनी उनमें मिलती है, जहाँ हजार परमाणु उदयमे आये वहाँ शक्ति बहुत कम है। जहाँ १० परमाणु उदयमे आयेंगे उनमे अनुभाग बहुत तेज है। यह सब दृष्टान्त मात्र है, परमाणु तो अनन्त बँधते, विभक्त होते। हाँ तो जैसे कि एटममे बडी शक्ति है और मोटी चीजमे कम शक्ति है, तो प्रति समयके बँधे है और आज उदयमे है तो उनकी शक्तिका क्या अनुपात है ? बस वह अनुपात जब हीन आ जाता है तब उसे कहते है एक मौका। जैसे नदीका वेग कम हो गया सो चाहे तो वहाँसे पार हो जाये।

वर्तमान सत्समागमसे ऊँचा लाभ उठानेके लिये कर्तव्यकी दिशा – भैया, एक प्रकार से क्षयोपशम लब्धिमे एक वेग कम हुआ और वहाँ संक्लेश कम रहा, आयुबधका सम्बन्ध हुआ, बात बन गई, मगर इन बातोकी चर्चामे अपना क्यों समय खोना ? हम आप तो संज्ञी हैं, पचेन्द्रिय है और ऊँची स्थितिमे है। यहाँ तो यह बात करनी चाहिये कि हम क्या पौरुष करें कि हम अपने शान्तिमार्गमे सतत प्रगतिशील रह सकें। तो हम आप लोगो का मुख्य कर्तव्य तो एक लक्ष्यभूत यही है कि जो सहज आत्मस्वरूप है सहज ज्ञानदर्शन स्वभाव चेतना मात्र, प्रतिभासमात्र जिसमे इष्ट अनिष्ट भाव नही, रागद्वेष विकल्प नही। यद्यपि विकार हैं, पर समझ लेंगे कि वे नैमित्तिक है, वह छाया माया है कर्म अनुभागकी। उससे अछूता अपने को चैतन्यमात्र निरखे, यह दृष्टि बन सके और इस दृष्टिमे कुछ ठहरकर किसी समय सर्व विकल्प छूटकर ज्ञानज्योति मात्र ही ज्ञानमे रहे और वहाँ अलौकिक आनन्दका अनुभव हो तो वह स्थिति है हम आपके लिए प्रगतिकी। लेकिन ऐसी बात करते-करते भी नही बन पाती।

एक बार बनी हो तो मानो न जाने कहां वह सब भाग जाती हैं कि प्रयत्न करके भी नही बन पाती। तो सारा जीवन दिन-रात पड़े हैं और मन, वचन, काय ये ऊधम किए विना रहते नही है, तो उस समय अपना क्या कर्तव्य है? इसीका ही तो उत्तर है चरणानुयोग। उस विधिसे अपना जीवन रखें तो कुछ पात्र रहे आयेंगे कि हम आत्मस्वभावकी दृष्टिको प्राप्त कर लें। अन्यथा यह विनोदकी स्थिति बन जाती है, एक शौक हो जाता है, व्यसन हो जाता है अध्यात्मकी बातको एक अलौकिक शब्दोंमे कहनेका व्यसन पड जाता है, तब उसका असर नही रहता। जैसे किसी बर्तन बनानेके कारखानेमे टनटनकी खूब आवाज निरन्तर आती है, फिर भी उसके अन्दर खूंटी या किसी आलेमे रहने वाला कबूतर उडकर भागता नही है, वही बैठा रहता है। अब कोई मानो उस कबूतरसे ही पूछे कि रे कबूतर तू इतनी तेज ठन-ठनमे भी उडकर क्यों नही भाग जाता, तू तो जरासी आवाजमे उडने वाला पक्षी है। तो उसका यही उत्तर है कि क्या करें, ऐसी ठन-ठन तो रोज-रोज होती है और इसको सुननेकी मुझे खूब आदत बन गई है, इसलिए कोई भय नही होता।

ज्ञानमय पौरुषका निमित्त पाकर कर्मोंमें क्षीणता होना—अपने दिन-रातका जीवन यदि जिनेन्द्रदेवके द्वारा बताये गए एक आत्मनियन्त्रणमे है, सदाचारमे है, प्रभुकी श्रद्धासहित प्रभुके बताये गए नियममें रहते है तो वहाँ यह एक पात्रता रहती है कि हम उस आत्मस्व-भावको पुनः दर्शनमे ले सकें, और यदि चारित्र अपना सही न रखें और मन, वचन, काय को स्वच्छंद प्रवर्तते रहे और यही यही कषायकी बात गाते रहे तो वह निष्प्रभाव बन जाता है। इससे शेष समय किस रूपमे बिताना इसके लिए चरणानुयोगका हुक्म लीजिए और मूल लक्ष्य हमे क्या रखना इसके लिए द्रव्यानुयोगका हुक्म लीजिये और हम ठीक विधिसे चलते रहे, हमारा काम सही चलता रहे, ठीक रास्तेसे गाडी जा रही, इसकी परीक्षाके लिए कर-णानुयोगका बल लीजिए। कभी अपना उत्साह घटे तो प्रथमानुयोगकी कथाओंमे बडे पुरुषों के कथानक सुनकर अपने दिलमे उमग बढाइये। तो यो जिस किसी भी प्रकार हो, चाहिये यह कि हम अपने आत्मस्वभावकी दृष्टिको बराबर बनाये रहे और इसके लिए आज इस स्थितिमे है हम आप कि एक बातसे बात न बनेगी। हमको सर्व प्रकारसे पौरुष करना होगा। तो जो प्रभु बने है उन्होने क्या किया? ऐसा चल-चलकर क्षयोपशम पा-पाकर विशुद्ध लब्धिमे आये, सत्संगमे आये, देशना पायी, तत्त्वचिन्तन किया। तो जैसे कहते है ना कि कर्मोदयका निमित्त होनेपर जीवमे रागद्वेषादिक विकार जगते हैं। तो यह भी बात है कि स्वाध्याय, सत्संग, तत्त्वचिन्तन, तत्त्वचर्चा, आत्माभिमुखताका प्रयास इन बातोके होनेका निमित्त पाकर बँधे हुए कर्मोंमे शिथिलता आती है, निर्जरण होता है। जैसे—मिथ्यात्व गुण-

स्थानमे ही बताया गया है कि कैसे मिथ्यात्वप्रकृति अनन्तानुबंधी प्रकृति निर्बल होती, कैसे संक्रान्त होती है, कैसे क्षीण होती है फिर कभी उनका उपशम आदि होता है, तो सम्यग्दर्शन हो जाता है। तो निमित्तनैमित्तिककी बात दोनो ओरसे है।

सहजात्मस्वभावकी दृष्टि करना जीवनमें एक मात्र कर्तव्य—भैया, जब हम आपको एक विशेष प्रतिभा मिली है, चिन्तनशक्ति मिली है, स्वभावदृष्टि करनेका हम पौरुष कर पाते हैं, समझ बनाते है तो हमारे इन पौरुषोका निमित्त पाकर उन सत् कर्मोमें हानि होने लगती है। तो केवल एक ही काम अपनेको अपने स्वभावरूप प्रतीति रखनेका हमारा उद्यम रहे, बाकी जो व्यवहारधर्म हैं ये उपलक्ष्य है और आत्मस्वभाव दृष्टि यह लक्ष्य है। जैसे आपको कोई एक भवन बनवाना है तो यह तो आपका लक्ष्य हुआ, पर रोज-रोज अनेक उपलक्ष्य भी चलते—जैसे कही लोहा ला रहे, कही सीमेन्ट ला रहे, कही परमिट ला रहे, कही कारीगरो के पास जा रहे, कही मजदूरोसे मिल रहे या कही मकानका नक्शा बनवाने जा रहे, कही रोडी वालेसे बात कर रहे, कही भट्टे वालेसे बात कर रहे, तो ये सब उपलक्ष्य कहलाये और लक्ष्य कहलाया सिर्फ एक—भवन बनवानेको। तो ऐसे ही व्यवहारधर्ममे किए जाने वाले सारे काम व्यवहार करनेके लिए नही है, आत्मस्वभावकी दृष्टिके लिए है, पर उनके किए बिना भी काम न चलेगा। ये रोज-रोजके उपलक्ष्य भी रहेगे और जिसके लिए किए गए है उसकी दृष्टि बिना वे सब जानरहित रहेगे। सो जीवन बनायें अपना चारित्रपूर्ण गतिके साथ। जिसका जितनेमे सम्भव हो उस प्रकारके आचरणके साथ और दृष्टि रखें हम आत्मस्वभावकी, यह ही मात्र एक कर्तव्य है, दूसरा और कुछ काम है ही नही। जैसा हू वैसा अपनेको मानकर अपनेमे मग्न होऊँ, आऊँ, उतरूँ, रम लू निजमे। बाहरी भोगोसे उपयोग हटाकर उपयोगको अपने आपमे लगाना है। अपने स्वरूपको निहारना है, उस ही मे उतरना है और उस ही को निहारते रहना है, बस यही एक कार्य है जो अभी तक नही किया, जिससे संसार मे रुलते आये।

विमूढतैकांतविनीतसंशयप्रतीपताग्राहनिसर्गभेदतः।
जिनैश्च मिथ्यात्वमनेकधोदितं भवार्णवभ्रांतिकरं शरीरिणां ॥१२६॥

पंच मिथ्यात्वोमें अज्ञान व एकान्त मिथ्यात्वका निर्देश—जिस मिथ्यात्वके वश होकर यह जीव चतुर्गतिमे डोल रहा है वह मिथ्यात्व अनेक प्रकारका बताया गया। ५ भेदरूपमे मिथ्यात्व कहे गए हैं—(१) अज्ञानमिथ्यात्व, (२) एकान्तमिथ्यात्व, (३) विनयमिथ्यात्व, (४) संशयमिथ्यात्व और (५) विपरीतमिथ्यात्व। अज्ञान मिथ्यात्वमे कोई बोध नही। सभी अनन्तानन्त जीव अज्ञान मिथ्यात्वमे पडे हैं। एकेन्द्रिय आदिक इन सभीके अज्ञानमिथ्यात्व

पाया जा रहा है। यद्यपि एकान्त विनय संशय वाला मिथ्यात्वप्रवृत्ति रूपसे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के ही हो सकेगा, ऐसा विदित होता है। तथापि उनकी योग्यता उनके आधारकी दृष्टिसे सभी मिथ्यादृष्टियोमे ये पाये जाते हैं। अज्ञानमिथ्यात्व—हित अहितका ज्ञान न होना, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, इन चार संज्ञावोसे, पीडित होकर अपने विषयोकी ही वासनामे रहना, यह फल अज्ञानमिथ्यात्वमे चलता है। एकान्त मिथ्यात्व—एक ही धर्मका एकान्त कर लेना, ऐसी ही श्रद्धा बनाना एकान्तमिथ्यात्व है। द्वादशांगवाणीमे सबका वर्णन किया है। जितना भी एकान्तवाद है सब एकान्तवाद दृष्टिवाद अंगमे वर्णित है। जो यहाँ द्वादशांगमे न बताया हो वह किसीके भी आयगा कहाँसे ? पापको पाप बताया और पाप बताया द्वादशाङ्गमे, उसका अर्थ यह नही कि पाप कर्तव्य है। एकान्तवाद बताया द्वादशाङ्ग मे उसका अर्थ यह नही कि यह श्रद्धातव्य है। वर्णन सबका पाया जायगा। अनन्त धर्मात्मक वस्तुमे किसी एक धर्मका आग्रह करना और अन्य धर्मोंका प्रतिषेध करना यह ही एकान्त मिथ्यात्व है।

स्याद्वाद और एकान्नवादका विश्लेषण—अनेकान्तका आधार है वस्तुका द्रव्यपर्यायात्मक होना। चूंकि प्रत्येक सत् द्रव्य पर्यायात्मक है, इस कारण अनेकान्त विधिसे, स्याद्वाद विधिसे वस्तुका परिचय बनेगा। केवल द्रव्यका ही वर्णन हो तो वस्तुका परिचय पूर्ण नही है, केवल पर्यायका ही वर्णन हो तो वह वस्तुका पूर्ण परिचय नही है। द्रव्य बिना पर्याय नही, पर्याय बिना द्रव्य नही। यहाँ द्रव्यका अर्थ गुणपर्ययवत् द्रव्य न लेना, किन्तु जो अन्वयी है उस अंशको द्रव्य कहते है। तो जब जीवके बारेमे वर्णन किया जाय तो कहना होगा कि जीव नित्य है द्रव्यदृष्टिसे और जीव नित्य नही है पर्यायदृष्टिसे। एक ही धर्मका विधि और निषेध बनाकर उनका वर्णन करना अनेकान्त नही है। जैसे जीव नित्य है अनित्य नही, यह अनेकान्त नही कहलाता, क्योकि उसमे द्रव्यदृष्टिके धर्मका ही विधि और निषेध रूपसे वर्णन है। यदि एक धर्मका ही विधि निषेधका वर्णन होनेसे स्याद्वाद कहा जाय तब तो सभी स्याद्वादी हो गए। बौद्ध लोग कहते है कि वस्तु क्षणिक है, अक्षणिक नहीं, सांख्य कहते हैं कि वस्तु कूटस्थ ध्रुव है अध्रुव नही। फिर तो किसीका सिद्धान्त गलत नही कहा जा सकता। विधिनिषेध सबके साथ लगा हुआ है तो वह एक दृष्टिका पुष्ट निर्णय है। एक दृष्टिके पुष्ट निर्णयका एक दृष्टिका ही निर्णय कहा जायगा, स्याद्वाद न कहा जायगा। और अब उस आधारको छोडकर यह प्रथा चलने लगी है कि जिसको जो बात सिद्ध करना है बस उसको विधि निषेध कहकर बोल दे और दुनियाको बहका दे कि देखो हम अनेकान्तसे कह रहे कि नही। जीव नित्य है, अनित्य नही। देखो हां कह दिया, न कह दिया। अरे विरुद्ध धर्म

कहाँ आया ? जीव नित्य है से क्या कहा गया ? शाश्वत है सो यही अनित्य नही । पक्षमे कहा गया । द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियोके आधारसे विरुद्ध धर्मोका जो वर्णन जो किया जाता है वही स्याद्वाद अनेकान्त कहलाता है । तो वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है । उसमेसे केवल द्रव्यदृष्टिका वर्णन एकान्त है, पर्यायदृष्टिका वर्णन एकान्त है । द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुको जानकर फिर जिस दृष्टिको मुख्य करनेमे आत्मस्वभावकी दृष्टि बनती हो, आत्मकल्याण होता है उस दृष्टिको मुख्य कर लीजिये, अन्य दृष्टिको गौण कर लीजिये, यह तो मोक्षमार्गकी प्रगतिमे विधेय है । मगर ज्ञान करते समय एक ही दृष्टिका परिचय लेना अन्य दृष्टिका निषेध करना वह बिलकुल स्याद्वादसे बाह्य चीज है । तो यह है एकान्तमिथ्यात्व । जीव एक है या अनेक है ? सामान्य स्वरूपकी दृष्टिसे एक है, आवान्तर सत्ताकी अथवा अनुभूतिकी दृष्टिसे जीव अनेक है । उनमे से जीव एक है इस नयको अपना लिया ब्रह्माद्वैत आदिकने और जीव अनेक है, इसको इस तरह अपनाया बढकर क्षणिकवादियोने कि केवल एक पर्यायको पूर्ण जीवद्रव्य स्वीकार करके कहते है । जब कि जैनशासन एक ही जीवमें एक और अनेक बातें बताता है । यह जीव द्रव्यदृष्टिसे याने सामान्यदृष्टिसे एक है और पर्यायदृष्टिसे याने विशेष दृष्टिसे अनेक है । तो द्रव्य और पर्याय इन दोनो दृष्टियोसे वस्तुका वर्णन करना स्याद्वाद कहलाता है । इस पद्धतिको छोडकर जो एक ही दृष्टिकी बातको विधि निषेध द्वारा बोलकर बहकाने वाली बात हो वह स्याद्वाद सम्मत नही कहलाती । यह है एकान्तमिथ्यात्व ।

पंच मिथ्यात्वोंमें विनय मिथ्यात्वका निर्देश—विनय मिथ्यात्व—सभी हमारे प्रभु है, सभी हमारे गुरु है । हमसे तो सब बडे ही है, सबका विनय करना, धर्मदृष्टिसे वह विनयमिथ्यात्व है । विनयमिथ्यादृष्टि दलील देते है ऐसी कि कोई किसी रास्तेसे चले, कोई किसी रास्तेसे चल रहा हो, जा रहे सब एक मोक्षके महलमे ही । पर क्या ऐसा हो सकता कि कोई किसी रास्तेसे जाय, कोई किसी रास्तेसे जाय और वे एक जगह पहुच जायेंगे ? नही हो सकता । अच्छा, और हो सकता है । देखिये—आपके इस मंदिरमे आनेके तीन चार रास्ते हैं, आप सबको मालूम है और सब लोग मंदिर आ भी जाते, पर यहाँ तो कहा जा रहा कि एक ही जगह नही आ सकते सो क्यों ? देखो चाहे कोई कितने ही रास्तोसे आये, पर मदिर के अन्दर प्रवेश होनेका रास्ता तो एक ही है ना ? हाँ पहलेके जो रास्ते है वे जरूर भिन्न-भिन्न हो गए । मगर वे भिन्न-भिन्न रास्ते भी एक इस रास्तेपर पहुंचनेके लिए है, इसलिए वे अनेक प्रकारके होकर भी एकके ही साधक है, ऐसे ही मोक्षमार्गमे चलने वालोके कुछ दूर तक तो अनेक रास्ते है, कोई गृहस्थ धर्ममे रहकर मोक्षमार्गमे चल रहा है, कोई मुनिधर्ममे रहकर मोक्षमार्ग मे चल रहा है, उसमे भी बहुत विधियाँ है, मगर

वह व्यवहारधर्म, वह परम्पराकी बात, दूरकी बातमे भेद पड गया है। अब चाहे गृहस्थका धर्म हो, चाहे मुनिका धर्म हो, सब ज्ञानियोकी दृष्टिमे एक आत्मस्वभावकी दृष्टि, आत्मस्वभाव का रमण, आत्मस्वभावमे मग्नताका ही ध्येय है। चाहे गृहस्थ हो और चाहे मुनि हो, मुनि आगे है, गृहस्थ पीछेके रास्तेमे है, पर अभिमुखता दोनोकी एक ओर ही होती, इस तरह तो यथायोग्य विधि बन जायगी। सप्तम प्रतिमाधारीका भी विनय, क्षुल्लक, ऐलकका भी विनय, मुनिका भी विनय, यो तो विनय एकान्त न बनेगा, पर जहाँ लक्ष्य नही है, मोक्ष का स्वरूप, मोक्षमार्गकी अभिमुखता यह बात जहाँ नही है, ये जो अनेक सिद्धान्त हैं उनमे सबको एक समान मानकर विनयभाव करना यह विनय एकान्त है। जैनशासनमे पूजा, आदर, विनय धर्मदृष्टिमे त्याग और व्रतको ही कहा गया है। केवल सम्यग्दर्शन होनेसे उसकी महिमा बतानेके समय उसकी प्रशसा गायी गई है, पर सम्यग्दृष्टि मात्र हो, अव्रती हो तो उसको जैनशासनमे यह विनय, पूजा आदिककी बात नही कही गई, क्योकि उसमे फिर अव्यवस्था है। क्या पता कहो इन गाय, बैल, घोडा आदिक जानवरोमे भी अनेकोको सम्यग्दर्शन हो। होता ही है अनेक पशुवोको सम्यग्दर्शन। बताया है कि जितने मनुष्य सम्यग्दृष्टि है उनसे कई गुने अधिक सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च होते हैं संसारमे। सम्यग्दृष्टि मनुष्योकी सख्या बहुत कम है, उनसे अधिक सम्यग्दृष्टि जीव देवोमे भी मिलेंगे और तिर्यञ्चोमे तो बहुत अधिक मिलेंगे। ढाई दीपमे सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च भी मिलेंगे और ढाई द्वीपसे बाहर अन्तिम द्वीप समुद्रको छोडकर बीचके जितने अनगिनते द्वीप समुद्र हैं उनमे पशुवोकी सख्या अधिक है सम्यग्दृष्टि और पचम गुणस्थान वाले भी मनुष्योंकी अपेक्षा तिर्यञ्चोमे बहुत पाये जाते है विनयमिथ्यात्व—सभी अनुयायी, सभी संन्यासी, सभी लोगोंको, सभी देवोंको, सभी मूर्तियोको एक समान समझकर है तो सब हमसे बडे, है तो सब भगवानके रूप, ऐसी आस्था रखकर विनय करना विनय मिथ्यात्व कहा है।

पच मिथ्यात्वोमे संशयमिथ्यात्व व विपरीतमिथ्यात्वका निर्देश—सशयमिथ्यात्व—वस्तुके सम्बधमे अनेक कोटि स्पर्श करने वाला ज्ञान सशय कहलाता है, और उसमे आस्था न बन सके वह सशयमिथ्यात्व है। आत्मा है या नही, अमुक बात है या नही, इसे कहते है सशय मिथ्यात्व। विपरीत मिथ्यात्व– वस्तु है अन्य प्रकार, मान ले अन्य प्रकार इसे कहते हैं विपरीत मिथ्यात्व।

दृष्टियोसे दर्शनकी संभूति—देखिये—जितने दार्शनिक है, जो मूल प्रयोग है, मेरे ख्यालसे उन्होने बेइमानी करके, जानबूझ करके इन दर्शनोकी रचना नही की, किन्तु सब सुनते पढते-लिखते चले आये उसी बीच उनको जैसी श्रद्धा बनी जिस एकान्ततत्त्व की, उसका

उन्होने निरूपण किया । और जब नय विभागसे पता पड़ेंगे तो सभी दार्शनिकोंकी बात एक सही ज्ञात होगी कि इसका यह भाव है, इस इस प्रकारसे यह इस तत्त्वपर आया । इस विषय मे एक अध्यात्मसहस्री पुस्तक है उसमे एक अध्यायमे यह ही सूत्र बताया गया कि किस दृष्टि से किसका सिद्धान्त बना हुआ है । कठिनसे भी कठिन कोई बात ले लो पुरातन दार्शनिकोंकी वह किसी नय विभागसे मिलेगा । कही एक नयसे मिलेगा कही दो तीन नयोका सयोग समागमसे मिलेगा, पर उनके आशयका पता यह नय पाड देगा कि किस अभिप्रायमे रहकर उन्होने यह बात देखी और फिर उसका एक एकान्त बन गया । जैसे ईश्वर जगत्का कर्ता है इसके मानने वाले अनेक दार्शनिक है, और आजके उठे हुए सम्प्रदाय भी हैं । वहाँ ईश्वरका अर्थ क्या है ? जो स्वयं अपने ऐश्वर्यमे यथार्थ हो, अपनी परिणति करनेमे दूसरेकी परिणति की अपेक्षा न करनी पड़ती हो, अर्थात् अन्य पदार्थोंकी परिणतिका साझेदार बनाकर परिणमन न करना पड़ता हो उसकी साझेदारीके बिना केवलका परिणमन चले उसे कहते है ईश्वर । वे है प्रत्येक जीव : प्रत्येक जीव अपनी सृष्टिको, निमित्तको, उपादानको करता चला आ रहा है । जैसा शरीर मिला, तो जीवके जैसे भाव हुए उस प्रकारका कर्मबंध होना उस कर्मके उदयमे आहार वर्गणावोका वहाँ परिणमन हुआ । लेकिन शरीररचना इस जीव ईश्वरके कारणसे हुई । क्रोध, मान, माया, लोभ यह रचना जीवकी हुई । सर्व सृष्टियोका कर्ता कहीं विचित्रतया, कही निमित्ततया यह जीव पाया जाता है । जगत्मे जो कुछ भी यह दिख रहा है खम्भा, पत्थर, चटाई, कपडा इनमे कुछ भी ये सब जीवके शरीर है । कोई जीवके द्वारा छोड़ा गया शरीर है । कोई जीवसहित शरीर है, यह खम्भा खड़ा है, यह जीवसे त्यक्त शरीर है, इसकी यह शक्ल न बन सकती थी यदि जीवका सम्बंध न होता । जो कुछ दिख रहा है ये सब शक्ल कभी भी न बन सकते थे यदि इनमे कभी जीवका सम्बंध न होता । यह खान मे था, वहाँ जीवका सम्बंध था, यह शक्ल बन गई, बढ़ गई, वहाँसे निकाल लिया तो मृतक हो गया, पर जो दिख रहा है वह सब जीवका देह है । कोई मुर्दा देह है, कोई जीवित देह है, तो आखिर ये सब सृष्टियाँ जीवकी हो तो हुईं, होता भिन्न-भिन्न जीवो द्वारा, एक जीव द्वारा नही । तो यहाँ तक आये कि जीव ईश्वर द्वारा यह सब सृष्टि चली । अब इस निर्णय के बाद वे सब जीव स्वरूपतया एक दिखे, जीवके स्वरूपपर दृष्टि गई तो एक नजर आया । तो कही कुछ समझ आयी, कही कुछ समझ आयी । अनेक जीव ईश्वर सृष्टिकर्ता हैं । स्वरूप देखें तो वह ईश्वर केवल एक विदित हुआ, ऐसा होते होते एक ईश्वर सृष्टिकर्ता है, यह सिद्धांत बन गया । जब प्रारम्भ हुआ होगा तब ऐसा ही आशय मिलता-जुलता था । आज वह आशय न रहा और एकदम ऐसी बात चित्तमे आयी लोगोके कि जैसे कुम्हारने घडा

बनाया वैसे ही ईश्वरने सारी सृष्टियोंको कर दिया। इसके आगे तो अन्य विषय बहुत छोटे हल्के है। वे तो नयविभागसे जल्दी सिद्ध हो जाते हैं। तो विपरीतमिथ्यात्व वस्तु और भांति है, जान्यता और भांति है उसे विपरीत मिथ्यात्व कहते है।

मिथ्यात्वकी अभिगमजता व निसर्गजता—५ प्रकारके मिथ्यात्वके वश होकर यह जीव ससारसे रुल रहा है। यह मिथ्यात्व कही तो समझानेसे बनता है और कही बिना समझाये बन रहा। मिथ्यात्वके अधिकारी अनंत जीव है। समझाकर बने हुए मिथ्यात्वके अधिकारी थोडे जीव है। समझाकर बने मिथ्यात्वका नाम है गृहीत मिथ्यात्व। स्वभावतः निसर्गतः बिना ही समझाये चल रहे मिथ्यात्वका नाम है अगृहीत मिथ्यात्व। गृहीत मिथ्यात्व जिसके होता है वह उसे पूर्ण सत्य समझता है और उसे कोई दिशा नही मिलती नही कि जिससे वह समझ जाय कि यह क्या सत्य भी है? उसे सत्य समझता है और उसपर इतना तीव्र आग्रह रखता है। सत्य समझने वालेको सोचता है कि यह अनभिज्ञ है। इसको क्या पता है? बात तो वास्तविक यह है। जब कोई भविष्य अच्छा हो और चीजको प्रयोगरूपमे लेने लगे तब उसका निर्णय करना आसान होता है। केवल बोलता ही बोलता रहे और प्रयोग करनेकी भावना ही न हो तो वहां उसका निर्णय करनेका मौका खतम रहता है। जैसा किसीने सुनाया, जैसा बताया, कुछ शब्दोमे प्रियताकी चाल होनी चाहिए वहां गृहीत मिथ्यात्व लग जाता है। और फिर वह गृहीत मिथ्यादृष्टि अन्य किसीकी बताई हुई बातको स्वीकार करनेसे लाचार हो जाता है। एक छोटे देहातके गांवके किनारे कोई बढई रहता था और वह बहुत मजाकिया था। सो जो कोई मुसाफिर उस गांवसे होकर निकलता था वह उस बढईके घरके पाससे होकर निकलता था। जो भी मुसाफिर उससे किसी गांवका रास्ता पूछता तो वह गलत रास्ता बता दिया करता था। और साथ ही यह भी कह दिया करता था कि देखो इस गांवके सभी लोग मसखरे है, उनसे तुम रास्ता पूछोगे तो वे तुम्हे गलत मार्ग बता देंगे, उनके कहनेमे तुम न आना। एक दिन कोई मुसाफिर उसके द्वारसे निकला, किसी गांवका रास्ता पूछा, तो था तो मानो रास्ता वहांसे पूरब दिशाकी ओर, मगर उसने बता दिया दक्षिण दिशाकी ओर। जब वह कुछ आगे बढा और रास्ता पूछा तो लोगोने बताया—अरे तुम गलत रास्ता आ गए, उस गांवका रास्ता तो उस बढईके घरके पाससे पूरब दिशाको जाता है। सभी लोगोने यही बात कही, तो उस मुसाफिरको उनकी बातपर विश्वास न हुआ, समझ लिया कि बढईने सच ही कहा था कि इस गांवके सभी लोग मसखरे है। आखिर वह उसी गलत मार्गको सही समझकर आगे बढता गया। काफी दूर निकल गया। आगे कोई दूसरा गांव मिला, वहांके लोगोसे रास्ता पूछा तो लोगोने बताया कि उस गांवका रास्ता तो

तुम बिल्कुल गलत आ गए । यहांसे वापिस उस गांव जावो और वहांसे एक रास्ता जो पूरब दिशाको जाता है उस रास्तेसे जावोगे तो सीधे तुम अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुंच जावोगे । आखिर उस मुसाफिरको वापिस लोटना पड़ा तब कही उस गांवका रास्ता पाया । तो जब खुद प्रयोग रूपसे चलें, करना है आत्मस्वभावकी दृष्टि । उद्यम करनेकी धुन हो तो बाकी समयोमे सर्व पता पड जाता है कि हमको किस विधिसे रहना है । किस विधिसे चिन्तन करना है ।

आत्महिताभिलाषा होनेपर आत्मोपलब्धिके मार्गकी उपलब्धि—केवल आत्महितका अभिलाषी सर्वज्ञ निर्णय करनेको तैयार रहता है । वह सर्व कथनोमे अपनी धुनकी ही बात रखता है । जैसे लोभी पुरुष कुछ भी बात कहे, मगर धनार्जनकी बातका ध्यान उसके मुख्य रूपसे रहता है, ऐसे ही आत्मधुनका स्वामी किन्ही भी कथनोको सुने, किसी भी अनुयोगका अध्ययन करे, सबसे उसे आत्मतत्त्व तक पहुंचनेकी विधि मिल जाती है । प्रयोग करना चाहे तो उसे सब जगह मार्ग मिल जायगा, पर केवल बोलना, पक्ष या अन्य जो कुछ भी बात चित्तमे है पार्टी मजबूत करना या जो भी ध्येय बने हो, उन ध्येयोके रहते हुए इस जैनशासन के कथनोमे से कोई सारभूत बात ग्रहण न कर सकेंगे । जो केवल आत्महितकी भावना रखता हो उसको मार्ग मिल जायगा, पर जो आत्महितकी भावनासे रहित है वह किन्ही भी विधियो में मार्ग न पायगा । तो जो निसर्ग मिथ्यात्वमें है उसे मार्ग मिलना सरल होता है । कोई संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हो, पर गृहीत मिथ्यात्व हो तो उसको मार्ग पाना कठिन होता है । जो वास्तवमे सोया हुआ हो उसको जगाना सफल होता है और जो जान-बूझकर आंखें मीचकर सोनेका रूप बना रहा है उसका जगाना कठिन होता है । तो ऐसे अनेक मिथ्यात्वके वश होकर यह जीव चतुर्गतिमे भ्रमण करता है ।

परिग्रहेणापि युतांस्तपस्विनो वधेऽपि धर्मं बहुधा शरीरिणां ।
अनेकदोषामपि देवतां जनस्त्रिमोहमिथ्यात्ववशेन भाषते ॥१३०॥

मोहकी प्रबल बैरिता—जो जीव मिथ्यात्वके वशमे है वह जब कुछ बुद्धि पाता है तो किस तरह अपनी बुद्धि चलाता है, यह बात इस छंदमे कही गई है । देखिये—सबसे प्रबल बैरी हम आपका मोहभाव है । बाहरमे किसीको बैरी मानना यह सब कल्पना है और मिथ्या है । दूसरा कोई भी जीव मेरा बैरी नही है । यदि कोई दूसरे लोग मेरा अनर्थ करते हैं तो मेरे ही पापका उदय उसमे मुख्य निमित्त है । जैसा पुण्य कमाया है वैसा उदयमे आ रहा है । कोई दूसरा जीव मेरा बैरी नही है । मेरा बैरी मेरा मोहभाव है, रागद्वेष भी बैरी हैं, पर प्रबल बैरी, बैरियोका राजा मोहभाव है । मोह मायने भेद ज्ञात न हो सकना परमे

और स्वमे एकता जानना इसे मोह कहते है जैसे शरीरको ही समझा कि यह मैं हूं, देहको ही जीव मान लिया यह मिथ्यात्व हुआ । तो यह मिथ्यात्व तो है ही, पर कुछ बुद्धि मिलती है, तो यह कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रको भी हितकारी मानने लगता है ।

मिथ्यात्वमे देवमूढ़ता—मूढतायें ३ कही गई है—(१) देवमूढता, (२) पाखण्डमूढता और (३) लोकमूढता । देवमूढता उसे कहते है जो जीव रागी द्वेषी है, जिसकी वृत्तिया विकारोसे भरपूर है तो भी उन्हे देव मानना अथवा वे अपनेको देवरूपसे जनायें तो इनको देव मानना यह देवमूढता है । देखिये—अपनेको क्या करना है ? जिससे शान्ति मिले, राग-द्वेष मोहसे रहित होना है । और अपने स्वरूप आत्मामे अपने उपयोगको लीन करना है । तो ये बातें जहाँ हो चुकी हो उनकी ही सेवामे तो लाभ है या जो इनसे विपरीत है, विषयकषाय के वश है, रागद्वेष हो रहे है तो क्या उनकी आराधना पूजामे लाभ है ? संसार तो दुःखमय है । ससारकी कोई भी चीज चाहने योग्य नही है । मानो कोई देशका राजा बन गया तो क्या वह सुखी हो गया ? अरे उसकी चिंतायें उसके साथ है, और राज्य छिन जाय, जैसे कि आजकल वोटोके आधारपर बडे बनते है, मिनिस्टर बनते है और अगले चुनावमे वोटोंमे हार जायें तो उनको कितना परेशान होना पडता है । तो संसारकी कौनसी ऐसी वस्तु है जो इस जीवको सुख दे सकती है ? कुछ भी पदार्थ नही । जो आज देख रहा है कि यह बहुत ऊँची विभूति है, यह बडा अच्छा पदार्थ है, तो वह दुःखका ही कारण बनता है । देखिये—जो जितना अधिक ऊँचाईसे गिरेगा वह उतना ही अधिक चोट खायगा । तो संसारमे कुछ ऊँचा कहलवानेकी बात न विचारें । यहाँ चाहे तो यह चाहे कि मुझे चाहिये वीतरागता । इसके लिए वीतराग देवकी उपासना करें । जो जीव मोह मिथ्यात्वके वशमे है वे स्वयं रागी द्वेषी हैं, वे देव नही है । उनकी आराधना करना देवमूढता है ।

मोहमे पाखण्डिमूढ़ता—पाखण्डमूढतामे यह जीव मिथ्यात्वके वश होकर परिग्रहसे सहित गृहस्थो को साधु संत तपस्वी मानता है । यद्यपि जितने भी साधु हो गए निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गए वे सब वास्तवमे साधु है यह बात नही कही जा सकती, मगर जो भी वास्तवमे साधु हैं वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेषमे ही मिलेंगे । अन्य भेषमे साधुपना नही हुआ करता, मगर मिथ्यात्वके वश होकर जीव परिग्रहसे युक्त मनुष्यो को साधु तपस्वी बतलाता है । यह है पाखण्ड मूढता । जो परिग्रहसहित है, आरम्भयुक्त है ऐसे मनुष्यने कुछ मुद्रा बना ली हो, जैसे लगोट पहन लिया, राख बदनमे रमा लिया, जटा बढा ली, त्रिशूल ले लिया, पचाग्नि तप तपने लगे, कुछ लौकिक जनो से विलक्षण बात करने लगे, तो उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव गुरु मानने लगते है, पर वे वास्तवमे गुरु नही है, क्यो कि हमे चाहिए एक आत्मतत्त्वकी उपा-

सना। मैं आत्माके सही स्वरूपको जानूँ और उसमे ही रम जाऊँ, यह ही चाहिये ना ? तो ऐसा व्यक्ति ऐसे पुरुषो को ही गुरु मानेगा जो आत्मतत्त्वकी आराधनामे लगे है। और संसार का कुछ भी जिनको चाहिए नही है वे ही तो वास्तवमे गुरु है। तो मोही जीव परिग्रहसहित को गुरु मानते है।

व्यामोहियोंकी लोकमूढ़ता—लोकमूढता अर्थात् धर्मके बारेमे विपरीत कल्पनायें करना। जिन कार्योंमे महापाप होता है, जीवों का वध होता है ऐसे कार्य करके लौकिक जन मानते है कि मैंने धर्म किया। जैसे देवताके आगे पशु-पक्षियों का वध करके सोचते है कि मैने बडा धर्म कर लिया। अरे कितना अधकार है उनके हृदयमे और उस वध किए हुए मांसको लोग देवी देवतावोका प्रसाद मानते है, तो यह है सब अज्ञानभाव। नदी, समुद्रमे स्नान कर धर्म मानना, पर्वतसे गिरकर मरनेमे धर्म मानना, बालू पत्थरोका ढेर लगाना, वृक्षादि पूजनेमे धर्म मानना आदि सब है अज्ञानभाव। मिथ्यात्वके उदयमे इस जीवको ऐसा ही सूझता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष जिसको आत्माके सहजस्वभावका अनुभव बना है जिसको अपना आनन्द मिल गया है वह पुरुष तो इस आनन्दरससे छके हुए पुरुषोकी ही पूजा उपासना करेगा।

विबोधनित्यत्वसुखित्वकर्तृताविमुक्तितद्धेतुकृतज्ञतादयः।
न सर्वथा जीवगुणा भवत्यमी भवंति चैकांतदृशेति बुध्यते ॥१३१॥

मिथ्यात्वविपाकवश तत्त्वके सम्बन्धमे नाना विकल्पनायें—धर्म और दर्शन अनेक हैं। जो केवल एक ही अशका हठ करते है। किसीका सिद्धान्त है कि विज्ञानमात्र ही तत्त्व है और यह कुछ नही है। केवल ज्ञानस्वरूप ही ज्ञान ज्ञान ही तत्त्व है यह ज्ञानका एकान्त है और उनकी युक्ति यह है कि जैसे कोई स्वप्नमे देखता है तो दिखता तो उसे सब कुछ है, ज्ञानमे सब आता है—मंदिर, पानी, जगल, पहाड, सांप, बिच्छू, शेर, हाथी आदि सब सही दिखता है, पर वहाँ सही तो कुछ है नही। तो ऐसे ही यहाँ जगते हुए की हालतमे भी ज्ञान मे तो सब आ रहा—मकान है, धन है, परिजन है, सो ये विज्ञानएकान्तवादी कहते है कि यह सब भ्रम है। जो कुछ दिख रहा है वह सब ज्ञानस्वरूप है। जैनधर्म क्या कहता है कि जो ज्ञानस्वरूप है सो तो जीव है और जो ज्ञानस्वरूपसे रहित है वह अजीव है। जिसमे जानने देखनेकी शक्ति है वह जीव है और जिसमे जानने देखनेकी शक्ति नही सो जीव नही। और ये दिखने वाले पुद्गल अजीव हैं। सो यहाँ कुछ दिखा रहे हैं कि मिथ्यात्वके उदयमे ऐसे-ऐसे एकान्तमत निकलते हैं। किसी मतका कहना है कि वस्तु सर्वथा नित्य है, ब्रह्म जिसे कहते, आत्मा वह अपरिणामी है, नित्य है, उसमे कुछ फेरफार नही है। उसका परिणमन

नही है । जो रागद्वेष सुख दु:ख हो रहे है वे प्रकृतिके धर्म है ऐसा उनका कहना है । जैन सिद्धान्त क्या कहता है कि जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है । जब यह जीव है तो सदासे है और सदा तक रहेगा, किन्तु इसकी अवस्थायें तो बनती है । आज मनुष्यभव मे हैं, कभी किसी भवमे थे, कभी किसी भवमे थे, तो ये जो अवस्थायें बदलती है—अभी क्रोध है, थोडी देरमे मान हो गया, फिर शान्त हो गया, फिर लोभ हो गया, तो जो अवस्थायें बदलनेपर भी आत्मा अपने स्वरूपमे अचल है । सो स्याद्वादसे तो सर्व धर्मोंकी सिद्धि होती है, पर उसमे ये केवल एक ही धर्मका एकान्त करना यह मिथ्यात्वमे होता है । कोई पुरुष समझता है कि जीवके सुख दु:ख ये जीवके गुण है, पर ये जीवके गुण नही है । जीव का गुण तो आनन्द है, उस आनन्द गुणका विकार बना है सुख दुःख । यदि सुख दु:ख जीव के गुण होते तो जीवके साथ सदा रहते । ये तो विकार हैं, ये मेरे स्वरूप नही है ।

आत्माके निर्णय बिना धर्मकी दिशाका भी अलाभ—देखो अपने आपका कल्याण करना है तो पपना निर्णय जरूर करना पडेगा कि मैं क्या हू, कहाँसे आया, किस रूपमे हू और किस-किस रूपमे था, और न चेते तो किस-किस रूपमे फिर रहेगे । और अगर चेत गए सन्मार्ग मिल गया तो किस रूपमे मैं होऊँगा आदि सारी बातें ठीक तरहसे समझना है । परिवारसे मोह कर-करके या धन-दौलतको चित्तमे बसा-बसाकर इस जीवका पार न पडेगा, बल्कि यह जीवन व्यर्थ खो दिया समझिये । यदि धर्मसे अलग होकर और इन बाहरी बातोमे .त। करने लगे, धर्म इतने ही मात्रको न समझें कि मदिरमे आये, प्रभुकी स्तुति कर ली, कुछ विनती बोल ली, बस धर्म हो गया । अरे मदिरमे आकर, प्रभुकी विनती बोलकर भी चित्तसे अगर मोह नही हटा रहा तो वहाँ धर्म नही हो रहा । मोह तो भीतर बसा हुआ है । सो इसी भावसे वह धर्म कर रहा है कि मेरा घर सुखी रहे, मेरा परिवार सुखी रहे और सबकी खूब तरक्की हो, ऐसे भावोको लेकर वह मदिरमे धर्मकार्य कर रहा है, उसे धर्म नही मिल रहा, कभी कषायें मंद हो, उस तरफसे भी उपयोग हटे तो थोडा पुण्यबंध हो जायगा, पर भेदविज्ञान जगे बिना, आत्मस्वरूपका प्रकाश पाये बिना धर्म न हो पायगा । मोक्षमार्ग न मिल पायगा । दो बातें एक साथ किसीके नही हो सकती कि विषयोका मौज भी खूब मिलता रहे और धर्म भी खूब कर लेवें । आपको निर्णय करना होगा कि हम संसारमे जन्म मरण करते रहनेका ही प्रोग्राम रखें या सर्व सकटोसे छूटकर सिद्धप्रभु होनेका प्रोग्राम बनायें, इन दो मे से एक कुछ निर्णय करना होगा । ये दोनो बातें एक साथ नही हो सकती । तो अपना अपना निर्णय बनाइये, घर गृहस्थीमे रहते है तो करना सब पड रहा, मगर उसे समझना चाहिए कि अपना गुजारा करनेके लिए सब करना पड़ रहा, पर वास्तवमे करने योग्य

मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। यदि यह ध्येय न बना पाये और वैभवो मे ही रम गये, परिजनोसे ही मोह करते रहे तो यह जीवन यो ही व्यर्थ जायगा।

अधर्मभावके परिहारमे ही धर्मकी संभवता—एक उदाहरण है कि कोई दो भाई थे, तो छोटा भाई तो था पुजारी, भगवानका भक्त और बडा भाई दुकान धंधा रोजगार करने वाला, छोटा भाई रोज-रोज बडे भाईको समझाता रहता था कि देखो तुम धर्मके कामोसे दूर रहते हो, केवल व्यापार धधाके कामोमे ही अपना उपयोग फसाये रहते हो, सो यह तुम्हारे लिए ठीक नही, धर्ममे अधिक दृष्टि दो। तो उस बडे भाईका जवाब होता था कि ठीक है, हम धर्म नही करते, मगर तुम्हे धर्मका काम करनेकी हम पूरी छुट्टी तो दिए है, तुम्हारे धर्म के काममे हम कोई दखल तो नही देते, इससे हम भी अपनेको ऐसा समझते कि हम भी धर्म कर रहे। अब देखिये हुआ क्या कि किसी कारणसे छोटा भाई रुग्ण हो गया, उस रोगमे उसकी मरणासन्न दशा हो गई तो उस रोगसे घबडाकर बोला—भैया जी अब तो हमारा जीवन रहना मुश्किल है, हमारे न रहनेपर पता नही हमारे बच्चोका क्या हाल हो, सो आप उनका पूरा ध्यान रखना, उनको किसी बातकी तकलीफ न होने पावे, उनकी तुम सब प्रकार से व्यवस्था बनाये रहना""तो बडा भाई समझ गया कि हमारे इस छोटे भाईको इन बाल-बच्चोका मोह इस मरणासन्न दशामे सता रहा है। सब बात समझ गया, सो बोला—अरे तुम क्यों व्यर्थकी मोह ममतामे पड रहे? तुमने जिन्दगीभर धर्म करके भी कुछ धर्म नही किया। खैर तुम अब इन बाल-बच्चोंकी चिन्ता छोडो हम उनकी सब प्रकारसे व्यवस्था रखेंगे। उनको कोई तकलीफ न होने देगे। और यदि तुम्हे विश्वास न हो तो ये लो एक कागजपर मैं लिखकर तुम्हारे बाल-बच्चो को दिए देता हूँ कि मेरे पास जितना जो कुछ धन सम्पत्ति है वह सब मेरे छोटे भाईके बाल-बच्चोंकी है। मैं तो सिर्फ एक छोटीसी झोपड़ीमे रहकर साधारणसा कोई काम करके अपना गुजारा चला लूंगा।""इस प्रकारकी बात सुन-कर वह छोटा भाई बडा लज्जित हुआ और बोला—भाई मैं बड़ी भूलमे था, अब मेरा शल्य निकल गया। अब मेरे ममत्व नही रहा। और आप जैसा जानें सो करें, मैं तो अब आत्मा मे लीन होना चाह रहा हू। आखिर उसने समाधिपूर्वक मरण किया। उसके नामपर उसके बडे भाईने धर्मार्थ औषधालय बनवाया, अपने पास जितनी जो कुछ सम्पत्ति थी उसका बह भाग उस छोटे भाईके बाल-बच्चोंके नाम कर दिया। और स्वयं एक छोटीसी झोपडीमे रहकर कोई साधारणसा काम करके अपना जीवन निर्वाह करने लगा। तो समझिये कि जहाँ अपने भाव उत्तम है वहाँ तो धर्म चल रहा और जहाँ भावोमे कलुषता है, मायाचार है, वहाँ धर्म नही।

सर्व सतोंका स्वतंत्र सत्त्व—कितने ही लोग वस्तुका सही स्वरूप न जानकर कुछसे कुछ मानते है--जैसे कोई इस जगत्का रचने वाला है। पर देखो तो सही यह जगत् क्या है ? यह सब जो कुछ दिख रहा है इसकी सृष्टिका निमित्त कारण यह जीव है। यह जीव जहाँ जाता है वही किसी न किसी शरीररूप बन जाता है और सारी रचना चलती है। यदि कोई बाहरसे रचने वाला आया तो बताओ जब कोई चीज हो उससे रचा या कुछ न था और रच दिया। आखिर कुम्हार भी तो जब घडा बनाता है तो मिट्टीसे ही तो बनाता है। स्वर्णकार कलश बनाता है तो स्वर्णसे ही तो बनाता है। तो यदि किसी एकने इस सारे जगत्को रचा, समस्त पदार्थोंके समूहको बना डाला तो बताओ उनका उपादान कुछ था या नहीं ? अगर कुछ भी उपादान न था तो असत् कैसे प्रकट हो सकता है ? और था उपादान तो सृष्टि भी क्या रची ? सर्व पदार्थोंका स्वभाव है ऐसा कि वे समय-समयपर नई-नई अवस्थायें बनाते रहते है। यह स्वभाव द्रव्यमे चल रहा है अनादिसे-तो हम अपने भविष्यका निर्माण किया करते है। आज जैसे परिणाम कर रहे है उसके अनुसार हमारा भविष्य बनेगा। तो देखो मोह करना बिल्कुल व्यर्थ और गदा परिणाम है। बिल्कुल भिन्न जीव हैं, भिन्न पदार्थ है, क्या सम्बध है ? आपके घरमे जितने जीव है उनसे भी बहुत अच्छे गुणी सुन्दर और लोग भी है, और बच्चे भी है। उनमे क्यो ममता जगती ? इन घरके कुछ जीवोमे ही क्यो मोह ममता बन रही ? जैसे वे बाहरके जीव अत्यन्त भिन्न है वैसे ही ये खुदके घरमे आये हुए जीव भी उतने ही भिन्न है। भिन्नतामे कुछ अन्तर नही। जीव सब मुझसे निराले है, मेरेमे मैं ही हूँ। तो जब अत्यन्त भिन्न हैं तो उनमे यदि यह छंटनी बन जाय कि ये तो मेरे है और ये गैर है तो यह तो उसने अनन्त आत्मावोके स्वरूपकी उपेक्षा कर दी। अन्य आत्मावोका जो स्वरूपमे परमात्मा है उनका तिरस्कार करता है। मोह करना इस जीवके लिए बिल्कुल व्यर्थकी विडम्बना है। तो जो नही जानता है वस्तुका यथार्थ स्वरूप वह कितने ही एकान्त दर्शनोमे रम जाता है। पर्यायोको ही गुण समझकर ऐसे अनेक गुण अनेक दर्शनो ने माने। मुक्ति संसारपना, कृतज्ञता आदिक अनेक बातें गुणरूपमे मानी, मगर गुणरूप तो जीवका केवल चैतन्यस्वभाव है, बाकी तो यह सत बेकार है। एक भाव बने—अपने आत्मा को देखो—मैं आत्मा हू, मैं अनन्त गुणोका पुञ्ज हू, परमार्थसे अखण्ड हूं, जब भेददृष्टि करके निहारता हूँ तो ये ज्ञान दर्शन, आनन्द, श्रद्धा, चारित्र आदिक अनेक गुण आत्मामे मालूम होते है।

आत्माकी स्वतंत्रता—लोकमे सभी सतोका अपने आपके खुदमे परिणमन चल रहा है तो मैं अपने काममे रह रहा हूँ। मैं दूसरे जीवका काम नही करता। कोई सोचता हो कि

मैं दूसरेको दुःखी कर देता, दूसरेको सुखी कर देता तो यह सोचना उसका बिल्कुल मिथ्यात्व है, क्योकि उसके यदि पापका उदय नही है तो कितना ही कोई प्रयत्न करे, पर दूसरा दुःखी नही हो सकता। यदि दूसरेके पुण्यका उदय नही है तो आप कितने ही प्रयत्न करें, पर वह सुखी नही हो सकता। लोग ऐसा सोचते है कि हम छोटे-छोटे बच्चोको पालते पोषते है, मगर बात वहाँ यह है कि उन बच्चोका पुण्य अधिक है जिससे उनकी नौकरी करनी पड़ रही है, यह अहकार करना व्यर्थ है कि मैं बच्चोको पाल रहा हू। हाँ हो रही है आपके द्वारा सब व्यवस्था यह बात और है। उनके प्रति प्रेमका व्यवहार भी कीजिए, मगर भीतर मे यह अहंकार न रखें कि मैं दूसरोको पाल रहा हू, दूसरोको सुखी कर रहा हूँ। सबके कर्म सबके साथ है। कर्मोंके उदयके अनुसार ही सबकी सब बात बनती है। आप किसीके मदद-गार न होगे, आप अपनेको सम्हालें। और दयावश दूसरोको भली बातकी शिक्षा दें, यह तो आपका कर्तव्य है, मगर भीतरमे यह अहकार न जगना चाहिए कि मैं इन बाल-बच्चोको सन्मार्गपर लगाता हू, मैंने इनको इतना इतना सम्बोधन किया है··· । अरे जो सन्मार्गमे लगे हैं, सो अपनी कलासे अपने विकाससे सन्मार्ग पर लगे है। मैंने किसीको सन्मार्ग पर नही लगाया, मैंने किसीका कुछ पालन-पोषण नही किया। सर्व जीव अपने-अपने अर्जित किए हुए कर्मोंके अनुसार अपनी सृष्टि पाते है और स्वयंकी रचना बनाते हैं। ऐसा जानकर चित्तमे गर्व न होना चाहिये। और कायरपना भी न अनुभवना कि यह मुझे दुःखी कर देगा, यह मेरा न जाने क्या बिगाड कर देगा ? अरे अपने ज्ञानस्वरूपको सम्हालें। बाहरमे मेरा कुछ है ही नही। बाहरमे यदि कभी कुछ कम हो जाय तो उससे आत्मामे कमी नही कहलाती। अपना ज्ञानस्वरूप देखो, जो ज्ञानका जहाँ विकास हुआ है ऐसे प्रभुकी भक्तिमे रहिये बस ये ही दो काम है—सिद्धप्रभुकी भक्ति करना और शुद्ध आत्मारूप अपनेको अनुभवना कि मैं सर्व विकार विडम्बनाओके संकटसे अलग हूं। मेरे स्वभावमे ज्ञान और आनन्द ही बसा हुआ है। जो आत्माको पहिचानेगा सो ससारके दुःखोसे दूर हो जायगा।

न धूयमानो भजति ध्वजः स्थिति यथानिलैर्देवकुलोपरि स्थितिः ।
समस्तधर्मानिलधूनचेतनो विनीतमिथ्यात्वपरस्तथा नरः ॥१३२॥

पूर्व गाथावोंमें वर्णित अज्ञान व एकान्त मिथ्यात्वकी हेयताका स्मरण—इस प्रक-रणमे मिथ्यात्वके भेद बताये जा रहे है, जैसा कि आलोचना पाठमे पढ़ते हैं विपरीत, एकान्त विनयके, संशय अज्ञान, कुनयके। नामोमे मैं पहले पीछे प्रायः बदलकर मिलते है उससे कुछ बात नही। इसी ग्रन्थमे पहले अज्ञानमिथ्यात्व, फिर एकान्तमिथ्यात्व फिर विनय, फिर संशय, फिर विपरीत, फिर गृहीत और निसर्ग ७ प्रकारके मिथ्यात्व बताये जा रहे हैं। तो

अज्ञान मिथ्यात्वमे तो बताया ही था कि अज्ञानवश एकेन्द्रिय आदिक सब मिथ्यात्वमे पडे है, कुछ विशेष बुद्धि भी जगी तो परिग्रहयुक्तको तो तपस्वी मानते, जीवोके वधमे धर्म मानते और रागद्वेषसहित प्राणियोको देव मानते। ये अज्ञानमे चेष्टायें हुई है। एकान्तमिथ्यात्वमे बताया है कि किसी भी सिद्धातका, मतका, धर्मका हठ कर लेना, बाकी अन्य धर्मोकी अपेक्षा छोड देना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे जीव नित्य है कि अनित्य। नित्य मायने सदा रहने वाला, अनित्य मायने सदा न रहने वाला। तो जीव सदा रहने वाला है या मिटते रहने वाला है ये दोनो बातें यदि द्रव्यदृष्टिसे देखें तो सदा रहने वाला है। जीववस्तुका कब नाश होगा ? पर्यायदृष्टिसे देखें तो जीवकी पर्यायें बदलती रहती है। तो पर्यायरूप जीव तो सदा न रहा। अब उसमे से नित्यका ही हठ कर लेना अथवा अनित्यका ही हठ कर लेना यह एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे बहुतसे दार्शनिक है सो कुछने आत्माको कूटस्थ नित्य माना, कुछ दार्शनिकोने आत्माको केवल क्षणस्थायी माना, सो किसी एक ही वस्तुधर्मका हठ करना, शेषको न मानना यह एकान्तमिथ्यात्व है। ये सब मिथ्यात्व जीवके बैरी हैं इनको छोडनेमे ही आत्महित है।

विनयमिथ्यात्वकी भी हेयता—अब इस छन्दमे विनय मिथ्यात्वकी बात कही गई है। जिन पुरुषोके विनय मिथ्यात्व पाया जाता है उनका मन कही एक जगह नही टिकता। कभी किसीको माना कभी किसीको। जैसे कि मन्दिरके ऊपरकी ध्वजा हवाके वेगसे क्षणभर भी स्थिर नही रह सकती, डोलती ही रहती है, इसी प्रकार जो विनय मिथ्यात्वके वशमे है उनका मन भी सांसारिक मतोके प्रभावरूपी वायुके वेगसे किसी एक धर्ममे स्थिर नही रहता। वह इधर-उधर भटकता ही रहता है। लोग तो कहने लगते कि मार्ग नाना प्रकारके है, पहुचना तो सबको एक ही मंजिलपर है मोक्षमे, पर मार्ग नाना कैसे हो सकते ? कोई इस मंदिर मे आया मानो पूरब दिशासे तो क्या वह चारो दिशावोमे चला गया ? वह तो पश्चिमकी ओर ही आयगा। मार्ग एक ही है मुक्तिका और वह है निश्चयसे आत्माके सहज स्वरूपमे अपने उपयोगको मग्न करना। ससार संकटोका घर है। जिन जीवोका चित्त सदैव बाहरी बाहरी पदार्थोंपर ही रहता है उनको क्षणभर भी विश्राम नही मिल पाता। यहाँ तो मन बहलानेके लिए कोई ताश खेलता, कोई सिनेमा जाता, कोई अन्य उपाय करता, पर वह वास्तविक विश्राम नही है। वहाँ तो उपयोगका बाहर बाहर भटकना ही है। वास्तविक विश्राम मिलेगा सहज आत्मस्वरूपमे। जिसने सहज आत्मस्वरूपके अनुभवका आनन्द पाया है वह जब चाहे किसी भी क्षण दृष्टि दे और उसके दर्शन कर ले। तो सच्चा विश्राम मिलेगा आत्मानुभवमे। इस जीवनमे कर्तव्य है कि अन्य बातें कुछ लौकिक प्रभावकी, महिमाकी

जीवन-यापनकी जैसे गुजरें सो गुजरें, वे प्रधान काम नहीं हैं इस मनुष्यभवमे । मनुष्यभवका प्रधान काम है आत्माको पहिचानना और जैसा वास्तविक सही सहज स्वरूप है उस रूप अपनेको स्वकीार कर लेना, अन्य रूप स्वीकार न करना यह भीतरी काम, गुप्त काम जो केवल अपने ज्ञान द्वारा ही किया जाता है, जो महाभाग कर-सके उसका जीवन सफल है, पर जिसने इस आत्माके सहज स्वरूपकी दृष्टि नही की वह बाहर ही बाहर डोलता है, भटकता है । और प्रत्येक देव, प्रत्येक गुरुकी सेवा उपासनामे अपनेको मुक्तिमार्गपर चलने वाला मानता है । आजकल तो विनयमिथ्यात्वको एक बडा श्रृङ्गार मानते है । ये नेता बडे ऊँचे पहुंचे हुए है, ये किसी भी धर्मसे घृणा नही करते है, सब धर्मोंमे पहुचते है । तो घृणा करने न करनेकी बात नही कही जा रही, पर वस्तुका सही स्वरूप क्या है, उसकी श्रद्धा तो मजबूत होनी ही चाहिये । जिसको वस्तुस्वरूपकी सही श्रद्धा नही है उसके ही विनयमिथ्यात्व हुआ करता है । ये सब मिथ्यात्व इस जीवको संसारमे परिभ्रमण कराने वाले है । इनके वर्णनसे शिक्षा यह मिलती है कि मिथ्यात्व भावसे परे रहना चाहिये ।

समस्ततत्त्वानि न संति सति वा विरागसर्वज्ञनिवेदितानि वै ।
विनिश्चयः कर्मवशेन सर्वथा जनस्य संशीतिरुचेर्न जायते ॥१३३॥

त्याज्य संशयमिथ्यात्वका निर्देश—इस छदमे सशय मिथ्यात्वका प्रभाव बताया गया है । जिनेन्द्र देवने ७ तत्त्व कहे—जीव, अजीव, आश्रव, बध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष । उनके विषयमे संशय होना कि वहाँ इन ७ पदार्थोंको तत्त्व कहा या नही कहा, ये तत्त्व इस स्वरूपके है या नही, आत्मा है या नही, परलोक है या नही, मोक्ष वास्तवमे होता है या नहीं, यो किसो प्रकारका संदेह रखना संशय मिथ्यात्व है । सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित वचनो मे पदार्थोंमे यह मिथ्यादृष्टि जीव शंका रखता है, और यो कहना कि कौन देख आया कि सर्वज्ञ होता या नही, स्वर्ग नरक है या नही, इस प्रकारका संशय करना सशय मिथ्यात्व है ।

पयोयुत शर्करया कटूयते यथैव पित्तज्वरभाविते जने ।
तथैव तत्त्व विपरीतभगिनः प्रतीपमिथ्यात्वदृशो विभासते ॥१३४॥

त्याज्य विपरीत मिथ्यात्वका निर्देश—इस छंदमे विपरीत मिथ्यात्वका वर्णन है । विपरीत मिथ्यादृष्टि वाले जीवको सच्ची बात नही सुहाती । जैसे कि पित्तज्वर वालेको शक्कर मिला हुआ दूध भी कडुवा लगता है । उसकी कैसी जिह्वा हो गई उसका कैसा शरीर हो गया कि मीठा दूध भी उसे कडुवा लगता है । ऐसे ही विपरीत मिथ्यात्व वाले जीवोको वास्तविक तत्त्व चाहे युक्तियोसे भी बहुत समझाया गया हो, पर उन्हे उल्टा ही भापता है । समझाने पर भी वास्तविक तत्त्वका निश्चय नही होता और मिथ्या तत्त्वोमें ही फमा रहता है । कहने,

से कही निर्णय नही बन जाता कि इसकी ऐसी ही श्रद्धा है। शरीर न्यारा है, जीव न्यारा है, ऐसा कहने वाले अनेक लोग हैं, पर साधारण असाधारण गुणोकी परख करना, असाधारण स्वरूपसे निरखकर जो जाने कि ये सब शरीर अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे हैं, यह मैं अमूर्त आत्मा अपने ही स्वरूपसे हू। इस प्रकारकी अन्तर्भावना करके जो परखे सो सत्य समझ सकता है, कहनेका एक ऐसा रिवाज बन गया जो चाहे कहने लगता कि शरीर जुदा, जीव जुदा, पर भावभासना नही है। तो ऐसे जीव भी मिथ्यात्वमे फसे रहते है, शरीरको आत्मा मानना भी विपरीत मिथ्यात्व है। यदि किसी मनुष्यको ऐसा आभास हो जाय कि मेरा अब मरण काल आ गया तो उस समय उसे यदि घबडाहट है तो समझिये कि उसे देहमे आत्म-बुद्धि है तब ही तो वह मरणसे डर रहा। और कोई मनुष्य ऐसे भी मिलेंगे जो मरणके समय प्रसन्न रहते, उनको किसी बातका विषाद नहीं होता। जिसको बाह्यपदार्थोंमे ममता नही, इस दुनियाको असार जिसने जाना, अपने आत्माको अमर माना, जिसकी आस्थामे है कि मैं आत्मा परिपूर्ण हू, यह हूँ तो भी वही हू। जिसने इस आत्माको ही इहलोक समझा और साथ ही परलोक समझा उसको विषाद नही होना। तो यह है भेदविज्ञान। जिसे भेद-विज्ञान हुआ उसका ममत्व टूट जाता है। यदि ममता चित्तमे चल रही है तो न है वह ज्ञानी, न है वह धर्मात्मा। भले ही ऊपरके धार्मिक कार्य करें, पर इन ऊपरी-ऊपरी बातोसे कर्म थोडे ही कट जायेंगे। अन्त धर्मबुद्धि हो धर्मदृष्टि हो, स्वभावका ग्रहण हो, ममता मोह टूट गया हो, एक आत्माकी ही धुनमे रहता हो, जिसकी पहिचान है कि इन्द्रियके विषयोमे प्रीति न होगी और नामवरीकी इच्छा न होगी। इस तरहकी जिसको अपने आतमाकी धुन हो वही पुरुष मृत्यु जैसी घटनावोमे विषाद नही मानता। और जिसको देहमे आत्मबुद्धि है वह इसमे अपना विनाश समझता है। तो विपरीत मिथ्यात्वमे इस जीवको सही तत्त्व सुहाता नही, जिनवाणी सुहाती नही।

ज्ञानको ज्ञानके साधनकी व ज्ञानियोकी अनुरक्तिका परिणाम—देखिये—खास बात यह है कि केवलज्ञान पाये बिना ससारसंकट मिटेंगे नही और केवलज्ञान जिस ज्ञानधाराम रहकर मिलता है वह है आत्मज्ञानकी धारा, और यह आत्मज्ञान, यह ज्ञानप्रकाश ज्ञानावरण कर्मके दूर हटे बिना नहीं होता और उन कर्मोंके हटनेका उपाय ज्ञानमे, ज्ञानके साधनोमे, ज्ञानियोमे अनुराग जगना यह है ज्ञानावरण कर्मको दूर करनेका पुरुषार्थ। अनेक लोग होते है ऐसे कि बड़ी-बडी धर्मशाला, बिल्डिग, मन्दिर या अन्य-अन्य चीजें दुनियाको दिखें उनके बनवानेमे बडी उमग रखते, बडा द्रव्य खर्च करते, तो ठीक है, ये सब बातें चलेंगी, किन्तु ज्ञानप्रचारका कोई प्रसंग आये, पाठशाला खुलवाये, शास्त्रोका प्रकाशन हो, व्याख्यान आदिक

का प्रबन्ध हो तो इन बातोको वह बेकार मानता है और उसमे उमग नही जगती । तो ऐसे जीव बड़े दयापात्र है, वे कैसे भविष्यमे ज्ञानप्रकाश पायेंगे, यह बहुत सोचनीय बात है । तो यदि अरहंत-पद प्राप्त करना है, केवलज्ञानी बनना है तो ज्ञानमे धुन होना, ज्ञानके साधनोमे धुन होना, दूसरोके ज्ञानवर्द्धनमे सहयोग देना, इनमे यदि वृत्ति है, अनुराग है तो यह ज्ञाना- वरण कर्मको-ढोला कर देगा और उनका क्षयोपशम बनेगा । तो ज्ञानविकास होगा, पर यह सब एक गुप्त साधना है । इसमे भी भीतर अन्य कोई आकांक्षा न हो, विशुद्ध ज्ञानप्रकाशका भाव हो तो वह ज्ञान थोड़े ही-कालमे अथवा अगले ही भवमे ज्ञानविकास प्राप्त करेगा । यहाँ ही लडकोको देखा जाता कि कोई लडका इतना बुद्धिमान् होता कि एक बार कोई बात बता दी गई तो वह उसको भी सीख लेता और उससे सम्बंधित अन्य बातें भी अपने आप सीख लेता, और कुछ लडके ऐसे होते है कि वर्षो प्रयत्न करनेपर भी वे पढ ही नही पाते । बडी उम्रके हो जाते, फिर भी छोटी कक्षावोमे पढते रहते । कुछ उनकी प्रगति ही नही हो पाती, तो यह फर्क कैसे आया ? यह फर्क आया ज्ञानावरणके क्षयोपशमका । उन्होने पूर्वभवमें जैसा ज्ञान और ज्ञानके साधनोके प्रति व्यवहार किया उस प्रकारको उनका भविष्य बना । जिसने ज्ञानकी साधना की, दूसरोके ज्ञानके साधन दिलाये, ज्ञानदान किया, खुद पढाया-लिखाया, ज्ञानमे उमंग रखी, ज्ञानियोको देखकर खुश हुए, ऐसा पुरुष मरकर वह बालक हुआ जो एक बारके सिखानेमे बहुत कुछ सीख जाता है । कोई दूसरा पुरुष जिसने ज्ञानमें अन्तराय डाला, ज्ञानियोसे ईर्ष्या की, ऐसा पुरुष मरकर ऐसा लडका बना कि जिसको कितने ही ट्यूशन दिल- वाये गए, कितने ही मास्टर लगवाये गए तो भी वह आगे नही बढ सका । तो जिसको अपने ज्ञानस्वरूपका विकास चाहिए उसका कर्तव्य है कि वह आत्मविज्ञानके साधनोमे प्रीति करे, ज्ञानी जनोको देखकर हर्ष भाव लाये तो उसके कर्म क्षीण होगे और वह ज्ञानावरणके क्षयोप- शमके अनुसार ज्ञानलाभ पायगा ।

> प्रपूरितश्चर्मलवैर्यथाशनं न मंडलश्चर्मकृतः समिच्छति ।
> कुहेतुदृष्टांतवचः प्रपूरितो जिनेंद्रतत्त्वं वितथं प्रपद्यते ॥१३५॥

गृहीत मिथ्यात्वकी प्रेरणा—५ मिथ्यात्वके वर्णनके बाद इस छंदमे गृहीत मिथ्यात्व की बात कही गई है । जैसे चमारका कुत्ता जो वहाँ रात दिन माँस खाता रहता है, चमार चमड़ा उधेलता रहता और उस कुत्तेको माँस मिलता रहता, तो माँसभक्षी होनेके कारण अब वह अन्नको नही चाहता । कोई रोटी डाल दे तो रोटी पडी रहेगी । तो कुत्ता माँस खाता, उस माँसको ही स्वादिष्ट जानता और अन्नसे घृणा करता, इसी प्रकार जिन जिनके चित्तमे खोटे छन्द, खोटी युक्ति, खोटे दृष्टान्तसे समझाया गया है, रात दिन उल्टा ही उपदेश प्राप्त हुआ है वह पुरुष सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सत्य पदार्थोंको मिथ्या मानता है और उसे समझना

नही चाहता। उस जिनवाणीसे दूर रहता है। जो बात समझा दी गई उल्टी बस उसीको पकडकर रह जाता है। फिर कोई दूसरा कितना ही समझाये उसे ग्रहण नही करता, यह है गृहीत मिथ्यात्व। गृहीत मिथ्यादृष्टि कुदेवको देव मानता, कुशास्त्रको शास्त्र मानता, कुगुरुको गुरु मानता और उनकी इस सेवासे ही अपनेको मोक्ष मानता है, जो समझ लिया, जिस अज्ञानीने जो भी कुतत्त्व समझ लिया उसकी दृष्टिमे वह ही सार लगता है। उसे उसमे दोष नही विदित होते। और कोई सत्य तत्त्व उपस्थित करे तो उसमे भी वह दोष लगाता है। यह है गृहीत मिथ्यात्वका प्रसर। कभी घरमे बच्चोको या किसीको कुछ तकलीफ हो जाय और कोई बहका दे कि अमुक देवी देवताकी मान्यता करो तो सब ठीक होगा। बस तुरन्त तैयार हो जाते। उनको आस्था नही है यह कि जरा असाताका उदय आया और यह निकल रहा यह उदय भी टलेगा। तो यह दुःख भी दूर होगा अथवा वीतराग जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमे ही रहिये—जो होता है सो पाप पुण्यके उदयसे होता है। इस पर आस्था नही जमती। तो यह सब क्या है? गृहीतमिथ्यात्वकी प्रेरणा। सो जो जीव सिखाये गए होकर कुधर्ममे लग जाते हैं वे गृहीत मिथ्यादृष्टि है। उनकी ऐसी हालत है जैसी कि बहाना करके कोई आँखें मीचकर सो गया है तो उसे कोई कितना ही जगाये, पर उसे जगनेका क्या काम? और कोई वास्तवमे सो गया हो तो वह तो जगानेपर जग जायगा। तो ये गृहीत मिथ्यादृष्टि ये बैंधकर मिथ्यादृष्टि हुए हैं। इनको कितना ही समझाया जाय, पर समझना बडा कठिन है। हाँ जिनका भवितव्य उत्तम है वे थोडा ही समझाया जानेपर सुलट जाते हैं। जैनशासनमे ऐसे अनेक आचार्य हुए, अष्टसहस्रीके रचयिता विद्यानन्दि स्वामी जी सैकडो वर्ष पहले हुए थोडीसी घटनामे ही उन्होने विपरीत आस्था तोड ली और स्याद्वाद शासनमे आ गए। अनेक पुरुष जिनका भवितव्य उत्तम है वे गृहीत मिथ्यात्वको भी छोड़ देते है।

यथांधकारांधपटावृतो जनो विचित्रचित्र न विलोकितु क्षमः।
यथोक्तरत्व् जिननाथभाषित निसर्गमिथ्यात्वतिरस्कृतस्तथा ॥१३६॥

निसर्गमिथ्यात्व—जैसे अंधेरेका वक्त है और कोई मनुष्य काले वस्त्रसे ढका हुआ हो तो वह रग बिरगे चित्रोको देख नही सकता। प्रथम तो अधेरा ही हो तो भीतमे बने रग-बिरगे चित्र न दिखेंगे, और फिर काला वस्त्र ओढे हुए हो, ऐसा पुरुष बाहर कुछ भी नही निरख सकता, इसी तरह जो पुरुष निसर्ग मिथ्यात्वके वशमे हैं वे बार-बार उपदेशे जाने पर भी प्रभु द्वारा बताये गए तत्त्वोको नही समझ सकते। निसर्गमिथ्यात्व कहते हैं उसे जो बिना सिखाये बिना समझाये जीवोमे मोहभाव बना रहता है। शरीरको मानें कि यह मैं हूं इसको सिखानेकी कहीं पाठशाला नहीं है, किन्तु बिल्ली, कुत्ते, कीडे, मनुष्य व पशु-पक्षी आदि सभी

अपने आप इस मिथ्यात्वमे पड़े हुए हैं। जो देहको मानता है कि यह मैं हूँ। तो जो सिखाना न पड़े और अपने आप बना हो उसे मोह कहते है। निसर्ग मिथ्यात्व—सो अज्ञानके कारण बडे-बड़े उपदेशो द्वारा समझाया जानेपर भी वास्तविक तत्वका श्रद्धान नही हो पाता, इसे कहते हैं निसर्ग मिथ्यात्व। सारा जगत् इस मिथ्यात्वके वशमे है। अनन्त निगोद जीव निसर्ग मिथ्यात्वमे है, जिनका दूसरा नाम है गृहीत मिथ्यात्व। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियमे सभीके गृहीत मिथ्यात्व है। संज्ञी पञ्चेन्द्रियमे भी बहुत कम मनुष्य हैं ऐसे जिनके गृहीत मिथ्यात्व नही होता। सो उनके भी अगृहीत तो लगा हुआ ही है, बाकी सब गृहीत मिथ्यात्व है। यह मोह ऐसा पिशाच है कि हम आपको बरबाद करने वाला है, ऐसे दुर्लभ मानव-जीवनको निष्फल गंवा देने वाला यह मिथ्यात्व है।

दयादमध्यानतपोव्रतादयो गुणाः समस्ता न भवति सर्वथा।
दुरंतमिथ्यात्वरजोहतात्मनो रजोयुतालाबुगत यथा पयः ॥१३७॥

मिथ्यादृष्टि जीवमें गुणोंका अनवसर—जैसे तूमडीमे मिट्टी भरी हो, राख भरी हो तो उसमे जल कभी न रह पायगा, वह तो सूख जाता है उसी तरह जिस आत्मामे मिथ्यात्व की धूल पडी हुई है उसमे दया, ध्यान, जप, तप आदिक कोई गुण नही ठहर सकते। इस जीवका मिथ्यात्वसे बढकर कोई बैरी नही। जो इन्द्रियसे दिख रहा है वह विश्वासके लायक नही है और रमणके योग्य भी नही है। सब मायामय है, इन वस्तुवोमे मोहभाव करना बिल्कुल मूढता है और उसका ही फल है कि संसारमे दुःखी होते फिर रहे हैं। रात-दिनके क्षणोमे कुछ क्षण तो आत्मदृष्टिमे व्यतीत हो। आत्माकी सुध लेनेमे लग गए वे तो इसके क्षण सफल है और यदि यह काम न किया जा सका तो सारे जीवन यो समझो जैसे कहावतमे कहते हैं—पापड बेले। पापड़ बेलनेमे भी कुछ फायदा दिख सकता, मगर मिथ्यात्वभरी चेष्टावोसे कोई फायदा न मिलेगा। जिसका हृदय अज्ञानसे भरा है, बाहरी पदार्थोंकी ममतासे भरा है, यह मेरा है, ऐसी ममता जिनमे कूट कर भरी है उनमे दया कहांसे आ सकती? जिनके तीव्र ममताका भाव है उनके अन्य सबसे उपेक्षाका भी भाव रहता है। दया उन पुरुषोंके चित्तमे होती है कि जिनको अपने स्वजनोमे तेज ममता नही है। तो अन्य जीवोपर भी कुछ कुछ ध्यान जायगा। यदि कुटुम्ब आदिकमे तीव्र ममता है तो अन्य जनों पर दृष्टि कम जायगी, दया नहीं आती। मोही पुरुषोमे इन्द्रियदमनकी बात कहांसे आ सकती? विषयों का त्याग तपश्चरण, सत्संगति आदिक बातें कहां पैदा हो सकती? उसके तो मोह सता रहा है।

मोही प्राणीके शान्तिकी असंभवता—मोही जीवोको शान्ति कहांसे मिलेगी? मोह

खुद अशान्ति है। ससारमे जिन जिनका समागम हुआ है उनका वियोग नियमसे होगा। जो मोहीजन है, जो मिले हुए समागमोमे यह आस्था रख रहे हैं कि ये तो कभी मिट ही नही सकते, और जब मिटेंगे तब इसको बडा दुःखी होना पडेगा। मोही जीवको शान्ति नही मिल सकती। जिसका उपयोग आत्माके स्वभावसे हटकर बाहरी पदार्थोंमे लग रहा है, बिना काम पापड बेलनेकी तरह बिल्कुल व्यर्थ है। ऐसा बाहर उपयोग भटकाने वाले पुरुषको शान्ति कहाँ मिल सकती? शान्ति बाह्यपदार्थोंसे नही आती। गृहस्थीमे करना सब पड रहा है, और जब गृहस्थ हैं तो करना चाहिये, पर जो योग्य गृहस्थ है, ज्ञानी गृहस्थ है वह इन कार्योंको मुख्य नही मानता। हाँ जीवन-यापन करनेके लिए करना पड रहा है, पर जीवनका ध्येय न समझना कि मैं खूब धन जोडकर घर जाऊँ। अरे जो जिन्दगीभर धन जोड जोडकर घर जायगा उसे लाभ क्या होगा? वह तो निरन्तर व्याकुल रहा कमाते समय भी और जब उसे छोड़कर जायगा तब तो उसे बडा संक्लेश परिणाम बनेगा—हाय मेरा साराका सारा धन छूटा जा रहा है। यहाँ कोई परपदार्थ किसीका बनकर न रहा। आपका आपके प्रदेशोसे बाहर कुछ नही है। जैसे दुनियाके सब जीव आपसे बिल्कुल भिन्न हैं वैसे ही आपके घरमे रहने वाले दो-चार जीव भी आपसे बिल्कुल भिन्न है। तो मरेके बादकी तो बात क्या, जीवित अवस्थामें भी बच्चे या अन्य कोई अपने कुछ नही। तो मोही जीव कभी शान्त नही हो सकता।

मोही प्राणीके ज्ञान, ध्यान आदि धार्मिकताकी अनुद्भूति—जिसके मोह बसा है उसके ज्ञान कहाँसे जगेगा? ज्ञान तो यह बतलाता है कि प्रत्येक पदार्थ एक दूसरेसे बिल्कुल जुदा है, सत्ता ही न्यारी है। दो मिलकर एक न कभी हुआ, न है, न हो सकेगा, पर ममतामे तो यह बात जगती है कि हममे और इनमे कुछ फर्क ही नही, खुद न खाया, पर जिनमे ममता है उनको खूब खिलाया, खुद तो रूखा सूखा खा लेते, पर जिनमे ममता है उनको रसीले व्यञ्जन खिलाते। और यह समझते कि इनके अच्छा खाने-पीनेसे मेरेको ही खाने-पीनेका लाभ हो गया। देखिये—कितना मोह है, ऐसा मोह जहाँ बसा है वहाँ ज्ञानप्रकाश कभी आ सकता है क्या? तो मोहमे ज्ञान नही रहता, ध्यान भी नही जमता, ध्यान करें, आत्माका ध्यान करें, अपने देहके अन्दर जैसे कि ध्यानके प्रयोग है—श्वास रोकना, एक जगह मनको टिकाना फिर उपयोगको अपने आत्मापर प्रयोग करें। पर अहो, जिन जीवोके मोह लगा है, परमें आत्मबुद्धि है, उन पुरुषोके ध्यान कैसे जम सकता है? ध्यानमे आवश्यक है उपयोगको अपने आत्मामे टिकाना। एक जगह अच्छे योग्य तत्त्वोमे मनको लगाना और मोह प्रेर रहा है बाहरी पदार्थोंमे मनको रमानेके लिए, तो जहाँ मोह है वहाँ ध्यान कभी हो नही सकता।

जप तप ये मोहमे कहाँ रहते ? जबरदस्ती माला लेकर बैठे है तो मन कही रहेगा, अगुली कही चलेगी। जिसका जाप किया जा रहा, जिसका नाम जपा जा रहा वह उपयोगमे रहे यह कैसे हो सकता ? मोही पुरुषकी बात है। मोही पुरुष इच्छाका निरोध कैसे करेगा ? वहाँ तो इच्छायें बनती है, उसे तो निरर्गल विषयसेवन चाहिये। मोहियोके चित्तमे व्रत, तप आदिककी बात नही जम सकती। व्रत, उपवास, नियम आदिक इनकी ओर ध्यान कहाँ जायगा ? जिनके मिथ्यात्व भाव लगा है। इस देहमे जिसके आत्मबुद्धि है उसके तो देहके पोषनेका ही भाव रहेगा, देहसे विरक्त होकर अपनी कामनावोसे दूर रहे यह व्रत मोहीमे नहीं हो सकता। तो यह मिथ्यात्वका प्रकरण चल रहा है। इस जीवका प्रबल बैरी मिथ्यात्वभाव है, इसलिए थोडा ध्यान जमायें। जो आँखो दिखता है उसे माया जानें। वह मेरे लिए सत्य स्वरूप नही है। वे सब सासारिक बातें है, उनसे मेरा हित नही होनेका। मुझ आत्माका हित तो मुझमे बसे हुए परमात्मस्वरूपके दर्शनसे ही होगा, मोहादिकसे न होगा। ऐसा निर्णय बनाकर जीवनमे अपना उच्च ध्येय बनाना चाहिये।

अवैति तत्त्वं सदसत्त्वलक्षणं बिना विशेषं विपरीतलोचन: ।
यदृच्छया मत्तवदस्तचेतनो जनो जिनानां वचनात्पराङ्मुख ॥१३८॥

जिनवचनाभियुख मोही प्राणीके सत् असत्के विवेकका अभाव—मोही मिथ्यादृष्टि जोव सर्वज्ञदेवके बताये हुए मार्गसे बिल्कुल उल्टे है। जो पुरुष भगवानके दर्शन करते है, मंदिरमे प्रतिबिम्बके दर्शन करते है और बडी भक्तिसे पाठ विनती पढते है, और उनके चित्त मे यदि यह बात है कि ऐसे धर्मपालनसे मेरा परिवार सुखी रहेगा···तो बताओ भगवानके द्वारा बताये गए मार्गमे वह कहाँ चल रहा ? भले ही हम भगवानके बताये मार्गपर चल न सकें, पर जब-जब प्रभुका स्मरण हो तब-तब यह भाव लाना चाहिए कि जैसे मोह मिथ्यात्व को तजकर सर्व परिग्रहोसे ममता तजकर प्रभुने अपने आत्मामे अपनेको देखा, ध्यान बनाया और इस मार्गसे चलकर सदाके लिए सुखी हो गए, मुझको भी यही स्थिति चाहिये, अन्य कुछ न चाहिए। यह तो निर्णय होवे दर्शनके समय तब तो प्रभुके दर्शन कहलायेंगे, और प्रभु का मार्ग यदि रुच ही नही रहा तो वह प्रभुका दर्शन नही है। तो जो जीव सर्वज्ञदेव द्वारा बताये गए मार्गसे भ्रष्ट है वह मद्यपायी पुरुषके समान है। विशेष ज्ञानके बिना वस्तुके सत्त्व और असत्त्वको यथार्थ नही जान सकता। विपरीत जानेगा। जैसे मद्यसे मतवाला हुआ पुरुष अपने पागलपनके कारण, नशेके कारण कभी अपनी माँ को बहिन कहता, कभी माँ को अपनी स्त्री कहता, कभी अपनी स्त्रीको माँ कहता या वह अटपट बकता है, क्योकि उसे कुछ विवेक नही रहता, ऐसे ही जो लोग वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ है और यथार्थ आत्मस्वरूपका जिन्हे कभी

अनुभव नही हुआ वे वास्तविक बातका निर्णय नही कर सकते। मिथ्यात्वके नशेसे पागल हुआ यह जीव सत्को असत् और असत्को सत् समझता है। वास्तविक भेदको न जान सकेगा मिथ्यादृष्टि जीव, और यही कारण है कि मोही जीव ससारमे अनादिकालसे चिरकाल तक भटकता ही फिरता है।

त्रिलोककालत्रयसम्भवासुखं सुदुःसहं तत्त्रिविधं विलोक्यते।
चराचराणां भवगर्तवर्तिनां तदत्र मिथ्यात्ववशेन जायते ॥१३६॥

मिथ्यात्वप्रवशवर्ती जीवोंका संसारपरिभ्रमण—भूत भविष्यत् वर्तमानमे तीनो लोकमे जितने भी मानसिक वाचनिक और शारीरिक असह्य दुःख हैं वे सब इस मिथ्यात्वके कारण होते है। यह कितनी एक बडी विकटसी बात है कि कोई जीव मरकर पेड बन जाय और उसका आत्मा इस ढंगसे फैल जाय कि शाखावोमे, टहनियोमे, पत्तियोमे, फूलोमे, परागोमे उन सबमे ये आत्माके प्रदेश फैलते है, यह तो कोई विचित्र काम है। इसे कोई कैसे करके दिखायेगा? तो उसका उपाय केवल एक ही है कि मोह ममता खूब करे जावो तो आसानी से यह जीव ऐसे पेडोमे जन्म ले-लेकर इस तरहसे फैलकर अपनी लीलायें करेगा। जितना भी ससारमे कष्ट है वह सब मिथ्यात्व और अज्ञानके कारण है। अन्यथा कष्टका क्या काम? कोई मकान गिर गया या जल गया, पुद्गल था, इकट्ठा था, बिखर गया, उसमे मेरेको क्या कष्ट पड गया? कोई परिजन या मित्र जन गुजर गया तो उससे मेरे आत्मामे क्या कष्ट आया? अरे जगत्मे कुछसे भी कुछ गुजरे, उससे मेरेको कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट है तो मोहभावका है : जो भीतरमे अज्ञान बसा है, जिससे कल्पनायें चल रही है, बस यही दुःख है। तो दुःख रहा मिथ्यात्व, मोह। दूसरा कोई दुःख नाम नही है। जो भी जीव दुःखी हो रहे हैं कोई धनके बिगडनेसे, कोई अपने इष्टके बिछुडनेसे, कोई किसी तरह, तो उनको कौन सा साधन रखा जाय कि उनका दुःख दूर हो जाय? है क्या कोई ऐसा साधन? केवल एक सम्यग्ज्ञान ही साधन है।

अपनी सम्हालमें सब सम्हाल—भैया, अपनेको वश किया तो बाकी सब ठीक। एक ऐसा अहाना है कि लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा। कोई अनाजकी मण्डी थी, उसमे कोई बल्देवा नामका एक दलाल था। दूसरेका अनाज बिकवा दे तो कुछ बेचने वालेसे मिल जाता, कुछ खरीदने वालेसे। सो उसने एक किसानका दो एक गाडी अनाज बिकवा दिया और दोनोसे अपना कमीशन ले लिया। अब बिक तो गया, मगर उस प्रसगमे खरीददार और बेचने वाला इन दोनोमे मन-मुटाव हो गया, खरीदने वालेने समझा कि हमको महंगा मिला और बेचने वालेने समझा कि हमारा सस्ता बिका, सो दोनोमे कुछ झगड़ासा होने

लगा। करीब दोपहरका समय था, उसके कलेवा करनेका समय हो गया था, सो वह एक पेडके नीचे बैठ गया और कहने लगा—लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा, याने चाहे लेने वाला मरे चाहे देने वाला, बल्देवाको उससे कुछ मतलब नही, उसे कुछ दुःख नहीं, वह तो आराममे है। लड़े मरें तो वे दोनो मरें तो ज्ञानी पुरुष चूंकि अपने आत्माकी सम्हाल लिए हुए हैं, सो वह परपदार्थोंकी परिणतिमे ज्ञाता द्रष्टा रहता है और यह निर्णय रखता है कि चाहे जगत्का कुछ भी परिणमन हो हम तो अपने आत्मारामभें ही लीन होकर संतुष्ट रहेंगे।

मोहवश उच्छिष्ट भोगोंमें अपूर्वताका भ्रम—यह जीव अब तक किस-किस भवमें नही मरा। यहाँ तो जैसे रोज-रोज वही रोटी-दाल, चावल खाते, पर रोज-रोज उन्हे नया सा लगता। अपने इस ५०-६०-७० वर्षके जीवनमे न जाने कितना ही अनाज खा लिया होगा, मगर रोज-रोज वही दाल, रोटी, चावल ऐसे लगते हैं जैसे कि नई चीज। स्वादमें आसक्त रहते हैं। सो ऐसे ही इस जीवने इन सब पुद्गलोको बार-बार भोग रखा, अनेक बार भोगा, मगर प्रत्येक भवमे कुछ नयेसे लगते हैं। उनकी तृष्णा भी जगती, और लोकमे जो धनी हैं, ऐश आराममे रहते है उनके प्रति होड भो लगाते है। यह विवेक नही करते कि पुण्यके उदयसे जो कुछ प्राप्त हुआ है वही बहुत है। हम उसमे ही गुजारा कर लेंगे। हमे तो अपना आत्मज्ञान बढाना है, उसमे बढें और उसका आनन्द लूटें। बाहरी पदार्थोंमे कुछ नहीं रखा और न कभी होडके चक्करमे रहना चाहिये। जैसा उदयमें है वैसा हो रहा है, उसमे हम गुजारा कर सकते है, ऐसी हमारेमे कला है। सतोष रहे, और वास्तविक जो धन है, अपने ज्ञानमे ज्ञानका अर्जन करें और अपने आपके आत्मामे घटित करें। और उसके अनुभव का आनन्द लें, यह काम करनेका है इस जीवनमे, और यह काम वही कर सकता है, जो इन बाहरी पुद्गलोको, महल मकानोको, धन-दौलतको तुच्छ समझता हो। यह मेरे आत्माके लिए कुछ चीज नही है। आत्माका हित करने वाला तो यह ज्ञानभाव ही है। ऐसा जो भाव रखता है वह संसारके परिभ्रमणसे दूर होता है। और जो मिथ्यात्वमे पगे रहते है वे चतुर्गतियोमे जन्म मरण कर, परिभ्रमण कर, शारीरिक, मानसिक, वाचनिक सब दुःखोसे दुःखी रहते हैं।

वरं विषं भुक्तमसुक्षयक्षमं वरं वनं श्वापदवन्निषेवितं।
वरं कृतंवह्निशिखाप्रवेशन नरस्य मिथ्यात्वयुतं न जीवितं ॥१४०॥

मिथ्यात्वकी सर्वाधिक अहितकारिता—मिथ्यात्वसहित जीवन रहना बहुत बुरा है, क्योकि जहाँ ज्ञानप्रकाश नही, स्व-परका भेद नही, यथार्थ ज्ञान नही वहाँ उपयोग क्षुब्ध रहता

है, व्याकुल रहता है और अटपट कल्पनायें करने वाला रहता है। ऐसा जीवन ठीक नही है। उससे तो अच्छा है विषपान, विषपान करने वाला एक ही बार तो मरेगा, दो जीवनमे न मरेगा। मगर मिथ्यात्वसे जिसका हृदय व्याप्त है उसका तो अनेक भवोमे मरण होगा। तो विषपानसे भी खोटा है मिथ्यात्वयुक्त जीना। मिथ्यात्वयुक्त जीवनसे अपेक्षाकृत भला है सिंहादिक जंतुवोंसे भरे हुए वनमे निवास करना। जहाँ हिंसक जतु भरे हैं उस वनमे जो निवास करेगा वह भला तो नही है। वहाँ वे जंतु आक्रमण करेंगे और इसको मरना होगा, मगर एक ही बार तो मरण होगा, किन्तु मिथ्यात्वसे जिसका आत्मा दबा है उसका तो भव-भवमे मरण होगा। मिथ्यात्वसहित जीवनसे तो जलती हुई अग्निमे जलकर प्राणोका खो देना अच्छा है। उस घटनाका असर उतना ही तो है कि एक भवमे मरण हो, किन्तु जिनके मोह बसा है उनका तो भव भवमे मरण होगा। जन्म और मरणकी परम्परामे लगेगा। तो मिथ्यात्वभाव इतना दूषित भाव है कि कषायोके व्यामोहमे रहकर यह जीव सोचता नहीं है और अपना जीवन जैसे कषाय परिणाममे गुजरें, जैसे तात्कालिक काल्पनिक आनन्द मिले वैसा प्रयत्न करता है। उन सुखोमे यह बहिर्मुख रहता है। ये सब सुख वस्तुत. तो दु:खसे भरे हुए है। यह जीव अब तक ससारमे रुलता चला आया तो यह मिथ्यात्वका ही तो असर है। मिथ्यात्वके बराबर जीवका बैरी दूसरा नही है। मान लो यहाँ प्रेम हुआ किसीसे, स्नेह हुआ, मोह हुआ तो उसमे थोडासा कल्पित मौज माना कि यह मेरा बहुत भला है, मगर किसीका किसीसे पूरा पड सकता है क्या ? अपने आत्मासे ही अपना पूरा पडेगा। यदि ज्ञान सही है तो अपना पूरा पाड लेगा यह जीव और यदि ज्ञान निर्बल है, मिथ्या है तो वह दु:खी रहेगा। सो मिथ्यात्वके समान दूसरा कोई बैरी इस जीवका नही है।

करोति दोषं न तमत्र केशरी न दंशशूको न करी न भूमिपः।
अतीव रुष्टो न च शत्रुरुद्धतो यमुग्रमिथ्यात्वरिपुः शरीरिणां ॥१४१॥

मिथ्यात्वका प्रबल बैरीपना—इस जीवका जितना अहित मिथ्यात्वरूप बैरी कर सकता है उतना अहित कोई दूसरा नही कर सकता। सिंह भी क्रुद्ध हो जाय तो जान ले लेगा, एक भवका प्राण ले ले इतना ही तो कर पाया। हस्ती, रुष्ट राजा, शत्रु आदिक कोई अधिकसे अधिक इतना ही तो बिगाड कर सकेगा कि एक भवका प्राण खत्म कर दे, मगर मिथ्यात्व बैरी तो भव-भवमे जन्म मरण करायेगा, और जिससे जीवन रहता है इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग, नाना वेदनायें, इससे दु:खी रहेगा। जीवका विशुद्ध जाननहार है। जहाँ कल्पना नही, विचार नही, कोई विशेषता न लेकर केवल झलक प्रतिभासमात्र दर्पणमे इस तरह झलक रहे समस्त पदार्थ कि यह ही तो वास्तविक स्वरूप है। अपने सही स्वरूपमे रहे तो कोई कष्टकी बात नही। लोग कष्ट बनाते है और फिर उन कष्टोको मिटानेका प्रयत्न करते

है। कदाचित् कल्पनामे यह बात आये कि कष्ट मिटा तो उसके एवजमे इसको कष्ट और भी सामने आते है। जैसे कोई तराजूमे धरकर जिन्दा मेढक तौल नही सकता। कुछ रखे जायेंगे, फिर कुछ रखनेका प्रयत्न करेंगे तो उनमेसे कुछ उछल जायेंगे, तो जिन्दा मेढक तौलना जैसे अशक्य है ऐसे ही कष्टोको दूर करनेका प्रयत्न कर-करके कष्टोका मिटाना बिल्कुल अशक्य है, केवल ज्ञानप्रकाश ही एक ऐसी परम औषधि है कि कष्ट मिटानेमे समर्थ है। दूसरा कुछ नही है। तो जिस जीवके मिथ्यात्वभाव लगा है उसका महान अहित है। हमारे अहितको कोई दूसरा नही कर सकता।

दधातु धर्मं दशधा तु पावन करोतु भिक्षाशनमस्तदूषण।
तनोतु योगं धृतचित्तविस्तर तथापि मिथ्यात्वयुतो न मुच्यते ॥१४२॥

मिथ्यात्ववशीभूत जीवके क्षमा आदि धर्मोका पालन करने पर भी मोक्षमार्गका अभाव—कोई पुरुष १० प्रकारके क्षमा आदिक पवित्र धर्मोको भी पा ले, पर मिथ्यात्वको न तजे तो क्या उसको मोक्ष मिलेगा ? वह तो ससारमे ही रुलेगा। जिसने मिथ्यात्व नही छोडा वास्तवमे वह धर्मको पाल ही नही सकता, मगर रूढिमे हम जिसे धर्मपालन कहते है उस ढंगसे कोई क्षमा मार्दव आदिक दस धर्मोका पालन करे और मिथ्यात्वसे युक्त है तो वह छुटकारा नही पा सकता। कोई पुरुष बाह्य परिग्रहोको त्यागकर निर्दोष भिक्षावृत्तिका आचरण करे और जैसे सन्यासमे उपदेश किया है उस प्रकारसे योगकी साधना भी कर डाले, मनके वेगको भी रोके, मनको नियन्त्रणमे रखे तो भी जब तक मिथ्यात्वसे युक्त है तब तक कदाचित् भी इसकी मुक्ति नही हो सकती। वास्तवमे श्रद्धान हुए बिना कितना ही जप तप कर लिया जाय वह मोक्षका दायक नही हो सकता। उसे संसारमे रुलना ही पडेगा। तो अब यदि अपने आपपर दया हुई हो तो भीतरमे यह सोचिये कि हम इस जीवनमे कर क्या रहे हैं ? मिथ्यात्व और मोह ही पुष्ट हो रहा है तो उसका जीवन सब व्यर्थ है। यो तो अनादि कालसे अनन्त जन्म मरण किया, अनेक जीवन पाये, परिजन पाये, पौद्गलिक ठाठ पाये, पर उससे लाभ क्या मिला ? आज भी यदि वास्तविक ज्ञान प्रकाश नही जग रहा है तो कुछसे भी कुछ कर लिया जाय उससे इस जीवका लाभ होनेका नही है। अपने आपका केवल अपना आत्मा ही शरण है दूसरा कोई शरण नही। ऐसा जानकर कुछ दया करनी चाहिए और सत्य प्रकाश चित्तमे लाइये। मै आत्मा अमूर्त ज्ञानस्वरूप अकेला हू, इसका दूसरा कोई कुछ नही है। यह अपनेको सम्हाले तो कल्याण पा लेगा और अपने स्वरूपकी सुध न ले और बाहरी पदार्थोमे लगाव मोह राग बनाये रहे तो यह संसारमे इसी तरहके जन्म मरणके कष्ट पायगा। सो जो मिथ्यात्वयुक्त पुरुष हैं वे बाहरमे कितनी भी धार्मिक क्रियायें कर डालें तो

भी उनको मोक्षमार्ग नही मिलता ।

ददातु दान बहुधा चतुर्विधं करोतु पूजामतिभक्तितोऽर्हतां ।
दधातु शील तनुतामभोजन तथापि मिथ्यात्ववशो न सिद्ध्यति ॥१४३॥

दान, पूजा, शील आदि कर्तव्य करने पर भी मिथ्यात्ववशी जीवको सिद्धिका अभाव—मिथ्यादृष्टि जीव चाहे चारो प्रकारके दान भी कर लेवे तो भी उसको निराबाध सुख की प्राप्ति नही हो सकती। यह भी एक हिम्मत है कि अपने पाये हुए धनको दूसरोके उपकार के लिए लगाये, दान करे सो अपेक्षाकृत ठीक है किन्तु मोहबुद्धि यदि न चले तो मोक्षमार्ग तो न मिल पायगा। कोई पुरुष जिनेन्द्र भगवानकी पूजा बडी भक्तिसे करे तो अपेक्षाकृत उसे लाभ मिलेगा थोडा, लेकिन मिथ्यात्वके वशीभूत हैं तो ऐसे पूजन आदिक करने पर भी उसे निराबाध मोक्षका मार्ग नही मिल पाता। कोई पुरुष शीलको खूब धारण करे याने द्रव्य ब्रह्मचर्यका पालन करे वह भी ठीक है अपेक्षाकृत, लेकिन मिथ्यात्वके वशीभूत है तो इतना त्याग करके भी उसे मोक्षमार्ग न मिल पायगा। कोई पुरुष ८-१० दिनके बडे उपवास भी करे और नाना प्रकारके एकान्त आदिक बहुत-बहुत व्रत करे कर्मदहनके, जिनगुणसम्पतिके, णमोकार मत्रके, किसी भी सहारेसे व्रत, उपवास करे, तीर्थप्रवृत्तिके लिए ठीक है, करे, लेकिन यदि मिथ्यात्वके वशीभूत है, मोहयुक्त है तो वह मोक्षमार्ग तो नही पा सकता। तो इस जीव का सर्वाधिक बैरी एक मिथ्याभाव है।

अवैतु शास्त्राणि नरो विशेषत: करोतु चित्राणि तपांसि भावतः ।
अतत्त्वससक्तमनास्तथापि नो विमुक्तिसौख्य गतबाधमश्नुते ॥१४४॥

शास्त्रज्ञान व विविध तपश्चरण होनेपर पर्यायबुद्धि जीवके मुक्तिका अभाव—कोई मनुष्य शास्त्रोका भले प्रकारसे अध्ययन, अध्यापन करे, पर यदि मिथ्यात्वभावमे आसक्त है तो वह मुक्तिके सुखको तो नही पा सकता। उसका शास्त्राध्ययन करना शब्दोमे है, भावभासनामे नही है। कोई पुरुष पवित्र भावोसे नाना प्रकारके उग्र तपोकी आराधना करे, परन्तु यदि वह निर्दोष तत्त्वके विचारसे विमुख है तो वह कभी भी बाधारहित मोक्षसुखको प्राप्त नही कर सकता। यहाँ जो यह बतलाया जा रहा है कि चाहे उपवास करे, चाहे शास्त्र पढे आदिक जो कहा जा रहा, सो इसमे शास्त्रके अध्ययन उपवास, जप तप आदिकमे हीनता नही बतायी जा रही है, किन्तु मिथ्यात्वका प्रबल बैर बताया जा रहा कि यदि मोह मिथ्यात्व है तो इतना बडा काम करनेपर भी वह मोक्षमार्गको न प्राप्त कर सकेगा।

विचित्रवर्णांचितचित्रमुत्तमं यथा गताक्षो न जनो विलोकते ।
प्रदर्श्यमानं न तथा प्रपद्यते कुदृष्टिजीवो जिननाथशासनं ॥१४५॥

जिसके आँख नही है वह अंधा मनुष्य नाना रंगके बने हुए उत्तम चित्रोको देख सकता है क्या ? आँखें अंधी है तो उन चित्रोको कैसे देख सकता ? तो ऐसे ही जिसके विवेक नही है, विवेककी आँख फूट गई है, मिथ्यात्वका अंधा बना हुआ है वह जीव नाना प्रकारके उपदेश किए गए जिनेन्द्रके सच्चे मार्गको नही पहिचान सकता । मिथ्यात्व अज्ञान इस जीवका इतना घना वैरी है । तो जीवनमे कर्तव्य तो यह है कि उन सब कामोको गौण कर देवें, पर तत्त्वज्ञानके पौरुषको पूर्ण मुख्यता दें, क्योकि मददगार, शरण अपना तत्त्वज्ञान बनेगा ।

तत्त्वज्ञानातिरिक्त अन्य पदार्थ व अन्य भावकी अशरणता—बाह्य पदार्थ जो समागममे मिले हैं वे मददगार नही बनते । जीवनमे अनेक घटनायें घटती हैं और वे घटनायें क्या हैं ? सारे कष्टके कारणभूत है । अगर किसीको विशेष धन मिल गया तो वह भी कष्टका कारण है, न मिला तो वह भी कष्टका कारण है । किसीके संतान हो तो वह भी कष्टका कारण है, न हो तो वह भी कष्टका कारण है ।

इस प्रकार सारी घटनायें कष्टका ही एक रूप हैं । सो कहनेको धन तो सभीके पास है, किसीके पास अधिक भी है । तो जो भी धन मूलमे प्राप्त है उसकी रक्षाकी चिन्ता, व्यवस्थाकी चिन्ता, उसकी सम्हालकी चिन्ता और रक्षा करते-करते हानि हो जाय तो उसकी चिन्ता, धनमे कहाँ सुख पाया और कोई अगर निर्धन है, गरीब है, तो उसके भूख-प्यासकी बाधा कैसे मिटे, अनेक कठिनाइयां है, उसको भी कष्ट है । जिसके पुत्र है तो पुत्र तो दो ही तरहके होगे—कोई कुपूत निकले कोई सुपूत निकले । यदि किसीका पुत्र कुपूत निकल आया तो बताओ कष्ट मानते कि नही ? और किसीका पुत्र सुपूत निकल आया तो उसके तो उससे भी अधिक कष्ट है कुपूत निकल आया तो एक बार घोषणा कर दी कि मेरा इससे कुछ मतलब नही । जो इससे व्यवहार करे, लेन देन करे सो खुद जाने, और सुपूत निकला तो जिंदगी भर उसके पीछे चिन्ता, इसे मैं खूब कमाकर धर जाऊँ, यह बडा आज्ञाकारी है, बड़ा गुणवान है, कभी लौटकर बात नही कहता, सो उसके सुखी करनेके लिए जिन्दगीभर चिन्तन करेंगे, परिश्रम करेंगे कि मैं इसके लिए खूब धन जोड़कर धर जाऊँ । तो आखिर कष्टका ही तो कारण बना । संसारका कौनसा समागम ऐसा है परपदार्थका जो शान्तिका साधन बने ? सब कष्टके कारण बनते हैं । भले ही मोहमे वे न मानें, पर है वे सब कष्टके ही कारण । सो जिसने विवेक नही पाया, जो मिथ्यात्वसे अंधा है वह कभी सुखी नही हो सकता ।

अभव्यजीवो वचनं पठन्नपि जिनस्य मिथ्यात्वविषं न मुंचति ।
यथा विषं रौद्रविषोऽतिपन्नगः सशर्करं चारुपयः पिबन्नपि ॥१४६॥

अभव्य जीवके अध्ययनकी भी मिथ्यात्वविषपोषकता—कोई विषधर सर्प भयंकर

विष वाला यदि मीठे दूधको पी ले तो वह क्या उगलेगा ? विष ही उगलेगा, अमृत नही, यद्यपि उसने पी तो अच्छी वस्तु, सही दूध है, मीठा मिला हुआ है, पर वह आधार ऐसा है कि वहाँ दूध पहुंच जानेपर विषरूप परिणम जाना है । तो जैसे विषैला सर्प मीठे दूधको पीकर विष ही उगलता है इसी प्रकार अभव्य जीव जिनेन्द्र भगवानके वचनोको पढता हुआ भी मिथ्यात्वरूपी विषको ही उगलता है । आपने निर्णय ही यह बनाया है कि मुझे दोष निरखना है और आप यदि गुण निरखने चलें तो दीन भिखारियोमे भी कोई न कोई गुण मिलेंगे । तो जैसी दृष्टि बनायेंगे वैसा ही उपयोग बन जायगा । मगर आशय मिथ्या है, मोह भरा है, अपने आपकी सुधसे पतित है, च्युत है तो वह कितना भी उपदेशको सुने, पर उसमे से दोष ही निकालेगा, मिथ्यात्वको ही प्रकट करेगा । भव्य पुरुष समय पाकर अपने शुद्ध परिणामोके बल से मिथ्यात्वको तोड देगा, पर जिनका होनहार खोटा है, अभव्य पुरुष है वे तो सदा वैसे ही रहते हैं । वे अपनी प्रकृतिको नही छोड़ सकते । जैसे सांप अपनी प्रकृतिको नही छोड पाता, दूध भी पिये तो भी विष ही उगलेगा । ऐसे ही कोई कैसा ही विद्वान् हो, उपदेश भी सुने, यदि श्रोता अभव्य है तो वह दोष ही देखेगा—भाई बात तो सब ठीक कही, पर एक इतनी कमी दिखी ।

परके दोष न निरखकर स्वके दोष देखकर उसके दूर करनेके पौरुषमे विवेक—कमी तो साधुवोमे भी होती, अन्यथा वे साधु ही क्यो होते ? फिर तो वे भगवान कहलाते । जिनमे कमी नही है वे भगवान है । साधुवोमे कमी होती है, उस कमीको दूर करनेकी साधना करते है, उनको ही तो साधु कहते है । अब कमीपर कोई दृष्टि डाले तो बतलावो उसका जो दिल है वह दोषकी फोटोसे भर गया या नही ? जो दूसरोके दोष देखनेकी आदत बनाये रखते है उनका उपयोग दोषोकी फोटोसे भरा हुआ रहता है । और गुणोको देखे तो उसका उपयोग गुणोकी फोटोसे भरा हुआ होता । तो मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वे दोष देखें, कमी देखें तो खुदकी कमी देखें । मुझमे कितनी कमी है । भले ही सम्यक्त्व भी हो गया, पर जो गुण कुछ विकासमे आये है उनको न देखे, किन्तु जो दोष रह गए है उनको देखे । अगर अपने गुणोकी देखेंगे जो कि पर्यायरूप है तो उससे तो अहकार बनेगा और अपने दोष देखेंगे तो उन दोषोको दूर करनेका पौरुष बनायेगा । और यदि अपने गुण ही देखना है तो जो अल्प विकास पर्यायरूपमे जो गुण है उनको न देखें, किन्तु आत्माके जो सहज स्वभावरूप शाश्वत शक्तिको देखें । जो कुछ थोडे विकसित हुए है उन गुणोपर दृष्टि न डालिये अपनी । गुण देखें तो स्वभावमे देखें और दोष देखें तो जिससे अपने दोष दूर हो सकें उसे देखें । अब दूसरोमें देखिये तो उनके गुण निहारिये ताकि अपनेको प्रेरणा मिले कि इस तरहकी वृत्ति मेरी भी

होनी चाहिए। तो गुण देखिये दूसरोके और दोष देखिये अपने।

स्वसहज गुणोंकी उपासनामें प्रगति—अपने गुण देखना हो तो अनादि अनन्त अहेतुक सहज स्वभावरूप अपना चैतन्यगुण निरखियेगा। बाहरमे देखा तो यह जीव उलझनमे पड गया। सारी उलझनें दिख रही हैं बाहर। जब अपने स्वरूपके अन्दर देखें तो वहाँ सारी उलझनें समाप्त हो जाती है। जितनी उलझनें हमने बाह्य पदार्थोके लगावसे बना डाली है एक क्षणमे आत्मस्वभावकी दृष्टि होते ही सारी उलझनें समाप्त हो जाती है। चाहे बडा कठिन भी हो कि मकान कैसे छोडा जा सकता, यह धन कैसे दूर हो गया, लोग मुझसे कैसा बुरी तरह बोलते हैं, इन्होने मेरा कितना बडा तिरस्कार किया…यो कितनी ही उलझनें मिलेंगी चित्तमे, मगर सारीकी सारी उलझनें एक क्षणके आत्मतत्त्वकी दृष्टिमे खत्म हो जाती है। क्या है, परकी परिणति थी, उससे मेरेमे क्या आता था। तो अपने स्वभावके दर्शन होते ही सारी उलझनें समाप्त होती है। तो सुखके लिए बाहर कही उद्यम नही करना है, किन्तु अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करना, उपासना करना उसे निहारे रहना, प्रयोग करना है।

> भजति नैकैकगुणं त्रयस्त्रयो द्वय द्वयं च त्रयमेकक: पर।।
>
> इमेत्र सप्तापि भवंति दुर्दृशो यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिवर्जिता. ।।१४७।।

मिथ्यादृष्टिके रत्नत्रयका अभाव—तीन बातें है—सम्यग्दर्शन न होना, सम्यग्ज्ञान न होना, सम्यक्चारित्र न होना। दो भङ्गोके रूपमे रखा जाय तो मुख्यताकी दृष्टिसे ३ भग और हो जायेंगे। तीन तो एक-एकके और तीन दो-दो के। सम्यक्त्वका अभाव और सम्यग्ज्ञानका अभाव अथवा सम्यक्त्वका अभाव, सम्यक्चारित्रका अभाव अथवा सम्यग्ज्ञानका अभाव, सम्यक्चारित्रका अभाव। और तीनोका अभाव है, वह एक भग हुआ अथवा जो पहले ७ तरहके मिथ्यादृष्टि कहे गए उनमे प्रथम तीनके तो एक गुण सम्यग्दर्शन नहीं। अगले तीन मिथ्यादृष्टियोके दो गुण नही और अन्तके एकके अतिरिक्त अगृहीत मिथ्यादृष्टिके तीनो ही गुण नही। वस्तुत। इन सभी मिथ्यादृष्टियोके तीनो ही गुण नही। वस्तुतः इन सभी मिथ्यादृष्टियो के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नही है। जिसके सम्यक्त्व नही उसके दो ही ही नही सकते।

> अनंतकोपादिचतुष्टयोदये त्रिभेदमिथ्यात्वमलोदये तथा।
>
> दुरंतमिथ्यात्वविष शरीरिणामनंतसंसारकर प्ररोहति ।।१४८।।

सम्यक्त्वघातक सप्त प्रकृतियोके उदयकी अनंतससारकरता—सम्यग्दर्शनका घात करने वाली ७ प्रकृतियाँ है। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। ये ७ प्रकृतियाँ सम्यक्त्वकी घातक बतायी गई हैं। इनके उदयमे

जीवके मिथ्यात्वभाव रहता है और इस मिथ्यात्वभावके कारण संसारमे निरन्तर दुःख भोगना पड़ता है। अनन्तानुबंधी क्रोध—जो क्रोध मिथ्यात्वका सम्बंध बनाये, मिथ्यात्वको पुष्ट करे उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहते है। अनन्तका अर्थ है मिथ्यात्व, उसका जो अनुबंधन कराये उसे कहते है अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सम्यक्त्वके घातक हैं।

धार्मिक कोटमें या प्रसंगमे कषायोके होनेकी अनन्तानुबन्धिता—अनन्तानुबंधीके उदाहरणमे यह उदाहरण भी हो सकता है कि धार्मिक प्रसगकी कोटिमे क्रोध, मान, माया, लोभ करना, जैसे धार्मिक व्यवस्था, प्रबंध संचालन या जो धार्मिक कार्य हैं उनके प्रसंगमे क्रोध आना एक हठवादके कारण जैसे पर्वके दिनोमे पूजन करते हैं, अब रोज रोज अभिषेक करते है मानो प्रारम्भमे और किसी दिन उस जगह कोई दूसरा आ जाय तो उसपर क्रोध कर बैठे तो यह अनन्तानुबंधी क्रोध है। कोईसा भी धर्मकार्य हो उस बीच क्रोध आये तो यह अनन्तानुबंधी क्रोध है। जिन लोगोकी ऐसी प्रकृति है कि पूजा करते समय मान लो धूप दान न आया या अग्नि न आयी तो लोग माली या मदिरके पंडितपर झल्ला जाते हैं, उस पर बहुत नाराज होते हैं तो वह अनन्तानुबंधी क्रोध है। प्रभुकी पूजा तो बिना द्रव्यके भी हो लेती है, चुपचाप भी हो लेती है, आँखें बंद करके भी हो लेती है, वहाँ तो भक्तिभाव चाहिये, पर उस प्रसंगमे बीच-बीच क्रोध आना यह भलेका सूचक नहीं है। हाँ व्यवस्थाके नाते आगे पीछे बात करना वह तो व्यवस्थामे शामिल है, पर जब पूजा कर रहे हो, जहाँ कि भावशुद्धि रहनी चाहिए वहाँ यदि भाव बिगड जायें तो वह अनन्तानुबंधीका द्योतक है। कोई धर्मकार्यके प्रसंगमे घमड आये—मैं पुजारी हू, मैं इतने दिनोसे लगातार पूजा करता आ रहा हूं, प्रबधक हू यह अनन्तानुबंधी मान है। कारण यह है कि अन्य जगह कोई पाप कर आये तो धर्मस्थानमे उन पापोको नष्ट करनेका मौका मिलता है और यदि कोई धर्मस्थानमे ही पाप करे तो फिर उसको अन्यत्र कहाँ मौका मिलेगा? अनन्तानुबन्धी माया—धर्मका कार्य करते हुएमे मायाचार रखना, दिखानेके लिए अन्य करते और अपने आपकी जगह आचरण और करते, जैसे अभी तक तो ढीले-ढाले बैंठे या खड़े पूजा कर रहे थे, जल्दी-जल्दी बोलकर कर रहे थे, पर कोई दो-चार दर्शक लोग आ गए तो झट अटेन्शन हो गए और बड़ा राग आलापकर पूजा करने लगे। तो यह अनन्तानुबंधी माया है। ऐसे ही धर्मका कार्य कोई सामने आये और अपनेमे सामर्थ्य बहुत है और उस प्रसंगमे तृष्णा लोभ कर जाय तो वह अनन्तानुबंधी लोभ है। एक ही बात नही, अन्यत्र भी यह अनन्तानुबंधी लोभ चलता है। तो जहाँ ये चार कार्य है वहाँ प्रकट नही हो पाता। भले ही एक स्थिति ऐसी आती है कि सम्यक्त्व छूट गया, मिथ्यात्वमे नही आ पाया और एक समयसे लेकर अधिकसे अधिक

६ आवली पर्यन्त अनन्तानुबंधी रहता है। जिसे कहते हैं सासादन गुणस्थान, पर वह तो मिथ्यात्वके ही सम्मुख है। वहां भी अज्ञान है। तो अनन्तानुबंधी चार कषाय और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियां इनके उदयसे मिथ्यात्व होता है। जहां मिथ्यात्वका उदय है वहां सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिकी क्या चर्चा ?

दर्शनमोहकी प्रकृतियोंका वैचित्र्य—एक स्थिति ऐसी होती है कि मिथ्यात्व नही है और सम्यग्मिथ्यात्वका उदय है, जिसे कहते है तीसरा गुणस्थान, मगर वह सम्यक्त्वके प्रसाद से ही प्रकट हुआ है। जिसको पूर्ण सम्यक्त्व नही हुआ उसके तीसरा गुणस्थान नही हो सकता। भले ही वह मिथ्यादृष्टि होकर तीसरा गुणस्थान पा ले, पर सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी सत्ता तो सम्यक्त्व होनेके समय ही तो बनी थी। यही सम्यक्प्रकृतिका हाल है। सम्यक्प्रकृति सम्यक्त्वका घात नही करती, पर सम्यक्त्वमे चल मलिन अगाढ दोष उत्पन्न करती रहती है। इसका नाम सम्यक्त्वप्रकृति रखा है। सम्यक्त्वप्रकृतिके मायने क्या है कि सम्यक्त्व होते हुए भी उसमे दोष उत्पन्न हो। सम्यक्त्व नाम उसका रख दिया है, पर अर्थ उसका दोषोत्पादक है और उसका उदय वेदक सम्यक्त्वमे होता है। सो यह प्रकृति भी सत्तामे तब आयी जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व हुआ था। उस क्षण मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हुए थे। सो जहां मिथ्यात्वका उदय है वहां इन २ प्रकृतियोकी क्या चर्चा ? भले ही पडे रहे, पर प्रबल तो मिथ्यात्वकर्म है।

संसारी जीवोंकी कर्माक्रान्तता—संसारमे जितने भी प्राणी है उन सबके साथ शुभ और अशुभ कर्म लगे हैं और उन्ही शुभ अशुभ कर्मोंकी प्रेरणासे ये ससारी जीव चारो गतियो मे डोलते रहते हैं। तो जो भी ससारमे कष्ट है वे कर्मका निमित्त पाकर हुए है। जीवका स्वभाव है नही कष्ट होनेका। वह तो आनन्दस्वरूप है, पर जहां ऐसे कर्म उदयमे होते है वहां दु:खकी स्थिति बन जाती है। ये आठो प्रकारके कर्म इस जीवके लिए एक कीचड़ हैं। इससे मलीमसता उत्पन्न होती है। जैसे-जैसे इन कर्मोंका नाश होता है वैसे ही वैसे आत्माके गुणों का विकास होता चला जाता है। आत्मामे शक्ति अद्भुत है, अनन्त है, पर कर्मोदय इस प्रकार निमित्त हो रहा है कि यह जीव स्वयं बलहीन हो जाता है और दोषीक बन जाता है। जब कभी आत्माको अपने सहज स्वरूपका अनुभव बने तो वहां आत्मा बलिष्ठ होता है। तो निमित्तनैमित्तिक भावका अब पल्टा हो गया। आत्माके शुद्ध भावका निमित्त पाकर अब कर्मोंमे निर्जरा होने लगती है। पर जहां मिथ्यात्वका तीव्र उदय है वहां इस जीवका क्या वश चले, तिसपर भी जब विवेक पाया है तो उद्यम करें तत्त्वज्ञानका, भावनाका, भक्तिका, जिसके प्रसादसे सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोमे कुछ कमजोरी आयी और मौका सम्यक्त्व पानेका

मिल गया।

अलब्धदुग्धादिरसो रसावहं तदुद्भवो निंबरसं कृमिर्यथा।
अदृष्टजैनेंद्रवचोरसायनस्तथा कुतत्त्वं मनुते रसायनं ॥१४९॥

मिथ्यादृष्टिकी कुतत्त्वमें आस्था—जैसे निम्बोलीमें अर्थात् नीमके फलमें उत्पन्न हुआ कीडा उस नीमके रसको ही मधुर और इष्ट समझता है। उसने कभी दुग्ध अथवा मीठेका रस जाना ही नहीं है। तो नीमके रसको वह मधुर समझता है। ऐसे ही कुछ मिथ्यादृष्टि जीवोंने जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वरूपी रसायनको जाना ही नहीं है तो उनको रागद्वेष मोह अथवा कुबुद्धि कुनयकी बात ही विदित होती है। बडा ही सौभाग्य है उन मनुष्योंका जिनको जैनशासनमें प्रीति, आत्मस्वभावकी दृष्टिमें प्रीति, धार्मिकतामें अनुराग होता है। और इस शुद्ध तत्त्वकी प्रीतिमें कुछ शान्तिका भी अनुभव होता है। और जो मनुष्य पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें अनुराग रखता है, उनके सचयका ही मात्र ध्येय समझता है, उसका उपयोग निरन्तर बाहर ही बाहर भटकता रहता है और उसे चैन नहीं पड़ती। उसे शान्तिलाभ नहीं मिल सकता। परवस्तुवोंके उपयोगमें शान्ति सम्भव ही नहीं है। जैसे कोई मछली अपने जल के स्थानसे उछलकर रेतीली भूमि पर गिर जाय तो उसका तडपना ही रहेगा और तड़प-तडपकर मरना होगा, ऐसे ही अपना उपयोग इस ज्ञानसमुद्रसे, इस आत्मस्वरूपसे बाहर निकल गया तो इस उपयोगने अपने इस ज्ञानसागरको तो नहीं जाना और जानने लग गया बाह्य विषयोंको। तो जो उपयोग यों बाह्य विषयोंमें गिर पडेगा वह तो तडपेगा और तडप-तड़पकर विकट कर्म बांधेगा और तडपनेकी म्याद बढाता रहेगा, भव-भवमें जन्म-मरण करता रहेगा।

ददाति दुःखं बहुधातिदुःसहं तनोति पापोपचयोन्मुखीं मतिं।
यथार्थबुद्धिं विधुनोति पावनीं करोति मिथ्यात्वविषं न किं नृणां ॥१५०॥

मिथ्यात्वविषकी दुःखकारिता, पापविस्तारफलता व सद्बुद्धिध्वंसकता—यह मिथ्यात्वरूपी विष इस जीवको अतीव दुःसह दुःख देता है। इस मिथ्यात्व भावके ही कारण पाप कार्योंकी ओर बुद्धिको लगा देता है। विषयके भोग और उपभोगोंमें ही यह अपनेको महत्त्वशाली जानता है। इसीसे ही कल्याण समझता है। इसमें ही लाभ समझता है। किसीके पास बहुत धन इकट्ठा हो गया तो वह यह समझता है कि मैंने बहुत कमाया और महत्त्व ही महत्त्व पाया, लाभ पाया, पर जो आत्मा है उस ओर तो देखो कि परपदार्थोंकी ओर बुद्धि लगाकर उसने अपना सब कुछ खोया या पाया? उसने सब खोया। भले ही धनलाभ हुआ, पर उससे वह अपनेको महत्त्वशाली समझे, बड़प्पन जाने और उसमें अपनेको कृतार्थ माने तो

उस जीवने अपना सब कुछ खोया ही है, कमाया कुछ नही है। कमाया तो उसने है जो अपने सहज स्वरूपको निरखता है, और उस सहज स्वरूपकी दृष्टिमे ही अपना लाभ समझता है।

ज्ञानीका उद्देश्य व परमार्थनिधिलाभ—ज्ञानीका उद्देश्य सहज आत्मस्वरूपकी उपासना है। बाह्य तत्त्वोका निवारण करना ज्ञानका ध्येय नही होता। ज्ञानी गृहस्थ भी यद्यपि लगा है सबके बीच, पर उसकी धुनमे केवल अन्तः स्वरूप ही बसा है। जैसे किसीका कोई इष्ट गुजर जाय तो भले ही वह रिश्तेदारोके बीच भी बैठा है, भोजन भी करता, लोगो की बात भी सुनता, पर लक्ष्य और दृष्टि मरे हुए इष्टकी ओर ही है। उसका ख्याल और प्रतीति नही छोड़ पाता। तो ऐसे ही धर्मात्मा ज्ञानी पुरुष भले ही समय-समयपर अन्य-अन्य कार्योंमे लगा है। घरमे, दुकानमे लोगोसे वार्तामे भले ही लगा है, मगर एक क्षणको भी वह अपने शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति नही छोडता। जैसे लोगोको अपने-अपने नाममे बड़ी प्रीति और प्रतीति लगी हुई है, वह एक सेकेण्डको भी नही हटती। भले ही सो गया, मगर अपने नाम और पर्यायके प्रति जो वासना है उसे बार-बार रखे हुए है। इन्द्रियाँ बेहोश हैं सो विकार मालूम नही हो रहा, पर प्रतीतिमें उसके अपने पर्याय और नाममे आत्मत्वकी आस्था है। तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको हर प्रसगमे चाहे वह खाये-पिये, चाहे किसीसे वार्तालाप करे, पर प्रतीति अपने अकिञ्चन चैतन्यस्वरूपकी ही है। मैं तो यह हू, बाकी बाहरी रंग ढंग ये सब मैं नही-हूँ। मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र हू, ऐसी आस्था ज्ञानीके होती है। इस जीवका प्रबल बैरी है मिथ्यात्वभाव। इस मिथ्यात्वके कारण जीवपर सभी प्रकारके संसार-संकट छा जाते है।

अनेकधेति प्रगुणेन चेतसा विविच्य मिथ्यात्वमलं सदूषण।
विमुच्य जैनेन्द्रमत सुखावह भजति भव्या भवदुःखभीरवः ॥१५१॥

भव्यो द्वारा कुपथको छोड़कर सुपथका ग्रहण—जो भव्य पुरुष है, सम्यक्त्वके पात्र हैं वे संसारमे जन्म मरण धारण करनेसे डरते है। देखिये क्या लाभ मिलता? मरे, फिर कोई न कोई जन्म ले लिया, चिड़िया ही बन गए, पशु ही बन गए, न जाने कहाँ कैसे रहना पड़ता है, न जाने कैसे-कैसे शरीर मिलते हैं, ये सब बडी विडम्बनाकी बातें है। जन्मे फिर मर गए, कितना कष्ट है? चिडियोके अंडेमे पहुंचे, उस अंडेमे रह रहे, कुछ जरासे बड़े हुए तो किसी बंदरने दबोचा या किसी बिल्लीने उठा लिया, किसी तरह मर गए। तो जन्म-मरण की इस कसरतमे इस जीवको लाभ क्या मिलता है? अबसे पहले भी तो जन्म था किसी भव मे। वहाँसे तो मरकर आये हैं। क्या लाये हैं साथ? वहाँका क्या है? अब यहांसे मरकर जायेंगे सो पता नही कहाँ उत्पन्न हो? यदि सम्यक्त्व नही है और विषयवासना ही चल रही है तो उसका फल है कीड़ा-मकोड़ा एकेन्द्रिय आदिक होना। हुए, जन्म तो हो गया, पर

किस कामका ? जन्मे और मरे, यह कसरत ज्ञानीको पसंद नही है। ज्ञानी पुरुष जन्म मरण धारण करनेसे डरता है। वह नाना प्रकारके दोषोसे दूषित सर्व प्रकारके मिथ्यात्वको छोडकर जिनेन्द्र मतको ही धारण करता है। मिथ्यात्व सर्व दोषोसे दूषित भाव है। जहां अपना ही पता नही और बाहरी-बाहरी पदार्थोमे ही मोह बना हुआ है, सही सुध है ही नही कि मैं क्या हूँ, तो ऐसा प्राणी तो बडे अधेरेमे है। न जाने क्या-क्या सोच रहा है ? वह स्वप्न जैसी स्थिति है। जैसे स्वप्नमे कोई बडा खजाना दिख गया अथवा किसी घसियारेको स्वप्नमे राज्य मिल गया तो सब लोग उसे सलाम करने लगे, हुक्म मानने लगे और सो रहा जमीन पर, सिरके नीचे इट रखे हुए है और अचानक किसी घसियारेने जगा दिया कि उठो चार बज गए, अब कब चलोगे, कब घास बेचोगे ? तो चूंकि वह स्वप्नमे तो राज्यपद पाये हुए था। जगनेके बाद तो कुछ नही तो वह अन्य लोगोसे लडने लगा कि तुमने हमारा राज्य छीन लिया। अरे था कहां राज्य ? केवल एक स्वप्नकी बात थी, वो वह तो सोतेकी बात है, जगनेमे भी उसका है कहां ? केवल कल्पनामे, मोहमे मान रहे कि मेरा है। कही मेरे माननेसे कोई वस्तु मेरी बन सकती है क्या कि आत्मस्वरूप ही मेरा है, अन्य कुछ मेरा नही है। ऐसी बुद्धि भव्य जीवोको प्राप्त होती है। सो वे मिथ्यात्वको छोडकर अनन्तसुख देने वाले जिनेन्द्र देव द्वारा बताये गए धर्मभावमे प्रवेश करते हैं। मिथ्यात्वसे हटना और सम्यक्त्व भावमे आना यह है सच्ची कमाई और वह नही है तो पुद्गलका ढेर कुछ भी हो उससे आत्माका क्या लाभ ?

विमुक्तशंकादिसमस्तदूषणं विमुक्ततत्त्वाप्रतिपत्तिमुज्ज्वलं।
वदंति सम्यक्त्वमनंतदर्शना जिनेशिनो नाकिनुतांघ्रिपंकजाः ॥१५२॥

प्रभु द्वारा निर्दोष सम्यक्त्वका निरूपण—अनन्त दर्शनके धारी देवेन्द्रो द्वारा पूजित भगवानने दिव्यध्वनिमे उपदेश किया है कि शका आदिक दोषोसे रहित जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वोके यथार्थ श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं। शका आदि दोषोसे रहित मायने जो सम्यग्दर्शनके ५ अतिचार बताये गए हैं उन अतिचारोसे रहित सम्यक् सम्यक्त्वनिरतिचार सम्यक्त्व कहलाता है। उन अतिचारोसे रहित सम्यक् सम्यक्त्व निरतिचार सम्यक्त्व कहलाता है। शंकाके मायने हैं जिनेन्द्रवचनोमे आत्मस्वरूपमे संदेह करना, शका रखना यह अतिचार है। काञ्छाका अर्थ है भोगोकी, भोगोके साधनोकी वाञ्छा करना अतिचार है। विचिकित्साका अर्थ है कर्मोदयसे क्षुधा, तृषा आदिक कोई विपदा आ पड़े तो उसमे विषाद करना विचिकित्सा है तथा साधुजनोकी सेवामे उनके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा है, यह सम्यक्त्वका अतिचार है। अन्य दृष्टि प्रशसा—

अन्य दर्शन अर्थात् मिथ्यादर्शनका जिनके प्रवर्तन है ऐसे साधकोंकी प्रशंसा करना सम्यग्दर्शन का अतिचार है। यह प्रशंसा शरीरसे हो, मनसे हो, वह सब अतिचार है और मिथ्यादृष्टिका स्तवन करना, गुणानुवाद करना, वचनोंसे प्रशंसा करना, यह अतिचार है। इन ५ अतिचारों से रहित ७ तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यक्त्व कहलाता है। जीव चैतन्यस्वरूप है। इसके साथ अनादिसे अजीव कर्मोपाधि लगी आयी है। जीवमें कर्मका आना, कर्मवर्गणामें कर्मत्व आना आश्रव है। कर्मोंका अनेक समयके लिए जीवमें बँध जाना बंध है। कार्माणवर्गणामें कर्मत्व न आना सम्वर है। जो बँधे कर्म हैं उनका झड़ जाना निर्जरा है और सर्व कर्मोंका विकार हट जाना, क्षय हो जाना मोक्ष है। इन ७ तत्त्वोंका श्रद्धान हो और उसके माध्यमसे परिचय करके जीवके सहज स्वरूपका श्रद्धान होना वह सम्यग्दर्शन कहलाता है।

परोपदेशेन शशाङ्कनिर्मलं नरो निसर्गेण तदा तदश्नुते।
क्षयं शम मिश्रमुपागते मले यथार्थतत्त्वैकरुचेर्निषेधके ॥१५३॥

सम्यक्त्वकी निसर्गजता व अधिगमजता—सम्यग्दर्शनके दो भेद किए गए हैं—(१) निसर्गज सम्यग्दर्शन और (२) अधिगमज सम्यग्दर्शन। सो कोई भी सम्यक्त्व होना होता है सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशममें। केवल वर्तमान समयमें उपदेश आदिक मिलने न मिलनेका अन्तर है। निसर्गज सम्यग्दर्शन जिसको उत्पन्न होता है उसने कभी पूर्वभवमें देशनालब्धि पायी थी और उसके संस्कारसे आज इस भवमें बिना उपदेश पाये सम्यक्त्व हो रहा है तो भले ही हो रहा है तो भी ७ प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम बिना नहीं हो पाता। वे ७ प्रकृतियाँ यथार्थ तत्त्वोंके श्रद्धानको रखने वाली हैं, जिनमें तीन दर्शनमोहनीयकी हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। चार चारित्रमोहनीयकी हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ। इन ७ प्रकृतियोंके उपशम क्षय अथवा क्षयोपशमसे सम्यक्त्व होता है। किसी भी नवीन परिणतिके होनेमें दो कारण हुआ करते हैं—(१) अंतरंग कारण, (२) बहिरंग कारण। जिनका दूसरा नाम है उपादान कारण और निमित्त कारण। सो ऐसे ही जिस जीवके सम्यक्त्व न था और अब सम्यक्त्वका आविर्भाव हो रहा है तो उसमें उपादान कारण तो जिसमें सम्यक्त्व हो रहा है वह जीव है और निमित्त कारण सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका उपशम, क्षय व क्षयोपशम है। उपशमका अर्थ है कर्मोंका दब जाना उदयमें न आ पाना। जैसे कोई मलिन तेल है तो उसमें फिटकरी डालनेसे उस तेलमें रहने वाले मलका उपशम हो जाता है। दब जाता है। वही तेल यदि दूसरी शीशीमें निथार लिया जाय तो वहाँ मलका अंश भी नहीं है। वह क्षय जैसी चीज है और वह मलिन दबा हुआ तेल यदि हिल जाय तो उसका मैल कुछ व्यक्त होता है कुछ नहीं रहता है। ऐसी

स्थिति क्षयोपशमकी होती है। अनादिकालसे यह आत्मा कर्म द्वारा मलिन था। इस आत्मा मे उपदेश आदिकके कारण दर्शन गुणको ढाकने वाले कर्मका उदय न आये, कुछ कालके लिए उस कर्मके फलका मिलना न हो तो यह उपशम कहलाता है। सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतियो का सर्वथा नाश हो जाय उसका नाम क्षय है और सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोमे से ६ प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय हो, उन्हीका उपशमन और सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोका उदय हो तो यह क्षयोपशम है, सो निमित्त कारणमे अंतरंग निमित्त है ७ प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम, बाह्य कारण है दूसरेका उपदेश मिलना, जिनबिम्बका दर्शन होना आदिक। ये सम्यक्त्व होते समय तो नही है कारण, पर सम्यक्त्वसे पहले जो शुभोपयोग हुआ था उस शुभोपयोगमे ये आश्रयभूत कारण पडे थे। चूकि शुभोपयोग हुए बिना सम्यक्त्व नही हुआ और शुभोपयोगमे ये आश्रयभूत कारण पडे तो इन्हे भी सम्यक्त्वका बाह्य कारण कहा जाता है। इस प्रकार निमित्तकी ओरसे देखनेपर सम्यक्त्वके तीन भेद हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, और परोपदेश आदिक वर्तमान भवमे न हो तथा हो इस अपेक्षासे दो भेद हैं—(१) निसर्गज सम्यग्दर्शन और (२) अधिगमज सम्यग्दर्शन।

सुरेन्द्रनागेंद्रनरेंद्रसपद सुखेन सर्वा लभते भ्रमन् भवे।
अशेषदुःखक्षयकारणं पर न दर्शन पावनमश्नुते जनः ॥१५४॥

अशेषदुःखक्षयकारणभूत सम्यक्त्वकी दुर्लभता— इस संसारमे भ्रमण करता हुआ यह जीव बडी सुगमतासे देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्रकी सम्पत्तियोको सबको पा लेता है। परन्तु इस पवित्र सम्यग्दर्शनसे जो कि समस्त दुःखोके क्षयका कारण है उसे यह मनुष्य नही प्राप्त कर पाता। इस छदमे सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता बतायी है। सम्यग्दर्शनको हर एक कोई पुरुष नही प्राप्त कर पाता। जितना सुलभ ससारके बडे-बडे वैभवोको मिलना है उसके मुकाबलेमे सम्यग्दर्शनका पाना अतीव दुर्लभ है। इस जीवने अनेक वैभव सपदायें अनेक भवोमे पायी, पर इस जीवेका कुछ पूरा न पडा। सम्यक्त्व एक ऐसा पवित्र विकास है कि जिसके होनेपर वह आत्मा नियमसे निर्वाण प्राप्त करेगा।

जनस्य यस्यास्ति विनिर्मला रुचिर्जिनेंद्रचंद्रप्रतिपादिते मते।
अनेकधर्मान्विततत्त्वसूचके किमस्ति नो तस्य समस्तविष्टये ॥१५५॥

सम्यग्दृष्टिकी सम्पन्नता—जो आत्मा सर्वज्ञ प्रणीत जीवादिक तत्त्वोमे निर्दोष श्रद्धा रखता है उन आत्माओंके लिए इस लोकमे कोई भी पदार्थ दुष्प्राप्य नही है। समस्त सांसारिक सुख मानो उनके हाथके खिलौने ही हैं। लोकमे जो भी बड़े-बड़े पद प्राप्त होते हैं चक्री, नारायण, बलभद्र, तीर्थंकर आदिक ये सब यद्यपि होते हैं पुण्योदयसे, लेकिन इस प्रकारका

पुण्यबंध सम्यग्दृष्टि जीवके शुभ राग होनेपर होता है। तो सम्यक्त्व होनेपर ही ऐसा पुण्योदय संभव है, जिसके उदयमे लोकपूजित बडे पदोकी प्राप्ति होती है, इसीसे यहाँ यह कहा गया है कि जिन जीवोको भगवत् प्रणीत तत्त्वोमे निर्दोष श्रद्धा है उनके लिए लोकमे कोई भी पदार्थ दुर्लभ नही है। सत्य सुख चाहने वाले पुरुषोका कर्तव्य मात्र एक ही है—अपने आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव, दर्शन, प्रत्यय करना। एक इस आत्माकी सम्हाल होनेपर जो इस लोकमे अच्छा होना चाहिये वह सब विधान बनता चला जाता है। और जिस अंतस्तत्त्वका विकास होना चाहिए वह भी विधान इसके साथ बनता चला जाता है। तो उन्नतिका मूल हेतु सम्यक्त्वका प्रादुर्भाव है। उसकी प्राप्ति सहज आत्माके अनुभवसे बनती है। ऐसे अनुभव की पात्रता भेदविज्ञानसे बनती है। भेदविज्ञानका लाभ वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होता है। अतः प्राथमिक कर्तव्य यह है कि वस्तुका स्वरूप यथार्थ समझनेका पौरुष करें।

विधाय यो जैनमतस्य रोचन मुहूर्तमध्येकमथो विमुंचति।
अनतकालं भवदुःखसगति न सोऽपि जीवो लभते कथंचन ॥१५६॥

सम्यक्त्वसे संसारपरिपाटीका प्रक्षय—जो जीव जिनेन्द्र प्रतिपादित तत्त्वोमे एक क्षण भी श्रद्धान कर लेता है वह जीव भी अनन्तकाल तक ससारमे परिभ्रमण करनेकी परिपाटी को तोड डालता है। सम्यग्दर्शनकी स्थिति कमसे कम अन्तर्मुहूर्त है। उपशम सम्यक्त्व अंतर्मुहूर्तसे अधिक टिकता ही नही। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी किसीके जघन्य अन्तर्मुहूर्त रह सकता है। तो यो कोई जीव मुहूर्तके भीतर ही सम्यग्दृष्टि बन जाय, पीछे मिथ्यादृष्टि हो जाय तो भी वह पुरुष अनन्तकाल तक तो संसारमे परिभ्रमण न करेगा। तो यो चाहे बहुत थोड़े समयके लिए ही सम्यक्त्व पाया गया है, पर सम्यग्दर्शनके प्रतापसे इतना कर्मभार दूर हो गया और ऐसा संस्कार अपेक्षाका टूट गया कि सम्यक्त्व मिटनेपर भी यदि वह संसारमे रहेगा भी तो अधिकसे अधिक कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन तक ही रह सकेगा, यह तो बहुत विरली बात कही है, पर निकट कालमे ही वह सम्यक्त्व पायगा और उच्च गुणस्थानमें चढ़ेगा और क्षपक श्रेणीमे प्रवेश कर कर्मोंका क्षय करता हुआ निर्वाण प्राप्त कर लेगा।

यथार्थतत्त्व कथित जिनेश्वरैः सुखावहं सर्वशरीरिणां सदा।
निधाय कर्णे विहितार्थनिश्चयो न भव्य जीवो वितनोति दुर्मति ॥१५७॥

प्रभुभाषित तत्त्वोके अवधारणसे कुमतिका विनाश—जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोका जो भव्य जीव पूर्ण विश्वास रखता है वह कभी भी दुर्गतिको प्राप्त नही होता। सम्यग्दृष्टि जीव मरकर दुर्गतिमे नही जाता। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रियमे तो उत्पन्न होता ही नही, तिर्यंच पञ्चेन्द्रियमे वही सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न

होगा सो भी भोगभूमिमे, जिसने कि पहले तिर्यञ्चायु बाध ली हो पश्चात् सम्यक्त्व हुआ हो और वह सम्यक्त्वमे ही रहे तो वह तिर्यञ्च तो होगा, पर भोगभूमियां तिर्यञ्च होगा। सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्यगतिमे उत्पन्न होगा तो सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त पुरुषवेदी मनुष्य होगा। उसका स्त्रीमे और नपुसकोमे उत्पाद नही होता। देवगतिमे देवोमे ही उत्पन्न होगा। सम्यक्त्वमे मरण कर जीवको नरकगतिमे न उत्पन्न होना चाहिए, पर किसी जीवने पहले नरकायु बाँध ली हो पश्चात् सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो वह सम्यक्त्वमे मरण कर अधिकसे अधिक पहले ही नरकमे और वह भी थोडी ही आयु लेकर उत्पन्न होता है। नरकोमे जघन्य आयु ८४ हजार वर्षकी है। तो यो जीव सम्यग्दृष्टि होकर खोटी गतियोमे उत्पन्न नही होता। सम्यग्दर्शनका ऐसा ही प्रभाव है कि वह वर्तमानमे भी खोटे मार्गमे न चलकर सुमार्गपर ही चलता है।

विरागसर्वज्ञपदाबुजद्वये यतौ निरस्ताखिलसगसगतौ।
वृषे च हिंसारहिते महाफले करोति हर्षं जिनवाक्यभावितः ॥१५८॥

सम्यग्दृष्टिके यथार्थ देव धर्म गुरुकी प्रतीति--सम्यग्दृष्टि जीव रागद्वेषादि सहित देवो मे देवत्वकी बुद्धि नही रखना। जो रागद्वेष सहित है वह कभी देव हो ही नही सकता। प्रभु तो वह है कि जिसमे दोष एक भी न हो और गुण परिपूर्ण हो। तो दोषसहित आत्मा देव नही कहला सकता। सम्यग्दृष्टि जीव आरभ परिग्रहसहित मनुष्योमे गुरुवत्वकी श्रद्धा नही रखता। जो आरंभसहित है वह गुरु नही कहला सकता है, क्योकि गुरु आरभ और परिग्रह से रहित होता, विषयोके वश नही होता। जो ज्ञान ध्यान तपमे ही निरत रहा करता। इससे विपरीत लक्षण वाला मनुष्य गुरु नही कहलाता। सम्यग्दृष्टि जीव हिंसा आदिक कर्मों मे धर्मपनेकी बुद्धि नही करता। जैसे कि लोकमे अनेक मोही पुरुष ममता आदिक करके देवी देवताके नामपर पशु आदिकको बलि देकर धर्मबुद्धि कर लेते हैं वह सम्यग्दृष्टि उन्हे पापरूप से ही निरखेगा। उनमे धर्मत्वकी बुद्धि नही करता। धर्म वही है जहाँ स्वकी भी दया है और परकी भी दया है। तो सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुगुरु, कुधर्ममे श्रद्धा न रखकर यथार्थदेव, यथार्थ गुरु और यथार्थ धर्ममे ही श्रद्धा रखता है, जो रागद्वेषसे रहित है, सर्व पदार्थोंका ज्ञाता है वह देव कहलाता है। जो आरंभ परिग्रहसे रहित है, निरतर आत्माकी धुनमे रहता है वह निर्ग्रन्थ मुनि गुरु कहलाता है। जो हिंसा आदिक पापोसे रहित वर्तव्योमे धर्म मानते है और उन्ही की सेवा करते हैं, सम्यग्दृष्टिका ऐसा ही आचरण होता है।

भवांगभोगेष्वपि भगुरात्मना जयत्सु नारीजनचित्तसंतति।
भावार्णवभ्रांतिविधानहेतुषु विरागभव विदधाति सद्रुचिः ॥१५९॥

इन्द्रियभोगोंकी अहितकारिताका निर्णय — सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियभोगोको बुरा अहितकारी समझता है। ये भोग सांसारिक आपत्तियोसे भरे है, विनाशीक है और नारीके मनोभावकी तरह चंचल है याने स्थिर नही है। ये भोग विनाशीक हैं। इन भोगोंको सम्यग्दृष्टि पुरुष बुरा ही मानता है। भोगोमे लगाव, भोगोका लाभ, इनमे उसकी रुचि नही रहती है। और इन भोगोको ये ससारसमुद्रमे डुबाने वाले है ऐसा समझता है। वो भोगोको अप्रशस्त जानकर उनसे विरक्त ही रहता है। इन्द्रिय भोगोमे सम्यग्दृष्टि जीवको उपादेय बुद्धि कभी नही होती और इसी कारण उनमे लिप्त नही होते। ज्ञानी पुरुषको सहज आनन्दस्वरूप अपना ज्ञानमात्र आत्मा अनुभवमे आया है, दृष्टिमे आया है। सो अपने सहज स्वरूपके आलंबनसे जो आनन्द पाया है वह अनुपम है, अलौकिक है। ऐसा अद्भुत आनन्द पाने वाला भोगोमे कैसे चित्त देगा? यद्यपि जीवकी आदत है आनन्द होनेकी, सो जिसको अपने आनन्दधामकी सुध नही है वह परपदार्थोंमे उपयोग लगाकर अपनी ही कल्पनासे सुख मानता है सो ये इन्द्रियविषय जिनका संयोग समझकर सुख मानता है वे बाह्य पदार्थ विनाशीक है, वे अपने आपके समयानुसार नष्ट हो जाते हैं। तो यह मोही जीव उनको वियुक्त नष्ट देखकर मनमे बडी वेदना मानता है। ससारमे यही हो रहा। किसका कुटुम्ब सदा रहने वाला है? जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियमसे होगा। जो इन बाह्य पदार्थोंसे भिन्न परतत्व मानते हैं उनको तो कोई आकुलता नही होती इनके वियोग होनेपर, पर जिनको स्वरूपकी सही श्रद्धा नही है वे यही आस्था लिए हुए हैं कि धन-वैभव परिजनके सयोगसे ही मेरेको सुख है, आनन्द है और पवित्रता है, इस कारण वे पराधीन रहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन सब आपत्तियोसे दूर है, वह तो निरन्तर इस धुनमे रहता है कि मेरा सहज आत्मा ही मेरेमे विराजे। मेरा उपयोग एक इस सहज आत्मस्वरूपकी सेवामे लगे, सम्यग्दृष्टिका यह ही प्रयत्न होता है। उसे विषय भोग खाना-पीना कदाचित् संयमके साधनभूत देहकी रक्षाके लिए करने पड़ते हैं, परन्तु उनमे न धुन है, न शक्ति है, उनसे उनकी प्रतीक्षा रहती है, समय पर जैसा हो गया सही मार्गानुसार वैसा हो गया, पर किसी भी भोगमे सम्यग्दृष्टिके अनुराग नही रहता।

कलत्रपुत्रादिनिमित्ततः क्वचिद्विनिद्यरूपे विहितेपि कर्मणि।
इद कृतं कर्म विनिन्दितं सता मयेति भव्यश्चकितो विनिन्दति ॥१६०॥
गणंति दोषाः कथिताः कथंचन प्रतप्तलोहे पतितं यथा पयः।
नयेषु तेषां यतिनां स्वदूषणं निवेदयत्यात्महितोद्यतो जनः ॥१६१॥

ज्ञानी द्वारा चारित्रमोहवशापतित कुकृत्यपर आत्मनिन्दा—सम्यग्दृष्टि जीव अपने

जीवनमे कैसी चर्चासे रहता है इसका वर्णन चल रहा है। इन दो छंदोमे कहा गया है कि यदि कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीवसे स्त्री, पुत्र, भाई-बहिन, माँ-बाप आदिक कुटुंबी जनोके निमित्तसे कोई बुरा काम बन जाय तो वह अपनेको बार बार धिक्कारता है, उस काम करने की निन्दा करता है, और एक निन्दा ही नही, वह अपने कुकार्योंको गुरुजनोके समक्ष निवेदन भी करता है, गृहस्थीमे रहकर वह स्वय भी चारित्रमोहके उदयसे कोई कुकार्य बन जाय या परिजन आदिकके प्रसंगसे कोई खोटा काम करनेका प्रसग आ जाय जिससे कि दूसरोको कष्ट हुआ हो अथवा किसी पर अन्याय हो गया हो तो ऐसे कार्योंकी वह स्वयं निन्दा करता है और गुरुजनोसे आलोचना करता है। वह ज्ञानी जानता है कि गुरु जनोके समक्ष विनयपूर्वक दोष कहा जाय तो इस आलोचनासे भी समस्त दोष नष्ट हो जाते है। जैसे गर्म लोहेपर गिरी हुई जलकी बूंदें क्षणभरमे नष्ट हो जाती हैं इसी प्रकार गुरु जनोके समक्ष विनयपूर्वक कहा गया दोष भी नष्ट हो जाता है। सो यह ज्ञानी जीव अपनेमे सावधानीका ही प्रयत्न करता है। पर गृहस्थीका प्रसंग है, इसको पंक बताया गया है। अनेक कार्य कुछ अन्याय आदिकके बन सकते है। तो जो खोटा कार्य बन गया हो उस कार्यकी यह निन्दा करता है और गुरु जनोसे आलोचना करता है।

निमित्ततो भूतमनर्थकारणं न यस्य कोपादिचतुष्टयं स्थितिं।
करोति रेखा पयसीव मानसे स शांतभावोऽस्ति विशुद्धदर्शनः ॥१६२॥

सम्यग्दृष्टिका शान्त स्वभाव—महान् अनर्थके कारणभूत क्रोधादिक चार कषायोके कारणसे कोई अनर्थके काम हो तो गए, परन्तु जैसे जलकी रेखा चिरकाल तक नही ठहरती, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके चित्तमे बहुत देर तक वे कषाय वाली बातें नही ठहरती। ऐसा ही शान्त स्वभावी सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। सम्यग्दृष्टिने मात्र अपने स्वभावकी आराधनाका ही जीवनका ध्येय बनाया है, इसके अतिरिक्त उसके अन्य कुछ भी ध्येय नही है, पर कर्मोदय है, पूर्वबद्ध कर्मविपाक आता है। क्रोध, मान, माया, लोभके प्रसंग बन जाते है और जब तक वह निम्नभूमिमे है तब तक कषायकी वेदना हो जाती है। तो ऐसे समयमे उससे कोई अनर्थ की बात बन जाय, ये कषायें बन जायें तो भी उसके चित्तमे ये कषायें देर तक नही ठहरती, इसका कारण यह है कि ज्ञानी तो अपनेमे शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी भावना करता है, वही उसका ध्येय है, तो जो बाहरी विकार प्रसंग है वह स्थूल नही रह सकता है। यो विकार परिणाम उसके नष्ट हो जाया करते है। जैसे मान लो क्रोधवश किसीको कुछ कह डाला तो जैसे बालक कभी आपसमे भडने लगे तो थोडी ही देर बाद वे मिलकर खेलने लगते हैं, उन बच्चो के चित्तमे कषाय बैठकर नही रहता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुषोके चित्तमे कोई कषाय बैठाकर न

रहेगा । किसी भी कषायवश किसीके प्रति कोई व्यवहार बन गया हो तो वह उस कषायको लिए हुए नही रहता । कषायका परिहार कर देता है, और जिसको कष्ट हुआ है उससे बडे प्रेमपूर्वक मिलकर वह शल्यको दूर कर देता है ।

विशुद्धभावेन विधूतदूषण करोति भक्ति गुरुपचके श्रुते ।
श्रुतान्विते जैनगृहे जिनाकृतौ जिनेशतत्त्वैकरुचि' शरीरवान ॥१६३॥

सम्यग्दृष्टिके पञ्चपरमगुरुभक्तिका भाव—सम्यग्दृष्टि जीव पूज्य पुरुष और पूज्य जिनालय आदिकके भक्तिभावसे निर्दोष विधिसे पूजा भक्ति करते है, पर अन्य अल्पज्ञ पाखंडी जनोके प्रति भक्ति नही करते । सम्यग्दृष्टिको परमात्मतत्त्वके प्रति दृढ श्रद्धा है कि जो निर्दोष और सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो वह तो अरहत भगवान है । प्रभु निर्दोष है, इस कारण उनके वचन कभी मिथ्या नही हो सकते, और सर्वज्ञ हैं, इसलिए उनके कोई वचन मिथ्या नही निकलते । जिनको संपूर्ण ज्ञान है उनके मिथ्यावचन होनेका प्रसग ही नही है, सो वह प्राणिमात्रके हितके लिए इनकी दिव्यध्वनि होती है और उस उपदेशसे जगतके प्राणी लाभ लेते हैं । सिद्ध भगवान आत्माकी परम शुद्ध अवस्था है । जिसका आत्मा स्वयं अपने आप है उस ही प्रकार जो प्रसिद्ध हो गया, प्रकट हो गया । निर्लेप निरञ्जन चेतनामात्र जिनकी जाज्वल्यमान ज्योतिसे समस्त लोकालोक प्रतिभासित होता ऐसा शुद्ध द्रव्य, व्यञ्जन पर्याय और शुद्ध गुण व्यञ्जन पर्यायमे परिणम रहे आत्मा सिद्धप्रभु कहलाते हैं । आचार्य जो मुनिसघके नायक है और परिग्रह भारसे रहित हैं, संगमे रहने वाले मुनिजन स्वयं आत्म कल्याणके अभिलाषी है अतएव सहज है । ऐसी प्रकृति रहती है कि उनसे आचार्यपर कोई भार नही होता और आचार्य भी स्वयं आत्मकल्याणके मार्गमे रहनेके कारण अपनेको परिग्रह रहित, भाररहित हो अनुभव करते है यह उनकी परम करुणा है कि सगमे रहने वाले साधु जनोको यथासमय उपदेश आदेश देकर उन्हे भी मोक्षमार्गमे लगाये रहते है । उपाध्याय परिग्रह और आरंभसे रहित हैं और मुनियोको प्रतिदिन पढ़ाते रहते है, ऐसे ज्ञानी और दूसरोको पढ़ानेका उपकार करने वाले उपाध्याय कहलाते है । ये भी साधु ही हैं । निर्ग्रन्थ परिग्रहरहित आत्मसाधनामे तत्पर रहा करते है और साधुजन जो आरंभ परिग्रहसे रहित हैं इनकी निर्दोष पूजा भक्तिमें सम्यग्दृष्टि निरत रहता है और सर्वज्ञके द्वारा कहे गए शास्त्रोके प्रति अपूर्व भक्ति रहती है । उन शास्त्रोका प्रकट करना, प्रचार करना, पढ़वाना और उपदेशादिकसे ज्ञान की प्रभावना कराना यह सब सम्यग्दृष्टि जीवोकी चर्यामे बना रहता है । जैनमदिर और जिनबिंबकी भी विशुद्ध भक्तिसे निर्दोष पूजा करते है, पर ज्ञानी पुरुष अन्य किसी भी अल्पज्ञ को आरंभ परिग्रहसहितको विषयकषायकी वाणीको कभी भी योग्य सही नही समझता ।

चतुर्विधे धर्मिजने जिनाश्रिते निरस्तमिथ्यात्वमलेऽतिपावने ।
करोति वात्सल्यमनर्थनाशन सुदर्शनो गौरिव तर्णके नवे ॥१६४॥

सम्यग्दृष्टिका चतुर्विध सघके प्रति वात्सल्य—जिस प्रकार गाय अपने नये बच्चेमे प्रीति करती है और वह गाय अपने बच्चेका वियोग कभी नही चाहती है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी अपने ही समान जो तत्वके श्रद्धानी है ऐसे श्रावक श्राविका और इस पथमे बढे हुए मुनि अर्जिका आदिक सघमे निर्दोष प्रेम करता है और उस संघ समागमका वियोग नही चाहता। उनकी सगतिमे रहना ही हितकर समझता है। सम्यग्दृष्टिकी मूल चाह है कि आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमणमे उसकी वृत्ति रहती है, ऐसी चाह करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव ऐसी चाह वाले और इस ही मे जो अग्रगामी है उन पुरुषोके प्रति निश्चल प्रेम करेगा ही। लोकमे भी देखा जाता कि जो जिस कर्मका उद्देश्य रख रहा है उसीका उद्देश्य रखने वाले अन्य जनोमे प्रीति हो जाती है। बालक भी जो सिनेमा जा रहा हो और अन्य बालक सहपाठी भी सिनेमा जा रहा हो तो उनमे परस्पर मैत्री भाव बन जाता है, प्रीति हो जाती है। तो यहां तो मोक्षमार्गका उद्देश्य है। जो लोकोत्तर लक्ष्य है इसका ही ध्येय सम्यग्दृष्टिने बनाया और इसी ध्येयमे चलने वाले अन्य श्रावक, श्राविका, मुनि, अर्जिका हैं तो उनके प्रति निश्छल वात्सल्य उमड जाता है, क्योकि समय-समयपर जो बातें अपनेमे देखना चाहते हैं उसीके सकेत इन पूज्य सतोमे प्राप्त होते हैं, इसलिए अनुरागकी वृद्धि करना स्वाभाविक ही बात है।

दुरंतरोगोपहतेषु सतत पुरार्जितैनोवशतः शरीरिषु ।
करोति सर्वेषु विशुद्धदर्शनो दया परामस्तसमस्तदूषण. ॥१६५॥

सम्यग्दृष्टिका रोगी दुःखी जीवोपर करुणाभाव—सम्यग्दृष्टि जीव समस्त संसारी जीवोमे दयाभाव धारण करता है। ससारी जीवोको निरखकर वह समझ रहा है कि पहले अपने उपार्जित किए हुए दुष्कर्मोके कारण यह अनेक रोगोसे आक्रान्त है, अनेक कठिनाइयोसे परेशान है तो ऐसे रोगाक्रान्त प्राणियोमे सम्यग्दृष्टि जीव दयाभाव धारण करता है और केवल वचनमात्र ही दयाभाव नही, किन्तु अपने सामर्थ्य प्रमाण तनसे, मनसे, धनसे, वचनसे उन रोगाक्रान्त प्राणियोकी सेवा करता है। इस प्रकार इस सम्यग्दृष्टि जीवको सभी प्राणियो के प्रति दयाभाव रहता है, उनमे किसी प्रकारका वह स्वार्थ नही चाहता। निश्छल सेवा करता, क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव जो सेवामे चल रहा है वह स्वरूपके नातेसे चल रहा है। कोई लौकिक छल कपटका सबध वहा नही है। तो जैसे सम्यग्दृष्टि जीवोका अन्नदान आदि मे प्रेम है उसी प्रकार औषधिदानमे रोगियोकी सेवामे भी उसकी प्रवृत्ति रहती है। वह सर्व

अवस्थावोमे सभी जीवोमे उस शुद्ध सामान्य चैतन्यस्वरूपको निरखता है यह जीव स्वभावतः है तो कष्टरहित अविकार, पर उपाधिवश ऐसी ही वृत्ति हुई कि जिससे कर्मबन्ध हुए, और उन कर्मोके उदयमे आज ऐसी रुग्ण दशा हुई है।

विशुद्धमेवगुणमस्ति दर्शनं जनस्य यस्येह विमुक्तिकारणं ।
व्रत विनाप्युन्नमसंचित सतो स तीर्थकृत्त्वं लभतेऽतिपावन ॥१६६॥

विशुद्ध सम्यक्त्वका लोकमें प्रताप—जिस जीवके विशुद्ध सम्यग्दर्शन है वह बिना व्रत, तप, उपवास किए भी सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर लेता है। तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाले अव्रती भी होते, श्रावक भी होते, मुनि भी होते। तीर्थंकर प्रकृति बधमे जीवो के प्रति विशुद्ध भावना पडी हुई है, संसारके ये जीव सभी स्वरूपतः शुद्ध ज्ञानानन्दमय है अर्थात् स्वरूपमे विकार नही पडा है। ये कब अपने स्वरूपकी सुध लें और संसारके सकटोसे मुक्ति पायें ऐसे जीवोंके प्रति सम्यग्दृष्टिकी भावना रहती है। यह सम्यग्दर्शन मुक्तिका कारणभूत है। अष्ट अगसे सहित है और जीवोका मूल आलंबन है। जिसके सम्यक्त्व हुआ उसके व्रत भी न हो तब भी वह तीर्थंकर प्रकृतिका बध करता है और निकट कालमे ही निर्ग्रन्थ पद धारण कर तपश्चरण बलसे इस तीर्थंकर पदको साक्षात् प्राप्त कर लेता है। तीर्थंकर वास्तवमे १३वें गुणस्थानमे ही रहता है, इससे पहले वह परमार्थसे तीर्थंकर नही है, पर जो गर्भकल्याणक व जन्मकल्याणक आदिक मनाये जाते हैं सो तीर्थंकर प्रकृतिके उदयमे नहीं मनाये जाते, किन्तु जिस पुरुषने तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया है और तीर्थंकर होगा उसके इतना पुण्य विशेष है कि उस पुण्य विशेषके प्रतापसे कल्याणक आदिक उत्सव मनाये जाते है। तीर्थंकर अवस्थामे तो केवल दो ही कल्याणक मानते हैं—ज्ञानकल्याणक और निर्वाण कल्याणक। तीर्थंकरप्रकृतिका उदय १२वें गुणस्थान तक नही आता, किन्तु इस विशुद्ध तीर्थंकर प्रकृतिका बंध अव्रती सम्यग्दृष्टि भी कर लेता है। इस संसारमे जितनी भी विभूतियां हैं चाहे इन्द्रकी विभूति हो, चाहे धरणेन्द्रकी विभूति हो या चक्रवर्तीकी विभूति हो, ससारमे जितनी भी अलौकिक विभूतियां हैं उन सबमे महान् विभूति तीर्थंकरकी विभूति है। तीर्थंकर पदका प्राप्त करना बडे ही उत्कृष्ट तपका फल है, परन्तु जो जीव विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है उसे बिना व्रत आदिकके भी वह विभूति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नही करना पडता। तो जब सम्यक्त्वके प्रतापसे तीर्थंकर जैसी विभूतियां प्राप्त हो सकें तो अन्य विभूतियोकी तो बात ही क्या है? वह तो स्वयं ही अनायास मिल जाती है। तो सम्यक्त्व जीवका उत्कृष्ट वैभव है।

दमो दयाध्यानमहिंसन तपो जितेंद्रियत्वं विनयो नयस्तथा ।
ददाति नैतत्फलमङ्गधारिणां यदत्र सम्यक्त्वमनिंदितं धृतं ॥१६७॥

सम्यक्त्वकी दमदयातपसे भी अधिक फलदायिता—जो फल सम्यक्त्वके प्रतापसे प्राणियोंको प्राप्त होता है वह फल ससारमे अन्य बडे बडे ध्यान आदिक कार्योंसे भी प्राप्त नही हो सकता। कोई पुरुष सम्यक्त्वसे हीन हो और क्षमाशील हो तो भी उसे वह पद प्राप्त नही हो सकता जो सम्यक्त्वका कारण हुआ करता है। दयालु पुरुष अनेक पाये जाते है। प्राणियोंपर दया करनेके लिए अपनी सपत्ति भी व्यय कर देता है, पर सम्यक्त्व नहा है तो उनको वह फल प्राप्त नही हो सकता। जो सम्यक्त्वके होनेपर ही हुआ करता। ध्यान करने वाले अनेक लोग हैं, और ध्यानके बडे योग आसन प्राणायाम आदिकमे निपुण लोग है, पर सम्यक्त्वहीन यदि है तो उनके ध्यानसे वह फल प्राप्त नही हो सकता, जो सम्यक्त्व होनेपर हुआ करता है। तपश्चरण करने वाले अनेक सन्यासी जन मिलते हैं और ऐसे-ऐसे दुर्धर तप करते हैं कि जो साधारण जनोंसे भी न किए जा सकें। जैसे जिन्दगीभर खडे रहना, सोना भी हो तो पेडके सहारे खडे ही खडे टिककर कुछ सो लेते। हाथको ऊँचा ही बनाये रहते, चाहे वह हाथ खूनसे रहित होकर अतीव दुर्बल हो जाय ऐसे-ऐसे अनेक तपश्चरण हैं जिसे बहुतसे संन्यासीजन करते हैं। करें, लेकिन यदि सम्यक्त्वहीन है तो उनको वह फल नही प्राप्त हो सकता जो सम्यग्दर्शनके होनेपर फल प्राप्त होता है।

सम्यक्त्वकी जितेन्द्रियता विनय आदिसे भी श्रेष्ठफलदायिता—जितेन्द्रियपना भी बहुतसे लोग आचरण करते है। जो नीरस ही खायें, शरीरका शृङ्गार भी न करें, न नहायें या अनेक प्रकारके विकट परिश्रम करें, पर इन्द्रियके विषयोंमे आसक्त न हो उन भोगोंकी ओर ध्यान भी न रखें ऐसे बहुतसे पुरुष मिलेंगे, पर उनके जितेन्द्रियपनाके कारण भले ही साधारणतया पुण्यबध हो, पर वह विशिष्ट ध्यान नही बन पाता जो सम्यक्त्वके होनेपर बँधा करता है। विनयशील भी पुरुष अनेक मिलते है, बडी विनम्रता रखते है। वचनोंमे नम्रता, शरीरसे नम्रता, मन भी नम्र रखें, ऐसे विनयशील पुरुष भी सम्यक्त्वरहित है तो वह फल नही प्राप्त कर सकते जो सम्यक्त्वके होनेपर हुआ करता है। क्षमा आदिक धारण करनेसे तो साक्षात् स्वर्गादिक सांसारिक अनित्य सुखोंकी प्राप्ति हो जायगी, सो यह अनादिसे अनेकों को होती चली आयी, पर शुद्ध सम्यक्त्व धारण करनेसे पारमार्थिक अविनाशी मोक्षसुख प्राप्त होता है। वास्तविक आनन्द मुक्तिका ही आनन्द है, जहाँ केवल आत्माश्रयसे आनन्द झड रहा है, पराधीनताका रच भी नाम नही है, जिसका ज्ञान सर्वज्ञ होता हुआ भी निश्चल स्थिर रहा करता है। जहाँ कोई शारीरिक व्याधि नही, शरीर नही, कर्म नही, केवल आत्म-

मग्नता है तो ऐसा आनन्द सम्यक्त्वके प्रतापसे प्राप्त होता है। वह आनन्द अन्य गुण विकास से नही हो पाता। इस कारण अन्य शेष समस्त गुण मिलकर भी इस शुद्ध सम्यग्दर्शनकी बराबरी नही कर सकते। जीवोका कल्याणरूप कोई प्रयत्न है तो वह है सम्यग्दर्शन। आगे जितनी भी चारित्ररूप प्रगति होती है उस सबका आधार है सम्यग्दर्शन। सम्यक्त्वके आधार पर ही चारित्रकी प्रगति बनती है। जहाँ कोई अपना उद्देश्य ही न बना पाये, फिर उपयोग को कहाँ रमाओगे? उपयोग वहाँ रमता है जिस प्रकारकी जीवोको श्रद्धा होती है। जिनको भोगसाधनोमे सुख पानेकी श्रद्धा है उनका उपयोग भोगसाधनोमे रमता है। सम्यग्दृष्टिका श्रद्धान केवल आत्मस्वरूप ही हितमय है, आनन्दमय है ऐसा बना रहता है। तो उनका उपयोग उस ही आत्मस्वरूपमे मग्न रहता है। तो सम्यग्दर्शनमें जो आनन्द है वह तत्काल भी आनन्द है और इसके प्रतापसे कर्मोंका विध्वस होकर सम्यक्चारित्रकी पूर्ण प्राप्ति होकर जो एक शुद्ध शाश्वत निरञ्जन सिद्ध अवस्था प्रकट होती है, फिर तो यह अनन्तकाल तकके लिए धर्मादिक द्रव्योकी तरह शुद्ध पवित्र रहेगा। तो जीवोका परम कल्याण हो उसका मूल साधन है सम्यग्दर्शन।

> वर निवासो नरकेऽपि देहिनां विशुद्ध सम्यक्त्वविभूषितात्मनां।
> दुरतमिथ्यात्वविषोपभोगिनां न देवलोके वसतिर्विराजने ॥१६८॥

मिथ्यात्ववासित जीवके देवलोकमें निवासकी अपेक्षा सम्यक्त्वसहित जीवके नरकवासकी भी श्रेष्ठता—जिन जीवोको शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है ऐसे विशुद्ध सम्यक्त्वसे विभूषित आत्माओका नरकमे भी निवास हो तो भी वह अच्छा है, परन्तु जिनका परिणाम खोटा है ऐसे मिथ्यात्वविष भोगने वाले जीवोंका स्वर्गलोकमे भी निवास हो तो भी उत्तम नही है। सम्यग्दृष्टि जीव नरकोमे भी पाये जाते है। कोई तो नरकोमे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं और पहले नरकमे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न हो लेते हैं तो नरकमे सम्यग्दृष्टि जीव पाये जाते हैं, सो भले ही नरकमे उनका निवास है, लेकिन सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि जिसके प्रसादसे वह अन्तः व्याकुल नही रहता, किन्तु जो मिथ्यादृष्टि जीव है वे स्वर्गमें भी रहते, किन्तु ज्ञानप्रकाश न मिलनेके कारण उनका आत्मा बेचैन रहता है, तृष्णासे व्याकुल रहता है। तो सम्यग्दर्शनका ऐसा उत्कृष्ट माहात्म्य है कि जिसके कारण यह जीव संतुष्ट हो जाता है। इस सहज आत्मस्वरूपका अवलोकन करने वाले सहज आनन्दसे तृप्त हो जाते हैं, किन्तु सांसारिक विभूति भी विशेष मिली हो और वह मिथ्यादृष्टि हो तो वह तृष्णासे व्याकुल बना रहता है। तो सम्यक्त्व ही श्रेष्ठ चीज है और यही वास्तविक वैभव है।

अधस्तनश्वभ्रभुवो न याति षट् न सर्वनारीषु न संज्ञितोऽन्यतः।
न जायते व्यंतरदेवजातिषु न भवनज्योतिषिकेषु सद्रुचिः ॥१६९॥

सम्यग्दृष्टिके दुर्गतिमे अनुत्पादका विवरण—जिन आत्माओको सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया है वे पुरुष नीचेके ६ नरकोमे उत्पन्न नही हो सकते। सम्यक्त्वमे मरण करने वाले जीव की बात कही जा रही है। जो सम्यक्त्वसहित मरेगा वह प्रथम नरकको छोडकर शेष नरको मे उत्पन्न नही हो सकता, सो प्रथम नरकमे भी वह जीव उत्पन्न होगा जिस मनुष्यने पहले नरकायुका बध किया हो पश्चात् विधिपूर्वक उसके क्षायिक सम्यक्त्व बन जाय। तो क्षायिक सम्यक्त्व तो कभी मिटता नही। और जो आयु बाँध ली वह भी टलती नही याने जिस भव की आयु बांधी है उस भवमे जाना ही पडता है। तो वह जीव पहले नरकमे जायगा, नीचे के नरकोमे न जायगा। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमे मरण कर किसी भी स्त्री जातिमे उत्पन्न नही हो सकता। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वमे मरण कर केवल सज्ञी पंचेन्द्रियमे ही उत्पन्न होगा। असज्ञी तक उत्पन्न न होगा। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय व असज्ञी पञ्चेन्द्रियमे सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नही होता। भवनवासी व्यन्तर व ज्योतिषी इन तीन प्रकारके देवोमे भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नही होता। संसारमे चार प्रकारकी जीवोकी विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्यायें है—मनुष्य, तिर्यञ्च नारकी और देव। इन ही के अनेक उत्तरोत्तर भेद हैं। सो मनुष्योमें स्त्री जाति और नपुसकोमे सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नही होता। पर्याप्त मनुष्य पुरुष ही होगा। तिर्यंचोमे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रियमे उत्पन्न न होगा। पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंचोमे ही वह उत्पन्न होगा जिसने पहले तिर्यंचायु बांध ली हो, सो वह भोगभूमिमे उत्पन्न होगा। हाँ कोई नारकियोमे केवल प्रथम नरकमे ही उत्पन्न हो सकेगा। सो वह भी जिसने पहले नरकायु बाधी हो, पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो वह देवोमे भवनत्रिकमें उत्पन्न न होगा और स्त्री जातिमे तो कही भी उत्पन्न न होगा, यह सब सम्यक्त्वका प्रताप है।

न बांधवा नो सुहृदो न बल्लभा न देहजा नो धनधान्यसंचयः।
तथा हिताः सति शरीरिणां जने यथात्र सम्यक्त्वमदूषितं हितं ॥१७०॥

निर्दोष सम्यक्त्वकी हितकारिता—इस अनादि अनन्त ससारमे जितना हितकारी जीवोका शुद्ध सम्यग्दर्शन है उतना हितकारी अन्य कुछ भी नही है। दूसरे जीव मेरा क्या सुधार कर सकेंगे। समर्थ ही नही हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही कर सकता। हम ही अपनी अशुद्ध भावनाको छोड़कर शुद्ध भावनामे आयें, मिथ्यात्वको तजकर सम्यक्त्वमे आयें तो हम अपना स्वयं कल्याण कर पायेंगे। तो इस जीवका हितकारी केवल सम्यक्त्वभाव

है । न बधु, न मित्र, न बल्लभा, न पुत्र, न घन धान्य कोई भी इस जीवका हितकारी नही है । इस कारण यदि अपने आपपर दया हो तो निर्दोष सम्यक्त्व धारण करना चाहिये । यदि चित्तमे ठन जाय यह बात कि मुझको लोकके अन्य प्रलोभनोसे कोई प्रयोजन नही, अणुमात्र से भी कोई प्रयोजन नही । मैं तो संसारसकटोसे छूटनेका उपाय चाहता हू । ऐसा दिलमे ठन जाय तो उसको सम्यक्त्व उत्पन्न होगा और किसी भी प्रकारसे लालच, परवस्तुकी तृष्णा रखेगा तो उसको सम्यक्त्व न उत्पन्न होगा ।

तनोति धर्मं, विधुनोति पातक, ददाति सौख्यं, विधुनोति बाधक ।
चिनोति मुक्ति, विनिहति ससृति, जनस्य सम्यक्त्वमनिंदितं धृत ॥१७१॥

सम्यग्दर्शनधारीकी धर्मविस्तारकता व पापविध्वंसकता—जिस जीवने निर्दोष सम्यक्त्व पा लिया है वह जीव पापभावका विध्वंस कर देता है । पापकर्म उनकी दृष्टिसे न कट पायेंगे, पापकर्म कोई ग्रहण भी नही कर सकता, मरोड नही सकता, नष्ट क्या किया जायगा ? पर जीव यदि अपने भाव शुद्ध बना ले तो कर्म अपने आप दूर हो जाते है । कर्मोंके दूर करने का दूसरा कोई उपाय नही है । अपने आपको संभाल करें, अपनेको सहज चैतन्यस्वरूप अनुभवें, इस प्रकार स्वरूपमे मग्न हो तो कर्म अपने आप ही झड जाते हैं । तो सम्यक्त्वभाव ऐसा उत्कृष्ट भाव है कि जिसके होते ही पापकर्म ध्वस्त होने लगते हैं । जिस जीवने सम्यक्त्व धारण किया वह धर्मका विस्तार करता है । धर्म बताया गया है चारित्र को, चारित्तं खलु धम्मो, किन्तु सम्यक्त्वको कहा है धर्मकी जड । दसण मूलो धम्मो, सम्यक्त्व जिसकी जड है वह धर्म है । जैसे—पक्की नीव किए बिना महल नही उठाया जा सकता, और कोई उठाये तो वह धंस जायगा । तो ऐसे ही निर्दोष सम्यक्त्व पाये बिना कोई चारित्र मे न बढ़ सकेगा । कोई बनावटी चारित्र पाले तो उससे कही कर्म नही कटते । कर्म कटेंगे निश्चय चारित्र द्वारा । तो सम्यक्त्वभाव जिसके हुआ वह धर्मका विस्तार करता है अर्थात् चारित्र की प्रगति करता है ।

सम्यक्त्वकी सौख्यकारकता व बाधापहारकता—सम्यक्त्व भाव ही सौख्य प्रदान करता है । जब तक भ्रम था तब तक यह जीव कष्टमे रहा । जहाँ देहको माना कि यह मैं हूं तो देह तो वियुक्त होगा ही । जब मरण काल आता है तो विपरीत श्रद्धान वाले जीव बड़े दुःखी होते हैं । भ्रम निकल जानेपर फिर उनके दुःख नही रहता । जैसे कोई पड़ी तो हो रस्सी और कुछ अधेरे उजेलेमे समझ लिया कि यह तो सांप है, तो वह बड़ा दुःखी होता है । और यदि उसका यह भ्रम दूर हो जाय, उसके पास जाकर, उसे छूकर, हाथसे उठाकर जान ले कि अरे यह तो कोरी रस्सी है, तो फिर उसको कोई भय नही रहता । तो ऐसे ही

संसारके इन समागमोके प्रति जब तक भ्रम बना है कि ये मेरे हैं, ये मेरेको सुखदायी हैं, मेरे हितू हैं तब तक यह जीव कष्ट पाता है। क्योंकि जैसा सोचा वैसा परपदार्थोंमे होता नही और यह मानता है परपदार्थ पर अपना अधिकार तो यह दुःखी होता है। और जहाँ वस्तु-स्वातंत्र्यका परिचय हुआ वहाँ दुःख नही होता। तो सम्यक्त्व भाव सुख प्रदान करने वाला है। ससारकी जितनी भी बाधायें हैं उन सब बाधाओंको सम्यक्त्वभाव नष्ट कर देता है। बाधायें क्या हैं ? परपदार्थोंसे स्नेह जो रखा है। उनकी शका, उनका उपकार उनके मनके अनुसार न मिलना, ऐसी घटनायें होती हैं तो उन्हें यह जीव बाधा समझता है। बाधा किस बात की ? जीवका स्वरूप अभेद्य है। इसमे किसी परका प्रवेश नही है। तो स्वयमें तो कोई भी परपदार्थ कुछ भी गड़बड नही कर पाता है, फिर बाधा किस बात की ? सम्यक्त्वका प्रकाश जिसके आ गया उसके बाधा नही रहती। मानें तो बाधा न मानें तो कुछ बाधा नही।

सम्यक्त्वके द्वारा संसारसे छुटकारा—सम्यक्त्व भाव संसारसे मुक्तिको दिलाता है। सम्यक्त्व हो तो वह जड है कि जिसके आधारपर चारित्रकी प्रगति हो तो कर्मोंका ध्वस होता है और मोक्षका लाभ होता है। मोक्ष मायने है खालिस आत्माका रह जाना। भले ही आज आत्मा, कर्म और शरीर ये एक जगह पिण्डोले रूप बन रहे है लेकिन सत्ता तो अलग-अलग है। तो जैसी मेरी सत्ता है उस सत्ता रूप ही अपने को निरखें तो यह उपाय है शुद्ध होने का। जब मुक्तिमे अकेला रहना है तो यहाँ ही अपनेको अकेला देखिये ना तो अपने एकत्वका यह अभ्यास मोक्षलाभका कारण बनेगा। सम्यक्त्वभाव ससार प्रक्रियासे जन्म मरण से दूर कर देता है। संसार मायने जन्म लेना, मरण करना और जीवनका इष्टवियोग अनिष्ट सयोग आदिक दुःखोसे दुःखी होना इसीका नाम ससार है। सो जब सम्यक्त्वभाव उत्पन्न हो गया तब परभावोमे इसको अहकार नही रहता। सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूपमे ही आत्मत्वका अनुभव रहता है। सो जिस जीवके यह उत्कृष्ट भाव निर्दोष सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है उसके सर्व श्रेय बन जाता है। तो सर्व अकल्याण उसका दूर हो जाता है।

मनोहर सौख्यकरं शरीरिणां तदस्ति लोके सकले न किंचन।
यदत्र सम्यक्त्वधनस्य दुर्लभमिति प्रचिन्त्याश्र भवतु तत्पराः ॥१७२॥

सम्यक्त्वकी लोकोत्तरसौख्यकरता—तीन लोकमे ऐसा कोई सुख नही है जो सम्यक्त्व धनके प्रतापसे प्राप्त न हो सके। लोकमे जितने बडे बड़े पदवियोके सुख माने जाते हैं उन सुखोके पाने लायक पुण्यका बध सम्यग्दृष्टिके हो पाता है। तीर्थंकर हो सके, चक्री हो सके ऐसा पुण्य मिथ्यादृष्टिके नही बन पाता। बनता है रागभावसे, मगर सम्यक्त्वसे पुण्य नही बँधता। सम्यक्त्व तो सवर और निर्जराका कारण है, पर सम्यक्त्व होते हुए प्रभुभक्ति

आदिक शुभ भावनाये हो तो उसे उत्कृष्ट सुख मिलता है और फिर आत्मानुभवसे बढ़कर आनन्द कहाँ रखा है ? वह सम्यक्त्वसे ही प्राप्त होता है । तो सम्यक्त्वके प्रभावसे ही उत्तम आनन्द प्राप्त होता है । इस कारण जिनको सुखी होने की चाह है उनको सम्यक्त्व धारण करना चाहिए । सम्यक्त्व लाभ होने से हित अहित का विचार जगने लगेगा । ये रागद्वेष विकल्प मेरे लिए अहित है और यह सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप की उपासना मेरे लिए हितकर है । ऐसा हित अहितका विवेक करना और उसका पालन, अहितका छोडना, हितका ग्रहण करना यह सम्यक्त्व होने पर होता है। तो जहाँ हेयका त्याग किया, उपादेयका ग्रहण किया तो इससे बढकर आनन्द और कहाँ मिलेगा ? तो सम्यक्त्वकी कृपासे ऊंचासे ऊंचा आनन्द सिद्ध होता है और यहाँ तक कि सम्यक्त्व मोक्षके आनन्दको प्रदान करता है। तो ससारमे कोई भी वस्तु दुर्लभ नही है । एक सम्यत्वभाव दुर्लभ है । अपने आपके सहज स्वरूपको पहचाने, जाने, यह ही बात दुर्लभ है जो कि सुगम होना चाहिए । जिस जीवका भवितव्य सुधरनेको है उसे अपने स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

विहाय दैवी गतिमर्चिता सतां व्रजति नान्यतं विशुद्धदर्शना. ।
ततश्च्युताश्चक्रधरादिमानवा भवति भव्या भवभीरवो भुवि ॥१७३॥

सम्यग्दृष्टिका सुगति लाभ—शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव जिसको ससार शरीर भोगोसे सहज वैराग्य बना है वह मरकर अच्छी जाति के देवोमे ही उत्पन्न होता है । या तो स्वर्गो मे कल्पवासी देव बनेगा या स्वर्गो से ऊपर के विमानोमे कल्पातीत देव बनेगा । अन्य प्रकार के खोटे देव नही बन सकता और वह ऐसे उत्तम देव देवेन्द्रके भवों को पाकर उस जीवनमे भी धर्मचर्चासे अपने को सुवासित रखेगा और आयुके क्षयके समय विशुद्ध परिणाम रहेगा जिससे इस मध्यलोक मे वह श्रेष्ठ मनुष्य बनेगा जिनको लोकोत्तम सुख प्राप्त होता है उन्होने पूर्व भव मे सम्यक्त्वके साथ धर्मसाधना की थो वहाँ भक्ति आदिकके कारण ऐसा ही पुण्यबध हुआ था उसका ही यह फल है कि अच्छे फल भोग रहे हैं । लेकिन ये ज्ञानी जीव ससारके अनेक सुखोको पाकर भी उनमे लीन नही होते । उनसे विरक्त ही रहते हैं तो मनुष्यका, जीवका जितना भी जो कुछ कल्याण है वह सम्यक्त्व धारण करने से ही प्राप्त होगा और सम्यक्त्व अपने आपके मननसे प्राप्त होता है । इसमे कोई कठिनाई और कोई बाधा नही आती । स्वयं अपनेमे अपनेको सहज स्वरूपमात्र अनुभव करे कि मैं तो यह अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा हूँ । स्वय आनन्दस्वरूप हूँ । यहाँ कोई कष्ट नही । ऐसा अन्तस्तत्त्व को निहारता रहे तो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता

है। सो सब कल्याण सम्यक्त्व का प्रताप जानकर तत्त्वाभ्यास द्वारा आत्ममनन द्वारा सम्यक्त्व को पाये और इस सम्यक्त्वको स्थिर बनाये रहे, यह ही इस मनुष्यजीवनका सर्वश्रेष्ठ कार्य है।

प्रमाणसिद्धा. कथिता जिनेशिना व्ययोद्भव ध्रौव्ययुता विमोहिता।
समस्तभावा वितथा न वेति य करोति शका स निहति दर्शनं ॥१७४॥

सम्यग्दृष्टिके जिनोदित वचनोमे व वस्तुस्वरूप में शंकाका अभाव—जिनेन्द्रदेवने वस्तुका स्वरूप उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त बताया है जो वस्तुमे स्वभावत सुक्तक्षयात. है ही क्योकि प्रत्येक वस्तु नवीन पर्यायोरूपसे उत्पन्न होती है, पुरानी पर्यायोके रूपसे विलीन होती है और वह सद्भूत वस्तु शाश्वत रहती है। ऐसा ही वस्तुस्वरूप प्रमाण और युक्तियो से सिद्ध है। सो जो मोही पुरुष ऐसे वस्तुस्वरूप को वस्तुमे रहने वाले समस्त भावोको नही जानता है अथवा उनके स्वरूपमे शंका करता है कि यह सत्य है अथवा नही है या इस प्रकार है, वह अपने विशुद्ध सम्यक्त्वका नाश करता है। जिसको वस्तुके मूल स्वरूपकी श्रद्धा ही नही वह न तो अपने आपको पहिचान सकता है और न मोक्ष मार्ग में गति कर सकता है। तथ्य यह है कि जीव हूँ, सदा रहने वाला हूँ, प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्यायो को उत्पन्न करता हूँ। आज तक उपाधिके सम्पर्कसे मै विभावरूप परिणमता आया हूँ। आश्रयभूत पदार्थोका आलम्बन लेकर विकार व्यक्त करता आया हूँ और यदि मैं अपने स्वरूपको सम्हालूँ तो ये विकार भी दूर होगे और आत्मामे शुद्धि प्रकट होगी। उपाधि दूर होनेका उपाय भी यही है कि अपने आपके सहज स्वरूपकी श्रद्धा करना और उस ही मे रमना। तो जिस पुरुषको वस्तुके उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपकी श्रद्धा नही है वह आत्मकल्याण नही कर सकता।

सुरासुराणामथ चक्रधारिणा निरीक्ष्य लक्ष्मीममला मनोहरां।
अनेनशीलेन भवेन्ममेति यस्तनोति काक्षा स धुनोति सद्रुचि ॥१७५॥

सम्यग्दृष्टिके लोकवैभवकी कांक्षाका अभाव—पहले छद मे शका नामक दोषकी दृष्टिकी प्रधानतासे वर्णन किया गया था, अब यहाँ काक्षा अतीचार की प्रधानतासे वर्णन किया जा रहा है। यदि कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष कभी शिथिलता मे आकर जगतकी विभूतियोको देखकर उनकी इच्छा करे तो वह अपने सम्यक्त्वको नष्ट कर सकता है। कभी देवो की विभूति देखे या सुन ले, असुर या चक्रवर्तीकी विभूतिको देखे या सुने, उसे जानकर मनमें यदि यह इच्छा उत्पन्न हो कि मेरे भी ऐसी ही विभूति हो, मैं भी ऐसी

सम्पत्ति वाला बनूं तो यह भाव आते ही वहाँ सम्यक्त्व कहाँ रहा ? सम्यक्त्वमे तो केवल आत्मस्वरूपकी भावना रहती है और कदाचित् इच्छा रूपकी बात कहे तो मोक्षकी इच्छा हो सकती है, पर संसारकी विभूतियोकी इच्छा करनेके मायने यह है कि उसको ससार रुच गया है। ससार की विभूतिकी इच्छा कर रहा है, तो ऐसी स्थितिमे सम्यक्त्व मलिन होता है और मलिन होकर नष्ट भी हो जाता है, तो सम्यग्दृष्टि पुरुष कभी भी जगतकी विभूतिकी इच्छा नही करता। मेरा इस जगतमें नाम हो, जगतका ऐसा वैभव प्राप्त हो ऐसी कुछ भी चाह नही करता, सम्यग्दृष्टिकी धुन तो केवल सहज आत्मस्वरूप के अवलोकन की है। कदाचित् ज्ञानी गृहस्थ दुकान पर जाये तो इच्छा तो करेगा ही कि मेरा माल बिके, इस भाव मे बिके, तो ऐसी इच्छा करने मात्रसे सम्यक्त्वका घात नही होता, पर निदान रूपमे इच्छा बने अथवा धर्मकार्य करके उसके एवज मे लोकिक बात की इच्छा करे तो वहाँ सम्यक्त्वका घात हो जाता है।

मलेन दिग्धानवलोक्य सयतान्प्रपीडितान्वा तपसा महीयसा।
नरश्चिकित्सा विदधाति व परां निहंति सम्यक्त्व मसावचेतन. ॥१७६॥

सम्यग्दृष्टिके विचिकित्साका अभाव—सम्यग्दृष्टि पुरुष तपस्वियोके मलिन शरीर को देखकर या रोगादिक से पीडित शरीरको देखकर उसमे घृणा नही करता। वह जानता है कि तपस्वियों का शरीर रत्नत्रयधारी आत्माके सम्पर्क से पवित्र है मगल है, तो वह रत्नत्रयसे पवित्र शरीरमे घृणा कैसे कर सकेगा ? जिसको अपने पुत्रके गुणोसे प्रेम है या पुत्रमे ही प्रेम है वह पुत्र यदि मूत्र विष्टा करदे तो माँ उससे कभी ग्लानि नही करती, ऐसे ही समझिये कि सम्यग्दृष्टि जीवको रत्नत्रयधारी पुरुषोके प्रति धर्मानुराग है, उसमे रत्नत्रयके भावोका निरीक्षण है तो ऐसे आत्मासे अधिष्ठित शरीरको कभी रुग्ण मलयुक्त देखे तो सेवा करते हुए मे उन्हे रंच घृणा नही होती। यह रत्नत्रय से पवित्र श्रमणका शरीर स्नान आदिकसे रहित है इसलिये मल भी चढ जाता है, श्रेष्ठ तपसे सयुक्त है इससे स्यामवर्ण हो जाना आदिक बातें भी हो जाती हैं। दुर्बल शरीर हो जाता है, हड्डियाँ भी निकल आती, ऐसा जीर्ण शरीर बन सकता है, पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र से उसकी कान्ति बढ़ी हुई रहती है। उन श्रमणोका आत्मबल सहज बढता रहता है, तो ऐसे तपस्वीजनोके मलिन व रोगादिकसे पीडित शरीरको देखकर यदि कोई पुरुष घृणा करता है तो वह मूढ़ पुरुष अपने सम्यग्दर्शन मे कलक लगाता है और ऐसे कलक के होते रहने से सम्यक्त्वका घात हो जाता है।

विलोक्य रौद्रव्रतिनोऽन्यलिंगिन प्रकुर्वत कदफलाशनादिक ।
इमेऽपि कर्मक्षयकारकव्रता विचिन्वतेति प्रतिहन्यते रुचि ॥१७७॥

मूढदृष्टित्वसे सम्यक्त्वका क्षय—यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष शिथिलतावश अनेक प्रकार के आचरण रखनेवाले पाखण्डी जनोको देखकर यह श्रद्धा कर ले कि ये भी सही हैं और अपने कर्मोका क्षय कर रहे है, इनके इस तप, व्रत तपश्चरणसे भी कर्मोका नाश हो जाता है, ऐसी श्रद्धा जगने पर बुद्धि होने पर वह अपने सम्यग्दर्शनको दूषित कर लेता है। कभी-कभी बड ऊंचे बाह्य तपश्चरणके धारी सन्यासी देखने को मिलते है। कोई पंचाग्नि तपको तप रहा है, गर्मी के दिनो मे चारो तरफ अग्नि सुलगा रखी है तपश्चरण के वास्ते और ऊपरसे सूर्यका आताप है तो यो पाँचो ओर से तपन मिल रहा है, ऐसे तपन मे तपने वाले पंचाग्नि तपके तपने वाले कहे जाते है, उसमे कष्ट तो प्रत्यक्ष दिख ही रहा है। उसे देखकर प्रशसा करना कि यह भी वड धर्मात्मा है, तपस्वी है, कर्मोका क्षय कर रहे है, तो इसमे सम्यग्दर्शनको दोष आता है क्योकि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्ष मार्ग है और उस रत्नत्रय के अनुसार ही क्रिया बने तो वह व्यवहार धर्म मे माना गया है, पचाग्नि तपमे प्रथम तो अग्निका आरम्भ किया, चारो ओर अग्नि जल रही है और अग्नि जलने पर अनेक जीवोका घात भी सम्भव है और यह जान बूझकर आरम्भ करे तो वह रत्नत्रयके मार्गसे विरुद्ध वात है। फिर भी उसके प्रति यह भाव रहना कि इससे कर्मोका क्षय होता है तो वह सम्यक्त्वको दूषित कर रहा है, अनेक सन्यासीजन जगलमे रहते है और कंदमूल फल खाकर अपना पेट भरते है, यह देखकर भी प्रशंसाका भाव किसीके हो सकता है कि देखो ये कितना निरपेक्ष है, किसी मनुष्य से मतलब भी नही रखते है, जगलमे ही रहते है और कदमूल फल खाकर अपना गुजारा कर लेते हैं यह बात तो जानी पर यह ध्यानमे न आया कि कितना स्वच्छद वृत्ति है, रसना इन्द्रियका विषय स्वादने के लिये उनके कोई बाधा नही है। कैसा ही खाय, फलके तोडने मे आरम्भ, कदमूल के खोदनेमे आरम्भ, ऐसे षट्कायकी हिसा भी चल रही है। इस ओर ध्यान नही किन्तु बाहरी निरपेक्षता देखकर किसी मनुष्य से सम्बन्ध नही है इतना ही मात्र देखकर प्रशसा करना यह भी कर्मक्षयका मार्ग है ऐसी बुद्धि करना सम्यक्त्व मे कलक लगाना है। अनेक पाखण्डीजन चिलम, तम्बाकू, सुलफा, भाँग आदिक मादक चीजे पीते हैं और उसमे धर्मकी मुद्रा दिखाते है। ऐसे ही देवताओको माना है और उन देवताओका नाम लेकर सुलफा आदिक पीतेखाते है और भक्तजन भी चूंकि शिथिल है तो उनके प्रति

गुणका ही भाव बढ़ाते है कि जब ये इस नशे मे होते है तो भगवान से साक्षात् मिलते है, ऐसी ही बाते सोचकर उनका समर्थन करते है, भक्तिपूजा करते है, ऐसी घटनाको देखकर यदि कोई ज्ञानी अपने ज्ञानभावमे शिथिल होकर उनकी अनुमोदना करे और ये भी कर्मक्षय कर रहे है ऐसी बुद्धि रखे तो वह ज्ञानी अपने सम्यग्दर्शनको दूषित करता है और ऐसे दूषण द्वारा सम्यक्त्वका घात कर लेता है ।

कुदर्शनज्ञानचारित्रचिद्रजान् निरस्ततत्त्वर्थरुचीनसयतान् ।
निषेवमाणो मनसापि मानवो लुनाति सम्यक्त्वतरु महाफल ।।१७८।।

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रवन्तोंकी मानसी सेवासे सम्यक्त्वका क्षय—जो पुरुष खोटे दर्शन, खोटे ज्ञान, खोटे चारित्ररूपी मैलसे मलिन जीवो के मन, वचन, कायसे किसी एक से भी सेवा सुश्रुषा करता है वह अपने सम्यक्त्वको काट डालता है, दूषित करता है, सम्यक्त्वका घात करता है । जो मिथ्यातत्त्वके श्रद्धानी है उनकी भक्ति, उनकी सेवासे कौनसा फल पा लिया जायेगा ? मिथ्यात्व ही तो संसारके जीवोको अनादिसे रुलाता आया है मिथ्यात्वके वश ही तो यह जीव सारे सकट सह रहा है और अब यह मिथ्यादृष्टियों को ही गुरु समझकर, शरण समझकर उनकी भक्ति श्रद्धा करे तो वह मिथ्यात्वको ही तो पुष्ट करता है । जिन लौकिक गुरुजनोका दर्शन खोटा है अनेकान्तके स्वरूपसे अपरिचित है आत्माके वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ है, उनको कर्मक्षयका रास्ता कैसे प्राप्त हो सकता है ? वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ताका भान न होनेसे जिसका ज्ञान खोटा बना हुआ है और खोटा दर्शन ज्ञान होनेके कारण रागद्वेषमे ही पग रहे है, रागद्वेषमयी क्रियामे ही धर्म मानकर उनका ही आचरण कर रहे है, ऐसे पुरुषोकी सेवा सुश्रुषा मे यह पुरुष कैसे सम्यक्भाव प्राप्त कर सकता है ? जिस मिथ्यात्वभावको लिये हुए है उसी मिथ्याभावको और भी दृढ कर रहा है, तो मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी, मिथ्या आचरण वाले पुरुषोकी कोई मनसे सेवा सुश्रूषा करे, वचनसे सेवा सुश्रुषा करे अथवा शरीरसे सेवा सुश्रुषा करे वह सम्यग्दर्शनरूपी वृक्षको जडसे उखाड डालता है । सम्यग्दर्शन ही तो ससार सकटोसे छुटाने वाले मोक्ष रूप महाफलको देने वाला है, उसीका ही जिसने घात किया है वह अब कैसे आत्माकी प्रगतिके मार्गमे बढ सकता है ?

जिनेद्रचद्रमक्तभक्तिभाविना निरस्तमिथ्यात्वमलेन देहिना ।
प्रधार्यते येन विशुद्धदर्शनमवाप्यते तेन विमुक्तिकामिनी ।।१७९।।

निरतिचार सम्यक्त्वसे प्रगतिपूर्वक निर्वाणका लाभ— इस छंदसे पूर्वके ५ छंदोमे सम्यग्दर्शनके ५ अतिचारोका वर्णन किया, उन अतिचारोमे रहित सम्यग्दर्शनको जो धारण करते है और साथ ही जिनेन्द्र भगवानके चरणोमे अचल भक्ति भी रखते है वे जीव शीघ्र ही मुक्तिरूपी कामिनीको प्राप्त कर लेते है अर्थात् ससारके सर्व सकटो से सदाके लिये छुटकारा पा लेते है। संसार नाम है अपने रागद्वेष सुख दु ख आदिक विकारोमे आत्मीयता मानकर भटकते रहना सो जब सम्यग्दृष्टिने इन रागादिक विकारोको परभाव समझ लिया, ये मेरे स्वभावमे नही है किन्तु कर्मोदयकी छाया प्रतिफलन रूप जो नैमित्तिक है, औपाधिक है यह मेरा कैसे हो सकता है ? मैं तो इनसे निराला केवल चैतन्यवृत्ति मात्र हूँ, बस चेतता रहूँ, प्रतिभास होना रहे यह ही मेरा सीधा काम है और मैं प्रतिभास स्वरूप हूँ, यह श्रद्धा जिसके हो गई है वह पुरुष तो इस स्वत सिद्ध चेतनामात्र सहज परमात्मतत्त्व की ही धुन रखेगा, उसका ससार फिर कैसे बढ सकता है ? कर्मभार उसके साथ लगता है जिसको कर्मके फल मे आदर रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव को कर्म के फल मे आदर रच नही है। यह समस्त कर्मफल विकृत है, ससार सकटो मे फंसाने वाले है, ऐसा परभावोकी असारता भिन्नता सम्यग्दृष्टि के निर्णीत हुई है, अब वह सम्यग्दृष्टि इन विकार भावोसे तो उपेक्षा करता है और अपने सहज अविकार स्वभावकी आस्था रखता है और जिसने सहज स्वभाव प्रकट कर लिया है उन परमात्माओकी अचल भक्ति करते है, अर्थात् यह सिद्ध स्वरूप ही परमात्मतत्त्व है। यही अवस्था जीवोको कल्याणकारी है, ऐसी उस सिद्ध पर्यायके प्रति आस्था रहती है, तो जिसको निज सहज स्वरूपका भान है और सहज स्वभाव के अनुकूल जिनका विकास हुआ है उनके प्रति भक्ति जगती है वह पुरुष संसार सकटो से नियमसे छूट जाता है।

८ सम्यग्ज्ञाननिरूपण

अनेकपर्यायगुणैरुपेतं विलोक्यते येन समस्ततत्त्व ।
तदिंद्रियानिद्रियभेदभिन्न ज्ञ.न जिनेद्रैर्गदित हिताय ॥१८०॥

प्रत्यक्ष परोक्षरूप सम्यग्ज्ञान का स्वरूप व हित प्रयोजकत्व—इससे पूर्व परिच्छेद मे सत् असत्का विवेक किया गया था, जिसके आधार पर सम्यक्त्व होता है जो कि मोक्षका

मूल है उसका वर्णन करके अब सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया जा रहा है। ज्ञानका अर्थ है अनेक पर्याय और गुणोसे युक्त जीवादिक पदार्थोंका जानना। जो पदार्थ जिस स्वरूप से अवस्थित है उस स्वरूप मे उन पदार्थोंका परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सो ये सम्यग्ज्ञान दो प्रकार के है – परोक्ष और प्रत्यक्ष। जो इन्द्रिय मनके सहयोग से ज्ञान जगता है वह तो परोक्षज्ञान है। जहाँ इन्द्रिय मनका माध्यम नही लेना पडता, केवल आत्मीय शक्तिसे ही ज्ञान जगता है उस ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। यद्यपि जाना जाता है वैसे मात्र ज्ञानके ही द्वारा, कही इन्द्रियके द्वारा नही जाना जाता पर जैसे कोई कमरे मे बन्द हो तो वह पुरुष खिड़कियो के द्वार से ही देख सकता है, तो देखने वाला वह पुरुष ही है। खिडकियाँ नही देखती। पर उस बधनकी स्थितिमे यह ही चारा है कि वह खिड़कियो के द्वारसे बाहर की बात देख सके। तो ऐसे ही यह जीव कर्म और शरीर से बंधा हुआ है। छदमस्थ है, इस स्थितिमे इन बाहरी पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रियरूपी खिड़कियोके द्वारा कर पाता है। सो जानने वाला तो आत्मा ही है, पर स्थिति ऐसी है कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे वह जान पाता है। तो ऐसे इन्द्रियज ज्ञानको परोक्षज्ञान कहते है और अतीन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। ज्ञान शब्द ज्ञ अवबोधने धातुसे बना है। जिससे पदार्थ जाना जाय उसे ज्ञान कहते है। ज्ञानका स्वरूप जानना है। जैसे दीपकका स्वरूप ही प्रकाशमय है सो वह स्वय प्रकाशित है और दूसरे पदार्थका भी प्रकाशक है, ऐसे ही यह आत्मज्ञान स्वय जानन स्वरूप है, प्रतिभास स्वरूप होने से वह ज्ञान अपने को भी जानता है और पर पदार्थोंको भी जानता है। सो जहाँ इन्द्रियकी निरपेक्षता हो गयी, केवल आत्मीय शक्तिसे ही जानता चल रहा है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है।

रत्नमयी रक्षति येन जीवो विरज्यतेऽत्यतशरीर सौख्यात्।
रुणद्धि पाप, कुरुते विशुद्धि, ज्ञान तदिष्ट सकलार्थविद्भि.॥१८१॥

ज्ञानसे रत्नत्रयी रक्षा, विरक्ति, पापनिरोध, विशुद्धि एव सकलार्थ सिद्धि—सर्वज्ञदेवने उस ज्ञान को श्रेष्ठ ज्ञान कहा है, जिस ज्ञान की सहायतासे यह जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की रक्षा करता है। यद्यपि यह भी बताया गया है कि सम्यग्दर्शन होते ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन मे पहले वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही कहलाता, पर ज्ञान तो सही पहले था, पर अनुभूति सहित न था। सम्यग्दर्शन होने पर भी ज्ञानकी आराधना, ज्ञान का पौरुष आवश्यक है। यदि ज्ञानका पौरुष न रहे तो विषय कषायोके अनुरागसे पाया हुआ सम्यग्दर्शन भी नष्ट कर सकता है तो वही ज्ञान प्रशसनीय है जो सम्यग्दर्शन

को रक्षा करता है, सम्यग्ज्ञान की रक्षा करता है। ज्ञानमे समीचीनता आये, पर उसको बनाये रहे यह भी ज्ञानसे ही किया जायगा। अपना आचरण सही बनायें, ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्व में उपयोग जुटायें यह सब ज्ञानबलसे ही होता है। सम्यग्ज्ञान वही श्रेष्ठ बताया गया है जिसके प्रतापसे विनश्वर शारीरिक सुखोसे वैराग्य जग जाय। विषयोमे अनुराग बना रहे तो उसमें ज्ञानका प्रकाश नही है। सच्चा ज्ञान वही है जिसके होनेसे शारीरिक सुखोसे वैराग्य बन जाता है। सम्यग्ज्ञान पापके आश्रवको रोकता है। पाप कर्मका बंध न होगा, जिसके सम्यग्ज्ञान है उसके पापका आश्रव रुक जायगा। ज्ञानी पुरुष धर्ममे अनुराग रखता है, धर्ममें प्रवृत्ति करता है। रागद्वेष न करके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना यह कहलाता है धर्मपालन। यह धर्मपालन सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे ही होता है। तो सर्वज्ञदेवने उसी ज्ञानको श्रेष्ठ ज्ञान कहा है, जिससे पाप कटे, धर्म बढ़े, रत्नत्रयकी रक्षा हो और उसकी विशुद्धि बढती हो।

> क्रोध धुनीते, विदधाति शांति, तनोति मैत्री, दिहिनस्ति मोह, ।
> पुनाति चित्तं, मदन लुनीते, येनेह बोधं तमुशति सत. ॥१८२॥

ज्ञानसे क्रोधध्वस व शान्तिविधान—ऐसे ही ज्ञानको सत जन ज्ञान नामसे पुकारते हैं जो ज्ञान क्रोधको नष्ट कर देता है। जिसके ज्ञान जग रहा है उसके क्रोध कैसे होगा ? क्रोध तभी होता है जब अज्ञान बर्त रहा हो। किसी बाह्य पदार्थमे लगाव लग रहा हो, फिर कोई विघनकर्ता समझा जा रहा हो वहाँ क्रोध उत्पन्न होता है, पर जहाँ सम्यग्ज्ञान है, भिन्न-भिन्न सत्ताका स्पष्ट निर्णय है वहाँ क्रोधका क्या अवकाश ? तो वास्तवमे ज्ञान वही है जो क्रोधको नष्ट कर देता है। बड़े-बडे ऋषी जो तपश्चरणके बलसे ऋद्धि को प्राप्त करले और कदाचित् अज्ञान आ जाय, क्रोध आ जाय तो वह भी भस्म हो जाता है और दुनियाको भी भस्म कर देता है, तो जहाँ ज्ञान है वहाँ क्रोध नही रह सकता। ज्ञान वही है जो शान्तिको उत्पन्न करता है, जहाँ पदार्थका यथार्थ बोध है वहाँ रागद्वेष का क्या काम ? रागद्वेष होते है अज्ञान दशामे। ज्ञान जगने पर जहाँ यह प्रकाश जगा कि मैं तो अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ। जगतमे सर्व पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न है, भिन्न इन समस्त पदार्थोका कुछ भी परिणमन हो उससे मेरे मे कोई सुधार बिगाड नही होना है। स्वतन्त्र सत्त्वका जहाँ भान हो गया, ऐसा ज्ञान जग गया वहाँ शान्तिका वातावरण छा जाता है, और उस ज्ञानीके सत्सग मे जो लगे रहते हो, उन्हे शान्त देखकर अन्य लोगो

पर भी शान्ति छा जाती है, ऐसी घटनायें हुई भी है। किसी जंगलमे कोई मुनिराज तपश्चरण कर रहे है, वहाँ सिंह और बैल दोनो ही मुनिराजके समीप खड़े हैं, उनमें परस्पर क्रोध नही आता, अशान्ति नही होती। शान्तिका वातावरण रहता, वह सब प्रताप है सम्यग्ज्ञान का। वहाँ जो उदारता जगी, शान्ति जगी वह ज्ञान के कारण ही तो जगी। तो वास्तविक ज्ञान वही है जिस ज्ञानके होनेसे शान्तिका साम्राज्य छा जाय, तो जहाँ क्रोध न हो और शान्तिका साम्राज्य छा जाय वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्ज्ञानसे मैत्री विस्तार और मोहविघात—सम्यग्ज्ञानके प्रताप से सर्व जीवोकी मैत्रीका विस्तार हो जाता है। जिसने अपना सहज आत्मस्वरूप जाना वह सब जीवोका सही स्वरूप समझता है। अपने ही स्वरूपके समान अन्यका स्वरूप है और जो अपने पर बीतती है वही उन पर बीतती है, सब कुछ जाननहार ज्ञानी मित्रताका विस्तार कर लेते है। किसी भी जीव को दुःख उत्पन्न न हो ऐसी अभिलाषाको मित्रता कहते है, तो जहाँ सर्व जीवोका स्वरूप अपने स्वरूपके समान निरखा वहाँ मित्रताका विस्तार हो ही जाता है, सो ज्ञान सम्यक वही है जिसके होने पर सर्व जीवोमे मित्रताका वि तार हो, शत्रुताका भाव न रहे, ज्ञान सम्यक वही है जिसके होने से मोह नष्ट हो जाय। ज्ञान और मोह ये दो एक साथ कहाँ रह सकते। मोह का अर्थ है पर पदार्थोमे और अपनेमे भेद न समझ सकना, परसे हित मानना, परसे अपना सुधार बिगाड समझना। यह सब मोह कहलाता है, तो जहाँ मोहभाव रहता है वहाँ ज्ञानभाव नही रहता। क्योकि ज्ञानका विषय है यह कि जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा जान ले। प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य-क्षेत्र, काल भावसे है, परके द्रव्य-क्षेत्र काल भावसे नही। एक का दूसरे में प्रवेश नही, दखल नही, अधिकार नही, फिर भी जिसके ज्ञानभाव नही रहता, वह सबकुछ परके प्रति मान बैठता है। इन बच्चोपर मेरा ही तो अधिकार है, इनका मै ही तो मालिक हूँ, जो वैभव प्राप्त हुआ है वह मेरा ही तो है। तहसील मे रजिस्ट्री मेरे नामसे ही तो है, यह मकान दूसरे का कैसे हो सकता। तो पर पदार्थमे आत्मीयताका कामोह रहना यह ही तो अज्ञानभाव है। जहाँ ज्ञान जगता है वहाँ अज्ञान नही ठहर सकता।

सम्यग्ज्ञानसे चित्तपवित्रता व कामखंडन—सम्यग्ज्ञान वही है जो चित्तको पवित्र कर दे। चित्त अपवित्र होता है रागद्वेष मोहसे, रागद्वेष मोह बनता है अज्ञानभाव से। जहाँ वस्तुके आवान्तर सत्त्वका ज्ञान जगा है वहाँ विकार न आ सकेगा, तो सम्यग्ज्ञानके होने

पर चित्त पवित्र हो जाता है। चित्तमे अपवित्रता नही ठहरती और जिनके पूर्ण सम्यग्ज्ञान है, केवल ज्ञान है, उनके चित्त ही नही, पर आत्मा उपयोग स्वरूप तो है, उनका वह उपयोग पवित्र हो जाता है, सम्यग्ज्ञान वही है जिसके होने पर कामदेवका प्रभाव घट जाता है। किसी स्त्री पुरुषको निरखकर उसके रूपका कोई महत्त्व दे, उसके प्रति ग्लानि न आये, हाड, खून आदिक का ध्यान न जगे और केवल एक सौन्दर्य शोभा यही मात्र दिखे तो वह तो अज्ञानभाव है। जहाँ ज्ञान सही जग रहा है वहाँ कामदेवका प्रभाव नही ठहर सकता। यह शरीर जीव कर्म और आहार वर्गणाये इन तीनका पिण्ड है। जीव तो अमूर्त है, देह भी इस मलिन जीवकी संगति पानेसे पहले इसमे कोई खराबी न थी। जहाँ ही जीवका सम्बन्ध हुआ तो ये आहार वर्गणाय इस तरह परिणम गई कि कोई हड्डी बनी, कोई खून बनी, कोई चाम बनी, तो ये सब अपवित्र पदार्थ बन गए। तो जहाँ सही ज्ञान है, प्रत्येक वस्तुके स्वरूपका बोध है वहाँ देहको देखकर सत्य ही नजर आयेगा, असत्य माया दृष्टिमे न आयेगी। तब इस पर कामदेवका प्रभाव कैसे हो सकता ? तो जिसके होने पर इतना प्रभाव बने वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, ऐसा सत पुरुष कहते है।

> ज्ञानेन बोध कुरुते परेषा, कीर्तिस्ततश्चद्रमरीचिगौरी।
> ततोऽनुराग सकलेऽपिलोके तत फल तस्य मनोनुकूल ॥१८३॥

ज्ञानसे परबोध करानेके कारण कीर्तिविस्तार – ज्ञानके द्वारा यह जीव दूसरोको बोध करा सकता है। दूसरोको समझाना तब ही बनता है जब उस विषयमे खदने भी बहुत कुछ समझा हो और स्पष्ट हो। तो जिस ज्ञान द्वारा दूसरे प्राणियोको प्रतिबोध हो वह ज्ञान सही ज्ञान है, और ज्ञानका यही चिह्न है अर्थात् ज्ञानी पुरुष ज्ञान द्वारा कुमार्गपर जाते हुए लोगोको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर लगा सकता है, यह सामर्थ्य ज्ञानमे है। अन्य वैभव आदिकके द्वारा यह बात न बन पायेगी कि कुमार्गसे हटाकर सुमार्गमे लगा दे। ज्ञानमे ही यह कला है कि वह दूसरोको बोध करा सकता है। दूसरोको प्रतिबोध कराये उससे उसकी कीर्ति चद्रकिरणोकी तरह धवल विस्मित हो जाती है। जिन महापुरुषोके आज नाम पाये जा रहे है उन्होने यही तो किया था अपने समयमे कि कुमार्गपर जाते हुए लोगोको सुमार्गपर लगाया था। तो जो पुरुष दूसरोको प्रतिबोध करता है, कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर लगाता है उसकी कीर्ति चद्रकिरणोकी तरह स्वच्छ फैलती है। जहाँ लोगोको प्रतिबोध प्राप्त हो और उसकी कीर्ति धवल स्वच्छ विस्मित

हो तो उसके प्रति लोगोका अनुराग बढ जाता है। अब यह ज्ञानी पुरुष दूसरोका प्रेमपात्र बन जाता है। अनेक प्रयत्न करने पर भी कोई लोगोका प्रेमपात्र बन सके यह बात नही हो पाती, क्योंकि ज्ञानातिरिक्त अन्य उपायोमे निश्चलता नही है। ज्ञान ही एक ऐसा उपाय है कि जिसके प्रसारसे लोगोका अनुराग बढ़ता है, जहाँ अनुराग प्राप्त हो तो उसका अभीष्ट शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है।

ज्ञानाद्धित वेत्ति तत प्रवृत्ती रत्नत्रये संचितकर्ममोक्ष ।
ततस्तत सौख्यमबाधमुच्चैस्तेनात्र यत्न विदधाति दक्ष ॥१८४॥

ज्ञानसे हितपरिचय, रत्नत्रयवृत्ति, संचितकर्ममोक्ष व अबाध आनन्द--ज्ञानसे यह जीवहित अहितको जानता है। जब ज्ञान प्रकाश जगता है तो वहाँ यह स्पष्ट रहता है कि यह भाव तो हितरूप है और यह भाव अहितरूप है, कुछ ज्ञान दृढ होने पर विशेष उच्च स्थितिमे अहित पदार्थोंका ध्यान नही रहता पर हितमय निज सहज स्वरूपका तो ध्यान रहता ही है, तो यह जीव ज्ञान द्वारा हितको समझता है। हित क्या है ? समता परिणाम। अज्ञान हटे, रागद्वेष भाव विकार दूर हो। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे, ऐसी जो अपनी स्थिति है वही हितरूप है। हितरूप परिणामके परखने पर फिर उसमे प्रवृत्ति हो जाती है। क्या है हितरूप ? वह सहजभाव, उसकी दृष्टि की मग्नता। यही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र कहा जाता है। तो हितका परिचय होनेपर जीवकी प्रवृत्ति रत्नत्रयमें होती है और रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होनेके कारण पूर्व संचित कर्मोका क्षय हो जाता है। यह पूर्ण वैज्ञानिक बात है। आत्माके विकार भावका सान्निध्य पाकर कार्माण वर्गणामे कर्मत्व आ जाता है तो ऐसे भव भवके बाँधे कर्म आत्माके अविकार स्वभावकी दृष्टि होनेपर उनमे दुर्बलता आकर उन कर्मोका क्षय हो जाता है। कर्मोका क्षय होनेसे मोक्ष सुख प्राप्त होता है। यह मोक्षसुखभी धर्म है। कभी मिटने वाला नही है। इस मोक्षसुखमे बीच मे कभी बाधा भी नही आ सकती और कभी उस सुखमे थोडी कमी हो जाय, जैसे केवल ज्ञानके द्वारा प्रभु निरन्तर समस्त पदार्थोको जानते रहते है तो ऐसे ही इस आनन्द परिणमन के द्वारा निरन्तर निराकुल अखण्ड, परम आल्हादका अनुभव होता रहता है। तो कर्मक्षयसे जो मोक्षसुख प्राप्त होता है। उसमे कभीभी बाधा नही आ सकती। ऐसा निराबाध नित्य मोक्ष सुख प्राप्त होता है कर्मोके विध्वससे। इस कारण जो विवेकीजन है वे आत्मीय पवित्रता पानेके लिए जैसा स्वयका सहजस्वरूप है।

इस प्रकार व्यक्त हो जाय वह धर्मपालन करके ज्ञानका उपार्जन करता है। ज्ञानसे भीतर प्रकाश मिला और सत्य प्रकाश मिलनेसे स्वभावाभिमुखता हुई। रागादिक विकार दूर हुए, तो ऐसा सुयाग होने पर पूर्वबद्धकर्म स्वय क्षयको प्राप्त हो जाते है तो जिनको मोक्षसुखकी चाह है उनका कर्तव्य है कि वे अवश्य ही सवप्रयत्नपूर्वक वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे।

यदज्ञजीवो विधुनोति कर्म तपोभिरुग्रैर्भवकोटिलक्षैः।
ज्ञानी तु चैकक्षणतो हिनस्ति तदत्र कर्मेति जिना वदति ॥१८५॥

ज्ञानीका अल्प समय मे कर्मप्रक्षय--अज्ञानीजन लाखो करोडो भवो मे तपश्चरण कर करके जितने कर्म नष्ट कर पाते है उतने कर्म ज्ञानी जीव क्षणभर मे नष्ट कर डालता है। यहाँ ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाशकी तुलना की है उसका अर्थ इतना है कि इतना कर्मभार एक क्षणमे दूर होता, पर अज्ञानी जीवने वास्तवमे कर्मोका क्षय ही नही किया था। और इसीलिए लाखो करोडो भवोके तपश्चरणकी बात कही गई है। सम्वरपूर्वक निर्जरण हो वह मोक्षमार्गमे उपयोगी कहा गया है। अज्ञानी के सम्बर कहाँ? भले ही थोडे कर्म दूर हो जाये और वहाँ भी दूर हो रहे थे कुछ तपश्चरण आदिक विधानोके कारण कुछ अधिक दूर हो गए, उदीर्णा हो गई, किसी भी प्रकार हटे तो हट गए, इतने कर्मभार की तुलना की है। पर वहाँ अज्ञान अवस्थामे तो कर्मो का क्षय नही होता किसी का। यह जीवके एक क्षणके स्वरूपानुभव से इतने कर्म दूर हो जाते है। ज्ञानीके जो कर्म दूर होते है उनमे पाप कर्मके दूर होने की सख्या अधिक रहती है। पाप भारसे रहित होकर उच्च दशा में यह ज्ञानी पुण्य भारको भी हटा देता है। पाप कहते है उसे जिसके उदय से जीवको अनिष्ट सामग्री मिले। मनके प्रतिकूल वातावरण मिले, जिसमे यह कष्ट मानता है। पुण्य कर्म उसे कहते है जिसके उदयसे जीवको इष्ट सामग्री मिले। जिससे यह सुख मानता है, पर वस्तुतः जो सुख मिला पुण्योदयसे वह क्षोभसे भरा हुआ है और जो कष्ट पापके उदयसे मिला उसमे तो क्षोभ स्पष्ट ही है। और फिर जैसे पापके उदयमे इस जीवको ससारमे ही रहना पडता तो ऐसे ही पुण्य के उदय मे भी इस जीवको संसारमे ही रहना पडता। तो ज्ञानी जोवका ध्येय तो जैसा अपने आत्माका सहज स्वरूप है एक अकेला आत्मा ज्ञानमात्र, वैसा ही प्रकट होता, वही ध्यानमे रहता है। सो यह स्थिति पुण्य पाप दोनो से ही रहित होने पर होती है। तो यो पुण्य पाप दोनो हेय है।

चौरादिदायादतनूजभूपैरहार्यमर्च्य सकलेऽपि लोके ।
धन परेषा नयनैरदृश्य ज्ञान नरा धन्यतमा वहंति ॥१८६॥

ज्ञानकी परके द्वारा अहार्यता—यह ज्ञान ऐसा अद्‍भुत पदार्थ है, अलौकिक वैभव है कि जिसको चोर चुरा नही सकते। बाहर धन पुद्‍गल पड़े हो तो आँख बचाकर या जबरदस्ती चोर चुरा ले जायेंगे पर इसके ज्ञानको तो न ले जायेंगे। और ज्ञान भी यदि पाया है तो उसको न हरेंगे। और किसी ने परमार्थ ज्ञान प्राप्त किया है तो वह तो उसका अमिट वैभव है, तो चोर बाहरी पदार्थो को तो हर ले मगर ज्ञानको नही हर सकते। ज्ञान ऐसा विलक्षण अलौकिक पदार्थ है कि जिसको भाई-बधु आदिक कोई बाँट नहीं सकते। हिस्सा बाँट हो रहा हो और उनमे यदि कोई जबरदस्त हो तो वह कुछ अधिक धन भी ले सकता मगर ज्ञानको तो कोई नही बाँट सकता। सो ज्ञान एक अलौकिक वैभव है। वह यदि प्राप्त हो जाय तो न छिन सकता है न बँट सकता है। ज्ञान को राजा भी नही छुडा सकता। कोई अपराध बन जाने पर राजा धन भी ले सकता, राज्य से बाहर भी निकाल सकता मगर उसके ज्ञानको नही छीन सकता। वह ज्ञान आत्मा का आत्मा के पास ही रहेगा। बाहरी धन तो लोगोके द्वारा आँखो से दिख जाने योग्य है, दिख गया, उसको पकडा भी जा सकता, पर ज्ञान तो आँखो से अदृश्य है। कोई ज्ञानको कैसे छुड़ा लेगा ? यह ज्ञानभाव जिसके पास है वह पुरुष धन्य है। सब कुछ लोकमे वैभव मिलना सुलभ है पर ज्ञानभावका पाना दुर्लभ है। ज्ञानही आत्माका स्वरूप है और आत्मा के इस सहज स्वरूपको ज्ञान पहिचान ले तो चूंकि ज्ञानमे ज्ञान स्वरूप आ गया तो उसकी पवित्रता बढ़ी और सारे संकट दूर हो गए। तो सर्व सकटो को दूर कर सकने वाला कोई मित्र है तो वह ज्ञान ही है। इसलिए बहुत पुरुषार्थ करके भी एक इस ज्ञानभावका अर्जन करना चाहिये।

विनश्वर पाप समृद्धिदक्ष विपाकदु ख बुधनिदनीय ।
तदन्यथाभूतगुणेन तुल्य ज्ञानेन राज्य न कदाचिदस्ति ॥१८७॥

ज्ञान की अतुलता—लोकमे सबसे वडी वस्तु लोग राज्य को समझते है, पर उस राज्यकी उपमा भी ज्ञानके लिए फेल हो जाती है। यदि ज्ञानसे राज्यकी उपमा दी जाय तो तुलना कैसे बन सकती है ? राज्य तो विनाशीक है। एक न एक दिन नष्ट हो जाने वाला है, किन्तु ज्ञान अविनाशी है, वह नष्ट होगा नही। जो सम्यग्ज्ञान की धारा है वह

बराबर चलती रहेगी। जो सहज आनन्दगुण है वह कभी नष्ट होगा नही। तो राज्यमे और ज्ञानमे कालकृत बडा अन्तर है। राज्यसे पाप की वृद्धि होती है और ज्ञानसे पापका नाश होता है। तो पापवर्द्धक और पापनाशक की तुलना कैसे जा सकती है ? राज्यतो अन्तमे दुःखदायी है। या तो उसे कोई छीनता है या मरण होता है तो राज्य वैभव छूटा जा रहा है या कुछ भी हो अन्तमे दुःख ही प्राप्त होता है और यह ज्ञान सदा ही सुखका देने वाला है। तो दुःखदायक और सुखदायककी तुलना कैसे कही जा सकती है। ज्ञानीजन, विद्वान लोग, ससारसे विरक्त महापुरुष राज्यकी तो वास्तवमे निन्दा करते है। राज्य तो निन्दनीय है और ज्ञानकी सब लोग प्रशंसा करते है तो निन्दनीय और प्रशसनीय की परस्पर तुलना क्या ? जो लोग ज्ञानकी राज्यके साथ तुलना करते है वे भूल करते है। राज्य और ज्ञान ये दोनो बराबर कभी नही हो सकते।

> पूज्य स्वदेशे भवतीह राज्य ज्ञान त्रिलोकेऽपि सदार्चनीय।
> ज्ञान विवेकाय, मदाय राज्य ततो न ते तुल्यगुणे भवेता ॥१८८॥

ज्ञानकी सार्वभौमता—ज्ञान और राज्यमे बहुत अन्तर है। राज्यतो अपनेही देशमे पूज्य होता है, जो राज्य मिला है वह राजा अपने ही देशमे पूजा जायगा। दूसरे देश वाले उसकी आज्ञा न मानेगे अथवा दूसरे देश पर उसका अधिकार और प्रवेश ही नही है। तो राजा अपने ही देशमे पूजा जाता है, पर ज्ञानतो तीनो लोकमे सभी जगह सदा पूज्य है। किसी भी देशके लोग हो किसी भी कालमे, सभी लोग सम्यग्ज्ञानका आदर करते है। सम्यग्ज्ञानको हितकारी सुखदायी समझते है। तो ज्ञानकी राज्यके साथ तुलना कैसे ? राजा स्वय ज्ञानकी पूजा करते है। बड़े-बडे महाराजा चक्रवर्ती इन्द्र, धरणेन्द्र, योगीजन सभी ज्ञानकी पूजा करते है। तो ज्ञान ऐसा प्रधान हितकारी गुण है, ज्ञान तो विवेकके लिए होता है। परन्तु राज्यपद तो मद कराता है। विवेक कहते है उसे जहाँ हितका ग्रहण किया जा सके और अहितका त्याग किया जा सके। जो हित है उसका ग्रहण करले, परन्तु राज्यका जब मद आ जाता है या राज्यके विधानका जहाँ सम्बन्ध होता है वहाँ हितका तो ग्रहण नही हो पाता और अहितका ही ग्रहण होता रहता है। तो ज्ञान और राज्य ये दोनो एक समान कैसे हो सकते है ? सम्यग्ज्ञान तो स्वयका स्वाभाविक गुण है। राज्य तो पराधीन बात है। ज्ञान और राज्यकी तुलना करना यह मोहियोका ही काम हो सकता है।

तमो धुनीते, कुरुते प्रकाश, शमं विधत्ते, विनिहति कोप ।
तनोति धर्म, विधुनोति पाप, ज्ञान न कि कि कुरुते नराणा ।।१८६।।

ज्ञानसे धर्मवृद्धि व पाप प्रक्षय—सम्यग्ज्ञान मनुष्यो को कौन-कौन सा लाभ नही पहुँचाता है, अज्ञानरूपी अधकारका नाश हो जाना यह बहुत बड़ा लाभ है। जो प्राणी अज्ञान मे डूबे हुए है उनका उपयोग स्वसे हटकर पर तत्त्वो मे लिपट गया है। उन पर बडी विपदा है। अज्ञान की विपदा बहुत बडो विपदा होती है। तो ऐसे अज्ञान अंधकार को भी जो नष्ट कर दे वह ज्ञान बहुत ही श्रेष्ठ गुण है। ज्ञान अतरगमे विलक्षण रीतिका स्वानुभवका प्रकाश पैदा कर देता है। ज्ञानसे शान्ति का साम्राज्य छा जाता है, शान्तिका साम्राज्य छा देने वाले और कोई पदार्थ नही हो सकते। सम्यग्ज्ञान ही है एक ऐसा परमतत्त्व जो कि शान्तिका साम्राज्य बना देता है। ज्ञान प्रकाशके कारण क्रोधका नाम निशान तक नही रहता। ज्ञानमे ही वह महान बल है कि इस जीवकी विकार विपदाको मूलत समाप्त कर दे। ज्ञानसे धर्मकी वृद्धि होती है और पापका विनाश हो जाता है और पापके नाश होनेसे ही लोकमे भी अद्भुत सम्पदाये प्राप्त होती है और फिर निष्पाप लोग ही मोक्ष मार्ग को प्राप्त करते है। तो ज्ञान से इस जीवको क्या-क्या लाभ नही होता। समस्त अद्भुत लाभ ज्ञान द्वारा प्राप्त होते है।

यथा यथा ज्ञानबलेन जीवो जानाति तत्त्व जिननाथदृष्ट ।
तथा तथा धर्ममति· प्रशस्ता प्रजायते पापविनाशशक्ता ।।१६०।।

ज्ञान बलसे आत्माकी उज्ज्वलता—जैसे जैसे इस ज्ञानबल के द्वारा यह जीव तत्त्वसे स्पष्ट मर्मसहित मनन करता चला जाता है वैसे ही वैसे इसकी बुद्धि समीचीन होकर धर्मकार्य मे अग्रेसर होती चली जाती है। धर्म है आत्माके सहज स्वरूपमे उपयोग का मग्न होना। यह अद्भुत कार्य ज्ञान प्रकाश द्वारा ही सम्भव है। जब कोई जीव अपनेको सहज ज्ञानस्वरूप समझ ले तब ही तो वह निज सहज ज्ञानस्वरूपमे मग्न होगा। सो जैसे जैसे वास्तविक पदार्थोके स्वरूपका ज्ञान होता चला जाता है वैसे ही वैसे धर्मभाव मे बुद्धि स्थिर होती है और पापका विनाश होने लगता है। पापो मे प्रधान पाप है अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह। सो ज्ञान बल द्वारा उस पाप का तो तुरन्त नाश हो ही जाता है, फिर पूर्वबद्ध चारित्र मोहके विपाकमे जो अविरति भोगरति आदिक त्रुटियाँ रह जाती है उन पापो का विनाश भी सम्यग्ज्ञानके बलसे ही होता है।

आस्ता महाबोधबलेन साध्यो मोक्षो विबाधामलसौख्ययुक्त ।
धर्मार्थकामा अपि नो भवति ज्ञान विना तेन तदर्चनोय ।।१६१।।

ज्ञान के बिना पुरुषार्थ की असिद्धि—ज्ञानका महाफल है मोक्षका लाभ होना। जीव अनादि कालसे अज्ञानवश विषय भोगोमे रति करता हुआ जन्म मरणकी परिपाटी बनाता चला आ रहा है, जिसमे सिवाय क्लेशके और कोई लाभ नही। उस क्लेशको नष्ट करने वाला है महाज्ञान बल। सो मोक्ष सुखके बारेमे अनेक लोग यह कह सकते है कि वह हमे कहाँ दिखता ? और इस तरह बहाना करके कि जो हमारी इन्द्रियके गोचर भी नही है, जिसे हम देख नही सकते तो वह हमारे लिए कुछ भी नही है। अत उसके ज्ञानकी आराधना करना व्यर्थ है। ऐसा कहकर लोग इस ज्ञानको टाल सकते है और यह भी कह सकते है कि यदि वह मोक्ष है तो बडे भारी ज्ञानसे ही मिल सकेगा, साधारण ज्ञानसे नही। जिस ज्ञानका उपार्जन करना बहुत कठिन है ऐसा कहकर मोक्ष सुख प्रदान करने-वाले ज्ञानकी बातको टाल सकता है। तो सुनो उसे भी गौण कर दो परन्तु देखो कि वह ज्ञान के बिना इसके इन्द्रियगोचर धर्म अर्थ काम भी तो नहीं है। जो इन्द्रियसे यहाँ देखता है धर्म अर्थ काम वह ज्ञानके बिना नही हो सकता। ज्ञानके बिना तो उन कामोको भी नही कर सकते जो कि हमारे लिए प्रतिदिनके काम है। इसलिए ज्ञान सम्माननीय है। इस लोकमे भी लाभ देने वाला है और परलोकमे भी लाभ देगा और उत्कृष्ट लोक जो मोक्ष है। उसकी भी प्राप्ति करायगा। तो ऐसा ज्ञान आदरके योग्य है और ऐसे ज्ञानका उपार्जन करना चाहिये।

सर्वेऽपि लोके विधयो हितार्था ज्ञानादृते नैव भवति जंतो ।
अनात्मनीय परिहर्तुकामास्तदर्थिनो ज्ञानमत श्रयति ।।१६२।।

ज्ञानसे ही हितमे प्रवृत्ति—संसारमे जितने भी कार्य है, जितने भी व्यवहार है वे सब ज्ञानके बिना ठीक-ठीक नही चल सकते और ठीक-ठीक हितकारी भी नही हो सकते। ज्ञानी पुरुष जितना योग्य हितसम्पादन विधि से कार्य और व्यवहारको कर सकता है अज्ञानी नही कर सकता। इस लोकमे भी जिनका दिमाग सही नही है, कमजोर है, बुद्धि-हीन है, उनकी क्या प्रतिष्ठा देखी जाती ? सब लोग उसे तुच्छ देखते है। जो ज्ञानी है वे लोकके कार्योको भी भली-भाँति सम्पादित करेगे। तो ज्ञानके बिना ससारके कार्य और व्यवहार ठीक-ठीक हितकारी नही बन सकते है। इस कारण जो लोग अपना हित चाहते

है उन्हे चाहिये कि अहित से तो दूर हटें और हितकारी ज्ञानका आश्रय ले। ज्ञानका अर्जन सम्पादन इस जीवके लिए कल्याणकारी है तथा यदि आत्माका जो सहज ज्ञान प्रकाश है तन्मात्र अपनेको अनुभव होने लगे तो इस ज्ञानका फल है मोक्ष का लाभ। जब तक इस जीवके साथ शरीर लगा है तब तक इस जीवको कष्ट ही कष्ट है। खुद अनुभव कर लीजिए—जितने रोग होते है वे शरीर के आधीन ही तो होते है जितने सम्मान अपमानके व्यवहार चलते है वे शरीरको ही यह मैं हूँ ऐसा मानकर ही तो चलते है। मानसिक दुःख, वाचनिक दुःख और शारीरिक दुःख ये सब इस जीवको शरीरके कारण प्राप्त होते है। सो उपाय यह होना चाहिये कि शरीरके साथ इस जीवका सम्बन्ध सदा के लिए छूट जाय। यह जीव अशरीर हो जाय, केवल आत्मा ही रह जाय तब तो इस जीवका कल्याण है और मानो कुछ दिन को शरीरका सुख है और इसी प्रसग मे भोगका सुख मान रहा है तो इससे जीवका कुछ पूरा तो नही पड सकता, ये तो मिट जाने वाले है। शरीर मिटा, दूसरा शरीर मिला, पता नही कैसा शरीर मिले। मगरमच्छ आदिक न जाने कैसे कैसे जीव है, कैसा उनका शरीर है। न जाने कैसे कैसे शरीरोमे इस जीवको बसना पड़ता है। वास्तविक लाभ आत्माका यह है कि वह अपने इस ज्ञान-स्वभाव की आराधना करे और अन्य कुछ न चाहे। ऐसी धुनके साथ आत्माके ज्ञानस्वभाव की उपासना करे कि कर्म और देह ये सदा के लिए छूट जाये और केवल ज्ञान ज्योति ही आत्म-स्वरूप रह जाय। यही सर्वश्रेय की बात है, बाकी तो जगत मे सब कुछ विडम्बना ही विडम्बना है।

> शक्यो विजेतु न मन. करीद्रो गतु प्रवृत्त प्रविहाय मार्ग।
> ज्ञानाकुशेनात्र बिना मनुष्यैर्विनाकुश मत्तमहाकरीव ॥१६३॥

ज्ञानांकुश से मनमत्तकरीन्द्र पर विजय—यह मन मदोन्मत्त हाथीकी तरह है। जैसे उन्मत्त हाथी किसीके वश मे नही आ पाता, जितने चाहे पुरुषोका विघात करता है। किसी ओर से अपनी तीव्र गतिसे बाधा पहुँचाता रहता है, ऐसे ही यह मन वशमे किया जाना बडा कठिन है और यह कुछ से कुछ कल्पनाये करके अपने आपको दुखी करता रहता है। दुनियाके बडे धन वाले, प्रतिष्ठा वाले, राज्याधिकार वाले दिखते है तो उन्हे देखकर मन तरस उठता है कि मेरेको भी ऐसी चीज प्राप्त हो। अरे अभी तक वह बडे सुखमे था, अब तृष्णाका उदय आनेसे कष्ट मे पड गया। तो यह मन मदोन्मत्त हाथी की तरह जीता जानेके लिए शक्य नही है। यह मन यह उन्मत्त हाथी मार्गको छोडकर कुमार्ग पर चलने

के लिए उद्यमी रहता है। ऐसा यह मन ज्ञान अकुशके द्वारा ही वश किया जा सकता है। जैसे उन्मत्त हाथी तीक्ष्ण अकुशके द्वारा ही वशमे किया जा सकता। मनुष्यका मन बहुत चचल है। मन तो चचल होता ही है, पर पशु-पक्षियोका मन उतना चचल न होगा जितना कि मनुष्यो का है। पशु-पक्षियोकी तो सीमित इच्छा है, रोजका वही वही कार्य है, पर यह मनुष्य तो मनके द्वारा न जाने क्या-क्या चीजे नही चाह डालता। तो मनुष्यका मन बहुत चंचल है। प्रयत्न करने पर भी यह कुमार्ग पर ही दौडता है। बुरी से बुरी वस्तुका अनुभव करनेमे पापके कार्य करके वहहिचकता नही है। ऐसा भी यह उन्मत्त मन तब तक ही स्वच्छद रहता है जब तक कि ज्ञानरूपी अकुशकी मार इस मन पर नही पडती। ज्ञान ही मनकी चचल वृत्तिको रोकता है। ज्ञान द्वारा मनकी चचल वृत्ति रोके जाने पर वह तत्कान्न वशमे हो जाता है।

ज्ञान तृतीय पुरुषस्य नेत्र समस्ततत्त्वार्थ विलोकदक्ष।
तेजोऽनपेक्ष विगतांतरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि ॥१९४॥

ज्ञान पुरुषका समस्ततत्त्वार्थ विलोकदक्ष तृतीय नेत्र – ज्ञान मनुष्यका तीसरा नेत्र है, दो नेत्र तो चामके है जिनसे रूपका देखना होता है मगर मनुष्यमे ज्ञानका ऐसा उत्कृष्ट बल है कि इस ज्ञानके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमानके सूक्ष्म स्थूल आदिक अनेक पदार्थोको जानता है। हित अहितका ज्ञान करता है तो यह ज्ञान इन दोनों नेत्रोसे बढकर नेत्र है और इसको विद्वानो ने तीसरा नेत्र कहा है। चर्मचक्षु तो समस्त पदार्थोको नही देख सकते। ये तो सामने के मूर्तिक मोटे पदार्थ ही देख पायेगे। ये नेत्र अमूर्तिकको नही देख सकते। सूर्यका प्रकाश, दीपकका प्रकाश ये हो तो इन नेत्रोसे देख सकते है, अधेरा हो तो ये नेत्र देख नही सकते। सो इनका देखना पराधीन भी है। प्रकाश आदिकके माध्यमसे ये नेत्र जान सकते है, इतने पर भी यदि कोई विघ्न न आये, बीचमे कोई आड़े न हो जाय तब ही सामनेकी वस्तु देख सकते है और ये नेत्र बहुत दूर तक भी नही देख सकते। भूत, भावी कालको नही जान सकते, किन्तु ज्ञानरूपी नेत्र समस्त मूर्तिक पदार्थोको जानता है। अमूर्तिक पदार्थोको जान सकता है। प्रकाशकी इसको जरूरत नही है, अधेरेमे भी जान सकता है। हजारो प्रकारके विघ्न आये तिसपर भी जान सकता है और जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, प्रभुका ज्ञान है वह तो तीनो काल और तीनो लोकके पदार्थोको जान रहा है, तो ज्ञान एक तृतीय नेत्र है। दो नेत्रोके होने पर भी यदि तृतीय नेत्र न हो तो जान नही सकते। ऐसा अद्भुत ज्ञान आदर के योग्य है और इसकी उपासनासे मनुष्य अपना कल्याण करते हैं।

निःशेषलोकव्यवहारदक्षो ज्ञानेन मर्त्यो महनीयकीर्तिः ।
सेव्यः सतां सतमसेन हीनो विमुक्तिकृत्य प्रति बद्धचित्त ॥१९५॥

ज्ञानकी लोकव्यवहार दक्षता—इस परिच्छेदमे ज्ञानकी महिमा और ज्ञानका फल बताया है। ज्ञानसे ही मनुष्य लौकिक सारे व्यवहारोमे चतुर होते है। लोक व्यवहारमे रहते हुए व्यवहारकी चतुराई भी वही पुरुष पा सकता है जिसको ज्ञान हो। तो ज्ञानसे लोकव्यवहारमें चतुर होते है। ज्ञानसे ही अपनी समस्त लौकिक आवश्यकताओको सुगमतया उपलब्ध कर लेते है। ज्ञानका परमार्थ फल तो यह है कि कर्मोंका क्षय हो, मुक्तिका लाभ हो, सो तो वह होगा ही, पर इस समय भी लोकव्यवहारमे रहने वाले प्राणियो को ज्ञान ही मददगार होता है। लोग क्या-क्या चीजे चाहते आजीविकाके लिए, शरीर पोषणके लिए या देशकी भलाईके लिए जो जो वस्तुएँ पा लेना आवश्यक है उन वस्तुओका सग्रह भी तो ज्ञानसे ही हो सकेगा, जिसको ज्ञान नही है वह सग्रह भी क्या करेगा? लोक-व्यवहार भी क्या करेगा? इस ज्ञानमे ही जैसे समस्त लोक-व्यवहारमे मनुष्य चतुर होते है। ऐसे ही ज्ञानसे अपनी समस्त आवश्यकताओको सुगमतासे प्राप्त कर लेते है। मनुष्यकी निर्मल कीर्ति ज्ञानसे ही फैलती है। यह लौकिक लाभकी बात कही जा रही है क्योकि लोगोकी दृष्टि लौकिक लाभ पर अधिक होती है तो वह भी ज्ञान बिना नही हो पाती।

ज्ञानसे निर्मल कीर्तिका एव वैराग्यका अभ्युदय—ज्ञानसे ही मनुष्यकी निर्मल कीर्ति फैलती है। जिस मनुष्यमे ज्ञान होगा वही ऐसे योग्य कार्य कर सकेगा कि जिससे लोगोका उपकार हो और लोकोपकारके आधार पर ही उसकी कीर्ति विस्तृत होती है। तो जो पुरुष ज्ञानसे ज्ञान वाले काम करेगा उसकी कीर्ति फैलती है। ज्ञानसे ही मनुष्य सज्जनोकी सेवाका पात्र बनता है। ज्ञान हो और उस ज्ञान द्वारा लोगोको लाभ पहुँचा हो तो ऐसे पुरुषोकी बडे-बड़े सज्जन भी सेवा किया करते है। मनुष्यो मे जो एकका दूसरे के प्रति उपग्रह चलता है वह जिसको जैसा ज्ञान हो उसके साथ वैसा ही सेवाभाव चलता है। शिष्यजन ज्ञानार्जनके अर्थ गुरुकी सेवा करते है। जो जिसका अर्थी है वह उसके लाभके लिए उस वस्तुके अधिकारीकी सेवा करता है। तो वह सब ज्ञानका ही तो फल है। ज्ञान बिना वह योग्यता नही आती जिस योग्यताके होने पर बडे-बडे धीमान श्रीमान भी उसकी सेवा सुश्रुषा करे। ज्ञानसे ही सांसारिक समस्त विषयोसे वैराग्य जगता है। ये इन्द्रियके विषय ये बाहरी पदार्थ ये भोगने योग्य नही है। इनके भोगनेका परिणाम खोटा है। यह

बात ज्ञानसे ही तो समझ सकेंगे । वैराग्यका आधार ज्ञान हुआ करता है। जो पुरुष ज्ञानके बिना वैराग्यकी मुद्रा ग्रहण कर लेते है उनका वैराग्य टिक नही पाता अथवा वह सही दिशा मे नही पहुँचता है, जिसको ज्ञान है जिससे कि वैराग्य जगा है उन वस्तुओ की असारता, भिन्नता, अहितकारिता का बोध है वह ही पुरुष उन विषयभोग साधनोसे भली-भाँति विरक्त होगा ।

ज्ञानसे मोक्षमार्ग प्रगति--सासारिक समस्त विषयोसे वैराग्य ज्ञानसे ही जगता है और जब विषयोसे वैराग्य जगेगा तो यह जीव मोक्षकी तरफ लगेगा। मोक्ष कहते हैं आत्माके अकेले रह जाने को। जहाँ शरीर, कर्म, विकार आदिक कोई भी पर तत्त्व न रहे, केवल आत्मा ही रहे उसीको सिद्ध अवस्था कहते हैं। तो ऐसी सिद्ध अवस्थाका लाभ उस ही पुरुषको होगा जो इस समय भी केवल ज्ञानमात्र आत्म-तत्त्वका परिज्ञान किए हुए हैं। जिसने वस्तु के बारे मे सम्यक् निर्णय बनाया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नही, वही पुरुष वस्तुओकी स्वतन्त्रता का परिचय कर सकता है और केवल निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टि रख सकता है, जिसके फल मे आगे बढ-बढकर यह जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ज्ञानसे ही हित अहितका विचार होता है। यदि ज्ञान नही हे तो कैसे समझें कि यह हितरूप है और यह अहितरूप है। वास्तव मे हित रूप निज आत्मतत्त्व ही है। जो अपने आपका स्वत सिद्धस्वरूप है उसही की दृष्टि होना, उसको ही आत्मस्वरूप मानना, यह ज्ञान वास्तवमे हित रूप है और इस शुद्ध अतस्तत्व को छोडकर विकार भावमे लगना उनको आत्म-स्वरूप मानना, उनसे ही अपना भला समझना, यह सब अहित रूप है। तो ऐसा हित और अहितका विचार ज्ञानसे ही होता है। सो यह ज्ञान इस जीवका बडा वैभव है। इस वैभवसे ही यह जीव अमीर कहलाता है। बाह्य पदार्थ तो जब कभी आये और कभी ही चले गए। उनका भी संयोग उनके ही कारण बना है। उस पर इस जीवका अधिकार नही है, क्योकि परद्रव्य पर किसी भी जीवका अधिकार नही हो सकता। तो यो कोई भी परद्रव्य किसी भी परका सम्पर्क इस जीवके लिए हितकारी नही है। हितकारी है अपने आपके सहज चित् प्रभु आत्मस्वरूप की दृष्टि। जिन जीवो की दृष्टि इस निज सहजस्वरूप पर पहुँचती है, इसे ही आत्मस्वरूप मानते है। वे पुरुष सर्व आकुलताओ और बाधाओ से दूर हो जाते है क्योकि अब उनके अशुभ सकल्प नही चलते।

धर्मार्थकामव्यवहारशून्यो विनष्टनि शेषविचारबुद्धि ।
रात्रिंदिव भक्षणसक्तचित्तो ज्ञानेन हीन पशुरेव शुद्धः ।।१६६।।

विचारहीन रातदिन भक्षणसक्तचित्त मनुष्यकी पशुतुल्यता—जो पुरुष ज्ञानसे रहित है, अज्ञानी है याने धर्म अर्थ कामके व्यवहार से बिल्कुल अपरिचित है, उन्हे हित और अहितका ज्ञान नही होता। जो पुरुष धर्म अर्थ कामकी विधिसे भी परिचित है, दया, पूजा, दान आदिक ये धार्मिक कर्तव्य है और गृहस्थजनोका धन अर्जन करना भी उस पदवीमे कर्तव्य है और परिवार जनोका पोषण करना, उनकी सेवा करना काम भी उस गृहस्थीमे कर्तव्य बन जाता है। तो ऐसे जो धर्म अर्थ कामके व्यवहारसे भी अपरिचित है वे पुरुष तो आगे कभी बढ ही नही सकते न तो अपने हितका ही विचार कर सकते और न अहितका त्याग कर सकते। तो ज्ञानकी तो आवश्यकता इस जीवको प्रत्येक भूमिकामे है। ऐसे अज्ञानी जीवोका एक कर्तव्य यह ही बन जाता है कि वे रात-दिन खाते पीते रहते है और इसी कारण वे इस ससारमे पशु तुल्य गिने जाते है याने जिन लोगोको धर्म कार्यका, दया, दान, पूजा भक्ति सेवा आदिक इनका भी ज्ञान नही है ऐसे जीव ज्ञानसे हीन होने के कारण आगे तो बढे हुए बन नही सकते। फल यह होता है कि स्वच्छंद मन हो जाने से रात दिन विषयभोग साधनो मे इनका उपयोग लगता है, सो जो ऐसे ज्ञानसे हीन है और आचरणमे भी हीन है वे पुरुष तो कोरे पशु ही कहे गए है। मनुष्य और पशुमे अन्तर तो विशेष और अल्प ज्ञानका होता है। मनुष्योमे ज्ञान विशेष है, पशुओ मे ज्ञान अल्प है यही तो अन्तर है। यदि कोई पुरुष अल्पज्ञानी रहे और आचरण भी स्वच्छद रहे तो उसे पशु ही तो कहा जायगा, क्योकि विशेष ज्ञान न होनेसे पशु भी हित अहित का विचार नही करता। यह मनुष्य भी ज्ञान रहित होनेसे हित अहित का विचार न कर पाया। तो जो गृहस्थ हित अहित के विचारसे रहित है, धर्म, अर्थ, काम त्रिवर्ग भी सही समान सम्पादन नही करता है उस मनुष्यमे और पशुमे कोई भेद नही है।

तपोदयादानशमक्षमाद्या: सर्वेऽपि पुसा महिता गुणा ये ।
भवति सौख्याय न ते जनस्य ज्ञान बिना तेन तदेषु पूज्य ।।१६७।।

ज्ञानहीन मनुष्यके अन्य गुणोकी असुखदायिता—इस ससारके जितने मुख्य गुण है जिनके धारण करने से लोगोको सुख मिलता है, वह सब ज्ञानके बल से ही सुखकारी होता है। मनुष्योमे तप ज्ञानकी मुख्यता है। जो मनुष्य इच्छारहित है, लौकिक आकांक्षाये

जिसके चित्तमें नहीं है वह पुरुष तपस्वी कहलाता है। शरीरसे चाहे ऊँचे तप करता रहे किन्तु मनसे लौकिक वस्तुओंकी इच्छा बनी रहे तो वहाँ तप नहीं होता क्योंकि कर्मोका सम्वर, कर्मोकी निर्जरा शरीरकी चेष्टाके कारण नही होती किन्तु आत्माके इस उपयोग के कारण होती है। सो इच्छाओंका रोकना तप कहलाता है। पाप कार्योसे विरक्त होना व्रत कहलाता है, यह मनुष्यो का मुख्य गुण है। पाप कार्य है हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, दूसरो को सताना, किसी की झूठी बात कहना, किसी की चीज चुरा लेना, किसी नारी पर बुरी दृष्टि रखना, परिग्रह का लालच बनाये रखना, यह सब पाप है। इन पापो से विरक्त होना व्रत कहलाता है। तो व्रत भी मनुष्योका मुख्य गुण है। दान—अपने पास वस्तु हो, धन हो, द्रव्य हो और आवश्यकतासे अधिक हो तो उसका उपयोग दूसरे जीवोंके हितमे करना दान कहलाता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष अपनी आवश्यकताओं को बहुत कम रखता है और धन का उपयोग दूसरो के उपकार के लिए करता है। यह मनुष्यका मुख्य गुण है। सम-कषायें कम होना, शान्ति रखना, अभिमान न होना, मायाचार न होना, लालच न होना, ऐसा कषायोके समनको सम कहते है। यह उपशम, मंदकषायपना मनुष्यका मुख्य गुण है। दया—प्राणियोपर करुणा करना, कोई दुःखी जीव है उसका दुःख जैसे दूर हो उस प्रकारसे उसकी सेवा करना दया गुण है। यह मनुष्यका मुख्य गुण है। क्षमा भी मनुष्यका बडा हित-कारी गुण है। क्षमाशील पुरुष ही उदार कहलाता है। दूसरे लोग कुछ भी अपराध करें, अपनी निन्दा करें या किसी प्रकारकी बाधा दे तो उनपर क्षमाभाव रखना और यह समझ बनाये रहना कि ये जीव तो स्वरूपतः निरपराध है, पर ऐसा ही कर्मोका उदय है कि जिससे इन्होने ऐसा भाव बनाया है और ऐसी चेष्टा की है, इस आत्मद्रव्यका कुछ अपराध नहीं, ऐसा समझकर उस पर क्षमाभाव रखना यह भी मनुष्य का मुख्य गुण है। तो जो मनुष्यके मुख्य गुण है, जिनके धारण करनेसे स्वको परसे सुख मिलता है, वे सब गुण ज्ञानके द्वारा ही तो प्राप्त होते है। ज्ञान न हो तो ये मुख्य गुणोके सुख भी नही प्राप्त हो सकते। इस कारण समस्त गुणोमे भी ज्ञान गुण पूज्य है और मुख्य है।

> ज्ञान बिना नास्त्यहितान्निवृत्तिस्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनाना।
> ततो न पूर्वार्जितकर्मनाशस्ततो न सौख्यं लभतेऽप्यभीष्ट ॥१९८॥

ज्ञानके बिना सौख्य लाभकी असम्भवता—ज्ञानके बिना मनुष्यके अहितकी निवृत्ति नही होती। जो पदार्थ अहितकारी है उससे हटने की बात कैसे बनेगी जिसको उस पदार्थके

विषयमे अहितकर्ताका भी ज्ञान नही है। तो ज्ञानके बिना मनुष्योके अहित कार्योसे निवृत्ति कैसे बनेगी ? और जब अहित कार्योसे निवृत्ति नही होती तो हित कार्योमें प्रवृत्ति नही हो सकती। ये मनुष्य अहित को छोडे और हितमे लगे। यह बात ज्ञानसे ही तो सम्भव है। तो जिसको ज्ञान नही है वह अहितको छोड नही सकता और हित कार्योमे लग नही सकता। इसलिए इस आत्माके उपयोग मे ज्ञानका बड़ा भारी सहयोग है। जिस जीवके अहितसे निवृत्ति नही, हितमे प्रवृत्ति नही, उसके पूर्व उपार्जित कर्मोका नाश नही हो सकता। कर्मोंका नाश ज्ञान द्वारा ही होता है। कही कर्मोको देख-देखकर पकड-पकडकर उन्हें मसोला जाय, रगडा जाय ऐसा तो नही हो सकता। एक आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप की सम्हाल करले तो स्वयं ही ऐसा नियोग है, निमित्त नैमित्तिक योग है कि ये कर्म अपने आप दूर हो जायेगे। तो ज्ञानके ही कारण अहितमे प्रवृत्ति होनेसे पूर्व अर्जित कर्मोका नाश होता है। यदि ज्ञान नही है तो कर्म क्षय नही हो सकता और जब कर्मोका क्षय नही हो पाता तो उसे मोक्षसुख भी प्राप्त नही हो सकता, क्योकि मोक्ष होता है समस्त कर्मोके विनाश से। कर्मो का विनाश होता है आत्माके अपने आपके ज्ञानस्वरूप की सम्हाल से। तो लोकमें जीवोका सर्वोत्कृष्ट वैभव ज्ञान है। जिसने अपने ज्ञानस्वरूपकी सम्हाल कर ली है वह पुरुष कृतकृत्य हो गया। अब उसको ससारमे किसी भी प्रकारका सकट नही रहता। जो पुरुष ज्ञानदृष्टिसे दूर है वह बाह्य पदार्थोमे प्रवृत्ति करता है और बाह्य पदार्थोंमे लगाव रखने का फल है कर्मबधन, जिसके उदयमे ससारमे रुलना पडता है। तो समस्त सकटोका विनाश ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। दूसरा कोई उपाय ऐसा नही है कि जिससे इस जीवके सकट दूर हो सके।

क्षेत्रे प्रकाश नियत करोति रविर्दिनेऽस्तं पुनरेव रात्रौ।
ज्ञान त्रिलोके सकले प्रकाश करोति नाच्छादनमस्ति किंचित् ॥१९९॥

ज्ञानका सर्वत्र प्रकाश—ज्ञानका प्रकाश सूर्यसे भी अधिक प्रकाश है। वैसे लोग कहावत मे भी कहते है कि जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि। जैसे अधकारवाली गुफाये, महलका आन्तरिक भाग यहाँ रविका प्रकाश नही होता। सूर्यका उजाला भी नही है मगर उनका वर्णन कवि लोग बडी विधिपूर्वक किया करते है। तो देखो वहाँ कवि की गति हो गई, पर सूर्य की गति नही है तो कविकी गतिके मायने ज्ञानकी गति। यह तो एक लौकिक ज्ञानकी बात कहा है, पर जिन पुरुषोके आत्माके सहजस्वरूप का ज्ञान है उनके ज्ञानका प्रकाश तो करोड़ो सूर्यसे भी अधिक है। सूरज तो सब जगह प्रकाश नही कर पाता मगर

ज्ञान सब पदार्थोंका प्रकाश करता है। ज्ञान करता है सूक्ष्म हो, गुप्त हो, भूतका हो, भविष्यका हो, सबका ज्ञान ज्ञान कर लेता है तो सूर्यमे और ज्ञानमे एक तो अन्तर यही बहुत है कि सूर्य सर्वत्र प्रकाश नही कर पाता, ज्ञान सर्वत्र प्रकाश करता है। तो अन्तर यह है कि सूर्य जिस क्षेत्रमे प्रकाश कर पाता है उस क्षेत्रमे भी सदा नही करता, रात्रिको नही करता, दिनमें करता है, पर ज्ञान तो सदैव-ज्ञान करता रहता है। इसका प्रकाश सतत् चलता है। तीसरी बात यह है कि सूर्यके आडे यदि मेघ आ जाय तो सूर्य का प्रकाश बंद हो जाता है पर जिस पुरुषके ज्ञान प्रकट हुआ है वह तीन लोक और तीन कालके समस्त पदार्थोंको बेरोकटोक जानता है। उस पर अब किसीका आवरण नही चल सकता। इस अन्तरके बावजूद महान अन्तर तो यह है कि यह प्रकाश तो पौद्गलिक है किन्तु ज्ञान चैतन्यतत्त्व है और जिसको यह ज्ञान पूर्णतया विकसित है, जहाँ पर उपाधि साथ न रही, शुद्ध आत्मा हो गया है उसका ज्ञान बेरोक-टोक तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोमे पहुँचता है अर्थात् सबको जानता है। तो यह जो ज्ञानकी महिमा कही जा रही यह दूसरे की बात नही कही जा रही यह खुद अपनी बात कही जा रही। प्रत्येक जीव ऐसे ज्ञान-स्वरूपका धनी है। सबमे यह सहज अनन्त ज्ञान अन्त विकसित है। जो पुरुष इस ज्ञान-स्वरूपकी दृष्टि कर लेता है और अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव लेता है उन पुरुषोका प्रकाश अतुल है, वे सदा तृप्त रहते हैं। सहज आनन्द रससे विभोर रहते है। तो इस लोकमे जो बाह्य दृश्य पुद्गल पदार्थ है उनका सग्रह करना बिल्कुल व्यर्थ है, व्यर्थ ही नही, अनर्थ है, क्योकि बाह्य वस्तुके लगावसे इस जीवके मोह कलंककी वृद्धि ही होती है इसलिए बाह्य पुद्गलका या मायामय जगतमे कीर्तिके सम्पादनका जो आशय लगा हुआ है यह आत्माका कलंक है, आत्माके लिए लाभकारी नही है और ज्ञान-स्वभाव निज अन्तस्तत्त्वका मनन, दर्शन, अनुभवन हो तो यह इस जीवका अलौकिक वैभव है। जो जीवका स्वय स्वाधीनतया अपने ही ज्ञान-बलसे उपार्जित किया है ऐसी समग्र बाह्य वस्तुओ मे हितकी बुद्धि छोडकर एक इस निज चैतन्य स्वरूपमे ही हित बुद्धि करना सुखार्थीका मुख्य कर्तव्य है। अपने आपको शुद्ध ज्ञानमात्र अमूर्त अविकार स्वरूपका ही मनन रखना और इस ही रूप अपनेको मानना यह बहुत बडी वीरताका कार्य है, जिसके प्रतापसे ससारकी व्याधियाँ, संसारके सर्व सकट समाप्त हो जाते है।

भवार्णवोत्तारणपूतनाव निःशेषदुःखेधनदाववह्नि ।
दशागधर्म न करोति येन ज्ञान तदिष्ट न जिनेद्रचन्द्रै ॥२००॥

दशाङ्गधर्मभय न करने वाले ज्ञानकी ज्ञानरूपसे इष्टताका अभाव— इस परिच्छेदमे ज्ञानकी महिमा और ज्ञानका फल बताया जा रहा है। ज्ञान कौनसा सही कहा जाय इस विषयमें वर्णन हुआ है। अब बतला रहे है कि जिस ज्ञानके बलसे दस अग वाले धर्म न बोले जा सके वह सम्यग्ज्ञान जिनेन्द्र देवने इष्ट नही माना। याने ज्ञानबल करता है तो उत्तम क्षमा मार्दव आदिक रूप प्रवृत्ति होनी ही चाहिए। कोई क्रोध अधिक करे और कहे कि मुझे सम्यग्ज्ञान है, घमंड मायाचार बहुत करे और कहे कि सम्यग्ज्ञान है तो यह नही हो सकता। सम्यग्ज्ञान वास्तवमे यह है कि जिसके बलसे क्षमा आदिक धर्मोका पालन हो सके। परमार्थत· देखा जाय तो क्षमा आदिकमे ज्ञानका प्रकाश ही मिल रहा है, ज्ञान विकार न करे, केवल ज्ञाताद्रुष्टा रहे तो उसमे क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक सभी धर्म आ गए। प्रवृत्ति की दृष्टि से १० प्रकार बताये गये है, पर उनमे जो मौलिक प्रभाव है, बल है वह एक ही है कि विकार रहित ज्ञानका प्रकाश बना रहे यह ही वास्तवमे धर्म पालन है, एक क्षमा आदिक दशाग धर्म ससार समुद्र से पार कर देने के लिए नौकाके समान है। जैसे नौकाके द्वारा नदी और समुद्र पार कर लिये जाते हैं ऐसे ही दशांग धर्म के द्वारा ससार समुद्र पार कर लिया जाता है। यह दशाग धर्म समस्त जन्म मरणके दु खो को जलानेके लिए बनकी अग्निकी तरह है। जैसे बनकी आग सारे वृक्षोको जला देती है ऐसी ही दशांग धर्म ये जन्म मरण आदिक सब दु खोको भस्म कर देता है। तो जिसे ज्ञानबल से उत्तम क्षमा आदिक १० प्रकार के धर्मोका पालन न हो वह वास्तवमे ज्ञान नही कहलाता। ज्ञानका फल है अहितसे अलग होना और हित मे लग जाना। वह दशाग धर्म हितरूप है और उसके विरुद्ध क्रोधादिक भाव ये अहित रूप है। तो अहितसे हटे और हितमे लगे, यह ही ज्ञानका फल है। सो यदि यह फल नही प्राप्त होता तो वह ज्ञान वास्तवमे ज्ञान नही है।

गतु समुल्लघ्य भवाटवी यो ज्ञान बिना मुक्तिपरी समिच्छेत्।
सोऽधोऽधकारेषु विलघ्य दुर्ग बन पुर प्राप्तुमना विचक्षु ॥ २०१ ॥

ज्ञानके बिना मुक्तिकी असंभवता— कोई पुरुष चाहे कि ज्ञानके बिना इस संसार रूपी अटवीका उल्लघन करके मुक्ति पुरीमे पहुँच जाये तो यह बात बिल्कुल असम्भव है। ज्ञानमे बहुत ज्ञान न हो, जैसे आगमका बहुत बड़ा ज्ञान है तो इतना तो ज्ञान हो कि जिसमें स्वपर भेद विज्ञान जग रहा हो और आत्माका जो सहज स्वरूप है वह उसकी दृष्टि मे आ गया हो, इतना भी अगर नही है तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है। और वह चाहे

कि मै मुक्तिपुरी पहुँच जाऊं तो वह बहुत असम्भव है। जैसे उदाहरण दिया है कि कोई पुरुष अधा है और अधकार मे ही सघन बन पार करके, किलेको पार करके नगरमे पहुँचना चाहता है तो वह एक कल्पना भर करता है, पहुँच कैसे सकता ? एक तो वह अंधा है, दूसरे अधेरी रात है। अगर सूर्यका उजेला भी हो तो कुछ न कुछ धुंधला सा नजर भी आ सकता, उससे नगरमे पहुँचनेमे घबडाहट कम हो सकती, पर एक तो वह अधा और दूसरे अधेरी रात तो उसका विकट जगलका पार करना, किलेका पार करना और नगरीमे प्रवेश कर जाना असम्भव है, ऐसे ही कोई पुरुष ज्ञानके बिना केवल बाहरी आचरणसे चाहे कि मैं इस ससार समुद्रको पार करके मुक्तिनगरीमे पहुँच जाऊँगा तो यह उसके लिए असम्भव बात है। अब इस मनुष्यके सामने अधेरा क्या आता है कि नाना तरहके मत है, उन मतोमे किसीने किसी तरह धर्मका रास्ता बताया है किसीने किसी तरह तो वह एक बडा अंधकार है कि जहाँ कुछ निर्णय ही नही हो पाता कि वास्तव मे तथ्य क्या है ? तो ऐसी अवस्थामे भी जो पुरुष सम्यग्ज्ञानके बिना ही इन अनिष्ट गलियोंको त्यागकर मोक्षमे पहुँचना चाहता हे तो उसका यह प्रयास सफल नही हो सकता।

> ज्ञानेन पुंसा सकलार्थसिद्धिर्ज्ञानादृते काचन नार्थसिद्धि।
> ज्ञानस्य मत्वेति गुणान् कदाचिज्ज्ञानं न मुचति महानुभावा.॥ २०२॥

ज्ञानसे सकलार्थसिद्धि — ज्ञानके माहात्म्यके सम्बधमे अधिक क्या कहे, सबका सारभूत यही तथ्य निकला कि ज्ञानसे ही समस्त प्रयोजनोकी सिद्धि होती है। अज्ञानसे कुछ भी सिद्धि नही होती। देखिये धर्मपथमे इतना तो कम से कम चाहिए ही कि स्वपर का भेदविज्ञान बने, शरीर न्यारा, कर्म न्यारा, विकार जुदे और उन सबसे न्यारा मैं ज्ञानमात्र स्वरूप हूँ। अब इतनी बात समझने के लिए द्रव्य, गुण, पर्यायका परिचय करना चाहिए। शरीर पुद्गल द्रव्यका ढेर है। इसमे पुद्गल द्रव्य जैसा ही परिचय करना चाहिए। मेरी सत्ता चैतन्यमात्र है, मेरा शरीरसे क्या सम्बध ? कर्म भी सूक्ष्म पौद्गलिक ढेर है। उसमे पौद्गलिक जैसा ही परिणमन चलता है। मै चेतना मात्र हूँ। मेरा कर्मोंसे क्या सम्बध ? जो रागादिक विकार जगते है तो है तो आत्माकी परिणति, जब कि यह अशुद्ध अवस्थामे है मगर ये विकार आत्माके स्वभावसे तो नही उत्पन्न हुए। ये कर्मोदय का निमित्त पाकर हुए। तो जो आत्माके स्वभावमे न हो तो ये मेरे नही है विकार क्योकि ये पराधीन है, नैमित्तिक है, मेरे स्वरूपमात्र नही है, इनसे मै निराला हूँ। तो जो अपनेको सर्वपर और

पर भावोंमें विविक्त निरख लेगा उसका मोक्षमार्गके योग्य ज्ञान उत्पन्न हुआ समझियेगा। ऐसा ज्ञान प्राप्त हुए बिना उपयोगमें यह सहज परमात्मस्वरूप आ जाय, स्वानुभव बन जाय सो बात नहीं हो सकती। तो जितना भी हमारा इष्ट है, मोक्षमार्गका प्रयोजन है वह ज्ञानसे ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त लौकिक प्रयोजन भी ज्ञानसे सिद्ध होते है। लौकिक दृष्टिमे भी देखें तो जो व्यापारी, सेठ, दूकानदार अपने व्यापारमें सफल हो रहा है तो ज्ञान तो मलिन कर रहा, कैसी चीज लेना देना व्यवहार करना तो लौकिक काम भी ज्ञान बिना नहीं बनते, फिर मोक्षका मार्ग और रत्नत्रयका कार्य यह ज्ञान बिना कैसे हो सकता ? तो जो लोग सम्यग्ज्ञानके बिना इस ससाररूपी अटवीको पार करना चाहते है वे असफल प्रयास चाह रहे है, उनको सफलता नही मिलती है और अन्तमे वे ससारमे ही भ्रमण करते है।

वरं विष भक्षितमुग्रदोष वरं प्रविष्ट ज्वलनेऽतिरौद्रे।
वरं कृतांताय निवेदित स्व न जीवित तत्त्वविवेकमुक्त ॥२०३॥

तत्त्वज्ञानरहित जीवनकी व्यर्थता—तत्त्वज्ञानसे रहित होकर जीना इस ससारमे भला नहीं है। यह जीव अनादिकालसे अनेक भवोमे, अनन्त भवोमे जीता ही तो चला आया है, पर वह जीवन किस कामका रहा कि जहाँ दुःखोसे छूटने का उपाय न बना सके। यही बात अपने लिए कह रहे कि तत्काल प्राणोके हरने वाले विषका खा लेना तो भला है मगर तत्त्वज्ञान से रहित जीवन ससारमे भला नहीं। अन्तर क्या आया कि विष खा लेने से तो वह एक ही भवमे अपने प्राण गवा सका, इस भवके खाये विषका फल अगले भवमे तो नहीं मिलता। तो एक ही बार मरण हुआ, मगर तत्त्वज्ञानसे रहित जीवन रहे तो वहाँ विषय कषायोके प्रसग आयेगे ही। अज्ञानमे विषय कषायकी भावना होती ही है। तो उस अज्ञान भावमे जो विषय कषाय किये गए उनके फलमे अनेक भवोमे मरण करना पड़ेगा, जन्म लेना होगा, मरण करना होगा, तो विष खा लेना उतना बुरा नही रहा जितना बुरा तत्त्वज्ञानसे रहित जीवन है। दूसरा उदाहरण दे रहा तुलनात्मक कि भयकर जल रही हुई अग्निमे प्रविष्ट होकर जलकर राख हो जाना भला है परन्तु तत्त्वज्ञानसे रहित होकर जीना इस ससारमे भला नहीं है। अन्तर यही आयेगा कि अग्निमे प्रविष्ट होकर जल जाय तो एक ही बार तो मरण हुआ मगर अज्ञान और मोहमे रहकर जीने से अनेक भवोमे मरण होगा। इसी प्रकार लोकदृष्टि के अनुसार यमराजकी गोदमे चले जाना भला है याने मरण कर जाना भला है, परन्तु तत्त्वज्ञान से रहित होना जीना भला

नही है। आज यह दुर्लभ मानव जीवन पाया तो यह मानव जीवन वडा दुर्लभ है। पुरुषोमे भी उच्च कुलमे जन्म लेना दुर्लभ है और वहाँ भी जैन शासनका मिलना दुर्लभ है और उसमे भी विद्वान गुरुजन इनका समागम मिलना दुर्लभ हे। उपदेश मिलना दुर्लभ हे। इतने सब योग होने पर भी यदि मोह न छोडा, विषय कषायोमे ही लीन रहे, इन्ही मे ही जिन्दगी गुजारी तो समझो कि एक वडा सुन्दर अवसर खोया और मर कर कीडा-मकोडा, पेड-पौधा आदि कुछ भी बनना पड़ेगा। फिर वह कुछ वश न चलेगा। इस कारण तत्त्वज्ञानसे रहित होकर जीवन भला नही हे।

शौचक्षमासत्यतपोदमाद्या गुणाः समस्ता' क्षणतश्चलंति ।
ज्ञानेन हीनस्य नरस्य लोके वात्याहता वा तरवोऽपि मूलात् ॥२०४॥

ज्ञानहीन पुरुषके अन्य गुणोका भी शीघ्र विनाश—जैसे आंधीका तेज वेग आये तो पेड धडाधड गिर पडते है ऐसे ही जो पुरुष ज्ञानसे हीन है, अज्ञान और मोहका वेग जिन पर आया है उनके शौच, क्षमा, तप, दमन आदिक गुण क्षण भरमे विलीन हो जाते है। अज्ञानी पुरुष शौचादिक गुणोको निश्चल रीतिसे दृढ प्रतिज्ञ हो पालन नही कर सकते। समय पडने पर वे शौचादिक गुणोको छोड बैठते है, किन्तु जो ज्ञानी है, जिसने अन्दरमे ज्ञानका प्रकाश पाया है वह शौचादिक गुणोको नही छोड़ सकता। निर्लोभता होना, क्षमा आना, सरलता आना, यह सब ज्ञानप्रकाशमे ही हो सकता है। मोह और अज्ञानमे ये गुण नही आया करते, क्योकि निज सहज स्वरूपका ज्ञान होने पर उसको समस्त परकीय घटनाओसे उपेक्षा हो जाती है। वह जानता है कि पर पदार्थोकी कैसी भी परिणति हो, उन परिणतियोसे मेरेमे कुछ भी सुधार विगाड़ नही होता है। मैं ही अज्ञान दशामे रहूँ तो मेरा बिगाड है, तत्त्वज्ञानमें आऊं तो मेरा सुधार है। इस प्रकार वह अपने सहज ज्ञानस्वभाव की धुन मे रहता है और इसी कारण उसमे गुणोका विकास होता चला जाता है।

माता पिता बधुजन कलत्रं पुत्रः सुहृद् भूमिपतिश्च तुष्ट ।
न तत्सुख कर्तुमल नराणा ज्ञानं यदेव स्थितमस्तदोष ॥ २०५ ॥

ज्ञानकी अलौकिकसुखकारिता—निर्दोष पवित्रज्ञान जिस सुखको उत्पन्न कर सकता है उस सुखको बडे प्रेमी संतुष्ट माता-पिता स्त्री पुत्र मित्र राजा आदिक कोई भी प्रदान नही कर सकते। प्रत्येक जीव अपने अपने ज्ञानके अनुसार ही सुख दु.ख पाया करता है। जैसा आत्म-स्वरूप है वैसा ही अपनेको जाने और सहज ज्ञाता मात्रकी स्थिति बनाये तो उसको अनुपम सुख प्राप्त होता है। इस सुखको कोई दूसरा दे सकता क्या ? ज्ञान ज्ञान-स्वभावमे रहे, यह

स्थिति दूसरोंके द्वारा नही दी जा सकती। यह खुद ही खुदमे की जाने की बात है, और जिसको यह ज्ञानदृष्टि नही मिली, देहमें ही आत्मबुद्धि रही आयी तो वह पुरुष दूसरे जीवो से प्रेम रखगा तो सीमा तोड़ कर रखेगा अर्थात् कल्पनामें कितना ही बखेड़ा बुनकर लोगो मे मोह रखेगा और कदाचित लोगोका पालन प्यार करते हुए भी और उनसे कोई बड़ी चोट वाली घटना मिल जाय तो यह अज्ञानी जीव और को तो बात क्या, किसी भी विधिसे आत्महत्या तक कर डालता है। तो जो पुरुष आत्मघात करते है उनको अपने ज्ञानस्वरूप का पता नहीं है। बाहरी घटनाओसे सुख दु खकी श्रद्धाकी है, उनका मोह बड़ा प्रबल है। अपने प्राण गवा कर भी अपने को सुख शान्ति मिलेगी, ऐसी उनके आस्था बनी है। तो यह संक्लिष्ट होकर, दु.खी होकर जो आत्मघात किया जाता है वह केवल पापबधका कारण बना। ज्ञानी होने पर भी थोड़ा बहुत भय तो शेष रहता है और वह गृहस्थोके किसी कठिन उपद्रवोंके कारण हो जाता है पर साधुजन कोई प्रकार का भय नही करते। कैसे ही उपद्रव आये यहाँ तक कि प्राणघात भी हो रहा हो फिर भी रंच भय नही मानते, वे अपने ज्ञानस्वरूप की सम्हाल बनाये रहते है। पर जब तक गृहस्थ जीवन है, चारित्रमोहका उदय छाया है तब तक वे यथा समय कुछ विचलित होते है, मगर स्वयं आत्महत्या कर ले, इतनी बात ज्ञानीजनो के नही होती। श्रेणिक राजाका जो उदाहरण है तो उनके लडके कुणिक ने अपनी आत्महत्या नही की, किन्तु वह स्थान ही ऐसा था जहाँ पर उनका लड़का कुणिक उनको रोज पीटता था। शारीरिक बहुत कष्ट देता था। तो एक बार जब उसने असमय में आते हुए देखा तो वह कुणिक तो बेचारा आया पछताता हुआ पिता को जेल से निकालने के लिए, मगर श्रेणिकने देखा कि यह कुसमयमें आया है, अभी तो यह पीटकर गया था, कुछ और पिटाई करने आया है, सो इस डरके मारे श्रेणिकका शरीर कंप गया, उछल गया और ऐसी ही स्थितिमें ऊपर जो कीला था उसका चोट लग गया जिससे उसका प्राणघात हो गया। मैं इस कीलेमे सिर मारकर मरू, ऐसी बुद्धि श्रेणिकने नही की किन्तु डरके मारे उसका शरीर ही कंप गया। ज्ञानी पुरुष तो अपने आपके ज्ञानस्वरुपको निरखकर तृप्त रहा करते हैं। उनके तो स्वयं ही आनन्द बना हुआ है। पर कितने ही गृहस्थोकी घटनाये है ऐसी कि जिनमे शारीरिक वेदनावोके कारण चित्त बाहर उगमगाता रहता है पर प्राय इन ज्ञानियोके यह ही होता कि अपने सहज ज्ञानस्वरूपको निहारते हैं और अनुपम अतुल सुख प्राप्त करते है। उस सुखको कितने ही प्रेमी कुटुम्बीजन हों, मित्रजन हो, वे कोई नही प्रदान कर सकते।

शक्यो वशीकर्तुमिभोऽतिमत्तः सिह कणीद्र कुमितो नरेंद्र ।
ज्ञानेन हीनो न पुन कथचिदित्यस्य दूरे न भवति सतः ॥२०६॥

ज्ञानके बिना सन्मार्गपर चलने चलानेकी दुष्करता—लोग ऐसे ऐसे बलवान है कि बडे बडे मस्त हाथियोको वशमे कर सकते है, कुमार्गपर जा रहे हाथियोको सुमार्गपर ला सकते है और क्रुद्ध हुए सिह, सर्प, राजा आदिक जो बड़े ही कठिन होते है उनको अपनी कलासे समझा सकते है, पर मूढ अज्ञानी पुरुषोको किसी भी प्रकार सुमार्गपर-नही लगा सकते । तब यह पुरुषार्थ करना होगा कि ज्ञानका अर्जन करे और अपने आत्मस्वरूप की दृष्टि रखे । सबको यह समझना चाहिये कि हमारा ज्ञानके बिना सुमार्गपर आना नही बन सकता और ज्ञानके बिना दूसरोको सुमार्गपर लाना नही बन सकता, अतएव तत्त्वज्ञान का अर्जन करना चाहिए । ऐसा निर्णय कर तत्त्वज्ञानके अभ्यासमे अपनेको लगा देना उचित है ।

करोति ससारशरीर भोगविरागभावं विदधाति राग ।
शीलव्रतध्यानतप कृपालु ज्ञानी विमोक्षाय कृतप्रयास ॥ २०७ ॥

ज्ञानी जनोंकी सुमार्गमे प्रगति—ज्ञानी पुरुषका जितना पौरुष होता है वह सब मोक्षके लिए होता है। मोक्षके अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य ज्ञानीका नही होता । तो मोक्षके लिए ही ज्ञानी ससार शरीर और भोगोसे वैराग्य भावको धारण करता है । ससार तो हुआ रागादिक विकार जन्म-मरण सो इनसे विरक्त रहता है । रागद्वेष विकारको नैमित्तिक जानता है, परभाव भिन्न जानता है इसलिए उसमे ज्ञानीको राग नही रहता, बल्कि हेय-बुद्धि रहती है। ये ही विकार तो दु खके कारण है, अशुचि है, उनमे ज्ञानीको वैराग्य रहता है । शरीर सर्व दु खोकी जड है, जितनी शारीरिक वेदनाये होती है, भूख प्यासकी पीडाये, सम्मान अपमान आदिककी कल्पनाये वे सब इस शरीरके माध्यमसे ही होती हैं । सो ज्ञानी जानता है कि यह शरीर भिन्न पदार्थ है, आत्माके साथ लग गया है। जब तक इसका सम्पर्क है तब तक इसको कष्ट है, ऐसी ज्ञानीकी भावना रहती है कि मैं शरीर रहित अवस्थाको प्राप्त करूँ । इन्द्रियके भोग जिनमे कल्पित मौज है और आत्माकी सुधसे च्युत करने वाले है उन भोगोमे ज्ञानीजनोको राग नही होता । ज्ञानीने तो अलौकिक आनन्दका अनुभव किया है, जो आधीन है और निर्बाध है उस आनन्दके अनुभव की इन्द्रियके विषयोमे सुख बुद्धि कैसे हो सकती है । सो जीव ससार, शरीर, भोगोसे वैराग्यको धारण

करता है। ज्ञानीका कोई अनुराग होता है तो धर्म विषयक ही अनुराग होता है, यह अनुराग भी मोक्षके लिए है। अनुरागके लिए अनुराग नही है। ज्ञानीका शीलपालनमे अनुराग है, शीलके विरुद्ध चलनेमे उपयोगका जो भटकना होता है, उसमे स्वभाव दर्शनकी पात्रता नष्ट हो सकती है। ज्ञानीको स्वभावदृष्टि चाहिए जिसके बलपर मोक्षका लाभ होता है। तो ज्ञानीको शीलमे अनुराग है। ज्ञानीको पाँचो पापोसे जुदे रहनेमे अनुराग है। इसीको ही व्रत कहते है। हिसारूप प्रवृत्ति ज्ञानीके नही होती। दयारूप प्रवृत्ति होती है। असत्य सम्भाषण न करके यह ज्ञानी सत्य ही बोलता है। किसी पराये द्रव्यको हरनेका ज्ञानीके मनमे कभी भाव नही उठता। शीलपालनके बडे दृढ प्रतिज्ञ होते है। किसी परिग्रहकी तृष्णा ज्ञानीको नही सताती। तो यो पापोसे विरक्त रहने रूप व्रतोसे अनुराग होता है। ध्यानका अनुराग ज्ञानीको होता ही है क्योकि ध्यान कल्पवृक्ष है। जो उत्तम से उत्तम अभीष्ट पद है, मोक्ष पद है उसका भो लाभ ध्यानके द्वारा होता है। जहाँ ज्ञानसे ज्ञानस्वरूप ही पाया जा रहा हो वह ध्यान परम ध्यान है और ऐसे ध्यानकी भावना ज्ञानी सतोके रहा करती है। तपका अनुराग ज्ञानीको होता है। अनशन अनोदर आदिक १२ प्रकारके तप कहे गए है। जिनमे इच्छाओको दूर करके अविकार ज्ञानस्वभावकी उपासना की जाती है। ज्ञानी जीवको दयाका भाव विशेषतया बरतता है। कोई दुखी प्राणी हो तो अपनी सामर्थ्यके अनुसार तन, मन, धन, वचनसे उसके दुख दूर करनेका प्रयत्न रहता है और विशेषतया अपने आपके सहज परमात्मतत्त्व पर बहुत सही दृष्टि रहती है, यह ही अपने आपपर कृपा करना कहलाता है। तो इन गुणोमे ज्ञानी जीवका धर्मानुराग रहता है।

परोपदेश स्वहितोपकार ज्ञानेन देही वितनोति लोके।
जहाति दोष श्रयते गुण च ज्ञान जनैस्तेन समर्चनीयं ॥२०८॥

ज्ञानबलसे ही स्वहितगमन व दोषनिवृत्ति—यह जीव अपना हित और पराया हित परोपदेश देकर करता है तो वह सब ज्ञानके बल पर ही तो कर पाता है। वस्तुस्वरूपका जब स्पष्ट बोध है तब वह दूसरोको सही उपदेश देता है और अपने आपको भी सन्मार्गमे लगाये रहता है। ज्ञानके द्वारा ही यह जीव स्वय अपने हित अहितका विचार कर गुणोकी ओर ही अभिमुखता करता है। आत्माका जो सहजस्वरूप है वही इसका सहज गुण है और जैसा कि सहज चैतन्यस्वरूप है उस रूपमे अपने आपको अनुभवता है तो यह सब ज्ञानबल द्वारा ही तो हो रहा है। यह ज्ञानी दोषोसे सर्वथा बचने का उपाय करता है। वह भी

ज्ञानबलसे ही तो करता है, जिसके ज्ञान है वही दोषोसे हटनेका और सन्मार्गमे लगनेका प्रयास करता है। तो समस्त अभ्युदयोका उपाय ज्ञानभाव ही है अतः यह ज्ञान प्रशसनीय तत्त्व है। आत्माका धन ज्ञानके सिवाय और है ही क्या? स्वरूप ही ज्ञान है और ज्ञान-स्वरूपका विकास ही भगवत अवस्था है। वही परम कल्याण है। तो जिस ज्ञानके बलसे यह जीव लोकमे भी सही प्रवृत्तियाँ सुख शान्तिके लिए कर पाता है और ज्ञानके ही द्वारा समस्त अज्ञान जजालोको त्यागकर अपने ही ज्ञानस्वरूप मे रुचि और धुन बनाये रहता है वही वास्तविक कमायी है। अपना ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञानमे बना रहे जिसके प्रतापसे कर्मोंका क्षय होता है, मोक्ष मार्गमे प्रगति होती है और निर्वाणपदको प्राप्त करता है।

एवं विलोक्यास्य गुणाननेकान् समस्तपापारि निरासदक्षान् ।
विशुद्धबोधा न कदाचनापि ज्ञानस्य पूजा पूजा महती त्यजति ।।२०९।।

विवेकीजनोका ज्ञानार्जनमे प्रयास—ज्ञानी पुरुष सदा ज्ञानके उपार्जनमे ही प्रयत्नशील रहा करता है, क्योकि जितने भी समीचीन अभ्युदय है वे ज्ञानके द्वारा ही प्राप्त होते है। ज्ञानी पुरुषको धर्मानुरागके कारण पुण्यानुबंधी पुण्य प्राप्त होता है जिसके उदयमे सन्मार्गकी ओर गति रहती है और उस भूमिकाके अनुसार लौकिक सुखोको प्राप्त करता है। पापको नष्ट करने वाला ज्ञान ही है, क्योकि पाप भी आया था ज्ञानकी खोटी प्रवृत्तिसे, रागद्वेष विकारभाव जगनेसे कर्मोका आश्रव हुआ था। तो अब रागादिक विकार न हो, अविकार ज्ञानस्वरूपकी उपासना रहे तो पूर्वबद्ध पाप भी खिर जायेगे। नवीन पाप भी न बधेगे। तो यह ज्ञान समस्त पापोको नष्ट करने वाला है। सो ज्ञानके ऐसे प्रभाव है। उनको विचार कर बुद्धिमान पुरुष ज्ञानकी पूजा कभी नही छोडते। ज्ञानके अर्जनमे, ज्ञानकी प्रभावनामे ज्ञानीजन अपना सर्वस्व समर्पण कर देते है। संसारमे सारभूत बात और है ही क्या? ज्ञानमय आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपमे अनुभवा जाय तो वहाँ ससारका कोई सकट नही रहता। तो ज्ञानमे ही ऐसा प्रभाव है कि जो सर्व अभीष्ट सुखोको भी प्राप्त करे और कर्मोका क्षय करके मुक्तिधाममे भी पहुँचा दे। ऐसा विशुद्ध ज्ञानी जीवको स्पष्ट निर्णय है, इसी कारण वह कभी भी ज्ञानकी पूजाको नही छोडता।

६. सम्यक्चारित्र

सद्दर्शनज्ञानबलेन भूता पापक्रियाया विरतिस्त्रिधा या ।
जिनेश्वरैस्तद्वदितं चरित्रं समस्तकर्मक्षयहेतुभूतं ।।२१०।।

सम्यक्चारित्रके स्वरूपका संकेत—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बलसे जो पाप क्रियावोंसे विरक्ति जगती है वही चारित्र कहलाता है। ज्ञानीजन पापक्रियावोंमे न मनसे संकल्प करते हैं न वचनसे समर्थन करते हैं और न कायचेष्टासे पापक्रियावोंका आरम्भ करते हैं किन्तु मन, वचन, कायसे ज्ञानी जीवके पापक्रियावोंसे विरक्तिभाव रहता है। इसीका नाम सम्यक्चारित्र है। इस सम्यक्चारित्रसे ही समस्त कर्मोंका विनाश होता है। सम्यग्दर्शन नाम है सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंका श्रद्धान होना और सम्यग्ज्ञान नाम है वस्तुस्वरूप सहित पदार्थोंका बोध होना। जब इस मनुष्यको हित अहितका विचार जगने लगता है तो वह अतीतकालमे सब भूलोंको भूल समझने लगता है और पर-पदार्थोंकी ओर इस जीवने एकता कर रखी थी उस एकताको अब यह धीरे-धीरे दुःख-दायी समझने लगता है। सो ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानके बलसे सर्व बाह्य प्रवृत्तियोंसे उपेक्षा हो जाती है। और अपने शरणभूत इस अतस्तत्व को अपनाने लगता है। संसारमें परिभ्रमण करने वाले, कराने वाले आठों प्रकारके कर्म हैं, इन सबका विनाश हो, अभाव हो ऐसी सद्भावना ज्ञानी पुरुषके अन्तःकरणमे होती है। बस ऐसे हित अहितके विवेकके समय जो पापक्रियावोंसे, मन, वचन, कायसे विरक्त रहता है, उसहीको सम्यक्चारित्र कहते हैं।

शम क्षय मिश्रमुपागतायां तन्नाशिकर्मप्रकृतौ त्रिधात्री ।
द्विधा सरागेतरभेदतश्च प्रजायते साधनसाध्यरूप ।।२११।।

चारित्रकी द्विविधता—सम्यक्चारित्रका घात करने वाला कर्म चारित्रमोहनीय कर्म कहलाता है। मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियाँ होती हैं। जो दर्शनमोहनीय और चारित्र-मोहनीयके प्रभेदरूप हैं सो दर्शनमोहनीय इस सम्यग्दर्शनका घात करता है और चारित्र-मोहनीयकी प्रथम अनन्तानुबंधी चार प्रकृतियाँ दोनों प्रकारके स्वभाव रखती हैं, सो इनके उदयमें सम्यक्त्वका भी घात होता है और चारित्रका भी घात रहता है। सो सम्यक्त्व घातक ७ प्रकृतियाँ हैं, उनका उपशम होने पर ही उपशम सम्यक्त्व होता, क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता और क्षय होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व होता। चारित्र-

मोहनीय कर्म आत्माके चारित्रगुणका घात करता है। उसके क्षय, उपशम या क्षयोपशमसे आत्मामे चारित्रगुण प्रकट होता है। चारित्रमोहका उपशम होने पर यथाख्यात चारित्र होता है, पर उपशमसे हुआ चारित्र अन्तर्मुहूर्तमे अधिक नही टिकता। चारित्रमोहनीयका क्षय होनेसे जो चारित्र होता है वह प्रगतिशील होकर निर्वाणको प्राप्त कराता है। उस चारित्रका कभी विघात नही होता। ऊँचा चारित्र प्रकट होने पर आंशिक चारित्र नही रहता किन्तु पूर्णचारित्र हो जाता है। चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे चारित्र पूर्ण प्रकट नही होता किन्तु आंशिक प्रकट होता है जैसे अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदयाभावी क्षय और उपशम हो तो प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय हो तो ऐसे क्षयोपशमकी स्थिति होने पर अणुव्रत प्रकट होता है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन ८ कषायोका उदयाभावी क्षय हो और इन्हीका उपशम हो और सज्वलनकषायका उदय हो तो मुनिव्रत प्रकट होता है। सो मुनिव्रत भी पूर्ण चारित्र समस्त कषायोके अभावमे प्रकट होता है जिसका नाम है यथाख्यात चारित्र। चारित्रके पात्रकी दृष्टिसे दो भेद है—(१) सराग चारित्र और (२) वीतराग चारित्र। जिसके सराग चारित्र तो साधन है जिसकी प्रगतिसे वीतराग चारित्र प्रकट होगा। विराग चारित्र साध्य है, जो सराग चारित्रके द्वारा शुद्ध भाव प्रकट होता है। तो इस जीवका चारित्रमोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर अलग जातिके परिणाम हो जाते है। इस ज्ञानीको सासारिक समस्त अशुभ पापक्रियावासे घृणा होने लगती है और व्रत चारित्र आदिक शुभ क्रियाये करनेसे अनुराग बन जाता है। तो प्रारम्भिक लोगोका कर्तव्य है कि वीतराग चारित्रकी प्राप्तिके ध्येयमे सराग चारित्रसे प्रारम्भ कर अपने आपके चारित्रको दृढ बनाये।

हिंसानृतस्तेयजनीविसर्गनिवृत्तिरुक्त व्रतमंगभाजा।
पचप्रकारं शुभसूतिहेतुर्जिनेश्वरैर्ज्ञातसमस्ततत्त्वैः ॥२१२॥

चारित्रकी पञ्चरूपता—५ प्रकार के पापोके त्यागसे ५ प्रकारके व्रत बनते है। हिंसाके त्यागसे अहिंसा व्रत, झूठके त्यागसे सत्यव्रत, चोरीके त्यागसे अचौर्यव्रत, कुशीलके त्यागसे ब्रह्मचर्य व्रत और परिग्रहके त्यागसे अपरिग्रह व्रत बनता है। इन व्रतोमे केवल निवृत्ति अंश ही हो, ऐसा नही है। वह तो भूमिकानुसार है ही, पर इसके साथ ही धर्मानुराग विषयक प्रीति भी रहती है और इस धर्मानुराग मूलक प्रवृत्ति होनेके कारण व्रतोको शुभ आश्रवका कारण बताया गया है। यदि केवल निवृत्ति अंश ही होता है तो आश्रवका कारण नही कहा जा सकता। यह धर्मानुराग भी उच्च स्थिति पा लेने पर त्याज्य हो

जाता है, किन्तु प्रारम्भिक दशामें तो इस जीवको व्रत तप आदिक शुभोपयोग ही हस्तावलम्बन है। यदि ज्ञानी गृहस्थ शुभोपयोगको छोड दे और शुद्धोपयोग को छोड़ दे और शुद्धोपयोग बन नही पा रहा तो अशुभोपयोगमे ही आयेगा। जिसका फल अनन्त संसार परिभ्रमण है। तो ज्ञानी पुरुष ५ पापोका त्याग करके ५ व्रतोरूप अपनी चेष्टायें बनाये रखते है और साधक दशामे ये निरारम्भ और निष्परिग्रह हो जाते है। निरारम्भ निष्परिग्रह होने पर ही स्वभावदृष्टि बनाये रहने के ध्यानकी पूर्ति होने लगती है। तो चारित्रका अद्भुत माहात्म्य है। इसके ही प्रतापसे जीवोने मुक्ति प्राप्त की है। ऐसा सम्यक्चारित्र हम आप सबके लिए आदर्श तथ्य है, सो अपनी शक्तिमाफिक सम्यक्चारित्रका पालन करना चाहिये।

जीवास्त्रसस्थावरभेदभिन्नास्त्रसाश्चतुर्धात्र भवेयुरन्ये।
पचप्रकारास्त्रिविधेन तेषा रक्षा अहिंसाव्रतमस्ति पूत ॥२१३॥

छह जीवनिकायोंकी रक्षामें अहिंसाव्रतकी क्षमता—ससारी जीव त्रस और स्थावर दो जातियोमे पाये जाते हैं। त्रस जीव तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रियका नाम है जिनके त्रस नामकर्मका उदय है और स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये ५ प्रकारके कहे गए है। इन सब ६ कायके जीवोकी मन, वचन, कायसे जो रक्षा करना है उसका नाम अहिसा व्रत है। ६ कायके ५ तो स्थावर जीव लिए गए है और एक त्रस जीव। इन्द्रियाँ ५ होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। जिन जीवोके केवल स्पर्शन ही इन्द्रिय हैं वे एकेन्द्रिय कहलाते है। पृथ्वी, जल आदिक ५ स्थावरोके अग उपाग नही है, रसना इन्द्रिय नही है, केवल स्पर्शन इन्द्रिय है। रसना इन्द्रिय जिह्वाको कहते है। जिस जीवके जीभ है उसके स्पर्शन इन्द्रिय अवश्य होती है। तो ये दो इन्द्रियाँ जिनके है वे दो इन्द्रिय जीव कहलाते है। रसना इन्द्रियसे खट्टा, मीठा आदिक रसोका स्वाद जाना जाता है। घ्राणेन्द्रिय नासिकाको कहते है। इसके द्वारा सुगध दुर्गंधका ज्ञान होता है। जिसके घ्राणेन्द्रिय पायी जाती है उसके स्पर्शन और रसना इन्द्रिय अवश्य होती है। सो जिन जीवोके तीन इन्द्रिय है वे तीन इन्द्रिय जीव कहलाते है। जैसे खटमल, चीटी, जूं आदिक। चक्षुइन्द्रिय आँखको कहते है। इसके द्वारा काला, पीला, नीला, लाल, सफेद इन ५ प्रकारके वर्णोका और इनमे किसीके संयोगसे हुए वर्णोका ज्ञान होता है। जिसके चक्षु इन्द्रिय है उसके स्पर्शन, रसना और घ्राण अवश्य होते है। सो जिन जीवोके चार इन्द्रियाँ पायी जाये उन्हें चौइन्द्रिय जीव कहते है। कर्णेन्द्रियसे शब्द जाने जाते

हैं, जिनके कर्णेन्द्रिय है उनके शेष सभी इन्द्रियां हैं। यों पांचो इन्द्रियां जिन जीवोके हैं उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते है। जीवशास्त्रका जिन्हे बोध है वे ही जीव तो भले प्रकार जीवकी रक्षा कर सकते है। जिनको ज्ञान नही कि जल खुद जीव है और जलमे सूक्ष्म त्रस जीव भी रहते हैं, वे लोग सन्यासके नाम पर ऊंचा तप करके भी जल छानकर ही पीना, या स्वय न छानना, आरम्भ न करना आदिक भाव कहां जग सकते हैं। तो जीव दयाका पालन वही पुरुष भली-भांति कर सकता है जिसको जीव देहोका, उनकी योनियोका, उत्पत्ति स्थानोका बोध होता है। तो इस षट्कायके जीवोकी विराधना न करना यह अहिंसा व्रत कहलाता है।

स्पर्शेन वर्णेन रसेन गंधाद्यदन्यथा वारि गत स्वभाव।
तत्प्रासुक साधुजनस्य योग्य पातु मुनीद्रा निगदति जैना ॥२१४॥

साधुजनों द्वारा, प्रासुक जलकी पेयता—जल कैसा पीने योग्य है साधु पुरुषोको इसका वर्णन इस छदमे किया है। जैसे जलका स्पर्श, रस, गध और वर्णके चार स्वाभाविक गुण बदल जायें ऐसे जलको पेय बताया गया है। जैसा जलका अपने आप रूप है स्पर्श आदिक है उससे यह परिचय होता है कि इसमे जीव है। जैसे ताजा ठडा निकला हुआ पानी शीतल है तो सहसा बोध हो जाता है कि अभी यह जल जीवसहित है, पर जो जल गरम है या लौग आदिकसे प्रासुप किया गया है जिससे कि रस, गध आदिक भी बदल गए हैं तो उस जलमें यह निश्चय रहता है कि यह जल अचित्त है। सो साधुजन सचित्त जलका सेवन नही करते, क्योकि उसमे अहिसा व्रतका पालन नही होता और स्वय आरम्भ भी नही करते कि जलको गर्म करे या प्रासुप करे। उनको कही भक्तजनोके घर विनयपूर्वक गृहस्थ बुलाये और विधिपूर्वक दे तो ऐसा अचित्त जल साधुजन ग्रहण कर लेते हैं।

उष्णोदकं साधुजना पिबति मनोवच कायविशुद्धिलब्ध।
एकाततस्तत्पिवता मुनीना षड्जीवघात कथयति सत ॥२१५॥

मनोवचः कायविशुद्ध उष्णोदककी ग्राह्यता—साधु पुरुष सर्व प्रकारकी हिंसाके त्यागी होते है। वे मन, वचन, कायकी विशुद्धिको प्राप्त हुए उष्ण जलको पीते हैं और जो उष्ण जलको न पीकर अचित्त जलसे विपरीत जलको ग्रहण करते है उस साधुजनोके ६ कायके जीवो के घातका पाप लगता है। वे ६ कायके जीवोके हिंसक कहे जाते है। सचित्त जलका जल स्वय जीव है और उसमे त्रस जीव भी रह रहे इस कारण सचित्त जलके उपभोगमे

दयाका पालन नही कहा जा सकता है। सो ऐसे जलको भी साधुजन आरम्भ कराकर या उसकी अनुमोदना करके प्राप्त करते है। नवकोटि विशुद्ध जलको ग्रहण करते हैं, अर्थात् जिसमे न मनसे सकल्प किया हो कि यह मुझे दे और न वचनसे कोई प्रयोग कराया गया हो, न शरीरसे अनुमोदनाकी हो या करायी गई हो। मन, वचन, कायसे न कृत हो, न कारित हो, न अनुमोदित हो, ऐसा जलही साधुजनोके ग्रहणके योग्य कहा गया है।

हत घटीयत्रचतुष्पदादि सूर्येदुवाताग्नि करैर्मुनीद्रा: ।
प्रत्यंतवातेन हत वहच्च यत्प्राशुक तन्निगदति वारि ॥२१६॥

प्रासुक जलका स्वरूप—कौनसा जल प्रासुप कहा गया है इसका वर्णन इस छदमें किया गया है। जो जल घटी यत्रका हो यानि जिस जलको अरहटके द्वारा निकाला जा रहा है यानि पानी को गडबडा करके उन घटियोमें डालते है जिस विदोलनके कारण वह जल अचित्त हो जाया करता है। जो जल गाय, भैंस आदिक जानवरोके आवागमनसे ताडित हो गया हो। जैसे अनेक जलाशयोके ऐसे स्थान होते कि जहाँ बहुतसे गाय, भैंस आदिक पशु आते जाते है, यानि जिस जलका काफी विडोलन हो गया हो वह जल प्रासुप है। जिस जलपर सूर्यकी तीव्र किरणे पडती है, जिसके कारण वह जल प्रासुप हो गया है। रूप, रस आदिक भी बदल गये है ऐसा जल प्रासुप कहा गया है। चन्द्रकिरणोसे भी जल प्रासुप हो जाता है। किसी भी प्रकारका परिवर्तन हो जाय वह सूचक है कि यह जल अचित्त हो गया। कोई जल वायुकी ताड़नासे ही अचित्त हो जाता है। जहाँ तीव्र लहर उठती है। वायुका बहुत प्रताड़न होता है वह जल अपने स्वाभाविक वर्ण गध रस, स्पर्शको छोड़ देता है। अचित्त जलकी पहिचान यह है कि उसका जो स्वाभाविक रूप है वह रूप न रहे, बदलकर अन्य प्रकार हो जाय तो वह जल अचित्त हो जाता है। अग्निसे तपाया गया जल अचित्त होता ही है। ऐसा जल जैनागममे प्रासुप माना गया है और बड़े-बड़े आचार्योंने इस प्रकार का उपदेश किया है।

भवत्यवश्यायहि माशधूसरी घनाबुशुद्धोदकबिदुसीकरान् ।
विहाय शेष व्यवहारकारण मनीषिणा वारि विशुद्धिमिच्छतां ॥२१७॥

अपेय जलका संक्षिप्त विवरण—जो जल पाला रूप है, ओला, मेघ और छाने हुए जलके बचे हुए शुद्धोदक बिन्दुके कणोसे भिन्न हो वह सब जल अहिसा व्रतके पालनेवाले मुनियोको व्यवहारसे लाने योग्य होता है। जलकी प्रासुपताका कारण है या परिचायक है

तो उनका स्पर्शादिक बदल जाना। वह जिन-जिन घटनाओके प्रसगसे बदल होता है उन सब घटनाओका जिक्र किया गया है। सो ऐसे सब जल साधुजनोके व्यवहारके कारण है। यहाँ इतनी बात समझना कि प्रासुप जल ये सब बताये गए है, मगर पीनेके लिए ही सब योग्य हो यह नही कहा गया। जरूरत पडने पर उनका उपयोग कर सके, हाथ पैर धो सके, शुद्धि कर सके, इन सब कामोमे वे आते है। जैसे कि जगलमे प्राय होता है। कोई पानी ऊपर पहाडोसे गिर रहा है। पत्थरोकी ठोकर खा रहा है, ऐसी जगहका जल इस्तेमालमे ले लिया जाता है, पर पीने योग्य जल तो जो श्रावकके यहाँ है, श्रावकके द्वारा प्रदत्त जलही पेय होता है, क्योकि ऐसे जलके ग्रहण करनेमे ही वह निरारम्भ होता है और इच्छाका निरोधक होता है, सो अहिसाव्रत पालन करने वाले मुनियोके व्यवहारमे लेने योग्य जलका इस छदमे वर्णन किया गया है।

उष्णोदक प्रतिगृहं यदकारि लोकैस्तच्छ्रावकै पिवति नान्यजनै कदाचित्।
तत्केवल मुनिजनाय विधीयमानं षड्जीवसततिविराधन साधनाय ॥२१८॥

श्रावकोके गृहपर लब्ध प्रासुक जलकी पेयता—जो जल श्रावक द्वारा अपने घर पर, अपने कामके लिए उष्ण किया जाता है वह जल पीने योग्य है। श्रावकजन शुद्ध भोजन करने वाले होते है और जल छना हुआ हो, वह ४८ मिनटके अन्दर ही उपयोगके योग्य होता है, उसके बाद फिर वह त्रस जीवोकी उत्परितका स्थान बन जाता है। जो श्रावकजन उस जलमे सदेह न रहे या बार-बार छाननेका कार्य न करना पडे अथवा ध्यानसे चूक गए तो उसका दोष न आये, इन सब अपराधोसे बचनेके लिए श्रावक उष्ण जल करके रखता है, तो ऐसा अपने घर अपने लिए जो उष्ण जल किया जाता है वह मुनिजनोके पीने योग्य है किन्तु इसके सिवाय जो जल केवल मुनियोके उद्देश्यसे उष्ण किया गया है। जो क्रिया विधि न जानने वाले पुरुषोसे गरम कराया गया है वह सब जल अपेय है। वह षट्कायके जीवोकी हिंसाका साधन भूत है। मुनिजन जल क्या, भोजनमे भी नवकोटि विशुद्धिसे रहते है। मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदना उसके साथ नही रहती है। इसी कारण श्रावकजनो द्वारा उष्ण किया जाने वाला जल साधुजनोके योग्य समयपर मिले तो वह पेय कहा गया है।

यथार्थबाक्यं रहित कषायैरपीडन प्राणिगणस्य पूत।
गृहस्थभाषाविकल यथार्थ सत्य व्रत स्याद्वदता यतीना ॥२१९॥

सत्यमहाव्रत—इस छदमे सत्य व्रतका वर्णन किया गया है । जिन मुनियोके वचन सार्थक होते है, जैसा पदार्थ है उसके अनुरूप होते है वे वचन सत्य कहलाते है । और पदार्थ उस अनुरूप होने पर भी कषायरहित होकर प्रयुक्त किए गए हो तो वह सत्यव्रत कहलाता है । यथार्थ भी बात हो और कषायवश प्रयोग किया गया हो तो इससे उसने भावहिसा कर ही लिया । तो जो हिंसामूलक प्रवृत्ति है वह व्रतमे कैसे आ सकती है ? सो कषायोसे रहित वचन सत्यव्रतमे शामिल है, और वे वचन भी प्राणियोको पीड़ा न पहुँचाने वाले हो । साधु-सतोको क्या आवश्यक है कि ऐसे वचन बोले कि जिससे दूसरे जीवोका प्राणघात न हो जाय । प्रथम तो बोलना ही उन्हे पसद नही होता । मुनिजन मौनपूर्वक अपना ध्यान किया करते है । पर किसी प्रसगमे धर्मके सम्बन्धमे कुछ वचन बोलना ही पड़े तो वे दूसरो को पीडा करने वाले वचन नही बोलते । साधुओके ऐसे वचन जो पवित्र है और दूसरोको हितकारी है वे वचन ही बोलने योग्य कहा गया है । साधु वचन गृहकार्योके पोषण करनेसे रहित होते है । आरम्भ रोजिगार अन्य गृहस्थीकी बाते इन सब दोषोसे शून्य उनके वचन होते है । साराश यह है कि हित मित प्रिय वचन बोलनेको सत्यव्रत कहते है । सो मुनि-जनोका यह कर्तव्य है कि वे कभी व्यर्थ वचन न बोलें अधिक शब्द न बोले । थोडे शब्दोकी आवश्यकता है । कुछ ही शब्द बोलकर अपने आपमे विश्राम करे ।

> ग्रामादिनष्टादि धन परेषामगृह्णतोऽल्पादि मुनेस्त्रिधापि ।
> भवत्यदत्तग्रहवर्जनाख्य व्रत मुनीनागदित हि लोके ॥२२०॥

अचौर्य महाव्रत—कोई ग्राम आदिक नष्ट हो गए हो, वहाँ कोई धन पडा हो वह धन भी साधुजनोके ग्रहणके योग्य नही है । कही भी रखा हुआ, गिरा हुआ, खोया हुआ, किसीका भूला हुआ, कैसा ही हो बिना दी हुई दूसरेकी वस्तुका मन, वचन, कायसे ग्रहण न करना अचौर्य व्रत है । सो साधुजनोके निरपेक्ष कोई व्रत नही होता । जैसे मानो किसी साधु पुरुषको किसी धनिकने कोई धन जेवर आदि भेट किया और उसे साधु ग्रहण कर ले परिग्रह त्याग महाव्रतका पालन करते हुए भी तो वह साधु कहाँ रहा ? हाँ साधुजनोको योग्य कोई वस्तु हो जैसे पिछी, कमण्डल, शास्त्र या कोई औषधि आदिक जो कि सयमके लिए साधन है उन्हे कोई दे तो उन्हे साधुजन ग्रहण कर सकते है । बिना दी हुई कोई चीज ग्रहण नही कर सकते । तो बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण न करना अचौर्य व्रत है ।

> विलोक्य माहस्वसृदेहजावत्स्तीणा त्रिक रागवशेन यासा ।
> विलोकन स्पर्शनसकथाभ्यो निवृत्तिरुक्त तदमैथुनत्व ॥२२१॥

ब्रह्मचर्य महाव्रत—जो महानुभाव वृद्ध स्त्रीको तो माँ, बराबरकी आयु वाली स्त्रीको बहिन और छोटी आयु वालीको पुत्रीके समान मानता है और सभी प्रकारकी स्त्रियोका मन, वचन, कायसे त्याग कर देता है उसके ब्रह्मचर्य व्रत होता है। ब्रह्मचर्य व्रतका धारी न तो स्त्रीजनोको रागबुद्धिसे देखता है न उनके साथ रागकी बाते करता है न कभी उनका स्पर्श करता है, उसके ब्रह्मचर्यकी सिद्धि होती है। राग बुद्धि करना, सकल्प करना ये सब मनकी चेष्टाये है। वचनालाप करना यह वचनका व्यवहार है। कोई अग आदिकका स्पर्श करना या उनके छुवे हुए कपड़े आदिकका स्पर्श करना जिनमे वासनाका सम्बन्ध चलता है वे सब कायकी चेष्टाये है। साधुजन मन, वचन, काय तीनो योगोको सम्हाले रहते है और वे ब्रह्मचर्यके विरुद्ध इन योगोका प्रयोग नही करते है। ब्रह्मचर्यका परमार्थ अर्थ तो यह है कि ब्रह्म मायने आत्मा, उसमे चर्य मायने लीन होना। सो काम विषयक चेष्टाये आत्मामे लीन होनेकी साक्षात् बाधक है। इस कारण कुशीलके त्यागको ब्रह्मचर्य शब्दसे कहा गया है। इस प्रकार साधुजन ब्रह्मचर्य महाव्रतका पालन किया करते है।

सचेतनाचेतनभेदतोत्था: परिग्रहा सति विचित्ररूपा।
तेभ्यो निवृत्तिस्त्रिविधेन यत्र नैसग्यमुक्त तदपारतसगै ॥२२२॥

परिग्रहत्याग महाव्रत—लोकमे समस्त पदार्थ चेतन या अचेतन दो प्रकारके है, जिन पदार्थोमे चेतना हो, जानने देखनेकी शक्ति हो वे पदार्थ चेतन है और जिनमे चेतना नही है, जानने देखनेकी शक्ति नही है वे पदार्थ अचेतन है। सो दोनो प्रकारके पदार्थोका मन, वचन, कायसे त्यागकर देना अपरिग्रह है। परिग्रह त्यागी पुरुष बाह्य पदार्थोको न मनसे अपना समझते है, न वचनसे अपना कहते है और न इस शरीरके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध रखते है, श्रवण निसंग कहे जाते है। सग मायने परिग्रह, नि: मायने निर्गत, परिग्रहसे दूर हो गए अथवा सग मायने प्रसग सम्पर्क उसके दूर हो गये है ऐसे निसगको श्रवण बताया है। सो जैसे मूढ पुरुषोकी बुद्धि अचेतन पदार्थोमे रमी रहती है। अचेतन पदार्थोमें अपनी एकता मान लेते है, ज्ञानी पुरुषोको वहाँ स्पष्ट दृष्टिमे रहता है कि इन सब पदार्थोका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी जुदा है, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जुदा है। एकका दूसरेके साथ कुछ भी सम्बन्ध नही है। चेतन पदार्थ जो उसके प्रसगमें रहते हो, जैसे गृहस्थ है तो स्त्री, पुत्र, मित्रादिक उसके चेतन संग बन सकते हैं और मुनि है तो उनके साथ शिष्यजन होते है। वे सब उनके प्रसंगके सचेतन पदार्थ है, किन्तु ज्ञानीजन चाहे गृहस्थ हो या मुनि हो, उन सचेतन परिग्रहोसे भी अपना स्वरूप निराला समझते है

और चूंकि चारित्र मोहका उदय है सो गृहस्थ उसका परित्याग नही कर सकते, किन्तु मुनिजन उन सचेतन पदार्थोका भी परिग्रह नही रखते। तो ऐसे मन, वचन, कायसे सचेतन अचेतन परिग्रहोके त्यागको वैराग कहा है।

युगांतरप्रेक्षणतः स्वकार्याद्दिवा पथा जन्तुविवर्जितेन।
यतो मुनेर्जीवविराधहान्या गतिर्वरेर्यासमितिः समुक्ता ॥२२३॥

साधुवोंकी ईर्यासमिति—इस छदमे श्रवणकी ईर्यासमितिका वर्णन किया है। ईर्याका अर्थ गमन है और समितिका अर्थ सावधानी सहित समताकी सम्हाल रखते हुए प्रवृत्ति होना है। तो जिन श्रवणोंके श्रामण्य है, मुनिव्रत है उनका यह भाव रहता है कि किसी जीवकी हिसा न हो, और हमको विहार करना पड़ रहा, वहां हमारे सम्बन्धसे मार्गमे आये हुए किसी भी जीवको रंच भी दुःख न हो, यह तो उन मुनिजनोका अभिप्राय रहता है। और वे इस अभिप्रायके कारण चार हाथ आगे पृथ्वी देखकर गमन करते है। सो वह गमनभी दिनमे ही किया जाता है। रात्रिमें नही, और ऐसा गमन भी किस प्रयोजनके लिए होता है कि जिसमे आत्माके विकासका कोई प्रसग हो।' तो इस छंदमे ईर्यासमितिके लिए चार बाते कही गई है। भावशुद्धि होना, चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, दिनमे ही चलना और किसी भले कार्यके लिए ही चलना। ऐसी चार बातोका योग जिस गमनमें रहता है उस गमनकी वृत्तिको ईर्यासमिति कहते है। निश्चयसे तो श्रवणकी ईर्या अपने आपके स्वरूपमे अन्तरग ज्ञानके बलसे गमन होना कहलाता है और इसही ईर्याकी सिद्धिके लिए व्यवहार ईर्यासमितिका पालन किया जाता है। सो मुनिजन अन्तरगमें तो सावधान होते ही है। सतत उनका ध्येय सहज चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीत और लीनता है। पर एकही जगह रहकर रागद्वेषके प्रसग आ जाते हैं, इसलिए कही अधिक दिन नही ठहरते, ऐसा प्रभुका आदेश है। कोई कठिन स्थितिमे अत्यन्त वृद्ध हो जाये, समाधिमरणकी प्रतिज्ञा करले या कोई विशेष ज्ञानार्जनका लाभ होता हो तो ऐसेही कुछ कारणोसे ये कुछ दिन ठहरते है एक जगह लेकिन आम आदेश है कि छोटे गाँवमे एक दिन, कुछ बड़े में तीन दिन और बहुत बड़े मे ५ दिन, इससे अधिक नही ठहरते। तो विहार करना आवश्यक हो गया। तो उनका विहार किस प्रकार होता है वह सब ईर्यासमितिमे बताया गया है।

आत्मप्रशसा परदोपहासपैशून्यकार्कश्यविरुद्ध वाक्य।
विवर्ज्य भाषा बदता मुनीना वदंति भाषासमिति जिनेन्द्रा ॥२२४॥

साधुवोंकी भाषासमिति—इस छदमे श्रवणकी भाषासमितिका वर्णन किया गया है।

जो मुनि आत्मप्रशसा नही करते वे ही योग्य वचनकी वृत्ति रखते है और भाषा समितिका पालन कर सकते हैं, जिसको अपने आपकी प्रशसामे रुचि है, व्यामोह है तो उस प्रशंसाके लाभके कारण कोई प्रसग ऐसा भी बन जाता है कि जहाँ तक कुछ अशमे असत्य बोलना पड जाता है। फिर भाषा समिति कहाँ रही ? तो जो भाषा समितिके पालनेके इच्छुक है उनका कर्तव्य है कि वे आत्मप्रशसासे अति दूर रहे। परनिन्दा, दूसरे जीवोकी निन्दा, करनेका जिनका व्यापार है, ऐसी आदत बनाली गई है तो परनिन्दाकी धुन रखने वालेके इतनी स्वयमे छुद्रता आती है और हठवाद हो जाता है कि कभी किसी प्रसगमे उसे झूठ बोलनेका भी प्रसग बन जाता है, परनिन्दा करनेसे अनेक आपत्तियाँ खुदके सिरपर आ जाती है। क्योंकि जिसकी निन्दा की गई वह तो बरदास्त करेगा नही, वह तो कुछ न कुछ उपद्रव ढायेगा। तो ऐसी अनेक विकट स्थितियाँ होती है, उन परिस्थितियोमे यह असत्य बोल सकता है अपने बचावके लिए या अपने हठको रक्षाके लिए। तो परनिन्दाकी प्रकृति रखने वाले पुरुषके भाषा समितिका पालन नही बन सकता। जो मुनि दूसरोका उपहास करते हैं, वचनोसे कोई हँसी करते हैं, कुछ नीचा दिखानेकी बात करते है तो ऐसे उपहासका जो मनमे आशय रख रहा है वह पुरुष छुद्र आशयका है। गम्भीर पुरुष है और ऐसे पुरुषोके वचन असत्य भी निकला करते है। तो भाषा समितिका पालनहार पुरुष उपहासमे चुगली करनेकी प्रकृति जिन श्रवणोके पड जाती है, एककी बात दूसरेसे कुछ कहा, तीसरेसे कुछ कहा, यो एककी बात दूसरेसे चोरीसे कहना यह चुगली कहलाता है। तो चुगलीकी प्रकृति वालेका चित्त स्थिर नही रहता और उस प्रसंगमे कोई बात खुलनेका भय होता है या खुल जाता है तो उस प्रसगसे यह ऐसी प्रवृत्ति करता, वचन बोलता जो दूसरेका बिगाड़ करने वाला हो या वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे विपरीत हो। तो चुगली करने वाले श्रवणके सत्य बोलनेकी भाषा समिति नही बन सकती। जो पुरुष कर्कश वचन बोलता है और शास्त्रके विरुद्ध वचन बोलता है वह भाषा समितिका पालन नही कर सकता, क्योकि कर्कश वचन किसी वेदनासे या खोटे अभिप्रायसे होता है। तो जहाँ दूषित आशय रहा वहाँ भाषासमिति कैसे पल सकती है ? तो श्रवण न आत्मप्रशसा करते है, न किसी पर जीवकी निन्दा करते है, न किसीका उपहास करते हैं और न चुगली की प्रवृत्ति करते है। तो इस आत्मप्रशसादि दोषसे रहित शास्त्रसम्मत वचन बोलनेको भाषा समिति कहते है।

अनुद्गमोत्पादनबल्भदोषा मनोवच कायविकल्पशुद्धा ।
स्वकारणा या मुनिपस्य भुक्तिस्तामेषणाख्य समिति वदति ।।२२५।।

साधुवोंकी एषणा समिति—इस छदमे श्रवणके एषणा समितिका वर्णन किया गया है। उद्गम आदिक ४६ दोष होते है जिनमे १६ दोष तो श्रावक दाताके द्वारा बनते है और १६ दोष साधु पात्रके द्वारा बन सकते हैं। १० दोष आहार सम्बन्धी होते है और ४ दोष भाव खोटे विषयक है। जैसे गुस्सासे खाना, निन्दा करते हुए खाना। अनिष्ट भोजनमे द्वेष और इष्ट भोजनमे राग रखकर खाना आदि भावकृत दोष है। ऐसे ४६ दोषोसे रहित और ३२ अन्तराय टालकर मन, वचन, कायकी शुद्धिसे शुद्ध शरीरकी स्थितिके लिए जो आहार ग्रहण करता है वह मुनिकी एषणा समिति कहलाती है। एषणाका अर्थ है खोजना। शरीर है सयमका बहिरंग साधन। शरीरकी स्थिति रहे तो यह पुरुष धर्मका पालन सुगमतया कर सकता है। कही कोई रोग व्याधि हो जाये अथवा क्षुधा तृषाकी तीव्र वेदना जगे तो उस समय यह अपने समाधिभावमे नही ठहर पाता। अतएव आहार करना आवश्यक हो जाता है। सो शुद्ध आहारकी खोज करना एषणा समिति है। जहाँ श्रावकने शुद्ध होकर पडगाहा और विधि मिलनेपर मुनिजन वहाँ निर्दोष आहार ग्रहण करते है, आहारचर्याके बाद और आहार कर चुकने तक अतरायोको टालकर ही चर्या करते है। वे अन्तराय ३२ है जो भिन्न-भिन्न स्थितियोके है। सो ३२ अतरायोसे रहित होकर मुनिजनोका आहार करना एषणा समिति कहलाता है। मुनिजन मन, वचन, कायकी शुद्धिसे शुद्ध रहते है और न वे आहारका निर्माण करते है, न कराते है और न करानेकी अनुमोदना करते है। नवकोटि विशुद्ध आहारका करना एषणा समिति कहलाता है।

आदाननिक्षेपविधेर्विधाने द्रव्यस्य योग्यस्य मुने स यत्नः ।
आदाननिक्षेपण नामधेयां वदति सत समिति पवित्रा ।।२२६।।

साधुवोंकी आदाननिक्षेपण समिति—मुनिजनोके रखने योग्य जो उपकरण है उन उपकरणोके रखने और उठानेका कार्य तो पडता ही है, सो उन उपकरणोके धरने उठानेमे सावधानी रखना, जीवहिसा टालकर प्रवृत्ति करना वह आदान निक्षेपण समिति है। मुनिजनोके रखने योग्य उपकरण तीन कहे गए है। संयमका उपकरण पिछी है। शुद्धिका उपकरण कमण्डल है और ज्ञानका उपकरण शास्त्र हैं। सो इन उपकरणोके धरनेके समय पहले उस भूमिको शोधलें कि कोई जीव-जतु तो नही है। पीछे धरे जाने वाले उपकरणोको शोधले, यो शोधन करते हुए धरना, ऐसे इन उपकरणोको उठाते हुए पिछीसे

पोछना और उठाना, फिर उस उपकरणको नीचेसे भी पोछना ताकि कोई जीव यदि चीटी आदिक चढ गई हो तो उसे समितिपूर्वक उसका बचाव कर दें, ऐसी वृत्तिको आदान निक्षेपण समिति कहते हैं। आदानका अर्थ है ग्रहण करना और निक्षेपणका अर्थ है धरना। इन दोनो प्रकारकी वृन्तियोमे मुनिजन पवित्र समितिका प्रयोग करते हैं।

दूरे विशाले जनजंतुमुक्ते गूढे विरुद्धे त्यजतो मलानि।
पूता प्रतिष्ठापननामधेयां वदति साधो समितिं जिनेन्द्रा ॥२२७॥

साधुवोकी उत्सर्गसमिति—साधुके जब शरीर लगा है और उस शरीर रक्षाके लिए आहार वे करते है तो नीहार भी करना हो जाता है। मल मूत्रका क्षेपण करना पडता है, तो उसका क्षेपण कहाँ करे और कैसे करे, ऐसी इस प्रतिष्ठापन समितिका वर्णन इस छदमे किया है। मल मूत्रका त्याग दूरवर्ती प्रदेशोमे करे, क्योकि जो उनके ठहरनेका जो स्थान है वही यदि करे तो निकट रहने वाले पुरुषोको बाधा उत्पन्न होती है। और मुनिजन कभी किसीकी बाधको नही स्वीकार करते, अतएव दूरवर्ती प्रदेशोमे ही मुनिजन मल मूत्र क्षेपण किया करते है। दूरवर्ती प्रदेश हो और वह भी विशाल हो, जैसे मैदान पडा है, खेत पडा है, जहाँ शोधन भली-भाँति होता है और आमतौरसे सबके लिए वह प्रदेश खुला हुआ है, ऐसे विशाल प्रदेशमे मल मूत्र क्षेपण करे तो यो दूरवर्ती प्रदेश हो और विशाल प्रदेश हो, तिसपर भी वह कुछ ओटसा लिए हुए हो, यानि कुछ छिपा हुआ सा हो। जैसे मनुष्योकी प्रवृत्ति है कि कुछ ओट लेकर ही मल मूत्रका क्षेपण करते हैं। यद्यपि सब जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य मल मूत्रका क्षेपण करता है तिसपर कोई मनुष्य सबको दिखाकर मल मूत्रका क्षेपण नही करता। यह एक सभ्यताकी बात है और इसमे दूसरोको कष्ट न पहुँचे, इसकी भी बात है। और साधुजनोको तो देखिये, वे तो निरन्तर नग्न रहते है, गृहस्थजन तो कपडेसे अपने गूढि अगको ढाके रहते हैं तो उसे खुला दिखानेमें सकोच हो जाता है, पर मुनि तो सतत् नग्न रहते है, तिसपर भी मल मूत्रके क्षेपणके समय वे भी गूढ स्थानमें मल मूत्रका क्षेपण करते हैं। तो जहा मल मूत्रका क्षेपण किया जाना चाहिए वह प्रदेश दूरवर्ती हो, विशाल हो, गूढ हो, इतने पर भी जन जतुरहित हो। जन जतुरहित प्रदेशमे ही मुनि-जन मल मूत्रादिका क्षेपण किया करते हैं, किन्तु जो समितिका मुख्य ध्येय है जीवहिंसाका बचाना, सो जहाँ जीव न हो। ऐसे स्थान पर ही मल मूत्रका क्षेपण करना समिति है और कदाचित् दो एक छोटे जीवजतु दीख जाये तो कभी अपहृत संयम धारणा करके भी उस स्थानका प्रयोग कर सकते है। संयम दो प्रकारके होते हैं—(१) उपेक्षा सयम और

(२) अपहृत संयम। उपेक्षा सयमके मायने यह है कि जिस प्रदेशपर जतु बहुत हों या कुछ भी हो तो उस प्रदेशको छोडकर अन्य प्रदेशोमे गमन करना मल मूत्र क्षेपण करना आदिक बताया गया है और अपहृत सयममे यदि दो एकही जतु हों तो उन्हे कोमल पिछीसे एक ओर करके शोधकर उस भूमिमें मल मूत्र क्षेपण कर सकता है। सो जीव जंतुरहित प्रदेश होना चाहिए, प्रतिष्ठापना समितिका पालन करनेके लिए।

समस्त जतुप्रतिपालनार्था कर्माश्रवद्वारनिरोधदक्षाः।
इमा मुनीना निगदंति पच पंचत्वमुक्ता. समितीर्जिनेद्राः ॥२२८॥

समितियोंकी संवरकारिता—जो जन्म मरणसे अतीत हो गए हैं ऐसे प्रभु जिनेन्द्रदेवने ५ समितियोंका श्रमणोके श्रावण्यमे प्रयोग बताया है। इन समितियोसे सब जीवोकी रक्षा होती है। सो ये पाँचोही समितियाँ कर्मोके आश्रवका द्वार रोकनेमें सक्षम है अर्थात् ये सम्वरका कारण बनती है। बताया ही गया है कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह विजय एव चारित्र इनमे जीवोके शुभ अशुभ कर्मोका सम्वर होता है। सो तीन गुप्ति तो उत्कृष्ट वृत्ति है। यदि कोई गुप्तिमे न रह सके, कुछ प्रवृत्तिमे आता है तो उसे समितिका पालन करना चाहिये। यह समिति आश्रवनिरोधके कारणभूत है। यद्यपि समितियोमें प्रवृत्ति अश भी पडा है पर यहाँ इन्द्रियकी प्रधानता है। सो यह सब जगह अलग-अलग बात है। वैसे तो ५ महाव्रतोमे भी निवृत्ति बतायी गई है और प्रवृत्ति बतायी गई है पर वहाँ प्रवृत्तिपर दृष्टि है, इस कारण व्रतोको आश्रवका कारण बताया है। भलेही वह शुभ आश्रवोका ही कारण है, पर है तो आश्रवोका हेतु। लेकिन समितिसे चलने, बोलने आदिककी प्रवृत्ति होनेपर भी निवृत्तिका ही लक्षण है, निवृत्तिका ही प्रयोजन है। सो निवृत्तिकी प्रधानता होनेसे इसको सम्वरका कारणभूत कहा गया है।

प्रवृत्तय स्वातवचनस्तनूना सूत्रानुसारेण निवृत्तयो वा।
यास्ता जिनेशाः कथयति तिस्त्रो गुप्तीर्विधूताखिलकर्मबंधा ॥२२९॥

साधुवोंकी गुप्तियाँ—जैसा सर्वज्ञ देवने प्रतिपादित किया है उस आगमके अनुसार मन, वचन, कायकी जो प्रवृत्ति है और इसकी जो निवृत्ति है वही गुप्ति कहलाती है। गुप्ति तीन प्रकारकी कही गई है—(१) मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एव कायगुप्ति। जैन शासनके अनुसार मनकी प्रवृत्ति हो या मनकी निवृत्ति हो उसे मनोगुप्ति कहते है। जिस सहज सिद्ध स्वभाव अतस्तत्त्वमे मनकी प्रवृत्ति हो, विचार, चिन्तन सहज स्वरूप में चले,

यह मनोगुप्ति है और वही मनोगुप्ति विषय कषायोसे निवृत्तिरूप है। इसीलिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही बातें गुप्तिमे कही गई है। वचनकी प्रवृत्ति ऐसी करना कि जिसमे आत्मध्यान बने, आत्माकी अभिमुखता रहे उस प्रवृत्तिको वचनगुप्ति कहते है और जिसके स्वात्माभिमुखता परक वचन हो रहे है उसके अन्य प्रकारके वचनोसे निवृत्ति है, इस कारण वह निवृत्ति भी हो गई। तो यह कहलायी वचनगुप्ति। शरीरका जैनागम चरणानुयोगकी विधिके अनुसार शरीरका प्रवर्तना, शरीर चेष्टाये होना, पद्मासनसे ध्यान लगाकर बैठकर शरीरको निश्चल बनाना आदिक जो शारीरिक पौरुष हैं, चेष्टाये है वह कायकी प्रवृत्ति है और वही स्थिति अन्य प्रकारकी काय चेष्टावोकी निवृत्तिरूप है, सो यह कायगुप्ति कहलाती है। इस प्रकार इस छदमे मुनियोकी गुप्तियोका वर्णन किया गया।

एव चरित्रस्य चरित्रयुक्तैस्त्रयोदशागस्य निवेदितस्य।
व्रतादिभेदेन भवति भेदा सामायिकाद्या पुनरेव पच ॥२३०॥

सम्यक्चारित्रकी त्रयोदशाङ्गता—इस परिच्छेदमे अब तक ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तियोका वर्णन किया गया। इनके मिलनेसे चारित्र १३ प्रकारका हो जाता है। तो यह प्रकार नही है किन्तु अग है। जैसे शरीरके ८ अग कहना तो उचित है मगर शरीरके ८ प्रकार कहना यह उचित नही है, क्योकि अगोके समुदायका नाम शरीर है। ऐसेही १३ प्रकारके जो आचरण है इनके समूहका ही नाम सम्यक्चारित्र है। सो ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तियोके मिलनेसे चारित्र त्रयोदशाग हो जाता है और इस ही त्रयोदशाग चारित्रके ५ भेद अन्य प्रकारसे कहे गए है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र।

पंचाधिका विंशतिरस्तदोषैरुक्ता कषाया. क्षयत शमाद्वा।
तेषा यथाख्यातचरित्रमुक्तं तन्मिश्रतायामितरं चतुष्क ॥२३१॥

सामायिकादि यथाख्यातान्त चारित्रोकी विशेषताका सक्षिप्त दिग्दर्शन—सामायिक आदिक ५ भेदोमे से जो यथाख्यात चारित्र है वह तो इन २५ कषाय दोषोके क्षयसे हुआ। किसीके उपशम होनेसे हुआ। तो यथाख्यातचारित्र कषायरहित आत्मवृत्तिका नाम है और शेषके जो चार चारित्र है वे कषायके क्षयोपशम होनेसे होते है। यथाख्यातचारित्र उपशम श्रेणीमे रहने वाले मुनिजनोके औपशमिक होता है और क्षयक श्रेणोमे रहने वाले श्रवणके क्षायक होता है, पर शेष बचे हुए चार चारित्र कषायके क्षयोपशम होनेसे होते है। इस

जीवमे अनन्त गुण विद्यमान है, जैसे जाननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, फिर अनुभवनेकी शक्ति। इस प्रकार शक्तिके निरखनेसे आत्मामें अनन्त गुण विदित होते है, परन्तु वे अनन्त गुण ज्ञानावरणादिक कर्मोके आवरणको ढक रहे है। तो अब जैसे उन कर्मोंका क्षयोपशम हो तो वे गुण प्रकट हो, क्षय हो तो प्रकट हो, क्षयोपशम हो तो प्रकट हो। तो चारित्र भी आत्माका एक गुण है और उस चारित्र गुणका घात करने वाला चारित्र मोहनीय कर्म है, जिसके २५ भेद होते है। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, जिसके उदयमें सम्यक्त्वका घात और चारित्रका घात होता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदयमे इस जीवके व्रतरूप भाव नही हो पाते। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदयसे जीवके सकल व्रतके भाव नही हो पाते। सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ जिसके उदयसे जीवके यथाख्यात चारित्र प्रकट नही हो पाता। ये १६ तो कषाये है और ९ नोकषाये है। नोकषायका अर्थ है ईसत कषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपु सक वेद। तो इन २५ भेदोके क्षयसे क्षायक यथाख्यात चारित्र होता है और उपशमसे औपशमिक यथाख्यात चारित्र होता है, पर प्रकृतियोके क्षयोपशमसे सामायिक आदिक चार प्रकारके चारित्र प्रकट होते है। जिसके अनन्तानुबधीका उपशम हो, क्षय हो या क्षयोपशमकी विधिमें हो, सम्यक्त्व हो गया है अब अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय इन ८ का क्षयोपशम हो मायने उदयाभावी क्षय और उपशम हो और सज्वलनका उदय हो, ऐसी स्थितिमे अभेद रूप सामायिक चारित्र होता है और अभेद पद्धतिसे उपयोग हो तो छेदोपस्थापना चारित्र होता है। परिहार विशुद्धिके साथ परिहार विशुद्धि चारित्र होता है और एक सज्वलन लोभ शेष रह गया और शेष कषायोका उपशम या क्षय हो गया तो वहाँ सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। तो सूक्ष्मसाम्पराय चारित्रमे उपशम या क्षयकी बात है, पर सज्वलन लोभ कषायका उदय आनेसे वह विधि तो क्षायोपशमिक जैसी बनी। यो शेष चार प्रकारके चारित्रको क्षायोपशमिक कहा गया है।

सद्दर्शनज्ञानफल चरित्र ते तेन हीने भवतो वृथैव।
सूर्यादिसगेन दिवेव नेत्रे नैतत्फल येन वदति सत. ॥२३२॥

चारित्रसे सम्यक्त्वलाभ व ज्ञानलाभकी सफलता—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विषयमें उनकी एकताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन करते है। जैसे सूर्यादिकके प्रकाशके बिना नेत्रोका धारण करना व्यर्थ है, नेत्र तो है देखनेका समर्थन तो है पर है अंधेरा, न सूर्यका

प्रकाश है न दीपक आदिकका प्रकाश है तो नेत्र तो कुछ काम न कर सके, कुछ दीखा ही नही। तो प्रकाशके बिना नेत्रोका धारण करना व्यर्थ है। वहाँ अभीष्ट पदार्थोंका देखना और अभीष्ट स्थान पर पहुँचना नही हो सकता। इसी तरह चारित्रके बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका भी धारण करना व्यर्थ है। व्यर्थ इस दृष्टिसे है कि केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे कभी अभीष्टकी प्राप्ति नही हो पाती। जब चारित्रगुणका विकास हो, जैसा जाना और श्रद्धान किया उस प्रकारसे उपयोग रम जाय निज स्वरूपमे, तो यह स्थिति ही तो सार्थक स्थिति कहलाती है। इसमे किसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो हुआ और सम्यक्‌चारित्र न हुआ तो अभीष्ट अतस्तत्त्व मे रमने और पहुँचनेकी सम्भावना न हुई, इस कारक इसको व्यर्थ कहा गया है। साराश यह है कि चारित्रको अवश्य धारण करना चाहिये क्योकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे जो प्रकाश पाया है उसकी सफलता सम्यक्‌चारित्रसे है। जंसे कि कोई औषधिकी श्रद्धा करे और औषधिका खूब ज्ञान भी रखे कि यह अच्छी औषधि है, इससे रोग दूर होगा तो भी जब तक औषधिको न पीवे तब तक उसका औषधियोका जानना, श्रद्धान करना किस काम का ? ऐसे ही यदि सम्यक्‌-चारित्रकी बात न बने तो कहा गया है कि फिर श्रद्धान और ज्ञान करना व्यर्थ है याने फलवान न हो सका।

कषायमुक्त कथितं चरित्र कषायवृद्धावपघातमेति ।
यदा कषाय शममेति पु सस्तदा चरित्र पुनरेति पूत ॥२३३॥

कषायवृद्धिसे चारित्रविनाश व कषायशमनसे चारित्रविकास—चारित्र कहते हैं कषायके अभावको। आत्मामे कषाये न जगे और अपने सहज ज्ञानस्वरूप अतस्तत्त्वमे रमे वह चारित्र कहलाता है। तो चारित्र कषायके अभाव बिना सम्भव नही है। तो जिस जीवके कषायोका अभाव नही हो पाता उस जोवके कषायोकी वृद्धि होने लगती है, और जब कषाये बढती है, कषायोपर दृष्टि है, लगाव है तो इसका चारित्रगुण भी नष्ट होने लगता है। सो कषायोंका अभाव होनेसे उपयोग शान्त अपने स्वरूपके अनुसार हो जाता है। बस यही आत्माकी पवित्रता है कि इसके कषायभाव न रहे और अपने सहज अन्तस्तत्त्वमे यह मै परम पदार्थ हूँ, ऐसी भावना बने यह ही वास्तवमे चारित्र कहलाता है।

कषायसगौ सहते न वृत्त समार्द्रचक्षुर्न दिन च रेणु ।
कषायसगौ विधुनति तेन चारित्रवतो मुनय सदापि ॥२३४॥

चारित्रपालनके लिये कषायन्यावृत्तिकी अनिवार्यता—जहाँ सम्यक्‌चारित्र होता है

नहीं क्रोधादिक कषायें या धनधान्यादिक बाह्य परिग्रहकी स्थितिको यह ज्ञानी नहीं सह सकता। जैसे कि किसीकी आँख दुखती है, ललाई आदिक होने लगती है तो वह दुःखित आँखोंसे सूर्यका प्रकाश या धूलके कणोको नहीं सह सकता, ऐसे ही चारित्रभाव भी क्रोधादिक कषायोंको और धन-धान्यादिक परिग्रहके कणोको नहीं सह सकता। यदि कषायभाव आ जाय तो चारित्रमे दोष आयगा। कहो कभी चारित्रका घात भी हो जाय। इसी प्रकार धन-धान्यादिक बाह्य परिग्रहोकी मौजूदगी रहे तो वहाँ भी चारित्र नहीं टिक पाता। इस कारण जो सम्यक्चारित्रको निर्दोष रीतिसे पालना चाहते हो वे मुनिजन कषायोको और परिग्रहोको अपने पास न फटकने दे, क्योंकि कषाय होनेसे चारित्रका घात है और परिग्रह होनेसे कषायभाव होनेका साधन है। अतः कल्याणार्थी पुरुषोका कर्तव्य है कि वे अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकारके परिग्रहोंसे दूर रहे।

निःशेषकल्याणविधौ समर्थं यस्यास्ति वृत्तं शशिकातिकातं।
मर्त्यस्य तस्य द्वितयेऽपि लोके न विद्यते काचन जातु भीतिः ॥२३५॥

चारित्रसे सकलकल्याणलाभ—निर्दोष चारित्र पालन करनेसे समस्त कल्याणकी प्राप्ति होती है। ससारमे ऐसा कोई भी दुर्लभ पदार्थ नहीं है जो चारित्रके पालनसे न मिलता हो। बात यहाँ यह समझना कि जिस जीवने अविकार स्वभाव सहज चैतन्य तत्त्वको जाना, उस ही तत्त्वका श्रद्धान किया, उस ही सहज अतस्तत्त्वमे उपयोगको रमाया तो अब उसे चाहिए क्या? संसारका कोई भी बाह्य परिग्रह कण उनकी चाह कोटिसे बाहर है। तो जहाँ कुछ भी चाह नहीं है वहाँ सब कुछ हो मिला समझियेगा। तो सब कुछ चारित्रभावसे ही प्राप्त होता है, यह जानकर चन्द्रज्योत्स्नाके समान स्वच्छ चारित्रको धारण करने वाले जो लोग होते है वे ही इहलोक और परलोक दोनोमे निर्भय सुखको प्राप्त करते है। आत्मा पर विपत्ति है तो यही है कि अपने स्वभावमे नहीं रम पाते। सो स्वभावमे जो रम सके उसके लिए कोई कष्ट और सकट होते ही नहीं है। सो चारित्रधारी इहलोक और परलोक दोनोमे भयरहित, बाधारहित आत्मीय आनन्दको प्राप्त करते है।

न चक्रनाथस्य न नाकिराजो न भोगभूजस्य न नागराजः।
आत्मस्थि[illegible] शाश्वतमस्तदोषं यत्सयतस्यास्ति सुखं विबाधं ॥२३६॥

चारित्रसे अलौकिक आनन्दका अनुभव—सयमी पुरुषके जो आनन्द उत्पन्न होता है वह आनन्द चक्रवर्तीको प्राप्त नहीं है क्योंकि चक्रवर्तीकी दृष्टि तो बाह्य पदार्थोमे चाह

कितना ही सयोग मिला हो, छह खण्डका राज्य मिला है मगर जिसकी दृष्टि परकी ओ है उसको आनन्द कैसे कहा जा सकता है ? वहाँ तो क्षोभ ही है। तो सयमी जीवके व आनन्द होता है उसके सामने नागेन्द्र या स्वर्गोके इन्द्रकी सम्पत्ति भी तुच्छ है। आखि वह पौद्‌गलिक ढेर ही तो है। किसी भी बाह्य पदार्थसे आत्मतत्त्वमे कुछ कष्टकी बात न हो सकती। सो इन्द्रके वैभवमे भी वह आनन्द नही है जो सयमी जीवोमे पाया जाता है संयमी जीवोके आनन्दको कोई भोग भूमिया जीव पा नही सकता। भोग भूमिया मनु भोगकी स्थितिमे ही तो रमा करते है। सुख पा रहे मगर उस सुखकी कीमत क्या ? पीछ भी क्षोभ हो रहा है और उसके फलमे ससारके दु ख ही भोगने पड़ेगे। तो भोग भूमिके सुख सयमी जनोके आनन्दकी तुलना नही कर सकते। क्योकि अन्य सुख इस आनन्दकी तुलना नही कर पाते कि यह आनन्द स्वमे स्वके उपयुक्त रहनेसे प्रकट होता है, पराधीन नही है यह आनन्द। जब ही दृष्टिकी, जब ही अपने स्वरूपको देखा तब ही वह आनन्द इस सयमीको प्राप्त होता है। कल्याणार्थी जीवका कर्तव्य है कि बाह्य पदार्थोको तुच्छ समझे और अपने आपकी दृष्टिसे बने तब वह आनन्द प्राप्त हो। आत्मा पवित्र बने तो यह उनके कल्याणकी बात है। ये मायामयी जगतके मायामयी लोग मेरा क्या सुधार कर सकेंगे जिनके लिए यश चाहने वाले लोग नाना प्रकारकी कीर्तिकी चेष्टाये करते हैं। कोई दूसरा इस आत्माको कुछ भी देनेमे समर्थ नही है। यह ही आत्मा अपने सहज स्वरूपको सम्हाले तो उसे आनन्द प्राप्त होता है।

निवृत्तलोकव्यवहारवृत्ति सन्तोषवानस्तसमस्तदोषः।
यत्सौख्यमाप्नोति गतातराय किं तस्य लेशोऽपि सरागचित्त ॥२३७॥

चारित्रलभ्य आनन्दकी सरागचित्त द्वारा अलभ्यता—जो पुरुष जो साधक सासारिक समस्त व्यवहारोसे अपनी वृत्ति हटा लेता है, व्यवहारमे नही जगता, व्यवहारमे दृष्टि होने पर केवल आकुलता और भावोकी परतन्त्रता ही चलती है। साधक वही है, मुनि वही है जो सासारिक समस्त व्यवहारोसे अपनी वृत्ति हटा लेता है। कल्याणार्थी पुरुष ज्ञानीजन ऐसे ही साधकोकी उपासनामे रहते है। जो लोग जगतके व्यवहारमे ही प्रेम किए हुए हैं उन साधक जनोसे ज्ञानीजन क्या बोलेंगे ? ससारकी निवृत्तिका कोई दूसरा आदर्श न मिलेगा। वास्तविक आदर्श वही है जो सासारिक व्यवहारोसे अपनी दृष्टि हटा लेता है और इस कारण जो सतुष्ट रहता है, जिसने समस्त दोषोको नष्ट कर सतोष प्राप्त कर लिया है वह पुरुष जितना निराबाध सुख प्राप्त करता है उसका हजारवाँ हिस्सा भी रागी

पुरुष प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मदृष्टिसे, आत्माश्रयसे स्वाधीन होने वाला आनन्द वास्तविक आनन्द है, और जिन सुखोमे अनेक बाह्य पदार्थोकी अपेक्षा रखनी पड़ती है, वे सुख वास्तवमें सुख ही नही है।

ससंशयं नश्वरमंतदु खं सरागचित्तस्य जनस्य सौख्यं।
तदन्यथा रागविवर्जितस्य तेनेह सतो न भजति रागं ॥२३८॥

सरागके सुखमें और विरागके सुखमे अन्तर—जो मनुष्य ज्ञान सहित है वे विनाशीक सुखका अनुभव करते है, जिनका चित्त रागमें ही है, राग ही जिनको सुहाता है, रागमे ही जो विश्राम पाते है वे पुरुष राग रहित आत्माके स्वभावको क्या जानेगे ? जब राग रहित आत्माके स्वभावको जान न सके तो वास्तविक आनन्दका अनुभव क्या करेंगे ? वे तो कल्पनाजन्य इन्द्रिय सुखोमे ही सुख पानेका अनुभव करते है। ये इन्द्रिय सुख विनाशीक हैं, क्योकि सुखके आधारभूत, आश्रयभूत बाह्य पदार्थ सदा नही रहते, इनका चित्त भी स्थिर नही रहता, इस कारण ये सब विनाशीक हैं। इन्द्रिय सुख अन्तमे नियमसे फल देने वाले हैं। जैसे कि यही अनुभव होता है कि विषय सुखोको भोगना है तो उसके फलमें पछतावा होता है, निर्बलता होती है, शारीरिक सकट आते हैं, व्याधियाँ होती हैं, कोई अच्छा फल नही निकलता। फिर पापका जो बध किया उसके फलमे अगले भवमें खोटी दशाये पाते है। ये इन्द्रिय सुख अन्तराय सहित है। जिस वस्तुको भोग रहे है वह वस्तु बिगड़ जाय, न रहे, उसे कोई छीन ले यह भी अन्तराय है अथवा भोगने वाली इन्द्रिय बिगड जाय वह भी अन्तराय है, या चित्त उस ओर न रहे, बिगड जाय तो वह भी अन्तराय है। पापका उदय आनेसे अनेक ऐसे अन्तराय आते है, तो इन्द्रिय सुखमे अन्तराय बहुत पड़े हुए है। ऐसे सुखोका अनुभव रागी जीव किया करते है, किन्तु जो विरागी पुरुष है, जिनका रागमे चित्त नही है वे अविनाशी सुखका भोग करते है। आत्मा स्वय सुखमय है और सुख स्वरूप आत्मा दृष्टिमे आये, अन्य कोई दृष्टिमे न रहे तो वहाँ जो आनन्द मिलता है वह अविनाशी आनन्द है, खुद सदा रहता है तो आश्रयभूत स्व कही जा नही सकता। अतएव इस ओरसे देखे तो आनन्द सदा रहना चाहिये। आत्माकी दृष्टि शुद्ध होने पर, राग रहित होने पर स्थिर ही रहता है। अस्थिरताका कारण तो रागद्वेष मोह है। तो विराग पुरुषकी दृष्टिमे स्थिरता रहती है, इस कारण आत्मीय सुख अविनाशी सुख है। यह आत्मीय आनन्द स्वभावतः उत्पन्न होता है। इसमे कर्मोदय आदिककी आवश्यकता नही होती है। अनैमित्तिक आनन्द है, इस कारण सदैव रहा करता है। तो आत्मीय आन--

नित्य है और सदा मधुर है। जिस समय आनन्द भोग रहे उस समय भी अलौकिक आनन्द आ रहा, परम आह्लाद भी अनुभव हो रहा और उसके फलमे यही आनन्द मिलेगा। कोई कर्मबध न होगा, कोई अतरायकी बात नही आ सकती। ये सदा मधुर है और आत्मीय आनन्दमे कोई अन्तराय भी नही आता। अन्तराय उसे कहेगे कि जो पराधीन सुख है और परका वियोग हुआ तो वह अन्तराय वाला बन गया। अब यहाँ स्वका ही तो आनन्द अनुभव रहा। स्वकी दृष्टि ही आनन्दको भोगती है और यह सब स्वाभाविक है। सदैव रहता है तो इस आनन्दमे क्या अन्तराय आयगा। इस कारण जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, हित अहितके जानकर है वे रागद्वेष मोहसे सदैव दूर रहा करते हैं।

विनिर्मल पार्वणचद्रकात यस्मास्ति चारित्रमसौ गुणज्ञ. ।
मानी कुलीनो जगतोऽभिगम्य कृतार्थजन्मा महनीयबुद्धि ॥२३९॥

निर्मल चारित्रवान पुरुषकी सम्माननीयता—जिस पुरुषका चरित्र पूर्णमासीके चन्द्रकी तरह कान्त है, निर्मल है वही वास्तवमे मानी पुरुष है। यहाँ मानीका अर्थ घमड करने वाला नही किन्तु जगतके द्वारा मान्य है। जिसको लोग गौरवके साथ देखते है, जिसका नाम गौरवके साथ लेते है ऐसा श्रेष्ठ पुरुष है वह जिसका चरित्र निर्मल है। चारित्रकी निर्मलता रागद्वेषके दूर होनेसे होती है, क्योकि जो भी पाप बँधते है या इन्द्रिय विषयोमे कुछ भी प्रवृत्ति जगती है तो उसका कारण है राग और द्वेष। तो जहाँ राग और द्वेष नही रहा, वहाँ चारित्र निर्मल होता है। तो ऐसा निर्दोष चारित्र वाला पुरुष ही इस जगतमे मान्य है और वही कुलीन है। श्रेष्ठ कुलमे उत्पन्न होनेको कुलीन कहते है। आत्माका श्रेष्ठ [illegible]ा है चेतन। अरहत भगवान इस विशुद्ध चैतन्यस्वरूपमे ही रम रहे है, इसी कारण ही [illegible]ो सर्वोत्कृष्ट हैं। तो वही वास्तवमें कुलीन पुरुष है जिसका चारित्र निर्मल होता है, श्रेष्ठ पुरुष भी वही है जिसका चारित्र निर्दोष है। लोग श्रेष्ठ चारित्र वाले पुरुषकी ही प्रशसा करते है और वही वास्तवमे श्रेष्ठ समझा जाता है। तो निर्मल चारित्र वाला पुरुष जगतमे श्रेष्ठ है और उस ही का जन्म कृतार्थ है याने जन्म सफल होगा। जगतमे ये जीव अनादि कालसे रागद्वेषवश परवस्तुवोमें ही रमते चले आये है। यह जीवके लिए बडा कलक है। जीव स्वयं तो ज्ञानानन्दस्वरूप है और परवस्तुमे बुद्धि अटकनेसे न ज्ञानका विकास चल रहा, न आनन्दगुणका शुद्ध परिणमन चल रहा। तो जो भी इस रागद्वेषमे जानकारी है, प्रवृत्ति है वह सब इस जीवके लिए कलंक है। तो ऐसा कलंक भव भवमे लगाता चला आया है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन चार सज्ञावोके वश होकर दु.खी होता चला आया है तो उस

जन्मकी क्या कृतार्थता है ? उस जन्मकी कृतार्थता है जिसमे यह जीव समस्त बाह्य पदार्थोंसे चित्त हटाकर केवल शाश्वत सहज स्वरूपमे ही चित्त रमे वही पुरुष वास्तवमे श्रेष्ठ है और उस ही का जन्म सफल समझा जाता है। ऐसे ही पुरुषकी बुद्धि सम्माननीय है जिसका चित्त वैराग्यकी ओर जाय।

गर्भे विलीन वरमत्र मातु. प्रसूतिकालेऽपि वर विनाशः।
असंभवो वा वरमग भाजो न जीवितं चारुचरित्रमुक्त ॥२४०॥

चारित्रहीनों के जीवनकी निन्द्यता—जो पुरुष निर्दोष चारित्रसे रहित है याने दुराचारी है, पापोमे जिनकी बुद्धि फसी हे उनका जीवन निन्द्यनीय है। जिन्होने जन्म लेकर किशोर, युवक बनकर खोटे विषयोमे प्रवृत्ति डाली है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह इनमे ही जो रम रहे है और इनके लिए निन्द्यसे निन्द्य कार्य कर बैठते है, उनका जीवन क्या जीवन हे ? निन्द्यनीय जीवन है, बेकार जीवन है और उनके विषयमें आचार्य कहते है कि वे यदि अपनी माताके गर्भमे ही विलीन हो जाते तो उत्पन्न होते ही मर जाते तो वह अच्छा था क्योकि इस जीवनसे लाभ उन्हे क्या मिला या बाहर निकलकर ही मर जाते अथवा इस पर्यायमे ही पैदा न होते तो अच्छा था। मर जाना या मनुष्य पर्यायमे न होना यह तो किसी कदर अच्छा है क्योकि इसने मनुष्य पर्याय न पायी। इस कारण कोई तपश्चरण आदिक न कर सके, यह कहनेके लिए तो रहा या यह बात तो रही कि वेचारा यह चौइन्द्रिय जीव, एकेन्द्रिय जीव क्या करे ? उसका उदय ही ऐसा है, भव ही ऐसा है कि न सयमकी योग्यता है, न आत्मीय आनन्दकी पात्रता है तो उसको तो यो ही टल जायेगा, पर जो मनुष्य होकर ऊधमी बने, स्वच्छंद विषयोमे रमण करने वाला बने, चोर, डाकू, वेश्यागामी, शराबी, मासभक्षी अनेकोको धोखा देने वाला, दिन दहाडे लूटने वाला, जिस चाहेको मारने पीटने वाला, ऐसा कोई उपद्रवी बन जाय तो उसके लिए धिक्कार है कि ऐसा श्रेष्ठ समागम पाया था तिस पर भी कुबुद्धिसे यह खोटे पथमे चला गया। उसके लिए कह रहे है कि वह इस पर्यायमे पैदा ही न होता या गर्भमे या बाहर निकलते ही मर गया होता तो यह अपेक्षाकृत अच्छा है उससे कि मनुष्य जीवन पाया और अनेक तरहके पाप किया। तो जिसने श्रेष्ठ इस मनुष्य पर्यायको पाकर चारित्र धारण नही किया उसको मनुष्य पर्यायका पाना सर्वथा निरर्थक है।

निरस्तभूषोऽपि यथा विभाति पवित्र चारित्रविभूषितात्मा।
अनेक भूषाभिरलकृतोऽपि विमुक्तवृत्तो न तथा मनुष्य. ॥२४१॥

निर्दोष चारित्रवानकी सहज शोभा—वास्तविक श्रंगार है इस मनुष्यका तो निर्दोष चारित्र श्रंगार है। दुनियाके चित्तमें आदरके योग्य यदि कोई बात है, किसी पुरुषके सम्बन्धमे तो वह उसका निर्दोष चारित्र ही है। तो निर्दोष चारित्रसे सहित पुरुष चाहे भूषणोसे रहित हो, कैसे ही शरीर वाला हो उस पुरुषकी शोभा होती है, वैसी शोभा नाना प्रकारके आभूषणोसे सुसज्जित चारित्रहीन पुरुषोकी नही हो सकती। इसलिए जो सोना चांदी आदिक गहने हैं वे सब पार्थिव भूषण है, उनसे आत्माका क्या श्रंगार बनता है? चारित्र उत्तम हो, निर्मल हो, दया आदिकसे विभूषित हो वह पुरुष श्रंगार रहित हो तो भी वह श्रंगार सहित है। उत्तम श्रंगार उसके भीतरकी दृष्टिका बना हुआ है। तो आभूषण रहित भी पवित्र चारित्रसे विभूषित आत्मा जैसे शोभित होता है वैसे अनेक *आवरणोसे अलकृत चारित्रहीन पुरुष शोभाको प्राप्त नही हो सकता।*

सद्दर्शनज्ञानतपोदयाद्याश्चारित्र भाज सफला समस्ता ।
व्यर्थाश्चरित्रेण बिना भवति ज्ञात्वहे सततश्चरिते यतते ।।२४२।।

चारित्रके सम्पर्कसे सर्वगुणोंकी महनीयता—अहिसा आदिक तपश्चरणोसे सयुक्त पुरुष त्रयोदशाग चारित्रके धारण करने वाले पुरुषके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, रमण, शान्ति आदिक समस्त गुण सफल है। चारित्रके रहने पर सर्व गुणोका श्रंगार बढ जाता है, किन्तु जो चारित्रसे रहित है उनके वे सारे गुण निरर्थक है। कोई पुरुष परस्त्री लम्पटी है, शराब खोर है, मास भक्षी है दुनियाको सताने वाला है, चारित्रहीन है। उस पुरुषमे यदि कोई गुण हो, कोई कला विशेष हो तो भी वह व्यर्थ है। वह कोई सफल नही कहलाता। उन गुणोके कारण उनकी शोभा लोकमे नही हो पाती और जो चारित्रसे रहते है उनके सारे गुण निरर्थक है लेकिन जो अहिंसक है वे सदा सत्य बोलने वाले है। किसी भी वस्तु पर कभी भी चित्त नही डिगाते है, पर स्त्रीके प्रति माता, बहिन पुत्रीके समान दृष्टि रहती है, उनके प्रति स्वप्नमे भी कामवासना नही जगती। जो तृष्णा रहित है, जो श्रमण ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति इन १३ प्रकारके अंगो सहित चारित्रके धारण करने वाले है उनके सम्यक्त्वकी बड़ी शोभा है। लोग कह उठते है कि जैसी आस्था है वैसा ही करके दिखाया है। उनके ज्ञानकी बडी शोभा है। वे तपश्चरण करे, इन्द्रियका दमन करें, वे भी बडे सफल हैं। तो चारित्रके होने पर समस्त गुण फल वाले बनते है, इस कारण जो विवेकी पुरुष है वे हमेशा चारित्र धारण करनेका प्रयत्न करते है।

१०. जातिनिरूपण

अनेकमलसभवेकृमिकुलै सदा सकुलेविचित्र बहुवेदने बुधविनिदिते दुःसहे ।
भ्रमन्नयमनारत व्यसनसङ्कटे देहवान् पुराजितवशो भवेभवति भामिनीगर्भके ।।२४३।।

जीवपर अनादिसे जन्मसंकट—ये प्राणी पूर्वोपार्जित कर्मोके वशसे नाना दु खोसे परिपूर्ण योनियोमे भ्रमण करते करते स्त्रीके महा निन्द्यनीय अनेक मलोसे उत्पन्न कीड़ावोके समूहसे व्याप्त गर्भाशयमे देह धारण करते है और वहाँ विचित्र दु सह वेदनाये भोगते है। इस परिच्छेद में पाये हुए जन्मकी चर्चा की जा रही है। ये प्राणी अनादि कालसे अपने कमाये हुए कर्मोके उदयके अनुसार नाना दु खोसे भरी योनियोमे भ्रमण करते चले आये है। अनन्त काल तो उन्हे निगोदमे बीता जहाँ एक श्वासमे १८ बार जन्म मरण करना पडा। इसीमे अनन्त काल खो दिया। सुयोगसे वहाँसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति हुए। ये निगोद साधारण वनस्पति कहलाते। अब यहाँ प्रत्येक वनस्पति तक बने लेकिन वहाँ भी कितना दु ख है। काटना, छेदना, भूनना, फलोका मसलना आदि कितनी ही प्रकारके दु ख है। उन्हे भी यह जीव सहता आया। वहाँसे कुछ विकास हुआ तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय आदिक हुआ। वहाँ भी अनेक दु ख कैसा रहने लगे, उन कीडो मकोडोको यो ही सता डालते है, अन्य पशु पक्षी आदिक यो ही खा डालते है तो वहाँ भी वडा कठिन दु.ख भोगा। पशु पक्षी आदिक हुए तो सर्वत्र दु ख ही दु ख भोगा। अब कुछ सुयोगसे मनुष्य जन्ममे आता है, तो कहाँ तक देह धारण किया यह बात इस छदमे बतायी गई है। गर्भाशयमे देह धारण करता है जहाँ अनेक मल भरे पडे है। कीड़ोके समूहसे व्याप्त है, महानिन्द्यनीय है, जिसमे रहना एक घबड़ाहट जैसी ही जगह है, पर उस गर्भाशय मे वह रहता है, नाना दु सह वेदनाये सहता है। बताते है कि गर्भाशयमे यह बालक औधे मुख लटके रहता है। शरीर उसका फसा रहता है। परस्पर मिला रहता है। गर्भाशय ही तो है। तो ऐसे अनेक दु ख यह जीव गर्भमे रहकर भोगता है।

शरीरसुखावह विविधदोषवर्चोगृह सशुक्ररुधिरोद्भव भवभृता भवे भ्राम्यते ।
प्रगृह्य मनसततेर्विदधता निमित्ता सरागमनसा सुख प्रचुरमिच्छता तत्कृते ।।२४४।।

क्लेशनिदान शरीरकी रुचिसे जीवोकी जन्मव्यसनसतति—यह शरीर दुःखका देने वाला है। शरीर भिन्न वस्तु है। इस पुद्गलसे आत्माका क्या नाता है? कहाँ तो यह

चैतन्यमात्र वस्तु और कहाँ यह शरीर पौद्गलिक घिनावना। इस शरीरका सम्बन्ध नाना दुःखोका उत्पादक है। व्याधियाँ शरीरसे होती है। मान अपमानकी बुद्धि यह जीव शरीरके कारण करता है, जब शरीरको समझा कि मैं हूं तब यह कल्पना जगती कि इस मनुष्यने मुझको गाली दी है। कोई यदि शुद्ध चैतन्यमात्र आत्माको समझे कि मै यह हूँ जो अमूर्त है, केवल चित्प्रतिभास मात्र है, ऐसा समझने वालेके हृदयमे यह बात न आयगी कि इसने मुझको कुछ कहा। तो मान अपमान इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग आदिक जितने है वे सब शरीरके कारणसे है। किसी शरीरधारीने किसी शरीरधारीसे इष्ट अनिष्ट सम्बन्ध मान लिया जिससे वह कष्ट पाता है। तो जितने भी दुःख है वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। सो शरीर दुःख ही देने वाला है। इस कारण जो विवेकी पुरुष है वह एक ही निर्णय रखता है कि मुझको तो शरीर रहित होना है। शरीरको बराबर लिपटाये रहनेसे इस मुझ आत्माको क्या लाभ है? कष्ट ही कष्ट पाया जा रहा है। तो आत्मा जैसा अपने आपमे अमूर्त शुद्ध चैतन्यस्वरूपसे है उस रूपमे अपने आपको पाये, यह विवेकीका पौरुष होता है। तो यह शरीर दुःखका उत्पन्न करने वाला है। यह शरीर नाना दोष और मल मूत्रका घर है। इस शरीरमे है क्या? इसे आँखो देख सकते है। चमडा, हड्डी, खून, मल मूत्र आदि अपवित्र वस्तुवोका ही तो यह भण्डार है, जिसे देखकर यह जीव निरख रहा है कि देह कितना अपवित्र है। ऐसे अपवित्र देहसे रुचि बने यह जीवके लिए कितना बडा कलक है। तो महान विषका ऐसा ही प्रभाव है कि यह अपने सहज स्वरूपकी हत्या करता चला जा रहा है। अपने प्रभु स्वरूपकी सुध नही लेता तो यह शरीर नाना दोषोका घर है। जगतकी जो अधिकसे अधिक गदी वस्तुवे है वे सब वस्तुवे इस शरीरमे पायी जाती है। तो इस शरीरको देखकर जो जीव प्रेम करते है, सुहा जाते हैं, कैसा रूप है, कैसा आकार है, इस तरह जिनके चित्तमे कल्पनाये उठती है उनपर मोहका विष चढता है और वे अपने इस दुर्लभ जीवनको व्यर्थ खो रहे है। यह देह उत्पन्न भी तो रज वीर्यसे हुआ है। जो अपवित्र है, गदी चीज है, जिसका छूना, देखना भी एक घृणाको उत्पन्न करता है, ऐसी घृणित वस्तुसे इस जीवका देह उत्पन्न हुआ है, ऐसा कठिन दुःखदायी यह शरीर है, मगर उसके प्रेममे अधा होकर इस देहके सुखके लिए यह जीव नाना प्रकारके उपायो को रचता है। रात दिन मोही जीवोकी धुन इस शरीरके पालनके लिए रहती है। कैसा सुन्दर बढिया खाना होना चाहिए। स्पर्शन इन्द्रियका भी सुख, स्त्री सुख, प्रेमवार्ता, राग भरी बातोमे रमण करना, ये सारी स्वच्छदतायें यह प्रेम मे अधा हुआ पुरुष कर रहा है। देहके आसक्त

जीव इस देहसे काम नही लेना चाहते। इस देहको आराममे रखना पसन्द करते है, कैसे कैसे ठाठ, कमरेकी सजावट, कुर्सी, पलग, देहको निरखकर कैसा अपने आपमे घमड करते है। मै इन लोगोमे सबसे ऊँचा हूँ आदिक ऐसी ही अवस्थाये बताते है। सो यह जीव जन्म-मरणके कारणोका ही सग्रह कर रहा है। सो देहमे आसक्त हुआ यह जीव चिरकाल तक ससारमे भ्रमण करता है।

किमस्य सुखमादितो भवति देहिनो गर्भके किमगलभक्षण प्रभृतिदूषिते शैशवे ।
किमगज कृतासुखव्यसनपीडिते यौवने किमगगुणमर्दनक्षमजराहते वार्धके ॥२४५॥

जीवनमें प्रारम्भसे अन्त तक क्लेश—इस मनुष्य जीवनमे अथवा किसी भी जीवनमे इन प्राणियोको किसी भी अवस्थामे सुख नही मिलता। एक मनुष्य की ही बात देख लो जब वह गर्भमे रहता है तब तो अगके सिकुडनेसे गर्भमे ही बडे दुख पा रहा है, अग सिकुड़कर पडा रहा, अग फैलानेका अवकाश नही, ऐसी स्थितिमे बड़ा कठिन दुख होता है। जब वह लडका बाहर निकलता है तब अबोधसा होता। कहो वह अपना ही मल या दूसरेका मल हाथसे उठाकर अपने मुखमे रख ले। कितनी ही तकलीफे उठाता रहता है। कुछ और बडा हुआ तो बचपनके, किशोर अवस्थाके बडे-बडे दुःख है, जिसे प्रायः सभी लोग अनुभव कर चुके हैं। अपनी युवावस्थामे यह प्रवेश करता है तो कामजन्य पीडावोसे पीडित रहता है, जब वृद्ध हो जाता है तो शरीरकी कान्ति नष्ट हो जानेसे दुख भोगता है। तो एक मनुष्यकी ही क्या कहानी है? मनुष्यको सब अवस्थावोमे दुख भोगना पडता, ऐसे ही सभी गतियोमे इस जीवको बहुत कठिन दुख भोगना पडता है। तो इस जाति अतिरिक्त जन्ममे कहाँ कल्याण रखा है? जन्मरहित अवस्था ही इस जीवका कल्याण रूप होता है।

किमत्र विरसे सुखं दयितकामिनी सेवने किमन्यजन दुर्लभे द्रविण सचये नश्वरे ।
किमस्ति भुवि भगुरे तनयदर्शने वा भये यतोऽत्र गतचेतसा तनुमता रतिर्वध्यते ॥२४६॥

जीवोंका निःसार समागमोमे प्रेम होनेसे संसारमे ससरण—इस लोकमे किस जगह सुख तलाशा जाय? रसहीन, जहाँ आत्माका रस नही है ऐसे जगतके सारे कल्पित सुख ये सब क्षोभसे भरे हुए है। सुन्दर स्त्रियोके सेवन करनेसे यह कामी सुख मानता है जो कि एक कलक है। कहाँ तो ज्ञानमात्र अमूर्त परमात्मस्वरूपके समान आत्मा और कहाँ इसकी दृष्टि गई, कहाँ उपयोग फँसा और कहाँ गन्दे कार्योमे लग गया। इसके अतिरिक्त उन्हीं

कल्पित सुखोमे अन्तमे अवश्य ही दु ख उठाना पडता है। अनेक मनुष्य बडे यत्नोसे कठिनता पूर्वक धनका स चय कर लेते है और उसमे सुख मानते है, पर वहाँ भी सुख कहाँ ? तो वे धन समागम सब विनश्वर और क्षमःशील है। करोडोका भी धन सचित हो जाय लेकिन उससे इस जीवनमे भी सुख नही मिल पाता। अनेक चिन्तायें, अनेक शल्य अनेक उपसर्गोका सामना करना पडता, कही डाकू लोग धन हर ले गए, कही चोर चुरा ले गए, कही अनेक अफसर लोग सताने लगे, कही राजा छीनने लगे, यो अनेक दु ख है, ये सब दु ख हुए तृष्णाके कारण। जीवित अवस्थामे भी इस धनका वियोग अनेक कारणोसे हो सकता, नही तो मरने पर तो सब धन छूट ही जाता है। तो धन सचयसे भी सुख नही है, क्योकि वह भी अन्तमे विनाशशील होनेसे दु खदायी है। अनेक लोग पुत्रके उत्पन्न होनेमे सुख समझते है, पर वह काहे का सुख ? पुत्र है क्या ? अशुद्ध जीव। अनेक गतियोमे जन्म ले लेकर, अनेक योनियोमे परिभ्रमण कर अपनी करतूतके अनुसार इस घरमे जन्म लिया है। है तो भिन्न जीव और वह अपने कर्मानुसार ही अपनी अवस्थाये बना रहा। उसमे किसी दूसरेका कुछ प्रवेश नही है, फिर अन्तमे वह भी विनाशीक है। या तो पहले पिता गुजर गया तो पुत्रको वियोग हुआ, या पहले पुत्र गुजर गया तो पिताको वियोग हुआ, फिर भी कैसा आश्चर्य है कि यह उन वियोग होने वाली वस्तुवोसे ही प्रेम करता है और यह भगवान आत्मा अपने सहज आनन्द विलासको तजकर पराधीन सुखोमे रमकर व्यग्र रहता है, यत्र तत्र डोलता फिरता है। इसको कही ठिकाना नही मिल पाता।

गतिर्विगलिता वपु परिणत हृषीक मित कुल नियम्ति भवोपि कलित सुख समित।
परिभ्रमकृता भवे भवभृना छटीयंत्रवद्भव स्थितिरिय सदा परिमिताप्यनता कृता॥
२४७॥

जीवका मोहमे जन्मसंततिका अपरिमित कर डालना—यह जीव जो कुछ प्राप्त करता है वह सब परिमित है। यह जीवन भी परिमित है, जिस गतिमे उत्पन्न हुआ उस भव तक हो वह गति है। यह शरीर एकदम बदलता रहता है। क्या पता कि 'यह कितने दिन जीवित रहे। मरण कर गया, शरीर छूट गया, लोगोने इस शरीरको जला डाला। जो शरीर जल जाने वाला है उससे मोह करते हुए इस भगवान आत्माको लाज नही आती। तो शरीर भी किसका कब रहता है ? विनाशीक है। इन्द्रियाँ मिली तो प्रथम तो यह ही देखे कि कैसी अटपट रचना जीवोको पायी जा रही है, हाथीके पैर, हाथीको नाक, मुख, कानकी कैसी रचना है। पक्षियोके पैर, पक्षियोके हाथ, पर बन गए। कैसी नाक है, कैसे

कान है, भिन्न-भिन्न ढगके जीव इस इन्द्रिय रचनामे आते है। प्रथम तो यह ही एक बहुत विडम्बना है जैसा कि दीख रहा है। फिर ये इन्द्रियाँ भी किसको सदा काम देती रही ? मरने पर तो वियोग हो ही जाता। पर कुछ द्रव्येन्द्रियाँ तो इस जीवके जीवनमे ही खतम हो जाती। उनका काम बंद हो जाता है। ये इन्द्रियाँ विनश्वर है। कुल—कोई किसी कुलमे उत्पन्न हुआ, आजकल तो कुलके नामपर लोग दूसरोसे घृणा करते है और ये ही मरकर उससे भी नीच कुलमे उत्पन्न हो जाये तो वे क्या करे ? कहाँ छोडकर जाये ? तो यह कुल यह सब विनाशीक है, परिमित है। जन्म—कही जन्म हुआ, किसी भवमे कितना जीवन रहा, सुख भी परिमित है, सुखके कैसे कैसे ढग, नई नई विधियाँ, व्यवस्था, कैसी-कैसी कल्पनामे कौन-कौन सुख मान रहे है, किन्तु ये सब परिमित है, लेकिन इस जीवने लगातार यह ही यह पा पाकर अरहटके समान इनको अनन्त कर डाला है। जैसे अरहटकी घडियाँ जुदी-जुदी है। दो-दो घडियाँ प्रत्येक घडीमे आती है मगर वे चलती ही रहती है। एक दिनमे हजारो बार वे घडियाँ पानी ला लाकर बाहर फेकती। यही परम्परा बराबर बनी रहती है। ऐसे ही इस जीवके इन सब बातोकी परम्परा बन रही और उन्हे इसने अनन्त कर डाला। अरहटकी घडियाँ कभी ऊपर आती, कभी नीचे, एक समान नही स्थिर रहती, ऐसे ही ससारमे घूमता हुआ यह जीव कभी किसी योनिमे पहुँचता कभी किसीमे, सदा एक समान तो नही रहता। इस संसारमे नाना भवोमे भ्रमण करते हुए इस जीवको शरीर, गति, इन्द्रिय आदिक वस्तुवे परिमित मिली है, परन्तु इसने तृष्णावश अपरिमित कर डाला, अथवा अनन्त भोगो को इसने भोगा, पर मोहवश यह जीव इस ससारमे घूमता रहता है, फिर इसने अनन्त जीवन दुर्दशामे ही व्यतीत कर डाला।

> तदस्ति न वपुर्भृता यदिह नोपमुक्तं सुख न सा गतिरनेकधा गतवता न या गाहिता.।
> न ता नरपतिश्रिय परिचिता न या. संसृतौ न सोऽस्ति विषयो न य परिचित सदा देहिना ॥२४८॥

अज्ञानमे जीवका सर्वत्र भवधारण—इस ससार चक्रमे घूमते हुए इस जीवको सारे इन्द्रियके सुख भोग डाला। कोई इन्द्रियके सुख नही बचे जो इसने बार-बार न भोगा हो, न कोई गति योनि बची ऐसी जिसे अनेक बार इसने न पायी हो, न कोई सम्पत्ति बची ऐसी कि जिसको इसने अनेक बार भोगा न हो, न कोई क्षेत्र ही छूटा ऐसा कि जहाँ इसने अनेक बार जन्म-मरण न किया हो। इस जीवको इन्द्रिय सुखोमे बडा व्यामोह रहता है, पर जो इन्द्रियसुख बार-बार भोगे गए उनमे पुद्गल ही तो भोगे गये। बार-बार भोगे गये पुद्गल

कितनी बार के जूठे है। इन जूठे भोग साधनोमे इसकी प्रीति जग रही है और पवित्र ज्ञानानन्द धाम निज स्वरूपमे इसकी दृष्टि नही जमती। यह जीव किसी पुत्रादिकके जन्म होने में सुख मानता है, पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ ऐसा कहकर बडे गाजे-बाजे बजवाकर जन्मोत्सवकी खुशियाँ मनाते है। उसके जन्ममे लोग सुख मानते है, पर वे जन्म तो अनन्त बार हुए, फिर मरे, फिर जन्मे, उसका भी कौनसा सुख है ? जन्म न हो तो इस जीवका आनन्द रहेगा। समस्त दुखोकी जड तो जन्म है। शरीर मिला, शरीर बन्धन मिला, अनेक सकट आने लगे। तो जन्म कोई कल्याणकी चीज नही। लोग सम्पत्तिमे मोह करते, पर कौनसी पुद्गल सम्पत्ति जुड जानेपर इस जीवको शान्ति मिली अब तक सो तो बताओ ? अरे अब तक न जाने कितनी ही सम्पत्ति इस जीवने पाया, कितने ही भोग भोग पर यह उनमे कभी तृप्त न हुआ। तो कोई भी इन्द्रिय सुख इस जीवको ऐसा नही बचा जिसे अनन्ते बार न भोगा हो, फिर भी इसको कभी शान्ति न प्राप्त हुई।

> इद स्वजन देहजातनयमातृभार्यामिय विचित्रमिह केनचिद्र-चितमिद्रजाल ननु।
> क्व कस्य कथमत्र को भवति तत्त्वतो देहिन स्वकर्मवशवर्तिनस्त्रिभुवने निजो वा पर ॥
> २४६॥

जीवो द्वारा अकेले अकेले ही घोर दुःखोका सहन—इस लोकमें यह जीव कर्मबधन बद्ध हीन होते हुए कर्म विपाकसे पीडित होकर अकेला ही नाना दु.खोको भोगता रहता है। उन दु खोके भोगनेमे उनके माता, पिता, बहिन, स्त्री, पुत्रादिक कोई भी काम नही आ सकते। जो सकट इस पर गुजरता है उसे अकेला ही भोगना पडता है। जो सकट शरीरका, व्याधियोमे लगने आदिकका काम है वह भी इसको अकेलेको ही भोगना पडता है, इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग आदिक नाना प्रकार के कष्ट इस जीवको अकेला ही भोगना पडता है। महाप्रेम रखने वाले भी इनको बटानेमे समर्थ नही हो सकते। तो बात तो वास्तविक यह है कि अपने-अपने किये हुए कर्मोको यह जीव अकेला ही भोगता है, लोग मानते है कि मैं अपने परिवार का पालन-पोषण करता हूँ, उनको सुखी रखता हूँ, तो उनका यह ख्याल मिथ्या है। कोई किसी को सुखी नही रखता, न कोई किसीको दु खी बनाता। सबका अपने-अपने साथ कर्मोदय है। उसीके अनुसार यह जीव सुखी-दु खी होता रहता है, मोहके आवेशमे आकर यह जीव अनेक प्रकार की कल्पनायें करके पर-पदार्थोको अपना मान लेता है पर पर्याय बदलने पर सब स्पष्ट भिन्न-भिन्न हो जाते हे।

हृषीकविषय सुख किमिह यन्न भुक्त भवे किमिच्छति नरः पर सुखमपूर्वभूत ननु ।
कुतूहलमपूर्वज भवति नागिनोऽस्यास्ति चेत्समैक सुखसग्रहे किमपिनो विधत्ते मन. ॥ २५०॥

मोहवश जीवके भुक्तभोगकी बार-बार भोगेच्छा—इस जन्म-मरण रूप ससारमें कोई भी इन्द्रियसुख नही बचा जिसे इस जीवने अनेक बार भोगा न हो, इसलिए ये सब इन्द्रिय-सुख भुक्तपूर्ण है, उच्छिष्ठ है, जूठे है, किन्तु आत्माका आत्माकी आराधना से उत्पन्न हुआ आनन्द अभुक्तपूर्ण है। इस आत्मीय आनन्दको इस जीवने पहले कभी नही भोगा। सो यह प्राणी अभुक्तपूर्ण आत्मीय आनन्दमे क्यो नही अपने मनको लगाता ? बार-बार भोगे गए आसार पराधीन इन्द्रिय भोगोमे रमकर काल्पनिक सुख भोगता है और वास्तवमे तो कष्ट सहता ही रहता है, पर एक बार भी अभूतपूर्व आत्मीय आनन्द इसके जग जाय तो इसकी आराधना और धुनके कारण यह जीव यथोचित समयमे सयमी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेगा। फिर सदा के लिए ससारके कष्ट छूट जायेंगे। तो कल्याणार्थी पुरुषोका कर्तव्य है कि अभुक्तपूर्ण आत्मीय आनन्दकी अभिलाषा कर उसके मार्गमे लगे। ऐसा किए बिना यह जीव बडे-बड़े कष्ट भोगता रहता है।

क्षणेन शमवानतो भवति कोपवान्ससृतौ विवेक विकल. शिशुर्विरहकातरो वा युवा. ।
जरार्दिततनुस्ततो विगतसर्व चेष्टो जरी दधाति नटवन्नर प्रचुरवेषरूप वपुः ॥२५१॥

मोही जीवका नटवत् विविध आचरण—यह जीव नटकी तरह नाना भेषोको धारण करता रहता है। कभी यह जीव शान्त होता है तो कभी क्रोध करता है, तो यह नटकी तरह ही तो रूपका धरना हुआ। कभी यह ज्ञान शून्य बालक बन जाता है तो कभी युवतियो के वियोगमे व्याकुल होता है। कहाँ तो वह छोटा बालक जो कुछ अधिक समझ न रखे और कामवासनाकी तो कल्पना तक भी नही और वही जीव कुछ ही समय बाद स्त्रियोके वियोगमे व्याकुल होता। स्त्रियोके साथ सम्भाषणमे यह मौज लेता तो यह नटकी तरह ही तो नाना भेषोका धरना कहलाया। यही जीव कभी बुढापेसे पीडित होकर चेष्टा-हीन हो जाता। हाथ पैर नही चलते। कही जा नही सकता, बोल भी थक गया, तो इस जीवकी क्या विचित्र हालत होती रहती है। यह सब कर्मलीलाका प्रताप है। कभी यह जीव अकेला ही भवमे रहकर वहाँ ही अपनी इच्छावोको बनाता रहता है। कभी पेड-पौधेसे खडे होकर वहाँ ही पानी मिले, धूप मिले, सुन्दर हवा मिले और सुखी होता, पशु पक्षी हुआ, मनुष्य हुआ, सब जगह अपने-अपने विचित्र ढगसे यह जीव

नाना तरह की कल्पनायें करके सुखी-दुःखी होता रहता है। सो वास्तविक नटिया तो यह जीव है। लोग तो सनीमा हॉलमे सनीमा देखने पहुँचते है पर सनीमा तो यह जीव स्वय हो रहा है। कभी किसी स्थितिमे, कभी किसी स्थितिमें, और ये शहरोमे दिखाये जाने वाले सनीमा तो एक फोटो है, नकल है, असल नही है। पर यह जीव तो स्वय कर्मोदयवश नाना रूपोंको (भेषोको) धारण कर अपने क्षण गुजारता है, एक जगह प्रभुकी भक्ति करते-करते भक्तने यह कहा कि हे प्रभो मैंने अनेक रूप धर-धरकर आपके ज्ञानको बहलाया, जैसे कि कोई नट अनेक रूप रखकर राजाको प्रसन्न करता है, तो मैंने भी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, और उनके अन्तर्गत नाना तरहकी स्थितियोको बना बनाकर आपको रूप दिखाया, तो बोलो प्रभु आप मुझपर प्रसन्न हुए या नही ? आखिर नट भी तो मुख्य दृष्टाको इसी लिए दिखाता कि यह प्रसन्न हो जाय और प्रसन्न होकर कुछ पुरस्कार दे। तो प्रभु यदि आप मेरे इन रूपोको देखकर प्रसन्न हो गये हो तो मैं जो चाहूँ सो दीजिए। मैं चाहता हूँ मुक्ति, सो मुझे मुक्ति दीजिए और यदि आप प्रसन्न नही होते हमारे रूपोको देखकर तो फिर इन रूपोको अब मत मुझसे र ‿ाइये। याने आपके ज्ञानमें अब मेरे ये रूपादिक न झलके। तो वह प्रभुकी भक्ति है। उसने प्रभुसे दोनो तरह से मांगना, मांगली है। प्रसन्न हो तो मुक्ति दो, प्रसन्न न हो तो हमारे इन रूपोको मिटा दो। तो रूपोका मिटना यही तो मुक्ति कहलाता है। सासारिक भेषोमे इस जीवको कही भी आनन्द नही है।

अनेकगतिचित्रित विविधजातिभेदाकुल समेत्य तनुमद्वण प्रचुरचित्तचेष्टोद्यतः।
पुरार्जितविचित्र कर्मफलभुग्विचित्रा तनु प्रगृह्य नटवत्सदा भ्रमति जन्मरगागणो ॥
२५२॥

मोही जीवो द्वारा नटवत् विविध वेषोका धारण—जैसे रगभूमिमें नट नाना प्रकारके भेषोको धारण करके उन भेषोके अनुरूप ही चेष्टायें करते हैं और लोगोको ऐसी भ्रान्ति करा देते है कि मानो वास्तवमे जिसका भेष रखा है वही सब चेष्टा कर रहा है, इसी प्रकार यह जीव मनुष्य तिर्यञ्च आदिक पर्यायोमे भिन्न-भिन्न प्रकारकी जाति भेष धारण कर, करके मनमाने तदनुरूप चेष्टाये कर रहा और पूर्व उपार्जित अपने कर्मोका फल भोगता रहा, सदा घूमता ही फिरा और उस समय जिस पर्यायको यह जीव धारण करता है उस ही पर्यायरूप अपने को समझ बैठता है, जैसे जब मनुष्य हुआ तो यह अपनेको मनुष्य ही मानता है और मनुष्य देहको ही अपना सर्वस्व समझता है। उस देहमे आत्मीयपना का इतना अहकार भर लेता है कि प्रशसा, निन्दा, कीर्ति, अपकीर्ति, सब कुछ इस देहके मार्फत

ही करता रहता है । तो जिस देहको धारण करता है उस भेषमे यह रम जाता है और अपने आपके वास्तविक स्वरूपको भूल जाता है, यह है जातिका प्रकरण । जन्म लेता है और जिस जन्ममे पहुँचता है उस जन्मके अनुरूप अपने आपको मान डालता है, ऐसी भ्रान्ति यह जीव अनादि कालसे करता चला आया है और उसका कारण है कर्मका उदय। और कर्म उदयमे आये तो जब बंधे थे तब ही तो उदय मे आये। तो जिस कालमे कर्म बधे थे उस कर्मबध का कारण था यही भेष भेषोमे आत्मबुद्धि । तो यो भावकर्म, द्रव्यकर्म दोनोका परस्पर निमित्त नैमित्तिक योग चल रहा है। यह जीव ससारमे नाना भेषोको धारणकर दु खी हो रहा है।

अचित्यमतिदुस्सहं त्रिविधदु खमेनोर्जित चतुर्विधगतिश्रित भवभृता न किं प्राप्यते ।
शरीरमसुखाकर जगति गृह्णता मु चता तनोति न तथाप्ययं विरतिमूर्जिता पापत ॥ २५३॥

मोही जीवके पापफल भोगकर भी पापसे विरक्तिका अभाव—इस जीवने जिन भेषोको धारण किया उन भेषोमे रह रहकर असह्य दु ख भोगा है। ये भेष मुख्यतया चार प्रकार के है—नारकी, देव, मनुष्य, देव, ये चार मुख्य गतियाँ है, फिर इनके अन्य बहुत से भेद है। जैसे तिर्यञ्चके बड़े ही विचित्र भेष है, कोई पशु है, कोई पक्षी है, कोई कीडा मकोडा है, कोई एकेन्द्रिय है, तो ये अनेक-अनेक उपजातियाँ है, तो इसी प्रकार इन सब भेषोमे इस जीवने असह्य दु ख भोगा । वे दु ख है मानसिक, वाचनिक और कायिक जैसे इन्ही भेदोमे मनुष्य मनके कितने दु ख बनाये रहते है, मनमे कितनी कल्पनाये, नामवरी की, ओहदे पाने की, धन पाने की और तन सम्बधी कितनी ही कल्पनाये, तो ऐसी चिन्तावोके भार से यह जीव लदा फिरता है। वाचनिक दु ख भी बहुत है । दूसरे की कुछ भी कही हुई बात सहन नही कर पाता। क्या लगा, कहाँ के वचन, कौन मनुष्य, इनका आत्मासे क्या सम्बध ? ये सब अत्यन्त भिन्न है, लेकिन ऐसा पर्यायोमे रम गया कि इस ही पर्यायको यह अपना सर्वस्व मानता है और अपने आपको सर्वाधिक चतुर भी मानता है। ऐसी मान्यताके कारण दूसरेके वचन इससे सहे नही जाते। यदि अपने आपकी कीर्ति, इच्छा के अनुकूल वचन हो तब तो वहाँ प्यार जगता है अन्यथा अन्य वचनोसे यह बड़ा भारी कष्ट मानता है। शारीरिक कष्ट नाना है ही, अनेक प्रकार की व्याधियाँ, आक्रमण, चोट, शारीरिक वेदनायें ये कायिक वेदनाये है । सो इस जीवने मन, वचन, काय तीनो की पीडाये अब तक ससारमे रूलकर भोगा । और इतने से ही पिण्ड नही छूटा, सारे जीवन दु ख भोगा, अन्तमे

मरण हुआ, फिर यह दूसरा देह धारण करता है, जो शरीर अनेक दु खोका देने वाला है, तो ऐसे कठिन दु:खको भोग रहा यह जीव फिर भी यह पापो से विरक्त नही होता, यह बडे ही आश्चर्यकी बात है, क्योकि पापोसे ही ससारमे रुक रहा, सो दु.ख भी भोगता जा रहा और पाप भी करता जा रहा, ऐसा अंधेरा इस जीव पर छाया है। जिन कामोसे दु.ख होता है उन्ही कामोको यह करता चला जाता है।

भजव्यतनुपीडितो विरहकातर' कामिनी करोति मदनोज्झितो विरतिमगनासगत ।
तपस्यति मुनि सुखी हसति विक्लव' विलव्यति विचित्रमतिचेष्टित श्रयति समृतो जन्मवान् ।।२५४।।

संसारी जीवकी विचित्र चेष्टायें—यह शरीरधारी प्राणी जब भी कामदेवके बाणोसे व्यथित हो जाता है याने कामवासना उखड आती है, व्यर्थका ही मनके दुर्भाव बन जाता है तो यह कामचेष्टाके साधनभूत स्त्री आदिक का विकार होने पर यह कातर हो जाता है और यह कामिनियोका सग चाहता है, जिस किसी तरह उनकी प्राप्ति करके सुख मानता है। कहाँ तो जीव शुद्ध स्वच्छ ज्ञानानन्दमय और कहाँ बाह्य अशुचि पदार्थोमे इतना तेज लगाव, ऐसा विरुद्ध परिणमन करने वाले दु खी क्यो न होगे ? जिस समय यह जीव कामातुर होता है तो तीव्र वेदनासे पीडित हो जाता है, और जिस समय कामसे रहित होकर शान्त हो जाता है तो कामके साधनभूत स्त्री आदिकके ससर्गको दूर कर देता है, फिर साधु होकर तप-तपने लगता है। जिस समय यह कुछ सुखी होता है तब कुछ हंसने लगता है और जब कोई दु खी होता है तो रोने लगता है। तो इस शरीरधारी प्राणीके इस जन्ममे बडे विचित्र-विचित्र चेष्टाये होती है।

अनेकभवसचिता इह हि कर्मणा निर्मिता प्रियाप्रियवियोग सगमविपत्तिसपत्तय ।
भवति सकलास्त्विमा गतिषु सर्वदा देहिना जरामरणवीचिके जननसागरे मज्जता ।। २५५।।

मोही जीवो द्वारा नाना भेषधारण व क्लेशसहन—यह ससार विशाल समुद्रके समान अपरिमित है, जैसे बडे सागरके ओर छोरका पता नही लगता, उसकी गहराईका पता नही लगता, समुद्रके अन्दर क्या क्या चीजे है, कैसे क्रूर जतु है इसका कुछ पता नही पडता, ऐसे ही यह ससार अपरिमित है, इसका आदि अन्त नही है। अनादिसे ससार है, अनन्तकाल तक ससार रहता है। और इस ससारमे कितनी ही प्रकारके जन्म है, अवस्थाये है, भेष है, दु ख है, जिनका कोई परिमाण नही है, तो ऐसा ससार समुद्रके

समान अपरिमित है, इसमे यह जीव जन्म-मरण रूपी लहरोके वेगसे ताडित हो रहा है। मरा वह भी दुःख है, जन्मा वह भी दु ख है, तो एक ओर से मरणकी लहरोके-वेगने इसको दु खी किया तो तत्काल जन्मकी लहरोके वेगने इसको दु खी किया। यो जन्म-मरणके वेगसे यह दु खी होता रहता है। सो यह प्राणी मनुष्यादिक की पर्याये धर-धरकर घूमता फिरता है और अपने जीवनमे अपने-अपने कर्मोके अनुसार नाना दु.ख भोगता है। जैसे दु खोमे प्रधान दु ख है इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग, वेदना और निदान। किसी इष्टका वियोग हो जाय तो उसमे यह बडी तकलीफ मानता है और उस इष्टके सयोगके लिए नाना ध्यान बनाये रहता है किसी अनिष्ट पुरुषका सयोग हो गया तो उस कालमें यह निरन्तर कष्ट मानता रहता है और यह कब टल जाय, इसका वियोग हो जाय इसके लिए निरन्तर चिन्तन बनाये रहता है। शारीरिक व्याधिका बड़ा कठिन दु ख है। जब शरीरके साथ इस जीवका एक क्षेत्राव-गाह और बधन भी चल रहा है जहाँ शरीर जाता वहाँ आत्मा जाता, जहाँ आत्मा जाता वहाँ शरीर जाता, तो इतने विकट बधनमे फंसा हुआ आत्मा शरीरमे वेदनाये आये तो दु खी होता ही है, और एक कठिन दु ख है बैठे-बैठे अनेक चिन्ताये करना आशय बिगाड़ना। तो इन समग्र दु खोको यह जीव जन्म-मरण करता हुआ अपने जीवन-कालमे भोगता रहता है। सो इस ससार समुद्रमे जन्म लेते रहना यह बहुत बड़ी विपत्ति है। जो इस जन्मसे छूट गया वह ही ससार के दु खोसे छूटा हुआ कहलाता है। और जो संसारमे जन्म धारण कर रहा है उसके दु ख कभी शान्त नही हो सकते।

करोम्यहमिद तदा कृतमिद करिष्याम्यद पुमानिति सदा क्रियाकरणकारणव्यावृतः।
विवेकर हिताशयो विगतसर्वधर्मक्षमो न वेत्ति गतमप्यहो जगति कालमत्याकुल. ॥
२५६॥

मोही जीवोंकी क्रियाबुद्धिमे मरणका भी अपरिचितता—यह मोही प्राणी विवेकरहित होकर मन, वचन, काय सम्बधी क्रियावोमे लगा ही रहता है और सदा यह ध्यान रखता है, विचार करता रहता है कि मैंने यह काम तो उस समय कर लिया, अब यह काम जरूरी है, अब इस कामको कर डालूँ और फिर अमुक काम पड़ा है, उसे भी कर डालूंगा। करने-करने की धुनमे ही सारी जिन्दगी गुजरती है। यह किया, यह कर रहा हूँ, यह करूंगा, ऐसा कर डालूंगा ऐसा करके ही मैं आनन्द पाऊंगा, ऐसा यह जीव करने-करने की ही वासनामे अपना यह जीवन खो डालता है, पर वास्तविक कार्य मेरा क्या है

उसकी ओर ध्यान नही जाता। मेरा वास्तविक कार्य है जैसा मेरा स्वरूप है उसही मात्र प्रवृत्ति करना। मै ज्ञानमात्र हूँ, केवल मैं ज्ञाता ही मात्र रहूँ, किसी पदार्थका मोह तक भी न हो, राग लपेट रच न हो, मतलब हो नही है, जानने मे आ गया। केवल ज्ञाता मात्र ही मैं रहूँ। किसो पदार्थ मे कुछ भी विकल्प न करूँ, ऐसा मैं कृतार्थ कार्य रहित जाननहार निरन्तर परम आह्लादको भोगने वाला ही रहूँ, यह कार्य मेरे आत्माका वास्तविक करने का था। सो इस कार्यकी ओर से इसने मुख मोड लिया और सासारिक कार्य जिनमे मन, वचन, कायका सम्बध है उनमे यह निरन्तर विचार करता रहता है कि मैंने इतने-इतने काम कर डाला, अब यह काम करूँ और आगे मुझे इतना काम करना है। तो मै करूँगा, करूँगा, करूँगा, यह ही ध्यान रखता रहा, पर मै मरूँगा, मरूँगा इसका रच भी ध्यान न रखा। सो यह जीव मरता है, जन्म लेता है और उसके बीच जो जीवन पडा है उसमे करने-करने की ही धुन बनाकर अपने अमूल्य क्षणोको यो ही गमा डालता है।

इमे मम धनागजस्वजनबल्लभादेहजासुहृज्जनकमातुलप्रभृतयो भृश बल्लभा।
मुधेति हतचेतनो भवनने खिद्यते यतो भवति कस्य को जगति वालुकामुष्टिवत्॥
२५७॥

एकत्रित कुटुम्बी जनो का बालुकामुष्टिवत् अत्यन्त भिन्नपना व आशुवियोग— यह प्राणी रात-दिन बाह्य वस्तुओमे यह मेरा है यह मेरा है, इस प्रकार का भाव बनाये हुए रहता है, यह धन मेरा है, धन पौद्गलिक पदार्थ है, अनेक पुद्गल परमाणुवोके अनन्त परमाणुवोके पुञ्जको ये सब रुपया-पैसा सोना-चाँदी आदिक बने हुए है, जो अचेतन है, मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, यद्यपि इस जीवनको चलानेके लिए क्षुधा तृषा वेदना मिटानेके लिए बाह्य वस्तुवो का आहार किया जाता है, उसमे कुछ काम होता है मगर आहार करना भी तो कलक है, आहार करना छूटे तो शरीरका सम्बध भी छूटे, तो इस जीवको अपने आपमे शान्ति प्रकट हो, लेकिन यह जीव इन धन आदिक बाह्य पदार्थोमे ये मेरे है, यो मेरा-मेरा करता हुआ अपना जीवन खो देता है। सचेतन पदार्थोको ये मेरे पुत्र है, ये मेरे मित्र है, यह स्त्री है, ये माता-पिता है, ये कुटुम्बीजन है, ये मेरे मामा आदिक रिश्तेदार है, ये बडे ही प्यारे है, ऐसा निरखता रहता है। ये पुरुष स्त्री है क्या ? असमान जातीय द्रव्य पर्याय। जीव, शरीर और कर्म इन तीनोका यह पिण्डोला है, जिससे यह जीव नाना दुःख पा रहा है, पर इन अत्यन्त भिन्न पिण्डोलोको देखकर ये मेरे है इस प्रकार की बुद्धि करता है और

यहाँ तक चिन्तन करता है कि ये मुझे बडे प्रिय है, मै इन्हे छोडकर रह नही सकता। तो यह मोहके वश होकर इन ही मिथ्या घटनाओको सत्य समझता रहता है। जब जाना कि ये मेरे है, प्रिय है, इष्ट है, तो उनका वियोग होने पर यह खेद खिन्न होगा ही, सो यह दु.खी होता रहता है, पर यह बात कभी नही विचारा कि ये जितने भी जीव है ये सब मुझसे अत्यन्त भिन्न है। भले ही इकट्ठे हो गए हो, जैसे मुट्ठीमे कोई बालू भर रखी हो तो भले ही एक जगह है फिर भी बिखरती रहती है और प्रत्येक दाना दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है। तो जैसे मुट्ठीमें ली गयी बालू कभी एक तो नही रहती, उसके दाने भिन्न-भिन्न ही रहते, इसी तरह किसी कारण एक घरमे इकट्ठे हो गए, भाई बहिन, माता-पिता आदिक परन्तु ये सब अत्यन्त निराले है, जैसे बालूका ढेर एक दूसरे रेणुसे अत्यन्त निराला है ऐसे ही सभी जीव मुझसे अत्यन्त निराले है, ऐसा ध्यानमे नही आता इस मोही प्राणीके और इनको ये मेरे है, मुझे ये बडे प्यारे है, इन्हे मै छोडकर रह नही सकता, ऐसे नाना प्रकार के विकल्प किया करता है।

तनूजजननीपितृस्वसृसुताकलत्रादयो भवति निखिला जनाः कृतपरस्परोत्पत्तय ।
किमत्र बहुनात्मनो जगति देहजो जायते धिगस्तु भवसतति भवभृता सदा दु खदा ॥ २५८॥

जीवोके परस्पर रिश्तोका परिवर्तन—इस लोकमे ऐसा कोई नियम नही है कि इस जन्ममे जो माता है वह सदा माता ही होती रहे, जो पिता है वह सदा पिता ही होता रहे, जो पुत्र है वह सदा पुत्र ही होता रहे, जब ऐसा कोई नियम नही है तो इस बातको जानकर भी इस जीवको चेत जाना चाहिए कि यह केवल इस जीवकी कल्पना मात्र है। न यह पहले मेरा था न आगे मेरा होगा। तो ससार मे यह नियम नही है कि जो पुत्र आज हुआ वह पहले भी पुत्र था और आगे भी रहेगा। बल्कि यह स्पष्ट देखनेमे आता है कि जो आज बाप है वह कही उसीका लडका बन जाय। माँ कही लडकी हो जाय, लडकी कही माँ बन जाय, जो बहिन है वह कही लडकी बन जाय, लडकी कही बहिन बन जाय, आज जो बुवा है वह कही स्त्री बन जाय, स्त्री कही बुवा आदिक बन जाय। अनेक भवोमे ये सब बदलते रहते है। एक दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध पर्याये रिश्ते ये धारण करते ही रहते है। इस परिवर्तनकी बात कहाँ तक कही जाय ? यह मनुष्य अपनी स्त्रीके ही गर्भसे, अपनी ही कुचेष्टासे आप ही पुत्र होता हुआ देखा गया है, इससे बढकर और विचित्र बात क्या कही जाय ? जिसको यह पुरुष अपनी स्त्री मान रहा था वही पुरुष मरकर अब उसका

वालक बनकर उसको माँ मानता है, जीव वही है पर पर्याय भेद हो जानेसे इसके विचारोमे सस्कारोमे फर्क आ गया । तो यह ससार नटभेष जैसा विचित्र है । तो अनन्त दु खोका देने वाला यह ससार है । इसमे जो जन्म होता रहता है वही सब सकटो का मूल धाम है। इस संसार की स्थितिको धिक्कार है ।

विधाय नृपसेवन धनमवाप्य चित्तेप्सित करोमि परिपोषण निजकुटुंबकस्यागना. ।
मनोनयनवल्लभा समदना निषेवे तथा सदेति कृतचेतसा स्वहिततो भवे भ्रश्यते ॥
२५६॥

परव्यामोहमें स्वहितका ध्वंस—यह मनुष्य कुटुम्ब आदिकको अपना मानकर उनका भरण-पोषण करने के लिए कितना परिश्रम किया करता है । राजा आदिककी सेवासे यह धन कमानेमे कितना व्यग्र रहता है । यह आत्मा अकेला ज्ञानानन्द स्वरूप है । परमात्माके समान शुद्ध पवित्र स्वरूप है, लेकिन इस स्वरूपको भूलकर राजा आदिक न जाने किन-किन पुरुषोकी सेवामे लगा रहता है । न जाने कितना चित्त परिवर्तन करना पडता है, किस किस प्रकार राजाको अपने पर प्रसन्न करना पड़ता है तब जाकर कोई सुविधा मिलती है कि वह मनमाना धन कमा सके । सो मनमाना धन कमाकर क्या किया ? अपने कुटुम्बका भरण-पोषण किया और अधिकसे अधिक यही वात तो रही कि जब कामबाधा हुई तो मन और नेत्रोको प्रिय जिन्हे माना उन युवतियोका सेवन किया । तो इन सब कार्योमे वह अपनेको भृष्ट हो तो कर रहा । कहाँ तो परम आनन्द-स्वरूप परमात्माके सदृश अविचल रूप और कहाँ अपने स्वरूपको भूलकर किन-किन पुरुषोको प्रसन्न करनेमे यह लगा रहता है तो ऐसा यह मित्र कुटुम्ब स्त्री आदिकमे अपना हित सोचकर इनमे अपना लगाव लगाकर अपने आपको दुःखी करता रहता है । सो यह सब मोहनीय कर्मके उदयसे जो मोहभाव उत्पन्न हुआ है उस मोहमदिरा की शराब पीकर यह जीव इतना चचल और सक्लेश करने वाला बन गया है । तो यो मोहवश यह प्राणी इधर-उधरकी व्यर्थकी बातोमे फँसा रहकर अपने हितसे भृष्ट हो जाता है । कभी धन न हुआ तो उसके अभावमे उसकी आशा कर करके अपने जीवनको दु.खी कर डालता है । कभी धन हुआ तो उसकी गिनतीमे और उसके पुलावा बाँधनेमे, उसकी वृद्धि करनेमे सारे जीवन भर अपने उपयोग को उलझा कर दु खी करता रहा । इस जीवनमे ऐसी कौनसी स्थिति पायी जिसमे यह प्राणी दु खी न रहता हो । दु खसे दूर रहने की स्थिति तो केवल रत्नत्रयभाव है । इसकी ओर मोहके कारण यह जीव आ न सका । जो बात आत्महितके लिए सुगम है

उससे तो यह जीव दूर रहा ओर जो बात आत्महितके बिल्कुल खिलाफ है उन बातो में फंसा रहा। सुगम चीज है अपने सहज स्वरूपको जान लेना। मैं हूँ, अपने आप हूँ, सहज सिद्ध हूँ, तो यह मै चैतन्यमात्र जिसमें सिर्फ प्रतिभास ही प्रतिभास है, कि मै हूँ, इस प्रकार का अनुभव बनाना इसमे किसी प्रकारकी दुर्गमता नही है। न इसमे धन चाहिए, न मित्रजनोका सहयोग चाहिए, न किसीकी प्रसन्नता आपेक्षिक है, यह तो अपने आपकी भावना द्वारा अपने आपमे प्राप्त की जाने वाली चीज है तो अपना सहज स्वरूप, उसका श्रद्धान होना, उसका ज्ञान होना यह सुगम चीज है और फिर इसही स्वरूपमे मग्न होना उपयोगको रमाना यह सब स्वाधीन बात है, मगर मोही प्राणीको अपनी स्वाधीन बात बड़ी कठिन लग रही। इसका ख्याल तक भी नही कर सकता और एकदम बाहरी पदार्थो का ही सग्रह विग्रह कर रहा और यह मान रहा कि इन बाह्य पदार्थोका सग्रह करना सुगम है, मेरे अधिकार की बात है और उसी प्रसंगमे जब कोई काम मनके अनुकुल न बना तो दु ख मान रहा और भीतरमे नाना कष्टोको सहता रहा। सो यह जीव इस ससार चक्रमे घूमने का कारण जो भ्रम है उस भ्रममे ही पगा रहा और इन्द्रियविषयोमे सुख मान रहा अच्छा स्वार्थ मिल जाय, स्त्री आदिक जनोका सम्पर्क मिल जाय, बहुत सुन्दर स्वादिष्ट मिठाई आदिक नाना तरह की भोजनसामग्री मिल जाय, यही-यही धुन बनी रही, इन्हीके प्रयत्नोमे लगा रहा, खाने-पीनेके सुखसे भरपूर हो गया तो अब सुगध चाहिए, इत्र फुलेल चाहिए, अब घ्राणेन्द्रियमे रम गया। अब आँखोको आराम देने वाला कोई नाटक चाहिये, सनीमा चाहिए, उस ओर दृष्टि डालता रहा, अब कानोको सुहाने वाली रंग-रगेलियाँ चाहिये। यो भोगोमे रमकर यह कष्ट भोगता ही रहा।

विवेक विकल शिशु प्रथमतोऽधिकं मोदते ततो मदनपीडितो युवतिसगम वांछति।
पुनर्जरसमाश्रितो भवति सर्वनष्टक्रियो विचित्रमतिजीवित परिणतेर्न लज्जायते॥
२६०॥

एकही भवमे विचित्र परिणतियोंकी विडम्बना—यह अविवेकी मनुष्य बचपन मे तो अधिक आनन्द मानता है याने शिशु अवस्थामें खेल-कूद, खाना-पीना, मनमानी चेष्टाये करके अपने को अधिक आनन्द वाला मानता है और कुछ युवावस्था होने पर भी वह अपनेमे सुखकी कल्पनाये करता रहता है। कामसे पीड़ित होकर नई-नई युवतियोके संगको चाहता है। वहाँ पर भी यह अपने आपको बड़ा सुखी समझता है, परन्तु वृद्ध होने पर यह समस्त चेष्टावोसे हीन हो जाता है याने हाथ-पैर से कुछ कर नही सकता।

सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, और यो चेष्टा-हीन हो जाता है उस समय यह अपनेको बडा कष्टमयी मानता है। वस्तुत देखा जाय तो जब सुखकी कल्पना कर रहा था तब भी वह कष्टमें था। अज्ञानसे वह अपने कष्टको नही जान पा रहा था, पर क्षोभ हुए बिना नाना चेष्टाये कैसे हो सकती थी ? और साथ ही व्यामोह था। स्व और पर पदार्थमे रच भी भेद न जान रहा था तब ही तो परद्रव्यका आश्रय कर करके यह अपनेको सुखी मान रहा था। तो इसी जीवनमे अवस्थाभेद से चेष्टावोके वडे भेद रहे, और यो एकही जन्ममे नाना प्रकार की दशावोका अनुभव किया। सो आत्माका स्वरूप तो स्वच्छ ज्ञानानन्दमय है जिसके विरुद्ध चल-चलकर यह कितनी विडम्बनायें कर रहा लेकिन उन विडम्बनाओ के करते हुए मे भी उसको लज्जा नही आती रही। अपने कुलके विरुद्ध कार्य करने पर लज्जित होना ही चाहिये। यह अपनी चेष्टाये कुलके विरुद्ध रागीद्वेषी मोही बनकर विषयो भोगोमे अपना चित्त रमाकर कुचेष्टाये करता रहा पर इसको लज्जा नही आयी। अब यदि इन विडम्बनाओसे, सकटोसे बचना है तो एक ही कर्तव्य है कि पर द्रव्योका आलम्बन छोडे और अपने आपको ज्ञानस्वरूप अनुभव करे।

विनश्वरमिदं पयुर्युवतिमानस चचल भुजगकुटिलो विधि पवनगत्वर जीवित।
अपायबहुल धन बत परिप्लव यौवन तथापि न जना भवव्यसन संततेर्बिश्यति ॥ २६१॥

अनित्य समागमोमें मोहीकी व्यासक्ति—यह शरीर अनित्य है, नष्ट हो जाने वाला है। मरण समय तो सभी जानते है कि यह नष्ट हो जाता है अर्थात् शरीरसे आत्मा निकल जाता है और शरीर यहाँ जला दिया जाता हे, पर रोज-रोज शरीरमे नाना विकृतियाँ आती रहती है सो यह तो अनित्य स्वभाव वाला ही है और इसी कारण इसका शरीर नाम रखा गया है। शीर्यते इति शरीर, जो शीर्ण हो, गल जाय उसे शरीर कहते है। तो इस ससारमे यह शरीर जिस पर यह प्राणी इतना मुग्ध हो रहा, जिस शरीरको अपना रहा वह शरीर अनित्य है और युवतियोका मन चचल है। आज किसी अन्य मनुष्यमे चित्त लगा है तो कल किसी अन्यमे चित्त लगा है, उनमे इनके मनकी स्थिरता ही नही रहती। तीसरी बात देव भुजगके समान टेढा है। जैसे सर्प वक्र होता है, ऐसे ही यह भाग्य भी वक्र है। आज ये कर्म सुख दे रहे है तो कल ही दु ख देने लगते है अर्थात् पुण्य प्रकृतियो के उदयसे यह जीव सुख मान रहा है तो उस समय पाप प्रकृतियोका उदय होने पर यह दु खका अनुभव करता है। चौथी बात जीवन हवाके समान गमनशील है।

जैसे हवा चलती ही रहती है, आगे भागती ही रहती है ऐसे ही यह जीवन चलता ही रहता है, भागता ही रहता है। अर्थात् जो उम्र गई वह गई। उस क्षणको फिर यह नही पाता यहतो आगे-आगे का समय भी गुजरता रहता है। ५ वी बात—धन नाना कारणोसे नष्ट हो जाता है। धनको अर्जित किया, बड़ परिश्रमसे कमाया, एकत्रित किया, अब कोई ऐसी ही विडम्बना आ जाती है, घटना आ जाती है, चोर चोरी कर ले जाये अथवा राजा छीन ले या खुद ही भूल जाय कि हमने कहाँ रखा या किसी दूसरेके कब्जेमे आ जाय, नाना कारणोसे यह धन नष्ट हो जाता है। छठी बात—यह जवानी कालान्तरमे परिणमनशील है। अर्थात् जवानी स्थिर नही रह पाती, यह बदलती ही रहती है। तो इतनी बाते प्रतिकूल हो रही है तब भी यह मनुष्य इस भयानक ससारकी स्थितिसे डरता नही है यह बडे आश्चर्यकी बात है। और विषयभोगोमे ही लगाव रखकर जैसा कि इस छदमे बताया गया उन घटनावोको देखकर तो भोगोकी कामना रहना ही न चाहिये। किसी भी अन्य वस्तुमे प्रीति रहनी ही न चाहिए! लेकिन मोहका ऐसा प्रताप है कि यह जीव अपने स्वरूपको भूल जाता है और इन नाना विडम्बनाओमे लग जाता है।

विपत्तिसहिताः श्रियोऽसुखयुत सुखजन्मिना वियोगविषदूषिता जगति सज्जनै सगति ।
रूजोरगविल कपुर्मरणनिदित जन्मिना तदप्ययमनारत हतमतिर्भवे रज्यति ॥२६२॥

क्लेशकर साधनोंमें मोहीकी आस्था—इस संसारमे जीवको जो भी सम्पत्तियाँ मिलती हैं वे सब विपत्तियोसे सहित है। सम्पत्ति कालमे ही नाना विपत्तियाँ आती रहती है और जो सम्पत्ति मिली है वह सदा न रहेगी, विघट जायगी। विघटनेपर यह बडा कष्ट महसूस करेगा। सो यो भी विपत्तियोसे सहित है। तो सम्पत्ति तो विपत्तियोसे युक्त है। जिस सम्पत्तिमे लोग प्रफुल्लित हो रहे मेरे को इतना धन बढा इतना जुडा, मै इतने धनका स्वामी हूँ, इस प्रकार जो सम्पत्तिमे हर्ष मानते है उनका हर्ष मानना अज्ञानदशाका काम है क्योकि वे सब सम्पत्तियाँ विपत्तियोसे सहित है। दूसरी बात सुख-दुखसे मिला हुआ है। सासारिक सुख जिन्हे प्राप्त हैं उनको साथ ही दुख भी लगे हुए है। सभी लोग समझते है कि सुख सदा नही रहते। जिनके सुख आया है उनके दुख अवश्य आता है सासारिक सुखका ऐसा ही स्वरूप है, क्योकि सुख पराधीन है, काल्पनिक है अतएव यह सुख नही रहता, दुख होने लगता। जैसे कि नीतिकारोने कहा है कि चक्र की तरह सुख और दु.ख परिवर्तित होते रहते है। जैसे चकेमे जिसके ७-८ आरे लगे है गाड़ी चलती रहती है, तो जो आरा अभी ऊपर है वह क्षण भरमे नीचे हो जाता है वे सब बदलते रहते है

ऐसे ही सुख और दु ख ये दोनो बदलते रहते है । तीसरी बात सज्जनो की सगति वियोग विषसे दूषित है याने दु खदायी है । यदि आज अच्छे पुरुषोका समागम मिला है, जिनके वचन सुनकर धैर्य होता है, शान्ति मिलती है तो वह सगति वियोग-रूपी विषसे विषैली है याने उनका वियोग होगा और वहाँ दु ख उत्पन्न होगा । चौथी बात–शरीर रोग रूपी सर्पोका बिल है जैसे कि बिलमे सर्प रहते है ऐसे ही शरीरमे रोग बसा करते है । करोडो तरह के रोग बताये गये हैं, वे रोग रूपी साँप सब इसी शरीर बिलमे रह रहे हैं । ५ वी बात जन्म-मरणसे सहित है । जन्म हुआ है तो नियमसे मरण होगा । किसीका भी जन्म-मरणशून्य नही होता । जैसे निर्वाण होता है तीर्थंकरोका अन्य महापुरुषोका मोक्ष होता है तो वहाँ कोई कहे कि उन तीर्थकर आदिक महापुरुषोका जन्म तो होता पर मरण कहाँ हुआ ? तो वहाँ भी निर्वाणका ही नाम-मरण है । आयुके क्षय होनेको मरण कहा करते है । अष्ट कर्मोका जहाँ क्षय हुआ वहाँ आयुकर्मका भी तो क्षय है, वही मरण है । भले ही उस मरणको पडित-पडित मरण कहते है । उसी का ही दूसरा नाम निर्वाण है, पर प्रत्येक जन्म-मरण करके युक्त है । तो ससार की ऐसी स्थिति है । सम्पत्ति विपत्ति सहित है सुख-दु ख मिश्रित है । सज्जन सगति वियोगसे भरी है । शरीर रोगोका बिल है जन्म-मरण सहित तो भी यह जीव ऐसा अज्ञानी है कि इन अवस्थावोमे ही अपने को सुखी मानता है और इनसे निकलने की कभी चेष्टा भी नही करता, कभी मन मे ही बात नही लाता । हाँ विवेकी पुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष परिस्थितिवश इनमे पड जाय तो भी इनसे विरक्त है और इनसे हटनेकी चेष्टा करता है ।

असातहुतभुक्शिखाकवलित जगन्मदिर सुख विषमवात-भुग्रसनवच्चल कामज ।
जलस्थशशिचचला भुवि विलोक्य लोकस्थिति विमुचत जना. सदा विषयमूर्छना तत्त्वत ॥२६३॥

परिग्रह ग्रहणमे महासकट—यह संसार रूपी मदिर अर्थात् महल असाता रूपी अग्निसे प्रज्वलित ज्वालासे सदा जलता रहता है मायने असाता अग्नि ने इस ससार महलको कवलित कर लिया है अर्थात् सर्वत्र प्राणी यह दु खमे जलता ही रहता है, क्योकि ससारकी कोई भी स्थिति ऐसी नही है कि जहाँ असाताका प्रभाव न फैला हो । नरकगतिमे सर्वत्र असाता है । कष्ट ही मानता रहता हैं, वहाँ पर बीच-बीचमे साताके उदय आते है । बहुत क्षणिक अथवा असाता कम हो या दूसरा नारकी मारने पीटनेको उस समय किसी क्षणको न आया या बड़े दु खके बाद कई छोटा दु ख रह गया तो उसी

को ही साता समझ लेते हैं, पर असाताका वहाँ बडा साम्राज्य है, तिर्यञ्चोमें भी असाता देखी जा रही है। मनुष्य असातासे दु:खी हो ही रहे है। साताके भी उदय चलते है मगर ये साता के उदय भी सदा रहते नही है। ये असातामे व्याप्त है। देवगतिमे साताकी प्रधानता देखी जाती है मगर वहाँ पर भी कठिन वेदनायें दिख रही है जिससे असाता वहाँ भी चलती है। इस संसारमे सर्वत्र असाता का ही प्रताप फैल रहा है। कामजन्य सुख सर्पकी जिह्वा के समान चचल है। जैसे सर्प जिह्वा कैसी लपलपाता है, बाहर निकली, भीतर आयी, चचल है, क्षण-क्षण बदलती रहती है, क्षणस्थायी है, ऐसे ही कामजन्य सुख क्षणस्थायी है, चचल है, वह भी सदा नही रहता। क्षणभरको कल्पनासे सुख मानता, बादमे यह जीव पछताता है। इसी तरह जो भी कुछ इस संसारमे दृष्टिगोचर हो रहा है वह सब जलमें पड़े हुए चंद्रप्रतिबिम्बके समान अस्थिर है। जैसे किसी नदी या तालाबमे लहरे उठ रही हो और उसमे चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड रहा हो तो उसमें वह प्रतिबिम्ब स्थिर नही रह सकता ऐसे ही यहाँ दिखने वाले सभी पदार्थ अस्थिर है स्थिर नही रह सकते। तो जब ऐसी स्थिति है, असाता ही भरी हुई है, चीजे अस्थिर है तो सज्जनोको चाहिये कि इस ससारके कारणभूत परिग्रहोका सर्वथा त्याग करे, क्योकि जितनी विडम्बनाये अस्थिरताये है वे सब परिग्रहके आश्रयसे है इस कारण परिग्रहोसे मुख मोडकर अपने आपके स्वरूपकी ओर उपयोग रखना चाहिये जिससे कि संसारके सकट और इन सकटोके कारणभूत विकारभाव ये सब दूर हो जाये।

भवेऽत्र कठिनस्तनीस्तरललोचना कामिनीर्धरापरिवृढ श्रियश्चपलचामरभ्राजिता।
रसादिविषयांस्तथा सुखकरान्न क सेवते भवेद्यति जनस्य नो तृणाशिरोबुवज्जीवित ।।
२६४।।

सकल समागमोकी अनित्यताका चित्रण—यह जोवन तृणके ऊपर पड़े हुए ओसकी बूंदके समान क्षणविनाशीक है। जैसे तृणपर, घासपर ओसकी बूँद पडी हो तो वह क्षणिक है, ढल जाय, गिर जाय, सूख जाय, किसी भी हालतसे वह ओसकी बूँद टिक नही पाती, ऐसे ही इस मनुष्यका जीवन टिक नही पाता। यदि यह जीवन टिक जाता होता तब फिर कौन पुरुष ससार त्याग करता? कौन पुरुष युवतियोके संसर्गका सुख छोडता, क्यो बनमे जाकर कोई महापुरुष तपश्चरण करता? वे जब सदा जीते रहते ही तो ससारसुख भोगनेकी ही बात करते तो यह जीवन क्षणिक है इसी कारण महापुरुष चचल नेत्र वाली कामिनियोका संसर्ग तज देते हैं और बड़े-बडे राज्य तज देते है यदि यह

जीवन क्षणिक न होता तो कौन पुरुष कामिनियोका ससर्ग न करता ? ढुलते हुए चावरोसे सुशोभित राज्य विभूतिको कौन परुष न सेवता और कौन पुरुष मधुर-मधुर रस व्यञ्जन आदिकके विषयोको अनुभवमे न लेता ? अर्थात् यदि यह जीवन सदा रहता, कभी नष्ट न होता तो यह मनुष्य विषय ही भोगता, राज्यादिकको ही भोगता रहता। यह कभी उसे त्यागकर तपश्चरणमे न लग पाता। चूँकि यह प्रकट स्पष्ट है कि यह जीवन सदा नही रहता और जितने दिन भी रहता उतने दिन भी यह नियम पूर्वक नही मर रहा। कितने ही मनुष्य तो गर्भमें ही मर जाते, कोई जन्मते ही बाहर निकलते ही मर जाते। अचानक किसी भी समय मर जाते। तो जब जीवन इस प्रकार का क्षणिक है तो विवेकीजन इस ससारके सकटोसे हटनेके लिए इन सब मायामयी घटनावोको त्याग कर ज्ञानात्मक आत्मस्वरूपका ही अनुभव किया करते है।

हसति धनिनो जना गतधनारुदन्त्यातुराः पठति कृतबुद्धयोऽकृत धियोऽनिशं शेरते, ।
तपति मुनिपुगवा विपयिणो रमते तथा करोति नटनर्तनक्रममय भवे जन्मिना ॥२६५॥

अज्ञानी जीवोकी नटवत् विविध चेष्टायें—यह समारी प्राणी नटोके समान कैसा नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न चेष्टाये किया करता है। यह जीव कभी पशु बनता, पक्षी बनता, मनुष्य बन जाता,। यो इसके भेष ही एकदम एक दूसरे से न मिलते हुए नाना प्रकार के यह मनुष्य बना मानो और इस मनुष्यभवमे इसे धन मिल गया तो यह बडा खुश रहता है। अपने आपमे ससारमे बडा मानता है और जिसके वह धन नाश हो जाता है वह आतुर होकर रुदन करना शुरू कर देता है। तो यह जीव कभी हँसता है, कभी रोता है, यह धनको अपना प्राण सर्वस्व समझता हे. तो उसका वियोग होने पर यह चित्तमे कष्ट मानता है। जो ज्ञान वाले पुरुप है वे पढा करते है और जो ज्ञानरहित पुरुष है वे रात दिन आलसमे ही रहते है। निद्रा सी लेते रहते है। तो यह भा एक विचित्र बात है। ज्ञान वाले पुरुपको चेष्टा अन्य प्रकार है. ज्ञानरहित पुरुषकी चेष्टा अन्य प्रकार है, जो मनि श्रेष्ठ है वे तपश्चरण करते है, जो विषीय इन्द्रिय-सुखके लम्पटी है वे इन्द्रिय के विषयोमे ही फसे रहा करते है, इनकी भी कैसी विरुद्ध चेष्टाये है। कोई तपश्चरण कर रहा तो कोई उसके खिलाफ विषयोमे रम रहा इस प्रकार यह जीव नटो के समान नाना प्रकार की भिन्न चेष्टाये कर रहा है। ये जन्मके दोष बताये जा रहे है। जन्म लेकर इस जीवने कौन सा बडप्पनका काम किया ? जीवनमे सर्वत्र यह नाना चेष्टाये करता है और बहाँ विविध कष्ट भोगता ही रहता है तो ऐसी जातिको धिक्कार है।

न कि तरललोचना समदकामिनीवल्लभा विभूतिरपि भूभुजा धवलचामरच्छत्रभृत् ।
मरुच्चलितदीपवज्जगदिदं विलोक्यास्थिर परन्तु सकल जनाः कृतधिया वनात गताः ॥२६६॥

इष्ट समागमोंकी विनश्वरता जानकर विवेकियोंका तपश्चरणोद्यम—कामके मदसे विह्वल हुई ये बल्लभाये कामिनियाँ क्षणिक विनाशीक हैं। जैसे उनके नेत्र चञ्चल है वैसे ही वे स्वय खुद चचल है। राजा महाराजावोकी सम्पत्ति जो लोगोंको प्रकट स्पष्ट दिखती है, उन पर छत्र लगे है, श्वेत चमर उनके सिरपर ढुल रहे, जिससे राज्यकी बडी विभूति विदित होती है तो ऐसी शोभित सम्पत्तियाँ भी शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली है। इससे बढ़कर क्या उदाहरण होगा कि जब श्रीरामका राज्याभिषेक होनेकी तैयारी हो रही थी, निश्चय ही था और अचानक ही यह आज्ञा पितासे सुन पड़ी कि राज्य भरतको दिया जायगा, तो ये राज्यादिक विभूतियाँ ये शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाली है। किसी को राज्य वैभव मिला और वह न सम्हाल सका। दूसरे ने उस पर कब्जा किया। तो बड़ी से बडी सम्पत्तियाँ शीघ्र नष्ट हो जाने वाली है। अन्य भी जो लौकिक सुख है वे भी हवा से प्रेरे गए दीपककी लौ के समान चचल है। जैसे दीपक जलता है तो लौ हवाकी प्रेरणासे चचल रहती है, स्थिर नही रह पाती, इसी प्रकार दुनियाके जितने भी सुख है वे सब अस्थिर हैं। कोई सुख स्थिर नही रहता। यह जीव व्यर्थ ही कल्पनायें करके भ्रमसे अपने आपको सुखी मानता है। ऐसी अनेक बातोका विचार करे कि जगतमे जो कुछ भी सुख प्राप्त हुआ है वह सब विनाशीक है, कभी टिकने वाला नही है इसी कारण बुद्धिमान पुरुष इन समस्त अन्य पदार्थोंके लगाव की स्थितिसे छुटकारा पाने के लिए सर्व कुछ त्याग देते है और जगलमे जाकर तपश्चरण किया करते है। चूँकि सर्व कुछ समागम केवल अनिष्ट के लिए ही है। आत्माका अहितकारी है, उसका आत्मासे कुछ सम्बन्ध नही। सो इस ज्ञानबलसे विवेकीजन समस्त परिग्रहोका त्यागकर ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अपने आपमे अनुभव किया करते है।

इति प्रकुपितोरणप्रमुखभगुरा सर्वदा निधाय निज्चेतसि प्रबलदुःखदा ससृतिः ।
विमुचत परिग्रहग्रहमनार्जव सज्जना यदीच्छत सुखामृत रसितुमस्तसर्वाशुभ ॥२६७॥

सुखार्थियोंको ममत्वपरिहारका उपदेश—हे मुमुक्षुजन! यदि तुम्हारी इच्छा समस्त दुःखोसे रहित चिरस्थायी सुख पाने की है तो इस कुपित सर्पादिक समस्त क्षणभगुर

समान जीवनको अतीव दु ख देने वाला समझो और उससे छुटकारा पाने के लिए कुटिल परिग्रह के ग्रहणका त्याग करो। ऊपरके छदोंमे बताया है कि यह जन्म क्षणभगुर है। इस लोकमे जितने भी समागम मिले है वे सब क्षणिक हैं, उन समागमोमे कल्पनाये करके प्राप्त किया जाने वाला सुख क्षणभगुर है। उस सुखमे लगाव रखने से आत्माकी बरबादी है। ससार क्लेशकी परम्परा है इसलिए इन सुखो को दुःख मानकर इनकी तो अभिलाषा छोडनी चाहिए और वास्तवमे आत्मीय स्वाधीन जो सहज सुख है, चिरस्थायी है उस सुख पाने की वाञ्छा होनी चाहिये। सो यदि चिरस्थायी सुख पाने की इच्छा है तो इस जीवनको दु खदायी समझो जैसे क्रुद्ध हुआ सर्प दु खदायी है इसी प्रकार यह जीवन यह जन्म दु खदायी है। यदि यह आत्मा अपने सत्त्वको प्रकट अकेला रखता हुआ होता अर्थात् अन्य पदार्थोंमे मिला हुआ न होता तो आत्मा दु ख रहित था यह दु खी है तो शरीरके सम्बन्धसे दु खी है। शरीरके सम्बन्ध होने का ही नाम जन्म है। सो इस जन्मको प्रबल दु खदायी समझो तो इस जीवनका क्षणिक सुख, इन्द्रियजन्य सुख दृष्टिमे हेय रहेगा और एक आत्माके ध्यानसे केवल आत्मासे ही उत्पन्न हुआ आनन्द यह ध्येय बन जायगा, सो इस ही आनन्दकी इच्छा करे और जीवनको दु खदायी समझकर जीवनके समागमको, सुखको दु खरूप समझकर उससे अलग हटनेका पौरुष करे। इन सबसे अलग हटनेका पौरुष यही है कि परिग्रहके ग्रहण का त्याग किया जाय याने समस्त पदार्थोंमे ममताको छोड़ दे। जब इस अमूर्त ज्ञान-मात्र आत्माका अन्य कुछ है ही नही तब फिर ममत्व किस बातका किया जा रहा है ?

> मनोभवशरार्दित स्मरति कामिनी यो नरो विचितयति सा पर मदनकातरागी नर।
> परोऽपि परभामिनीमिति विभिन्न भावेप्सिता विलोक्य जगत स्थिति बुधजनास्तय. कुर्वते ॥२६८॥

जीवोंकी विचित्र परिणतियोका दिग्दर्शन—जो पुरुष विवेकी है, हित अहितकी परख करने वाले है वे ससारकी रीति ऐसी समझते है कि देखो कामके बाणोसे पीडित होकर पुरुष जिस कामिनी को चाहता है वह कामिनी उसे नही चाहती जिस पुरुषको वह कामिनी चाहती है वह पुरुष उस कामिनीको नही चाहता और वह तीसरा पुरुष भी जिस कामिनी को चाहता, वह उसे नही चाहती। इस जगतकी विडम्बना बडी दु खदायिनी है, ऐसा निरखकर विवेकी पुरुष तपश्चरण करने के लिए वनमे चले जाते हैं। एक ऐसी ही घटना घटी है जिसपर एक छंदमे रचना भी हुई है। वह छद इस प्रकार है—

या चिन्तयामि सततं मयि सा विरुद्ध। साप्यन्यमिच्छति जन स्वजनेष्वसक्त इत्यादि। इसमे राजाने उस रानी को उस कोतवाल को इस वेश्याको व खुदको व कामको धिक्कारा है। घटना सक्षिप्त यह है —

एक राजा था तो वह राजा अपनी रानीको चाहता था, पर रानी राजाको न चाहकर एक कोतवालको चाहती थी। कोतवाल वेश्याको चाहता था और वह वेश्या किसी अन्य को चाहती थी। ऐसी ही घटनामें एक अमरफलके आदान-प्रदान से जो तथ्य जाहिर हुआ उसे देखकर राजा विरक्त हो गया था। तो इस जगतमे इन्द्रियज सुखका क्या ठिकाना है? कषायोसे भरे हुए जीव अपनी-अपनी कषायके अनुकूल चेष्टाये किया करते हैं। यहाँ कौन किसको चाहने वाला है? कौन किसका हिताभिलाषी हो सकता है? सब कुछ अपने-अपने लक्ष्यके अनुसार प्रवृत्तियाँ की जा रही है तो जब इस ससारमे कोई किसी को वास्तवमे चाहने वाला नही है तब फिर किससे यहाँ राग करना, किसको अपना समझना? ये सब मोहमयी बातें हैं। इन्हे त्यागकर विवेकी पुरुष तपश्चरण करनेके लिए वनमे चले जाते है। जहाँ केवल अपना आत्म-स्वरूप ही दृष्टिमे रहता है वहाँ फिर कोई धोखा नही है। बाह्य पदार्थोंके लगावमे तो धोखा है, पर स्वकीय ध्यानमे कही भी धोखा नही है। सो विवेकी पुरुष इस असार ससार समागमको छोड़कर निर्ग्रन्थ होकर सर्व परिग्रहो से ममता त्यागकर अपने आपके आत्मामे ही तेज धुन बनाकर तपश्चरण करने के लिए वनमे चले जाते हैं।

११—जरा निरूपण

जनयति वचोऽव्यक्त, वक्त्र तनोति मलाविल, स्खलयति गतिं, हृति स्याम, श्लथीकुरुते तनुं।
दहति शिखिवत्सर्वांगानां च यौवनकानन, गमयति वपुर्मर्त्यानां वा, करोति जरान किं॥
२६९॥

बुढ़ापे का चित्रण—इस परिच्छेदमे बुढापेका वर्णन किया गया है। बुढापेके आ जाने से मनुष्यके वचन अव्यक्त हो जाते हैं, क्योकि सर्व अग शिथिल हो जाते है। ओंठ जिह्वा आदिक सभी शिथिल पड़ जाते हैं तो उनका वह परस्पर प्रवर्तन नही हो पाता जिससे कि वचन स्पष्ट सुननेमे आयें। तो बुढ़ापेमे कैसी-कैसी दुर्दशायें होती हैं उनका वर्णन किया जा रहा है। बुढापेमे जीभ लड़खड़ाने लगती है क्योकि शरीर शिथिल हो

जाता है अब जीभको मनमाफिक प्रवर्तना शक्य नही हो रहा, और प्रवर्ताते है तो शिथिल हो जानेके कारण जीभ लडखडाने लगती है। बुढापेमे मुखमे मल भरा रहता है, मुखसे लार निकलती रहती है और ओठ लारसे भिड रहते हैं। बुढापेमे लार, कफ आदिक बहने लगते है। वृद्धावस्था ऐसी दुखमयी अवस्था है। वह गतिस्खलित हो जाती है। चलते है, पैर कही रखना चाहते, पर पडते कही के कही हैं बुढापेमे सामर्थ्य नष्ट हो जाती है शक्ति नही रहती। अपने हाथ भी आरामसे उठा नही पाते। पडे से उठना कठिन, बैठेसे खडे होना कठिन, यो सारा शरीर शिथिल होने लगता है। बुढापेमे यह यौवन खाकमे मिल जाता है। जैसे कोई वन अग्निसे मिल गया तो सारा वन खाक हो गया ऐसे ही बुढापेमे यह यौवन खाकमे मिल जाता है। वहाँ न क्रान्ति रहती है, न शरीरकी सामर्थ्य रहती है। बुढापेकी दुर्दशा कहाँ तक कही जाय ? जिस अवस्थाका पहले कभी अनुमान न कर सकते थे ऐसी अवस्था शरीरकी बुढापेमे हो जाती है। तो जैसे जन्म एक वडा दुख है, दुखका मूल निवास है तो बुढापा भी महान दुख है, जहाँ अच्छी गति मानी जाती है वहाँ बुढापा नही आया करता, जैसे देवगति मे बुढापा नही आया करता, लेकिन मरते समय मालाका मुर्झाना यह सब बुढापेका ही तो चिन्ह है, वहाँ पर भी वे दुखी रहते है। बुढापा एक बहुत वडी दुर्दशा है और इस बुढापेका असर मनुष्य और तिर्यञ्चो पर अधिक पडता है। जैसे बूढे पशु पक्षी शिथिल होकर गतिरहित हो जाते और मरण कर जाते है ऐसे ही यह मनुष्य भी बुढापेमे बड़े कठिन दुःख भोगता है। पराधीन हो जाता है। किसी ने सेवा की तो की न की तो जैसी स्थिति है उस स्थितिमे पडे रहते है।

प्रबल पवनपाततध्वस्तप्रदीप शिखोपमैररतिमलनिभै. कामोद्भूतै सुखैर्विपसनिभै ।
समपरिचितैर्दुःख प्रातैः सतामतिनिंदितैरिति कृतमना शंके वृद्ध' प्रकपयते करौ ॥२७०॥

वृद्ध पुरुषोके कम्पित हाथोंसे उपदेशका लाभ—बुढापेमे दुख क्या है कि मनुष्य के हाथ कपने लगते है सो मानो बुढपेके कारण मनुष्यके हाथ कपकर यह शिक्षा दे रहे हैं लोगोको कि भाई तुमने जो जवानी अवस्थामे कामजन्य सुख भोगे थे वे अब विष तुल्य हानिकारक सिद्ध हुए है। आँधीके वेगसे बुझाये गए दीपकके लौ के समान क्षणविनाशीक और महा दुखके साधन निकले है। सज्जन लोग जो पहलेसे इस काम रोग भोगकी निन्दा करते थे सो बिल्कुल ठीक है उसमे रच मात्र भी असत्य नही है इसलिए इन भोगोंका भोगना सर्वथा अनुचित ही है। बुढापेकी दशा देखो हाथोका कंपना मानो इस

बातको जाहिर कर रहा है कि यह दुर्दशा मैने इस कारण पायी कि जवानीमे मन स्वच्छद करके मनमाना काम भोगा था सो उस काम व्याधि भोगने की परिस्थितिसे आज ऐसी स्थिति हुई है तो ये कांपते हुए हाथ दुनियाको यह शिक्षा दे रहे है कि यदि ऐसी दशा नही प्राप्त करनी है तो हे युवको अपनी जवानी अवस्थामे समस्त भोगोका परिहार करके आत्मज्ञानसे भरपूर बनो और आत्माकी दृष्टि करके सतुष्ट होवो इन भोगोमे सार नही है यह शिक्षा ये कँपने वाले हाथ स्पष्ट रूपसे लोगोको दे रहे है ।

चलयति तनुं, दृष्टेर्भ्रांति करोति शरीरिणां रचयति बलादव्यक्तोक्ति, तनोति गतिक्षिति ।
जनयति जने नुद्या निदामनर्थपरपरां हरति सुरभि गध देहाज्जरा मदिरा यथा ।।२७१।।

वृद्ध पुरुषोंकी मद्यपायीकी तरह विडम्बना—जैसे मदिरा पीनेसे शरीरको मदिरा चल-विचल कर देता है, आंखोको भ्रमा देता है, स्फुटित वचन कहलवाता है, चलनेमे बाधा डालता है, लोकमे निन्दाकापात्र बना देता है, देहकी सुगन्धि नष्ट कर देता है, दुर्गन्ध उत्पन्न कर देता है । तो जैसी दशा मदिरापान करने से शरीरकी हो जाती है ऐसी ही दशा वृद्धावस्थासे शरीरकी हो जाती है । जैसे मन्दिरा पीने से शरीर चल-विचल हो जाता है, कंप जाता है तो वृद्धावस्थामे भी शरीर चलविचल हो जाता है और यह कम्पित हो जाता है । शराब पीने से आंखे घूम जाती है । वृद्धावस्था आनेसे यहां भी आंखोकी ज्योति कम हो जानेसे दृष्टिमे भ्रान्ति कर देता है । मदिरापायी पुरुष वचन स्पष्ट नही बोल पाता । तो यह वृद्धावस्था वाला भी टूटे-फूटे कुछ से कुछ शब्द बोलता है, स्पष्ट नही बोल पाता है । मदिरापानसे जैसे चलनेमे बाधा आती है तो वृद्धावस्था होनेसे यह शरीर भी ठीक-ठीक नही चल पाता । जैसे शरीर पहले चलता था वैसे अब वृद्धावस्था आने पर नही चल पाता । मदिरापायी को जैसे बडी निन्दा होती है ऐसे ही वृद्धावस्था मे लोगोसे नाना प्रकार की निन्दा भरी बाते सुननेको मिलती है । जो चाहे उस वृद्धको कुछ भी कह जाय आखिर वह वृद्ध उपचार क्या कर सकता है ? मदिरा पीनेसे शरीरकी सुगध खत्म हो जाती है और दुर्गन्ध आने लगती है, तो वृद्धावस्थामे भी शरीरमे दुर्गन्ध आने लगती है । यह वृद्धावस्था बडी भयकर अवस्था है, पूर्ण दु:ख वाली अवस्था है । इस वृद्धावस्थासे बचनेके लिए यह ही उपाय है कि इस जीवके शरीरका सम्बंध ही न रहे । शरीर रहित केवल शुद्ध हो जाय । फिर वहां बुढापा क्या, किसी भी प्रकार के रोगकी, दु:खकी सम्भावना नही रहती इससे इस बुढापाके सकट से बचनेके लिए बुढापारहित, शरीर रहित केवल ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वका अनुभव करना चाहिये और

आत्मतत्त्वकी दृष्टिमे ही रहकर तृप्त रहना चाहिये।

भवति मरण प्रत्यासन्न, विनश्यति यौवन प्रभवति जरा सर्वांगाना विनाशविधायिनी।
विरमत बुधा कामार्थेभ्यो वृषे कुरुतादर वदितुमिति वा कर्णोपातस्थित पलित जने ॥२७२॥

वृद्धावस्थाके सफेद बालोसे उपदेश--वृद्धावस्था आनेके समय सिरके बाल श्वेत हो जाते है। मानो ये श्वेत हुए बाल लोगोको कानके पास जाकर अपने आगमन से ऐसी सूचना देते है कि हे विद्वान, हे हित अहित के पारखीजनो, तुम्हारा मरण अब समीप है, तुम्हारा मरण शीघ्र आने वाला है, तुम्हारे यौवनकी म्याद पूरी हो चुकी, वह अब नष्ट होने के करीब है, सो देखो तुम्हारा बुढापा आ रहा है, जिससे तुम्हारे अग जो इस समय काम करनेमे समर्थ है वे अब शक्तिहीन हो जायेंगे। किसी कामके न रहेंगे, इसलिए अब कामका प्रयोजन छोडो, तुम जो अब तक भोग चुके सो भोग चुके, अब धर्मकी ओर ध्यान दो, अन्तके दिनोमे तुम भी अपना हित कर लो। मानो ये बुढापेके श्वेत बाल ऐसा स्पष्ट लोगोको प्रतिबोध कर रहे है। बुढापा आने पर यह तो निश्चित ही है कि बुढापेके बाद मरण ही होगा। जवानी या बचपन पुन: लौटकर नही आता। एक ही निर्णय है कि मरण होगा। बुढापा कहते हो उसे हैं जहाँ जवानी नष्ट हो गई। शरीर शिथिल हो गया। जैसे पुद्गलमे भी काठ आदिक पदार्थ बहुत दिनके हो जाये तो वे खोखले हो जाते है, शक्तिहीन हो जाते है, फिर तो उन्हे कोई हाथसे ही तोड डालते हैं। तो शरीर भी बहुत दिन तक रहा आया तो यह भी शिथिल हो जाता है, शक्तिरहित हो जाता है। तो ऐसा जरा अर्थात् बुढापा समस्त अगोका विनाश करने वाला है। सो यह बुढापा यह शिक्षा दे रहा कि अब तुम काम और धनार्जन आदिकके विकल्प को त्यागकर विराम लो और धर्ममे आदर करो। धर्म ही इस समय इस जीवको विश्राम देगा और परलोकमे भी सद्गतिकी अवस्थाको प्राप्त करायगा, इसलिए बाह्य विकल्पो को त्यागकर अर्थ और काम पुरुषार्थको छोडकर अब धर्म पुरुषार्थमे चित्त दो, ऐसा ये सफेद केश दुनियाको शिक्षा दे रहे हैं।

मदनसदृश य पश्यती विलोचनहारिणी शिथिलिततनु कामावस्था गता मदनातुरा।
तदपि जरसा शीर्ण मर्त्य बलादिह भोज्यते जगति युवतिर्वा भैषज्य विमुक्तरतस्पृहा ॥२७३॥

वृद्धावस्थामे कामविडम्बनापर आश्चर्य—जो युवतियाँ नेत्रोको प्रिय माना जाती थी, जिनको कामके समान सुन्दर माना जाता था, जिन्हे देखकर शिथिल शरीरको धारण करने वाले कामसे पीड़ित हो जाते थे, उन्ही को वृद्धावस्थामे अब जरा से जीर्ण

शीर्ण महान निन्दित रूपका धारी देखते है, सो वे यद्यपि कामकी इच्छासे विल्कुल रहित हो जाती हैं तो भी औषधिके समान इच्छा न रखने पर भी जवरन भोगी जाती है। इस वृद्धावस्थामे इस पुरुषकी दयनीय दशाका चित्रण किया है। वृद्धावस्था होने पर भी जो पुरुष युवतियोका सेवन करते हैं उनकी कुचेष्टाये कितनी करुण हैं। जो स्त्री इस पुरुषको कामके समान सुन्दर मानी जाती थी, जिन्हे देखकर यह पुरुष स्वयं कामसे पीडित हो जाता था वही पुरुष अब वृद्धावस्थामे जीर्ण शीर्ण गला हुआ देख रहा है, सो ऐसे शरीरको देखकर स्त्री कामकी इच्छा कैसे करे? ऐसी विकट परिस्थितिमे भी ये स्त्रियाँ अब भी उस वृद्ध जीर्ण शरीर वाले पुरुषोके द्वारा भोगी जाती है, यह बडे आश्चर्य और अधेरकी बात है। बुढापा होने पर सर्व कुछ बात शिथिल हो गई, मगर भीतरसे कामकी वासना नही निकली। यह अज्ञानका बड़ा कठिन प्रभाव है। तो काम भोगादिकसे विरक्त होकर पूर्ण विश्राम लेकर अपने आपके सहज स्वरूप का दर्शन करना चाहिये था अपने सहज स्वरूपके निरखने मे ही तृप्त रहना चाहिये था, मगर यह सब कुछ न होकर ऐसी स्थिति बन गई कि भोग-भोग भी नही सकते और इस कारण भोग-भोगने की बड़ी प्रबल वासना बन गई है और उस समय ऐसी स्थिति हो गई जैसी कि नपुसकोकी स्थिति होती है। जैसे नपुसक भोग नही भोग सकते मगर उनके मनकी जलन इतनी तेज है, इतनी तीव्र अभिलाषा है कि वह अन्दर ही अन्दर जलता रहता है ऐसे हो यह अज्ञानी वृद्ध पुरुष अपने आपमे जलता ही रहता है।

भवति विषयान् भोक्तु मोक्तु न च क्षमचेष्टितो वपुषि जरसा जीर्णो देही विधूतवल: पर।
रसति तरसा स्वस्थीनि श्वा यथा त्रपयोज्झित. कररसनया धिग्जीवाना विचेष्टितमीदृश ॥
२७४॥

वृद्ध पुरुषोंकी विवशताका चित्रण—यह वृद्ध पुरुष बुढापेके कारण अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। जैसे बहुत पुराना चर्खा, जिसके खूटे वगैरह हिलने लगते है, वह खटखट करता है, काम ठीक नही देता, ऐसे पुराने चर्खे की तरह बूढे व्यक्ति का शरीर हो जाता है। बुढापेमे शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाती है, तो भी आश्चर्यकी बात है कि उस बूढेको इन्द्रियविषयोके छोडनेकी इच्छा नही होती वल्कि भोगने की इच्छा बनी रहती है। सो जैसे रक्त मास रहित हड्डीको कुत्ता तृष्णासे चवाता है, चबाता ही रहता है, उसे छोडता ही नही है, चाहे उस हड्डीके चवानेसे उसके मसूढे फट जाये और अपने मसूढो का खून स्वादने लगे और भ्रमसे उसी को हो

ऐसा जानकर कि मुझे हड्डीसे सुख आया है हड्डीको चबाया ही करता है, ऐसे ही इस वृद्धावस्थामे इन्द्रियजन्य विषयोकी यह वृद्ध पुरुष सेवा करता ही रहता है, छोड़नेको मन नही करता । तो कैसा बुढापेकी दुर्दशा है कि यह अज्ञानी पुरुष इस बुढापेमे न भोगोको भोग सकता न भोगोकी इच्छाको छोड सक्ता है । तो ऐसी कठिन स्थिति है इस वृद्ध पुरुषकी । ऐसे जीवोकी चेष्टावोको बार-बार धिक्कार है । यदि शरीरने मदद करनी छोड दी तो यह शरीरसे उपेक्षा करके आत्माके शुद्ध अन्त स्वरूपको निरखता रहे, यह काम करना चाहिए, परन्तु आत्मीय पुरुषार्थ को कैसे करे उसका ज्ञान ही नही, तो अज्ञानवश बुढापेमे यह वृद्ध पुरुप न भोगोको भोग सकता और न भोगोको छोड़ ही पाता ।

तिमिरपिहिते नेत्रे लालावलीमलिन मुख विगलितगती पादौ देहो विसस्थुलता गतः ।
पलितकलितो मूर्धा कपत्यबोधि जरागनामिति कृतपदा तृष्णा नारी तथापि न मुचति ।। २७५।।

जराग्रस्त पुरुषपर तृष्णाकी आसक्ति—ससारका ऐसा एक कायदा बना हुआ है कि स्त्री किसी पुरुषमे तब तक ही प्रेम करती रहती है जब तक कि वह पुरुष उस स्त्रीको चाहता रहता है । जैसे ही उस पुरुषने किसी अन्य स्त्रीको चाहा अर्थात् उस स्त्री से उपेक्षा की और अन्य स्त्रीको चाहा वैसे ही वह स्त्री क्रोध करने लग जाती है और यहाँ तक क्रुद्ध हो जाती है कि उसे छोडने पर भी उतारू हो जाती है । लेकिन इस जीवकी बात इससे निराली बन रही है । तृष्णा रूपी स्त्री ऐसी निर्लज्ज स्त्री है जो स्त्रियोंके कायदे के विरुद्ध काम करने लगती है । पुरुष जब जरा रूपी सर्पसे ग्रस जाता है तो इस तृष्णा स्त्रीको उस पुरुषसे मोह छोड देना चाहिये, क्योकि अब उस पुरुषने जरा अर्थात् बुढापा रूपी स्त्रीसे प्रेम किया है याने बूढा हो गया है । यद्यपि उसको इस बातका भी निश्चय हो जाता है कि इस वृद्ध पुरुषके नेत्र मद ज्योति के हो गए, मुख राल, कफ आदिकसे भरा रहता है । पैर भी ठीक ठिकाने टिक नही पाते, चलते हुए मे पैर लडखडाते हैं । देह शिथिल झुर्रीदार हो गया, सिर सफेद हो गया, सारे शरीरके अगोके साथ सिर भी काँप रहा है, तो स्पष्ट मालूम हो गया कि इस पुरुष को जरा रूपी दूसरी स्त्रीने अपना लिया है । तो जैसा स्त्रीजनोका कायदा है कि दूसरी स्त्रीका प्रेम दिखे पुरुषपर तो वह उस पुरुषको छोड देती है, लेकिन तृष्णा जरा बुढापेकी सगति देखकर भी इस पुरुषको छोडना नही चाहती, अर्थात् ज्यो-ज्यो

बुढापा बढता जाता है त्यों-त्यों तृष्णा भी बढती जाती है, यह बडी विडम्बनाकी बात है।

गलति सकल रूप, लाला विमुंचति जल्पनं, स्खलति गमन, दता नाश श्रयति शरीरिणः।
विरमति मतिर्नो शुश्रूषा करोति च गेहिनी, वपुषि जरसा ग्रस्त वाक्य तनोति न देहजः॥ २७६॥

जराग्रस्तकी दुर्दशा—जिस समय यह मनुष्य बुढापेसे ग्रस्त हो जाता है उस समय इसका सम्पूर्ण रूप नष्ट होने लगता है। न काति रहती है न शरीरमे पुष्टि रहती है, और बुढापा से ग्रस्त पुरुष बोलने मे स्पष्ट शब्द नही बोल पाता और उसके मुखसे थूक टपकने लगता है, जब वह बूढा पुरुष चलता है तो चलनेमे पैर टेढे हो जाते है। बूढ़े आदमी के पैर सीधे नही रह पाते। चलनेमे पैर टेढे ही चलते है। बूढ़के दाँत गिर पड़ते है, दाँतहीन मुख हो जाता है। बुढापेमे बुद्धि भी काम नही करती। कहते ही हैं लोग कि अब यह सठिया गया। अधिक उम्र होने पर उसकी बुद्धि काम नही देती। वृद्ध पुरुषकी खास स्त्री भी जो बहुत पहले बड़ा प्रेम दिखाया करती थी वह भी सेवा सुश्रुषा करना छोड देती है और जब पुरुष वृद्ध हो जाता है तो पुत्र भी जानने लगते है कि अब इससे मेरा कोई स्वार्थ सिद्ध नही हो सकता, यह मेरे कुछ काम का नही रहा सो पुत्र भी उसकी उपेक्षा कर जाते है और उसकी आज्ञा नही मानते है। तो वृद्ध पुरुषकी स्थिति बड़ी दयापूर्ण है। पहले वह कैसा भी बलशाली रहा हो, लोगो पर अपना बड़ा प्रभाव डालने वाला रहा हो, कैसा ही लोगोके द्वारा वह बड़ा माननीय हो गया हो लेकिन बुढापा आते ही शरीरके पूर्ण शिथिल होते ही ये सारी दुर्दशाये होने लगती है और लोग उससे उपेक्षा करने लगते है। ऐसा बुढापा इस जीवके लिए हितकारी नही है। महान दुखसे भरा है। तो जब शरीर लगा है तो बुढापा होगा ही। तो जिसे बुढापेका दुःख न चाहिए उसका कर्तव्य है कि ऐसा उपाय बनाये कि शरीरसे ही वह रहित हो जाय याने सिद्ध हो जाय। जब शरीर ही इसे न मिलेगा तो बुढापा आदिकके दुख इसको किस प्रकार प्राप्त होगे ?

रचयति मतिं धर्मे, नीति तनोव्यतिनिर्मला, विषयविरति धत्ते, चेतः शमं नयते परा।
व्यसननिहृति दत्ते, सूते विनीतिमथार्चिता मनसि निहिता प्राय. पुंसा करोति जरा हित॥ २७७॥

जरा की हितकारिता—जो पुरुष ज्ञानी होते है उनके लिए बुढापा भी योग्य दिशावोंकी ओर ले जाता है। हित बुद्धिसे विचारा जाय तो बुढापा एक तरहसे प्राणियो

का हित ही करने वाला है। जब वृद्धावस्था आती है तो विवेकी पुरुषोकी बुद्धि धर्ममे लग जाती है, क्योंकि विवेकी पुरुष उस समय वैराग्य बुद्धिमे आ जाते है। यह ससार अहितरूप है, यहाँ जितने भी समागम प्राप्त किये है वे सब इसके अनर्थके लिए ही है। इन समागमोकी क्या चाह करना ? मैंने अब तक इन इष्ट समागमोमे रमकर अपने आपको भुलाया ही है। अब जीवनके अन्तका समय निकट आ गया, इसकी निशानी यह बुढापा है। इन भोगोमे बुद्धि न रखकर आत्मतत्त्वमे ही बुद्धि रखनी चाहिये। इस प्रकार विवेकी जनोकी बुद्धि धर्ममे आ जाती है। वृद्ध पुरुषके जो कि विवेकी हो उसकी निर्मल नीति चलने लगती है। उसका आचरण निर्मल नीति पूर्ण होने लगता है। अन्याय के लिए उसके चित्तमें इच्छा नही उत्पन्न होती। वृद्धावस्थामे विषयोसे विरक्त हो जाता है क्योकि विषय भोगकर कुछ नही पाया, यह उसका ध्यान बना हुआ है और विषयोके भोगनेका अब भाव नही रहा है, इस कारण उस वृद्ध विवेकी पुरुषके विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। बुढापेमे चित्तमे एक अभूतपूर्व शान्तिका आविर्भाव होता है क्योकि अब उसे न करने का भाव आया है। मेरे करनेको जगतमे कुछ भी नहीं है प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे अपनी ही परिणति किया करता है एक का दूसरे से कुछ भी सम्बध नही है। वृद्धावस्थामे इन विवेकी पुरुषोके पवित्र विनयका भाव जगने लगता है।

युवतिपरा नो भोक्तव्या त्वया मम सनिधाविति निगदितस्तृष्णा योषा न मुचसि कि शठ।
निगदितुमिति श्रोत्रोपात गतेव जरागना पलितमिपतो न स्त्रीमन्या यत. सहतेऽगना॥
२७८॥

जराका जराग्रस्त को सबोधन—जो उसके केश श्वेत बन गए है सो मानो उस बहाने जरा कानके समीप आकर ऐसा कहती है कि हे बुद्धिमान अब मैं तुम्हारी हितकारिणी जरास्त्री आ गई। मेरे सामने तुमको इस दुष्ट तृष्णाका सम्पर्क न करना चाहिये। अब तक तुमने इस दुष्ट तृष्णाका ही सम्पर्क किया जिससे जीवन भर दुखी रहे। जगतके ये सब पदार्थ भिन्न है, उनसे तुम्हारा कोई सम्बध नही है, फिर उनके विषयमे तृष्णा करके क्यो अपने आपको परेशान करते हो ? अब इस तृष्णाका सम्पर्क न करना। इस तृष्णा की सगतिसे तुमने नाना प्रकारके दुख उठा लिया है। जो भी दुख हुए है वे सब तृष्णाके कारण हैं। जो लोग ऊँचे ओहदेदार बनकर अपने आपको बडा समझते है वे उस प्रतिष्ठामे कायम रहनेके कारण तृष्णासे निरन्तर व्याकुल बने रहते हैं। जो धनिक लोग धन सग्रह करके धनकी बात सोचकर मौज मानते हैं वे [illegible] बढ़ानेके भावसे, और भी बढ़ाते रहनेके भावसे

है कि मनकी तृष्णा नही मिटती। वृद्ध पुरुषोके प्राय. तृष्णा बनने लगती है, क्योकि तृष्णा मनकी हवस है सो जब शरीर किसी वस्तुको भोगने लायक नही रहता और इसके इच्छा बनी रहती है तो उस समय भी तृष्णा बहुत बडी जग जाती है, ये सब अज्ञानकी चेष्टायें है। अज्ञान अवस्थामे जिसका सारा जीवन गुजरा, उसके बुढ़ापा आने पर भी तृष्णा आदिक व्याधियां उसके सामने बढ जाती है, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष है वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानकर तृष्णाको दूर कर देते है, किन्तु यह ससार तो अज्ञानियोसे भरा हुआ है। यहां जो पुरुप वृद्ध होते है उनके तृष्णा बढ़ती है, मिटती नही है। तो यह बडे आश्चर्यकी वात है कि देह मिटने वाला है, आयु समाप्त होने वाली है, देह जीर्ण हो गया है, किन्तु यह तृष्णा जीर्ण नही होती, सो यह सब विडम्बना इस ससारमे जब तक शरीर मिलता है होती रहेगी। सो यह वृद्धावस्थाकी विडम्बना जिसको इष्ट नही है वह शरीररहित ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना करे।

सुखकरतनुस्पर्शा गौरी करग्रहलालितां नयनदयितां वशोद्भूतां शरीरबलप्रदां।
धृतसरलता वृद्धो यष्टिं न पर्वविभूषिता त्यजति तरुणी व्यक्त्वाप्यन्या जरावनितासखी॥
२८०॥

वृद्ध पुरुषको स्त्रीका सहारा छूट कर लाठीका सहारा होना—वृद्धावस्थामे स्त्री भी साथ छोड़ देती है। जिस स्त्रीने वृद्धावस्था तक सुखकारी शरीरका स्पर्श दिया था। जो शरीरके स्पर्शसे सुख देने वाली थी, नेत्रोको प्रिय थी, हस्तके ग्रहण करनेसे जो लालित हुई, प्रिय हुई और कुलीन भी हुई, शारीरिक बलको भी प्रदान करने के उपाय कर रही थी, जिसने अपने जीवनमें सरलता ही धारण की हो ऐसी भी परिग्रहीत स्त्री अर्थात् जिसके साथ धर्मविधि पूर्वक विवाह हुआ हो वह स्त्री भी इस पुरुषको छोड देती है मायने प्रीति नही करती, पर उससे पहले यह वृद्ध पुरुष भी उस ऐसी भामिनी को छोड़ देता है जिस स्त्रीने इसका जीवन भर लालन पालन किया, बड़े सुखसे उसको रखा और सदैव यह वासना रखी कि मेरेको चाहे दुख हो जाय पर यह स्त्री सुखसे रहे, ऐसी स्त्री को भी यह वृद्ध पुरुष छोड देता है अर्थात् अब स्त्रीका संग नही करता लेकिन अब इस पुरुषने लाठी रूपी स्त्रीका संग पकडा है याने वृद्ध होने पर यह पुरुष लाठीका सहारा लेकर चलता है, तो इसने उस स्त्रीका सहारा लेना तो छोड दिया और लाठीका सहारा लेना ग्रहण किया है। तो अब मानो उस वृद्धावस्थामे साथी का काम लाठी कर रही है याने वृद्धावस्थाका मित्र लाठी बनी है। जो लाठी अनेक वर्षोंसे

विभूषित है, बाँसकी लाठी होती है, उत्तम बशसे उत्पन्न हुई है, अब यही शरीरकी सहायक है जिसके ऊपर अच्छी मूँठ लगी हुई है, सीधी सादी है ऐसी यष्टि रूपी नवीन स्त्रीको अब यह वृद्ध पुरुष ग्रहण कर लेता है। पाणिग्रहीत स्त्रीकी तरह इस लाठी रूपी स्त्रीकी उपमा दी गई है। जैसे युवती सुखकारी शरीरके स्पर्शसे युक्त है तो यह लाठी भी कोमल स्पर्शसे युक्त है। वह युवती नेत्रोको प्रिय है तो अब इसको यह लाठी नेत्रोको प्रिय हो गई, वह स्त्री कुलीन है, उच्च कुलमे पैदा हुई है, तो यह लाठी भी उत्तम बाँससे उत्पन्न हुई है बाँसको बंश कहते है। उत्तम बशसे उत्पन हुआ है। तो यह लाठी भी उत्तम बंशसे उत्पन्न हुई है। जैसे वह स्त्री शरीरको सहायक थी शरीरका बल पैदा करने के उपाय बनाती थी तो यह लाठी भी इस वृद्ध पुरुषको शरीरकी सहायक बनती है। जैसे वह स्त्री सरल चित्त वाली थी वैसे ही यह लाठी भी सरल है, सीधी है। वृद्धावस्था के चित्रणमे इस छदमे यह बताया गया है कि इस वृद्ध पुरुपने स्त्रीको तो छोड़ दिया और अब लाठीको ग्रहण किया है।

त्यजसि न हते तृष्णायोषे जरागनया नर रमितवयुषं धिक्ते स्त्रीत्व शठे त्रपयोज्झिते।
इति निगदिता कर्णाभ्यर्णे गतै पलितैरिय तदपि न गता तृष्णा का वा नु मुचति बल्लभा ॥
२८१॥

वृद्धपुरुषसे प्यार करनेके हठमे तृष्णाकी निर्लज्जता—वृद्धावस्था बुढापे के कारण श्वेत हुए ये केश रूपी सभ्य पुरुष है जो तृष्णारूपी स्त्रीको बार-बार धिक्कारते है। मानो यह बात बार-बार कहते है कि हे निर्लज्ज तृष्णा इस पुरुषको अब तू छोड दे। यह पुरुष अब तेरे कामका नही रहा, क्योकि जो श्रेष्ठ स्त्रियाँ होती है वे अपने सामने अपनी सपत्नीका साम्राज्य नही देख सकती। यहाँ जरा और तृष्णा इन दो स्त्रियोका जिक्र चला है। ये पुरुषकी दोनो पत्नी है। पूर्व पत्नी तृष्णा थी जो अब तक है। नवीन पत्नी जरा आयी हुई है तो कोई भी सौत अपने सामने दूसरी स्त्रीका वैभव साम्राज्य नही देख पाती। वह अपना ही चला बनानेको सोचती है। सो अब जरा कह रही है कि श्वेत केशोके बहाने जब मैने इस पुरुषसे प्रेम किया है तो हे तृष्णा तू अपना सम्बध छोड दे। देख यह पुरुष जरा रूपी स्त्रीके फदेमे पड चुका है उसे अब और सेवन करना तुझे धिक्कार है। श्वेत केश मानो उस तृष्णासे वार्ता कर रहे है, इस प्रकार मालूम पडता है, तो ये सफेद केश इस तृष्णाको बार-बार धिक्कारते है किन्तु यह तृष्णास्त्री इतनी बेशरम हो गई है और स्त्रीपनके कायदेसे इतना गिर गई है कि इतना धिक्कारे जानेके बाद यह

तृष्णा इस पुरुषको नही छोडती है। जो इस तृष्णाका यह पुरुष इतना प्यारा बन गया है अथवा इस पुरुषको यह तृष्णा इतनी प्यारी बन गई है कि ये सफेद केश मानो बार-बार धिक्कार रहे है कि अब तृष्णा और पुरुष का संग होना भला नही है, मगर न तृष्णा उस पुरुषको छोडती है और न यह पुरुष उस तृष्णाको छोडता है। इस छदमे बुढापेकी दयनीयता दिखाई गई है कि बूढा होने पर भी और भोग भोगनेके अयोग्य होने पर भी यह वृद्ध पुरुष अब तृष्णाको छोडना नही चाह रहा है।

त्यजत विषयान् दु:खोत्पत्तो पटूननिश खलान्मतान विषयान् जन्मारातेर्निराशकृतो हितान्।
जरयति यत कालः काय निहृति च जीवित वदितुमिति वा कर्णोपाने गत पलित जनाः ॥
२८२॥

श्वेतकेशोका कर्णके पास आकर उपदेश—अथवा हे सज्जनो, सदा नाना प्रकारके दु ख देने वाले इन महान दुष्ट विषयोका तो त्याग करो। मानने ये सफेद केश कानके पास आकर मानो बार-बार समझा रहे हैं कि हे विवेकी पुरुष इन दुष्ट विषयोने जीवन-भर तुझे दु ख ही दिया है सो अब इन दुष्ट विषयोका तो परित्याग ही करो। ये विषय जन्म-मरण के बढाने वाले है अर्थात् जन्म दिलाते रहेगे और मरण होते रहेगे, पर जो अपना आत्मतत्त्व है वह विषय जन्म-मरणको नष्ट करने वाला है, परम हितकारी है। इस अंतस्तत्त्वका आलम्बन कर, क्योकि समय व्यतीत होता जा रहा है और जीवन शरीरको क्षीण करता चला जा रहा है, ऐसी स्थितिमे अब आत्म-कल्याण शीघ्र कर लेना उचित है। यदि इस समय भी चूके तो ऐसे भवोके क्लेश अनेक भवोमे पावोगे। इन क्लेशोसे यदि छूटना है तो शरीर रहित जो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व है उस रूप अपने आपको भावो। मैं अमूर्त शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, शरीरसे रहित हूँ, ऐसा अपने को ज्ञानमय अनुभव करो और इन दुष्ट विषय भोगोका परित्याग करो।

हरति विषयान् दडालवे करोनि गतिस्थिती स्खलयति पथि स्पष्टं नार्थं विलोकयितुं क्षमा।
परिभवकृता सर्वाश्चेष्टास्तनोत्यनिवारिता कुनृपमतिवद्देहे नृणा जरा परिजृम्भते ॥२८३॥

जराकी कुनृपमतिसे तुलना—पुरुषोका बुढापा खोटे राजाकी मतिकी तरह इस देहमें आकर अपना डेरा जमाता है और सारी खोटी चेष्टाये कराता है। जिस समय यह वृद्धावस्था मनुष्यके देहमे आकर बसती है उस समय उसकी सारी चेष्टाये खोटे राजाकी बुद्धिको तरह हो जाया करती है। जैसे जिस तरह खोटे राजाकी बुद्धि विचारने योग्य बातोको छोड देती है उसी प्रकार यह बुढापेसे ग्रस्त पुरुष भी विषयोको छोड़ देता है

याने इन्द्रिय भोग भोगनेकी सामर्थ्य नही रहती है इस कारण छोड देता है। यदि ज्ञान-बलसे छोडता तो उसका छोडना भला था किन्तु उसने मनसे नही छोडा। शारीरिक अशक्ति होनेसे इन्द्रिय विषय भोगोको छोडना पडा है। २री बात जैसे खोटे राजाकी बुद्धि गति और स्थिति दोनो ही जगह है याने शान्ति और विरोधमे सभी जगह दण्ड नियमका आलम्बन करता है मायने दण्डका आलम्बन लेना होता है उसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी गति और स्थितिमे याने चलने और बैठने आदिक सब अवस्थावोमे दण्डका आलम्बन करता है। तीसरी बात–जिस प्रकार यह खोटे राजाकी बुद्धि पथसे भ्रष्ट हो जाती है याने न्याय-मार्गसे स्खलित हो जाती है और तब योग्य अयोग्यका विचार नही कर सकती। उसी प्रकार बुढापेसे ग्रस्त मनुष्य भी पथ-भ्रष्ट हो जाता है याने रास्तेमे स्खलित हो जाता है। थोडो दूर चल पाता है फिर बैठ जाता है। रास्तेमे जहाँ पैर रखना चाहता है वहाँ पैर नही पडते है। चौथी बात–जिस प्रकार खोटे राजाकी बुद्धि अर्थको याने वास्तविक तत्त्वको स्पष्टतया नही देख सकती, उसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी अर्थको याने पदार्थको स्पष्टतया नही देख सकता है। ५वी बात–जैसे खोटे राजाकी बुद्धि समस्त परिभव याने तिरस्कारका फल देने वाली चेष्टावोको करता है याने कुबुद्धि होनेसे स्वयका तिरस्कार हो, ऐसी चेष्टावोको करता है, दूसरोका तिरस्कार हो ऐसी चेष्टावोको करता है, उसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी वैसी ही परिभव फल देने वाली चेष्टावोको करता है अर्थात् इसका तिरस्कार भी हो सर्वत्र ऐसी चेष्टाये होती रहती है। तो यह वृद्धावस्था इस मनुष्य को खोटे राजाकी बुद्धिकी तरह परेशान किया करती है।

शिरसि निभृत कृत्वा पाद प्रपातयति द्विजान् पिबति रुधिर, मास सर्व समत्ति शरीरिणा।
स्थपुटविषम चर्मगाना दधाति शरीरिणा विचरति जरा सहाराय क्षिताविव राक्षसी।।
२८४।।

जराकी कुपित राक्षसीसे तुलना—यह वृद्धावस्था क्रुद्ध हुई राक्षसीकी तरह चेष्टा करती है। जैसे पहली बात–इस लोकमे क्रुद्ध हुई राक्षसी पहले लोगोके सिर पर पैर रखती है इसी प्रकार यह वृद्धावस्था भी पहले लोगोके सिर पर पैर रखती है मायने उस पुरुषके समस्त केश श्वेत हो जाते है। तो वृद्धावस्थाने इस पुरुष पर पैर रखा इसका परिचय तो सफेद बालोसे मिलता है। तो सफेद बालोके बहाने इस वृद्धावस्थाने लोगोके सिर पर पैर रखा। दूसरी बात–जैसे वह क्रुद्ध राक्षसी लोगोके सिर पर पैर रखकर द्विजोका (ब्राह्मणोका) मास खून पीती है अर्थात् द्विजोका (ब्राह्मणोका) सहार करती है ऐसी बात प्रसिद्धिमे

है, इसी प्रकार यह वृद्धावस्था इन द्विजोको याने दांतोको गिरा देती है, और खूनको भी सुखा डालती है याने वृद्धावस्थामे दांत गिर जाते हैं और रुधिर, मास आदिक भी क्षीण हो जाते है। तीसरी बात–जैसे वह क्रुद्ध राक्षसी जिस पर क्रुद्ध हुई है उसके मासको खा जाती है, केवल हाड ही हाड छोड देती है, इसी प्रकार यह वृद्धावस्था भी मासको जला देती है और जीर्ण-शीर्ण अवस्था करके केवल हाड ही हाड बचने देती है। चौथी बात–जैसे यह क्रुद्ध राक्षसी चर्मांगोको तितर-बितर करके विसम कर देती है याने चमडी को भी लोच डालती है, उसी प्रकार यह वृद्धावस्था भी चर्मांगोको विसम कर देती है मायने झुर्रीदार बना देती है। उसके सभी अगोमे चामकी झुर्रियाँ पड जाती है। इस तरह यह वृद्धावस्था क्रुद्ध राक्षसीकी तरह वृद्ध पुरुषोको कष्टदायिनी होती है। ऐसी वृद्धावस्था जिन्हे न चाहिये उनका कर्तव्य है कि ऐसा प्रयोग करे कि जिससे शरीरका सम्बन्ध सदाके लिए छूट जाय, फिर बुढापा आदिक रोग आ ही न सके और वह उपाय है कि शरीर-रहित अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी साधना करना।

भुवनसदन प्राणिग्रामप्रकंपविधायिनी निकुचिततनुर्भीमाकारा जराजरती रुषा।
निहितमनस तृष्णानार्या निरीक्ष्य नर भृश पलितमिषतो जातेर्ष्या वा करोति कचग्रह ॥ २८५॥

जराग्रस्त पुरुषपर तृष्णाका आक्रमण—जैसे कोई स्त्री अपनी सौतमें आलिगन कर, देखकर, क्रुद्ध हुई स्वामीके केशोको पकड लेती है याने सौतसे उसको ईर्ष्या है, तो उस सौतने यदि पतिका आलिंगन किया हो तो वह पति पर क्रुद्ध होकर पतिके केशोको पकड लेती है और इस प्रकारके दुर्व्योहारसे समस्त कुटुम्बके देहमे वह कंपकंपी बना देती है। जब इस प्रकार कलहकी तीव्रता होती है तो कुटुम्बीजन देखकर भी कंप जाया करते हैं। भीतर यह भयकर बुढापा रूपी स्त्री तृष्णा रूपी भार्यामे पुरुषको अधिकाधिक फंसा हुआ देखकर श्वेत हुए केशोके बहाने इसके केश पकड लेती है। जरा और तृष्णा इन दोनोको स्त्रीका रूप दिया है। तो जब जरा यह देखती है कि मेरी तृष्णासौत पुरुषमे अधिक व्याप रही है, पुरुषका आलिंगन कर रही है और यह पुरुष भी उस तृष्णासौतमे फंसा हुआ है तो मानो इस जराने क्रुद्ध होकर उस पतिके केशोको जकड डाला याने केश सफेद हो गए, यह ही उन केशोका जकडना हुआ और इस प्रकारके बर्तावसे याने जब श्वेत केशके बहाने इस पुरुषको जराने जकड लिया तो समस्त ससाररूपी गृहके प्राणीसमुदायके देहमे घृणासे कंपकंपी बना देता है याने जराने उस पुरुषको श्वेत केशके रूपमे 'ढ़जक उनकी हालत तो

शिथिल हुई, तो अन्य प्राणी भी उस शिथिल देहको देखकर घृणा करने लगते है, और उस घृणामे देह कंप जाता है, इसी प्रकार इस बुढापेके प्रसगसे इस वृद्ध पुरुषको कष्ट तो होता ही है मगर इसके साथ अन्य प्राणिसमुदाय घृणा करने लगते है। ऐसी शक्ल सूरत हो जाती है बुढापेमे कि कोई बच्चा अचानक देख ले तो डर जाय। ऐसी इस वृद्धावस्थाकी कठिन स्थितियाँ है। तो इन स्थितियोसे छूटनेका उपाय केवल ज्ञानानन्द स्वभाव अंतस्तत्त्वकी आराधना रखना है।

विमदमृषिवच्छ्रीकठ वा तादाकितविग्रह शिशिरकरवद्ध वक्त्रं वेश विरूप विलोचनं।
रविमिवतमोमुक्त दडाश्रितं च यम यथा वृषमपि बिना मर्त्य निद्या करोतितरा जरा ॥२८६॥

वृद्धावस्थाकी देवतावोंसे होड़का मजाक—इस छदमे अंलकार रूपमे यह कहा गया है कि यह निन्द्यनीय जरा धर्म किए बिना ही मनुष्यसे देवताका स्वरूप बना देता है, यहाँ वृद्धावस्थाकी निन्दाके रूपमे, मजाकके रूपमे वृद्धावस्थाको देवताकी उपमा दी है, सो देवका स्वरूप कोई धर्मके प्रसाद से ही पा सकता है, मगर इस वृद्धावस्थाने धर्म तो कुछ किया नही और धर्मके ही बिना मनुष्योको देवताका स्वरूप दे देता है। देखिये जैसे ऋषि विमद होते है इसी प्रकार यह जरा भी मनुष्योको विमद बना देती है। विमदका अर्थ है घमडरहित, मद न होना। तो ऋषि तो विमद होते ही है याने घमडरहित होते है और जराने मनुष्यको विमद किया मायने वीर्यरहित बना दिया, शक्तिहीन बना दिया। अब यह मनुष्य किस बात पर मद करे? दूसरी बात—जिस प्रकार श्रीकृष्ण गदकित है मायने गदा अस्त्रसे चिन्हित है, जिनके गदा अस्त्र पाया जाय उन्हे श्रीकृष्ण कहते है। श्री कृष्णके गदा अस्त्र था। तो जैसे श्रीकृष्ण गदाकित है इसी प्रकार यह वृद्धावस्था मनुष्यको गदांकित कर देती है। यहाँ गदाकित का अर्थ है गदा मायने राग उससे अंकित मायने सहित कर देना। जब बुढापा आता है तो शरीरमे अनेक तरह की व्याधियाँ आ जाया करती है। तो जराने वृद्ध पुरुषके शरीरको गदाकित कर दिया। तीसरी बात—जिस प्रकार महादेव विरूप नेत्रके धारक हैं इसी प्रकार यह जरा भी मनुष्य को विरूप नेत्र वाला कर देता है। महादेवके अर्थमे विरूप विलोचनका अर्थ है असमान तीन नेत्रोंका धारी होना, जैसी कि लोकमे प्रसिद्धि कर रखी है और जराके अर्थमे विरूप विलोचन कर देनेका मतलब है कि यह बुढापा वृद्ध पुरुषके नेत्रोको मद ज्योति वाला कर देता है मायने कम दिखने लगता है अथवा दिखना बद हो जाता है। चौथी बात—जैसे

सूर्य तमोमुक्त है अर्थात् अंधकारसे रहित है, सूर्य जहाँ होता है वहाँ अंधकार कैसे रह सकता है ? तो सूर्य तमोमुक्त है ना यह जरा भी मनुष्यको तमोमुक्त बना देता है, यहाँ तमका अर्थ निद्रा है। वृद्धावस्था मनुष्य को निद्रारहित कर देती है याने वृद्धावस्थामें निद्रा नहीं आया करती है, ऐसा विचित्र देहको शिथिल कर देता है। ५ वीं बात—जिस प्रकार यमराज दण्ड अस्त्रका धारक है, वह दण्डाश्रित है, ऐसी प्रसिद्धि है कि यमराज दण्ड अस्त्रको लिए रहता है तो यह जरा भी मनुष्यको दण्डाश्रित कर देता है, यहाँ दण्डका अर्थ लाठी है, यायने मनुष्यको दंडके आश्रित कर देता है। अब वह वृद्ध पुरुष थोड़ा कुछ चल पाता है तो लाठीके सहारे चल पाता है। इस प्रकार इस छंदमें साहित्यिक अलंकारके ढंगसे जरामें इस लोक प्रसिद्ध देवताओंकी तरह शब्दोंमें समानता बतायी गई है, जिसका अर्थ स्पष्ट यह है कि जरा मनुष्यको हर तरह से परेशान कर देता है ऐसे इस जरा रोगसे हटनेके लिए यह कर्तव्य है कि अपने आपमें अन्त. प्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्वकी ही उपासना करें, उसकी ही शरण ग्रहण करें।

विगतदशन शश्वल्लालाततताकुलसृक्वक स्खलति चरणाक्षेपं तु डा परिस्फुटजल्पन ।
रहितकरणव्यक्तारंभ भूदूकृतमूर्धजं पुनरपि नरं पापा बालं करोतितरा जरा ॥२८७॥

वृद्धावस्थाकी बचपनसे तुलना—इस छंदमें वृद्धावस्थाका चित्रण शक्तिहीन शिशुके साथ किया गया है। मानो यह जरा मनुष्यको पुन. बालक बनाये दे रहा है। किस प्रकार ? पहली बात—जैसे बालक दांतरहित होता है याने शिशुके दांत नहीं होते उसी प्रकार यह जरासे ग्रस्त बुड्ढा आदमी भी दांतरहित हो जाता है। फर्क इतना है कि बालकके दांत न थे, दांत प्रकट होंगे, इस वृद्ध के दांत थे और अब दांत गिर गए है, मगर दंतविहीन की तुलनामें यहाँ वृद्ध पुरुषको बालकके समान बना देने की बात कही गई है, दूसरी बात—जैसे बालकका मुख सदा राल, थूक से भरा रहता है, बालक शक्तिशाली नहीं होता है, अपने मलको डाट नहीं सकता, तो उसके मुखसे राल सदा बहती रहती है इसी प्रकार इस वृद्ध पुरुषका मुख राल और थूकसे भरा रहता है। यह भी वृद्धावस्थाके कारण शिथिल है तो अपने मुखके मलको डाट नहीं सकता, तो इसके भी मुखसे राल और थूक बहता रहता है। तीसरी बात—जिस प्रकार बालक पहले तो चल नहीं सकता, यदि चलने का मन करता है तो थोड़ी दूर जाकर वह स्खलित हो जाता है, गिर जाता है फिर चलनेको चित्त चाहता है। थोड़ा चलता है फिर गिर जाता है। तो जैसे बच्चा बार-बार गिर पड़ा करता है इसी प्रकार यह वृद्ध पुरुष भी पहले तो वह

चल नही सकता, पीछे गिरे तो उठना भी कठिन हो जाता। कदाचित् उठ जाय और चले भी तो वह थोडी दूर जाकर स्खलित होने लगता है, गिर भी पडता है। चौथी बात—जिस प्रकार बालक मुखसे स्पष्ट नही बोल पाता इसी प्रकार यह वृद्ध भी मुखसे स्पष्ट नही बोल सकता। जिह्वा आदिक स्थानो पर जिस विधिसे लगना चाहिये उस विधिसे शक्तिहीनताके कारण बालकके नही लग पाती। तो ऐसी शक्ति नष्ट हो जानेके कारण इस वृद्ध पुरुषके भी जिह्वा आदिकका स्पर्श सभी स्थानो पर नही हो पाता इस कारण बालक की तरह यह वृद्ध पुरुष भी स्पष्ट नही बोल सकता। ५वी बात—जिस प्रकार बालककी इन्द्रिय प्रवल न होनेसे वह अच्छी तरह कार्य नही कर सकता उसी प्रकार इस वृद्ध पुरुषकी इन्द्रिय भी प्रबल न होनेसे भली भाँति काम नही कर सकती। छठी बात—जैसे बालकके केश कोमल होते है वैसे ही इस वृद्ध पुरुषके केश भी कोमल हो जाते है। यो यह जरा मानो इस पुरुषको पुनः बालक बनाये दे रहा है याने बालकके समान शक्तिहीन वृद्ध पुरुष हो जाता है।

अहह नयने मिथ्यादृग्वत्सदीक्षणवर्जिते श्रवणयुगल दुष्पुत्रो वा शृणोति न भाषित।
स्खलति चरणद्वद्व मार्गे मदाकुललोकवद्वपुषि जरसा जीर्णे वर्णो व्यपैति कलत्रवत्॥२८८॥

वृद्ध पुरुषके नेत्र, कर्ण, पैर एवं रूपकी दशा—वृद्धावस्था आ जानेसे मनुष्यके नेत्र मिथ्यादृष्टिके समान सदीक्षणरहित हो जाते है। सदीक्षणके दो अर्थ है- एक तो सम्यग्दर्शन और दूसरा स्पष्ट दिखना। मिथ्यादृष्टि जीव सदीक्षणसे रहित है मायने सम्यक्त्वसे रहित है। तो वृद्धावस्था आनेसे इस मनुष्यके नेत्र सदीक्षणसे रहित है याने स्पष्ट दिखनेसे रहित है। सद् मायने स्पष्ट और ईक्षण मायने निरखना याने वृद्धावस्थामे यह पुरुष अब वस्तुवो को स्पष्ट नही देख पाता। मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन तत्त्वोका समीक्षण नही कर पाता मायने सही श्रद्धान नही कर पाता। वहाँ सद्का अर्थ है सही, ईक्षणका अर्थ है परिचय। तो मिथ्यादृष्टि जीव सत् तत्त्वोका समीक्षण नही कर पाता तो बूढेके नेत्र भी इन समागत पदार्थोको अच्छी तरह नही देख पाते। वृद्धावस्था आने से ये कर्ण कुपुत्रके समान बात नही सुनते। जैसे कुपुत्र पिताकी बात नही सुनता, पिताकी आज्ञा नही सुनता इसी प्रकार वृद्धावस्थामे ये कान भी अब किसीकी बात नहीं सुन पा रहे यामे कान बहिरे हो जाते है। वृद्धावस्थामे वृद्ध पुरुषके पैर मदिरापायी पुरुषकी तरह मार्गमे इधर-उधर भटकते रहते है। जैसे जिसने मदिरा पी रखी हो उसके पैर मार्गमे सही नही चल पाते, ऐसे ही इस वृद्ध पुरुषके पैर स्खलित होते है, सही नही चल पाते। चलनेमे लडखडाने लगते

हैं। वृद्धावस्थामें शरीरका रंग युवतीके रंगके समान छोड़कर दूर चला जाता है याने जैसे युवती पुरुष बूढ़ेको छोड़कर अन्य जगह चली जाती है इसी प्रकार इस शरीरका रंग भी बुड्ढेको छोड़कर दूर चला जाता है मायने अब उसके शरीरमें कान्ति भी नहीं रहती।

मुदितमनसो दृष्ट्वा रूपं यदीयमकृत्रिम परवशधिय. कामक्षिप्तै र्भवति शिलीमुखैः।
धवलितमुखभ्रूमूर्धानं जरसा धरालय झटिति मनुज चाडाल जनीजना ॥२८९॥

स्त्रीका वृद्धपुरुषसे घृणाका व्यवहार—जब बुढापा न आया था उसी पुरुषके अकृत्रिम याने प्राकृतिक रूपको देखकर जो स्त्रियाँ पहले हर्षितचित्त हो जाती थी और काम-बाणोसे बेधी जानेके कारण उस पुरुषके आधीन होने लगती थी वे ही स्त्रियाँ बुढापा आ जाने पर उस पुरुषके जरा से ग्रसित हुए फिट मुख और सफेद भौह केश वाले कान्ति-रहित शरीरको देख लेती हैं तो वे ही स्त्रियाँ उसको चाण्डालकी तरह अस्पृश्य जानकर शीघ्र ही छोड़ देती है। यहाँ वृद्धावस्थाके पूर्व और वृद्धावस्थाके समयकी दशाका चित्रण किया है। यौवन अवस्थामे कान्ति अधिक थी। प्राकृतिक रूप निखर रहा था और स्त्रियाँ आधीन थी, लेकिन वे ही स्त्रियाँ अब वृद्ध पुरुषको देखकर घृणा करने लगती हैं। अब वहाँ न वह रूप रहा, न कान्ति रही, न बल रहा और न स्त्रियोकी कामवेदना शान्त हो सके ऐसा पुरुषमे पौरुष रहा। तो ऐसी दुर्दशामे स्त्रियाँ उसे अस्पृश्य समझती है, याने छूनेमे घृणा करती हैं। वृद्धावस्था ऐसी एक खोटी स्थिति है लेकिन जिन पुरुषोके शरीर चल रहा है उनको बुढापा आता ही है। बुढापाके दुःखसे बचनेका उपाय यह ही है कि न शरीर मिलेगा न बुढापा होगा। तो शरीर न मिले, आत्मा जैसा अपने सत्त्वके कारण जिस स्वरूपमे है उसी स्वरूपमे रहे तो इसका परम कल्याण है। फिर भी प्रकारका संकट नही है।

नयनयुगलं व्यक्त रूपं विलोकितुमक्षमं पलितकलितो मूर्धा कपी श्रुती श्रुतिवर्जिते।
वपुषि जरसाश्लिष्टे नष्ट विचेष्टितमुत्तम मरणचकितो नागी धत्ते तथापि तपो हित॥ २९०॥

वृद्धावस्थाकी विडम्बना आनेपर भी मूर्खका हितकी ओर झुकावका अभाव—वृद्धावस्था आ जाने पर मनुष्यकी आँख रूपको स्पष्ट नही देख सकती, क्योकि तब द्रव्येन्द्रियमे हीनता आ जाती है। आँखकी वह नसाजाल जिन रक्तवाहिनी नसावोके सयोगसे आँखमे बल रहता है रूप देखनेका। जब वे नसाजाल ही कमजोर हो गए तो आँख फिर रूप कैसे देख सकती है? वृद्धावस्था मे मनुष्यकी आँख स्पष्ट नही देख सकती। कैसी कैसी दुर्दशाये

बुढ़ापे में होती हैं ? उस दुर्दशाको तो यह जीव भोग लेता है, परन्तु अपने आत्मामें अंतः प्रकाशमान उस सहज परमात्मत्त्वको नही देखता, न उसका शरण गहता है। वृद्धावस्था मे आँखोकी हीनता हो गई, बाल सफेद हो गए। कोई बाल काले नही दिखते। सिर कंपने लगता है क्योंकि हड्डियाँ भी सब ढीली पड जाती है। नसाजालके बन्धन ढीले पड जाते है। मांस भी क्षीण हो जाता है। खून नही बढता, ऐसी स्थितिमे इस सिर को कौन सम्हाले ? वह सिर कांपने लगता। वृद्धावस्थामे कान किसीकी बातको नही सुन पाते। बहिरे हो जाते है। इन्द्रियमे सैथल्य हो जाता है। जरा आते ही श्रेष्ठ काम करना छूट जाता है। वह अब क्या करे, शरीर ही नही उठ पा रहा है। वहाँ मरणके दिन निकट आने लगते है क्योकि बुढापाके बाद मरण ही तो निश्चित है। बुढापाके बाद जवानी नही आती। बुढापाके बाद बचपन नही आता। बुढापाके बाद मरण होता है। मरण हुए बाद नया जीवन पायगा। जहाँ उस नये जीवनका बचपन रहेगा और बुढापेका अंतिम परिणाम मरण ही है, सो इस वृद्धावस्थामें मरण समीप आने लगता है, परन्तु यह मोही प्राणी ऐसा मूढ है कि यह अपने हितस्वरूप तपको नही करता। इन्द्रियको वश करे, मन की उड़ान खत्म करे और अपने यथार्थ ज्ञानमात्र स्वरूपको निरखे, यह तो हितकारी काम था, पर इसे छोडकर संक्लेशमे ही पड़ा रहता है। और यदि तात्कालिक विशेष कष्ट नही है तो विषय भोगोकी इच्छावोमे अपने आपको उलझाये रहता है।

द्युतिगतिधृतिप्रज्ञालक्ष्मीपुरः सरयोषितः सितकचवलिव्या जान्मर्त्यं निरीक्ष्य जरांगनां।
प्रदधति रुषा तृष्णा नारी पुनर्न विनिर्गता त्यजति हि न वा स्त्री प्रेयांसं कृतागमप्यवत ॥२६१॥

वृद्ध पुरुषसे कांति धृति बुद्धि आदिका पार्थक्य, किन्तु तृष्णाका प्यार—मनुष्यमें अनेको ही शक्ति और शृंगार होते है। द्युति (कान्ति) अर्थात् शरीरपर एक विशिष्ट आभा आती। गति-प्रत्येक कार्योमे बुद्धिका चलना, गमन करना, हाथ पैरोसे भी चलना। धृति-धीरता आना, बड़े-बड़े सकटोके आने पर भी अपनी सामर्थ्यको सम्हाले रहना, प्रज्ञा (बुद्धि) ज्ञानकी शक्ति होना, लक्ष्मी—धन सम्पत्ति होना, ऐसी मानो इस पुरुषके पास अनेको स्त्रियाँ है, किन्तु इन सब सुनारियोने जब यह देखा कि इस पुरुषपर जरा रूपी स्त्रीका आधिपत्य जम गया है, सिरके केश श्वेत हो गए, उससे यह परिचय बन गया कि अब इस पुरुषपर जराने अपना अधिकार कर लिया। तो अन्य स्त्रीका अधिकार देखकर ये सब स्त्रियाँ पराश्रित द्युति गति, धृति प्रज्ञा, लक्ष्मी आदिक देखकर उस वृद्ध पुरुषको

छोडकर चली जाती है, लेकिन एक तृष्णा रूपी नारी नही छोडती। सो एक साहित्यिक समीक्षामे आचार्य कह रहे है कि देखो वह पुरुष यद्यपि अपराधी हो गया याने जरा रूपी स्त्रीने उस पर आधिपत्य जमाया और वह पुरुष भी जरामे तन्मय हो गया। इतने पर भी अपने प्यारेको यह तृष्णा स्त्री छोड नही सक रही। तात्पर्य यह है कि बुढापेके आ जानेसे मनुष्यकी कान्ति, धृति, बुद्धि आदिक शक्तियाँ तो घट जाती है परन्तु तृष्णा नही मिटती बल्कि बुढापामे तृष्णा और बढती ही चली जाती है। बुढापेसे पहले जिस प्रकार की पुरुषकी स्थिति होती है, विरक्तिकी हो, तृष्णाकी हो, बुढापेमे वही आगे बढ जाता है। जिन पुरुषोने बचपनमे ज्ञान नही पाया, जवानीमे स्त्रियोके आधीन रहा, अब बूढापा आनेपर वह ज्ञानबलको कैसे सम्हालेगा ? वह आत्माकी सुध लेनेमे समर्थ नही हो सकता यह बुढापा तो सर्व दु.खोकी खान है। उस बुढापेसे बचनेके लिए जन्म जरा मरणरहित आत्मतत्त्वकी आराधना करना चाहिये।

परिणतिमतिस्पष्टा दृष्ट्वा तनोर्गुणनाशिनी झटिति तु नरा ससाराब्धे समुत्तरणोद्यता।
जिनपतिमत श्रित्वा पूत विमुच्य परिग्रह विदधति हित कृत्य सम्यक्तपश्चरणादिक ।।
२९२।।

जराकी दुश्चेष्टासे परिचित विवेकियोका सम्यक् तपश्चरणादि मे उद्यम—इस परिच्छेदमे बुढापेकी दुर्दशाका वर्णन किया गया है। उन समस्त दुर्दशावोको जानकर जो बुद्धिमान लोग है जो शरीरकी रात-दिन नष्ट होने वाली परिणति जानने वाले है वे इस शरीरमे, ससारमे, भोगोमे रमण नही करते, किन्तु ससार समुद्रसे पार होनेके लिए जिनेन्द्र देवका आश्रय लेते है। जो ससार सागरसे पार हो गए है उनकी उपासना कौन करेगा ? जिनको ससारसे पार होने की इच्छा है। तो ये विवेकी पुरुष ससार सागरसे पार हो चुके सर्वज्ञ वीतराग भगवानका आश्रय लेते है, उनके परम पवित्र आगमका आश्रय लेते है। उन्होने जो उपदेश किया वह उपदेश किन उपायोसे भरा हुआ है, जिन उपायोसे चलकर स्वय ससार सागरसे पार होकर जिनेन्द्र भगवान हुए है। तो इस ससारजालसे पार होने का उपाय इस आगममे लिखा है। यदि कर्मोका वर्णन आता है तो उसका अर्थ यह है कि ससारजालका, विकारभावका, जन्म-मरणका कारण यह आयुकर्मका उदय है। यदि प्रथमानुयोगका वर्णन है तो उसमे यह दर्शाया गया है कि ऐसे उपायोसे चलकर महापुरुषोने संसार सागरसे पार होकर मोक्ष प्राप्त किया। द्रव्यानुयोगके वर्णनमे शुद्ध द्रव्यकी दृष्टि करायी जाती है। जिस शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय करनेसे कर्मबधन ढीले हो जाते है।

कट जाते हैं। तो आगममे नाना विधियोसे संसारसे मुक्ति पानेका ही उपाय बताया है। सो विवेकीजन प्रभुके बताये हुए आगमका आश्रय लेते हैं और समस्त परिग्रहोंसे रहित होकर, सासारिक ममतावोसे दूर होकर श्रेष्ठ तपश्चरण आदिक हित कार्योंमें लगते हैं। इस बुढापाके परिच्छेदमे सर्व प्रकार से दुर्दशा जानकर यह भावना लेना चाहिये कि ऐसा उपाय करे कि शरीर ही न मिले, फिर बुढ़ापा ही कहाँ से आयगा ? सारे संकट खतम हो जायेंगे। एक आत्माकी धुनके साथ आत्माके स्वरूपमे मग्न होने मे ही संतुष्ट रहे।

१२वां—मृत्यु निरूपण

संसारे भ्रमता पुरार्जितवशाद् दु ख सुख वाश्नुता चित्र जीवितमगिनां स्वपरत. सपद्यमानापदां। दतांत. पतितं मनोहररस कालेन पक्व फल स्वास्यत्यत्र कियच्चिरं तनुमतस्तीवृक्षुधार्चवित ॥२६३॥

जन्म लेनेवालोके मरणकी अवश्यंभाविता—जैसे तीव्र क्षुधा किसी पुरुषको लगी है और उसके मुखमे पका हुआ फल रखा है तो वह फल कितनी देर उस मुखमे रह सकेगा ? तीव्र क्षुधा लगी है तो वह पुरुष तो उस फलकी तत्काल ही चबायगा, वह ठहर नही सकता, इसी प्रकार इस ससारमें जीवनकी म्याद रहती है। जहाँ म्यादसे आयु पक गई फिर उस आयुके बचाने वाला कौन है ? ये जीव ससारमें पूर्वजन्ममें उपार्जित पाप-पुण्यके द्वारा सुख-दु खको भोग रहे हैं। जितने भी सुख या दुःख मिलते हैं वह पूर्व उपार्जित कर्मोके उदयका फल है। कितने ही धर्मात्मा पुरुष बडी व्यथावोसे ग्रस्त देखे जाते हैं। जिन्होने जीवनमे कभी खोटे भाव नही किया, धर्मरूप परिणाम रखा, दया, दान संयमकी प्रवृत्ति रखी फिर भी तीव्र रोगादिकसे व्याकुल देखे जाते हैं। तो सभी कहते हैं कि इस बेचारेने इस जन्ममे कोई अन्याय या पाप नही किया। जो पहले करोड़ों भवोके कमाये हुए कर्म इस समय भी मौजूद हैं, उनका उदय आता है, उसके अनुसार जीवको दु.ख होता है, सुख भी होता है। पुण्यका उदय होने पर सुख बनता है तो ऐसे सुख-दु ख भोगने वाले और संसारमे परिभ्रमण करने वाले इन प्राणियोका चित्र विचित्र जीवन कब तक टिक सकेगा ? जहाँ अपने आपकी ओरसे तथा दूसरेकी ओरसे अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आती हैं, उन आपत्तिओंका सामना भी इन प्राणियोंको स्वयं करना पड़ता है। उनका यह विचित्र जीवन कब तक टिक सकेगा ? जैसे जिसको तीव्र क्षुधा लगी है और पका हुआ फल मुखमे आ गया तो वह क्यों गम खायगा ? वह तो जल्दी ही उस फलको चबा डालेगा,

ऐसे ही समयकी मर्यादासे यह जीवन निश्चित है, इतने पर भी बीचमे अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ घटनायें आ जाती है, उन घटनावोमे यह जीवन नही रह पाता। तो यह जीवन अवश्य ही किसी न किसी दिन समाप्त हो ही जाता है। तो आज जो जीवन मिला है, शरीर मिला है यह कभी समाप्त होगा, अग्निमे जला दिया जायगा। उसका सदैव सयोग नही रह सकता। ऐसी जीवनकी विनश्वरता जानकर कर्त्तव्य यह है कि जितना जीवन शेष है उस शेष जीवनमे धार्मिक भाव करे, अपने आत्मतत्त्वकी सम्हाल बनाये। जो इस दुर्लभ जीवनमे आत्मतत्वकी सम्हाल बना लेगा उसका भविष्य उज्ज्वल रहेगा। इसलिए विवेकी पुरुषका यही कर्तव्य है कि जब तक मृत्यु नही आती तब तक शीघ्र ही अपने आत्माकी सम्हाल करले।

नित्य व्याधिशताकुलस्य विधिना सक्षिप्यमाणायुषो नाश्चर्य भववर्तिन· श्रमवतो यज्जायते पंचता। कि नामाद्‌भुतमत्र काननतरोरत्याकुलात्पक्षिभिर्यत्प्रोद्यत्पवनप्रतापनिहत पक्व फल भ्रश्यति ॥२९४॥

प्राणविनाशमें अनाश्चर्य—यह जीवन, यह शरीर सदा सैकड़ो, हजारो व्याधियोसे आकुलित बना है और फिर आयुकर्मकी स्थिति निश्चित है। इसके बावजूद यह मनुष्य अधिक परिश्रम करता है और परिश्रमसे अधिक थक जाता है। सो यह जीव यदि मर जाता है, इसके प्राण निश्चेष्ट होकर निकल जाते है तो इसमे आश्चर्यकी क्या बात है? जैसे देखिये जो वृक्ष पक्षियोसे सदा व्याप्त है याने जिस वृक्षपर पक्षियोकी बडी सख्या रहती है और फिर वह वृक्ष आँधीसे कँप गया हो याने आँधी बडी तेज चल गई जिससे वह वृक्ष बहुत हिल गया है। अब यदि उस वृक्षका पका फल गिर जाय। डालीसे अलग हो जाय, पृथ्वी पर पड जाय तो इसमे आश्चर्यको क्या बात है? एक तो उस वृक्षका फल पक गया, दूसरे उस वृक्षपर अनेको पक्षी मडरा रहे है सो डालियाँ हिलती रहती हैं। तीसरी बात—तेज आँधी चल गई है, इतने पर भी फल यदि नही गिरता तो इसमे तो आश्चर्य करना चाहिये। यदि फल गिर गया तो इसमे आश्चर्यकी क्या बात? ऐसे ही एक तो यह प्राणी आयुकर्मके निश्चित समयपर आ गया है, सो इसे तो स्वयं ही मर जाना चाहिये, फिर दूसरे इस मनुष्यके पीछे सैकड़ो अपने आप अथवा किसी परवस्तुके सम्बन्ध से नाना घटनाये दुःख आदिक लगे रहते हैं, हजारो लाखो व्याधियाँ लगी रहती है, इसपर भी यदि वह शीघ्र नही मरता तो इसपर आश्चर्य करना चाहिये। पर मर जानेमे तो कोई आश्चर्यकी बात ही नही है। जो जन्मा है वह नियमसे मरेगा। मरणके बाद जैसे कर्म

किया है उसके अनुसार फल पायगा। यदि नसम्हाल पाया, कर्म खोटे हो गए तो असज्ञी जैसे अनेक भव पड़े है, कोईसा भी भव पायगा। फिर क्या करेगा ? इससे बड़ा श्रेष्ठ भव मिला है, श्रेष्ठ शासन मिला हैं, सगति भी अच्छी प्राप्त है, अपने मनको सही रखना और आत्माके स्वरूपमें उपयोग लगाना, यहाँ ही रहकर तृप्त होना यह आदत बना लेना चाहिये, अन्यथा इस जीवका बहुत बड़ा अकल्याण होगा।

निर्धूतान्य बलोऽविचित्यमहिमा प्रध्वस्तदुर्गक्रियो विश्वव्यापिगतिः कृपाविरहितो दुर्बोध-मंत्रः शठ । शस्त्रास्त्रोदकपावकारिपवनव्याध्यादिनानायुधो गर्भादावपि हति जन्तुमखिल दुर्वारवीर्यो यमः ॥२९५॥

यमकी बलवत्ता क्रूरता व दुर्बोधता—यह यम बडा बलवान है। यमके मायने आयुका क्षय। वास्तवमे कोई स्वतन्त्र ऐसा देवता नही है कि जो लोगोके प्राण निकालता फिरे। यहाँ तो सब ओटोमेटिक निमित्त नैमित्तिक योगसे चल रहा है। जीव जैसे भाव करता है वैसे कर्म बाँधता है और उस प्रकारके कर्मके उदयपर उसकी स्थिति बनने लगती है। तो जो आयुकर्म बधा उस आयुकर्मका क्षय हो जाय, चाहे अपना समय पाकर क्षय हो जाय या व्याधि शस्त्र आदिकके घात आदिकसे आयु बीचमे ही छिद जाय तो बाकी बचे निषेक एक ही समयमें सब खिर जायें इसीको कहते है मरण। इसीको ही यम शब्दसे कहा गया है, यह यम बड़ा ही बलवान है। इसके सामने बड़े-बड़े योद्धावोके दाँत भी खट्टे हो जाते है। बड़े शूरवीर है, योद्धा है, वे भी चाहे कि मरणसे बच जाये तो नही बच पाते। इसकी बडी अपार महिमा है। कोई किलोमें, जगलोमे, दुर्गम स्थानों मे चला जाय कि यहाँ यमराज नही आ सकता, परतु यम तो सभी जगह पहुँचता है। उन जीवोके साथ आयुकर्म बंधा ही तो है। उसका क्षय होते ही मरण हो जाता है। इस यमकी गति रोकेसे भी नही रुकती। जहाँ मन करता वहाँ ही यम बढ़ा चला जाता है। यह यम बड़ा ही निर्दय है। कोई हजारों लाखो मिन्नतें करे तो भी यमका वार नही हटता। सभी मनुष्य चाहते हैं कि मेरा जीवन नष्ट न हो और वे प्रभुकी कितनी ही भक्ति करे या इस यमको ही अपना सहाय समझकर बड़ी भक्ति करें कि तू मुझे मत मार तो भी वह नही मानता इसका मत्र बड़ा ही दुर्बोध है, इस यमको कोई मना नही कर पाता। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि कोई भी कभी भी मर सकता। यह यम जिस पर क्रुद्ध हो जाय उसको किसी न किसी बहाने मार ही गिराता। किसी पर शस्त्रका घात हो जाय, अस्त्र लग जाय, जलमें डूब जाय, शत्रु मार डाले या हवा से उड़ जाय, मानसिक चितावोसे हार्ट फेल हो जाय, कोई कठिन रोग लग जाय, किसी न

किसी तीक्ष्ण हथियार से यह यम मार गिराता ही है। किसीको नही छोडता। अधिक क्या कहे, यह अपने शत्रुको गुप्तसे गुप्त स्थानमे भी मार डालता है। गर्भ एक बड़ा सुरक्षित स्थान है, जहाँ पर किसी की गति नही हो सकती, लेकिन यह गर्भमे ही मार डालता है। अनेक जीव पशु पक्षी मनुष्य गर्भमे ही मर जाया करते है। तो इस मृत्यु से कोई फायदा नहीं है और यह नियम है कि जो जन्मा है सो नियमसे मरेगा, ऐसा अपने जीवन को भंगुर जानकर, विनाशशील जानकर जब तक जीवन है तब तक आत्मज्ञान से, आत्म-श्रद्धानसे और आत्मस्वरूपमे रमण करने की धुन से अपने आपको पवित्र बनायें और सर्व संकटो से मुक्त होकर ससार समुद्र से पार हो जाये, इसी मे बुद्धिमानी है।

प्राज्ञं मूर्खमनार्यमार्यमधनं द्रव्याधिपं दु खितं सौख्योपेतमनासमामनिहतं धर्माथिनं पापिनं। व्यावृत्तं व्यसनादराद् व्यसनिनं व्यासाकुलं दानिनं शिष्टं दुष्टमनर्यमर्यमखिलं लोकं निहत्यंतक ।।२९६।।

आयुक्षयसे सबके मरणकी निश्चितता—यह यम अर्थात् आयुक्षय इस ससारमे किसी को मित्र नहीं बना सकती। कोई पडित सोचे कि मैं तो बुद्धिमान हूँ। मेरेको यम न आयगा, मेरा मरण न होगा, मेरेमे बुद्धिबल है, सो इसकी बात न चलेगी। चाहे पडित हो, जब यम क्रुद्ध होता है मायने आयुका क्षय होता है तो उसे मरना ही पडता है। कोई सोचता हो कि अमुक पुरुष मूर्ख है, ऐसे मूर्खोपर यमराज क्यो आयगा, सो भी बात नही है। मूर्ख हो वह भी आयु क्षय पर मरणको प्राप्त होता है। कोई सोचे कि अमुक पुरुष दुर्जन है, गुडा प्रकृतिका है इसको यमराज कैसे सता सकेगा, सो भी बात नही है। दुर्जन हो वह भी मरणको प्राप्त होता है। कोई सोचे कि सज्जन पुरुष तो सबके उपकार के लिए होता है इसके मरनेकी जरूरत नही है, इसे तो यमराज छोड देगा सो यह भी बात नही है। सज्जन पुरुष भी आयुक्षय होने पर मरण को प्राप्त होता है। भाग्यवान हो वह भी यमके वशीभूत है। कोई यह न सोचे कि यह तो बड़ा भाग्यवान है, पुण्यवानका कौन बिगाड़ कर सकता है ? इसे यम ने सतायगा सो बात नही है। कोई गरीब हो, सुखी हो, दुखी हो, किसी भी स्थिति मे हो, सभीको आयुक्षय होने पर मरणको प्राप्त होना पड़ता है। कोई पुरुष स्वस्थ पहलवान हो और सोचे कि मेरेमे कोई रोग ही नही है, मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मेरेको यम कैसे सता सकता है ? कोई रोग हो शरीरमे कोई खराबी हो तो मरूगा, जब शरीर चंगा है तो मेरा मरण कैसे होगा—ऐसा सोचना व्यर्थ है, रोग रहित हो तो भी आयुक्षय होने पर मरणको प्राप्त हो जाता है। रोगी पुरुष तो सदैव

सदिग्ध रहा करता है। किसी भी समय उनका मरण हो जाता है, पुण्यवान जीव हो तो भी ऐसा पुण्य किसीके नही होता कि आयुका क्षय होनेको हो और वह मरण न करे, नियमसे सभीको मरना पड़ता हैं, पापी पुरुष हो वह भी मरता है, जो जीव जितेन्द्रिय है, जिसने इन्द्रिय पर विजय प्राप्त किया है उसके प्रति कोई सोचे कि यह तो सयमी पुरुष है, इसके मरनेका क्या अवसर ? सो भी बात नही है जितेन्द्रिय है उसका भी मरण होता है कोई जितेन्द्रिय नही है उसका भी मरण होता है। कोई दानी पुरुष हो और उसके प्रति कोई सोचे कि यह बहुत दान करता है, इससे तो लोगोका बडा भला होता है, तो ऐसे पुरुषपर तो यम दया करेगा, मरण न होगा सो बात नही है। चाहे दानी हो वह भी कालक्षय होने पर मरणको प्राप्त होता है। लोभी पुरुष हो, दुष्ट हो, शत्रु हो वह भी मरणको प्राप्त होता है। कोई शिष्ट हो, मित्र हो वह भी मरणको प्राप्त होता है। ससारमे कोई भी जीव ऐसा नही है जिसको समय पर यम न निगल जाय। तो जो जन्मा है सो सबको नियमसे मरना ही पड़ता है। तो जब एक दिन मरना ही पड़ेगा, यहाँका कुछ समागम न रहेगा तो विवेकियोको चाहिये कि वे धर्म ध्यानमे रहकर आत्मकल्याण करें।

देवाराधनमन्त्रतन्त्रहवनध्यान गृहेऽपाजपस्थान त्याग धराप्रवेशगमनव्रज्याद्विजार्चादिभि ।
अत्युग्रेण यमेश्वरेण तनुमानगीकृतो भक्षितु व्याघ्रेणेव बुभुक्षितेन गहने नो शक्यते रक्षितु ।।२९७।।

देवराधनादि द्वारा भी मरणके टाले जानेकी अशक्यता—इस छदमे कह रहे है कि जिस समय यमराज नाराज होता है, मनुष्य पर क्रोध करता है याने जब आयुका क्षय होता है तो वहाँ यम भूखे सिंहके सामने पडे हुए हिरणके समान मनुष्यका जीवन किसी भी प्रकार रक्षित नहीं रह सकता। एक तो सिंह हिरणको वैसे ही मार डालता है, फिर वह हो खूब भूखा तो उस हिरणकी फिर कहाँ खैर है ? ऐसे ही जो जन्मा है तो सभी मरते ही हैं, फिर शरीरपर यम क्रुद्ध हो जाय मायने विशेष रोग हो जाय या कोई शत्रु उस पर शस्त्रपात करे ऐसी कोई घटना हो जाय तो उसे बचानेको कौन समर्थ है ? जो जन्मा है वह नियमसे मरण करता ही है। चाहे उस समय वह मनुष्य बड़े-बड़े देवोकी आराधना करे, देवताओकी सिद्धि करे तो भी वह मरणसे बच नही सकता। कोई भी देव किसी जीवको मरनेसे नही बचा सकता। च हे सैकडो मन्त्रतन्त्र कोई सिद्ध कर डाले, चाहे बड़े ध्यान पूजा जप-तप आदिकमें खूब मन लगा है फिर भी मरनेसे कोई बचा नही सकता। कोई शरीरमें रोग हो गया तो उसका उपचार औषधियोके द्वारा तो हो सकता है, क्योकि

निमित्त नैमित्तिक योग है और उस योगके नष्ट होनेसे असमयमे मरण न हो यह सम्भव हो सकता। पर आयुक्षय हो रहा हो या किसी भी स्थितिमे हो, कोई देवता या मत्र तत्र करनेसे बचा ले, यह कभी नही हो सकता। जिन लोगो की ऐसी खोटी श्रद्धा है कि देवता मुझे बचा लेंगे वे केवल कल्पना ही करते हैं। इससे सिद्धि नही है, जिसका मरण हो रहा जिस पर यम क्रुद्ध हो रहा उसे कोई नही बचा सकता। वह पुरुष चाहे अपना निवास स्थान छोडकर धरतीमे प्रवेश कर जाय, बहुत नीचे स्थान बना ले, वहाँ रहने लगे या दूर देश मे चला जाय तो भी वह मरणसे बच जाय, यह नही हो सकता। चाहे कोई पुरुष दीक्षा ले ले कि मैं घरको छोड दूँ, समुदायको छोड दूँ तो यह यम क्यो सतायगा, चाहे कोई ब्रह्मज्ञानीकी पूजा आदिक करे तिस पर भी यम क्रुद्ध होने पर उसे कही किसी तरह नही छोड सकता। तो जब जन्मा है तो मरण निश्चित है, ऐसा जाना तो विवेकियोका कर्तव्य है कि रागद्वेष तजकर वे आत्म-चिन्तनकी तपस्यामे लग जाये।

प्रारब्धो ग्रसितु यमेन तनुमान् दुर्वारवीर्येण यस्त त्रातु भुवने न कोऽपि सकले शक्तो नरो वा सुर। नो चंद्रदेवनरेश्वर प्रभृतयः पृथ्व्या सदा स्युर्जना विज्ञायेति करोति शुद्धधिषणो धर्मे मति शाश्वते ॥२६८॥

मरणकी सुनिश्चितता जानकर विवेकीजनोंकी धर्ममे वृत्ति—जिस पुरुषको यमराज ग्रसना चाहता है, जिसको यमके द्वारा ग्रसना प्रारम्भ हुआ है वह पुरुष और तो क्या कोई भी मनुष्य, कोई भी देव उसे बचा नही सकता। यदि इस क्षुद्र शक्तिधारी ससारी जीवमे मरणसे बचानेकी सामर्थ्य होती तो आज ससारमे कितने ही देव देवेन्द्र दृष्टिगोचर होते। पुराणोमे कितने बडे-बडे पुण्याधिकारी पुरुषोके चरित्र सुने है। यदि कोई मरणसे बचाने वाला होता या ये खुद अपनको मरणसे बचा सकते होते तो वे दृष्टिगोचर होते हुए लोग कोई आज यहाँ दृष्टिगोचर नही हो रहे सभी मरणको प्राप्त होते है। तो सभीको जब कभी न कभी मरण करना ही है जिन्दा सदैव कोई नही रह सकता तो हे विद्वान पुरुषो! अपने आपके सम्बन्धमे भी तो सोचो, इस शरीरको अनिष्ट जानकर इन सासारिक कार्यो को अनित्य समझकर सदा अविनाशी धर्ममे अपने चित्तको लगावो। धर्म है आत्माका शुद्ध चैतन्य-प्रतिभास। सो मात्र सबके ज्ञाता दृष्टा रहे। किसी भी पदार्थको न इष्ट समझें न अनिष्ट समझें। सर्व बाह्य है, अपनी परिणतिके अनुसार अपना परिणमन करते हैं।

चन्द्रादित्य पुरन्दरक्षितिधर श्रीकठसीर्पादयो ये कीर्तिद्युतिकांतिधीधनबल प्रख्याति पुण्योदया। स्वेस्वे तेऽपि कृतातदतकलिताः काले व्रजति क्षय किं चान्येषु कथा सुचारुमतयो

धर्मे मति कुर्वता ॥२९९॥

महाबलैश्वर्यादिके धारकोंका भी अवश्यंभावी मरण—इस संसारमे सबसे अधिक कान्ति वाले, कीर्ति वाले चन्द्र-सूर्य आदिक है, जिनके सम्पदा बल पुण्य विशेष है। जैसे चन्द्र यह ज्योतिषी देवोका इन्द्र है। इसके बडा वैभव है, सासारिक सुख सम्पदा विशेष है। सूर्य प्रतीन्द्र है इसकी तो लोकमे देवताकी तरह मान्यता है। अनेक लोग तो जल ढालकर पूजा करते है। वैसे सम्पदा भी विशेष है। सासारिक सुख देवेन्द्र भी जो स्वर्गों के बड़े इन्द्र है, बडी बुद्धि, सम्पत्ति, बलके धारी है महान पुण्य है। नरेन्द्र मुख्य राजा नारायण बलभद्र आदिक बड़े-बड़े पुरुष हुए, वे भी अपनी-अपनी आयुके अन्तमे यमकी दाढ़ के नीचे दबकर पिस जाते है, अर्थात् मरणको प्राप्त हो जाते है। तो जब ऐसी अद्भुत बल सम्पत्ति कान्ति कीर्तिके धारी मरण कर जाते है तो अन्य छोटे लोगोकी तो कहानी ही क्या है? याने सभी अवश्य ही मरेंगे। तो जब यहाँ मरण निश्चित है तो बुद्धिमान पुरुषोको चाहिये कि वे सासारिक भोगोसे चित्तको हटाकर धर्ममे अपनी बुद्धिको दृढ करे। आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है, ज्ञानमात्र है। यह केवल हो, पवित्र हो तो यह ज्ञाता ही रहता है और परम आल्हादका अनुभव करता रहता है। अपने स्वरूपको देखना यही धर्मका पालन है। स्वरूपमे मग्न होना यह ही धर्ममे स्थिर होना कहलाता है। सो विवेकीजन सासारिक भोग लालसावोको त्यागकर इस ही सहज आत्मस्वरूपमे अपने उपयोगको रमाकर निरन्तर सहज आनन्दका अनुभव किया करते है।

ये लोकेश शिरोमणिद्युति जलप्रक्षालिताघ्रिद्वया लोका लोकविलोकि केवल लसत्साम्राज्य लक्ष्मी-लक्ष्मी धरा.। प्रक्षीणायुषि याति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पद तत्रान्यस्य कथ भवेद्-भवभृत क्षीणायुषो जीवित ॥३००॥

आयुक्षयसे सकल परमात्माके भी देहत्याग—इस लोकमे सबसे बड़े अरहत भगवान है, जिन्होने घातिया कर्मोका नाशकर समस्त लोकालोकको एक साथ स्पष्ट जान लिया है। जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्तिके स्वामी है, जिनके चरणकमल तीन लोकके ईशो द्वारा सदैव पूजे जाते है। अधोलोकमे भवनवासी, व्यन्तर देवोके इन्द्र अरहत परमेष्ठीकी पूजा किया करते हैं, मध्यलोकमे चक्रवर्ती बड़े-बडे नरेन्द्र, सिह (तिर्यञ्चोका इन्द्र) ये नतमस्तक हो जाया करते है। ऊर्द्धलोकमें स्वर्गोके इन्द्र जिनके चरण-कमलोकी सेवा किया करते है, जिनकी सेवामे सदैव स्वर्गोके इन्द्र रहते है, ये अरहत परमेष्ठी अतीन्द्रिय असहाय ज्ञान वाले समस्त पदार्थोंके ज्ञाता है, जिनके समवशरण आदिक

३४ अतिशय आश्चर्यकारी वस्तुवोको धारण करने वाले हैं। बड़ा अतिशय है, ऐसे अरहंत भगवान भी जब उनके आयु कर्मका अन्त होता है तो शरीरका परित्याग कर मोक्षलाभ करते हैं। मोक्ष जाना भी आयुका क्षय ही तो है। उसे पडित पडित-मरण कहते हैं। तो ऐसे बड़े सकल परमात्मा भी मरणको प्राप्त हुए, परम निर्वाणको प्राप्त हुए यानि आयुके अन्तमे उन्हे भी शरीर छोड़ना पडता है तब अल्प आयुके धारक ऐसे सामान्य पुरुषोकी तो कथा ही क्या कही जाय। क्या उन्हे यम छोड देगा ? नियमसे उन्हे मरना पड़ेगा। संसारकी ऐसी स्थिति जानकर बुद्धिमान पुरुषोका कर्तव्य है कि वे सांसारिक भोग सम्पदा यश कीर्ति आदिककी ओर न बढ़कर अपने आत्मस्वरूपकी ओर बढ़ें और और अपने स्वरूपमे रमण कर शान्त हो।

द्वात्रिंशन्मुकुटावत सितशिरोभूभृत्सहस्त्रार्चिता. षट्खंडक्षितिमंडना नृपतय. साम्राज्यलक्ष्मीधरा.। नीतायेन विनाशमत्र विधिना सोऽन्यान् विमु चेत्कथ कल्पातश्वसनो गिरीश्चलयति स्थैर्य तृणाना कुतः ॥३०१॥

आयुक्षयसे चक्रवर्त्यादिकोंका भी मरण — इस लोकमे मनुष्योमे, राज्यधिकारियोमे सबसे महान होता है चक्रवर्ती। उस चक्रवर्तीको सदा ३२ हजार मुकुटवद्ध राजा सेवा किया करते हैं। ये ३२ हजार राजा तो खास राजा हैं। वहाँ छोटे-छोटे राजा भी अनेक होते हैं। सभी के द्वारा जिनकी सेवा होती है। जिन चक्रवर्तियोकी आज्ञाका पालन करनेके लिए ये सभी राजा तत्पर रहते हैं। चाहे चक्रवर्ती कभी अयोग्य भी आज्ञा दे तो उसके भी पालनके लिए तत्पर रहा करते है। तो योग्य अयोग्य समस्त अज्ञात्रोका राजागण पालन करते हैं। चक्रवर्तीका साम्राज्य आर्यखण्ड और अनार्यखण्ड छहो खण्डके निवासियोपर रहता है अर्थात् चक्रवर्ती छह खण्डके अधिपति होते है। जो चक्रके अधिपति है, जिनको अनेक आयुध सिद्ध होते हैं जिनमे एक चक्र नामका भी आयुध है। जिसपर यह आयुध चला दिया, चक्र चला दिया उसके प्राण नही बच सकते। हाँ यद्यपि वह देवोपुनीत होनेके कारण उस चक्रमे इतनी विशेषता है कि यदि वह चक्री अपने बधुवोपर वह चक्र चलाये तो उनपर न चलेगा, बल्कि उन बधुवोकी प्रदक्षिणा देकर वापिस आ जायगा, पर अन्य सभी तो उस चक्रके ग्रास बन जाते है। जिनमें ऐसा अद्भुत बल वैभव है उन चक्रवर्तियो को भी जब यह यम नही छोडता, उन्हे भी अपने बलसे पछार मारता है तो अन्य सामान्यजनोकी तो कथा ही क्या है ? भला कल्पांतकालमें चलने वाली वायु याने जब इस कल्पका अन्त होगा मायने अवसर्पिणी कालका अन्तिम काल छठा काल जब वह

पूर्ण होगा तो प्रलय हुआ करता है। उस प्रलयमें ७ प्रकारकी तीव्र वर्षायें होती हैं, उनमें एक वायु भी है। जब प्रलयके समयमे तीव्र वायु चल रही हो तो उस वायुसे बड़े-बड़े पहाड़ तक हिल जाया करते हैं, तो क्या उस वायुसे तृण नही हिल सकता? वह तो हिलेगा, ऐसे ही जब चक्रवर्तियो तकको यह यमराज पछार डालता है तो क्या सामान्य लोगोको न पछारेगा? अर्थात् जो जन्मा है उन सभीका मरण होगा।

यत्रादित्यशशांकमारुतघना नो सति सन्यत्र ते देशा यत्र न मृत्युरजनो नो सोऽस्ति देशः क्वचित्। सम्यग्दर्शनबोधवृत्त जनिता मुक्त्वा विमुक्तिक्षिति संचिंत्येति विचक्षणाः पुरु तपः कुर्वंतु तामीप्सव ॥३०२॥

मात्र मोक्षदेशमें ही यमका अप्रवेश—ससारमें ऐसे देश तो मिलेंगे कि जहाँ सूर्य न पहुँचे, चन्द्र न पहुंचे, हवा न जा सके, पानी न हो, ऐसे स्थान तो मिल जायेंगे परन्तु केवल एक मोक्ष देशको छोडकर कोई देश ऐसा नही है जहाँ यमराजका प्रवेश न होता हो। यहाँ मोक्ष देशसे मतलब समस्त कर्मोंसे मुक्त हुआ जीव कहा गया है। मुक्त जीव जिनके कर्म ही नही है, शरीर ही नही है, आयु ही नही है तो उनके क्षयका क्या प्रसग? वे सदा काल अपने इस अनन्त आनन्दमयी स्थितिमे रहेंगे, केवल इस एकाकी अशुद्ध परिणतिमे रहेंगे, पर उनको छोडकर बाकी सभी जीवोंको मरण करना पडता है। उनको मोक्ष कैसे प्राप्त हुआ, उसका उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका एकत्व होना। जिन जीवोने अपने आत्मस्वरूपका विश्वास किया और जो सहज अपने ही सत्त्वके कारण आत्माका स्वरूप है, उस स्वरूप रूप अपनेको माना, जाना और ऐसा ही ज्ञाता द्रष्टा रहनेका पौरुष किया, आत्मज्ञानी, ध्यानी बने, अन्तर्मग्न हुए, उन पुरुषोने कर्मोंको काटकर मोक्षअवस्था प्राप्त की। ऐसे जीव जहाँ रहते है उसे मोक्ष देश कहते है। भले ही उस सिद्धालयमे निगोदिया जीव भी रह रहे, उनका जन्म-मरण हो रहा एक श्वासमे १८ बार। लेकिन वे मोक्ष देश वाले नही कहलाते। जैसे कोई भारतवासी एक आध महीनेको पासपोर्ट लेकर अमेरिका चला जाय तो वह अमेरिकावासी न कहलायगा। ऐसे ही मोक्षदेशवासीसे मतलब है—जिनको मुक्ति हुई उन पर यमराजका वश नही चलता, बाकी सभी पर यमराजका वश चलता है। सभी जीव मृत्युसे ग्रसे जाते है। तो जो लोग मोक्षदेशको पाना चाहते है याने यमके वारसे बचना चाहते है उनका कर्तव्य है कि सम्यग्दर्शन आदिक धारण करके वे महान तपश्चरणको करे।

मोक्षदेशवासी सिद्ध प्रभुका परिचय—सिद्ध मुक्तके मायने यह है कि जैसा आत्माका

सहज स्वरूप है वैसा ही रह जाना। जैसे अनेक पदार्थ है, परमाणु परमाणु हैं, धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य हैं, धर्म-अधर्म, आकाश-काल ये द्रव्य तो सदा एकाकी ही है, निर्लेप है, इनका किसी दूसरेके साथ लेप भी नही है। हाँ जीव और अणु पुद्गल ये विभागी बनते है, ये संयोगी बनते हैं। कितना ही सयोग हो पर सत्ता इन सबकी न्यारी-न्यारी ही है। तो मेरा सत्त्व जो मेरेमे है उस ही सत्त्वसे देखा जाय तो मैं अपने एकत्वस्वरूपमे रहता हूँ। इस एकत्वस्वरूप को देखे तो इसकी आराधनाके प्रसादसे यही एकत्वस्वरूप प्रकट व्यक्त हो जायगा। इसी को सिद्ध अवस्था कहते है। ससार की किसी भी स्थितिमे इस जीवको चैन नही है। सदा सभी स्थितियोमे यह मलिन रहता है। भले ही कुछ लोगोके द्वारा कोई सम्पत्तिवान देखे जाने पर भला कहलाये, यह बडा पुण्यवान है, पवित्र है, योग्य है, मगर जब तक कर्मका सम्बध है तब तक क्या पवित्रता ? थोड़े समयक कल्पित सुख मिला हुआ है। कुछ ही समय बाद इसका मरण होगा। वह काल्पनिक सुख सब खतम हो जायगा। ससारकी किसी भी स्थितिमे चैन नही है, इसलिए ससारकी कुछ भी स्थिति चाहिए नही। मेरे को तो केवल मेरा आत्माराम चाहिए। मेरी दृष्टिमे केवल मेरा यह चैतन्य स्वरूप परमात्मतत्त्व दृष्टि मे रहे। मेरे ज्ञानमे यह ज्ञानस्वरूप ही बसा रहे। यह ही ज्ञानस्वरूप मेरा ज्ञय बने। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञय एक रूप रहे। अपने आपमे ही अपना प्रकाश पाता हुआ सहज आनन्दमय रहूँ। यही स्थिति वास्तविक स्थिति है। कल्याणकारी स्थिति है। इस सिद्ध अवस्था की स्थितिको छोडकर अन्य कुछ भी न चाहिए, ऐसा दृढ निर्णय होना ही चाहिए सम्यग्दृष्टिके ऐसा दृढ निर्णय रहता ही है कि मेरा कल्याण करने वाला केवल एक सिद्ध परिणमन ही है। सो ऐसे एकाकीपने की भावना रखे और सम्यग्दर्शन आदिक रत्नमय सहित महान तपश्चरणको करे और मृत्युके सकटसे छूटे।

येषा स्त्रीस्तनचक्रवाक युगले पीताशुराजत्तटे निर्यत्कौस्तुभरत्नरशिमसलिले आस्यांबुज-भ्राजिते। श्री वक्ष कमलाकरे गतभया क्रीडा चकरापरा श्रीहि श्रीहरयोऽपि ते मृर्तानिता कुत्रापरेपा स्थिति ॥३०३॥

लक्ष्मीपति श्रीहरिका भी मरण—स्त्रियोके स्तन रूपी चक्रवाकोसे सहित और पीताम्बर रूपी मनोहर तटसे भूषित, कौस्तुभमणिकी छटकती हुई किरण रूपी जलसे व्याप्त मुख रूपी कमलसे अलकृत जिसके वक्षस्थलरूपी विशाल तालावमे साक्षात् लक्ष्मीने क्रीडाकी ऐसे श्री कृष्ण महाराज सरीखे महापुरुष भी कालके गलमे फस गए तब फिर अन्य मनुष्य सदा काल कैसे जीवित रह सकते है ? श्रीकृष्ण नारायण हुए और अपने

समयमे इनकी बडी ख्याति थी। नारायण और बलभद्र ये दोनो सगे भाई होते है और प्राय. कर बलभद्रका ऐसा पुण्य प्रताप होता है कि नारायण ही बलभद्रकी सेवा करता है और उसमें प्रमखता बलभद्र की होती है। जैसे श्रीराम बलभद्र थे और लक्ष्मण नारायण थे। वहाँ श्रीराम की ही प्रमुखता थी। यहाँ बलदेव बलभद्र थे और श्री कृष्ण नारायण थे, यहाँ श्रीकृष्ण नारायण की प्रधानता थी। तो इतने बड़े पुण्यशाली श्री कृष्ण नारायण जब ये भी कालके गालसे न बच सके इनकी भी मृत्यु हुई तो अन्य जीवोकी कहानी ही क्या है? श्री कृष्ण जेलमे तो उत्पन्न हुए, जिससे यह प्रसिद्धि बनी कि जिनके जन्मका कोई गाने वाला न था और उनका मरण जगलमे जरत कुमारके वाणोसे हुआ जिससे यह प्रसिद्धि हुई कि मरण समय अन्य कोई रोने वाला न था। जिनका इतना पुण्य प्रताप कि जीवनमे लोग उन्हे भगवानकी तरह मानते थे, जब वे भी इस तरह जगमे न रहे तब फिर अन्य पुरुषोकी तो बात ही क्या है? मतलब यह है कि जिनका जन्म हुआ है उनका मरण अवश्यभावी है, इसलिए जीवनकी लालसा न करना, किन्तु जीवनके क्षणोमें शुद्ध आत्मद्रव्यके तत्त्वकी दृष्टि करके वास्तविक तपश्चरण करना।

भोक्ता यत्र वितृप्तिरत कविभुर्भोज्या समस्तागिन कालेश: परिवेषकोऽश्रमतनुर्ग्रासा विसत्यक्रमै.। वक्त्रे तस्य निशातदतकलिते तत्र स्थिति. कीदृशी जीवानामिति मृत्यु भीतमनसो जैन तपः कुर्वते ॥३०४॥

मृत्युभीतमनस्क जनोका कर्तव्य परमार्थतपश्चरण—इस ससारमें कभी भी तृप्त न होने वाले तीक्ष्ण दष्ट्रावोके धारक यमराज तो स्वय भक्षक है और समस्त प्राणी दीन भक्ष्य है। अब बतलावो कि जहाँ यह यम बडे वेगसे जीवोमे पक्षपात न कर जिस किसी का भी भक्षण कर देता है और सारे प्राणी उस यमराजके भक्ष्य है तो अब बचनेका कौन सा अवकाश रहा कि जो कही जीवन टिका रहे और मरण न हो। और भी देखिये कभी भी न थकने वाला यह काल प्रभु याने आयु कर्म यह परिवेषक है अर्थात् जीवोको घेर-घेर कर यमके पास लाने वाला है और जहाँ एक साथ सैकडो, हजारो, लाखो वेहिसाब ग्रस लिए जाते है तब जीवनके बचनेका अवसर कहाँ रहा? एक तो वह यमराज कभी तृप्त नही होता कि मानो लाख दो लाख अथवा करोड जीवोको मार लिया और तृप्त हो जाय और बैठ जाय आरामसे। लोगोके जीवन बचे रहे, तो यह तो कभी तृप्त होता ही नही है और प्राणी दीन मरने वाले सर्वत्र हैं ही और इस पर भी यह आयुकर्म खीच-खीचकर ले जाता है कि अब इसका काल समाप्त और फिर एक साथ ही लाखो करोडो अनन्त

जीव मरण कर जाते है। निगोदमें तो एक श्वाँसमें १८ बार जन्मते मरते है। निगोदो की सख्या तो अनन्त है। अब बतलावो कि मरणसे बचनेका कोई तरीका भी रहा क्या ? फिर ऐसी स्थितिमें मनुष्य की सदा कोई एक सी स्थिति बनी रहे यह कैसे सम्भव है ? इसी कारण जो मृत्युसे डरने वाले पुरुष हैं, ससार सकट नही चाहते है उन्हे चाहिये कि वे वीतराग जैन तपका आचरण करे। वस्तुत आत्मा अमर है। प्रत्येक पदार्थ जो भी सत् है मूलत उसका कभी नाश नही होता। केवल अवस्थावोका परिवर्तन होता है। सो जीवकी ससारदशामे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, ये अवस्थाये है, सो ये अवस्थाये न हो और जीवका जो स्वय सहज स्वरूप है उस स्वरूपके अनुरूप इसका विकास हो तो यह सदा अमर ही रहा। अवस्थावोमे गया तो भी जीवका नाश नही हुआ मगर कष्ट तो पाया। कष्ट न पाये और अमर रहे ऐसी स्थिति है तो वह परमात्माकी स्थिति है अन्यथा इस ससारमे जो वीतराग तपका आचरण नही करता उसको अनन्त बार जन्मना और मरना पडता है। यदि कोई ऐसा पुरुष ससारमें प्राणियोको मारने वाला होता कि मान लो कुछ लाख, करोड आदिक नियमित सख्या वाले जीवोंको खाकर तृप्त हो जाता, पर ऐसा तो यह काल नही है। वह तो अनन्त जीव मरे तो भी अगले क्षण ज्योका त्यो फिर मारनेको तैयार है। खैर तृप्त नही भी होता, कुछ दूर देश या परिमित स्थानमे ही जाने वाला होता, सगम रहित होता तो भी कुछ गनीमत थी लेकिन आयुकर्मका क्षय इसकी सहायता तो निरन्तर बनी हुई है या मानो बेहिसाब न खाकर क्रमसे नम्बर वार खाता होता या मानलो कुछ कम पैनी ही दाढ वाला होता, तीक्ष्ण दंष्ट्र वाला न होता तब भी आशा की जा सकती थी। तो शायद कोई न कोई जीव यमराजके तृप्त होनेसे या उसकी गति न होनेसे, छिपकर बच जानेसे या सहायकके अभावसे या नम्बर न आने से बच जाता, किन्तु ऐसा नही है। जो चाहे जीव जिस किसी भी समय मरणको प्राप्त हो जाता है। इसलिए इस दुःखदायी ससारसे मक्त होने के लिए मनुष्योको वीतराग भगवान द्वारा बताये गए वास्तविक आत्मीय तपश्चरणको करना चाहिये। परमार्थ तपश्चरण है यह कि निज चैतन्य स्वरूपमे उपयोग रमाये रहे। सो ऐसा विवेकीजन करके संसार सागरसे पार हो जाते है।

उद्धर्तु धरणी निशाकररवी क्षेप्तु मरुन्मार्गतो वात स्तभयितु पयोनिधिजल पातु गिरिं चूर्णितु शक्ता यत्र विशति मृत्युवदने कान्यस्य तत्र स्थितिर्यस्मिन्माति गिरिर्बिले सह बनं कात्र व्यवस्था ह्यणो ॥३०५॥

महाबलशालियोंके भी मरणकी अवश्यंभाविता—ससारमे ऐसे-ऐसे बलवान लोग हैं कि वे इस पृथ्वीको पलट सकते है। सूर्य और चन्द्रमाको आकाशसे उतार सकते है। पवनको स्तब्धकर जहाँ का तहाँ रोक सकते है। समुद्र को पीकर सोख सकते है, पहाड़ तकको चूर्ण कर डालनेकी सामर्थ्य रखते है। तो ऐसे लोग भी जब मृत्युके मुखमे फस जाते है और निशक्तके समान नष्ट भ्रष्ट हो जाते है तो अन्य मनुष्य इस यमके मुखमे न आयेगें यह कैसे हो सकता है। भला जिस छिद्रमे बडे-बडे जगल सहित पहाड़ घुस जाये उस छिद्रमे क्या परमाणु याने पुद्गलका सबसे छोटा टुकडा टिक सकता है? क्या वह प्रवेश न कर पायगा? तो जहाँ ऐसे बड़े-बडे बलशाली लोग भी मरण कर जाते है वहाँ छुद्र शक्ति वाले जीव क्या जोवित बने रहेगे? जो जन्मा है सो मरणको प्राप्त होता है। अज्ञानीजन ही इस जीवनको तरसते हैं। मेरा मरण न हो, जीवन बना रहे, पर ऐसा तरसनेसे क्या मरण बच जायगा? क्या जीवन बना रहेगा? विवेकीजन कभी इस प्रकारकी धुन नही रखते कि मेरा मरण न हो। अरे यहाँ जिन्दा होकर भी क्या कर लिया? कौन सा हितका काम कर लेते है? ये ही ससारके समागम आँखो दिखते हैं, उनकी ओर उपयोग लगता है, दु.खी होते रहते है। जीवनमे भी क्या रखा? मरण न हो इस प्रकार की वाञ्छासे क्या लाभ? जो हो सो हो, वहाँ भी मै अपने आत्माके सहज ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखता रहूँ, मरण हो तो वहाँ भी मै अपने ज्ञानानन्द स्वरूपको निरखता रहूँ। तो सहज परमातत्त्वके निरखने की तो आशा रखना चाहिए और उसी के लिए पौरूष होना चाहिये पर इस अशुचि क्षणिक मायामय शरीरके बने रहने की भावना करना बेकार है। जो हो सो हो. किन्तु सभी स्थितियोमे मेरे को मेरा आत्मतत्त्व दृष्टगत रहे।

सुग्रीवांगदनीलमरुतसुतपृष्टै: कृताराधनो रामो येन विनाशितस्त्रिभुवन प्रख्यातकीर्ति-ध्वज.। मृत्योस्तस्य परेषु देहिषु कथा का निघ्नतो विद्यते कात्रास्था नयतो द्विप हि शशको निर्यापक: श्रोतस: ॥३०६॥

सुग्रीवादिमहापुरुषसेव्य श्रीरामका भी वियोग—इस लोकमे श्रीराम बलभद्र जैसे बड़े महिमावान पुरुष व्याप्त हुए जिनकी तीनो लोकमे कीर्ति प्रसिद्ध हुई। जिनकी सुग्रीव, अगद, नील, हनुमान जैसे महान पुरुषों द्वारा सेवा हुई है। श्रीरामकी इन महापुरुषोने बड़ी भक्तिसे सेवा की है। तो ऐसी प्रसिद्ध कीर्ति वाले श्रीरामचन्द्र जी भी जब यमसे न बच सके, जिस यमने इनको भी नष्ट कर दिया। आयु कर्मके अन्तमे शरीरका नाता

छोडकर उन्हे भी चलना पडा । यद्यपि श्रीराम भगवान हुए हैं, मोक्ष प्राप्त किया है, पर निर्वाण तो तब ही हुआ जब कि आयु कर्म व शेष सभी कर्म नष्ट हो गए । तो उनका मरण पडित-पडित मरण है, जिसके बाद जन्म नही होता और न कभी मरना पडता, तो ऐसा निर्वाण हुआ है आखिर वे भी इस जगतमे रह न सके । तब यह यम किसी अन्य पुरुषको क्या छोडेगा ? जो जन्मा है सो नियमसे मरता है । इसमे किसी भी प्रकारका सदेह नही है । भला जो नदी का बहाव इतना तीव है कि बड़े-बड़े हाथियोको बहा ले जाता है तो क्या बहुत छोटे खरगोश सरिखे जतुवोको वह बहाव छोड़ देगा ? वह तो पत्ते के माफिक बहावमे बहाता चला जायगा । तो भला जब ऐसे-ऐसे महापुरुष भी इस काल से न बच सके तो हम आप किसी को भी अब यह आशा न रखना चाहिये कि हमारा जीवन बना रहे और कभी मरण न आये । हाँ यह भावना अवश्य रहना चाहिए कि जीवन बना रहे तो मुझको अपने सहज परमात्मस्वरूपकी आराधना रहे । मरण होता हो तो उस समय भी निज सहज परमात्मतत्त्वकी आराधना रहा करे ।

अत्यन्त कुरुता रसायनविधि वाक्य प्रिय जल्पतु वार्धे पारमियुर्त गच्छतु नभो देवाद्रि-मारोहतु । पाताल विशतु प्रसर्पतु दिश देशातर भ्राम्यतु न प्राणी तदपि प्रहर्तुमनसा सत्यज्यते मृत्युना ।।३०७।।

मृत्युसे बचनेके लिये बड़े-बड़े उपायो की व्यर्थता—यह जीव मृत्युसे बचनेके लिए चाहे रसायनका सेवन करे परन्तु इस विधिसे वह मरणसे बच जाय यह नही हो सकता । जब आयु कर्मकी अवधि पूरी हो रही है तो जीवन कैसे सम्भव है ? जीवन तो आयु कर्म के उदयमे ही चलता है । तो चाहे कैसे ही रसायनका सेवन करे पर आयुकर्मकी अवधि पूरी होने पर यह मृत्युमुखमे अवश्य हो जायगा । कोई पुरुष बडे प्यारे मीठे वचन बोला करे पर प्रिय वचन बोलने से या मृत्यु राजाकी आराधनासे या मृत्युंजय जाप करनेसे मृत्युसे नहीं बच सकता कोई पुरुष समुद्रके दूसरे तट पर चला जाय तो क्या वहाँ मरेगा नही ? अरे उस जीवके साथ ही तो आयुकर्म लगा हुआ है, जिसकी अवधि पूरी होती है और मरण होता है । कोई चाहे आकाशमे उड जाय कि वहाँ कोई सताने वाला, मारने वाला न होगा, मगर उडते ही हालतमे यदि आयुका क्षय हो जाय तो उसे गिरना पडता है, । मरना पडता है । कोई पुरुष सुमेरुपर्वतकी चोटीपर जा बैठे यहाँ जीव बहुत मरते हैं इसलिए इस वातावरण को छोडे और कोई हो ऋद्धिबल ऐसा कि जिस बलसे यह मेरु पर्वतकी चोटीपर जा बैठे तो इससे कही मरणसे न बच जायगा । कोई पुरुष पातालमे घुस जाय यह सोचकर

कि यहाँ यमका प्रवेश नही हो सकता तो यम तो सबके साथ ही लगा हुआ है। आयु-कर्मके क्षयका ही तो नाम यम है। जहाँ भी जो पातालमें भी हो तो वहाँ पर भी यह मृत्युसे नही बच सकता। कोई पुरुष किसी भी दशामे कितना ही दूर चला जाय और किसी भी नये देशमे कितनी ही दूर घूमने जाय, परन्तु वह मृत्युसे कही बच नही सकता। जिस समय जीवके आयुकर्मकी अवधि पूरी हो जायगी उस समय इसको अवश्य ही मृत्युके मुखमें फसना पड़ेगा, अर्थात् मरण करना ही पड़ेगा।

कार्यं यावदिद करोमि विधिवत्तावत्करिष्याम्यद स्तत्कृत्वा पुनरेतदद्य कृतवानेतत्परा-कारितं। इत्यात्मीयकुटु वपोषणपर प्राणी क्रियाव्याकुलो मृत्योरेति करग्रह हतमति सत्यक्तधर्मक्रिय. ।।३०८।।

क्रियाबुद्धिमें ही रहकर धर्मका विस्मरण—यह प्राणी जवसे होश सम्हालता है तव से ऐसे विकल्प करता रहता है कि यह काम मैं आज करता रहूँ, इस कामको मैं कल कर दूंगा। यह काम आज कर दिया है, इस कामको मैंने पहले ही कर डाला है आदिक विधिसे अपने कुटुम्वके पोषणमें ही लगे हुए सैकड़ो प्रसगोमे क्रियावोमे फसा हुआ रहता है पर अचानक आयु समाप्त होती है तो इस कालके गालमे जाकर फसना पडता है। जव वहुत छोटा वच्चा है, तो वह भी अपने अन्दर मे कुछ न कुछ सोचता रहता है मगर कुछ प्रकट नही होता। जब यह कुछ वडा बनता है, होश सम्हालता है, सांसारिक होशकी वात कही जा रही है तव से यह जीव यह मैं करता हूँ, यह मैं करूंगा, यह मैंने किया है, यो करने-करनेके विकल्पमे ही लगा रहता है और कुटुम्व आदिक पर पदार्थोंको विषयभूत बनाया करता है, पर यह मृत्युक्षय, मरणकाल अचानक ही आ जाता है और यह जीव कालके गालमें फस जाता है। सो ऐसा जीवन तो गुजर जायगा परन्तु यह प्राणी धर्मकी ओर कुछ भी ध्यान नही देता। यदि कुछ शरीरका वल मिला है, वचनने बोलनेकी शक्ति आयी है। शरीरसे चेष्टा करने लायक हुए हैं तो यह करने-करनेके विकल्पमें ही लगा रहता है। यह ध्यानमें नही ला पाता कि वाह्य पदार्थोमे मेरे कुछ करने का सामर्थ्य ही नही है। जो कुछ मैं कर रहा हूँ कर सकता हूँ सो अपने आपके गुण और प्रदेशोमें कर रहा हूँ। सो कृतार्थता की बुद्धि नही आती। मेरे करनेको कुछ पडा नहीं है, मैं परिपूर्ण हूँ मेरे को मुझमें करना क्या है। बाहरमें कही किसी भी पदार्थमें मैं कुछ भी कर सकता नहीं ऐसा सच्चा ज्ञान नहीं कर पाता और विकट विकल्पमें ही रहकर मृत्युके मुखमें चला जाता है।

मांधाता भरतः शिवो दशरथो लक्ष्मीधरो रावणः कर्णः कंसरिपुर्बलो भृगुपतिर्भीम परेऽप्यु-न्नता । मृत्यु जेतुमल न य नृपतय. कस्त परो जेष्यते भग्नो यो न महातरुर्द्विपवरैरत किं शशो भक्ष्यति ॥३०६॥

महारथियों द्वारा भी मृत्युकी अविजेयता—बड़े-बड़े पुरुषभी मृत्युको जीत न सके। जिसमे माधाता कोई बड़े वीर पुरुप हुए हैं वे भी न रह सके। भरत चक्रवर्ती जिसका छह खण्ड पर राज्य था जब आयुकर्मका क्षय हुआ तो उसे भी जाना पडा। भले ही वह निर्वाण गए हो तो भी आयुका क्षय तो हुआ। महादेव जो बड़ी विद्यावोके सिद्ध करने वाले थे विद्याबलसे जिसने जगतको वश कर रखा था वह भी न रह सके। दशरथ (श्री रामके पिता) जिनकी उस जमानेमे बडी कीर्ति थी वे भी न रह सके। लक्ष्मण, नारायण, जिनका छह खण्डका राज्य था, पर जब गए तो अचानक ही चले गए। रावण प्रति नारायण के बडी विद्याये थी, अनेक विद्यावोके धारी थे, जिनके बलकी बडी महिमा गायी गई है वे भी यहाँ न रह सके। कृष्ण बलभद्र आखिर ये भी न रह सके। भृगुपति परसुराम, भीम आदिक बडे-बडे पुरुष पराक्रमी होने पर शरीर भी इस यमराज की दृष्टि को न सह सके और उनको भी आयुके क्षय होने पर त्यागना पडा तो फिर अन्य लोगोकी कथा ही क्या है ? कौन सदा जीवित रहेगा ? अपने ही शरीरको टटोलकर बोलो कि यह ही तो शरीर है जो लोगोके द्वारा जला दिया जायगा। कैसा मोह कि इस शरीर को अपनाया और उसके आधार पर खुश हुए, निन्दामे नाखुश हुए, अनुकूल बात हुई तो खुश हुए, प्रतिकूल बात हुई तो नाराज हो गए, जिसका फोटो चाहते, जिसका नाम चाहते वह क्या कोई पवित्र वस्तु है ? अरे वह तो नष्ट हो जाने वाली चीज है। उसके जीनेकी आशा करना व्यर्थ है। जो जन्मा है सो नियमसे मरणको प्राप्त होता है। ठीक ही है, जो महावृक्ष बडे-बडे हाथियोसे न टूट सके उसे खरगोश चाहे कि मै इस वृक्षको तोड दूँ तो क्या तोड सकेगा ? नही तोड सकेगा, ऐसे ही जब बड़े-बड़े पुरुष भी यमकी आज्ञाका भग न कर सके, यमको न जीत सके तो क्या छोटे-छोटे पुरुष इस मरणको जीत लेगे ? नही जीत सकते। जो जन्मा है उसे नियमसे मरना पडेगा। बुद्धिमानी इसमे है कि जितना जीवन है उतने काल अपने सहज परमात्मतत्त्वका आलम्बन लेकर सबका विकल्प छोडकर आत्मानुभव करे और ज्ञानानुभवके आनन्दसे तृप्त होवे। इसीसे कर्म कटते है और जन्म जरा मरणके राग नष्ट होते है।

सर्वं शुष्यति सांद्रमेति निखिला पाथोनिधिं निम्नगा सर्वं म्लायति पुष्पमल मरुतः शम्पेव सर्वं चलं। सर्वं नश्यति कृत्रिमं च सकलो यद्वद् व्यपक्षीयते सर्वस्तद्वदुपैति मृत्युवदनं देही भवस्तत्त्वेतः ॥३१०॥

सर्व प्राणियोंके मरणकी अवश्यंभाविता—लोकमें जितने भी पदार्थ गीले है वे सब सूख जाते हैं, समुद्र हो, कुवाँ हो, नदी हो, सभी सूख जाते है यानि सब विनाशीक हैं अपनी एक स्थिति में कुछ भी नही रह सकता। जितनी नदियाँ हैं वे सब समुद्रमे विलीन हो जाती है, वे अपना अस्तित्व कहाँ रख पाती हैं? पानी बहा आगे गया, समुद्रमे गिरा तो ऐसे ही सभी पदार्थ अपनी-अपनी परिणति करते है और पुरानी परिणति नष्ट कर देते है। जितने पुष्प है वें सब सूख जाने वाले है, फूल न भी टूटे, वृक्षमे ही लगा रहे तो भी सूख जायगा। वृक्षसे गिर गया तो भी सूख जायगा, इसी तरह जगलमे जितने भी जीव है वे सब मरणकी ओर जायेगे, कोई सदा न रहेगा, जितने भी पदार्थ है वे बिजली के समान चचल है। जैसे बिजली चचल है, स्थायी नही रह सकती ऐसे ही जगतके कोई भी पदार्थ स्थायी नही रह सकते। जितनी कृत्रिम वस्तुवे है वे सब विनाशशील है, इसी कारणसे जब कि ये विनाशशील है, नित्य नही तो ये प्राणी भी जन्म धारण करने वाले जितने है वे सब मरण कर जायेगे। यह प्राणी मरनेसे डरता क्यो है? इसको परिग्रहसे मोह है इसलिए डरता है। इसे यदि आत्माकी सुध हो, आत्माकी दृष्टि रहे तो फिर मरणका क्या भय? यह आत्मा यहाँ जिस किसी भाँति दृष्ट है वही आत्मा चलकर अन्य जगह गया तो उसको कौन-सी बुरी बात मिल गई? जो आत्मज्ञानी हैं वे मरणसे नही डरते, वे ही मृत्युको जीतने वाले कहलाते है। और जो अज्ञानी मोही है वे मरणसे डरा करते है, शरीरसे मैं निकल जाऊंगा यह सोचकर अज्ञानीजन ही दुःखी होते हैं, वे जानते है कि मेरा यहाँ बडा यश था, लोग मुझे बड़ा समझते थे, हमारे पास इतना बडा वैभव था, हम बड़े आराममे रहते थे, अब यह सब छूटा जा रहा है यह सोच सोचकर अज्ञानीजन दुःखी रहा करते है। परन्तु ज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं आत्मा आत्मामें ही रहता हूँ, जहाँ जाऊंगा वहाँ ही मैं आत्मा रहूँगा, मेरे अस्तित्वका कही भी विनाश नही है। वह व्याकुलतासे रहित होता है।

प्रख्यात द्युतिकाति कीर्तिधिषणाप्रज्ञाकलाभूतयो देवा येन पुरदरप्रभृतयो नीता. क्षयमृत्युना। तस्यान्येषु जनेषु कात्र गणना हिसात्मनोविद्यते मत्तेभं हि हिनस्ति यः स हरिणं किं मुचते केशरी ॥३११॥

क्षुधित सिंह द्वारा हरिणके ग्रहणकी तरह यमके मुखमें सर्व प्राणियोंका प्रवेश—जैसे मदोन्मत्त हाथियोको भी पछाड देने वाला सिंह दीन हीन छुद्र हिरणको नही छोड सकता। उसके लिए हिरणका खा लेना, मार लेना कोई कठिन है क्या? उसे अवश्य ही मार डालता है सिंह अपनी क्षुधा मिटानेको या अपनी प्रकृतिके कारण, तो इसी प्रकार ससारकी प्रसिद्धिसे प्रसिद्ध प्रताप वाले बडी कान्ति कीर्ति, बुद्धिके धारण करने वाले सर्व कला और शक्तिके भडार इन्द्रादिक देवो तकको नष्ट कर देने वाला यह यमराज छुद्र प्राणियो को नही छोड सकता। सब ही अवश्य मरणको प्राप्त होते हैं। देखिये कोई अलग देवता नही है जो लोगोकी जान लेने आता हो, सभी जीवो के साथ कर्म लगे है, उन कर्मोका क्षय होता है। आयुकर्मका क्षय हो गया, नवीन आयुका उदय आ गया उसको मरण कहते है। तो वर्तमान आयुके क्षय का नाम यम समझ लेना चाहिये। चूँकि साहित्यिक अलकारमे यमका (मरणका) वर्णन हुआ है सो यह यम जब बडे-बडे इन्द्रोको भी नष्ट कर डालता है, जिनकी बडी सागरो पर्यन्तकी आयु है, जो बीचमे कभी मर नहीं सकते, जिनका वैक्रियक शरीर है, कहो छोटा शरीर बन जाय, कहो बडा बन जाय, कहो हल्का बन जाय या वजनदार बन जाय। सो बडी नीति रीति ऋद्धिके धारी ये देवेन्द्र भी यमके द्वारा मरणको प्राप्त होते है। उनकी भी आयुका क्षय होता है। अब भला विचारो कि जो अनगिनते वर्षो स्वर्गोके सुख भोग रहा वह भी अन्तमे मरणको प्राप्त होता है तब फिर हम आप क्षुद्र प्राणियोकी तो कथा ही क्या है? किसी भी समय मरणको प्राप्त हो जाते है। तो जिन्हे मरणका कष्ट न भोगना हो उन्हे चाहिए कि धर्ममे चित्त लगाये। जन्म जरा मरण रहित आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावकी आराधना करे। उस रूप अपने आपको देखे तो ये कर्म सब सूख जायेगे। शरीर मिलना बद हो जायगा। सिद्ध भगवान हो जायेगे। सदाके लिए इसके समस्त सकट टल जायेगे। सो दृष्टि रहना चाहिए अपने आत्मस्वरूप की ओर और जगतमे किसी भी उपक्रमके कर्ता न बनना चाहिए, क्योकि बाह्य पदार्थोमे यदि इसका लगाव रहा तो फिर आत्माकी दृष्टि नही बन सकती। तो जिसके आत्माकी दृष्टि नही बनी उसका जीवन बेकार है। सक्लेश पूर्वक मरण करेगे तो उसके फलमे कठिन दुःख भोगना होगा।

श्रीर्ह्री कीर्तिरतिद्युतिप्रियतमाप्रज्ञाकलाभि सम यद् ग्रासीकुरुते नितातकठिनो मर्त्य कृतात शठ। तस्मात्कि तदुपार्जनेन भविना कृत्य विशुद्धात्मना कितु श्रेयसि जीविते सति चले कार्या मतिस्तत्त्वत ॥३१२॥

यम द्वारा देहविनाशके साथ-साथ सर्व गुणोंका विनाश—यह यम ऐसा दुष्ट है कि यह केवल मनुष्यके शरीरको ही नष्ट नही करता किन्तु उसके साथ-साथ लक्ष्मी, लज्जा, कीर्ति, कान्ति, रति, प्रज्ञा, कला आदिक समस्त गुणोको नष्ट कर देता है। जब मरे तो कान्ति भी गई, शरीर पर झुरियाँ छा जाती हैं। जीव चला गया तो उसके साथ तैजस कार्माण भी चले गए। तो जब तैजस शरीर निकल गया तो शरीरमे मुर्दानी छा जाती है कान्ति कहाँ रह सकती ? तो यह यम केवल शरीरको ही नष्ट नही करता किन्तु साथ ही कान्तिको भी नष्ट कर देता है। लक्ष्मीको भी नष्ट कर देता है। मर गए तो सारी लक्ष्मी छूट ही गई। कीर्तिको भी नष्ट कर देता है। मर गए तो फिर उसके लिए कीर्ति क्या रही ! पिछले भवोमे न जाने कितने बडे-बड़े काम किये होगे पर आज उनकी कीर्तिका कुछ स्मरण भी है क्या ? उस कीर्तिसे इस जीवको क्या लाभ ? तो ऐसे हो किन्ही कारनामोसे यह कीर्ति यह बन भी जाय तो भी मरणके बाद फिर उस कीर्तिसे क्या सम्बध ? तो शरीरको तो नष्ट कर ही देता है यह आयुकर्म (यमराज) मगर कीर्ति आदिक को भी नष्ट कर देता है। प्रज्ञा—चतुराई, इस भवमे इस भव जैसी चतुराई हैं। जब बच्चे थे तब कोई चतुराई न थी, जब कुछ बडे होते गए तो धीरे-धीरे चतुराई बढती गई, अनुभव भी बना बडी उम्र तक ये सब बाते जानने मे आयी, मर गए तो सारी चतुराई एक साथ खतम हो गई, अब अगले भवमे यहाँ की चतुराई किस काम आयगी ? यहाँ से मरकर मानलो फिर मनुष्यभवमे ही पैदा हो गए तो फिर शुरू से वही अ आ इ ई की पाटी पढनी पडेगी। जो जो भी कलाये इस जीवनमे सीख लिया, मान लो किसी ने हारमोनियम बजाना सीख लिया या टाईपिगके काम सीख लिया या कोई भी कला का काम सीख लिया, तो मरण होने पर तो ये सब कलाये व्यर्थ हो जायेगी। अगले भवमे वे कलायें क्या काम देगी ? मान लो मरकर फिर मनुष्य बने तो फिर से वही पाठ सीखना पडेगा। तो यह यम सिर्फ इस मनुष्यके शरीरका ही नही किन्तु सम्पूर्ण कला व गुण आदिकको भी नष्ट कर डालता है। तो जो बुद्धिमान पुरुष है, आत्माके स्वरूपको जो जानने वाले है वे इस चचल जीवनमे जीते हुए ही अपने मोक्ष सुखका उपाय बना लेते हैं। आत्म स्वरूपको बरबाद करने वाले पदार्थोमे वे प्रीति नही करते। इनके फदेमे वे नही फंसते। तो मोक्षसुख पाये। मोक्षसुख पानेका उपाय क्या है ? अपने सहज आत्मस्वरूप का श्रद्धान करना, ज्ञान करना, और उस ही रूप अपने को मानकर रह जाना, अन्य विकल्प न करना यही मोक्षके पानेका उपाय है।

यो लोकैकशिर. शिखामणिसम सर्वोपकारोद्यत राजच्छीलगुणाकर नरवर कृत्वा पुनर्निर्दय । धाता हृति निरर्गलो हतमति कि तत्क्रियायां फल प्रायो निर्दयचेतसा न भवति श्रेयोमतिर्भूतले ।।३१३।।

दैवका विचित्र कदम—यह भाग्य इस मनुष्यको पहले तो ऐसा बडा बना देता है, ऐसी अपनी भलमसी दिखाता है कि तीनों लोकके सिर पर पैर रखने वाला अर्थात् ऊंचा बना देता है । समस्त ससारके उपकारमे लगा देने वाला ऐसा महान बना देता है और मुकुटके समान गुणोसे देदीप्यमान बना देता है । जैसे इन्द्र देवका जब तक जीवन है, पुण्यका उदय है तब तक उसमे कितनी महान शक्ति है । कोई भूख प्यास आदिक की वेदना उनको नही, बडा ऊंचा बना दिया कर्म ने, पीछे वह ऐसा निर्दयपना दिखाता है कि इस बेचारे इन्द्रके प्राण ही हर लेता है । किसीको खूब सुख मिले जिन्दगी भर, पर उसका आखरी परिणाम क्या होगा सो तो विचारो बडा दु.खी होना पड़ेगा । भला जगतमे है क्या कोई ऐसा मनुष्य जिसने जीवन भर सदा सुख ही सुख पाया हो ? ऐसा कोई नही है ? पुण्योदयसे जितनी सुख सामग्री मिलती है वे जब अन्तमे विघटती है तो उनके पीछे बडा दु ख होता है । यह बात सब की निगाहमे है कि मरण होते समय यह जीव सबके विछोहका बडा कष्ट मानता है । तो यह दैव पहले तो मनुष्यके साथ बहुत भलमसी दिखाता है, इसे खूब ऊंचा बना देता है राजा बन गया, सारे वैभव मिल गए, बड़े-बड़े लोग जिसकी आज्ञा मे रहते है, सब कुछ है, पर अन्तमे उसकी क्या हालत होती है सो वही जानता होगा । सब कुछ छोडकर जाते समय उसको बडा कष्ट होता है । तो यह यमराज बिना ही कसूर के इस जीवको शरीरसे पृथक् कर देता है । जीवन भर सुख पाये और इस मनुष्य ने भी न किसी पर अन्याय किया, न किसी को सताया, धर्मसाधना मे भी लगा रहा लेकिन आयुका क्षय और यह यम उसे भी शरीरसे पृथक कर देता है और निरर्थक काम करनेकी जड़ बुद्धिका परिचय देता है । भला किसीको मार देनेसे उसे मिला क्या ? मानो कोई मर गया तो उससे यमको मिला क्या ? लेकिन इसकी ऐसी प्रकृति ही है । ऐसा स्वरूप ही है वस्तुका । कोई भी जीव शरीर बने तो उसकी म्याद होती है । भले ही लोग जिसे वैकुण्ठकी कल्पना करते कि वहां कल्पकाल तक जीव मुक्त रहता है और फिर अवधि पूरी हो जाती है, कल्पकाल व्यतीत हो जाता है तो उसे फिर ससारमे जन्म लेना पडता है ऐसा कुछ लोग कहते है । उनका यह आशय जैन शासनके स्वर्ग और ग्रैवयकमे उत्पन्न होने वालेके साथ लगता है ग्रैवयकमे जो

उत्पन्न हुआ है या उससे आगे और ऊपर मानो उत्पन्न हुआ है तो वे सब अहमिन्द्र है। वे होते है मुक्त जैसे, उनके मद कषाय होतो, शुक्ल लेश्या उनके होती। तो लोगो की दृष्टिमे वे भगवान की तरह है मगर उनके भी आयु है। जब आयुका क्षय होता है तो उन्हे भी मरण करना पडता है। तो जो जन्मा है वह मरेगा। ऐसा जानकर बुद्धिमानी इसमे है कि यहाँ ऐसा काम कर जाये जिससे हम भविष्यमे आराम और शान्तिसे रह सके। उसका उपाय है आत्माका ज्ञान करना।

रम्या कि न विभूतयोऽतिललिता सच्चामरभ्राजिता कि वा पीनदृढोन्नतस्तनयुगारत्नस्तैण-दीर्घेक्षणा। कि वा सज्जनसगतिर्न सुखदा चेतश्चमत्कारिणी कि त्वत्रानिलधूत दीपकलि-काच्छायाचल जीवित ॥३१४॥

जगतमे सर्व पदार्थोकी दु खकरता व हेयता—इस ससारमे जो-जो पदार्थ दु खदायी मालूम देते है, हेय मालूम देते है, असार दिखते है और शास्त्रोमे उनके छोडनेका उपदेश भी दिया है, यदि ये पदार्थ सदा सग रहते और यह मनुष्य मरता नही तो फिर इन्हे कौन छोडना चाहता ? मान लो स्त्री पुत्र, धन वैभव मकान महल आदिक सदा साथ रहते तो फिर कौन इन्हे छोडना पसन्द करता ? यह शरीर यदि सदा निरोग रहे, इसमे जन्म, जरा, मरण आदिक रोग न आये तो फिर इस शरीरको कौन छोडना चाहता ? ये इसी कारण छोडे जाते कि ये सब चीजे विनाशीक है, असार है। इनसे आत्माका कोई हित ही नही है, तब ही तो ये हेय बताये गए। तो ये सब दुःखदायी है, हेय है, शास्त्रोमे इनको छोडनेका उपदेश है। वे इसीलिए तो हेय है कि भाई जीवो की भी पर्यायें सदा बदलती रहती है। और फिर इन पदार्थोकी परिणतियाँ भी बदलती रहती है, तो इनका सग सदा नही रह सकता है। इनका जीवन क्षणभगुर है। पवन से प्रेरे गए दीपकके लौ के समान अल्पकालमे नष्ट हो जाने वाला है। जैसे कोई सरसोके तैलका दीपक जल रहा और हवा तेज चल रही तो उस लौ के रहनेका क्या ठिकाना ? शीघ्र ही बुझ जायगा। इसी तरह जो जीवन मिला है यह कालके लपेटके मारे सब बुझ जायगा। सो ये सब विनाशीक है, हेय है, असार है, दु खदायी है। यदि ऐसा न होता सभी पदार्थ हमेशा एक समान बने रहते और यह मनुष्य भी न मरता तो फिर कौन पुरुष घरको त्यागकर, राज्यविभूतिको त्यागकर निर्ग्रन्थ होता। बनका सहारा लेनेकी फिर किसको जरूरत पडी थी ? तो चूंकि ये सारे पदार्थ विनाशीक है इस कारण ये हेय है, असार है, इनको बुद्धिमान पुरुष त्यागते है।

बाह्यार्थोके त्यागे जानेका कारण बाह्यार्थोकी विनश्वरता भिन्नता व हेयता—देखिये राज्य वैभव किसे प्यारा नही लगता ? जहा प्रजातन्त्र पद्धति है वहां भी लोग यह चाहते है कि मै राज्यका नेता बनूं और जहा राज्य पद्धति बनी हुई है वहाँ राजा लोग अपने मे बडी प्रभुत्व महसूस करते है। यद्यपि समझते भी है, इन थोडे दिनोका सुख समागम मिला तो उसमे क्या आश्चर्य होना, लेकिन कर्मोदय ऐसा है कि अपने को भूल जाते है और मिले हुए समागमोमे अपना अहकार अनुभव करते है, गौरव अनुभव करते है। तो ये प्राणी यदि सदा रहते और इन पदार्थों का समागम सदा रहता तो इनको कौन त्यागनेकी वाञ्छा करता ? बडे-बडे महापुरुष तीर्थंकर जिनके देव रक्षक, देव सेवक जिनके मनको बहलानेके लिए इन्द्र तरसता, उन तीर्थंकरोने भी सर्व परिग्रहोको त्यागा और अपने आपमे अपने सहज परमात्मतत्त्वका ध्यान किया, जिसके प्रसादसे सर्व कर्मकलक से छूटकर वे सिद्ध हुए। यदि ये पदार्थ सदा रहते, एक सरीखे रहते और यह मनुष्य भी सदा रहता तब तो धर्म कर्म क्या ? यह ही धर्म बन गया कि इस पदार्थको लिए रहो, भोगते रहो क्योकि ये मिटने वाले नही हुए। न ये मिटने वाले हुए तो सदा छोडता ही न यह। जीव तो जितने लोग विरक्त है, विरक्त हुए है, विरक्त हुए थे वे इसी आधार पर तो विरक्त हुए कि ये सब पदार्थ विनाशीक है। इनके लगावमे आत्माको कोई लाभ नही होता। सो ये समस्त पदार्थ क्षणभगुर है। जब पुरुषोकी पार्टी बन गई, एक सगति बन गई, मित्रता बन गई तो उनको उस ही मे आनन्द आ रहा कि इस मित्रता को कौन छोडे ? यदि पदार्थ विनाशीक न होते, सदा ही जीवके साथ रहते तो इन पदार्थो को कौन त्यागता ? तो वैराग्यका आधार ही यह है कि सारे पदार्थ विनाशीक है, मुझसे निराले है। मेरा इनसे कोई सम्बध नही है, बल्कि उसकी ओर लगाव बना रहता है तो उससे पापकर्म का ही बध होता है, जिसके फलमे भविष्यमे नाना कष्ट भोगे जाते है। आत्महित केवल अपने ही स्वरूपसत्त्वके कारण जो अपनेमे स्वरूप है ज्ञानमात्र आनन्दमय उस ही रूप अपनेको अनुभव करे तो इसको ससारके सकटोसे मुक्ति हो सकती है, और अपनेको भूल जाय और बाह्य पदार्थोमे ही रमण करे तो उसका सस्कार चक्र कभी नही मिट सकता। जिनको मृत्युसे बचना है, संसारसकटोसे हटना है उनका कर्तव्य है कि सकटहीन अतस्तत्त्वकी उपासना किया करे।

यद्येतास्तरलेक्षणा युवतयो न स्युर्गलद्यौवना भूतिर्वा यदि भूभृता भवति नो सौदामिनि-
सनिभा। वातोद्भूततरगचचलमिद नो चेद्भवेज्जीवित को नामेह तदेव सौख्यविमुख

कुर्याज्जिनाना तप ॥३१५॥

सम्पागत युवती आदिके विनश्वरपनेके अभावमें तपोवृत्तिकी अनाश्रेयता—यदि इस ससारमे चचल नेत्र वाली युवतियोका मनोहारी यौवन ढल जाने वाला न होता तो उस सुखको छोडकर परोक्ष सुख पाने की इच्छा से कौन तपश्चरण को तपता ? युवतियोके मनोहारी चचल नेत्र पुरुषोकी कामवासनाको उद्गत करत है और यह मोही पुरुष वहाँ आसक्त होकर सुखका अनुभव करता है। यदि यह मनुष्य ऐसा ही बना रहे समर्थ और ये स्त्रियाँ सदैव इसी प्रकार सगमे रहे तो कौन तपश्चरणको तपता ? चूँकि ऐसा कभी हो ही नही सकता कि यह मनुष्य बलवान बना रहे भोग भोगने की सामर्थ्य वाला बना रहे और जिन युवतियो का सग समागम हुआ है वे सदा रहे, उनका कभी मरण न हो न खुदका मरण हो, ऐसा कभी हो ही नही सकता। यही तो ससारका रूप है, अतएव विवेकीजन इस भोग सामग्रीको त्याग कर तपश्चरण किया करते हैं। बड़े-बडे राजावोका ऐश्वर्य बिजलीके समान क्षण-क्षणमे चलायमान होता है, यदि यह राज्य ऐश्वर्य क्षणभगुर न होता, स्थिर रहता, सदा साथ रहता तो कौन इस राज्य वैभवको त्यागता और तपश्चरणमे लगता, चूँकि ऐसा है ही नहीं कि राज्य वैभव सदा बना रहे। वह छूटता ही है, जीवनमे छूटता है, मरकर छूटता है इसलिए ये सब भी असार है और विवेकीजन बडे वैभवको त्याग कर तपश्चरणमे लगा करते हैं। इस मनुष्यका जीवन वायुसे कंपायी गई चचल तरगो के समान क्षणस्थायी है। यदि कदाचित इस मनुष्यका जीवन सदा स्थिर रहता और ऐसा ही बलशाली रहता याने एक-सा बना रहता तो कौन पुरुष इस प्रत्यक्ष सुखको छोडकर परोक्ष सुख पानेकी इच्छासे जैन तपश्चरणको करता ? चूँकि जीवन क्षणभगुर है और ऐसा श्रेष्ठ मन मिला है कुछ समयको तो विवेकीजन इस मनको सहज परमात्मतत्त्वके ध्यानमे लगाते है और अपने जीवनक्षण सफल करते हैं।

मासासृग्रसगालसामयगणव्याघ्रै समाध्यासिता नानापायवसुधरा रुहचिता जन्माटवीमाश्रित। धावन्नाकुलमानसो निपतितो दृष्ट्वा जराराक्षसी क्षुत्क्षामोद्धत मृत्युपन्नगमुखे प्राणी कियत्प्राणिति ॥३१६॥

जराराक्षसीके आक्रमणसे व्याकुल प्राणियोका अटपट भागकर यम अजगरके मुखमें प्रवेश—मास मज्जा खून आदिक अनेक धातु उपधातुवोकी लालसा करने वाले इस रोग रूपी व्याघ्रोसे यह ससार रूपी जगल वेष्ठित है। जैसे जगलमे अनेक व्याघ्र फिरा करते है जो दूसरोके प्राण हरा करते हैं ऐसे ही इस ससारमे नाना प्रकारके रोग भरे पडे

बाह्यार्थोंके त्यागे जानेका कारण बाह्यार्थोंकी विनश्वरता भिन्नता व हेयता—देखिये राज्य वैभव किसे प्यारा नही लगता ? जहाँ प्रजातत्र पद्धति है वहाँ भी लोग यह चाहते है कि मै राज्यका नेता बनूँ और जहाँ राज्य पद्धति बनी हुई है वहाँ राजा लोग अपने मे बडी प्रभुत्व महसूस करते है। यद्यपि उनकी यह गलती है, इस थोडे दिनोका सुख समागम मिला तो उसम क्या आसक्त होना, लेकिन कर्मोदय ऐसा है कि अपने को भूल जाते है और मिले हुए समागमोसे अपनमे अहकार अनुभव करते है, गौरव अनुभव करते है। तो ये प्राणी यदि सदा रहते और इन पदार्थो का समागम सदा रहता तो इनको कौन त्यागनेकी वान्छा करता ? बडे-बडे महापुरुष तीर्थकर जिनके देव रक्षक, देव सेवक जिनके मनको बहलानेके लिए इन्द्र तरसता, उन तीर्थकरोने भी गर्व परिग्रहोको त्यागा और अपने आपमे अपने सहज परमात्मतत्त्वका ध्यान किया, जिसके प्रसादसे सर्व कर्मकलक से छूटकर वे सिद्ध हुए। यदि ये पदार्थ सदा रहते, एक सरीखे रहते और यह मनुष्य भी सदा रहता तब तो धर्म कर्म क्या ? यह ही धर्म बन गया कि इस पदार्थको लिए रहो, भोगते रहो क्योकि ये मिटने वाले नही हुए। न ये मिटने वाले हुए तो सदा छोडता ही न यह। जीव तो जितने लोग विरक्त हे, विरक्त हुए है, विरक्त हुए थे वे इसी आधार पर तो विरक्त हुए कि ये सब पदार्थ विनाशीक है। इनके लगावमे आत्माको कोई लाभ नही होता। सो ये समस्त पदार्थ क्षणभगुर है। जब पुरुषोकी पार्टी बन गई, एक सगति बन गई, मित्रता बन गई तो उनको उस ही मे आनन्द आ रहा कि इस मित्रता को कौन छोडे ? यदि पदार्थ विनाशीक न होते, सदा ही जीवके साथ रहते तो इन पदार्थो को कौन त्यागता ? तो वैराग्यका आधार ही यह है कि सारे पदार्थ विनाशीक है, मुझसे निराले है। मेरा इनसे कोई सम्बध नही है, बल्कि उसकी ओर लगाव बना रहता है तो उससे पापकर्म का ही बध होता है, जिसके फलमे भविष्यमे नाना कष्ट भोगे जाते है। आत्महित केवल अपने ही स्वरूपसत्त्वके कारण जो अपनेसे स्वरूप है ज्ञानमात्र आनन्दमय उस ही रूप अपनेको अनुभव करे तो इसको ससारके सकटोसे मुक्ति हो सकती है, और अपनेको भूल जाय और बाह्य पदार्थोमे ही रमण करे तो उसका सस्कार चक्र कभी नही मिट सकता। जिनको मृत्युसे बचना है, संसारसकटोसे हटना है उनका कर्तव्य है कि सकटहीन अतस्तत्त्वकी उपासना किया करे।

यद्येतास्तरलेक्षणा युवतयो न स्युर्गलद्यौवना भूतिर्वा यदि भूभृता भवति नो सौदामिनि-सनिभा। वातोद्‌भूततरगचचलमिद नो चेद्‌भवेज्जीवित को नामेह तदेव सौख्यविमुख

कुर्याज्जिनाना तप. ।।३१५।।

समागत युवती आदिके विनश्वरपनेके अभावसे तपोवृत्तिकी अनाश्रेयता—यदि इस ससारमे चचल नेत्र वाली युवतियोका मनोहारी यौवन ढल जाने वाला न होता तो उस सुखको छोडकर परोक्ष सुख पाने की इच्छा से कौन तपश्चरण को तपता ? युवतियोके मनोहारी चचल नेत्र पुरुषोकी कामवासनाको उद्गत करत है और यह मोही पुरुष वहाँ आसक्त होकर सुखका अनुभव करता है। यदि यह मनुष्य ऐसा ही बना रहे समर्थ और ये स्त्रियाँ सदैव इसी प्रकार सगमे रहे तो कौन तपश्चरणको तपता ? चूँकि ऐसा कभी हो ही नही सकता कि यह मनुष्य बलवान बना रहे भोग भोगने की सामर्थ्य वाला बना रहे और जिन युवतियो का सग समागम हुआ है वे सदा रहे, उनका कभी मरण न हो न खुदका मरण हो, ऐसा कभी हो ही नही सकता। यही तो ससारका रूप है, अतएव विवेकीजन इस भोग सामग्रीको त्याग कर तपश्चरण किया करते हैं। बड़े-बडे राजावोका ऐश्वर्य बिजलीके समान क्षण-क्षणमे चलायमान होता है, यदि यह राज्य ऐश्वर्य क्षणभगुर न होता, स्थिर रहता, सदा साथ रहता तो कौन इस राज्य वैभवको त्यागता और तपश्चरणमे लगता, चूँकि ऐसा है ही नही कि राज्य वैभव सदा बना रहे। वह छूटता ही है, जीवनमे छूटता है, मरकर छूटता है इसलिए ये सब भी असार है और विवेकीजन बडे वैभवको त्याग कर तपश्चरणमे लगा करते है। इस मनुष्यका जीवन वायुसे कँपायी गई चचल तरगो के समान क्षणस्थायी है। यदि कदाचित इस मनुष्यका जीवन सदा स्थिर रहता और ऐसा ही बलशाली रहता याने एक-सा बना रहता तो कौन पुरुष इस प्रत्यक्ष सुखको छोडकर परोक्ष सुख पानेकी इच्छासे जैन तपश्चरणको करता ? चूँकि जीवन क्षणभगुर है और ऐसा श्रेष्ठ मन मिला है कुछ समयको तो विवेकीजन इस मनको सहज परमात्मतत्त्वके ध्यानमे लगाते है और अपने जीवनक्षण सफल करते है।

मासासृग्रसलालसामयगणव्याघ्रै समाध्यासिता नानापायवसुधरा रुहचिता जन्माटवीमाश्रित । धावन्नाकुलमानसो निपतितो दृष्ट्वा जराराक्षसी क्षुत्क्षामोद्धत मृत्युपन्नगमुखे प्राणी कियत्प्राणिति ।।३१६।।

जराराक्षसीके आक्रमणसे व्याकुल प्राणियोका अटपट भागकर यम अजगरके मुखमे प्रवेश—मास मज्जा खून आदिक अनेक धातु उपधातुवोकी लालसा करने वाले इस रोग रूपी व्याघ्रोसे यह ससार रूपी जगल वेष्ठित है। जैसे जगलमे अनेक व्याघ्र फिरा करते है जो दूसरोके प्राण हरा करते है ऐसे ही इस ससारमे नाना प्रकारके रोग भरे पड़े

हुए है, इन भोगोसे मास मज्जा रुधिर आदिक धातुवें खोटी हो जाती है, सूख जाती हैं और नाना प्रकारके विघ्न रूपी वृक्षोसे सघन है यह जन्मरूपी विशाल जगल। जैसे विशाल वन नाना वृक्षोसे सघन रहता है तो यह भी नाना विघ्न रूपी वृक्षो से भरा हुआ है। प्रत्येक जीवके कदाचित दु ख काम होता है, सुख आता है तो उसमे अनेक विघ्न उपस्थित होते है एक प्राकृतिक बात है, जो आत्मीय आनन्द नही है, जो सहज नही है, स्वाभाविक नही है उसकी क्या प्रतिष्ठा ? उसमे तो विघ्न आया ही करते है। ऐसा नाना विघ्नोसे भरा हुआ यह जन्मरूपी विशाल जगल है। सो इस जन्ममे, इस जीवनमे जरा अर्थात् वृद्धावस्थारूपी राक्षसीको देखकर यह जीव व्याकुल हो गया है। इधर-उधर भागता है यह मन। इधर-उधर भागता हुआ यह जीव अजगर के मुख में पड जाता है। जैसे कोई पुरुष ऐसे जगलमे फस गया कि जिसके पीछे राक्षसी लग गई खानेके लिए तो डरके मारे इधर-उधर व्याकुल होकर भागता है और भागनेमे ही अजगरके मुखमे पहुंच गया, तो जैसे उसकी दुर्दशा है ऐसे ही वृद्धावस्थारूपी राक्षसीको देखकर यह जीव घबडाता है, इधर-उधर भागता है, उस अटपट भागते हुएमे उस यमराजके मुखमे, अजगरके मुखमे पहुँच गया जो भूखसे मुख बाये हुए था सो वहाँ यह जीव शीघ्र ही अपनी वर्तमानकालकी पर्यायका विनाश कर लेता है, याने प्रत्येक जीव बडी दुर्दशावोमे आकर मरण कर लिया करते है ऐसे मृत्युसे व्याप्त इस ससारमे जो जीव रमते है, भोगकी इच्छा रखते है वे पुरुष महान अज्ञान अधकारमे फसे रहते है और उन्हे सन्मार्ग नही दिखता। व्याकुल होकर ससारमे जन्म मरण करके भटकते ही रहा करते हैं।

मृत्युव्याघ्रभयकराननगत भीत जराव्याधत स्तीव्रव्याधिदुरतदु खतरुमत्ससार कातारग।
क शक्नोति शरीरिण त्रिभुवने पातु नितातासुर त्यक्त्वा जातिजरामृतिक्षतिकर जैनेद्र धर्मामृत ॥३१७॥

मरणाक्रान्त जीवोका धर्मातिरिक्त अन्य साहाय्यका अभाव—यह जीव बडे तीव्र व्याघ्रोसे भरे हुए इस ससारवनमे दु ख भोगता रहता है। नाना तरहके दु ख रूपी वृक्षोसे सघन इस ससारवनमे यह जीव संकट भोगता रहता है और जब वृद्धावस्था रूपी व्याघ्रोसे घिरा हुआ भयभीत हुआ यह जीव भयकर यम रूपी व्याघ्रके मुखमे चला जाता है। उस समय उसकी रक्षा करने वाला कौन ? जन्म मरणको नष्ट करने वाले जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रणीत धर्मके सिवाय कोई बचा नही सकता। वे पुरुष धन्य है जो मृत्यु समयमे एक चैतन्यस्वरूप आत्मस्वरूप आत्मधर्मकी आराधना किया करते हैं। इस सद्धर्मको

आराधनाके प्रतापसे वह अगला भव पायगा तो सही, पर उत्तम पायगा और वहाँ सयम धारण करके ससारके संकटोसे सदाके लिए छूट जायगा, ऐसा उसका पौरुष होगा। यदि कोई इस जीवको जन्म मरणके दुखसे बचाने वाला है, इस जीवका यदि कोई रक्षक है तो वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट यह सच्चा धर्म ही है। यह धर्म कही बाहर नही है। अपने आपका जो सहज स्वरूप है अपने ही सत्त्वके कारण अपना ही जो शील है, स्वभाव है उस रूप अपनेको अनुभवना कि मै वास्तवमे सहज चैतन्यमात्र ही हूँ। जो पवित्र आत्मा अपने आपके वास्तविक सहज स्वरूपको दृष्टिमे ले लेता है और इस अनुभव के प्रसादसे अलौकिक आनन्दका अनुभव कर लेता है वह पुरुष ससारमे सकटोसे नियमत. छूट जायगा। विवेकी पुरुषोको इस सहज परमात्मतत्त्वकी आराधना रखना चाहिये। इसकी दृष्टिमे यह ही सहज अतस्तत्त्व बना रहना चाहिये। मृत्युको जीतने वाला यदि कोई तत्र है तो यही सहज आत्मस्वरूपकी आराधना है। इसके अतिरिक्त जगतमे अन्य कोई तत्र मत्र नही है जो इस जीवको मृत्युकी परम्पराओसे बचा सके। इस जीवका स्वरूप ही ऐसा नही है कि किसी वस्तुको कोई दूसरा परिणमा सके। मुझ जीवको मैं ही सुधारमे ला सकता हूँ और मै ही बिगाडमे ला सकता हूँ। सहज आत्मस्वरूपकी अनुभूति होना यही वास्तविक धर्मपालन है।

एव सर्वजगद्विलोक्य कलित दुर्वारवीर्यात्मना निस्त्रिशेन समस्तसत्त्वसमितिप्रध्वसिना मृत्युना। सप्रत्नत्रयशातमार्गणगण गृह्णाति यच्छित्तये सतः शातधियो जिनेश्वरतप. साम्राज्यलक्ष्मीश्रिताः ॥३१८॥

जन्मजरामरणाक्रान्त लोकमे विवेकियो द्वारा धर्मपालनका कर्तव्य—ससार का स्वरूप काफी बताया गया है, प्रत्येक पदार्थ अपने आपके ही सत्त्वके कारण स्वामी है, अपने आपकी ही परिणतिसे परिणमते है। भले ही विकार परिणति के लिए निमित्त नैमित्तिक योग अनिवार्य बना हुआ है, पर परिणमन सबका स्वयंका स्वयमे है। यह वस्तु स्वातन्त्र्य कभी भी खण्डित नही होता, ऐसे अपने-अपने स्वरूप मे परिणमने वाले पदार्थोका समूह ही तो यह जगत है तो जगतका जिसने सत्य स्वरूप जान लिया वह शान्त पुरुष इस यम-को जगतको जीतनेके लिए सम्यग्दर्शन आदिक रत्नत्रय रूप तीक्ष्ण वाणोको ग्रहण करता है, यह जगत मृत्युरूपी राक्षससे व्याप्त है। अनन्तानन्त प्राणी अपनी अपनी आयुके क्षय होते ही मरणको प्राप्त होते है। सारी व्यवस्था ओटोमेटिक बनी हुई है। जिसने जैसे कर्म किया उसके अनुसार उस पर वैसी घटना बीतती है। इस मृत्युरूपी राक्षसने समस्त

प्राणियो के नाश करने की कमर कसी है। उसके नाशके लिए भी शान्त पुरुष ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव भगवान जिनेश्वरके तपके साम्राज्यके प्रभावसे तपस्वी रत्नत्रयके धारी पुरुष इस मृत्यु पर विजय प्राप्त करते है। निर्वाण प्राप्त कर लेना ही वास्तवमे मृत्यु पर विजय पाना है, सो यह निर्वाण इच्छा निरोध चैतन्य प्रतपन परमार्थ तपके प्रसादसे होता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र जो आत्मस्वरूप है, स्वाभाविक है, इन तीक्ष्ण बाणोसे उस मृत्युका विनाश कर डालते है, जहाँ आत्माने अपने सहज आत्मस्वरूपका दर्शन किया और अपनी ही इस ज्ञान ज्योतिको निरन्तर निरखते रहते है, इस ज्ञानस्वरूपमे ही अपने आपका मग्न रखना चाहते है उन पुरुषोको क्या सकट है और यह अमर आत्मा उनकी दृष्टिमे है और इस दृष्टिके प्रसादसे अद्भुत अनन्त सहज आनन्द भी भोगा जा रहा है तो वे पदार्थ है, उनको अब किस प्रकारका कष्ट रहा ? सो जो स्वपर तत्त्वके यथार्थ जानकार है वे पुरुष इस रत्नत्रय रूपी पैने बाणोको ग्रहण करते है और इस यमराजका खोज मिटाना चाहते है। वास्तवमे इस आत्माका परम मित्र आत्माका धर्म है, पर वह अपने आपमे ही शक्तिमान है, अपने आपको ही अपने द्वारा निरखता है, अथवा यह आत्मा सहज अपने आप ही स्वभावतः मौन रूप है, जाननहार है इसमे जो विकार आते हैं वह सब कर्मकी छाया है। जहाँ कर्मसे निराले सहज ज्ञानस्वरूपको देखा वहाँ छाया की प्रतिष्ठा नही रहती। जब यह आत्मा अपने आपके स्वरूपका अनुभव लेता हुआ सहज ज्ञानान्द स्वभावी अमृतका पान करता हुआ तृप्त रहता है तो जन्म जरा मरण इस ससार रोगके मिटानेकी अचूक औषधि है। सहज आत्मस्वरूपका अनुभवन है। सो हम सबका कर्तव्य है कि इस सहज आत्मस्वरूपका अनुभव पाकर हम अपने इस दुर्लभ मानव जीवनको सफल करे।

———

सुभाषित रत्नसंदोह प्रवचन

तृतीय भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

(१३वां परिच्छेद—अनित्यताका वर्णन)

कार्याणां गतयो भुजगकुटिलाः स्त्रीणां मनश्चंचल
मैश्वर्यं स्थितिमत्तरंगचपलं नृणां वयो धावति ।
संकल्पाः समदांगनाक्षितरला मृत्युः परं निश्चितो
मत्वैवं मनिसत्तमा विदधतां धर्ममति तत्वतः ॥३१६॥

(१) अनित्यसमागममें न रमकर परमार्थधर्मका आश्रय लेनेका कर्तव्य—इस जगत मे कर्मोंकी गति सर्पके समान कुटिल है अर्थात् ये कर्म कभी तो अनुकूल कार्य करने लगते हैं और कभी ऐसे दुःखोंको लाकर सामने पटक देते हैं कि जिनका स्वप्नमे कभी ध्यान भी न किया गया हो । तो ये कर्म अतीव कुटिल है, एक समान स्थिति इस जीवकी कहाँ रह पाती क्षणमे सुखी क्षणमे दुखी । बडो बड़ोकी भी यह ही स्थिति है । इस पर कोई क्या करे ? कर्मका स्वभाव ही ऐसा है । दूसरे पदार्थोका सम्पर्क कभी समता नही उत्पन्न कर देता । यह कर्मगति विचित्र है । दूसरी बात स्त्रियोका मन बडा चचल है तभी तो वे अपरिमित अनुराग दिखाने लगता है और कभी बेहद रुष्ट हो जाती हैं । जिनपर ये जीव मोहित है ये इसके वश कहाँ हैं ? कब प्रसन्न हो कोई, कब रुष्ट हो कोई । उसके कषायके आधीन तो कभी कोई रह नही सकता । ऐश्वर्य धन धान्य आदिक सम्पत्तियाँ वायुसे प्रेरित लहरोंके

समान चंचल है, जैसे समुद्र अथवा बडी नदियोमे लहरें उठती है बडी तेज हवासे उन लहरों का चलना होता है तो वे लहर क्षण भरमे कहीसे कही पहुचती है । अभी है और थोड़े समयमे नष्ट हो जाती हैं, ऐसे ही ऐश्वर्य धन धान्य आदिक सम्पदायें आज है कल नष्ट हो जाती हैं । यह मनुष्योका समुदाय जिसमे यह मनुष्य राजी रहता है, कुटुम्ब मानता, मित्र मानता कि यह समुदाय भोगने वाला है, ये, तो किसी स्वार्थके कारण ही निकट है और स्वार्थके ही कारण सेवा करते हैं और उनका स्वार्थ जब सध जाता है तब वे दूर चले जाते है, फिर इनकी अपेक्षा नही करता । यह सकल्पविकल्प विचारकी परम्परा मदमत्त स्त्रीके नेत्रके समान चचल क्षणिक विनाशीक है । विचारसे निरखिये अपने आपमे कभी किसी बातका चिन्तन चल रहा है, थोडी देरमे ही अन्य बातका चिन्तन चलने लगता है । तो इस जगतमे जितना सारा समागम है वह अनित्य है । नित्य तो अथवा निश्चित तो केवल एक मृत्यु ही है, अतएव जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे कभी नष्ट भ्रष्ट न होने वाले सच्चे धर्ममे, आत्मस्वभावमे प्रीति करते हैं और उसी स्वभावमे संलग्न रहा करते हैं । इस छन्दमे बताया गया है कि यह मनुष्य स्वयं क्षण स्थायी है । इसका जीवन सदा टिकने वाला नहीं है और इसको जो भी समागम मिला है वह भी क्षण स्थायी है । सदा रहने वाला नही है, क्योकि सारा समागम कर्माधीन है, पुण्यपापके योगसे प्राप्त होता है । ऐसा सदा कहाँ रह सकता ? योग अनुसार थोडे समयको निकट होता है, अन्तमे वियोग हो ही जाता है । तो यह पर्याय विनाशीक है, जो समागम मिला वह विनाशीक है तो ये विनाशीक मनुष्य यदि अपने को समझें कि मैं सदा रहूगा और इन विनाशीक परिग्रहोको समझें कि ये मेरे साथ सदा रहेगे तो यह उनकी कितनी मूढता है । जो लोग अपने आपके विश्रामको तजकर, आत्मीय आनन्दरूपी आरामको तजकर बाह्य पदार्थोंमे अपने उपयोगको फसाते हैं वे महामूढ है ।

श्रीर्विद्युच्चपला वपुर्विधुनित नानाविधव्याधिभि.
सौख्य दु.खकराक्षितं तनुमतां सत्सगतिर्दुर्लभा ।
मृत्युध्यासि तमायुरत्र बहुभिः किं भाषितेस्तत्त्वतः
ससारोऽस्ति न किंचिदगिसुखकृत्तस्माज्जना जाग्रत ॥३२०॥

(२) सकल समागमोकी असुखकारिता—इस ससारमे चेतन अचेतन, दासी दास धन धान्य आदिक स्वरूप वाली लक्ष्मी विद्युतकी तरह चचल है याने मुख दिखाकर क्षण भर मे नष्ट हो जाने वाली है । जिस सम्पत्तिको निरखकर, मोहित होकर अपने स्वरूपको भूले हैं वह सब सम्पत्ति चचल है । उसके लगावमे आत्माको लाभ नही है और जो शरीर है, जो चलता फिरता दिखाई दे रहा है वह अनेक प्रकार व्याधियोसे असमर्थ हुआ सामर्थ्यहीन हो

जाने वाला है। अर्थात् शरीरमे क्षण भरमे कोई न कोई रोग आकर इसे घेर लेता है। शरीर तो व्याधियोका मदिर है। इस शरीरमे जितने रोम है उससे भी अधिक इसमें रोग लगे हुए हैं। तो इस शरीरका भी क्या व्यामोह करना ? पौद्गलिक है यह शरीर अपने स्वरूपसे प्रत्यन्त भिन्न है और फिर जितने भी कष्ट है वे इस शरीरके सम्पर्कके कारण हो तो है। यदि यह आत्मा जैसा ज्ञानस्वरूप है अकेला ही रहे, इसके साथ परद्रव्यका सम्बन्ध न रहे तो इसको कोई कष्ट नही। तो यह शरीर है वह भी इसको दुःखका घर है। तीसरी बात इन्द्रियजन्य जो सुख हे वह दुःखसे मिला हुआ है। ऐसा ससारमे कौनसा सुख है जिसमें दुःख न मिला हो। जैसे घर गृहस्थीमे लोग लडका आदिकको देखकर सुख मानते हैं और साथ कितने दु.ख और लगे हुए है। कोई भी इन्द्रियजन्य सुख हो उसके साथ दु ख जरूर लगे हुए है और नही तो इतना तो है ही कि इन्द्रियजन्य सुख थोड़े समयका सुख है, अन्तमे विरस हो जाता है सो वह ही दु.खके बराबर हो जाता है। तो जो कुछ साधन मिले है, लक्ष्मी है, देह है, इन्द्रियजन्य सुख है ये सब दुःखके घर है। हाँ सज्जनोकी सगति मिलना बहुत मुश्किल है, वह बड़े भाग्यसे ही किसी-किसीको मिलती हे क्योकि जो संसार देह, भोगो से विरक्त पुरुष है, सज्जन है, उनकी सगतिसे, उनके सद्वचनसे सन्मार्गकी प्राप्ति होती है और सन्मार्गमे फिर कोई सकट नही रहता। तो सज्जन पुरुषोकी सगति मिलना बहुत कठिन है, किसी किसीको मिलती हैं। यह जो आयु है, जिसके उदयसे जीवित चल रहे है वह आयु मृत्युसे आक्रान्त है। जब आयु है, जीवन है तो मरण निश्चित है। सो यह जीवन अधिक समय तक नही टिक पाता, इस कारण हे बुद्धिमान मनुष्य इस ससारमे निरखो कोई भी पदार्थ ऐसा नही है जो सदा चिरस्थायी हो और जीवको सुख दने वाला हो। अतः समझिये चित्तमे विवेक लाइये, उठाइये और अपने कर्तव्यको सम्हालिये। अपना कर्तव्य है अपने आत्माके सहज स्वरूपका श्रद्धान् ज्ञान. और आचरण। इनमे उपयोग रमेगा तो इस जीवका कल्याण है।

यद्येता· स्थिरयौवना शशिमुखीः पीनस्तनीर्भामिनी.
कुर्याद्यौवनकालमानमथवा धाता रतं जीवित।
चितोस्थैर्यमशौचमंतविरस सौख्य वियोग न तु
को नामेह विमुच्य चारुधिषणः कुर्यत्तपो दुश्चर ॥३२१॥

(३) **युवती जीवन इन्द्रियसुख आदिकी अनित्यता जानकर विवेकियोका तपश्चरण में प्रवर्तन**—इस मनुष्यको जो समागम मिले है वे सब अनित्य है। लोग स्त्रीजनोके प्रसगमें सुख समझते है, पर ये स्त्रीजन ये भी अनित्य है। एक तो इनका शरीर यौवन यह क्षणिक

है, इनका जीवन क्षणिक है, अपना जीवन भी क्षणिक है। इन्द्रियजन्य सुख जो इन मनुष्यों को, प्राणियोको इष्ट हो रहा है वह सब भी क्षणिक है। यदि यह दैव चन्द्र समान मुख वाली मनोहारी स्त्रियोके यौवनको स्थिर कर देता और जीवनको कभी समाप्त न करता और नाना प्रकारकी चिन्तावोकी स्थितिको दूर कर देता, इन्द्रियसुखोका कभी नाश न करता कभी भी इष्टवियोग न होने देता तो फिर ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो इन्हे छोडकर दुर्धर तपश्चरण करता ? ये सब विनाशीक है। चिन्तावोका प्रवाह इन्हीमे चलता है। इन्द्रियसुख नष्ट हो जाते है, इष्टका वियोग होता रहता है, सो इन पदार्थोंके समागममें इस जीवका कल्याण नही है। इसी कारण महापुरुष इन सर्व समागमोको त्यागकर बाह्य आभ्यतर परिग्रहका त्यागकर आत्माके सहज चैतन्य स्वरूपमें चित्तको रमाते हैं और मोक्षसुख की साधना किया करते है। यहांका समस्त समागम नियमसे जीवका अहित करने वाला है। जिन जिनको इष्ट मान रखा है वे नियमसे दु:ख देने वाले हैं और फिर अनिष्टोके समागम भी होते रहते हैं। तो एक निज अतस्तत्त्वको छोडकर बाकी कोई भी पदार्थ इस जीवके लिए ध्यानके लायक नही है। तो आत्माके लिए सभी बाह्य पदार्थ बेकार हैं। उनके लगावसे, सम्बन्धमे केवल कष्ट ही कष्ट है, इस कारण जिनको हित और अहितका विवेक नही है वे पुरुष उस मोक्षसम्बन्धी नित्य सुखकी ही अभिलाषा रखते हैं और उसीके ध्येयसे श्रेष्ठ तपश्चरण करते है और इन थोथे असार पदार्थोंके समागममे अपना उपयोग नही फसाते हैं, इस ही मे आत्माका हित है, यही सन्मार्गपर गमन है। इसके विरुद्ध तो सब कष्टोका केवल घर ही है और जन्म-मरणकी परम्पराको बढाने वाला है।

> कांताः किं न शशाककातिधवलाः सौधालयाः कस्यचि-
> त्कांचीदामविराजितोरुजघना सेव्या न किं कामिनी।
> किं वा श्रोत्ररसायनं सुखकरं श्रव्य न गीतादिक।
> विश्वं किं तु विलोक्य मारुतचल सतस्तप' कुर्वते ॥३२२॥

(४) **अवश्य छूटने वाले पदार्थोंको ज्ञानबलसे पहिले ही छोड़ देने पर नित्यसुखकी संभवता**—अच्छे-अच्छे महल ये लोगोको इष्ट है, चन्द्रमाकी कान्तिके समान सफेद वर्ण वाली हवेलियाँ किसे प्रिय नही लगती। क्या सज्जन, क्या दुर्जन सभी उन महलोमे रहना चाहते हैं। लेकिन मिल भी जायें ऐसे स्वच्छ महल तो भी ये सब अनित्य हैं, सदा इस जीवके साथ नही रहते, हम कब तक रहेगे इस महलमे ? तब ही तो इन महलोको लोग धर्मशाला कहते है। धर्मशालामे तो मत्री आदिकसे निवेदन करने पर कुछ दिन और भी ठहरनेकी इजाजत

मिल जाती हैं । पर इस महलमें आयुकर्मका क्षय होनेपर एक पल भी ठहर नही सकते । तो जो सबको प्रिय हैं ऐसे बडे-बडे महल ये सब अनित्य हैं । सुन्दर युवती समूह किसको प्रिय नही होती, सभी उनका सेवन करना चाहते है, लेकिन उनके समागम भी अनित्य हैं, वे भी नष्ट हो जाने वाले हैं । ये गीत वादित्र आदिक जो कानोको रसायनके समान मधुर लगा करते हैं ये किसको सुख नही पहुंचाते ? सभी उनके सुननेका सुख अनुभव करना चाहते हैं । जो जो प्रसग मिले है वे सब अनित्य हैं, ये कुछ काल बाद हमसे अलग हो जायेंगे । तो जब इन पदार्थोंकी अनित्यता विदित होती है, ये सर्वथा ऐसे ही न रहेगे, इस बातका भले प्रकार जिनको निर्णय है तो सज्जन लोग इन भोगोसे घबडा जाते । अर्थात् भोगना नही चाहते । इनका भोगना उन्हे बुरा लगता है और वास्तविकता यह है कि यह उपयोग आत्माके वास्त विक सहजस्वरूपमें लगे और उस स्वके आश्रयमे जो अलौकिक आनन्द मिलता है उस आनन्द का जिसने अनुभव कर लिया है उसको संसारका कोई भी समागम इष्ट नही हो सकता । सज्जन पुरुषोका यह निर्णय है कि ये ससारके सारे समागम जब एक न एक दिन हमे छोड ही देंगे तो फिर हम इनको पहलेसे ही क्यो न छोड़े ? यदि हम इन्हे नही छोडते तो भी ये छूटेंगे ? अगर इस दुदशासे ये छूटे तो कोई लाभ नही है बल्कि ससारमे अनन्त दुःख भोगने पडेंगे और यदि हम ही खुद विवेक करके हित अहितकी समझ बनाकर इस सब अहितको छोड दें और निज हित आत्मस्वरूपमे लगें तो नित्य मोक्षसुख मिलेगा, ऐसा जिसके निर्ण वह ज्ञानी पुरुष इन समस्त संग प्रसगोको छोडकर परमार्थ तपश्चरण करने लगते हैं । प मार्थ तपश्चरण है निज सहज आत्मस्वरूपमे अपने आपके आत्माका अनुभव करना कि मैं ऐ हू शाश्वत ज्ञानानन्द स्वरूप ।

> कृष्टेष्वासविमुक्तमार्गणगतिस्थैर्यं जने यौवनं
> कामान्क्रुद्धभुजंगकायकुटिलान्विद्युच्चलं जीवितं ।
> अगारानलतप्तसूतरसवद् दृष्ट्वा श्रियोऽप्यस्थिरा
> निष्क्रम्यात्र सुबुद्धयो वरतपः कर्तुं वनांतं गताः ॥३२३॥

(५) यौवन जीवनकी क्षणभंगुरताका परिचय कर निर्ग्रन्थ होकर परमार्थताकी आराधनामे ज्ञानियोकी प्रगति—ज्ञानी पुरुषने यह निर्णय किया कि आज तो हमारा यौवन काल है इस कारण मौज उड़ा रहे है परन्तु यह यौवन समय शीघ्र ही चढ़े हुए धनुषसे बाण के समान वियुक्त हो जाने वाला है । जैसे कोई पुरुष बाण चला रहा हो तो उस चढे हुए धनुषपरसे बाण शीघ्र ही निकल जाता है, अलग हो जाता है, ऐसे ही यह जवानी भी शीघ्र ही दूर हो जाती है, क्षणिक है, विनाशीक है । आज जो मनमाने भोग भोगनेमे आ रहे हैं वे

क्रुद्ध हुए भुजगके शरीरके समान टेढे हैं अर्थात् शीघ्र ही विपरीत हो जाते हैं। जो भोग भोगे जा रहे है इनका परिणाम खोटा ही निकलेगा। जो लक्ष्मी अभी दृष्टिगोचर हो रही है, जिसको हम अपनी समझते है वह अंगारेसे तपाये गये पारेकी तरह चचल है, क्षण भरमे उचटकर अलग हो जाने वाली है। यह जो हमारा जीवन है वह भी बिजलीकी चमकके समान अस्थिर है। जैसे बिजलीकी चमक होती है, थोडी देरको हुई, फिर विलीन हो जाती है ऐसे ही यह जीवन भी विलीन हो जाता है। कुछ पता नही कि कब नष्ट हो जाय। इस कारण परमार्थं तपश्चरणकी साधना करना ही श्रेष्ठ है। आत्माके लिए हितकारी है, ऐसा निर्णय करके जो उत्तम पुरुष है, विवेकी जन है वे सर्व परिग्रहोका त्यागकर केवल एक सहज आत्मस्वरूपकी आराधनामे ही लग जाते है और उस आनन्दसे भव-भवके कर्मोंका विध्वंस कर देते है।

वपुर्व्यसनमस्यति प्रसभमतको जीवित
धन नृपसुतादयस्तनुमतां जरा यौवनं।
वियोगदहनं सुख समदकामिनीसंगज
तथापि बत मोहिनो दुरितसग्रह कुर्वते ॥ ३२४ ॥

(६) क्लेशकारी पदार्थोंमें मोही जीवोंकी रति—इस ससारमे राज, यक्षमा आदिक अनेक रोग इस शरीरको नष्ट कर देने वाले हैं। एक तो शरीर स्वय ही शीर्णताकी ओर चलता है फिर इसमे बडे-बडे राज, यक्षमा आदिक रोग लग जायें तो शरीरको ये नष्ट कर ही देते है। दूसरी बात—यमराज सरीखे बलवान शत्रु प्राणोके नाश करने वाले है। जब आयुका क्षय होता है तब प्राण शरीरमे नही टिक पाते। तीसरी बात—भाई बधु पुत्र राजा आदिक हिस्सेदार या चोर डाकू आदिक लुटेरे इस धनको छीन लेने वाले है, जिस धनको ये प्राणी अपने प्राणोके समान प्रिय मानते है। यह मनुष्य, यह धन भी सदा रहनेका नही। चौथी बात—जब जीवित रह रहे है तो वृद्धावस्था तो आयगी ही। तो वृद्धावस्था इस यौवन की शत्रु है, यौवन आया है और वही बना रहे, जवानी ही बनी रहे ऐसा नही होता। जिसकी जवानी आयी है वह जीवित रहेगा थोडा तो वृद्धावस्था ही तो आयगी। और अतिम बात—युवतियोके सगसे उत्पन्न होने वाला सुख वियोगरूपी अग्निसे भस्म हो जाने वाला है ऐसा तो यह सारा समागम है, परन्तु यह प्राणी इन समागमोमे ऐसा मूढ बन रहा है, मोह के नशेमे ऐसा चूर हो रहा है कि जो घटनाये बीत रही है इस क्षणविध्वसताका कुछ ध्यान नही देता और पापका बोझ ही अपने सिरपर लादे रहा करता है। सब कुछ अनित्य है, सब कुछ धोखा देने वाला है, किन्तु यह भोगोसे विरक्त नही होता और उन विषयोमे ही आसक्त रहकर कर्मोंका बोझ लादे रहता है। भविष्यमे भी जन्ममरणके दुःखोकी परम्परा यह प्राप्त

करता रहेगा ।

अपायकलिता तनुर्जगति सापद सपदो
विनश्वरमिदं सुख विषयजं श्रियश्चचलाः ।
भवति जरसाऽरसास्तरललोचना
योषितस्तदप्ययमहो जनस्तपसि नो परे रज्यति ॥३२५॥

(७) **अन्तस्तत्त्वकी सुधसे शून्य मोही जीवोंकी सापद संपत्तिमे विनश्वर लोकसुखमें चचल लक्ष्मी आदिमे व्यामोह**—यह शरीर नाना अपायोसे सहित है, इसमे अनेक विघ्न पडे हुए है और अचानक ही यह कभी भी नष्ट हो सकता है । यह समुदाय जो पौद्गलिक है, भिन्न है, फिर भी यह नेत्रोको सुन्दर लगता है, मनको तृप्तिकारी जचता है । ये सारी सम्पत्तियाँ आपत्तियोसे वेष्ठित है । कैसा इन प्राणियोको मोह लगा हुआ है कि आपत्तियाँ झेलते जाते है और सम्पत्तिकी तृष्णा करते जाते है । इस सम्पत्तिकी तृष्णासे, इसके सम्पर्कसे नाना आपत्तियाँ आती है, पर उन आपत्तियो को यह देखता ही नही है और इन सम्पत्तियो के सग्रह करनेमे लगा हुआ है । ये समस्त सम्पत्तियाँ आपत्तियो से भरी हुई है । ये विषयजन्य सुख ५ इन्द्रियमे अथवा मनके विषयो मे जो भी सुख मालूम किए जाते है वे समस्त सुख विनाशीक है । अपनेसे अदाज कर सकते है कि इस जीवनमे अब तक कैसे कैसे विषयसुखो को भोगा मगर वह सुख, वह आनन्द आज भी है क्या ? वह सब सब विनश्वर है, यह लक्ष्मी विभूति सब चचल है, सदा नही टिकती । ये यौवनके मदसे मस्त हुई स्त्रियाँ बुढापेसे ग्रस्त हो जाती है । आखिर वृद्धावस्था उन स्त्री जनोको भी आती है और उस बुढापेमे विरस हो जाती है, सुन्दरता सब खतम हो जाती है, बल्कि और भयानकरूप बन जाता है, सो ऐसा तो इस ससारका यह कार्य है लेकिन यह प्राणी इन्ही पदार्थोमे अनुराग बनाये रहता है, आत्माका जो श्रेष्ठ कार्य है परमार्थ तपश्चरण, अपने आपमे अपने सहज स्वरूपको निरखना और यह मैं हू, ऐसा अपने आपको अनुभवना, इसमे जो आनन्द प्रकट होता है उसमे ऐसा सामर्थ्य है कि भव-भवके बाँधे हुए कर्म इसके खिर जाते है । सो जो अपना वास्तविक कार्य है, अपने लिए हितकारी है, सुगम है, स्वाधीन है, जिसमे कष्टका नाम नही है, बल्कि अलौकिक आनन्द जगता है ऐसे अपने कार्यकी ओर, इस परमार्थ तपश्चरणकी ओर तो ध्यान नही देता और इन विनश्वर चीजोमे ही अनुराग बना रहता है । कोई पुरुष किसीसे एक बार धोखा खाये तो वह उसका दुबारा नाम नही लेता, पर इन सामग्रियोसे हम निरन्तर धोखा खाते रहते है, दुःख पाते रहते है फिर भी इन सुख सामग्रियो मे ही व्यामोह बनाये रहते हैं, यह इस आत्मापर बडा भारी सकट है । अज्ञानके समान सकट और कुछ नही है । अज्ञान,

मोह, मिथ्यात्व ये सभी एकार्थवाचक हैं। जहाँ वस्तुवोंके स्वतंत्र सत्वका निर्णय नही है, एकका दूसरेपर अधिकार जान रहे हैं वहाँ नाना विकल्प उठेंगे ही और जहाँ ऐसे विकल्प जगते हैं वहाँ इसको कष्ट होगा ही। तो जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे समग्र पदार्थोंको छोड़कर शाश्वत सहज निज चैतन्यस्वरूपमे उपयोग रमाकर आनन्द पाते रहते हैं।

भवे विहरतोऽभवन् भवभृतो न के बान्धवाः
स्वकर्मवशतो न केऽत्र शत्रवो भविष्यंति वा।
जनः किमिति मोहितो नवकुटुंबकस्यापदि
विमुक्तजिनशासनः स्वहिततः सदा भ्रश्यते ॥ ३२६ ॥

(८) खुदगर्ज लोकमें भ्रान्त प्राणीका व्यामोह दूर कर परिभ्रमण—इस संसारमे अनादिकालसे परिभ्रमण करते हुए इस जीवके कितने कौन-कौन बांधव नही हुए और स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए कौन-कौन मित्र नही हुए और स्वार्थ न सधनेके कारण कौन-कौन शत्रु नही हुए ? इस लोकमे यह जीव अनादिसे ही परिभ्रमण करता चला आया है। न तो जीव की आदि है न कर्मसम्बंधी आदि है, न समयकी आदि है, अनन्तकाल व्यतीत हो गया। तब से कितने ही भव धारण किये। उन अनन्त भवोमे कभी किसी जीवके साथ, कभी किसी जीव के साथ अनेक रूपोमे सयोग हुआ। सो कितने बंधु हुए होगे और कितने ही लोग स्वार्थ सिद्ध करने वाले हुए होंगे, मित्र हुए होंगे, और स्वार्थसिद्धिमे बाधा आयी हो तो शत्रु भी बन गए। शत्रु और मित्र वस्तुतः कोई मोही मोहीका नही बनता। जहाँ स्वार्थसिद्ध हुआ वहाँ तो वह मित्र हो जाता है, जहाँ स्वार्थसिद्धिमे बाधा आयी वहाँ वह शत्रु हो जाता है। तो यह प्राणी इस तरह मोहके फदेमे फंसकर अब भी नवीन नवीन कुटुम्बकी वृद्धि करता चला जाता है। जब अनन्त प्राणी इसके बंधु हो गए तो ये ही जीव तो प्राय. अनेक बार संगमे आते रहते है। इतने कुटुम्ब पाये फिर भी नवीन-नवीन कुटुम्बकी यह वृद्धि करता चला जाता है। हर भवमे यह संतानको, पुत्रादिकको तरसता है, हुए कितने ही, कितनोंका ही वियोग हुआ, सारी आफतें सही, फिर भी इसकी अभिलाषा शान्त नही होती और उस कुटुम्ब वृद्धिके सम्बंधसे आयी हुई विपत्तियोंको अपने सिरपर लादता रहता है, ऐसी उस घटना परिस्थितिमे विह्वल होता रहता है, यही कारण है कि वास्तविक हितकारी जो जैन-शासन है जहाँ पर वस्तुका सही-सही स्वरूप दिखाया गया, जिसके अध्ययनसे, मननसे इस जीवका मोह सकट, समस्त संकट नष्ट हो जाते है। उस शासनको भूलकर यह जीव इधर-उधर भटकता है और सतत कष्ट भोगता रहता है। यह मोह ऐसा कठिन दुःखदायी है।

दृढोन्नतकुचाश्च या चपललोचना कामिनी
शशांकवदनांबुजा मदनपीडिता यौवने ।
मनो हरति रूपतः सकलकामिनां वेगते
न सैव जरसाजिता भवति वल्लभा कस्यचित् ।।३२७।।

(९) प्रेमपात्र युवती जनोंकी वृद्धावस्थामें विरूपता—लोगो को इन्द्रियसुखो मे सबसे अधिक प्रिय लगता है स्पर्शन इन्द्रिय सुख । सो स्त्रियों की संगतिको यह मोही बहुत पसन्द करता है । सो वे स्त्रियाँ युवावस्थामे बड़े दृढ़ सौन्दर्य वाली थी, जिनका शरीर भोग काम चाहने वाले पुरुषों को पीडा देने वाला है । दृढ उन्मत्त स्तन वाले कामकी बाधासे जिनके नेत्र सदैव चंचल रहते हैं वे ही स्त्रियाँ जब वृद्धावस्थामे आती है तो भयंकर दिखने लगती है । बताते हैं अथवा निरखते है कि स्त्रियो के नेत्र चचल होत है, उस चंचलताका कारण उनको बाधा है । और विशेषकर कामकी बाधा है, और ऐसे ही उनके गुप्त अग है कि जिनमें ऐसी पीडा रहती है जिसके कारण उनके नेत्र चचल रहा करते है । तो जिसे कामी जन सुन्दरता समझते है वह तो उन स्त्रियो के लिए पीडा और विडम्बना बनी हुई है फिर भी ये मोही जन उनमे आसक्त होते है । तो ये युवती जन जिनकी जवानीमे मुखकी सुन्दरतासे चन्द्रमाके बिम्बको भी लज्जित कराया जाता है, जो अपने सुन्दर सुघड शरीरके संगठनको देखते ही कामी पुरुषो के मनका हरण कर लेती है । ये स्त्री जन जब वृद्ध हो जाती है उस समय किसीके भी मनका हरण नही कर सकती । मन हरण करनेकी तो बात दूर रही फिर उनकी तरफ कोई ताककर भी नही देखता । स्त्रीजनोका शरीर पुरुष शरीरसे अधिक सुगम और सुन्दर नही हुआ करता, किन्तु कामवासनासे पीडित पुरुष ऐसा निरखते है । करीब-करीब सभी जातिमे पशु हो, पक्षी हो, मनुष्य हो, ऐसा देखा जाता है कि पुरुष जातिका शरीर दृढ और सुन्दर होता है । स्त्री जातिका शरीर किसी भी भवमे पुरुष शरीरकी अपेक्षा सुन्दर नही है लेकिन कामासक्त पुरुषोके द्वारा वह स्त्रीशरीर सुन्दर होता जाता है, सो जब वह स्त्रीशरीर वृद्धा हो जाता है तो कामी पुरुषोके लक्ष्यकी चीज तो रही नही । तब वह शरीर एक तो प्रकृत्या ही बेडौल था, अब वृद्धावस्थाके आनेसे वह अधिक बेडौल हो गया । अब इस शरीरकी ओर कोई पुरुष ताककर भी नही निरखता । तात्पर्य यह है कि जिस सग को पुरुष तरसते हैं वे युवती भी विनाशीक है, उनका रूप विनाशीक है, उनके प्रति मुग्ध होना यह अज्ञानियोका व्यापार है । विवेकी पुरुष तो उनसे उपयोग हटाकर सहज सुन्दर निज सहज परमात्मतत्त्वकी धुनमे लगा करते है और वही बसकर सहज आनन्दका अनुभव किया करते हैं ।

इमा यदि भवंति तो गलितयौवना नीरुचस्तदा
कमललोचनास्तरुणकामिनी:　　कोऽमुचत् ।
विलासमदविभ्रमान भ्रमति लुंटयित्री जरा
यतो भुवि बुधस्ततो भवति निस्पृहस्तत्सुखे ॥३२८॥

(१०) **वस्तुत बाह्यार्थोंसे रंच हेलमेल न होनेपर भी मोहीका अज्ञानवश उनमें व्यामोह**—कामी पुरुषोके द्वारा चाहा गया युवती शरीर यौवन स्थितिसे जीर्ण शीर्ण कान्तिरहित हो जाता है । यदि इस ससारमे स्त्रियाँ यौवन अवस्थासे कभी न गिरती अर्थात् सदा युवती बनी रहती, कान्तिरहित न होती तो इन्हे फिर कोई पुरुष न छोड़ता, परन्तु ऐसा है ही नही । जब वृद्धावस्था आती है तब उन युवतियोके समूहका विलास यह वृद्धावस्था लूट लेती है । अब वहाँ विलास शृङ्गार उनकी मदमस्तीका विभ्रम अगोका उस प्रकार हिलना डुलना, चचलता ये सब नष्ट हो जाते है । सो यह वृद्धावस्था नियमसे आती ही है और समयपर वह अवश्य ही युवतियोको विलास, मद आदिकसे रहित कर देती है । इसी कारण विद्वान लोग जिनको विवेक है और वस्तुस्वरूपका बोध है वे युवतियोके सुखसे सदा विमुख ही रहते है । काल्पनिक पराधीन विडंबनामय सुखकी आकाक्षा उन्हे नही रहती, और जब काल्पनिक सुखकी आशा छोड दी है तो वे विवेकी पुरुष कभी भी स्त्रियोसे अपना हेलमेल नही बढाते । उनमे स्पृहा नही रहती । कहाँ तो यह भगवान आत्मा सहज ज्ञानानन्दका निधान और कहाँ अपने स्वरूपको भूलकर खोटे वीभत्स अपवित्र गदे स्त्रीशरीरमे ये अज्ञानी जन प्रीति करते है । यह पवित्र और अपवित्र आत्माका बहुत बडा अन्तर है । विवेकी जन अपवित्र कार्योंसे मुख मोडते है और आत्माके सहज पवित्र चैतन्यस्वरूपके अनुभवकी ओर ही अपने उपयोगको बढाते है और ससारके सकटोसे सदाके लिए छूटनेमे सफल हो जाते है ।

इमा रूपस्थानस्वजन तनयद्रव्य वनितासुता-
लक्ष्मीकीर्तिद्युतिरतिमति प्रीति धृतय ।
मदाधस्त्रीनेत्रप्रकृतिचपला. सर्वमविनामहो
कष्ट मर्त्यस्तदपि विषयान् सेवितुमना ॥ ३२९ ॥

(११) **अनित्य भिन्न अशुचि शरीरमे प्राणीका व्यर्थ व्यामोह**—ससारमे जितने भी पदार्थ है, जिनको यह जीव विषय बना बनाकर भोग रहा है ये सभी पदार्थ विनाशीक है । मोही जीवोको इन विषयोमे प्रीति है, उनके विषयमे सही ज्ञान नही है । यह पर्याय भी नष्ट होगी । यहाँ जो कुछ समागम मिला है यह भी नष्ट होगा, यह बुद्धि उनकी नही बनी है । उनकी दृष्टिमे यह श्रद्धा है कि ये सदा रहेगे । जो कुछ मिला है यह मेरेको छोड

कर कहां जायगा, यह सदैव रहेगा ऐसी उनकी श्रद्धा है, किन्तु निष्पक्ष दृष्टिसे देखें तो जो कुछ भी मिला है, प्रथम तो अपने शरीरकी ही बात लो, शरीर मिला है, जवान हुए, सुन्दरता है, कान्ति बिखर रही है, इस शरीरकी क्या हालत हो जायगी ? थोडे ही दिनोमे यह शरीर कान्तिहीन हो जायगा वृद्ध हो जायगा और की तो बात क्या यह कभी भी नष्ट हो सकता है । फिर इस शरीरसे प्रीति क्यो ? अब भले ही शरीर स्वस्थ हुए बिना धर्मसाधना न हो सके, मन न लग सके, लेकिन इस शरीरको एक सेवककी तरह जानकर इसका पालन हो वह तो कर्तव्यमे आ जायगा, मगर यही मै हू, उसे ही देखकर अहकार जगना, उस हीमें अपना मन रमाना, यह तो ससारमे जन्ममरण करते रहनेका उपाय है सही श्रद्धामे आना चाहिये कि मैं क्या हू ? उसका सही बोध हुए बिना बाह्यपदार्थोंका सही निर्णय नही बना सकते । मैं एक अमूर्त चैतन्यस्वरूप पदार्थ हू । सबसे निराला हूं । देखते ही है कि शरीरको छोडकर चला जाता है यह जीव । कोई निकल गया शरीरसे, इसी अपने शरीरको छूकर भी आप बात कर सकते है । यही शरीर किसी दिन पडोसियो द्वारा, बधुवो द्वारा श्मशानमे इस तरह जला दिया जायगा जैसे कि हम आपने दूसरोके शरीरोको जलाया है । सो इस शरीरमे क्या आसक्ति रखना ? उसे यह मै हू, ऐसा मानना एक तीव्र व्यामोह है ।

(१२) शरीर कुटुम्ब आदिके प्रति निर्मोह हुए बिना धर्मपालनका अभाव—धर्मपालन तब तक प्रारम्भ न होगा जब तक निर्मोह स्थिति श्रद्धामे न आयगी । शरीरको माना कि यह मैं हू, कुटुम्बको माना कि ये मेरे ही है । ये ही मेरे सर्वस्व है, ऐसी तो भीतर श्रद्धा बनी रहे और मदिर आयें, पूजा पढें और मान लिया कि मैंने धर्म कर लिया, तो यह कोई संतोष माननेकी बात नहीं है । हां थोडा एक अच्छे काममे लगे है तो आगे उम्मीदवार तो अच्छा है, कोई समय ऐसा आ सकता है कि सही ज्ञान जग जाय, पर वर्तमान हालत तो ठीक नही है । मोही जीव शरीरको देखकर मानता कि यह मैं हू, कुटुम्बको समझ रखा कि ये ही मेरे सर्वस्व है, धन वैभवके सयोगमे उसे मान लिया कि यह ही मेरा ऐश्वर्य है, ऐसी श्रद्धा वालोको धर्मपालन हो ही नही सकता, क्योंकि धर्म नाम है आत्माके यथार्थस्वरूपका । जब उसकी दृष्टि हो नही है, समझमे ही नही है तो कैसे वह यह भाव बना सकता है कि हमे तो शरीररहित बनना है । जब तक यह शरीर जीवके साथ लगा है तब तक सकट ही सकट है । खूब निरख लीजिए, अगर कही अपमानका सकट समझते है तो जब शरीरको मान रखा कि यह मै हू और मुझको इसने ऐसा अपमान किया है, ऐसा कष्ट दिया है, ऐसे वचन बोला है, अपमानका संकट मिला तो इस शरीरके सम्बधके कारण । भूख प्यासका सकट रहता है तो इस शरीरके कारण । रोगका सकट है शरीरके कारण, इष्टवियोगका संकट

है तो शरीरके कारण। अमूर्त आत्मासे किसका संयोग, किसका वियोग ? जब शरीरको मान रखा कि मैं यह हू तो दूसरेके शरीरको मान रखा कि ये मेरे बधु है, ये मेरे मित्र है, कभी वियोग अवश्य होगा। ऐसा कोई नही है सयोग जिसका वियोग न होता हो। वियोग होनेपर दुःख मानता है। तो वियोगजन्य दु.खका कारण है यह शरीरका सम्बंध। अनिष्ट सयोगमे जो दुःख माना जाता है उसका भी कारण शरीरका सम्बन्ध है, जितने कष्ट हैं वे इस शरीरके सम्बंधके कारण है, पर यह मोही जीव इस शरीरको ही मानता है कि यही मेरा सर्वस्व है, दुःखदायी है। इस शरीरको इस जीवने अपनाया है। यह सुन्दरता, यह शरीर, ये सब नष्ट हो जाने वाले हैं।

(१३) स्थान स्वजन परिजनका व्यर्थ व्यामोह—यह स्थान जो आज मोहियोके प्रबधमें राज्यमे रजिस्टर्ड हुआ है, यह मकान मेरा ही है, यह मकान इसका ही है, यह सब मायारूप है। स्वप्नमे देखे हुए की तरह है। यदि यह स्थान मकान भगवानके ज्ञानमे रजिस्टर्ड होता, उनके ज्ञानमे झलका होता कि यह इसका मकान है तब तो वह पक्की बात थी। यहां तो मोही मोहियोका प्रबध है जो अपने ढगके कानून बनाया है। उसमे व्यवस्था बन गई कि यह इसका है, यह इसका नही है, पर वह स्थान, यह सब ठाट-बाट वैभव यह भी भिन्न है, विनाशीक है, जिसमे व्यर्थ ही लोग प्रीति करके वही एक सकुचित बन जाते हैं। अपने आत्मतत्त्वकी ओर नही निहार पाते। ये कुटुम्बी जन जिसको अपना बडा प्रिय समझते हैं, बाहरी दृष्टिसे विचार करें तो जब तक सम्बध है तब तक आत्महित कहां हो रहा आत्माका ? राग मोहके स्थान बनकर यह इसको सकट ही तो उत्पन्न करता है। इस कुटुम्बके कारण ही तो इतनी चिन्ता, इतना भार, इतना पाप, ऐसी कल्पनाये उठायी तो उससे मिला क्या ? तिसपर भी वह अनित्य है, विनश्वर है, वियोग नियमसे होगा। जितने पुत्र पुत्री आदिक माने गए जीव है वे इस आत्माका क्या हित कर देते है ? उनके ममत्वके कारण इस जीवका अनिष्ट ही हो रहा है, तिसपर भी यह जीव उनको सही नही समझ पाता। अनित्य है, भिन्न है, मेरे जीवसे इनका कोई सम्बध नही है, ये स्वतन्त्र सत्ता वाले है, इनका परिणमन इनके आधीन है, इनमें मेरा रच लगाव (सम्बंध) नही है, ऐसा नही मान पाता यह जीव और इस मायामे रच-पचकर यह अपने जीवनके दुर्लभ क्षणोको बेकार कर देता है। स्त्री, शोभा, कान्ति, कीर्ति, ये सब काल्पनिक है, विनश्वर है।

(१४) किसकी कीर्ति—कीर्ति किसका नाम है ? क्या कही आत्माकी कीर्ति गायी जा रही है ? आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र है, उसे दृष्टिमे लेकर कोई कीर्ति गा रहा है क्या ? कीर्तिका आधार बना है यह शरीर। जैसे स्टेचू बनाना, फोटो बनाना, नाम लिखाना आदिक

जो कुछ भी बने, कीर्तिके प्रसारमें जो कुछ भी किया जाता है वह सब इस शरीरके कारण ही तो किया जा रहा है। यह शरीर मायारूप है, माया कहते है उसे जो अनेक द्रव्योसे मिलकर बने। यह अनन्त परमाणुवोका मिलकर एक पुञ्ज बन गया है। यह माया है, बिखरेगा। इसमे परमार्थ तो केवल एक परमाणु है। वह परमाणु नष्ट नही होता, पर जो एक माया (सकल) बन गई है वह नष्ट हो जाती है। किसकी कीर्ति, कहाँ कीर्ति, कितने समयको कीर्ति, किनमे कीर्ति ? इन सभी प्रश्नोका उत्तर लीजिए तो सही। कीर्ति लोग पैदा करना चाहते है इस विनश्वर पर्यायका। इस सहज ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वकी कीर्ति क्या कही बाहर की जाती है ? उसकी कीर्ति तो अपने आपके आत्माके अन्दर ही होती है और वह सहज आनन्द को उत्पन्न करती हुई होती है। उसका परिचय केवल एक इस स्वानुभव करने वाले को ही रहता है। दूसरेको तो पता ही नही है। जिसको संसारकी कीर्ति कह रखी है वह सब माया है। इस विनश्वर पर्यायके सम्बन्धकी चीज है। सो यह कीर्ति असार है।

(१५) **किनमें कहां कब तक कीर्ति**—लोग किसमे कीर्ति चाहते है ? लोगोमे, इन मायामयी पर्यायोमे जो स्वयं विनाशीक है, कर्मोंके प्रेरे है, दुःखसे भरे है, मोह अंधकारमे यत्र तत्र भटक रहे हैं, उनमे कीर्ति चाहते है। इसमे कुछ लाभ है क्या आत्माको ? किसकी कीर्ति चाहना इस दुनियामे ? कितनी बडी है दुनिया ? ३४३ घनराजू कहा जाता, इतना बडा विशाल विस्तार है। जैसे समग्र दुनियाके आगे आज हम आपकी परिचित दुनिया विशाल समुद्रके आगे एक बूद बराबर है। इस बिन्दु बराबर जगहमे यह मनुष्य कीर्ति विस्तारना चाहता है और इसीके चक्करमे यह ऐसा कर्मबन्ध करता है कि जन्ममरणकी परम्परा ही इसे भोगनी पडती है। कहाँ कीर्ति चाहते ? कितने समयकी कीर्ति चाहते ? किसीसे कहा जाय कि तुम्हारा नाम २० वर्ष तक रहेगा। बादमें मिटा दिया जायगा, तो उसको पसद नहीं आती यह बात। जैसे किसीने पहले फर्श लगा रखी हो किसी मंदिर आदि मे अपने नामसे, अब पुरानी हो जाने से उसे कोई उखाड़ कर दूसरी फर्श लगवाना चाहे तो उस फर्शको उखडवाने मे उस लगवाने वाले के कुटुम्बी लोग इन्कार करते है, कह देते है कि इस नामको इस जगहसे क्यो मिटाया जा रहा है ? यह तो हमारे पुरुषोका नाम है। तो इस जीवके चित्तमे यह है कि सदा मेरी कीर्ति रहे, पर सदाका ख्याल है। अनन्त काल कितना कहलाता है, उस अनन्त कालके आगे यह १००-५० वर्षका समय क्या कीमत रखता ? यह समय तो एक विशाल समुद्रके आगे बिन्दु बराबर भी स्थान नही पाता। यह परिचित क्षेत्र तो चाहे बिन्दु बराबर गिनतीमे आ सके क्योंकि परिमित क्षेत्र है पर काल तो

अनादि अनन्त है। उस अनन्त कालके सामने यह १००–५० वर्षका समय तो एक बिन्दु बराबर भी तुलनामे नही आ पाता। तो कितने कालके लिए कीर्ति ? कीर्तिका चक्कर इस जीवके लिए कल्याण होनेका बाधक है।

(१६) **अहङ्कारमर्दक विवेकी जनोके उद्धारकी संभवता**—यशचाहका रोग इस मनुष्य को विकट लगा है जिसके कारण उत्तम साधन समागम, उत्तम जिनशासन पाकर भी यह अपना कल्याण नही कर पाता। इस मनुष्यपर्यायमे मान कषायकी मुख्यता है। लोग तो कहते है कि लोभकी मुख्यता है, लोगोमे लोभकी भावना अधिक दिखाई दे रही है ऐसा बोलते है लोग, पर लोभकी मुख्यता नही है। लोभ भी जो मनुष्य कर रहा है वह अपने मानकी पुष्टिके लिए कर रहा है। मूलमे कषाय देखिये मनुष्यने किया है मान कषाय। मान के वश होकर यह जीव अपनी हत्या तक कर डालता है। मेरा मान रहे, मेरी कीर्ति रहे, लोगोमे मेरा नाम रहे, इसके लिए जो चाहे अनर्थ कार्य तक करनेको तैयार रहता है। मान कषायका जिन्होने मर्दन किया वे ही अपने अंन.प्रकाशमान सहज स्वरूपको निरख सकेंगे। नही तो इस मानका ऐसा विसम विष है, ऐसा आवरण है कि इसको फिर आत्मस्वरूपका दर्शन ही नही हो सकता। तो यह कीर्ति, जिस कीर्तिके लिए यह मनुष्य अपना सब कुछ नष्ट कर रहा है अनित्य है, बेकार है, अनित्य है, ससारमे रुलनेका साधन है। एक बार भी यदि यह मनुष्य सोच ले कि मै आज मनुष्यभवमे आया तो हू पर न भी आता, जैसे अन्य अन्य भव है उन भवोमे होता, कीडा मकोडा आदिक कुछ भी होता तो मेरे लिए फिर ये समागम कुछ भी तो न थे। जिन्हे देखकर मान जगता है, जिनको देखकर मनुष्यके योग्य कार्य करनेके भाव हुआ करते है, फिर तो ये कुछ न थे। थोडा यो ही मान लो कि मैं इस मनुष्यभवमे न होता, किसी अन्य भवमे होता और मनुष्यभवके जो योग्य कार्य करनेके है वे जागृत रखे।

(१७) **बुद्धि धैर्य आदिके बिगाड़मे जीवकी प्रकट असहायता**—भैया, अपनेको मान लें कि मैं दुनियाके लिए कुछ नही हूँ, क्यो होऊँ कुछ दुनियाके लिए ? दुनियाके लोग मेरा क्या हित कर देंगे ? जब मेरा भाग्य बिगडेगा, मै दु'खी होऊँगा तो उस दुःखमे कोई मदद-गार न होगा। आज बुद्धि ठीक है। धन कमाते है, आपसे लोगोका स्वार्थ सधता है, लोग पूछने वाले हैं। कदाचित् किसी वक्त दिमाग खराब हो जाय तो कुटुम्बके लोग जानेंगे कि अब तो यह बेकार है मेरे लिए, यह तो पागल हो गया, तो उसके प्रति किसीकी प्रीति नही रहती। कैसा ही कुछ उसपर बीते, पर किसीको उसको कुछ परवाह नही रहती। तो यह सारा स्वार्थमयी ससार है। विवेक इसमे है कि हम अपने सच्चे स्वार्थका काम निकाल.ले।

हमारा सच्चा स्वार्थ है आत्माके निज सहज स्वरूपको समझ लेना और उसकी धुन बनाकर, उस सहज ज्ञानमय स्वरूपको ज्ञानमे लेकर ज्ञानका अनुभव कर लेना जिससे कि अलौकिक आनन्द प्रकट होता है, यह काम यदि जीवनमे किया जा सके तब तो यह जीवन सफल है अन्यथा अनन्त जीवन पाये, उन्हीकी तरह यह भी जीवन समझो। ससारमे जो कुछ भी नजर आता है बुद्धि, कीर्ति, धैर्य, वैभव ये सभीके सभी अनित्य है। तो विवेकी जनोका कर्त्तव्य है कि वे उनके सेवनेकी इच्छा न करे और अपने शाश्वत सहज परमात्मतत्त्वकी दृष्टि करके अपने आपमे ही मग्न होकर अलौकिक आनन्दका लाभ लें। खास इसीलिए ही जीवन समझें, यह जीवन विषय भोगनेके लिए नही है, क्योकि उनमे सर्वत्र आकुलता है। ये सब तो ससारमे रुलनेके साधन है। उनका विकल्प छोडकर आत्मा और परमात्माके स्वरूपका ध्यान करें इनके स्वरूपदर्शनमे ही अपने ज्ञानको बसायें, बस यही एक अलौकिक आनन्द पानेका सच्चा उपाय है।

सहात्र स्त्री किंचित्सुतपरिजनैः प्रेम कुरुते
वश प्राप्तो भोगो भवति रतये किंचिदनया।
श्रियः किंचित्तुष्टि विदधाति परा सौख्यजनिका
न किंचित्पुसा हि कतिपयदिनैरेनदखिल ॥३३०॥

(१८) **समागत इष्ट अर्थोके शीघ्र वियोगकी अवश्यंभाविता**—इस लोकमे स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब जो कुछ भी प्रेम करते है वह सब थोडे दिनोकी ही बात है। कुछ दिनके बाद वह अवश्य ही नष्ट हो जायगा। वर्तमानमे जिन्हे स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब मान रखा है वे जगतके अनन्त प्राणियोकी तरह एक भिन्न प्राणी है, उनके कर्म, उनका सत्त्व, उनका कार्य, उनका भाव सब उन ही मे है। उससे इस मनुष्यका कोई सम्बंध नही। तब जो कुछ भी प्रेम करता है वह क्या किसीके लिए प्रेम करता है? वह स्वय अपने सुखके लिए चेष्टा करता है। उन्हें जब यह दिखता है कि आज्ञा माननेमे मेरेको सांसारिक सुखका लाभ है तो वे आज्ञा मानते है, प्रीति दिखाते है, सो ससारमे स्त्री पुत्रादिक जो कुछ भी प्रेम करते है वह सब थोड़े दिनोकी बात है। कुछ दिन बाद ये न रहेंगे। दूसरी बात—अपने आधीन हुए इन्द्रियभोग जो भी अनुराग पैदा करते हे वे सब भी थोडे दिनोके ही है। कुछ दिनोके बाद वे सब भी नष्ट हो जायेंगे। घरमे रहते हे, इन्द्रिय भोगके अनेक साधन जुटे है, जब चाहे जिस इन्द्रियका सुख भोगते है। घरके कमरेसे ही सिनेमा जैसे टेलीविजन लगे है, घर घर गान-तान सुननेके लिए रेडियो है। देखनेके सब सुख है, सुननेके सब सुख है। सभी इन्द्रियो के साधन घरमे बसा रखा है और उन भोग साधनोमे अपना मन बहलाते है, जब चाहे स्त्री

संग किया, जब चाहे मिष्टान्न रसायन खाया, फूल इत्र आदिकसे अपने कमरेको सजाते हैं, मनमाने भोग साधन जुटाते हैं और ये इन्द्रियभोग जो कुछ भी अनुराग पैदा करते हैं वह सब थोडे दिनोंका ही है। कुछ दिन बाद ये साधन न रहेंगे, ये भोगने वाले दुर्बल हो जायेंगे, वह लक्ष्मी वैभव जो कुछ भी सुखदायिनी मालूम होती है, कुछ संतोष उत्पन्न करतीसी है वह भी सब थोड़े दिनकी बात है। कुछ दिनका समागम पौद्गलिक ठाठ अन्तमे वियोग होगा ही। और ये सब अवश्य नष्ट हो जायेंगे। तो इन सब समागमोको अनित्य जानकर उनमे प्रीति न करना और शाश्वत आनन्दधाम निज सहज तत्त्वकी आराधना करना यह ही सत्पुरुषोंका कर्तव्य होता है।

विजित्योर्वी सर्वां सततमिह संसेव्य विषयान्
श्रिय प्राप्यानर्घ्यां तनयमवलोक्यापि परम।
निहत्यारातीनां भुवि वलयमत्यंतपरमं
विमुक्तद्रव्यो हि मुषितवदयं याति मरणं ॥३३१॥

(१९) मृत्यु द्वारा लूटे गये बलशाली पुरुषोंका भी चुपचाप पलायन—यह प्राणी अपने जीवनमे अपनी कषायवासनाके अनुसार सब कुछ कलायें खेलता है। समस्त पृथ्वीको जीतकर अपने आधीन कर लेता है। कुछ ऐश्वर्य है, पुण्यबल है, देहबल है, कुछ चतुराई आयी तो यह सारी पृथ्वीपर अपना राज्य जमा लेता है। ऐसे ऐसे अनेक काम कर डालता है, पर मृत्युपर वश नहीं चलता। यह प्राणी नाना पद्धतियोसे नाना विषयोका सेवन करता है। काम, भोग कितने ही साहित्यिक ढगोसे, कितनी ही कलावोसे करता है। अनेक प्रकार के गीत भजन न जाने किस किस विधिसे बना-बनाकर गाते है, नाना विधियोसे नाना विषयो का सेवन कर लेते है। कुछ पुण्ययोग है, कुछ उसका बल है, सो यह प्राणी विघ्नरहित नाना प्रकारकी लक्ष्मीको कमा लेता है। भले प्रकार बैंकोमे जमा करता, जिनमे कोई विघ्न नही सम्भव हैं, अपने ही नाम सब जायदाद पडी है, उसे दूसरा कोई कैसे छीन सकता है ? बड़े कानूनसे, ढंगसे इस लक्ष्मीकी कमाई की है, उसका अधिकारी बना हुआ है, यह बडे प्रतापशाली श्रेष्ठ पुत्रको भी पा लेता है। दुनियामे बडे बडे काम कर डालता है। यह प्राणी प्रचण्ड से प्रचण्ड शत्रुवोके समूहको भी तितर-बितर करके छिन्न भिन्न कर डालता है, पर जब इसका मृत्युसमय निकट आता है तब इसको रच भी ऊधम नही चल पाता और उस समय ऐसा चुपचाप सारी विभूतिको छोडकर चल देता है जैसे मानो यह इसी तरह लूटा गया है कि यह चुपचाप यहांसे चल दे। उस समय इसकी कुछ भी ऊधमबाजी नही चल पाती। तो पुण्ययोग है, कुछ इन्द्रियबल प्राप्त हुआ है, सो यह चाहे मनमाने ऊधम कर ले, जब तक

आयु है, इन्द्रियबल है तब तक जैसी चाहे प्रवृत्ति कर लें, पर जब मरणकाल आता है तो बस सब कुछ छोडकर चुपचाप हो इसे इस देहसे अलग होना ही पडता है अर्थात् कुछ भी कर डाले वह सब बेकार है, अनित्य है, इस जीवके लिए लाभदायी नही है।

श्रियोपायाप्रातास्तृणजलन्तरं जीवितमिदं
मनश्चित्र स्त्रीणा भुजगकुटिलं कामजमुख।
क्षणध्वसी काय: प्रकृतितरले यौवनधने
इति ज्ञात्वा सतः स्थिरतरधियः श्रेयसि रतः ।। ३३२ ।।

(२०) अनित्यसे हट कर नित्य स्वमे ज्ञानीकी रुचि—जो पुरुष विवेकी है, अपना हित समझते है, जिनकी बुद्धि स्थिर है वे अपने विचारोको संतुलित रखा करते है। वे जानते है कि इस ससारकी समस्त विभूतियाँ नाश सहित है। आखिर पौद्गलिक है। ये स्वय माया-रूप है, खुद भी बिखरने वाली है, और जहाँ चाहे चली जाने वाली है। ये सर्वविभूति नाश सहित है, अपने जीवनके बारेमे भी समझते है कि यह जीवन तृण (घास) के ऊपर पडी हुई ओसकी बूँदके समान चचल है। जैसे घासपर ओसकी बूद पड जाय तो प्रथम तो वह घास ओसकी बूदका भी वजन नही सह सकती, वह गिर जाती है और फिर जरा सी देरमे वह बूंद नष्ट हो जाती है, तो जैसे घास पर पडी हुई ओसकी बूद नष्ट हो जाती है इसी प्रकार यह जीवन भी नष्ट हो जाता है, चचल है, विवेकी पुरुष समझते है कि स्त्रियोका मन विचित्र है और इसी कारण वे स्त्रियोके आधीन नही होते, उनसे विरक्त बुद्धि रखते है। भले पकार उन्होने जीवनमे समझा, इन युवतियोका मन क्षण-क्षणमे पलटने वाला है। कभी प्रेम दिखा-येंगी, कभी रोष दिखायेंगी'। जब जैसा मौका देखा तब तैसा रोष-तोष किया करती है। विवेकी जन जानते हैं कि इन इन्द्रियो से भोगा गया सुख सर्पकी गतिके समान कुटिल है। जैसे सर्प सीधा गमन कोई नही कर पाता, जो भी सर्प गमन करता है। तो जैसे यह गमन कुटिल है ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख भी कुटिल है. खोटे परिणाम वाला है। यह शरीर जिसे देखकर मोही प्राणी प्रफुल्लित रहा करते है, यह पलभरमे नष्ट हो जाने वाला है। यह जवानी जिसे पाकर यह विवेक खो देता है और अविवेकमयी वृत्तियाँ कर लेता है यह स्वभावसे ही चचल है, जवानी सदा किसको रह पायी ? यह धन भी जिसके पानेसे मदिरापायी पुरुषकी तरह मदसा चढा रहता है वह धन भी स्वभावसे ही चंचल है, ऐसा विवेकियो ने जाना। अतः वे कल्याणलाभकी इच्छासे तपश्चरण आदिक कार्योमे स्थिरचित्त होते है और इस विकार बाह्य अर्थकी सगतिसे विरक्त होते है।

गलत्याप्यर्देहे व्रजति विलय रूपमखिलं
जरा प्रत्यासन्नी भवति लभते व्याधिरुदयं ।
कुटुबस्नेहार्त्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो
मनो जन्मोच्छित्त्यै तदपि कुरुते नायमसु मान् ।।३३३।।

(२१) **जन्म मरणके कठिन कष्ट भोगकर भी प्राणीका जन्ममरणके विनाशके उपाय के पौरुषका अभाव**—ये मोही प्राणी कैसी अज्ञान भरी स्थितिमे रह रहे है कि इस जीवकी आयु गलती चली जा रही है तो भी यह ऐसा बुद्धिहीन बना है कि अपने इस मरणके नाश करनेका उपाय इसको नही सूझता, जन्म लेना, फिर मरना, फिर जन्म लेना, ऐसा कार्य करते रहना ही क्या इसके लिए भला है ? यही तो महान् सकट है । यह जन्ममरण छूट जाय बस वह ही कल्याण है । सो आयु गलती जा रही है, मरता जा रहा है, फिर भी जन्म मरणके नाश करनेका उपाय यह नही कर पाता । इस जीवके शरीरकी सुन्दरता आदिक गुण नष्ट हो जाते हैं । शरीरमे जब दुर्गन्ध आती तब शरीर खुदको भी दुःखकारी हो जाता । ऐसे शरीरके कारण अनेक कष्ट होते रहते है । शरीरके गुण नष्ट होते जाते है फिर भी यह जीव इनसे विरक्त नही होता और धर्मकी बुद्धि नही लाता । यह बुढापा दिन प्रतिदिन समीप ही तो आता जा रहा है । जीवकी आयु बढती है तो इसका अर्थ यह है कि शेष जीवन घट रहा, मृत्यु निकट आ रही है । सो भले ही यह मरेगा, पर अपनी आकाक्षावो को नही छोडता, धर्ममे बुद्धि नही लाता । इस जीवके शरीरमे नाना तरहकी नई-नई व्याधियाँ उत्पन्न होती रहती है, पर यह अपनी इच्छावोंका पुलावा बाँधता रहता है । अपनी बुद्धिका अपने हितके लिए कुछ प्रयोग नही करता, बल्कि कुटुम्बके मोहमे फसा हुआ यह लोभसे खिचा खिचा फिरता है । इसकी तृष्णा नही गलती । बुढापा और तृष्णा बढने लगता है । यह जन्म मरणके नाश करनेका क्या उपाय करेगा ? यह तो इन क्लेशकारी बाह्य पदार्थोंमे ही आशा कर करके फंसता रहता है । विवेकी जन इन समग्र घटनावो को अनित्य जानकर इनमे मुग्ध नही होते और अपने स्वभावमे ही सन्तुष्ट होकर परमार्थ धर्मका पालन करते रहते हैं ।

बुधाग्रह्योत्कृष्ट परमसुखकृद्वाछितपद
विवेकश्चेदस्ति प्रतिहतमल स्वातवसतो ।
इद लक्ष्मीभोगप्रभृति सकलं यस्य वशतो
न मोहग्रस्ते तन्मनसि विदुषां भावि सुखदम् ।।३३४।।

(२२) **ज्ञानियोंकी ध्रुव ब्रह्मस्वरूपमे रुचि**—हे विवेकी पुरुषो, अब विवेकका प्रयोग करनेका समय है । संसारमे परिभ्रमण करते करते अनन्त काल खो दिया । अब अंतरगमे

विवेक करके यह बात समझ लो कि मेरेको परम सुखदायी इष्ट पद यह परम ब्रह्म परमात्मा है। स्थितिकी अपेक्षा तो दोषरहित आत्मगुणोका जिसमे विकास है ऐसा परमात्मपद ही इष्टपद है और इसका आधार क्या है उपाय क्या है ? ऐसा परमात्मत्व प्रकट हो वह उपाय है निज अन्तः प्रकाशमान परमब्रह्मका आश्रय करना। सो इस बातको जान लीजिए कि मेरा हितकारी केवल मेरे स्वरूपकी उपासना यही स्वरूप परमब्रह्म है। इस परमब्रह्ममें लीन होने पर मनका मोह नष्ट हो जाता है अर्थात् उस जीवमे फिर मोह नही रहता। मोह और अज्ञान ये एकार्थक शब्द है। जहाँ अज्ञान बसा है वहाँ मोह है। जहाँ मोह बसा वहाँ अज्ञान है। यहाँ अज्ञानसे मतलब ज्ञानावरणके उदयसे होने वाली स्थिति न लेना, वह भी साथ है किन्तु मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे वस्तुस्वरूपका सही भान न होना यह अज्ञान जिसके बसा है वह पुरुष दु.खी है। यह अज्ञान नही रहता निज परम ब्रह्मस्वरूपकी आराधना होने पर, सत्य अनुभव हो जाता है। मेरा यह सहजस्वरूप परम पिता है, यही मेरा वास्तविक धाम है। इसमे ही उपयोग रमे तो यही मेरा कल्याण है। जब ऐसे परम ब्रह्मस्वरूपका अनुभव होता है तब मोह नही रहता और मोह नही रहा, परम ब्रह्म स्वरूपका अनुभव हुआ इसकी पहिचान क्या है कि उस समय लक्ष्मी भोग आदिक जितने पदार्थ है वे रंच भी सुख-दायी विदित नही होते, क्योकि वास्तविक आनन्द अपने आत्माका इस ज्ञानीने अनुभव कर लिया है। अब वह झूठे कल्पित सुखोको कैसे भोग सकेगा ? तो जब मोह नष्ट हो जाता है तब लक्ष्मी भोग आदिक पदार्थ रच भी सुखकारी नही मालूम होते है और उन्हे इन सब पदार्थोंका लगाव, सम्बन्ध, सम्पर्क दुःखदायी ही विदित होता है। सो अपने आपपर दया करके अनित्य समागमोको अपने से जुदा करना और शाश्वत् आनन्दधाम निज सहज परमा-त्मतत्त्वकी आराधना करना यह ही कल्याणका उपाय है।

भवंत्येता लक्ष्म्यः कतिपयदिनान्येव
सुखदास्तरुण्यस्तारुण्ये विदधति मनः प्रीतिमतुलां।
तडिल्लोला भोगा वपुरपि चल व्याधिकलितं ॥
बुधाः सचित्येति प्रगुणमनसो ब्रह्मणि रता ॥३३५॥

(२३) **भेदविज्ञानसे हित अहितका परिचय कर ज्ञानियोंकी सहजब्रह्ममें रति**—यह जगतकी लक्ष्मी कितनो दिनोके लिए सुखदायिनी होती है। प्रथम तो इस धन वैभवके कमाने मे कष्ट। धन वैभव आ जाय तो उसकी रक्षा करनेमे कष्ट और रक्षाके अनेक प्रयत्न करते भी यह नष्ट हो जाय तो उसके वियोगका महा दुःख। यह लक्ष्मी कितने दिन तक सुखदा-यिनी हो सकती है। ये युवतियाँ तरुण स्त्रियाँ अपने यौवनकालपे ही चित्तको विशेष प्रफु-

ल्लित करती है, सो इनका भी क्या ठिकाना ? इनकी जवानी सदा न रहेगी । ये भी वृद्धावस्थाको प्राप्त होगी । ये सुखदायी कैसे हो सकती ? सुखदायी तो कभी भी नही है पर कामी जीव कल्पनाये करके अपनेमे सुख मानते है, सो उन युवतियोके वृद्धावस्था आती है । कामी पुरुषोके चित्तमे उस प्रकारकी कल्पना भी नही जग सकती । ये भोग कितने समय तक इस जीवको सुख देने वाले है ? ये भोग भोगते ही क्षणभर बाद विरस हो जाते हैं । एक कहावत प्रसिद्ध है कि घाटी नीचे माटी । कोई भी मिष्ठान्न जब तक कठके निकट है । जीभका सम्पर्क है तब तक कुछ सुखदायी मालूम होता है । जैसे ही यह गलेके नीचे उतर जाता, छातीके नीचे चला जाता फिर उसका रस विदित नही रहता । ऐसी ही समस्त भोगों की बात है । कुछ ही समय जब वह भोगकाल है उस समय कुछ सुखकारी प्रतीत होता है । प्रथम तो संसारका सुख भी क्या, क्योंकि जब इच्छा होती है तब भोग नही है और जिस समय भोगका भोगना है उस समय वह इच्छा नही रहती, अन्य प्रकारकी इच्छा आ जाती है और दु खी रहना है । यह बात तो साथ लगी है, मगर इच्छाके समय भोग नही है । तो ये भोग कुछ ही समयको सुखके निमित्तभूत है यह शरीर कब तक सुखदायी मालूम होता रहेगा, जब तक कि इसमे कोई व्याधि नही आ सताती । व्याधि आने पर यह शरीर बडा दुःखदायी मालूम होता है । उस समय जरूर ख्याल आता है कि यदि शरीर ही साथ न होता जीवके तो यहाँ कोई सकट न होता । यह शरीर भी जब तक कोई रोग नही सताता तब तक ही यह सुखदायी मालूम देता है, बादमे ये सभी पदार्थ दु खके देने वाले निश्चित ही है, ऐसा जिसने निर्णय किया है वह बुद्धिमान पुरुष अपने मनमे भले प्रकार हित अहितका विवेक रखता है और अहितका त्यागकर हितरूप अपने सहज परमात्मतत्त्वके ध्यान मे लगता है ।

न काता कांताते विरहशिखिनो दीर्घनयना
न काता भूपश्रीस्तडिदिव चला चांतविरसा ।
न कात अस्तात भवति जरसा यौवनमृत:
अय ते ते सतः स्थिरसुखमयी मुक्तिवनिताम् ॥३३६॥

(२४) **सर्व लौकिक इष्टोकी कष्टकारिताका परिचय कर ज्ञानियोका मुक्तिमार्गमे वर्णन**—ये दीर्घ (लम्बे) नेत्र वाली युवतियां जिन्हे बडे घरकी स्वामिनी कहा जाता है, जिन्हे देखकर ये पुण्यशाली लोग अपने मनमे बडा सुख मानते है, ये ही युवतियाँ आखिर अन्त समयमे मनुष्योको कष्टका ही साधन बनती है । जब ये मर जाती है तो उनके विरहरूपी अग्निसे पीडित मनुष्योको बडी दु खदायिनी हो जाती है । इष्टका वियोग होनेपर मनुष्यका

चित्त विकराल हो जाता है और इतना तीव्र व्याकुल हो जाता है कि जिस व्याकुलतामे अपनी कोई सुध नही और विकट कर्मका बंध होता है । यह लक्ष्मी भी तब तक ही अच्छी मालूम होती है जब तक कि यह बिजलीके समान नष्ट नही होती । मेघका, बिजलीका उजाला हुआ तो क्षणभरमे ही वह नष्ट हो जाता । उस उजेलेमे कुछ यहाँ प्रकाश जगता है, कुछ भलासा लगता है । मगर वह बिजली खत्म तो यहाँका प्रकाश भी खतम । तो ये लक्ष्मी विभूति, काञ्चन आदिक सम्पदा ये तब तक ही अच्छे लगते जब तक कि वे साथ है और अलग नही है, किन्तु जैसे ही वे अलग होती है, नष्ट होती है तो यह लक्ष्मी अपरिमित दु.ख देने वाली है । जैसे किसीके लाखोका धन है और वह लुट जाय, छिन जाय, गरीब हो जाय, तो वह कितना कष्ट मानता है, इससे अच्छा तो ऐसा ही शुरूसे होता, गरीब ही होता तो किसी भी प्रकार जीवन चलाकर सुखमय अपने आपको अनुभवता, पर जिनके लक्ष्मीका संयोग हुआ है उन्हे लक्ष्मीका वियोग होनेपर महान् कष्टका अनुभव होता है । ऐसी ही इस जवानीकी दशा है । यह जवानी कब तक सुखदायी मालूम होती है ? खूब प्रखर जठराग्नि है, मनमाना रसास्वादन किया जा रहा है, शरीरमे बल है तो अनेक प्रकारके भोग भोगे जा रहे है । तो इस जवानीमे होने वाला सुख यह कब तक रहेगा ? यह सुख भी तब तक ही रह पाता है जब तक कि यह जवानी नष्ट नही होती । ज्यो ही बुढापा आया कि फिर इसे क्या आनन्द ? बल्कि खाया नही जाता, अनेक रोगोने घेर लिया, भले प्रकार बैठ भी नही सकता, निद्रा गायब हो गई, अनेक प्रकारके कष्ट भोगता है । तो ससारमे इन सब अनित्य पदार्थोंका समागम इस जीवके लिए कष्टका निमित्तभूत ही हो रहा है, इसी कारण जिसको हित अहितका विवेक है, जिसने निज सहज अतस्तत्त्वका अनुभव किया है उसके आनन्दलाभके बाद जिसको यह स्पष्ट विदित है कि ससारके किसी भी बाह्य पदार्थसे मेरेको आनन्द कभी प्राप्त ही नही हो सकता, ऐसा जिसके हित अहितका विवेक है वह पुरुष इन समग्र अनित्य पदार्थोंके समागमको त्यागकर सदाकाल रहने वाले मोक्षरूपी लक्ष्मीको ही वर्तता है अर्थात् अष्टकर्मोंसे रहित केवल पवित्र दशाको ही चाहता है, ऐसी परम ज्ञानज्योतिके पानेका ही उद्यम करता है । लोकमे इस जीवकी शरीररहित स्थिति केवल अपने आपकी सत्तासे ही रहने वाले समस्त पर द्रव्योके लेपसे रहित धर्मादिक द्रव्योकी तरह पवित्र स्थिति ही कल्याणमयी स्थिति है और ऐसी कल्याणमयी स्थितिको पा लेनेका साधन अभी वर्तमानमे ही केवल अपने सत्त्वमात्र चैतन्यतत्त्वको निरखना है । तो विवेकी जन अपने अन्त: प्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्वके आलम्बनसे शरीररहित केवल गुणविकासमय निर्दोष आत्माकी स्थिति प्राप्त कर लेते है, जिन्होने यह शरीररहित ज्ञानज्योतिकी स्थिति पायी वे ही पुरुष धन्य है, आदर्श है, पूज्य है, उस ही के

ल्लित करती है, सो इनका भी क्या ठिकाना ? इनकी जवानी सदा न रहेगी। ये भी वृद्धावस्थाको प्राप्त होगी। ये सुखदायी कैसे हो सकती ? सुखदायी तो कभी भी नही है पर कामी जीव कल्पनाये करके अपनेमे सुख मानते है, सो उन युवतियोके वृद्धावस्था आती है। कामी पुरुषोके चित्तमे उस प्रकारकी कल्पना भी नही जग सकती। ये भोग कितने समय तक इस जीवको सुख देने वाले है ? ये भोग भोगते ही क्षणभर बाद विरस हो जाते हैं। एक कहावत प्रसिद्ध है कि घाटी नीचे माटी। कोई भी मिष्ठान्न जब तक कठके निकट है। जीभका सम्पर्क है तब तक कुछ सुखदायी मालूम होता है। जैसे ही यह गलेके नीचे उतर जाता, छातीके नीचे चला जाता फिर उसका रस विदित नही रहता। ऐसी ही समस्त भोगों की बात है। कुछ ही समय जब वह भोगकाल है उस समय कुछ सुखकारी प्रतीत होता है। प्रथम तो संसारका सुख भी क्या, क्योकि जब इच्छा होती है तब भोग नही है और जिस समय भोगका भोगना है उस समय वह इच्छा नही रहती, अन्य प्रकारकी इच्छा आ जाती है और दुःखी रहना है। यह बात तो साथ लगी है, मगर इच्छाके समय भोग नही है। तो ये भोग कुछ ही समयको सुखके निमित्तभूत है यह शरीर कब तक सुखदायी मालूम होता रहेगा, जब तक कि इसमे कोई व्याधि नही आ सताती। व्याधि आने पर यह शरीर बडा दुःखदायी मालूम होता है। उस समय जरूर ख्याल आता है कि यदि शरीर ही साथ न होता जीवके तो यहां कोई सकट न होता। यह शरीर भी जब तक कोई रोग नही सताता तब तक ही यह सुखदायी मालूम देता है, बादमे ये सभी पदार्थ दुःखके देने वाले निश्चित ही है, ऐसा जिसने निर्णय किया है वह बुद्धिमान पुरुष अपने मनमे भले प्रकार हित अहितका विवेक रखता है और अहितका त्यागकर हितरूप अपने सहज परमात्मतत्त्वके ध्यान मे लगता है।

न कांता कांताते विरहशिखिनो दीर्घनयना
न कांता भूपश्रीस्तडिदिव चला चांतविरसा।
न कांत ग्रस्तातं भवति जरसा यौवनमृतः
श्रय ते ते सतः स्थिरसुखमयी मुक्तिवनिताम् ॥३३६॥

(२४) सर्व लौकिक इष्टोकी कष्टकारिताका परिचय कर ज्ञानियोका मुक्तिमार्गमे वर्णन—ये दीर्घ (लम्बे) नेत्र वाली युवतियां जिन्हे बडे घरकी स्वामिनी कहा जाता है, जिन्हे देखकर ये पुण्यशाली लोग अपने मनमे बडा सुख मानते है, ये ही युवतियां आखिर अन्त समयमे मनुष्योको कष्टका ही साधन बनती है। जब ये मर जाती है तो उनके विरहरूपी अग्निसे पीडित मनुष्योको बडी दुःखदायिनी हो जाती है। इष्टका वियोग होनेपर मनुष्यका

चित्त विकराल हो जाता है और इतना तीव्र व्याकुल हो जाता है कि जिस व्याकुलतामे अपनी कोई सुध नही और विकट कर्मका बंध होता है। यह लक्ष्मी भी तब तक ही अच्छी मालूम होती है जब तक कि यह बिजलीके समान नष्ट नही होती। मेघका, बिजलीका उजाला हुआ तो क्षणभरमे ही वह नष्ट हो जाता। उस उजेलेमे कुछ यहां प्रकाश जगता है, कुछ भलासा लगता है। मगर वह बिजली खत्म तो यहांका प्रकाश भी खतम। तो ये लक्ष्मी विभूति, काञ्चन आदिक सम्पदा ये तब तक ही अच्छे लगते जब तक कि वे साथ है और अलग नही है, किन्तु जैसे ही वे अलग होती है, नष्ट होती है तो यह लक्ष्मी अपरिमित दु.ख देने वाली है। जैसे किसीके लाखोका धन है और वह लुट जाय, छिन जाय, गरीब हो जाय, तो वह कितना कष्ट मानता है, इससे अच्छा तो ऐसा ही शुरूसे होता, गरीब ही होता तो किसी भी प्रकार जीवन चलाकर सुखमय अपने आपको अनुभवता, पर जिनके लक्ष्मीका संयोग हुआ है उन्हे लक्ष्मीका वियोग होनेपर महान् कष्टका अनुभव होता है। ऐसी ही इस जवानीकी दशा है। यह जवानी कब तक सुखदायी मालूम होती है? खूब प्रखर जठराग्नि है, मनमाना रसास्वादन किया जा रहा है, शरीरमे बल है तो अनेक प्रकारके भोग भोगे जा रहे है। तो इस जवानीमे होने वाला सुख यह कब तक रहेगा? यह सुख भी तब तक ही रह पाता है जब तक कि यह जवानी नष्ट नही होती। ज्यो ही बुढापा आया कि फिर इसे क्या आनन्द? बल्कि खाया नही जाता, अनेक रोगोने घेर लिया, भले प्रकार बैठ भी नही सकता, निद्रा गायब हो गई, अनेक प्रकारके कष्ट भोगता है। तो ससारमे इन सब अनित्य पदार्थोंका समागम इस जीवके लिए कष्टका निमित्तभूत ही हो रहा है, इसी कारण जिसको हित अहितका विवेक है, जिसने निज सहज अतस्तत्त्वका अनुभव किया है उसके आनन्दलाभके बाद जिसको यह स्पष्ट विदित है कि ससारके किसी भी बाह्य पदार्थसे मेरेको आनन्द कभी प्राप्त ही नही हो सकता, ऐसा जिसके हित अहितका विवेक है वह पुरुष इन समग्र अनित्य पदार्थोंके समागम को त्यागकर सदाकाल रहने वाले मोक्षरूपी लक्ष्मीको ही वर्तता है अर्थात् अष्टकर्मोसे रहित केवल पवित्र दशाको ही चाहता है, ऐसी परम ज्ञानज्योतिके पानेका ही उद्यम करता है। लोकमे इस जीवकी शरीररहित स्थिति केवल अपने आपकी सत्तासे ही रहने वाले समस्त पर द्रव्योके लेपसे रहित धर्मादिक द्रव्योकी तरह पवित्र स्थिति ही कल्याणमयी स्थिति है और ऐसी कल्याणमयी स्थितिको पा लेनेका साधन अभी वर्तमानमे ही केवल अपने सत्त्वमात्र चैतन्यतत्त्वको निरखना है। तो विवेकी जन अपने अन्त: प्रकाशमान सहज परमात्मतत्त्वके आलम्बन से शरीररहित केवल गुणविकासमय निर्दोष आत्माकी स्थिति प्राप्त कर लेते है, जिन्होने यह शरीररहित ज्ञानज्योतिकी स्थिति पायी वे ही पुरुष धन्य है, आदर्श है, पूज्य है, उस ही के

विघटेगा और अपने आत्माके विषयमे तो कुछ भी सुध नही ले पाता है । लोकमे सर्व जगह दृष्टि पसारकर छान लीजिए कि कौनसा स्थान ऐसा है कि जिसमे रमनेसे आत्माको शान्ति प्राप्त हो ? अपने जीवनके अनुभवसे भी पहिचानें, जगतमे जितने भी जीव है वे सब मेरी सत्तासे अत्यन्त भिन्न है । कोई सम्बंध भी है क्या रंच ? कोई गुँजाइस भी नही है । अगर एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ लगता होता तो आज जगत शून्य हो जाता । ये बाह्य पदार्थ अब तक टिके है, यही इस बातका प्रमाण है कि किसीकी सत्ता किसी दूसरेमे मिली हुई नही है । तब ही तो ये अब तक हैं । कोई पदार्थ किसी दूसरेका परिणमन नही कर पाता तब ही तो सब पदार्थ अब तक है । यदि कोई पदार्थ किसी दूसरेका विनाश कर दे तो वह तो स्वयं कुछ परिणमा नही फिर इसका भी कोई परिणमन कर दे यह भी न रहा । अब सर्व अव्यवस्था है, जगत शून्य हो जायगा । ये पदार्थ अब तक मौजूद है, यह ही एक काफी प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र अपनी सत्ता वाले है । अपने बारेमे सोचिये कि मेरा इन कुटुम्बी जनोमे किसी भी जीवसे क्या सम्बन्ध है । क्या कर्मका लेनदेन है, क्या भावका लेन-देन है । कोई गुंजाइस भी है क्या कि जिससे यह कहा जाय कि ये मेरे सम्बंधी है, अत्यन्त भिन्न सत् है, स्त्री पुत्रादिक जो भी परिणमन करते है वे अपने भावयोग्यताके अनुरूप परिणमन करते है, अपने लिए परिणमन करते है । कोई मेरे सुखके लिए परिणमन नही करता, हो ही नही सकती यह बात । चाहे कोई कितना ही विश्वास दिलाये कि हम आपसे बहुत प्रेम रखते है, हम आपके लिए ही सब कुछ करते है, आपके लिए ही हमारी जान हाजिर है, किन्तु सारी बात पूरी मिथ्या है यह हो ही नही सकता ।

(३०) **कषायमिलनकी लौकिक मित्रता बन्धुता**—होता क्या है कि खुदके भावमे यह बात पडी हुई है और मित्र भी कोई यो बन गया है कि जैसा जीव मेरा है वैसा ही जीव दूसरेका है, वह भी उस कार्यको वैसा देखना चाहता है, यह मैं भी उस कार्यको वैसा ही देखना चाहता हू । मित्रता हो गई पर वस्तुतः एक जीवका दूसरे जीवसे सम्बंध बन गया हो सो बात नही है, किन्तु उद्देश्यमे लक्ष्यमे एकता आ गई है । कुटुम्बी जनोमे भी यह चाहता है कि मेरा यह कुल अच्छा चले, पुरुष भी यह चाहता कि यह कुल अच्छा चले, जब एकसा ही भाव बन गया तो वह मित्रताका वातावरण बन गया, पर जीव जीवका कुछ लगता हो इस कारण यह बात बन गई हो सो बात नही है । तो जब एकदम स्पष्ट एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है और साथ ही मेरे किएका फल केवल मै ही पाता हू, मैं जैसे भाव बनाता हू वैसा ही ससारमे परिभ्रमण करता हू, जैसा शरीर मिलता है समझिये उसके अनुकूल मैने पहले भाव किया था जिससे ऐसा ही कर्मबध हुआ और इस तरहका यह समागम मिला है । हमारी

ध्यानमे योगियोंका चित्त रमा करता है ।

वय येभ्यो जाता मृतिमुपगतास्तेऽत्र सकलाः
समं यैः संवृद्धा ननु विरसतां तेऽपि गमिता ।
इदानीमस्माकं मरणपरिपाटी क्रमगता
न पश्यतोऽप्येव विषयविरतिं याति कृष्णा· ॥३३७॥

(२५) माता पिता भाई बन्धु मित्र व स्वयं सबकी मृत्युकी निश्चितता—हम लोग जितने उत्पन्न हुए है वे सभी मृत्युको प्राप्त हुये है, हमारे बाबा पिता आदिक अनेक पुरखा जिनकी परिपाटीमे हम इस भवमे उत्पन्न हुए है वे सब मृत्युको प्राप्त हुए, और यही व चली आ रही है जिसके साथ हम रह रहे है, बढे है, खेलते खाते है, वे सब विरमनाको प्र हो रहे है । उनका शरीर ढल गया, वृद्ध हो गया, कान्तिहीन हो गया । अब जो दशा उ सबकी हुई है वही दशा हमारी भी चल रही है, और मरणकी परिपाटी क्रमसे चलती हु हमारे सामने आयी है अर्थात् जैसे हमारे पुरखा लोग रहे और उनके साथके लोग नीरस हु ये कुटुम्बके बडे पुरुष हुए वही हमारी स्थिति है, ऐसा देखते हुए भी ये विषयोके लोलुप पुरुष कैसा कृपण है, आत्मदयासे हीन है कि वे विषयोकी विरक्तिको प्राप्त नही होते । जो कु भी यह दुर्दशा हुई है यह विषयोके लोभमे हुई है, क्योकि विषयोकी आसक्तिमे जो मलि परिणाम हुए है उन मलिन परिणामोसे ऐसा खोटा बन्ध होता है कि इनको जन्म मरण करा ही रहना पडता है । और जन्म मरण भी पेड पौधा कीडा मकोडा पशु पक्षी नरक जैसी दुर्ग तियोमे करना पडता है । सो हे विवेकी जन सत्य बात समझकर अब विषयोमे अनुराग म हो । यह विषयोका अनुराग असार है, अपवित्र है, हानिकारक हे । वह निज परमात्मतत्त्वके अनुकूल बात नही है । इसलिए विषयोसे विरक्त हो और अपने आत्मपदमे लीन हो ।

स यातो यात्येष स्फुटमयमहो यास्यति मृति
परेषामत्रैव गणयति जनो नित्यमबुधः ।
महामोहाघ्रातस्तनुधनकलत्रादिविभवे
न मृत्यु स्वासन्न व्यपगतमतिः पश्यति पुनः ॥३३८॥

(२६) अन्य सबके विनाशका चिन्तन करने वाले स्वयंके विनाशपनेकी बेसुधी—इस जीवकी ऐसी बहिर्मुखी दृष्टि हो रही है कि बाहरमे जो पदार्थ है उनके बारेमे तो विचार करता रहता है । यह भी जानता है कि जो कुछ ये पुरुष आदिक है ये सब मृत्युको प्राप्त होते हैं । अमुक पुरुष नष्ट हो गया, यह मर गया, यह चीज विघट गई, पर अपने बारेमे नही सोच पाता, अपनी बाह्य वस्तुके बारेमे नही सोच पाता कि वे भी मरेंगे । मेरा समागम भी

विघटेगा और अपने आत्माके विषयमें तो कुछ भी सुध नहीं ले पाता है। लोकमे सर्व जगह दृष्टि पसारकर छान लीजिए कि कौनसा स्थान ऐसा है कि जिसमे रमनेसे आत्माको शान्ति प्राप्त हो ? अपने जीवनके अनुभवसे भी पहिचानें, जगतमे जितने भी जीव है वे सब मेरी सत्तासे अत्यन्त भिन्न है। कोई सम्बंध भी है क्या रंच ? कोई गुँजाइस भी नही है। अगर एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ लगता होता तो आज जगत शून्य हो जाता। ये बाह्य पदार्थ अब तक टिके है, यही इस बातका प्रमाण है कि किसीको सत्ता किसी दूसरेमे मिली हुई नही है। तब ही तो ये अब तक हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरेका परिणमन नही कर पाता तब ही तो सब पदार्थ अब तक है। यदि कोई पदार्थ किसी दूसरेका विनाश कर दे तो वह तो स्वयं कुछ परिणमा नही फिर इसका भी कोई परिणमन कर दे यह भी न रहा। अब सर्व अव्यवस्था है, जगत शून्य हो जायगा। ये पदार्थ अब तक मौजूद है, यह ही एक काफी प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र अपनी सत्ता वाले है। अपने बारेमे सोचिये कि मेरा इन कुटुम्बी जनोमे किसी भी जीवसे क्या सम्बन्ध है। क्या कर्मका लेनदेन है, क्या भावका लेन-देन है। कोई गुजाइस भी है क्या कि जिससे यह कहा जाय कि ये मेरे सम्बंधी है, अत्यन्त भिन्न सत् है, स्त्री पुत्रादिक जो भी परिणमन करते है वे अपने भावयोग्यताके अनुरूप परिणमन करते है, अपने लिए परिणमन करते है। कोई मेरे सुखके लिए परिणमन नही करता, हो ही नही सकती यह बात। चाहे कोई कितना ही विश्वास दिलाये कि हम आपसे बहुत प्रेम रखते है, हम आपके लिए ही सब कुछ करते है, आपके लिए ही हमारी जान हाजिर है, किन्तु सारी बात पूरी मिथ्या है यह हो ही नही सकता।

(३०) **कषायमिलनकी लौकिक मित्रता बन्धुता**—होता क्या है कि खुदके भावमे यह बात पडी हुई है और मित्र भी कोई यो बन गया है कि जैसा जीव मेरा है वैसा ही जीव दूसरेका है, वह भी उस कार्यको वैसा देखना चाहता है, यह मैं भी उस कार्यको वैसा ही देखना चाहता हू। मित्रता हो गई पर वस्तुतः एक जीवका दूसरे जीवसे सम्बध बन गया हो सो बात नही है, किन्तु उद्देश्यमे लक्ष्यमे एकता आ गई है। कुटुम्बी जनोमे भी यह चाहता है कि मेरा यह कुल अच्छा चले, पुरुष भी यह चाहता कि यह कुल अच्छा चले, जब एकसा ही भाव बन गया तो वह मित्रताका वातावरण बन गया, पर जीव जीवका कुछ लगता हो इस कारण यह बात बन गई हो सो बात नही है। तो जब एकदम स्पष्ट एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है और साथ ही मेरे किएका फल केवल मै ही पाता हू, मैं जैसे भाव बनाता हू वैसा ही ससारमे परिभ्रमण करता हू, जैसा शरीर मिलता है समझिये उसके अनुकूल मैने पहले भाव किया था जिससे ऐसा ही कर्मबध हुआ और इस तरहका यह समागम मिला है। हमारी

सारी दृष्टि हमारे ही भावोपर निर्भर है, दूसरेके भावोपर निर्भर नही है ऐसा जानें । जो जानता है ऐसा उसका कभी भी व्यामोह परपदार्थमे नही होता । घर गृहस्थी तो एक गुजारे का साधन है । घरमे रहने वाले लोग तो एक गुजारा कमेटी है, उसका यह अनिर्वाचित मेम्बर है जो अपनी योग्यताके अनुसार स्वय ही कोई मुखिया कहलाता है, कोई घरका प्रबधक कहलाता, कोई किसी विभागको सम्हालने वाला कहलाता है । सब अपने आप बन जाते है । तो एक तरहकी वह गुजारा कमेटी है । जैसे किसी सस्थाकी सम्हाल एक कमेटीमे चलती है ऐसे ही परिवारकी सम्हाल, यह भी एक कमेटी द्वारा चलती है । कमेटीका कोई सदस्य उस सम्पत्तिका मालिक नही कहलाता किन्तु प्रबधक कहलाता है इसी तरह अपना अपना गुजारा करनेके लिए गुजारेका काम चल रहा है, पर यहाँ कोई मालिक नही है । जो कुछ भी मिला है वह नियमसे विघटेगा । या घात कोई करे तो विघट गया या पापका उदय आ गया तो अपने जीते जी विघट गया, पर जिसका सयोग हुआ वह सदा साथ न रहेगा, वियोग होगा तो क्या हालत होगी इस मोही जीवकी ? अनादिसे जो हालत चली आ रही सो हालत होगी ।

(२८) **प्राप्त सुयोगका मोहमें व्यर्थीकरण**—आज इतना श्रेष्ठ मनुष्यभव पाया, उत्तम कुल पाया, उसमे भी साधन अच्छे पाये, बुद्धि विशेष पायी । जैनशासनका शरण मिला, तत्त्वज्ञ पुरुषोकी सगतियाँ भी मिलती है, इससे बढकर और समागम क्या होगा हमारे कल्याण के लिए, पर इतना सब कुछ पाकर भी हम इसको ऐसा गंवा देते हैं जैसे जगलकी भीलनियाँ जगलमे कोई गजमोती या अमूल्य मोती पा ले तो उसे वे पत्थर जानकर उससे पैरके मलको साफ करती है, उसकी महिमा वे नही समझ पाती, इसी तरह जितने समागमके बीच हम आये हुए है उन समागमोका हम कोई मूल्य नही समझ पाते । भले ही कुल परम्पराके कारण हम मदिर भी आते, धर्मध्यान भी करते, पर जब तक मोह अज्ञान नही मिटा है, आत्माका सहज वास्तविक स्वरूप क्या है यह खुदकी दृष्टिमे नहीं आया है और स्वयके सहज स्वरूपका अनुभव पाये बिना आनन्द भी नही मिल सकता है । धर्मके नामपर बाहरमे जो कर्तव्य किए जाते है वे केवल थोडे पुण्यफलको ही दे सकते है, पर मोक्षफलको नही दे सकते । जब तक मुक्तिका मार्ग नही मिलता, ससारमे बडासे बडा होकर भी ये क्या लाभ पा लेगे ?

(२९) **लौकिक बडप्पनका क्या महत्त्व**—आज भी जिनको हम इस राष्ट्रका बहुत बडा अधिकारी समझते है मिनिस्टर समझते है उनकी भी क्या हालत है ? जो पहले अधिकारी थे, आज अधिकारी न रहे तो उन पर क्या गुजरती है ? जो मौजूद हैं अब भी उनको कितनी शल्य लगी हुई है । चित्त चचल है । जितना समागम मिला है उतनी ही चिन्ता ।

उतना ही रक्षाका भार, उतना ही शल्य, वहाँ भी शान्ति कहाँ मिली ? जिसको योग्य पुत्र मिला हुआ है यदि सपूत है, योग्य है तो उनके प्रेममें निरन्तर आकुलता बनाये रहते है मैं इतना कमा जाऊँ कि ये सब बैठे बैठे आरामसे खायें । ये बडे प्रिय है—यदि कोई खोटे निकले तो उसकी प्रतिकूलता समझकर निरन्तर आकुलता मचाते है । तो ससारकी कौनसी स्थिति है ऐसी जो इस जीवका हित कर ले ? और प्रधानतया शरीरको ही निरखलो । जिस शरीरमे इतना व्यामोह है इस जीवका कि शरीरको ही अपना सर्वस्व समझते है यह ही मैं हू । अपना भिन्न अस्तित्व कुछ नही जानते । जो कुछ करते हैं वह सब शरीरके लिए ही करते हैं । इतना शरीरमे अहकार बसा है कि जितने क्लेश हो रहे है वे सब इस शरीरके कारण हो रहे है । किसीने गाली दे दी तो उससे अमूर्त ज्ञानस्वरूपपर क्या बीत गया ? क्यो बुरा मानता है यह, पर यह अमूर्त ज्ञानस्वरूप इसकी दृष्टिमे कहाँ है ? इसकी दृष्टिमें तो यह शरीर ही मै बना हुआ है । तब शरीरका सम्बन्ध है इन्द्रियसे । इन्द्रियसे ही ज्ञान किया जा रहा, मूर्तका ही ज्ञान होता है, मूर्तसे ही लगाव चलता है तो यह बुद्धि बन गई कि इसने गाली दी मुझको मायने इस देहको, इस शरीरको तब गाली सुननेसे निन्दा सुननेसे जो कष्ट होता है वह शरीरके कारण ही तो होता है । यदि मैं अकेला ही होता, शरीर न होता, जो मेरा परमार्थ स्वरूप है, निजकी सत्ता है, एतावनमात्र मै होता तो कोई कष्ट था क्या ? सारे कष्टोको परख लीजिए एकसे लेकर सौ तक सारे कष्ट इस शरीरके सम्बन्धके कारण है । तब यह अभिलाषा होना चाहिए कि मेरा शरीर ही न रहे । अब मेरा शरीर आगे न बने, मैं शरीर रहित हू, अपने आपके सत्त्वसे हू, इतना ही मात्र मै रहू, यह भावना होनी चाहिये न कि ससारमे मेरा ऐसा नाम हो, मेरा यश हो लोग मुझे समझें, लोगोमे मेरा अग्रपना हो, मेरे ऐसी सम्पत्ति हो, लोग जान जायें कि यह सबसे बडे है, ये दुर्भावनायें न होनी चाहिए । ये इस जीवको कष्ट देने वाली है । भले ही मोहमे ये बातें आज बडी सुखकारी मालूम होती है मगर इनके साथ दु ख लगा हुआ है और कुछ ही काल बाद एकदम स्पष्ट दिख जायगा । इसीका ही तो फल है कि नाना तरहके शरीर मिलते है, कीडा मकोडा बनते है, पेड पौधे बनते है, पानी, आग आदि बनते है । निगोदके दु ख तो बहुत ही कठिन बताये गए है । वे भव भी इस मोहके कारण प्राप्त होते है । आज मनुष्य है, मनुष्यके बाद क्या कीडा मकोड़ा बनना पसद है ? यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि मरण होनेके बाद जीवन जरूर होगा, कोई जन्म जरूर मिलेगा । आगेका कैसा जन्म चाहिये ? यदि कीडा मकोडा पेड पौधेका जन्म इष्ट हो तब तो मनमानी प्रवृत्तियाँ करते ही रहना चाहिये । खूब भोग भोगें, अपने आपको भूल जायें, मनमाना अन्याय करे, जैसा चाहे दिल बनाये, आर्तध्यान रौद्र्यान मे बसा करें

फिर जैसा करते आये है वही इसकी औषधि है कि खूब जन्म मिलते रहे। जन्म, शरीर सम्बन्ध यह दुःखका आधार है, किन्तु शरीरसे प्रीति है। आज शरीर मिला है तो जैसे कोई दुष्टका प्रसग मिल जाय तो अपने कामकी सिद्धिके लिए उस दुष्टकी भी कुछ अशमे आवभगत की जाती है। आज इस दुष्ट शरीरका समागम मिला है। हम आप असंयममे अपना समय बिताते है और ससारमे रुलते है।

(३०) शरीररहित आत्मस्थितिकी प्रतीक्ष्यता—हमको चाहिए कि इस ससारमे रुलना हमारा छूट जाय। इन शरीरादिक पर सम्पर्कोसे रहित हो जाय, ऐसी स्थिति पानेके लिए हमे आत्मसाधना करना चाहिए और आज शरीरसे इतना विकट एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है कि शरीरमे व्याधि आ जाय तो धर्मध्यानमे मन लगना कठिन है। हम आगे अपनी आत्मसाधनामे बढ नही सकते इसलिए इस शरीर सेवक इस दुष्ट शरीरको हमे स्वस्थ रखना पडता है, थोडी परवाह रखना पडता है, मगर उद्देश्य तो सही जानें कि किसलिए हमको, शरीरको ठीक रखनेकी आवश्यकता है? शरीरके लिए शरीरको ठीक नही रखना, आत्मसाधनाके लिए शरीरको ठीक रखना, हमारे जीवनका ध्येय मात्र सहज परमात्वतत्त्वकी साधना रहे, दूसरा ध्येय न रहे, ऐसा अपना पक्का निर्णय बना लें। दूसरा कोई ध्येय होना ही न चाहिये जीवनका। मै अमुक कलावोके द्वारा इस लोकमे लोगोका प्रेमपात्र बन जाऊ, इसकी आवश्यकता नही है। ये सब ससारमे जन्म-मरण करनेके उपाय है। मैं दुनियाके लिए कुछ नही हू, न दुनियाके लिए मैं कुछ रहना चाहता हू। मैं तो सबके लिए शून्यकी तरह हू। मैं केवल अपने सम्यक्त्व ज्ञान और आचरणके लिए हू। इसीके अर्थ मेरे जीवनके क्षण है, जीवन है, यह हमारा पक्का निर्णय होना चाहिए। रही बाह्य साधनोकी बात, जिसका परिणाम ऊँचा है, जिसकी धर्ममे प्रीति है उसके साथ इतना पुण्योदय तो है ही कि जब तक उसे संसारमे रहना होता है तब तक वह अच्छी विधिसे रह सके, ऐसा उसके समागम चलता है। कदाचित् मानो न चले तो फिर दृढता कहते किसे है? बडे बडे मुनिराजोपर भी उपसर्ग आये, पार्श्वनाथ जैसे तीर्थंकर महाराजपर भी मुनि अवस्थामे उपसर्ग आये, अन्य भी बडे-बडे राजा महाराजा सब कुछ त्यागकर मुनि हुए है, उनपर कितना कठिन उपद्रव आ था, असाताका ही तो उदय था, किन्तु वे अपने ध्येयसे नही चिगे। वे अपने सहज आत्मस्वरूपके ध्यानमे अडिग रहे। कोई परवाह नही की, इतना अद्भुत ज्ञानबल बढाया कि सदाके लिए ससारके सकटोसे छूट गए। इतना प्रबल उत्साह रखना चाहिये और एक मात्र निर्णय रखना चाहिए कि मेरा जीवन आत्मानुभवके लिए है, उसका उपाय बनानेके लिए है, अन्य-

कार्योंके लिए मेरा जीवन नही है। अन्य कार्योंसे हमें लाभ क्या मिलता ? किन कि... सेवा अब तक नही की, किन किनको दिल नही लगाया, कहाँ कहाँ क्या क्या भटकना नही... पर उससे आत्माको कुछ लाभ नही मिला। बाह्य पदार्थोंके लिए मेरा जीवन नही है। मेरेमें नित्य अंतः प्रकाशमान जो जो ज्ञानज्योति है, जो इसका सहज स्वरूप है, अपने ही सत्त्वके कारण अपने आप है, उसके अनुभवके लिए मेरा जीवन है, अन्य कार्यके लिए मेरा जीवन नही है, यह निर्णय जिसका पक्का है वह धर्ममार्गमे चल सकता है। जिसका यह निर्णय नहीं है वह बाह्य पदार्थोंके लिए अटकेगा, भटकेगा और उसका अपने देखनेका जो धर्म है वह सब लौकिक सम्पदाके माफिक है, उसमें वास्तविकता नही है। वास्तविकता तब ही आयगी जब हम सत्य निर्णय करके अपने सहज स्वरूपका अनुभव पा लेगे।

(३१) **अनित्यसे उपयोग हटाकर शाश्वत स्व नित्यमें उपयोग लानेका कर्तव्य**— जगतके ये सब पदार्थ विनाशीक है, नष्ट होते है, मुझसे भिन्न है, सारहीन है, मेरे कामके रं... रंच भी नही है, यह निर्णय बनायें और जो मेरा हित है उस निज स्वरूपमे आदर करें जिसको आज पोजीशन कहते है, इज्जत कहते है और जिसकी लोकमे इज्जत नही है उसे तुच्छ समझते है और अपने आपके बारेमे महत्ताका अनुभव करते है। मेरेमे ऐसी कला है मैं इस तरहसे लोकमे अपनी पोजीशन रखता हू, इज्जत बनाता हू, जो औरसे न बने वह काम करता हूं, इस ओर ही जिसकी बुद्धि है और अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी सुध नही है तो भले ही वह अपनेको चतुर मानता है लेकिन यह रंच भी चतुराई नही है। इन बाहरी चक्रों के विकल्पमे इस जीवका कभी उद्धार नही हो सकता। प्रयास करना चाहिए अपने आपके अनुभवका। पूजा करें तो इसी उद्देश्यसे कि परमात्माके गुणविकास उसकी दृष्टिमे आयें, और वह गुणविकास जब ज्ञानमे आयगा तो वह ज्ञान भी तो वहाँ ही है। जैसा प्रभुका विकास है उस ही स्वरूपमें तो है। यदि विकास ज्ञानमे आये तो उसके ही ज्ञानस्वरूपका स्पर्श होगा वह आत्मानुभवके किए ही पूजा है, स्वाध्याय करें, जो भी पढ़ें उसका अर्थ इस ही प्रका... चलेगा ज्ञानका कि जिससे वह अपने स्वरूपकी ओर पहुचे। व्रत, तप आदिक जो भी आचरण करे वह इस ही विराग बुद्धिसे करेगा कि उसकी दृष्टि सहज अपनी शुद्ध ज्ञानज्योतिपर आये जैसे प्रकाश शुद्ध होता है, प्रकाशमे रंग नही रहता और है वह प्रकाश। भले ही कोई प्रकाश हरा है, कोई नीला है, कोई लाल है तो प्रकाशमे स्वय ये कोई रग नही होते। उसका जो स्वरूप है वह स्वच्छता मात्र है, पर उसपर जिस रंगका कागज लगा, काँच लगा, रग लगा बस उस रंगका प्रकाश बन जाता है। तो शुद्ध प्रकाश किसे कहेंगे ? जिसमे कोई रंग नहीं है, मात्र स्वच्छता है, ऐसे ही शुद्ध ज्ञान किसे कहेंगे ? जिसमे विकल्प नही, इष्ट अनिष्ट भाव

नहीं, वि तरग परिवर्तन नही, केवल विशुद्ध जाननमात्र है, वह है अपनी सहज कला, जहाँ सहज कला प्राप्त हो वहाँ आकुलता ठहर नही सकती। पर कर्मविपाकका जो मालि- है, उसकी छाया, उसके ज्ञानपर पडती है। आवरण बनता है और मैं उस कर्मकी छाया को अपने रूप मान लेता हू और इस तरह नटकी भांति विचित्र चेष्टायें करता रहता हू।

(३२) भेदविज्ञान द्वारा अन्यसे भिन्न अपनेको निरखकर आत्मसर्वस्वके उपादानका कर्तव्य—भेदविज्ञानसे ही धर्मका प्रारम्भ चलेगा। भेदविज्ञान कहाँ करना ? इस ज्ञानप्रकाश और कर्मविपाकका मिलना यह यहाँ भेदविज्ञान करना है। यहाँ भेदविज्ञान होने पर जो निज स्वच्छ स्वरूपका भान होगा उससे कल्याण जगेगा। बाहरी बातोके विचारसे यह मुक्ति मार्ग न मिलेगा। अन्तर्दृष्टि करके अपने आपको माने कि जो केवल प्रतिभास मात्र है, जानन मात्र है, जिसमे निज परकी कल्पना नही है, अच्छे बुरेका विचार नही है, ऐसा केवल जाननहार वह तो है मेरे कुलकी कला और उसके अतिरिक्त जितने भी विचार तरग इष्ट अनिष्ट बुद्धि कल्पना जाल है वह सब कर्मकी छाया है। मै इसमे क्यो बँधूं ? यो अपने ही विकारमे उपेक्षा करें, अपने आपको स्वच्छ ज्ञानमात्र निज स्वरूपकी आराधनामे लगायें, यह कार्य यदि इस जीवनमे बन सका तब तो बडप्पन है नही तो जैसे जो जितना ऊँचे पर्वतपर चढेगा वह वहाँसे गिरेगा तो उतना ही अधिक चोट पायगा। ऐसे ही लोकमे कोई कितना ही ऊँचे चढ गया, पर उसका गिरना निश्चित है। जो जितना ऊँचेसे गिरेगा वह उतना ही अधिक दुःखी होगा, इसलिए इन बाह्य पदार्थोमे जो सहज हो तो हो। मै तो अपने सहज ज्ञानस्वरूपकी धुन के लिए ही जीवन समझता हू। चाहे कुछ कर सकू, कम कर सकू, कितना ही कर सकूं, पर लक्ष्य एक ही है। मेरा जीवन मेरे ज्ञातादृष्टा रहनेरूप एक स्वानुभूतिके लिए ही है, अन्य कार्यके लिए मेरा जीवन नही है। ऐसा निर्णय करने वाले पुरुष इन अमूल्य जीवनके क्षणोसे लाभ लेंगे। अन्यथा अज्ञानी जीव दूसरोकी बात तो देखते रहेगे कि यह मरा, इसका नाश हुआ, पर मैं मरूँगा, मेरा विनाश होगा, ये सब कुछ न रहेगे, इस ओर ध्यान नही देता, और जो मिला उस ही मे रति करके अपने जीवनभर कष्ट पाता है और आगे जन्म मरणकी परिपाटी चलती है।

सुख प्राप्तु बुद्धिर्यदि गतमल मुक्तिवसतौ
हित सेवध्व भो जिनपतिमत पूतचरित।
भजध्व मा तृष्णा कतिपयदिनस्थायिनि धने
यतो नाप सतः कमपि मृतमन्वेति विभवः ॥३३९॥

(३३) शाश्वत आत्मीय आनंदके लाभके लिये धर्मका शरण ग्रहण करनेका कर्तव्य

हे आत्महित चाहने वाले पुरुषो, यदि तुम बाधारहित नित्य आत्मीय सुख चाहते हो, मोक्ष-सुख चाहते हो तो सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदेशे गए परम हितकारी धर्मका आश्रय करो। इस ससारमे सर्व परिस्थितियोमे कष्ट ही कष्ट है। और उन कष्टोका आधार शरीरका लगाव है। जीव अपनी-अपनी सत्ता रख रहे है, उन अनन्त पुद्गलोका पुञ्ज है, पर कषाय चिकनाईके कारण ऐसा दोनोका बन्धन बन गया है कि इस शरीरके सम्बंधसे यह जीव दुःखी हो रहा है। भला हो कि शरीरका सम्बध हट जाय और वह आत्मा जैसा अपने अस्तित्वसे स्वतः सिद्ध है वैसा ही रह जाय, इस ही स्थितिमे मोक्ष कहलाता है। आत्मीय सुख मिलता है। केवल आत्माके आलम्बनसे आत्मामे ही मग्न होकर जो आनन्द मिलता है वह शाश्वत मिलता है और उसमे कोई बाधा देने वाला नही होता। बाधा तो पराधीन सुखमे आया करती है, जिन जिन वस्तुवोके आधीन सुख है उनका वियोग हो जाय, बाधा आ गई अथवा कोई प्रतिकूल बात आ जाय, मगर आत्माके आलम्बनसे जो आनन्द उत्पन्न होता है उसमे बाधा किस प्रकार आ सकती है? सो ऐसा मोक्षसुख निराबाध है। शाश्वत है। यदि मोक्षसुख चाहिये तो प्रभुने जो धर्मोपदेश किया उसका आश्रय करना चाहिए। प्रभु का उपदेश यही है कि हमारा धर्म, हमारा शाश्वत स्वरूप जो अपने सत्त्वसे अपने आप है वह केवलमे है, सो यहाँ केवल अपने आपके आत्माको निहारो, यह ही धर्मका आश्रय कहलाता है और इसका फल है मोक्षका सुख मिलना। अब हे कल्याणार्थी पुरुषो थोडे दिनो तक रहने वाले इस धन आदिक वैभवमे तृष्णा मत करो। जो चीज छूट जायगी उससे मोह पहलेसे ही छोड दें तो वह आत्मीयनिधि प्राप्त होने लगेगी और यदि इन बाह्य वस्तुवोमे तृष्णा कर रहे तो सक्लेश किया सो तो है ही और आगामी कालमे कष्ट ही मिलेगा। अतः पाये हुए इन समागमोमे मोह न करे। अधिक लालचसे उस धन सम्पत्तिके पैदा करनेमे मत लगे रहे। पुण्योदयसे सहज जो आता है बस उसीमे ही व्यवस्था बनायी जा सकती है। जिसमे इतना साहस नही है कि जो स्वतः प्राप्त हो उस ही मे व्यवस्था बना सके वे धनसे तृष्णा कर करके कभी भी अपनी शान्तिकी व्यवस्था नही बन सकते, क्योकि सासारिक समुदाय किसीके भी साथ मरनेपर नही जाता और उनके बढनेकी कल्पनाकी कोई सीमा नहीं है, फिर बाह्य वस्तुवोका लगाव तजे और आत्मीय एकत्व स्वरूपमे अपना उपयोग लगायें।

न ससारे किंचित्स्थिरमिह निजं वास्ति सकले
विमुच्याच्यं रत्नत्रितयमनघ मुक्तिजनक।

है, वह यह मेरा है, यह मेरा है, ऐसे ममतापूर्ण मिथ्या अभिप्रायोके कारण निरन्तर बेचैन रहा करता है। इस तरह कोई हँस रहा है, कुछ रसीले भोजन करके मौज मान रहा है। अपने प्रिय माने हुए कुटुम्बी जनोको देखकर खुश हो रहा है तो वहाँ यह अपनी सुध भूला हुआ है और जो अपने ज्ञानानन्द स्वभावकी सुध नही रखे हुए है उनको आराम क्या, आनन्द क्या ? वे निरन्तर कष्टमे ही बने हुए है।

(३६) जगतकी असारता जानकर धर्मप्रीति करनेका कर्तव्य—हे विवेकीजन, अपनी बुद्धिको निर्मल करिये और जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत इस आत्मधर्मका आश्रय करके निर्मल परमार्थ तपश्चरणमे लगिये। परमार्थ तपश्चरण है अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय पाना और उस सहज स्वरूपमे मग्न ... कारण अन्तरग बहिरग परिग्रहोको त्याग देना और इस चैतन्यस्वरूप अतस्तत्त्वमे मग्न होना यह है परमार्थ तपश्चरण। ऐसा यह परमार्थ तपश्चरण निर्ग्रन्थ हुए बिना नही हो सकता। कारण यह है कि यह जीव ससारमे अनादिसे विषयवासनाओ भरी हुई नाना कुचेष्टायें करता चला आ रहा है। कदाचित् सहज आत्मस्वरूपका परिचय भी हो जाय तो उन वासनाओके कारण यह अपने ध्यानमे स्थिर नही रह सकता। उन वासनाओको मिटानेका उपाय जो कुछ पौरुष बन सकता है वह यही है कि विकारके आश्रयभूत पदार्थोका परिहार कर दें तो इसमे बहुत कुछ सहयोग यह मिलेगा कि जब त्याग कर दिया समस्त परिग्रहोका तो उसके विकल्प न सतायेंगे और निकट कालमे विकल्प मिट जायेंगे और यह विवेक अपने आत्मामे उपयुक्त हो जायगा। इस कारण परमार्थ तपश्चरण करने के लिए निर्ग्रन्थ व्रत धारण करके फिर समस्त व्यामोह छोडकर परमार्थ तपश्चरणमे लगना चाहिये।

तलिल्लोल तृष्णाप्रचयनिपुण सौख्यमखिल
तृषो वृद्धेस्तापो दहति स मनो वह्निवदल।
तत: खेदोऽत्यत भवति भविना चेतसि बुधा
निधायेद पूते जिनपतिमते सति निरता: ॥३४२॥

(३७) अनित्य वाञ्छाको छोड़कर नित्य स्वसे वात्सल्यका महत्त्व—ये सांसारिक सुख बादलमे चमकती हुई बिजलीके समान क्षण विनश्वर है। जैसे एक रस स्वादनेका सुख देखिये जितनी देर तक जिह्वाके अग्र भागपर वस्तुका सम्बन्ध है उतनी देर यह रसका स्वाद ले रहा है और कठसे नीचे चले जानेपर, घाटी नीचे हो जानेपर वह वस्तु माटी बन गई। अब उसका स्वाद रस सब खतम हो गया। तो रसनाइन्द्रियका सुख कितनी देरको मिला ? स्पर्शनइन्द्रियका सुख जिसमे प्रधानतया लोग काम सुख कहा करते है वह कितने सेकेण्डका

सुख है। बहुत आकुलता है। बादमे भी पछताता तो सभी मुख क्षणिक विनश्वर है। ऐसे ही घ्राण, चक्षु, कर्णइन्द्रिय और मनके सारे सुख बादलोंमें चमकती हुई बिजलीके समान अनित्य है, और ये सुख अनित्य हैं। मात्र इतना ही दोष नही है। अन्यथा यह तो दोष है ही पर यह तृष्णाकी वृद्धि करने वाला है? कोई पुरुष यह सोचे कि सांसारिक सुख अनित्य है, क्षण भरको होते है, मिट जाते है, तो भले ही मिट जायें पर हम निरन्तर सुख की धारा बनाये रहेगे और सुख मिटते जायेंगे। नये आते जायेंगे। इसकी कौन सी हानि हुई है। हम तो सुख साधनोको बनायेंगे और इन्ही साधनोमे रहेगे और विनाशीक हैं सुख तो रहने दो, हम उन नये नये सुखोको आगे पाते रहेगे। सो यह कल्पना भी बिल्कुल बेकार है, क्योकि जितने बाहरी सुख भोगे जा रहे है अथवा सुखके साधन लगा रखा है उतनी देर तृष्णाकी ही वृद्धि होती रहती है और जहा तृष्णा बढ रही है, तृष्णाका परिणाम चल रहा है वहाँ आनन्द कहाँ है। तृष्णा और सुख ये तो परस्पर विरोधी तत्त्व है, तो ये समस्त पदार्थ अनित्य है और तृष्णाकी वृद्धि करने वाले है। ये पदार्थ अनित्य है, तृष्णा बढती है, ये दो ही दोष हो इतना ही नही है क्योकि इतने पर भी कोई आसक्त पुरुष ऐसा सोच सकता है कि अनित्य है तो रहने दो। निरन्तर साधन बनाये रहेंगे। तृष्णा बढ़ती है तो बढने दो, साधन बढ़ानेका प्रयास करेंगे और साधन बढते देखेंगे तो उसका आनन्द लूटेगा, सो इतनी ही बात नही है। ये अनित्य है। तृष्णा बढती है, पर साथ ही इनके भोगनेसे भारी तृप्ति भी तो नही होती है। अपनी-अपनी अनुभूतिसे विचार करें, अब तक कितना सुख भोगा, कुछ सुख जुडा भी है क्या? आज तकका सुख जुडा हुआ रखा है क्या जिससे सतोष कर सकें कि मैंने इतना सुख भोग डाला और जो भोग डाला सो भोगने पर यह तो रीताका ही रीता है, भोगनेसे कभी तृप्ति नही होती। भोगका सम्बन्ध किया। कल्पनासे सुख जो माना गया वह क्षण व्यतीत हो गया। अब इसके बाद यह कषायवान तृष्णावान पुरुष तो रीताका ही रीता रह गया। इन भोगोके भोगनेसे कभी तृप्ति नही होती है। तृप्ति नही होती इतनी ही बात हो सो भी नही, किन्तु उन सुखोके प्राप्त करने की सदा ही चिन्ता बनी रहती है। इन सासारिक सुखोके लगावमे इस जीवने क्या आनन्द माग रखा है। ये विनाशीक है। तृष्णा बढ़ाते हैं। इन सुखोके भोगनेसे तृप्ति होती नही और सदा उनके प्राप्त करनेकी निरन्तर चिन्ता बनी रहती है। तो चिन्ता तो कष्टोका पुञ्ज है। चिन्ता और चिताको कवियोने समान बताया। अन्तर केवल बिन्दी होने न होने का है। ऐसी चिन्ताको चितासे भी भयकर बतलाया। सो इन सुखोमे इनके प्राप्त करनेकी चिन्ता रहती है, और तृष्णाकी वृद्धिसे मनको बेहद संताप रहता है। जहाँ मनका सताप है वहाँ आत्मामे शान्ति

का नाम निशान नही रहता। जहाँ शान्तिका नाम निशान नही है वहाँ अत्यन्त दुःख भोगना पडता हे। तो ये सारे कष्ट सांसारिक सुखकी लालसावोसे ही तो उत्पन्न हुए हैं, इस लिए हे आत्मदया चाहने वाले पुरुषो अपने विवेकको प्रकट करिये और सर्वज्ञ द्वारा कहे गए धर्ममे ही प्रीति करिये। इन सांसारिक सुखोसे मुख मोडिये और धर्म है आत्माका स्वरूप। तो आत्मस्वरूपका परिचय करें, उसका ही ज्ञान करें और ऐसा ही ज्ञाता दृष्टा रहे। इस पवित्र आन्तरिक पौरुषमे ही आत्माका कल्याण है।

—•—
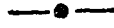
१४ वां परिच्छेद-दैवनिरूपण

यत्वाति हति जनयति रजस्तम सत्वगुणयुत विश्वं।
तद्धरिशंकरविधि व द्विजयतु जगत्यां सदा कर्म ॥३४३॥

(३८) **जन्म जीवन मरण करनेमे दैवका विजयवाद**—जैसे यहाँ जीवोका जन्म होता है फिर जीवन बना रहता है, फिर मरण हो जाता है, तो तीन बातें हुई ना ? जन्म हुआ, रक्षा रही मायने जीवन रहा और मरण हो गया। तो जैसे ससारी जीवोमे ये तीन बातें है ऐसे ही सब पदार्थोमे तीन बातें है— उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। जिसे कहा रज, तम और सत्व। अन्य दर्शनोमे कहा जाता है। पैदा होनेको कहते है रज, नष्ट होनेको कहते हैं तम और बने रहनेको कहते हैं सत्व। तो तीन गुणोसे युक्त विश्व है। ये कर्म रक्षा करते हैं, मरते है, उत्पन्न होते हैं। यहाँ खासकर बात लेना है जीवोके उत्पन्न होनेकी, जिन्दा रहनेकी और मरण करनेकी। सो मानो इन तीन बातसे ये कर्म हरि, शंकर और ब्रह्माकी तरह हो रहे हैं। जैसे यह प्रसिद्धि है कि विष्णु तो रक्षा करता है। शकर सहार करता है और ब्रह्मा पैदा करता है, तो मानो उनकी तरह जैसी कि लोकमे प्रसिद्धि है, ये कर्म प्राणियोको पैदा करते हैं, उनका जीवन रखते है और उनका मरण करते हैं और इसमे भी मुख्य बात, आयुके उदयसे जीवन है। जन्म है और आयुका निरन्तर उदय बना रहना सो जीवन है और आयुका विनाश हो गया सो मरण है। यह आयुकर्म जीवने पूर्वभवमे जैसा बाँधा है। वह बंध चुका है। अब उसमे बढ़वारी तो कभी हो नही सकती। किसी किसी

जीवकी कोई ऐसी घटना आ जाय तो पहले मर सकता है। तो पहले मरणका नाम है अकाल मौत। तब मरना होता है अकालमें जैसे मानो किसी ने १०० वर्ष तकके निषेक बांधे थे कि एक एक समयमें एक-एक निषेक खिरेंगे १०० वर्ष तक जिन्दा रहेगा। अब ४० वर्षकी उम्रमें ही मानो किसी शत्रुने आकर तलवार मारा तो बाकी बचे जो ६० वर्षके निषेक हैं वे अन्तर्मुहूर्तमें खिर जायेंगे। इसे मरण कहते हैं। जैसे कोई पेट्रोल भरकर मोटर कार ले जाय, मानो ६० मील चलेगी एक दो गैलन पेट्रोल भर देने से, पर कोई १०—५ मील ही चल पायी थी कि रास्तेमें किसी पेड या ट्रकका टक्कर लग जानेसे उसकी पेट्रोल टंकी फट गई तो सारा पेट्रोल बिखर गया। अब वह कार आगे नहीं जा सकती, ऐसे ही जीवके सब निषेक मान लो बीचमें ही किसी कारणसे खिर गए तो उसीको अकाल मरण कहते हैं। वैसे अकाल मौत भी प्रभुके ज्ञानमें ज्ञात हो गई कि इस समयके तो निषेक बांधेगा और इस समय ये सब खिर जायेंगे। तो जन्म लेना, जीवन बना रहना, मरण करना यह सब कर्मके बलसे होता है, इसी प्रकार और भी कर्म हैं जो सुख देते हैं। दुःख देते हैं, कष्ट देते हैं। तो इस तरह ये कर्म सारे विश्वपर फैले हुए हैं।

भवितव्यता विधाता कालो नियतिः पुराकृत कर्म।
वेधा विधिःस्वभावो भाग्य दैवस्य नामानि ॥१४४॥

(३६) भवितव्यता व विधाता दैवके नामान्तर—यह दैवका निरूपण करने वाला परिच्छेद है। दैवके कितने ही नाम प्रसिद्ध हैं। भवितव्यता जो आगे होना है इसे कहते हैं होनहार और भाग्यका नाम लोगोंने होनहार भी रखा है, जो होनहार है सो होगा। होगा वह जैसा उदयमें आयगा, उसके अनुकूल संसारी जीवोंपर बीतेगी पर उस दैवको भवितव्यता के नामसे कहते है। कितने ही लोग उस दैवको विधाताके नामसे कहते हैं। जैसे प्रसिद्धि है कि विधाता ने इस दुनियाको रचा, तो ऐसी इस इतनी बडी दुनियाका रचने वाला कौन है? वैसे तो सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं, अपना-अपना ही सब परिणमन करते हैं, पर ये जो शक्लें बनी हैं, जो हमारी दृष्टिमें आ रही हैं इनका भी निर्माण हुआ है तो कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ। पहले तो यह ही देखिये कि जो कुछ यहाँ दिख रहा है यह सब जीवोंका शरीर है। दरी, पत्थर, चौकी, कागज आदिक। जैसे यह पत्थर है तो यह पहले पृथ्वी-कायिक जीवका शरीर था। पहले इसमें जीव भी था। खानमें था, खानसे निकला तो जीव रहित हो गया। अब वह पत्थर यहाँ फर्शमें लगाते हैं। चौकी, तखत जिनपर बैठकर लिख रहे हैं ये भी पहले वृक्ष थे, और वृक्षमें जीव था ही, अब यह जीवरहित हो गया। चौकी तखत आदिकके रूपमें हो गया। तो यहाँ जो कुछ दिख रहा है यह सब जीवोंका शरीर है,

अब यह मुर्दा शरीर है। स्थावर मुर्दा हो जाय तो वह मांसकी तरह नहीं है। सडता गलता नही है, समय पाकर कमजोर तो हो जाता है मगर जैसे मांस पडा हो तो दिन प्रति दिन सडे गले, तेज बदबू करे, ऐसा स्थावर जीवोके शरीरमे नही होता। तो यहाँ जो कुछ दिख रहा है ये सब जीव शरीर है, ये बने कैसे कि उन जीवोमे उस प्रकारके आयुकर्मका उदय था। वह शरीरका मूल बना और उसकी यह शक्ल बनी। तो इस सब विश्वकी रचनाका निमित्त कारण कर्मका उदय हुआ। इसीलिए लोग कर्मका नाम विधाता रखते हैं।

(४०) काल नियति व पुराकृत दैवके नामान्तर—कोई कर्मका नाम काल रखते है। काल आ गया, समय आ गया। जैसे कहते है कि उस जीवको सम्पदा मिल गई। पहले वह बहुत गरीब था, अब काल आ गया, समय आ गया, सम्पन्न हो गया। कोई सज्जन पुरुष किसी विपत्तिमे आ गया, काल आ गया मायने साता असाताका ऐसा उदय आ गया, यो ही अन्य कर्मोका ऐसा उदय है। तो कर्मका ही नाम लोगोने काल रखा है। इसीको कुछ लोग विपत्ति कहते है। निश्चित है। क्या निश्चित हैं कि भाई जैसा कर्मोदय होगा, जैसी जिसकी योग्यता है वैसा काम बनेगा। तो उस कर्मका नाम अनेक लोगोने नियति रख लिया। वह जो जो होना है सो होगा। जो नियति है सो होगा। जैसा उदय होगा वैसा होगा। तो ऐसी दृष्टिसे कर्मका नाम एक नियति पड गया। कर्मको लोग पुराकृत शब्दसे कहते है। पुराकृत जो पहले किया है। क्या भोग रहा है? जो किया सो भोग रहा है। पहले जीवने भाव ही तो किया। भावके सिवाय जीव और कुछ भी नही कर पाता। इस जीवने तो भाव किया और उस भावके होने से जीवके साथ कर्म बधे और जो कर्म बधे उनका उदय आनेसे जीवको उस भवमे गमन करना पडा। वहाँ सुख दुःख सहना पडा। तो इसी कारण लोग पुराकृत शब्दसे कहते है।

(४१) कर्म, वेधा, विधि दैवके नामान्तर—कितने ही लोग इस दैवको कर्म नामसे कहते है। कर्मका अर्थ है—क्रियन्ते इति कर्म. जो किया जाय सो कर्म। अब जीवके द्वारा किया जाता पुण्यभाव, पापभाव। तो वास्तवमे कर्म नाम तो जीवके अच्छे बुरे परिणामका है। अब अच्छा बुरा परिणाम जब हुआ तो उसी समय साता असाता पुण्य पाप कर्मका बन्धन हुआ। तो इन पौद्गलो बधनोका नाम कर्म रखा गया है। सो जैसा भाव है उस प्रकारमे कर्म है। तो यो दैव नाम कर्मका है। कर्मके बारेमे बहुतसे लोग अभी तक भ्रममे है कि कर्म कोई चीज होती क्या? कोई कहता है कि लकीर है, कोई कुछ कहता है। जैन शासन बतलाता है कि जैसे यह शरीर है तो है तो मोटा पुद्गल, यह दिखनेमे आता। छूने मे आता। पर कर्म हैं केवल सूक्ष्म पुद्गल। जैसे ही जीवके कषायभाव जगता है तो उस

कषायभावका निमित्त पाकर कार्माण पुद्गल कर्मरूप बन जाता है और वे जीवके साथ रहे आते है और जब जैसा उनका उदय आता है वैसे जीवको सुख दु ख आदिक फल मिलते हैं। तो इस दैवका नाम कर्म भी है। कितने ही लोग दैवका नाम वेधा (ब्रह्मा) मानते है। सो जो बात विधाता शब्दमे कहा था वही अर्थ बेधाका है। कितने ही लोग विधि नाम रखते है। विधि हुई, बात बन गई, वह क्या बात है ? कर्म ही तो है।

(४२) स्वभाव व भाग्य दैवके नामान्तर—कितने ही लोग दैवका स्वभाव नाम धरते, ऐसा ही स्वभाव है मनुष्योंको ऐसा खायें, पियें, रहे, दुःख सुख भोगें। पशुवोका अन्य प्रकार स्वभाव है। तो वह स्वभाव नाम है वास्तवमे प्रकृतिका। प्रकृतिको अनेक लोग दैव कहते है, सो यह प्रकृति है ही। जैसे कोई लोग हिमालय, काश्मीर आदिमे पहुचकर वहांके झील, पहाड, पुष्प आदिके दृश्योको देखते है तो कहने लगते कि वाह! कितना प्राकृतिक सौन्दर्य है। तो उस प्राकृतिकके मायने क्या ? अनेक लोग कुदरत कहते है, तो वह कुदरत क्या चीज होती है, इसका उत्तर जैन शासनने दिया है। प्रकृति मायने कर्म। जैसे फूल रग बिरगे हैं, सुहावने हैं, कई तरहके है तो उनका वैसा कर्मका उदय है सो वैसी उनकी रचना हुई है। जैसे यहां मनुष्योको जिनके असाताका, पापका उदय है उनके शरीरके अग सुहावने नही होते। जैसे अंग बताये गए उससे कुछ बिढगे होते है। और जिन पुरुषोके पुण्योदय है उनके अंग सुन्दर और सुडौल होते है। इसी बात पर सामुद्रिक शास्त्र बने। हाथ देखकर बताया है कि ऐसा भविष्य है। तो हाथमे और क्या बात हुई ? सकल सूरतकी सुन्दरता देखकर शुभपना देखकर उसकी बात करते हैं पुण्योदयकी। अशुभपना देखकर पापके कार्य जैसी बात करते हैं। तो यह प्रकृति कहलाती है। अनेक लोग इसका नाम भाग्य रखते है। तो वह भाग्य क्या चीज है ? यही दैव, यही कर्म।

(४३) दैव और पुरुषार्थके विषयमे—कितने ही लोग एक ऐसा प्रश्न रखते है कि भाग्य बडा है कि पुरुषार्थ ? इन दोनोमे विशेष बलवान क्या है ? तो उसका उत्तर यह है कि इस ससारके कामके लिए तो भाग्य बडा है और मोक्षके कामके लिए पुरुषार्थ बडा है। कितने ही लोग दिन भर बडा कठोर परिश्रम करते। लकडहारे, घसियारे, मजदूर आदि और वे कुछ भी खास धन नही कमा पाते और कितने ही लोग कुछ भी काम नही करते, गद्दी तक्को पर पडे रहा करते हैं नौकर चाकर सब काम करते है और हजारो लाखोका धन घर बैठे मिलता रहता है। तो यह अन्तर किस बातका है ? यह भाग्यका अन्तर है। जिसने जैसे पहले शुभ परिणाम किया था उसके अनुसार ऐसे ही पुण्य कर्मका बध हुआ कि उसको अब इस भवमे सुगमता बहुत मिल गई है। अच्छा तो यह तो ससारके कामकी बात

है। जो रोजिगारमे या व्यापारमे प्रयत्न करते हो हैं तो वह प्रयत्न मुख्य नही है। भाग्योदय यदि ठीक है, साताका उदय आता है, पुण्यका उदय आनेको है तो वह प्रयत्न भी उसके अनुकूल बन जायगा, काम कर जायगा, और भाग्य पतिकूल है। असाताका तीव्र उदय चल रहा है तो उसका प्रयत्न भी सफल नही हो पाता। तो ससारके कामोमे दैवकी (भाग्यकी) प्रधानता है और मोक्षके कामोमे पुरुषार्थकी प्रधानता है। वहाँ आत्मपौरुष चाहिए। आत्मश्रद्धान, आत्मध्यान आदि चाहिए। अब थोडा बहुत जो संसारमे भाग्य और पुरुषार्थका जोडा देखा जाता है कि भाग्य भी होता, पुरुषार्थ भी होता, तो वहाँ यह समझना कि जिसका भाग्य ससारके कामोमे सफल हो जाता तो उसका भाग्य है उस तरहका ठीक तब सफल होता। एक बार ऐसी ही घटना घटी कि दो पुरुष इसी बात पर झगडा करने लगे। एक कहे कि भाग्य बडा है और एक कहे कि पुरुषार्थ बडा है और उनका न्याय राजाके पास गया। तो राजाने उन दोनोकी बात सुनी और उनकी परीक्षाके लिए क्या किया कि एक बडे कमरेमे दोनोको बदकर दिया। और उसी कमरेमे कही बहुत ऊपर छिपाकर दो बडे बडे लड्डू करीब आधा आधासेरके रख दिया उनको ऐसा छिपा दिया था कि वे आसानीसे दिख नही सकते थे। अब दोनो हो दो तीन दिन कमरेमे बद रहे। कमरेमे कुछ अधेरा सा भी था। कही कुछ सूझता न था। अब वे क्या करें? भूखसे बड़े हैरान हो गए। आखिर भाग्यवादो तो चुपचाप बैठा रहा और पुरुषार्थवादी अपने पुरुषार्थमे लगा। इधर उधर टटोलना शुरू कर दिया। सौभाग्यसे उसके हाथ वे दोनो लड्डू लग गये। वह बडा खुश हुआ और विचारने लगा देखो मै ठीक ही कह रहा था कि पुरुषार्थकी प्रधानता है क्योकि मैंने पुरुषार्थ किया तभी तो ये दो लड्डू मिले। अगर मैं भी इस भाग्यवादी की तरह चुपचाप बैठा रहता तो कहाँसे ये लड्डू मिलते? सोचा कि अब तो विजय हमारी निश्चित ही है। कल न्याय होते समय जब राजासे यह बात बतावेंगे तो न्यायमे निश्चय ही हमारो विजय होगी। यह सोचकर उसने एक लड्डू खुद खाया और दूसरा लड्डू उस दूसरे व्यक्तिको भी खिलाया, सोचा कि आखिर यह भी क्यो भूखसे मरे। आखिर विजय तो हमारी निश्चित ही है ऐसा विचार कर एक लड्डू उस दूसरे व्यक्तिको भी खिलाया। दूसरे दिन जब न्याय होने लगा तो पुरुषार्थवादीने अपनी घटना सुनाई और कहा कि देखो मैं कहता ही था कि जगतमे पुरुषार्थकी प्रधानता है भाग्यकी नही। तो वह भाग्यवादी बोला—देखो तुमने तो पुरुषार्थ करके लड्डू खाया और मेरा भाग्य अच्छा था सो बिना पुरुषार्थ किये ही मुझे लड्डू खानेको मिला। आखिर न्याय दिया गया कि जगतके कामोमे दैव की (भाग्यकी) प्रधानता है। पुरुषार्थवादीको लड्डू तभी मिला जब कि उसका भाग्य था। तो बात यहाँ यह कह

रहे थे कि इस दैवके जितने भी नाम दिए है उनमे कोई अन्तर नही है।

यत्सौख्यदु:खजनक प्राणभृता सचित पुरा कर्म।
स्मरति पुनरिदानी तद्दैव मुनिभिराख्यातं ।।३४५।।

(४४) दैवका स्वरूप—इस श्लोकमे दैवका स्वरूप बताया है। भाग्य किसे कहते हैं? इस परिभ्रमण रूप समारमे डूब रहे, घूम रहे जीवोने जैसे अपने पूर्वजन्ममे या पूर्व समयमे अच्छे या बुरे कर्म किया है, जिनके निमित्तसे उस प्रकारके पुण्य पापकर्म बधे है और जिनके उदयमे सुख या दु:ख उत्पन्न होता है तो ऐसे सुख और दु:ख उत्पन्न करने वाले पूर्व समयमे जो जीवने कर्म किया है उनको ही लोग वर्तमान कालमे दैव कहते है। जो आज सुख या दु ख हो रहा है उसका निमित्त कारण पुण्य पापका उदय है। मगर उस पुण्य पाप का उदय आया कैसे? पहले बांधा था तब उदयमे आये और वे पहले बंधे कैसे थे? इस जीवने अच्छे और बुरे परिणाम किया तब वे कर्म बधे तो वास्तवमे कर्म क्या कहलाये? वे भले बुरे भावके कर्म। ये ही वस्तुत: कर्म हैं। कर्म शब्दकी व्युत्पत्तिमे सीधा अर्थ जीवके शुभ अशुभ भावसे लेना है। जो जीवने किया सो कर्म है। अच्छा किया तो अच्छे कर्म, बुरा किया तो बुरे कर्म और जैसा किया उसीका ही यहाँ फल मिलता है। तो सुखी दु खी होना अपने ही आधीन रहा। यद्यपि तत्काल भी पुण्य पापके उदय निमित्त है सो पराधीन दशा हुई, लेकिन वे पुण्य पापकर्म जो उदयमे आये वे बँधे थे हमारे भावोके निमित्तसे ही। तो अर्थ यह हुआ कि जैसा हम करते है। वैसा हम फल पाते है। तो हमारे किएके अनुसार हमको फल मिला करते है, तो जो सुख दु.खको उत्पन्न करने वाले कर्म इन प्राणियोने पहले सचित किया है उस ही को मुनिजन दैव कहते है: पूर्वमे किए गए कर्मको ही दैव नामसे कहा जाता है। जिसका जैसा कर्म है उसका वैसा [illegible] ता है। आजके प्राणी जैसे दु:ख पा रहे है उसमे अपराध उनके ही किए गए भावका है। तो कर्म कर लेना तो आसान है—खोटे भाव बनें, क्रोधके बनें, घमडके बनें, मायाचारके बनें। लोभके बने, मोहके बनें, विषय-सुखोके बनें, कैसे ही भाव करलें, आज तो यह बडा सरल लग रहा है, क्योकि ऐसी योग्यता मिली है, ऐसा पुण्यबध मिला है, मगर जो जैसा करता है उसका फल उसे आगे भोगना पडता है। इससे यह सावधानी रखना चाहिये कि हमारे भाव खोटे न चले। चाहे वर्तमान मे हम दु:खी हो लें, कुछ कष्ट सह लें, मगर अन्याय न करें, किसीको धोखा न दें। कोई पापके कार्य न करें। यदि ऐसा करते हैं तो उससे विकट पाप कर्मोंका बध होगा जिससे आगामी कालमे उसका बडा खोटा फल भोगना पड़ेगा। वह फिर हटाया जाना बडा कठिन होगा। इससे जब हममे सामर्थ्य है कि आज चाहे तो अच्छा भी कर सकते, बुरा भी कर

सकते तो वहाँ यह विवेक लाना चाहिये कि मुझसे बुरे कर्म न हों और मुझसे जो भी काम हों वे भले ही काम हों। भले काम क्या है ? जो लोग इस संसारसे कामोंसे छूट गए, संसार शरीर भोगोंसे विरक्त है ऐसे जीवोंकी संगति करना, उनका स्मरण करना यह सबसे ऊंचा काम है। फिर सब जीवोंको अपने स्वरूपके समान समझना और अपनेमे सामर्थ्य है तो उनके दुःखको दूर करना ये सब भले काम है। तो भले कामोंमे रहे और बुरे कामोंसे बचें यही हमारे जीवनमे एक विशिष्ट कर्तव्य है।

दुःखं सुखं च लभ्येद् यद्येन यतो यदा तथा यत्र।
दैवनियोगान्नाप्यं तत्तेन ततस्तदा तथा तत्र ॥३४६॥

(४५) दैव नियोग—जिस जीवने जिस प्रकारसे जिस समय जहाँ पर जितना दुःख व सुख उठाया होगा अर्थात् भोगा होगा उतना ही इस जीवको उससे उसी समय वही पर उसी प्रकार उतना ही दुःख व सुख भाग्यके वशसे मिलेगा। इस छंदमे जीवके परिणामका फल बताया है कि जिस जीवने जैसा सुख दुःख उठाया है उसी प्रकार उसके प्रति भी बर्ताव होता है। जैसा संक्लेश विशुद्ध परिणाम जिस प्रकार जिस जीवने किया उसीके अनुसार उस को कर्मबंध होता है और उसीके अनुसार उदय आने पर उसको उसका फल प्राप्त होता है। तो यह एक ऐसी धारा है कि जैसे जो परिणाम करता है उस परिणामके अनुसार ही उसके बंध होता है, उसी प्रकारकी अवस्थायें भी प्राप्त होती है। इस कारण जीवका विधाता यह जीव ही स्वयं है। जैसा उसने शरीर पाया है, जैसी इसने स्थिति बाँधी है उसके अनुसार ही उसका परिणाम होगा और उस परिणामके अनुसार उसकी निजमे और पर समागममे व्यवस्था बनेगी। संसारमे जो जीवोंकी विचित्रता देखी जाती है, किसीको कैसा ही शरीर मिला, किसीको कैसी ही वेदनायें होती हैं, किसीको किसी प्रकारका सुख समागम प्राप्त होता है वह सब उनके पूर्वकृत परिणामका ही फल है। ऐसा जानकर अपने आपमे यह निर्णय करना चाहिये कि चाहे सांसारिक घटना किसी भी प्रकारकी घटती हो पर अपनेको ऐसे विशुद्ध परिणाममे रहना चाहिये कि जिससे तत्काल भी शान्तिका अनुभव हो और भविष्य भी भले प्रकारसे गुजरे।

यत्कर्म पुरा विहितं यातं जीवस्य पाकमिह किंचित्।
न तदन्यथा विधातुं कथमपि शक्रोऽपि शक्नोति ॥३४७॥

(४६) कर्मका दुर्निवार वेग—पूर्व समयमे जैसे भी कर्म भले हो या बुरे हो, यह जीव कर चुका है। उसके विपरीत यदि कोई इन्द्र भी चाहे कि कोई फेर फार कर सके तो वह भी किसी प्रकार फेर फार नही कर सकता। जब कभी सम्यग्ज्ञानका उदय हो और

उसके बलसे पूर्व किए हुए कर्मोमे भी फेर फार होवे तो भी उस ही जीवके परिणामके कारण हुआ है। उसे कोई दूसरा नही कर सकता। यह सम्यग्ज्ञान जिसे कोई विशेष आत्म-परिणाम उत्पन्न नही हुआ तो जैसे कर्म किया था वैसा ही फल इस जीवको भोगना पडता है। लोकमे भी यह बात प्रसिद्ध है कि जो जैसा बोता है वैसा ही फल पाता है। जैसे जो भाव करता है उसके अनुसार ही वह फल भोगता है। आजके समयमे तो यह विषमता देखी जाती है कि कोई काम तो कर रहा है खोटा कषायीपनेका जैसा और उसके सम्पदा, महल, वैभव, चला आदिक ये सब कुछ बढ रहे हैं, तो जो कुछ काल्पनिक सुख साधन मिल रहे हैं वह तो पूर्वकृत पुण्यका फल है, और वर्तमानमें जो खोटे भाव कर रहा है उनका फल वह आगे भोगेगा, क्योकि वर्तमानमे जो कर्मबध हो रहा है सो पूर्वकृत कर्मके उदयके अनुसार नही हो रहा किन्तु वर्तमानमे होने वाले परिणामोके अनुसार हो रहा है। उसके वर्तमान परिणाम खोटे है ही इस कारण खोटा कर्मबध हो रहा और उसके फलमे आगे भी खोटा ही फल प्राप्त होगा। ऐसा जानकर हे विवेकी जनो अपने इन भावोमे परिणामोकी उज्ज्वलता रखना चाहिये ताकि अपना भविष्य उज्ज्वल रहे।

धाता जनयति तावल्ललाभभूतं नर त्रिलोकस्य।
यदि पुनरपि गतबुद्धिर्नाशयति किमस्य तत्कृत्य ॥३४८॥

(४७) **दैव द्वारा उत्थान व पतन**—यदि यह भाग्य इस पुरुषको तीनो लोकमे शिरोमणि बनाकर अर्थात् दुनियावी दृष्टिमे ऊचा बनाकर फिर निर्बुद्धि बनाकर इसको नष्ट कर देता है अर्थात् सबसे अधम बना देता है तो इसमे कोई आश्चर्यकी बात नही है, क्योकि भाग्यके अनुभाग विचित्र होते है। कभी कैसे ही कर्मका उदय होना है, कभी खोटे कर्मका उदय होता है। जब यह जीव इस दुनियावी दृष्टिमे शिरोमणि था तब उसका उस प्रकारके साता और पुण्यका उदय था, अब वह उदय अपना समय पाकर खिर गया। अब उदय आया है पापका इसलिए तत्काल ऊँचेसे गिरकर अधम स्थिति इस जीवकी बन जाया करती हैं। जैसे बताया गया है कि ऊँचासे ऊँचा राजा भी मरकर क्षणभरमे कुत्ता, बिल्ली आदिक पशु बन जाता है और कुत्ता आदिक पशु भी मरण करके क्षणभरमे देवगतिको प्राप्त कर लेता है। तो यह सब अपने किए हुए कर्मोका ही तो फल है। आज कोई राजा है मगर राज्य वैभवके मदमे आकर अन्याय कर रहा है, अत्याचार करता है, जैसा चाहे जिस चाहे स्त्रीको छेडता है, जिस चाहेकी हिसा करता है, जिस चाहेका परिग्रह लूट लेता है इसके फल मे पापकर्मका बंध होता है, जिसके फलमे वह कुत्ता, बिल्ली जैसी निकृष्ट पर्यायोमे पहुचता है। कोई जीव कुत्ताकी पर्यायमे है, उसके भी मन है, यदि विवेक जग जाय और अपनी

करनीका पछतावा करे, शुद्ध भावना रखे तो वह मरकर देव होकर उस देव भवके ऐश्वर्यको प्राप्त कर लेता है। तो यह दैव किसी पुरुषको लोक शिरोमणि बनाकर फिर निर्बुद्धि बनाकर अधम बना दे तो इसमे कोई आश्चर्य नही है।

निहत यस्य मयूखैर्न तमः सतिष्ठते दिगतेऽपि ।
उपयाति सोऽपि नापदि किं त विधि' स्पृशति ।।३४६।।

(४८) दैव द्वारा उत्थान पतनका लौकिक वैचित्र्य—लोकमे देखा जाता है कि जैसे सूर्यकी हजारो किरणें है, और वह इन किरणो द्वारा दुनियाको प्रकाश देता है, दुनियाका उपकार करता है, बीमारी नष्ट करता है, योग्य मौसम बनाता है ऐसा वह सूर्य जो अंधकार को नष्ट करके उदयाचलपर विराजमान होता है, उच्च बनता है वही सूर्य जिस समय पश्चिम समुद्रमे जाकर डूब जाता है तो क्या उसके साथ दैव नही रहता ? देखो दैवका कैसा परिवर्तन कि जो कभी उदित हुआ और दुनियाकी दृष्टिमे आदर्श माना गया वही दिनके अन्तमे डूब करके अस्तको प्राप्त होता है, एक यह लोकनीतिके अनुसार बात कहा है। परमार्थत तो वह सूर्य विमान है, सुमेरु पर्वतके चक्कर लगाता है, कभी यह लोगोको दिखता है कभी नही दिखता। जब लोगोको दिखता है तो लोग उसे उदय कहते है। जब लोगोकी दृष्टिसे ओझल हो जाता है तो लोग उसे अस्त कहते है। इसमे सूर्यका कुछ बिगाड नही है, वह तो ज्योका त्यो है। वहाँ जो बिगाड़ है वह उसकी आयु है और वह अपनी आयु समाप्त करके उस देव पर्यायको छोड देता है। तो वास्तविक अस्त तो उसकी आयुके क्षय होनेपर कहा जाता है, पर लोकरीतिके अनुसार भी यहाँ विचारा गया है कि जो सूर्य उदयको प्राप्त होता है वही शामको ढल जाता है। ऐसी ही कर्मकी दशा सब जीवोपर विचित्र छायी रहती है। जब साताका पुण्यका उदय होता है तब यह जीव नाना सुख साधनोको प्राप्त करता है और जब उसका पुण्य अस्तको प्राप्त हो जाता तो यह ही जीव खोटी दशाको प्राप्त करता है। तो यह सब दैवके अनुभागका फल है। इस छन्दमे यह बताया है कि जब सूर्य जैसा प्रतापी माने गएका इतना पतन देखा गया है तो फिर अन्य पुरुषो की तो बात ही क्या है ? दुनियामे जीवो को जो कुछ सुख अथवा दुःख होता है वह सब दैवके अनुसार ही होता है।

विपरीते सति धातरि साधनामफल प्रजायते पुंसो ।
दशशतकरोऽपि भानुर्निपतति गगनादनवलब. ।।३५।।

(४९) दैवके विपरीत होनेपर साधनकी निष्फलता—यदि जीवका, मनुष्यका भाग्य खोटा है, मनुष्यकी इच्छाके प्रतिकूल कर्मका उदय है तो यह हजारो लाखो प्रयत्न कर डाले तो भी अपने चाहे हुए कार्यमे सफलता प्राप्त नही कर सकता। लोकमे जो भी दशायें देखी

जाती वे सब कर्मोदयके अनुसार हुआ करती हैं, इसी कारण जो कुछ यहाँ दृश्य है वह सब नैमित्तिक कहलाता है। औपाधिक कहलाता है और नैमित्तिक औपाधिक है इसी कारण इसे माया भी कहा करते है। तो यदि किसी पुरुषका भाग्य विपरीत है तो वह अपने इष्टकी सिद्धिमे लाखो करोडो प्रयत्न कर डाले तो भी उसे सफलता प्राप्त नही होती। इस प्रकरणके लिए एक लौकिक दृष्टान्त दिया गया है कि जिस सूर्यके सैकडो किरणें हैं ऐसा सूर्य भी जिस समय उसकी अवस्था पूरी हो जाती है, प्रतिकूल भाग्य हो जाता है तो सहायरहितके समान वह आकाशसे गिर पडता है। सूर्य प्रतीन्द्र, चन्द्र इन्द्र आयु क्षयके होनेपर ये भी वहाँसे च्युत होते है, याने ये आकाशमे कुछ ऊपर चढे हुये है ये भी मर कर नीचे ही आकर पैदा हुआ करते हैं इसलिए वे आकाशसे गिर पडते है, ऐसा कहा गया है। ऐसे ही जिन मनुष्योंका भाग्य विपरीत हो गया, चाहे वे चक्री ही क्यो न हो, बड़ेसे बडे नरेन्द्र क्यो न हो, जब भाग्य टेढा है, पापका उदय है तो राज्य भी छिनता है। बुरी तरह मरण होता है और खोटी गति उनको प्राप्त होती है। तो यह सब संसार भाग्य प्रधान है। जिनका जैसा भाग्य हो उन जीवोको सब कुछ प्राप्त होता है। रही पुरुषार्थकी बात तो पुरुषार्थका प्रयोग अपनी मुक्तिके लिए हुआ करता है न कि ससारकी बातोमे यह पुरुषार्थ चलता है। हाँ पुरुषार्थ चलता भी है किन्तु दैवके अनुसार चलता है अथवा इसमे कुछ एकान्त भी न करना चाहिये कि सारी सिद्धियाँ भाग्यसे ही होती है। ये सारी सिद्धियाँ पुरुषार्थसे ही होती है। यदि यह एकान्त हठ किया जाय कि सारी सिद्धियाँ भाग्यसे ही होती है तो भला बतलावो जिस भाग्यसे सिद्धियाँ हो रही है वह भाग्य बना कैसे था ? वह भाग्य बना था जीवोके परिणाम के अनुसार। यह जीवके परिणामका ही तो पौरुष है। तो पौरषसे ही तो भाग्य बना, भाग्य से सिद्धियाँ हुई तो इसके मायने यह है कि इस जीवने जैसे पहले भावरूपी पौरुष किया था उसके अनुसार सिद्धि हुई। यदि कोई यह हठ करे कि सारी सिद्धियाँ पौरुषसे ही होती हैं। ससारमे पौरुष तो सभी जीव करते है, घसियारे, लकडहारे वगैरह बडे प्रयास करते है पर उनको वाञ्छित कार्योंकी सिद्धि क्यों नहीं होती ? इसलिए संसारमे तत्काल तो दैवके अनुसार बात है। उस दैवको बनाने वाला यह पुरुषका पौरुष है। तात्पर्य यह है कि दुनियामे जो कुछ होता है वह सब दैवके अनुसार हो रहा है।

यत्कुर्वन्नपि नित्य कृत्य पुरुषो न वांछितं लभते।
तत्रायशो विधातुर्मुनयो न वदति देहभृतः ॥३५१॥

(५०) दैवके विपरीत होनेपर प्रयत्नकी निष्फलता—किसी कार्यकी सिद्धिके लिए यह मनुष्य रात दिन परिश्रम करता है तिस पर भी उसका प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। इस विषयमे मुनिजन दैवका ही दोष बतलाते है। इसमे मनुष्यका दोष नही है। मनुष्यका कर्तव्य तो अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिए चेष्टायें करते रहना है। तो यह मनुष्य चेष्टायें

करता ही है । यहाँ भी यह देखा जाता कि कोई मनुष्य भाग्यके भरोसे बैठा नही रहता। भाग्य कैसा है इसकी ओर दृष्टि नही देता, किन्तु जिस कार्यके करनेकी बात मनमे आयी है उसकी सिद्धिके लिए चेष्टायें करता रहता है । मनुष्यका जो कर्तव्य है अपने कार्यसिद्धिके लिए चेष्टायें करना वह बराबर कर रहा है और उसका फल मिले, न मिले, कैसे मिले यह सब दैवके आधीन है । जब ऐसी स्थिति है तो यह मनुष्य अपना कर्तव्य चुका रहा है याने कर्तव्य तो पूरा कर रहा है और दैव फल नही दे रहा तो इसमे मनुष्यका दोष नही कहा जा सकता । यह तो भाग्यका ही दोष कहा जायगा। मनुष्यका कार्य यत्न करना है । उसको यहाँ दुनियावी ढंगसे बतला रहे है कि ससारमे सुख साधनोके लिए यह मनुष्य प्रयत्न करता है, यह ही उसका पुरुषार्थ कहा जाता है । तो मनुष्य पुरुषार्थ करे, दैवके भरोसे न बैठा रहे दैव अनुकूल होगा तो इसके थोडेसे प्रयाससे ही सब काम बनेगा । और अगर दैव अनुकूल नही है तो कितना ही यत्न करने पर भी कार्यकी सिद्धि नही होती । इसमे मनुष्यका दोष न कहा जायगा । यह तो दैवका ही दोष कहा जा सकेगा । साराश यह है कि ससारमे जो भले काम हैं उनके लिए अपना प्रयत्न बनाये रहना चाहिए । फल क्या होता है इसका विचार भी न करना चाहिये अथवा जो हो सो हो । तथा सर्वोत्कृष्ट बात तो यह है कि ससारके कार्योके लिए भी प्रयत्न क्यो किया जाय ? प्रयत्न करना चाहिये आत्माके शाश्वत आनन्द और विकास पानेका । वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय । उसके प्रयासमे जो विवेकी पुरुष रहता है उसका पुरुषार्थ सच्चा पुरुषार्थ है ।

बांधवमध्येऽपि जनो दुःखानि समेति पापपाकेन ।
पुण्येन वैरिसदन यातोऽपि न मुच्यते सौख्यैः ॥३५२॥

(५१) **दैवकी अनुकूलतामे बैरियोके मध्यमे भी समृद्धि तथा दैवकी प्रतिकूलतामे बान्धवोके मध्यमे भी विपत्ति**—जिस जीवका जिस समय भाग्य अनुकूल होता है, पुण्यका उदय होता है उस समय बधुवोके बीच भी रह रहे हो तो भी नाना प्रकारके कष्ट उठाना पडता है । ऐसी घटनायें अनेक जगह देखनेको मिल रही हैं । पुराणोमे भी श्रीकृष्ण नारायण का पुत्र प्रद्युम्न जिसके कि पुण्यका उदय था, जो कालसम्वर राजाके यहाँ पला था, उसके अनेक पुत्रोने प्रद्युम्नको नष्ट करनेकी चेष्टा की । खोटी खोटी बावडियोपर ले गए, कही गुफावों मे ले गए, जहाँ मृत्यु होनेमे कोई सशय न माना जाता था, लेकिन वहाँ जाकर भी प्रद्युम्नने नाना विद्यायें प्राप्त की, नाना सम्पत्तियाँ प्राप्त की । यह तो पुण्यके उदयका फल है । जैसे किसीके पापका उदय आया तो वह बधुवो के मध्य भी रहकर उन्ही बंधुवो द्वारा वह कष्ट पाता रहा । राजा श्रेणिक बडे प्रतापी राजा थे लेकिन जब उनके पापका उदय आया तो

अपने ही पुत्र कुणिकके द्वारा कैसी ही यातनाओंको सहते रहे । तो उस जीवके जैसा पाप पुण्यका उदय होता है उसके अनुसार उसे सुख दुःख भोगने पडते है । उन पाप पुण्य कर्मोको बाँधा किसने ? बँधे तो अपने आप ही याने कार्माणवर्गणावोमे कर्मत्व परिणति आयी मगर यह जीवके परिणामका निमित्त पाकर ही आयी । इसलिए मूलमे देखा जाय तो जीवके सुख दु ख आदिक सब बातो का, घटनावो का कारण जीवका ही परिणाम है । तो इस छन्दमे यह बताया गया है कि जब जीव पापके उदयसे घिर जाता है तो बधुवोंके बीच रहकर भी उन्ही बधुवो के द्वारा दुःख पाता है, और जब पुण्यका उदय होता है तो बैरियोंके घेरेमे रहकर भी उन्हीके कारण, उन्हीकी करतूत द्वारा नाना प्रकारकी सुख समृद्धियोंसे भरपूर हो जाता है ।

पुरुषस्य भाग्य समये पतितो बज्रोऽपि जायते कुसुम ।
कुसुममपि भाग्यविरहे बज्रादपि निष्ठर भवति ॥३५३॥

(५२) **दैवकी अनुकूलता व प्रतिकूलताके अन्तर**—जब पुरुषका भाग्य अनुकूल रहता है उस समय इसके सिरपर बज्र भी आ पडे तो भी वह फूलकी तरह हो जाता है । एक कथानक है कि वारिसेण मुनि जब ध्यानस्थ थे उस समयकी घटना है कि कोई अजन चोर किसी रानीका जगमगाता हार चुराकर लिये जा रहा था । तो अजन चोरमे इतनी कला थी कि उस पुरुषको कोई न देख सकता था अंजन लगानेके कारण, पर वह हार तो चमकता ही था । उसे देखकर कोतवालने पीछा किया । अजन चोर भागता गया । भागते भागते जब देखा कि अब कोतवाल पास आने वाला है तो उसने वह हार वारिसेण मुनिके आगे डाल दिया और वह स्वय आगे भागता चला गया । जब कोतवालने आकर देखा कि यह हार इसके सामने पडा है तो उसे बडा गुस्सा आया कि यह चोर हार चुरा लाया और आरोपसे बचनेके लिए इसने मुनिका भेष धारण कर लिया । आखिर वह घटना राजाके पास तक पहुंच गई और राजाने उसे प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी । तो वे चाण्डाल लोग आये और वारि-सेण पर तलवार मारने लगे । जितनी बार तलवार चलाया उतनी बार वह फूलमाला बन गई । ऐसी अन्य प्रकारकी भी घटनायें होती हैं कि जब भाग्य अनुकूल होता है तो बडी-बडी विपत्तियाँ भी उसपर विराजे तो भी फूलवत् हो जाती । प्राणघातक न होकर सुखदायक हो जाती है । यह इसका अर्थ है । जब इस जीवके अशुभ भाग्यका उदय रहता है उस समय फूल भी इसके ऊपर गिरे तो वे भी वज्रवत् बन जाते और वज्रकी तरह प्राण लेकर ही छोडते है । असाताका, पापका उदय आनेपर बडी-बडी पदायें की गई बधुवो द्वारा मगर वे घातक ही सिद्ध हुई । जैसे एक अकृतपुण्य पुत्र था राजाका, तो उसके उत्पन्न होते ही राज्य मे विरोध होने लगा । प्रजाने विनती की कि इसे आप राज्यसे बाहर कर दीजिए । आखिर

राजाने उसे राज्यसे अलग तो किया, पर वह प्रिय था, सो उसके साथ उसकी मां साथ गई और राजाने अनेक धन भण्डार साथ लगा दिया कि इस पुत्रको कही तकलीफ न हो, पर वे मोहरें आग बन गईं, अनाजके दाने खिर गए। पासमे कुछ न रहा, ऐसी भी स्थितियां हो जाती हैं। तो जगतमे जो कुछ भी सुख दुःख हो रहे है वह सब दैवका प्रभाव है। इस दैव को किसी दूसरेने नही बनाया। यह जीव ही अपने भावोके द्वारा बनाता है।

किं सुखदुःखनिमित्तं मनुजोऽय खिद्यते गतमनस्क.।
परिणमति विधिविनिर्मितमसुभाजां किं वितर्केण ॥३५४॥

(५३) सुख दुःखकी विधिविनिर्मितता जानकर उनमे हर्ष विषाद न करनेका कर्तव्य—जगतमे जो भी मनुष्य खेद खिन्न होते है, अनक चिन्तावोमे पड जाते है रात दिन सुख दुःखके निमित्त जुटते रहते हैं उन सगतियोमे रहकर निरन्तर विषाद करते है। वे भूल गए कि विषाद चिन्ता करना किस प्रयोजनके लिए है। ससारमे जितने भी सुख दुःख है वे सब दैवाधीन है।- भाग्यके वश होते है, ऐसा जानकर उन्हे सतोष धारण करना चाहिये था, लेकिन यथार्थता भूलकर निरन्तर चिन्तामग्न रहा करते है। वास्तविकता यह है कि जगतमे जितने भी संयोग वियोग और इन दृश्य पदार्थोंका परिणमन है यह सब कर्मोदयका निमित्त पाकर हुआ करता है। जीवके पास सम्पदा आये, यह साता उदयके निमित्तसे होता है जीवसे इष्टका वियोग हो जाय यह असाताके उदयके निमित्तसे होता है। निमित्तनैमित्तिक भाव जीव के परिणमनमे, विकृत भावोमे इन कर्मोंके उदय हैं। जैसे कि कर्मोंके बधमे निमित्त कारण जीवके शुभ अशुभ भाव है। जितना भी विसम परिणमन है वह सब नैमित्तिक हुआ करता है। निमित्त बिना स्वयं सहज शक्तिसे अपने आप ही होने वाला परिणमन विषम नही हुआ करता। वह सम ही हुआ करता। जैसे पुरुषका ज्ञान दर्शन आनन्द आदिक परिणमन सम है, वहाँ विसमता नही है। रागद्वेष सुख दु ख कितनी तरहके पाये जाते हैं और अभी सुख हो रहा था अब दुःख होने लगा। अभी शुद्ध परिणाम थे अब क्रूर परिणाम होने लगे, इतनी जो विभिन्नता है, विसमता है वह नैमित्तिक ही होती है, स्वाभाविक नही होती। स्वभावत' तो एक समान परिणमन चलता है। तो जगतमे इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, सही शरीर मिलना, रोगादिक होना, ये सारी विसमतायें ही तो है, इसका कारण पुण्य पापका उदय है। ऐसा जानकर इनका ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए, चिन्ता करनेकी क्या जरूरत है ? विकारसे भिन्न ज्ञानस्वरूप अपनेको देखें और चिन्तासे मुक्त होवें।

दिशि विदिशि वियति शिखरिणि संयति गहने वनेऽपि याताना।
योजयति विधिरभीष्ट जन्मवतामभिमुखीभूतः ॥ ३५५ ॥

(५४) पुण्योदयमें सर्वत्र अभीष्ट सिद्धि—जिस समय दैव इस जीवके अनुकूल रहता है उस समय चाहे यह जीव किसी भी दिशामे हो, किसी भी विदिशामे रह रहा हो, वह वहांसे अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। किसी विशेष स्थानमे रहनेसे सुख दुःख नही है। सुख दुःख है पाप पुण्यके उदयमे। चाहे यह मनुष्य पर्वतके ऊँचे शिखरपर बस रहा हो, चाहे गहन भयानक वनमे हो, यदि इसके पुण्यका उदय है तो इस जीवके सब प्रकारके अभीष्ट की सिद्धियां होती हैं। कोई बैरी इसे हरकर किसी जगह ले जाय, पर्वतपर ले जाय या भयानक वनमे भी फेंक दे, किन्तु उसके पुण्यका उदय है तो वहाँ ही ऐसा सुयोग प्राप्त होगा कि यह जीव अभीष्ट सिद्धिको प्राप्त होगा। ऐसे अनेक दृष्टान्त पुराणोमे पाये जाते हैं, और देखनेमे भी आते है। यह जीव चाहे युद्धमे भी पहुंचा हो, यदि पुण्यका उदय है तो वहाँ भी इसको अभीष्ट कार्योंकी सिद्धि होती है। तो लोकमें जो कुछ भी सुख साधन दिखाई देते हैं, जिन्हे लोग चाहते है वे सब सुख साधन दैवके अनुकूल हुआ करते है, पर यहाँ यह न भूलना चाहिए कि वह दैव बनाया गया है जीवोके भावोके द्वारा ही। इसलिए सांसारिक सुखोका भी कारण इस जीवको हस्तगत है याने इस जीवके ही आधीन है। यदि यह जीव अपने परिणाम विशुद्ध रखे तो उसका फल मिलनेमे चाहे कुछ विलम्ब भी हो, पूर्वकृत पापकर्मका उदय आनेसे उसे उसका फल अभी नहीं मिल पा रहा है, लेकिन यह निश्चित है कि निर्मल परिणामका फल इस जीवको शुद्ध ही प्राप्त होगा। एक चक्रवर्तीकी पुत्री जिसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर कोई विद्याधर उसे हरे लिए जा रहा था पर उसके पीछे बहुत लोग लग गए। परिस्थितिवश उस कन्याको एक भयानक जगलमे विद्याधरने छोड दिया। तत्काल तो बडे दुःखका वह स्थान था। भयानक जीव जतुवोके बीच उसका जीवित रहना अत्यन्त मुश्किल था। वहाँ पर भी उस पुत्रीने अपना साहस बनाया अपने परिणाम निर्मल किया। व्रत, तप आदिक साधनाओमे रहने लगी, ऐसे उसके सैकडो वर्ष व्यतीत हुए। और अन्तमे एक अजगर सर्पने उसको ग्रस लिया। और सुयोग ऐसा हुआ कि उस कन्याका पिता चक्रवर्ती उसकी तलाशमे चलते चलते उसी जंगलमे पहुचा और उसने अपनी पुत्रीको अजगरके मुखमे देखा तो चक्रवर्तीने उस अजगरको मारकर अपनी कन्या उससे छुडाना चाहा, पर उस समय पुत्रीने मना किया कि पिताजी इस बेचारे अजगरको न मारो। आखिर वह पुत्री गुजर गई और मरकर उत्तम गतिको प्राप्त कर फिर विशल्या हुई, जिसका पुण्य प्रताप इतना विशेष था कि जिसके नहाय हुए जलको छीट यदि किसी पर पड़ जाय तो उसके असाधारण रोग भी दूर हो जाते थे, यह उस अजगरको अभयदान देनेका फल मिला। सैकड़ो हजारो वर्ष तपश्चरण करनेका फल मिला। तो कोई जीव अपने निर्मल परिणाम

रखता है तो उसकी निर्मलताका फल उसे अवश्य मिलता है। इस कारण कल्याण चाहने वाले पुरुषोका कर्तव्य है कि प्रत्येक घटनामे अपने परिणामोको न्यायके अनुकूल रखें, दयासे भरा हुआ रखे, किसीका बुरा न विचारें, अच्छे परिणामोका फल अच्छा ही मिलता है और वही संसारमे यह सब देखा जा रहा है। इस कारण आत्मपरिचय करके अपने परिणामोकी सावधानीमे अपना जीवन बिताना चाहिये।

यदनीतिमतां लक्ष्मीर्यदपथ्यनिषेविणां च कल्यत्व।
अनुमीयते विधातुः स्वेच्छाकारित्वमेतेन ॥३५६॥

(५५) दैव द्वारा नीतिका उल्लंघन—यह दैव बडा ही स्वच्छंद प्रवर्तने वाला है। इसे अलंकार रूपमे आचार्य कह रहे है कि इस दैवके मनमे जो बात आती है उसे ही कर डालता है अर्थात् स्थिति पाकर उदयके समय अथवा उदीर्णाके समय जो अनुभाग खिलता है उसके अनुकूल जीवमे चेष्टाये हो जाती है। देखिये—न्यायसिद्ध बात तो यह है कि जो लोग नीति पर चलने वाले है, योग्य आचरणसे रहने वाले है उन्हे ही धनवान किया जाना चाहिये, पर विधिकी गति विचित्र है। नीति न्यायपर चलने वाले योग्य आचरणसे रहने वाले लोग दरिद्र पाये जाते है। वैसे इस बातकी प्रसिद्धि भी है कि लक्ष्मी और सरस्वतीका परस्पर बैर है। जहाँ सरस्वती है, बुद्धि है वहाँ लक्ष्मी नही है। और जहाँ बुद्धि नही वहाँ ही लक्ष्मी देखी जाती है। तो यह भाग्यकी विचित्रता ही तो है। किस उदयकी वहाँ बात चल रही है। कभी बुद्धिमान भी धनवान देखे जाते। तो वह दैवका स्वच्छंदाचारपना हैं। देखिये—जो लोग पथ्यसे रहते है, सयम नियम अनुसार आहार करने वाले होते हैं उन्हे तो नीरोग बनाये रहना चाहिए। यह तो न्याय नीतिकी बात, परन्तु दैवकी छटा विचित्र है। मीमासा आहार विहार करने वाले भी रोगी रहे और यथा तथा भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक न रखने वाले लोग तदुरुस्त रहे तो यह दैवगतिकी विचित्रता ही तो है, इसीलिए यह कहा जाता है कि यह दैव स्वच्छंद है। इसके मनमे कुछ और ही बात रहती है। यह अन्यायसे चलने वालोको धनवान बना दे, विरुद्ध आहार विहार करने वालेको निरोग बना दे। इस चारित्र मे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यह दैव स्वच्छोकारित्व है।

जलधिगतोपि न कश्चित्कश्चित्तटगोपि रत्नमुपयाति।
पुण्यविपाकान्मर्त्यो मत्वेति विमुच्यतां खेदः ॥३५७॥

(५६) घटनावोको दैवलीला जानकर उनमे खेद न करनेका कर्तव्य—जगतमे जो कुछ भी विचित्र कार्य हो रहे हैं वह सब पाप और पुण्यकी महिमा है, उसमे जीवने क्या किया ? क्यो यह जीव खेद खिन्न होता है। यह तो अमूर्त ज्ञानमात्र अपने सत्त्वमात्र है।

इसको जो निज वृत्ति है उसकी पहिचान करे और अपने आपके स्वरूपमें आत्मत्व अनुभव करें, सारे कष्ट इसके खतम। वैज्ञानिक विधिसे यह हो रहा है कि जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनमें अनुभाग पड़ा हुआ है, उनका जब उदय उदीरणाकाल आता है तो उस समय जीवके उपयोग में कुछ विकार की छाया पडती है उसे यह अपना लेता है, दुःखी होता है। तो यह अपनाये नही, भले ही कुछ झलके, वह सब बाह्य तत्त्व है, मेरे स्वरूपकी निजकी चीज नही है। स्वतः सिद्ध नही है, ऐसा ज्ञान करके उसे न अपनाये, उसमे खेदकी क्या बात है ? मगर यह जीव अपने स्वरूपकी सम्हाल नही करता और विचित्रतायें पाप पुण्यके उदयसे जो हो रही है उनमे ही यह अपना सुधार बिगाड़ देखता है, सो देखिये—कोई मनुष्य तो समुद्रके अन्दर डुबकियाँ लगा रहा रत्न खोजनेके लिए, पर रत्न नही पाता, और कोई पुरुष समुद्रमे डुबकी लगाये बिना ही केवल समुद्रके तटपर बैठा है और बैठे-बैठे ही रत्न पा लेता है। तो यह सब पुण्य पापकी ही तो महिमा है। सो इस सबको पुण्य पापकी महिमा जानना चाहिये और हर्ष विषाद तज देना चाहिए। लोग खेद अधिक किया करते है। इष्ट सामग्री न मिले तो खेद करने लगते। कदाचित् इष्ट सामग्री मिल गई तो सुख मानने लगते है, अपराध दोनो ही हैं। विवेकी जन बाह्यपदार्थोके मिलनेपर वे अपना कुछ सुधार बिगाड़ नही समझते। बाह्य पदार्थोके बिछुडनेपर अपना कुछ बिगाड़ नही समझते है। आत्माका सुधार बिगाड मूलमे यह है कि जब आत्माको अपने सहज ज्ञानज्योति स्वरूपकी सुध है और उस ही मे अपना आग्रह बनाया है कि मैं यह हू, ऐसा ही ज्ञानमात्र अपनेको अनुभव रहा है उस समय उसको कोई सकट नही है। और जब अपने स्वरूपकी सुध छोड़कर जो बाह्यतत्त्व है, विकार है उनको अपना रहा है और उसी प्रेरणावश इन भिन्न बाह्य पदार्थोकी भी सुधार बिगाड करना चाहता है, पर इसमे सारा संकट है। सो हे विवेकी जन जगतमे जो कुछ भी अच्छे बुरे परिणाम नजर आ रहे है, समृद्धि विपत्ति जो कुछ ऊपर बीत रही है वह सब पाप पुण्यकी महिमा है, ऐसा जानकर खेद छोड देना चाहिये।

सुखमसुखं च विधत्ते जीवानां यत्र तत्र जातानां।
कर्मैव पुरा चरित कस्तच्छक्नोति वारयितु ॥३५८॥

(५७) कर्मफलवारणकी अशक्यता—ससारमे ये जीव उत्पन्न हो रहे, मर रहे, एक भवको छोड रहे दूसरे भवको धारण कर रहे, यह ही समस्त जीवोकी इस संसारमे रीति चल रही है। इस ही का नाम ससार है। नया शरीर धारण किया, कुछ दिन तक यह शरीर रहा, फिर नया शरीर धारण किया, इस परिपाटीको ही ससार कहते है। तो संसारमे उत्पन्न हो रहे, यत्र तत्र जन्म रहे इन जीवोको सुख दु.ख सब कुछ यह दैव ही प्रदान करता

है । जब जैसे पाप पुण्यका उदय होता है उसके अनुसार यह जीव अपने भाव करके स्वयं सुखी दु खी होता है । यद्यपि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका परिणमन नही करता, फिर भी यह तो देखा ही जाता है कि कोई पदार्थ यदि स्वभावके प्रतिकूल परिणम रहा है तो वह किसी परपदार्थका निमित्त पाकर ही परिणम रहा है । यदि बाह्य अर्थका निमित्त पाये बिना कोई विसम परिणमन कर ले तो वह तो स्वभाव बन बैठेगा, फिर वह स्वभाव कैसे मिट सकता ? तो यही पद्धति यहाँ हो रही है । जीवने शुभ अशुभ परिणाम किया । उसका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणामे कर्मत्व आ गया । अब जब उन कर्मोका उदयकाल आता है अथवा उदीर्णा होती है उस कालमे यह जीव स्वयं अपनेमे कल्पनायें करता हुआ सुखी दुःखी होता रहता है । इसीको उपचार भाषामे कहा जाता है कि यह दैव ही इस जीवको सुख दुःख सब कुछ प्रदान करता है । अन्य कोई नही । और उसकी सामर्थ्यको कोई रोक भी नही सकता । जो भाग्य जिसका जिस उदयमे आ रहा है उसे हटानेके लिए कौन समर्थ है । हाँ उदयक्षणसे पहले कर्म हटाये जा सकते, परिवर्तित किए जा सकते मगर वास्तविक बहुत ऊँचे तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है, यह जीव अपने आपकी सुध लेता है, अपने आत्मामे ही रमे तो इस स्थितिके निमित्तसे कर्मोमे परिवर्तन उपशम, क्षयोपशम क्षय आदिक होते रहते हैं, किन्तु प्रायः जिसने जैसा कर्म किया वह उदयमे आता है । उसे कौन रोकनेमें समर्थ है ? तो जगत का सारा परिणाम पाप पुण्यका फल जानकर उसमे अपना कर्तृत्व मत लगायें । मैं तो केवल ज्ञानभाव मात्र हू । मैं इन समग्र पदार्थोका, घटनावोका करने वाला नहीं हूं । यह सब भाग्य लीला चल रही है । मै तो विशुद्ध ज्ञानमात्र हू ऐसी भावना करनी चाहिए ।

द्वीपे चात्र समुद्रे धरणीधरमस्तके दिशामते ।
यातं कूपेपि विधी रत्न योजयति जन्मवतां ।।३५८।।

(५८) पुण्योदयमे सर्वत्र लाभ—इन प्राणियोका जिनका कि भाग्य अनुकूल है उनको सर्व समृद्धि सहज प्राप्त हो जाती है । कोई द्वीप समुद्रमे कही पड़ा हुआ रत्न हो, पर्वतकी शिखावोमे, गुफावोमे, दिशावोके अन्तमे कुवेंके अन्दर भी गिरा हुआ रत्न हो वे सब उन्हें प्राप्त हो जाते है । यह सब दैवका चमत्कार है । ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है, है वस्तु सर्व स्वतंत्र अर्थात् किसी वस्तुरूप अन्य कोई न परिणम पायगा, मगर यह योग लगा हुआ है कि पदार्थोमे विकार परिणमन हो रहा है तो वह किसी अन्य वस्तुका निमित्त पाकर हो रहा है । तो जैसे तीर्थंकर होने वाले आत्माका उस भवमें आगमन हुआ अर्थात् तीर्थंकरका जन्म हुआ तो जन्मते ही कही भवनवासियोके यहाँ घटा बजने लगता, कहीं शंखनाद होने लगता, तो इन सबको कौन करने जाता है ? कैसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि पुण्यका उदय उस

आत्मामें आ रहा है अर्थात् वह पुण्यकर्म निकल रहा है और इतनी दूर दूर ऐसी ऐसी घटनायें चल रही है, यह सब निमित्तनैमित्तिक योग पुण्योदय है। पुण्योदय होनेपर कितनी ही दूर कुछ भी समृद्धि हो, किसी न किसी प्रकार इसके पास आ जाती है अथवा यह पुरुष कैसे उन सम्पदावोंके पास पहुंच जाता है, यह कोई जान-बूझकर करे तो नही हो सकता। तो जिनका भाग्य अनुकूल है उन जीवोको हर जगह समृद्धिको प्राप्ति होती है और जिनका भाग्य प्रतिकूल हे उनके हाथपर रखे हुए भी रत्न नष्ट हो जाते हैं।

विपदोपि पुण्यभाजा जायते संपदोत्र जन्मवतां।
पापविपाकाद्विपदो जायते सपदोऽपि सदा ॥३६०॥

(५९) पुण्योदयसे विपत्तिमे भी संपत्ति तथा पापोदयसे सम्पत्तिमें भी विपत्ति—पुण्यके उदयसे इस ससारमे जीवोपर आयी हुई विपत्तियां भी सम्पत्तियाँ हो जाती है। जैसे श्रीपालका कथानक प्रसिद्ध है कि उसे समुद्रमे धवल सेठने उसकी स्त्रीपर आसक्त होकर समुद्रमे ढकेल दिया था। जयधवलने यह मनमे समझ लिया कि इतने विशाल गहरे समुद्रमें यह श्रीपाल बच नही सकता। इतनी बड़ी विपत्ति श्रीपालपर डाली गई फिर भी उसके पुण्यका उदय था, किसी काठके सहारे वह समुद्रके एक किनारे लग ही गया और समुद्रके तटपर वृक्षके नीचे सो रहा था, वहीं उस देशका राजा आया और अपने पूर्व सकल्पके अनुसार उसे आधा राज्य दे दिया और अपनी पुत्रीसे उसका विवाह कर दिया। और जब जीवके पापका उदय आता है तो सम्पत्ति भी विपत्ति बन जाती है। आजकल भी देखा जाता है कि कोई किसी राष्ट्रका मालिक बन गया, राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री बन गया और उसके विरोधी तो अनेक होते ही है, कोई यदि क्रूर विरुद्ध पार्टीका हो तो वह दाव पाकर उसे भी क्या, उसके वंशके भी वश समाप्त कर डालता है। तो ऐसी बडी विपत्तिका कारण सम्पत्ति ही तो रही। बडे-बडे धनिक पुरुष लूटे जाते है जहाँ लुटेरो द्वारा जानसे मार डाले जाते है तो वहाँ पापका उदय आया और उसकी सम्पत्ति विपत्ति बन गई। तो जीवके जब पापका उदय आता है तो सम्पत्तिया भी विपत्तिया बन जाती है। बुद्धिमान् पुरुष वह है जो पुण्यके उदयमे हर्ष नही मानता और पापके उदयमे विषाद नही मानता। इन सारी घटनावोंको देवकृत अर्थात् भाग्यके निमित्तसे हुई है ऐसा जानता है और उन घटनावोंसे व्यामुग्ध न होकर अपने सहज आत्मस्वरूपकी श्रद्धामे बना रहता है, अपनेको समय समयपर ज्ञानज्योतिमात्र अनुभवता हुआ अलौकिक आनन्द पाता है।

चित्रयति यन्मयूरान् हरितयति शुकान् बकान् सितीकुरुते।
कर्मैव तत्करिष्यति सुखासुख किं मनःखेदैः ॥ ३६१ ॥

(५६) कर्मका विचित्र कर्म—इस संसारमे जैसा जो प्राणी शरीर धारण किए हुए है वे सब दैवके उदयमे बने हुए है । कोई मनुष्य बना, कोई नारकी तिर्यञ्च बना, देव बना, उनको उस प्रकारका शरीर मिला तो उनके उस प्रकारके नामकर्मका उदय है । एक एक जातिमे भी कितनी ही उपजातिया हो जाती है । कितनी ही तरहकी सकल प्रकृतियां बन जाती है, वे सब दैवकृत समझना चाहिये । पक्षियो मे कितनी ही तरहके रगरूप आकार प्रकार देखे जाते है, रग बिरगे उनके पंख होते है । तोते हरे रग वाले होते है, बगले सफेद होते है । तो ऐसी ऐसी विसमतायें भी उस उस प्रकारके नामकर्मके उदयसे हुई है । तो ससार मे जो भी दिख रहा है वह सब दैवका प्रसाद है । जिस जीवके जैसे जो कर्म बँधे हुए है उसके उदयके अनुसार बाहरमे शरीरकी रचना होती है और अन्दरमे उस उस प्रकारके परिणाम हुआ करते है । तो जितने ये विषम परिणमन है चाहे आन्तरिक हो, चाहे शारीरिक हो, ये सब स्वभाव नही है, पर आत्माका अधिकार नही है । ये सब दैवके निमित्तसे हुए है । इन सबको बाह्य समझना और इनसे उपेक्षा करना इसीमे ही पुरुषोका वास्तविक विवेक है । जो बाहरी शरीर, वचन बना हुआ है वह तो प्रकट पौद्गलिक है । उससे तो निराला ही है यह आत्मतत्त्व, पर अन्दरमे जो रागद्वेष सुख दुःख परिणाम उत्पन्न होते है ये परिणाम भी कर्मकृत विकार है, जीवके स्वाभाविक भाव नही है । यद्यपि ये परिणाम जीव उपादानके है, कही यह परिणति कर्मकी नही हो गई, हा कर्मकी परिणति भी ऐसी ही है । और उस ही प्रकार की छाया पडी हुई है, लेकिन उसे अपनाना, उसका लगाव रखना यह तो जीवका ही विकार है । तो ये सब विकार भी नैमित्तिक है । आत्माके स्वभावसे उत्पन्न नही हुए है, इस कारण इन विकारोसे भी उपेक्षा करना और आत्माके सहज ज्ञानज्योति स्वरूपमे ही आत्मत्वका अनुभवना हम आपका मुख्य कर्तव्य है ।

अन्यत्कृत्यं मनुजश्चिन्तयति दिवानिशं विशुद्धधिया ।
वेधा विदधात्यन्यत्स्वामी च न शक्यते धर्तुं ॥ ३६२ ॥

(६०) दैवका अपने जनकपर आक्रमण—इस दैवकी वडी विचित्रता है कि यह दैव जीवके परिणामो द्वारा ही तो उत्पन्न हुआ है फिर भी यह देव इस जीवके ऊपर अपना स्वामित्व चलाता है । कर्मबन्ध हुआ इसका अर्थ यह है कि कार्माणवर्गणा जातिके पौद्गलिक स्कंधोमे कर्मत्वअवस्था आयी हे और वह कितने समय तक कर्मत्व अवस्था रहगी और किस जातिका फल देनेका निमित्त बनेगा और कितनी ताकतके साथ इसमे अनुभाग पडा है, यह सब भी बधन हुआ है । यह सब कुछ बधन जीवके कषाय परिणामके अनुसार हुआ है । तो कर्मोको इस जीवने ही तो पैदा किया । यदि जीवके भाव न हो उस प्रकार तो कर्म कैसे

बनें ? तो इन कर्मोंको जीवने ही उत्पन्न किया । अब उत्पन्न हुए बाद इसका उदय उदीर्णा आती है तब यह जीव विवश हो जाता है और इस जीवपर मानो इस दैवका ही स्वामित्व चल रहा है । तभी तो देखो इस दैवको उत्पन्न करने वाला मनुष्य करना तो कुछ चाहता है और करता कुछ और पड़ता है । वास्तविकता तो यह होती कि यह दैव अपने उत्पादक जीवोकी आज्ञाके अनुसार चलता । जब जीव परिणामसे कर्मत्वदशा आयी है तो इन कर्मोंका तो इस जीवको आभारी रहना चाहिये था, जिससे यह कृतज्ञ होकर जीवकी आज्ञाके अनुसार चलता और जीवके योगमे, अभिलषित ध्येयमे अपना योग मिलाता, परन्तु यह दैव करता क्या है कि इस ही जीवको अपनी आज्ञामे चलाता है, अर्थात् मानो जो इस दैवके मनमे आता है उसे ही इस जीवके द्वारा कराता है । जिस जीवने विचित्र नामकर्मका बधन किया तो अब उस नामकर्मके उदयसे इस जीवको विचित्र शरीरोमे बँधा रहना पड़ा । तो दैवकी कैसी विचित्रता है कि यह जीवके द्वारा ही तो उत्पन्न हुआ और जीवको ही अपने वशमे करके नाना बधनके दु:खमे डाल रहा है ।

द्वीपे जलनिधिमध्ये गहनवने वैरिणां समूहेऽपि ।
रक्षति मर्त्यं सुकृतं पूर्वकृतं भृत्यवत्सततं ।।३६३।।

(६१) पुण्योदयकी जीवके लिये सर्वत्र सेवकता—जिस जीवके पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म का उदय है उसका कोई भी पुरुष बाल बाँका नही कर सकता । वह चाहे किसी भी द्वीपमे चला जाय, जिस द्वीपमे कभी भी न गया हो, एकदम नवीन हो जाना हुआ है तो भी उसके पुण्यके कारण वहांके लोग उसका आदर करेंगे, उसको सब प्रकारकी सुविधाये देंगे । और वह स्वयं ही अपने पुण्यके अनुसार ऐसी बुद्धि पौरुष बना लेगा कि जिसमे यह सम्पत्ति समृद्धियोका स्वामी बन जाय । जिसके पुण्यकर्मका उदय है वह चाहे समुद्रके मध्य भी गिर पड़े और उसे कोई बैरी समुद्रमे पटक दे तो भी उसका कोई बाल बाँका नही कर सकता । वहाँ पर भी यह पुण्य सेवकके समान इस जीवकी सेवा करनेमे सदा तत्पर रहता है । एक राजाने एक हिंसकको फाँसी देनेका हुक्म चाण्डालको दिया, उस दिन चाण्डालका चतुर्दशीको जीवहिंसा न करनेका व्रत था सो उसने राजाज्ञाका उल्लघन कर दिया । राजाने क्रोधमे आकर उस चाण्डालको भयानक हिंसक जीव जतुवोसे भरे हुए समुद्रमे पटकवा दिया, पर वहाँ देवोने उस चाण्डालकी रक्षा की, देवोने उसके लिए सिहासन रचा । तो जिनके पुण्यका उदय है उन्हे किसी समुद्रके मध्य भी पटक दिया जाय तो भी उसका पुण्य उसकी सेवा करता है । किसीको सघन वनमे क्रूर जीव-जतुवोके बीच छोड़ दिया जाय फिर भी यदि उसके पुण्यका उदय है तो वही जन्तु उसके रक्षक (सेवक) बन जाते है । तो पुण्यविपाक जिनके है ऐसे पुरुष

वैरियोंके समूहमें क्यों न बस रहे हो पर वे वैरी उससे वैरभाव छोड़कर उसका आदर करते हैं। उसकी सेवा करनेमें तत्पर रहते हैं। तो जिनके पुण्यका उदय है वे पुरुष किसी भी द्वीप में, समुद्रमें कैसी ही घटनाके बीच आ जायें, फिर भी उनका पुण्य सेवकके समान उनकी सेवा करनेमें सदा तत्पर रहता है।

नश्यतु यातु विदेशं प्रविशतु धरणीतलं खमुत्पततु।
विदिशं दिशं तु गच्छतु नो जीवस्त्यज्यते विधिना ॥३६४॥

(६२) कर्मका जीवके साथ बन्धन—इस जीवने जो कुछ पूर्वकालमें कर्म उपार्जित किया है वे कर्म इस जीवके साथ तब तक रहते हैं जब तक कि उनका उदय होकर खिर न जायें या अन्य विधियोंसे खिर न जायें। बन्धन तीन प्रकारके कहे गए हैं—जीवबन्ध, कर्मबन्ध और उभयबन्ध। जीवके संस्कारसे विकारका बसना, जीवके स्वभावपर विभावका आना यह जीवबंध है। द्रव्यकर्मसे द्रव्यत्व रहना कर्मबन्ध है और बद्ध कर्मोंका जीवके साथ एक क्षेत्रावगाह होकर बन्धनमें रहना यह उभयबन्ध कहलाता है। तो जीवने जो कर्म बांधे हैं वे मरनेपर भी जीवके ही साथ जाते है, जीव यद्यपि अमूर्त है, पर अनादिकालसे कर्मबन्धनवश होनेसे मूर्तरूपसा बना हुआ है, और मरण होनेपर यह कर्मसहित जीव इतने सूक्ष्म कर्म वाला जीव है कि कैसे भी पहाड वज्र आदिकसे यह छिडता नही है और जिस जगह शरीर धारण करना है उस जगह पहुच जाता है। तो जीवने जो भी शुभ अशुभ कर्मका बन्धन किया है वह कर्म चाहे किसी भी जगह छिप जाय, गुप्त स्थानमें चला जाय, देश छोड़कर विदेशमें पहुच जाय या कही गुप्त पाताल आदिक स्थानसे छिप जाय या आकाशमें चला जाय, किसी भी दिशा विदिशामें चला जाय, और तो बात क्या, यह मरण करके किसी नये भवमें चला जाय पर यह भाग्य किसी भी जगह नही छोडता, इस जीवके साथ ही साथ रहा करता है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि मेरे पुण्यका उदय है, चला है, कीर्ति है, लोग मेरा आदर करते है, मुझे सत्य समझते है पर विषयकषायकी प्रवृत्तिको मैं नही रोक पाता हू, उसको कभी छिपकर करता हू तो छिपकर करनेसे कर्म मुझे दण्ड न दे पायेंगे, सो ऐसी बात नही है। यह कहाँ छिपेगा? जहाँ जाता है उसीके साथ ही बद्ध कर्म लगे हैं। कार्माणवर्गणाके विश्रसोपचय लगे है। जैसे ही उसके कषाय जगी कि इसके कर्मका बन्ध हुआ और वे कर्म इसके साथ रहते है। तो छिपकर भी कही जाय तो भी कर्मके उदयकी धारा बराबर चलती रहती है और उस उदयकी धारासे उस उदीरणमें इस जीवको सुख दुःख उस प्रकारके मिलते ही है। बात यहाँ यह समझना कि जीवके साथ जो कुछ विकृति लगी है, जो विसमनीय हो रहा है वह जीवके स्वभावसे नही हो रहा, क्योंकि सब दैवका प्रतिफलन है। जैसी दैवकी उदय

उदीर्णा आदिक अवस्थायें होती है उस रूपसे इस जीवके बाह्य शरीरादिकका परिणमन होता है और उस ही के अनुरूप जीवके अन्तरगमे परिणाम उत्पन्न हुआ करते है । सो विवेकी जन इन परिणामोसे और इन बाह्य स्थितियोसे अपनेको निराला समझें और अपनेको ज्ञान ज्योति मात्र अनुभव करें ।

शुभमशुभं च मनुष्यैर्यत्कर्म पुरार्जितं विपाकमितं ।
तद्भोक्तव्यमवश्यं प्रतिषेद्धु शक्यते केन ॥२६५॥

(६३) पुरार्जित शुभाशुभकर्मकी भोक्तव्यता—इस जीवने पूर्वमे जैसा भी भला या बुरा कर्म किया है समय आनेपर उसका फल उसे अवश्य भोगना पडता है । कर्मका बन्धन किया, अब वह कर्म इस जीवके साथ रह रहा, तो जब उस कर्मकी म्याद पूरी होती है तो उस कर्ममे बड़ा प्रस्फोट होता है । उस विस्फोटके समय इस जीवकी उपयोगभूमिमे उसका प्रतिफलन होता है और यह उस समय ददककर अपनी सुधको खोये रहता है और उस बढ़े बढाये प्रतिफलनोमे अपनेको लगा देता है और नाना विचित्र चेष्टायें किया करता है । जैसे कोई चूनाका डला है तो उसकी म्याद अवश्य है । वह मान लो ६ महीने तक ठीक रहा । अब उसकी म्याद पूरी होनेपर वह डला स्वयं फूल जायगा, प्रस्फुटित हो जायगा । उस समय उसकी गर्मी निकलेगी, बादमे वह शक्तिहीन हो जायगा । तो ऐसे ही जो कर्म बँधे है उनकी म्याद पडी हुई है । जब उनकी स्थिति पूरी होती है तो उन कर्मोमे अनुभाग फूटता है और उस समय उसकी भयंकर स्थिति बनती है । उस स्थितिका प्रतिफलन जीवमे होता है और यह जीव विकारी बन जाता है । कदाचित् चूनेकी डलीपर कोई म्यादसे पहले ही कुछ पानी डाल दे, उसमें नमी आ जाय तो वह पहले ही फूलकर अपनी गर्मीको निकालकर शक्तिहीन हो जाता है । तो ऐसे ही कर्मोंकी उदीर्णा आ जाय याने स्थितिसे पहले ही उसका विपाक हो जाय तो वहापर भी उसका भयकर रूप बनता है और उसका निमित्त पाकर जीवको विकारी सुखी दुःखी होना पडता है । तो जीवने जो भी शुभ अथवा अशुभ कर्म किया उन कर्मोंको भोगना ही पड़ता है । उसका निवारण यह खुद भी नही कर सकता, कोई दूसरा भी नही कर सकता । तो मनुष्योको चाहिए कि अपना विवेक बनायें कि कोई भी शुभ अशुभ कर्म करना आसान बन रहा है, लेकिन इसका फल अवश्य भोगना पडेगा । तो अशुभ कर्मोंसे तो पूर्णतया बचें ही और अशुभ कर्मसे बचकर जो शुभ उपयोगमे लगा था, शुभ कार्यमे प्रवर्त रहा था सो शुद्ध अन्तस्तत्त्वको ध्यानमे रखकर उन शुभ क्रियावोसे भी अलग हो और अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव करे, ऐसे ही पौरुषमे इस जीवका कल्याण है ।

धनधान्यकोशनिचया सर्वे जीवस्य दुःखकृतः संति ।
भाग्येनेति विदित्वा विदुषा न विधीयते खेदः ॥३६६॥

(९४) सुखदुःखनिमित्त घटनावोंको दैवकृत जाननेसे ज्ञानियोंके खेदका अभाव—लोकमे जितने भी धन-धान्य खजाने आदिक पदार्थ है, जिनको लोग सुखदायक मानते है वे सब भाग्य अनुकूल रहनेपर ही सुखदायक है । यदि दैव प्रतिकूल हो जाय तो वह सुखदायक सम्पत्ति भी दुःखदायी हो जाती है । बडे-बडे महापुरुषोके अनेक ऐसे चरित्र सुने गए कि उनकी सम्पत्तियाँ ही, उनका बडप्पन ही उनके लिए क्लेशका कारण बन गया । तो जब पुण्य अनुकूल है तो उस दैवकी अनुकूलतामे इस जीवको सुख साधन मिलते है और जब पुण्य नही रहता, पापका उदय चलने लगता है तो वे सब दुःखके कारण बन जाते है । ज्ञानी जन इस रहस्यको भली॰ भाति जानते है इस कारण वे सुख और दुःखको दैवाधीन ही समझकर उसका रंच भी खेद नही करते । उन्हे यह स्पष्ट भान है कि मैं ज्ञानज्योति स्वरूप हू । मेरी वृत्ति, मेरी अवस्थायें, मेरा परिणमन केवल जाननरूप रहना है । अन्य मेरी वृत्ति नही है । जो कुछ भी परिणतियाँ आती है, रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव होते है वह सब दैवकी छाया है, वह परतत्त्व है, उसका क्या खेद करना । आया है तो उसका ज्ञाता ही मात्र रहना योग्य है, सो विवेकी जन उन सब घटनावोमे ज्ञाताद्रष्टा ही रहते हैं, उनमे रंच मात्र भी हर्ष विषाद नही किया करते है और ऐसी ही वृत्तिसे इस जीवका कल्याण है ।

दैवायत्तं सर्वं जीवस्य सुखासुखं त्रिलोकेऽपि ।
बुद्ध्वेति शुद्धधिषणाः कुर्वंति मनः क्षतिं नात्र ॥३६७॥

(९५) सकल सुखासुखकी दैवकृतता जाननेसे ज्ञानीके खेदका अभाव—इस लोकमे जीवोके सुख दुःख सभी कुछ दैवके आधीन ही तो हैं । वास्तविक बात यह है कि जो भी विचित्र विसम परिणमन है, जो किसी पदार्थके स्वभावके समान नही है वे परिणमन औपा॰ धिक ही होते है । अन्य पदार्थ उपाधिके मिले विना ऐसे परिणमन नही हो पाते है । तो जीव तो ज्ञानानन्दस्वरूप है । उसका वास्तविक प्रवर्तन तो जाननहार रहना, निराकुल रहना, परम आल्हादमे रहना है । यह तो मेरे स्वभावके समान प्रवर्तन है । यह तो निरुपाधि प्रव॰ र्तन है, पर ऐसा तो इस समय हो नही रहा । इस जीवमे सुख दुःख इष्ट अनिष्ट आदिक नाना परिणमन चल रहे है तो वे सब विचित्र है, विसम हैं, विकृत हैं, वे दैवके प्रभावसे ही होते है अन्यसे नही होते । यहाँ एक तथ्य और जानना कि बहुतसे लोग ऐसा समझते है कि जगतमे दिखने वाले इन पदार्थोंसे सुख और दुःख आया करते है और ये बाह्य पदार्थ सब

इस जीवके सुख दुःखमें निमित्त होते हैं, पर वास्तविकता यह नही है। जीवके सुख दुःख में निमित्त कारण तो जीव द्वारा उपार्जित कर्मका उदय ही है। उस उदयकालमे जीव विकृत परिणामसे हो रहा है उस समय उपयोगमे जो भी इष्ट अनिष्ट पदार्थ उपयोगमें आ रहे है वे पदार्थ उस सुख दुःख आदिक विकारके आश्रयभूत कारण कहे जाते है, निमित्त कारण नहीं, इस कारण यह निर्णय रखना कि सुख दुःख अन्य पदार्थोंसे नही होते किन्तु दैवके विपाकसे होते है। ऐसा जानकर शुद्धबुद्धि वाले पुरुष कभी अपने मनमें शान्तिका भग नही करते है। यथार्थता जानकर कि ये सब विकार दैवकृत है, इनमे मेरा स्वामित्व नही है, मैं तो ज्ञानानंद स्वरूप पदार्थ हूं। केवल जाननहार रहना, लोभरहित रहना यह ही उसका वास्तविक प्रवर्तन है। इस तथ्यको जाननेके कारण ज्ञानी पुरुष शुद्ध बुद्धि वाले भव्यात्मा अपने मनमे शान्तिका भंग नही करते, किन्तु यथार्थ ज्ञाता और शान्त रहा करते है।

दातुं हर्तुं किंचित्सुखासुखं नेह कोऽपि शक्नोति।
त्यक्त्वा कर्म पुराकृतमिति मत्वा नाशुभं कृत्य ॥३६८॥

(६६) **कर्मातिरिक्त अन्य पदार्थोंसे सुखासुखकी अनिष्पत्ति जानकर ज्ञानीके अशुभ क्रियाका परित्याग**—इस छदमे यह कह रहे है कि पूर्वमे किए गए कर्मोंको छोड़कर न तो कोई इस जीवको सुख ही दे सकता, न कोई दुःख ही मेट सकता, ऐसा विचारकर बुद्धिमानो को सदा अशुभकर्म न करना चाहिये। जगतमे जो कुछ भी जीवोंपर यह लदा हुआ चला आ रहा है, शरीर लदा है, विकार लदे है, सुख दुःखके भाव लदे है, जो कुछ भी इस जीवमे विकृतियाँ आयी है वे सब कर्मका निमित्त पाकर आई है। यहाँ यह बात खास करके समझनी है कि जिसे समयसारमे बधाधिकारमे समझाया गया है। मूढ लोग ऐसी श्रद्धा रखते है कि मुझको जगतके इन पदार्थोंके निमित्तसे सुख दुख रागद्वेषादिक सकट आया करते है, पर वास्तविकता यह नही है। जीवके सुख दुःख रागद्वेषादिक विकारके कर्मविपाकके अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नही होता। इन बाह्य पदार्थोंको लोग निमित्त शब्दसे कहने लगे, पर ये वस्तुतः आश्रयभूत कारण है। जो निमित्तका मडन करते न उनका यह ध्यान है, जो निमित्त का खण्डन करते न उनको यह ध्यान है। ये बाह्य पदार्थ, ये इन्द्रियके विषयभूत पदार्थ ये जीवके विकारमे निमित्त नही, किन्तु आश्रयभूत कारण है। निमित्तनैमित्तिकता अप्रतिहत है, और रोज-रोज देखते है कि रसोई बनती है तो जब आग जलती है तब रोटी सिकती है। सब काम ढगसे चलता है। बेढगा काम कभी नहीं बनता कि रोज रोज तो रोटी आगसे सिकती थी आज धूल या पानीसे सिक जायें। ऐसी विचित्र बात नही देखी गई। जो बात जिस ढंगसे है, जिस निमित्तको पाकर जिस उपादानमे जैसी परिणति हुआ करती है उसके

ढंगसे सब कुछ हो रहा है। तो यहाँ जीवके विकार और जीवके सुख दुःखके प्रसंगमे यह जानें कि इस जीवके द्वारा जो पूर्वोपार्जित कर्म है उसका विपाक निमित्त है, उस निमित्त-नैमित्तिकताका भंग नही हो सकता। जिस जीवके जिस प्रकारके शुभ अशुभ कर्मका उदय है उस जीवके उस प्रकार शुभ अशुभ घटनायें आती है। ये घटनायें बाह्य पदार्थसे नही आयी। यह दृष्टि दिलानेके लिए इस दैव निरूपणमे दैवकी निमित्तनैमित्तिकता बतला रहे है।

(६७) आश्रयभूत कारणकी व्यक्त विकारमे प्रयोजकता—समयसारमे बताया है कि जो यो कल्पनायें करता है कि मुझको अमुक मित्रने सुख दिया, अमुक शत्रुने दुःख दिया तो ये सब कल्पनायें अनर्थक्रियाकारी है मायने ऐसा सोचनेसे न यह बात बनती है और न उन बाह्य पुरुषोके द्वारा यह बात की जाती है। यदि जीवन होता है तो आयुके उदयसे ही होता है। वहाँ आयुका उदय निमित्त कारण है। जीवका मरण होता है तो वहाँ आयुके क्षयसे ही होता है। आयुका क्षय वहाँ निमित्त कारण है। जिस जीवके सुख होता है उसके साताके उदयसे ही होता है, अन्य जीवादिकसे नही होता। तो वहाँ साताका उदय निमित्त कारण है। जिस जीवके दु ख होता है उसके असाताके उदयसे ही होता है, अन्य जीवोके कारण नही होता। इस विषयको समयसारके बंधाधिकारमे बडे विस्तारपूर्वक समझाया गया है और यह इसलिए समझाया गया कि जो निमित्त कारण है ही नही उन्हे निमित्तनैमित्तिक मानकर क्यो व्यर्थमे कल्पनायें बढाना ? इस दृश्यमान जगतके पदार्थ जीवके रागद्वेष सुख दु ख आदिकमे निमित्त कारण नही है, केवल आश्रयभूत कारण है। तो बात यो गुजरती है कि जब जीवके उस प्रकारके कर्म का विपाक होता है तो उस प्रकारके भाव होनेमे यह उपयोग जिस बाह्य पदार्थका आलम्बन लेता है, जिस बाह्य पदार्थको विषय करता है, जिससे अनुकूलता विचारता है वह बाह्य पदार्थ आश्रयभूत कारण कहलाता है। इसीको बताया है—वत्थु पडुच्च ज पुण आदिक गाथामे कि 'नहि बाह्य वस्तु अनाश्रित्य अध्यवसान आत्मान लभते।' बाह्य वस्तुका आश्रय किए बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्रकट प्राप्त नही होता। मायने आश्रयभूत कारण बननेपर जिसे कहो आरोपित कारण, बताया गया कारण, जिन आश्रयभूत कारणोके होनेपर जीव विकार करता है तो वह विकारका आश्रयभूत बना। कर्मका उदय होनेपर जीवमें विकार जगता है, मगर आश्रयभूत मिल जाय तो वह विकार व्यक्त हो जाता है और आश्रयभूत न मिले तो वह विकार अव्यक्त खिर जाता है। जैसे ये क्रोध, मान, माया व लोभ आदिक कषायोके उदय चल ही रहे है, चाहे कोई पूजामे खडा हो, सामायिकमे बैठा हो, चाहे परमात्माका ध्यान कर रहा हो तो भी वहाँ क्रोध, मान, माया, लोभादिकका उदय चल रहा है और उसके अनुभागकी छाया पड रही है और उस प्रकारका

वहाँ विकार जग रहा मगर व्यक्त नही हो रहा, अव्यक्त चल रहा क्योकि उस समयमें उस कषायके आश्रयभूतमे उपयोग नही दिया है। यहाँ शुद्ध तत्त्वमे ध्यान जमाया है।

(६८) **विषम विकृत परिणमनोंकी औपाधिकताका नियम**—यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जगतमे जितनी विषमतायें हो रही है, जो भी विकार विभाव परिणमन चल रहे है वे सब स्वभावसे नही होते। यद्यपि प्रत्येक वस्तुका परिणमन उसका उस ही मे होता है। कोई पदार्थ दूसरेका परिणमन नही किया करता। यह है वस्तुस्वातन्त्र्य, वस्तुस्वातन्त्र्यका अर्थ इतना है कि प्रत्येक वस्तुका परिणमन उस ही वस्तुके परिणमनसे होता है अन्य वस्तु की परिणतिसे नही होता। यह है स्वातंत्र्य। तो विकार होते समय भी वस्तुस्वातंत्र्य बराबर बना हुआ है। वह किस प्रकार बना हुआ है कि जैसे मानो क्रोध प्रकृतिका उदय आ रहा है तो क्रोध प्रकृतिका उदय आनेपर जीवमें क्रोधका अनुभाग प्रतिफलित हुआ और उस समय यह जीव अपनी सुध छोडकर उस अनुभागको अपनाने लगा और एकदम विकाररूप परिणमने लगा। तो उस समय कर्म पुद्गलने जीवको क्रोधोपयोगरूपसे नही परिणमाया। यह जीव ही क्रोधोपयोग रूपसे उपयुक्त हुआ है। यह तो वस्तुस्वातंत्र्य है और यह निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जीव अपने स्वभावके अनुरूप परिणमन न करे, जो विकार रूप परिणमन कर रहा है वह उस क्रोधप्रकृतिके विपाकका निमित्त पाकर ही कर रहा है। बाह्य उपाधिका सग पाये बिना विकार कभी हो ही नही सकता है।

(६९) **निमित्तनैमित्तिकताके परिचयका प्रथम लाभ इन्द्रियविषयोंसे व्यामोहका अभाव**—निमित्त नैमित्तिक भावके परिचय करनेके दो प्रयोजन सिद्ध हुए। एक तो यह होता है कि जो विषयोका व्यामोह कर रखा है और यह मान रखा है कि ये बाह्यपदार्थ मेरे रागद्वेष सुख दुःखके निमित्त है, यह मान्यता हट जाती है। ये निमित्त नही है किन्तु उस ही विकाररूप परिणमता हुआ यह जीव इन बाह्य पदार्थोंको उपयोगमे लेता हुआ और विषयभूत बनाता हुआ अपने विकारको प्रकट करता रहता है। ये आश्रयभूत कारण है। हम इन आश्रयभूत पदार्थोका परिहार करें, यहाँसे विकार हटायें, अपने आपके स्वरूपकी ओर शुद्ध आत्मानुभूतिकी ओर जो शुद्ध आत्मारूप परिणम रहे है उनके गुणोके स्मरणकी ओर अपने उपयोगको चलायें तो हम इन सकटोसे बच जायेंगे। पर जो कर्मप्रकृति उदयमें आयी है वह अपना विकार बनाकर जायगी। हा वहाँ अव्यक्त विकार बनेगा। अध्यात्म-शास्त्रमे अव्यक्त विकारकी चर्चा नही चला करती है। यह तो करणानुयोग बतलाता है। यह सूक्ष्म बात है। अध्यात्मग्रन्थ केवल बुद्धिपूर्वक बातोका वर्णन करते है—अबुद्धिपूर्वकका कथन अध्यात्मशास्त्रोमे नही होता, इसी कारण जहाँ यह कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टिके

आश्रव नही है तो उसका अर्थ यह है कि बुद्धिपूर्वक आश्रव भावनाका अभिप्राय न होनेसे तत्कृत बध और आश्रव नही है परन्तु इस मिथ्या आशयके बिना जो अन्य प्रकारके क्षोभ आदिक परिणाम चल रहे है तन्निमित्तक आश्रव बंध चल रहा है इसकी चर्चा उस प्रकरण मे नही की जाती । तो यहाँ यह बतला रहे है कि जीवके जो भी सुख हो रहा है वह किसी दूसरेके द्वारा नही हो रहा है । जो किसी बधुको सुखदायी मानकर उसका मोह करनेमे लग जाय कि यह मेरेको सुख प्रदान करता है, यह मेरा बडा प्यारा है, यहाँ तो जो लोग जो भी चेष्टायें करते हैं वे अपनी सुख शान्तिके लिए किया करते है, वस्तुतः दूसरेके लिए नही करते । माता पुत्रसे प्रेम करती है मगर पुत्ररूप जो दूसरा पदार्थ है उसके लिए कुछ नही करती, किन्तु उसका आश्रय करके अपने आपमे कल्पनायें बनाती है । यह मेरा पुत्र है यह बड़ा ठीक है, मेरा ही तो है, इससे मेरेको बडा सुख उत्पन्न होता है । कुछसे भी कुछ कल्पनायें बनाये, वह माता कल्पनायें बनाती है और अपनी कल्पनासे वास्तवमे राग रखती है । बाह्य वस्तुसे राग करनेका सामर्थ्य किसीमे है ही नही ।

(७०) **निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयके प्रथम लाभकी विवृतिका समर्थन**--कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमे अपनी परिणति नही कर पाता, मगर जो भी विकृत होता है उस मे परसग ही निमित्त होता है । वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् । क्या कि तस्मिन्निमित्त पर-सग एवं जितने भी विकार जगते है उसमे निमित्त यह स्वयं नही होता । यदि स्वके विकारमे स्व ही निमित्त हो जाय तो वह विकार विकार न कहलायगा, स्वभाव बन जायगा और उसका नित्य कर्ता हो जायगा । वह कभी मिट ही नही सकता । तो आगम मे जो भी वर्णन है उन सब वर्णनोसे हमे लाभ उठाना चाहिए निमित्तनैमित्तिकताके तथ्यके वर्णनसे । आचार्योंके ग्रन्थ करीब-करीब जितने है उनमेसे आधेसे अधिक ग्रन्थ कर्मग्रन्थ है । धवला ग्रन्थ जो सर्व प्रथम इस पचम कालमे रचा गया है वह सब इन्ही सिद्धान्तोका प्रति-पादन करने वाला है । उनसे हम क्या शिक्षा लें कि जीवमे जितने भी विकार जगते है वह पूर्वकृत कर्मके उदयका निमित्त पाकर जगते है । इनके जगाने वाला कोई दूसरा मित्र, शत्रु, बधु, भाई, भतीजा, पुरुष कोई नही है । ये केवल आश्रयभूत बन जाया करते है प्रकट विकार होनेके लिए इसलिए उनमे रागद्वेष न करना । कहाँ राग करें, कौन मुझे सुख देने वाला है ? जो सुख होता है वह हमारे पूर्वार्जित कर्मके उदयसे होता है ऐसा ध्यान रखनेमे इस जीवने बाह्य पदार्थसे व्यामोह हटा लिया । कौन मुझे दु ख दे सकता है, मेरे पूर्व उपार्जित कर्मके उदय से यहाँ दु खरूप अनुभव जगता है । दूसरा कोई मुझे दु खी नही करता, इस कारण जगतमे कोई भी दूसरा जीव मेरा शत्रु नही है । किस पर मै विरोध करू किसे मै बैरी कहू ? यह

अज्ञान है कि जब कोई जरा भी अपने विचारके प्रतिकूल विचार वाला समझता है किसीको तो वह अनिष्ट जचने लगता है, यह उसके पापका उदय है। और वह अपने इस पापके उदय मे फिर दुःख भोगता है। पर यह जानें कि जब कही कोई शत्रु मेरेपर आक्रमण भी कर रहा हो, खोटे वचन बोलनेकी बात तो दूर रहो, वह तो केवल बाहरी बात है, आक्रमण भी कर रहा हो तो भी मेरेको जो कष्ट हुआ है तो मेरे द्वारा अर्जित पूर्व असाता कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ है। उस समयमे यह जीव आश्रयभूत कारण बन गया। तो जो साक्षात् आक्रमण करता हो उसपर भी हममे यह दुर्बुद्धि न रहना चाहिए कि यह मेरेको कष्ट देने वाला है, फिर हम रोज रोजकी चर्या व्यवहारमे जरा जरा सी बात अपने मनके प्रतिकूल निरखने वालेपर हम उसे अनिष्ट मान लें, उसे गैर मान लें, उससे बैर करने लगें, विरोध रखने लगे तो यह तो महान मोह अज्ञानका आक्रमण समझियेगा। यहाँ यह बतलाया जा रहा कि जो मुझमे विषम परिणाम हो रहा वह मेरे स्वभावसे नही हो रहा। हो रहा मेरा परिणमन मेरा ऐसा परिणमन निमित्त पाये बिना नही होता। जब कभी लोग सदेह करते है तो बाहरी परपदार्थोका निमित्त नाम धर धर कर सदेह उठाते हैं। जिन पदार्थोके साथ विकारका अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो, वे ही बाह्य पदार्थ निमित्त कहलाते। हाँ उपयोगके आश्रयभूत होनेपर चूकि विकार जगा, बढ़ा, व्यक्त हुआ अतएव वह आश्रयभूत कारण कहलाता है।

(७१) वास्तविक निमित्त कारण व आरोपित कारणका विवेक—लोक भाषामे और ग्रन्थोमे वास्तविक निमित्तको भी निमित्त शब्दसे कहा गया है और आश्रयभूत कारण का भी निमित्त शब्दसे कहा गया है मगर वहाँ यह विवेक होना चाहिए कि यह वास्तविक निमित्त है, और यह आरोपित निमित्त है अर्थात् आश्रयभूत कारण है। यो तो हर जगह विवेक रखना है। गाय, भैंस, बकरी आदिके दूधको भी दूध कहते है और आक (अकौवा) के दूधको भी दूध कहते हैं पर आपके यह विवेक बराबर बना रहता है कि गाय भैंस आदिक का दूध तो प्राणपोषक होता है और आकका दूध प्राणघातक होता है। यदि कोई एक छटाँक आकका दूध पी ले तो उसके प्राण नही टिक सकते। तो जैसे वहाँ विवेक बना है ऐसे ही बुद्धिमान पुरुष सर्वत्र सावधानी रखते है जीवविकारका निमित्त कहने पर कि जो कर्मका उदय है वह तो है वास्तविक निमित्त जिसका कि नैमित्तिकके साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है और बाकी इन्द्रिय और मनके विषयभूत जो बाह्य पदार्थ है वे सब आरोपित कारण है, आश्रयभूत कारण हैं, निमित्त नही है। निमित्तनैमित्तिकविधि अप्रतिहत है, उसका भंग नही हो पाता। वैज्ञानिक विधिने सब जगह आप यही पायेंगे। यह शरीरकी विचित्रता जो दृष्टिगत हो रही है कैसे-कैसे पशु, कैसे-कैसे पक्षी, कैसे-कैसे कीट पतिंगे, कैसा

कैसा उनका रूप रंग, आकार। तो यह सब शरीरकी विचित्रता कैसे हुई ? यह विचित्रता दैवकृत है, अर्थात् जिस जीवके जिस प्रकारके नामकर्मका विपाक है उसका उस प्रकार शरीर परमाणुवोंमे उस-उस ढगकी रचना चली है। जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं वे सब कोई आज दैवनिमित्तक हैं तो कोई कभी। जैसे ये दरी चौकी पत्थर आदिक जो कुछ भी नजर आ रहे पुस्तक वगैरह ये सब जीवके शरीर थे। स्थावर जीव थे। जब ये शरीर थे तो वे इस कर्मके उदयसे निर्मित थे, वही आज कुछ यह शक्ल बनी हुई है। तो ये सब विचित्रतायें दैवकृत है। इनको निरख करके हर्ष विषाद न करना चाहिए। यह विवेकी उन्हे अन्यके खातेमे डाल देता है कि ये औपाधिक है, मेरे स्वभावकी चीज नही है।

(७२) निमित्त और आश्रयभूत कारणके विवेकीके चरणानुयोगप्रक्रियाका आदर—*निमित्तनैमित्तिक विधिका सत्य परिचय करनेसे एक लाभ तो यह है कि वह इन्द्रिय मनके* विषयभूत पदार्थोको निमित्त नही मानना, यह आश्रयभूत मानता और इसी कारण चरणानुयोगमे इन बाह्य पदार्थोंके त्यागका विधान बताया है कि आश्रयभूत कारणोको आप छोड दीजिए। थोडा अपने भाव बनाइये और उस भाव पूर्वक उनको छोडिये। कभी कभी तो यह देखा जाता कि आप अपने भावोमे कुछ बढ चढ गए, वैराग्य भी आ गया कुछ मन भी ऊब गया इन विषयभूत पर पदार्थोंमे आपका मन नही लगता, मगर ये ही पदार्थ जब अपने सुन्दर सीधे अनेक रूपोमे सामने आते है तो आपका वह पाया हुआ छोटा मोटा वैराग्य मालूम होता है और आप रागभावमे आने लगते है। ऐसी घटना आप प्रायः रोज पाते है इसी कारण इन आश्रयभूत पदार्थोंके परिहारका उपदेश चरणानुयोगमे बताया गया है। एक तो यह लाभ कि आप उस बाह्य पदार्थमे व्यामुग्ध न रहेंगे निमित्त नैमित्तिक भावके परिचयका, क्योंकि इन बाह्य पदार्थोंके साथ उसके विकारका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही है किन्तु यहाँ आश्रय और आश्रयी सम्बन्ध है जो कि कल्पनासे बनाया गया है। तो इन पदार्थोंमे आपको राग द्वेष न जगेगा। इष्ट अनिष्ट बुद्धि न जगेगी। इन बाह्य पदार्थोंके कारण आपके चित्तमे आग्रह न चलेगा, एक लाभ तो यह होगा।

(७३) निमित्तनैमित्तिक भावके परिचयका द्वितीय लाभ सुगमतया स्वभावदृष्टि—निमित्तनैमित्तिकताके परिचयका दूसरा लाभ यह है कि रागद्वेष सुख दुःख आदिक परिणामो से आपको सहज वैराग्य जगेगा, क्योंकि जिस समय आपने जाना कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव औपाधिक हैं, नैमित्तिक है तो यह जानकारी उसको ही हुआ करती है जो अपने स्वभावका परिचय पाये हो। वही तो जान सकेगा कि यह औपाधिक है, याने मेरा स्वरूप नही है। मेरे स्वभावसे उठा हुआ नही है। तो निमित्त नैमित्तिकके परिचयसे स्व-

भावसे उठा हुआ नही है । तो निमित्त नैमित्तिकके परिचयसे स्वभावदृष्टि होना बहुत सुगम है । यह मै हूं ही नही, यह औपाधिक है, औपाधिक मायाके रुचिया परसमय कहलाते है । यह मेरा स्वरूप नही है । मै वह हू जो अपने परसत्त्वके कारण सहज ही अपने आपमे शक्ति स्वरूप हू । मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र हू, जिसकी वृत्ति मात्र जानन है और परम आल्हाद जहाँ आकुलताका रंग लपेट रच भी नही होता । केवल जाननहार यह वृत्ति मेरे कुलकी बात है, स्वभाववृत्ति है । इसमे रागद्वेषका रंग लगा है, क्योकि जो हम जानते है वह कल्पनाके रूपमे उठकर जानते है और उस कल्पनाके रूपके साथ रागद्वेष मिश्रित रहता है । तो इस जाननप्रकाशमे जो रागद्वेषका मिश्रण है यह रागद्वेष कर्म अनुभागकी छायारूप है । इसे यहाँसे हटा दीजिए । अपने उपयोग द्वारा इन वर्तमान भावोमे से इस रागरगको औपाधिक जानकर हटा दीजिए और केवल एक जानन वृत्तिको ही उपयोगमे रखिये । यह ही साधना तो बनाना है । यह साधना निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयसे बडी सुगम बन जाती है स्वभावदृष्टि होनेके लिये । जहाँ गदे पानीमे यह जाना कि यह जो गदगी है यह कीचड की गंदगी है, ऐसा जानने वालेकी जलके स्वरूपका, स्वभावका परिचय है । यदि जलके स्वभावका परिचय उसे नही है तो वह कीचडकी गंदगी है ऐसा बोध कर ही नही सकता । इसी प्रकार यह नैमित्तिक है यह बोध उन्ही ज्ञानी सत पुरुषोके बनता है जिनको अपने स्वभावका सुदृढ़ परिचय है उनमे ये रंग सम्भव ही नही है कि मेरे स्वभावमे ये राग रग आ जायें । तो जितनी भी विषमता है वह मुझे न चाहिए । वह सब विषमता दैवकृत है । मेरे स्वभावसे उत्पन्न हुई नही है । मै तो ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूं ।

(७४) **दैवनिरूपणके प्रकरणसे प्राप्तव्य शिक्षा**—यहाँ जो परिचय इस दैवनिरूपण मे बताया जा रहा है, इससे सीधी तो यह शिक्षा लेना कि मेरेको सुख दु.ख देने वाला जगतका कोई भी बाहरी पदार्थ नही है । मात्र भाग्योदय ही निमित्त है । तो यहाँ यदि इन वाह्य पदार्थोसे सुख दुःख होता है, यह कोई मान ले तो वह और भी उलझनमे पड जाता है । हटाना तो दूर रहो, उसकी उलझनें बढती है, अज्ञान बढता है, लगाव बढता है और यदि कोई इन रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकारोको नैमित्तिक नही मान पाता तो वह अपना मान वैठता है । मेरी कलासे हुआ है, मेरी ही चीज है, मैं क्यो छोडू, यह तो मेरा ही ठाठ है, मेरी ही बात है । वह वहाँ स्वभावरूप मानकर उसमे बह जायगा, इस कारण वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक योग इन दोनोका भले प्रकार परिचय करना क्योकि जगतमे हम आप आज यहाँ आये है, इन समागमोके बीच है, घर गृहस्थी मकान नगर आदिक जिनकी जैसी-जैसी घटनायें है उनके बीच रह रहे है और अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंके

पाता है ।

(७६) **जीवकी प्रगतिका प्रथम अवसर क्षयोपशमलब्धि**—क्षयोपशम लब्धिका अर्थ यह है कि कोई भी समय मंद अनुपातमे अनुभागका उदय आये वह इस लब्धिका समय है। जैसे इस जीवने मानो अबसे लाख वर्ष पहले कर्म बांधा था और वे कर्म जबसे जब तकके लिए बांधा उसके निषेक सब प्रति समय बँट गए। उसके बारेमे मानो कई अरबोकी संख्या मे परमाणु वर्ग बँधे तो पहले समयको मिलता है अधिक परमाणु, बादके समयको मिलता है कम परमाणु, ऐसा ऐसा अन्तिम समयमे मिलता है बिल्कुल कम कोई निषेक और शक्तिकी बात इससे उल्टी चलती है। जो पहले समयमे बहुत परमाणु मिले उदयके लिए उनमे शक्ति कम रहती है, अगले समयमे जो परमाणु कम मिले उनमे शक्ति अधिक रहती है और अन्त समयके लिए जो परमाणु पुञ्ज बहुत कम बचे उनमे शक्ति सर्वाधिक रहती है, तो ऐसे प्रति समयके पूर्व समयके बांधे हुए परमाणु बँटे हुए है। आजके क्षणमे जितना उदय आ रहा है तो यह करोडो भव पहलेके अनगिनते समयोके बांधे हुए कर्मका जो समय प्राप्त है, विभागमे आया है उसका उदय चल रहा है। तो वह वर्तमान उदय जब मंद अनुभागमे पड जाता तो वह है जीवके पुरुषार्थ चलनेका पहला अवसर। तो यह बात होती है कर्मकी ओरसे ही। तब तक जीवका कुछ नही वश चल पाता। तभी तो अनादिसे चल रहा है बराबर और चलता ही रहा, तो सर्वप्रथम मौका मिलता प्रगतिका जीवको, तो क्षयोपशमलब्धिसे मंद अनुभाग वाले समयसे ही।

(७७) **प्राप्त सुअवसरमें प्रमादमें न करनेका अनुरोध**—भैया! प्रथमावसरकी इस चर्चामे क्या अधिक पडना? हम आपका तो सुनिश्चित ही है कि क्षयोपशमलब्धि मिल चुकी है और आज अच्छी स्थितिमे है, यहाँ हम प्रमाद करें तो हमारी भूल है। हम उस योग्य स्थितिमे है जहाँ एक अवसर मिलता है कि यह चाहे तो अपना उद्धार कर ले। उसके लिए पौरुष क्या है? ज्ञान सीखें, अध्ययन करें, पढ़े, चर्चा करे। हर विधियोसे अपनी ज्ञान भावना बढायें तो इस पुरुषार्थके निमित्तसे कर्मोंमे मंदता, क्षीणता, हल्कापन ये होने लगते है। जो ७ प्रकृतियोके उपशम, क्षय, आदिक बताये तो कही एक ही समयमे सब कुछ हो गया। पहलेसे कुछ नही हो रहा था उन कर्मोंमे ऐसा नही। तो हमारा वर्तमान पौरुष भी चाहे सम्यक्त्व नही है, मिथ्यात्वकी स्थितिमे ही चल रहे है, पर मंद कषाय हो, कुछ उद्धार का परिणाम हो ऐसे मंद मिथ्यात्वमे, मंद कषायमे ये बातें आने लगती है। तो इस समयके इस पौरुषका निमित्त पाकर उन ७ प्रकृतियोमे मंदता आने लगती है। उपशम, क्षय, क्षयोपशम तो न होगा मगर कुछ परिवर्तन होने लगता है और परिवर्तन होते होते जब विशुद्धि

अनुसार जन्म मरण करते चले आये हैं। आज सुयोग मिला, सुबुद्धि मिली, हम तथ्यका परिचय पा सकते है, अपने आत्मस्वरूपका भान कर सकते है। तो जैसे अपने आपकी करुणा बने, अपने आपका उद्धार बने वह काम बना लिया जायगा, अन्य कामोके जितने उपदेश है हैं वे सब उपदेश आत्मकल्याणका कार्य बनानेके प्रयोजनसे ही कहे गए है। तो उन सबका हम उपयोग इस प्रकार ले कि उनका वाच्य अर्थ उस प्रकारकी पद्धतिसे लायें कि जिससे हम बाह्य पदार्थोसे उपेक्षा करके विकारोसे उपेक्षा करके अपने शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावमे उपयोगको ले जा सके, बस इसमे ही आत्माका कल्याण है।

नरवर सुरवर विद्याधरेषु लोके न दृश्यते कोऽपि।
शक्नोति यो निषेद्धु भानोरिव कर्मणामुदयः ॥३६६॥

(७५) कर्मोदयके निवारणकी अशक्यता—जैसे जब सूर्यका उदय होता है तो उसको संसारमे कोई रोकनेके लिए समर्थ नही है। उदयकालमे उदित होता है। उसे मनुष्य, देव आदिक कोई नही रोक सकता, उसका प्रकट होना अवश्यभावी है। इसी प्रकार इस दैवका भाग्य उदयमे आना और शुभ अशुभ फल देना भी अवश्यंभावी है। इसे भी कोई रोक नही सकता, यह एक सतति अनादिसे चली आयी है। जीवके विकार परिणामका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोमे कर्मत्व आया और उस कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवमे विकारभाव आया। यह सतति अनादिसे इस जीवके साथ चली आयी है। इसी बीच कभी किसीके ऐसा योग बन जाता है कि किसी समय मद अनुभाग वाले निषेक उदयमे रहते है, तो जैसे जब कभी नदीका बेग कम हो जाता तो वहाँ उस नदीको पार कर लिया जाता है ऐसे ही जिस जीवके कर्मभार अनुभाग मद होनेका समय होता है उस समय जीवको अवकाश मिलता है कि कुछ पौरुष बनाये और आगे प्रगतिकी धारा बना सके। एक प्रश्न होता है कि इस जीवने अनन्त काल क्यो व्यतीत किया ? जब जीवके आधीन बात है कि अपने पुरुषार्थको सभाले तो पार हो जाय तो इसने कभी ऐसा पुरुषार्थ सभाला क्यो नही और उसका स्पष्ट प्रमाण है कि जो अब तक रुल रहे है, हम आप कभी अपने आपकी सुध नही संभाल सके। तो बात यह है कि थोडा ऐसा प्रसग आता है कि यह अपने ज्ञानबलको सभाले तो कर्मोमे परिवर्तन घटा बढी उत्कर्षण अपकर्षण सक्रमण निर्जरा गुणश्रेणी ये सब अपने आप चलने लगते है, पर अपने आपको सभालें कैसे ? तो उसका निमित्त है कर्मोका ७ प्रकृतियोका उपशम क्षय, क्षयोपशम, वह भी कैसे होवे ? तो उसका कारण है कि यह मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, सत्सग आदिक बातोका प्रयास करे, और यह भी कैसे मिले ? तो प्रश्नमे प्रश्न उठा ले जायें, अन्तमे यह उत्तर मिलता है कि सबसे प्रथम क्षयोपशमलब्धिसे जीवको प्रगतिका मौका मिल

पाता है ।

(७६) जीवकी प्रगतिका प्रथम अवसर क्षयोपशमलब्धि—क्षयोपशम लब्धिका अर्थ यह है कि कोई भी समय मद अनुपातमे अनुभागका उदय आये वह इस लब्धिका समय है। जैसे इस जीवने मानो अबसे लाख वर्ष पहले कर्म बांधा था और वे कर्म जबसे जब तकके लिए बांधा उसके निषेक सब प्रति समय बँट गए। उसके बारेमे मानो कई अरबोकी संख्या मे परमाणु वर्ग बँधे तो पहले समयको मिलता है अधिक परमाणु, बादके समयको मिलता है कम परमाणु, ऐसा ऐसा अन्तिम समयमे मिलता है बिल्कुल कम कोई निषेक और शक्तिकी बात इससे उल्टी चलती है। जो पहले समयमे बहुत परमाणु मिले उदयके लिए उनमे शक्ति कम रहती है, अगले समयमे जो परमाणु कम मिले उनमे शक्ति अधिक रहती है और अन्त समयके लिए जो परमाणु पुञ्ज बहुत कम बचे उनमे शक्ति सर्वाधिक रहती है, तो ऐसे प्रति समयके पूर्व समयके बांधे हुए परमाणु बँटे हुए है। आजके क्षणमे जितना उदय आ रहा है तो यह करोडो भव पहलेके अनगिनते समयोके बांधे हुए कर्मका जो समय प्राप्त है, विभागमे आया है उसका उदय चल रहा है। तो वह वर्तमान उदय जब मद अनुभागमे पड जाता तो वह है जीवके पुरुषार्थ चलनेका पहला अवसर। तो यह बात होती है कर्मकी ओरसे ही। तब तक जीवका कुछ नही वश चल पाता। तभी तो अनादिसे चल रहा है बराबर और चलता ही रहा, तो सर्वप्रथम मौका मिलता प्रगतिका जीवको, तो क्षयोपशमलब्धिसे मद अनुभाग वाले समयसे ही।

(७७) प्राप्त सुअवसरमें प्रमादमें न करनेका अनुरोध—भैया! प्रथमावसरकी इस चर्चामे क्या अधिक पडना? हम आपका तो सुनिश्चित ही है कि क्षयोपशमलब्धि मिल चुकी है और आज अच्छी स्थितिमे है, यहाँ हम प्रमाद करें तो हमारी भूल है। हम उस योग्य स्थितिमे है जहाँ एक अवसर मिलता है कि यह चाहे तो अपना उद्धार कर ले। उसके लिए पौरुष क्या है? ज्ञान सीखें, अध्ययन करें, पढ़ें, चर्चा करे। हर विधियोसे अपनी ज्ञान भावना बढायें तो इस पुरुषार्थके निमित्तसे कर्मोंमे मदता, क्षीणता, हल्कापन ये होने लगते है। जो ७ प्रकृतियोके उपशम, क्षय, आदिक बताये तो कही एक ही समयमे सब कुछ हो गया। पहलेसे कुछ नही हो रहा था उन कर्मोंमे ऐसा नही। तो हमारा वर्तमान पौरुष भी चाहे सम्यक्त्व नही है, मिथ्यात्वकी स्थितिमे ही चल रहे है, पर मद कषाय हो, कुछ उद्धार का परिणाम हो ऐसे मद मिथ्यात्वमे, मद कषायमे ये बातें आने लगती है। तो इस समयके इस पौरुषका निमित्त पाकर उन ७ प्रकृतियोमे मदता आने लगती है। उपशम, क्षय, क्षयो-पशम तो न होगा मगर कुछ परिवर्तन होने लगता है और परिवर्तन होते होते जब विशुद्धि

देशना प्रायोग्यलब्धियोसे गुजर कर करणलब्धि आती है तो यों ही वे कर्म पुञ्ज क्षीण हो होकर उस कालमे उपशम, क्षय, क्षयोपशमकी स्थितिको प्राप्त होते हैं।

(७८) सम्यक्त्वादि विकासकी स्वाभाविकता—जिन कर्मोंके उदयमे मिथ्यात्व बन रहा था उन कर्मोंका उपशम आदिक होनेसे मिथ्यात्व समाप्त हो गया। अब विपरीत अभिप्राय नही बनता। तो इसका सम्यक्त्व होना अवश्यंभावी हो गया। वास्तविकता यह है कि उन ७ प्रकृतियोके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे विपरीत अभिप्राय दूर होता है। मिथ्यात्वका विनाश होता है। जो नैमित्तिक है उसका अभाव होता है। नैमित्तिक है मिथ्यात्व। सो उन ७ प्रकृतियोके उपशम आदिकसे उस नैमित्तिक भावका, मिथ्यात्वका अभाव होता है, किन्तु वहाँ यह अवश्यभावी हो गया कि मिथ्यात्वका विशेषतया अभाव हो तो सम्यक्त्व का विकास होता है। तो यो कहने लगे कि इन ७ के क्षय आदिकसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। ७ के क्षय आदिकसे मिथ्यात्वपर्यायका अभाव होता है और उस स्थितिमे यह स्वाभाविक बात है कि सम्यक्त्वका विकास हो जाय। जो स्वाभाविक परिणतियाँ हैं वे नैमित्तिक हैं। नैमित्तिक तो नैमित्तिकका सद्भाव नैमित्तिकका अभाव है और यह स्वाभाविक पर्याय उस समयमे स्वयं ही होती है। अथवा यह वृत्ति तो हरदम विकासके लिए ही तत्पर रहती है। प्रतिबधक मिथ्यात्व आदिक विभाव आते हैं तो ये विकसित नही होते। तो किसी खास स्थितिमे जहाँ तत्त्वज्ञान जगे, आत्माको संभाले, ऐसी विशेष ज्ञानप्रकाशकी स्थितिमे इन बद्ध कर्मोमे संक्रमण प्राक् निक्षेप आदिक होने लगता है। बस एक इस विशिष्ट स्थितिको छोड कर शेष समयके इस दैवका निवारण करनेके लिए कोई समर्थ नही है। दूसरा तो समर्थ होता ही नही है। मेरे भाग्यको कोई दूसरा जीव परिवर्तित कर दे, वह निमित्त भी बन जाय सो ऐसा नही होता। तो दूसरा कोई भी इन्द्र हो, चक्री हो, महापुरुष हो वह भी इस दैव का निवारण करनेमे समर्थ नही है।

(७९) निमित्तनैमित्तिकयोगके परिचयसे कायरता—उक्त सब बात सुनकर कायरताकी बात नही जगाना है कि मैं क्या करूँ? यह सब दैवके आधीन है, दैवकृत बातें हैं। हम तो वहाँ विवश हैं, इन तथ्योको जानकर यह बात लेना है कि ये कर्म, ये मेरे स्वभावभावके उपादानतया प्रतिबधक नही है जो मैं यह कायर बनूँ कि भाग्य ही मुझे जैसा परिणमाता है सो होता है। भैया, दैव निमित्तमात्र है। परिणमाने वाला भी पदार्थ दूसरा नही हुआ करता। वस्तुस्वातन्त्र्यका अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु अपनी ही परिणति क्रियासे परिणमती है, अन्यकी परिणति क्रियासे नही परिणमती है। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है। तभी प्रत्येक पदार्थ आज सत्तामे मिल रहे हैं। यदि ये गड़बड़ियाँ चलती होती कि एक

पदार्थसे दूसरे पदार्थका परिणमन होता तो आज कुछ भी न मिलता। एक दूसरे रूप हो गया, वह दूसरे रूप बन गया, दूसरेका परिणमन करनेका अर्थ दूसरे रूप हो जाना है। तो यो अटपट कोई किसी रूप कोई किसी रूप हो जाता और यो विघटन होते होते जगत शून्य हो जाता। आज जो पदार्थ सत्त्वमे मिल रहे है वे इसके प्रमाण हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणति क्रियासे परिणमते है। तब तक ही यह नियोग है कि अशुद्ध उपादान कर्मोदय का निमित्त पाकर विकाररूप परिणमता है। विकाररूप परिणमा यह जीव अकेला। कोई परिणमन दो क्रियावोका मिलकर नही होता। तो विकार रूप यह जीव हो परिणमा उस कालमे, तो यह कहलाया वस्तु स्वातंत्र्य, पर ऐसा विकार रूप परिणमना परसंग पाये बिना नही होता। परसगके सान्निध्यमे ही होता। यह कहलाया निमित्तनैमित्तिक योग। सो निमित्तनैमित्तिक योग जाननेसे अपनेमे कायरता दूर होती है। यह तो नैमित्तिक भाव है, निमित्त पाकर हुआ है। पर हुआ है उसकी ही परिणतिसे। अन्य वस्तुकी परिणतिसे नही हुआ है, इसलिए यह वस्तुस्वातत्र्य बराबर बना है। खेदकी बात कहो या गम्भीर समस्या की बात कहो यह तब कहलाये जब कोई निमित्तभूत पदार्थ ही उपादानरूप परिणम जाय उपादानकी परिणति कर ले और उपादान स्वय परिणम न रहा हो, केवल निमित्त ही परिणम रहा उस रूप, जिसको कि उपादानका विकार कहते है। यह बात होती तो एक बडी समस्या थी और मोक्षमार्गका उपाय नही बन सकता। पर वस्तुस्वातंत्र्य है, निमित्तनैमित्तिक योग होनेपर भी, इस कारण यहाँ दम है कि यह जीव कभी विकार पर्यायको छोड़कर स्वभावपर्यायमे भी आयगा।

(८०) **निमित्तनैमित्तिकयोगके परिचयसे अहंकार विकारका नाश**—निमित्त नैमित्तिक योगके सही परिचयसे अहंकार मिटता है, कायरता दूर होती है, अहंकार तो यो मिटता कि मैं कुछ करने वाला नही। यह कर्मोदयका निमित्त पाकर हो रहा है, कोई पुरुष समृद्ध हुआ, धनी बना, अनेक सुखसाधनोसे सम्पन्न बना तो यह अटपट काम नही हो गया, बराबर उस रूप साता आदिक प्रकृतियोका उदय वहाँ चल रहा है और उसके अनुकूल ये बाह्य समागम मिल रहे हैं। निमित्तनैमित्तिक योगमे वस्तु पारतन्त्र्यकी बात नही है, किन्तु वह योग जैसी बात है कि इस प्रकारके निमित्त सन्निधानमे उपादान इस रूप परिणम जाता है। जैसे कोई मनुष्य जा रहा है, सडक पर प्रकाश है, गर्मी है, धूप है और सडकके पास कोई पेड़ खडा है और उस पेडको छाया जमीन पर नीचे पड रही है तो बतावो वह छाया जमीनकी है या उस पेडको? तो निश्चयसे पृथ्वी ही उस छायारूप परिणम रही है। वहांसे कोई मनुष्य निकला तो वहाँ मनुष्यकी छाया जमीन पर पड़ गई। मनुष्य नही छायारूप परिणमा, परि-

साम्य यह मनुष्यशरीर ही है और निमित्त पाये बिना इस प्रकार परिणमा नही, दोनो तथ्यो को जाननेसे वस्तुस्वभावका दृढ परिचय होता है और चाहना यह ही है कि मैं अपने स्वभाव मे आऊँ, ठहरूँ और उस ही मे रम जाऊँ। तो यह ही शिक्षा इन सब घटनावोमे, प्रसंगोसे प्राप्त होती है।

(८१) उदयक्षणमें प्रकृतिविपाककी अनिवार्यता और उसके प्रतिपक्षमें ज्ञानीका पौरुष—इस छदमे कह रहे है कि जो भाग्य उदयमे आ रहा उसके निवारणके लिए कोई समर्थ नही है। उदयक्षण एक समयका हुआ करता है। उदयावलि एक आवलीकी होती है। उदयावलिका अर्थ है कि उस जातिके निषेकोका वहाँ निरन्तर उदय चलता रहेगा उस आवली मे और उदयका यह अर्थ है कि इन निषेकोका इस ही एक समयमे उदय आयने निकलना बन रहा है तो उदयक्षणमे वह दैव निवारा नही जा सकता। चाहे कैसा ही तत्त्वज्ञानी हो, महापुरुष हो, सयमी हो उसके तत्त्व ज्ञानके बलपर उदयावलिमे परिवर्तन हो जायगा। उदयावलि से पहले भी हो जायगा, पर उदयक्षणमे परिवर्तन नही हो पाता है। ऐसा ही वस्तुका नियोग है। ऐसा सूक्ष्मदृष्टिसे इसका अर्थ लगायें तो यो समझिये कि उदयक्षणमे आया हुआ दैव अनिवार्य है, उसे रोकनेके लिए कोई दूसरा समर्थ नही है। इतनी सारी बातें होकर भी हम आप को सन्मार्गमे लगनेके लिए अनेक पद्धतियाँ और अनेक अवसर हैं। उदयक्षणमे मत रुके जो उदयमे आयगा, पर तत्त्वज्ञानी जीव ऐसा कर ही सकता है कि कषायके आश्रयभूत इन इन्द्रिय विषयोमे उपयोग न लगाये, वह अपने सहज आत्मस्वरूपमे उपयोग लगाये, तो लो बच गया उस सकटसे। अब वह अव्यक्त होकर निकल गया विकार। वहाँ बवकी विशेषता अब नही रही। तो आश्रयभूतका परिहार करें, एक तो यह हम आपका विजयके लिए बड़ा भारी साधन है। दूसरी बात हमारा काम है निज सहज अंतःस्वरूपकी धुन बनाना, उसे दृष्टिमें लेना, उसमे उपयुक्त होना, यह हम अपना कार्य करें। बाधायें आयेंगी, पर बाधायें आनेपर भी हम अपने कार्यकी धुन न छोड़ें। कैसा होता है, क्या होता है, कब होता है, ये कुछ भी शंकायें न बनायें, किन्तु एक ही निर्णय बनायें कि अपने जीवनमे अपना काम निज सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमे लेना है। वह सहज आत्मस्वरूप क्या है? आत्माका अपने ही सत्त्वके कारण सहज जो आत्माका लक्ष्य है, लक्षण है, शक्ति है, स्वभाव है वह आत्माका स्वरूप है। उसरूप अपने आपको प्रतीतिमे लें कि मैं यह हू।

(८२) सहजात्मस्वरूपकी संभालमें सब संभाल—अब देखिये कितनी बातें दूर हो गईं। ये विकार मैं नही हू। ये विचार मैं नही हू। जरा भी रंग तरंग हो वह भी मैं नहीं हूं। जिसने अपने सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमे लिया है उसके उस ही के आत्मत्वका अनुभव

है, अन्यका अनुभव नही है। देखिये—जैसे अज्ञानदशामे निमित्त नैमित्तिक योगसे बुराई हो रही थी। वैसे अब ज्ञान दशामे निमित्त नैमित्तिक योगसे कर्ममे भगदड मचने लगती है। निमित्तनैमित्तिकयोग यहाँ पलट गया। अब किस पद्धतिसे बर्तने लगा। एक सहज आत्मस्वरूपका ज्ञानप्रकाश मिले। उसके बाद इस ही की धुन बनाये और इस ही मे अपने आप को रमाता रहे तो क्या होता, कैसे होता इसकी बातें कोई लोग बहुत पढ़ लिखकर जानते है वे ही बातें उस तत्त्वज्ञानीके प्रयोगमे अब सहज आती है। चाहे किसीने कोई विशेष विद्या का अध्ययन न भी किया हो पर इतना मनन तो होना ही चाहिए कि जिससे सहज आत्मस्वरूपका ज्ञान प्रकाश पाये और उसके बाद उस ही की धुनमे लग जाय वही एक मात्र लक्ष्य रह जाय तो वे सब बातें इस पर बीतेंगी, जिनको गुणस्थानमे बताया है व सब स्वयं होने लगेंगी। हमारा कर्तव्य तो अपने वास्तविक स्वरूपको जानना और उस रूप ही अपने को अनुभवना है, बस निमित्त नैमित्तिकता तो न मिटेगी पर उसका पलडा बदल जायगा। अब हमारे इस विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर उन कर्मोंमे निक्षेप आगाल, प्रत्यागाल, उनका सक्रमण उनका अनुभाग क्षीण हो, घात हो, जो कुछ उनमे दशा बनती है वह अब होने लगती है। तो हमारा कर्तव्य किसी अन्य वस्तुपर ध्यान देनेका नही है। उसपर दृष्टि लगानेका नही है। वह तो सब निर्णय अपना पौरुष संभालनेके लिए है। निर्णय करके अब अपने पौरुषको सभालनेमे ही अपने क्षण व्यतीत हों। वह संभाल है अपने को यथार्थ स्वरूप मे जानें।

(८३) सहजात्मस्वरूपकी भावना—मैं अपने आप क्या हू, स्वय सत् हू, सो अन्यके लेपसे रहित हू। सत्त्वमे अन्यका लेप नही पडा है। सत्त्व कैवल्यको लिए हुए होता है। भले ही प्रसग सग लेप उपाधियाँ ये सब बातें हो मगर सत्त्वमे स्वकी केवलता रहती है। कही दो का मिलकर एक सत् नही बनता। तो जब मैं सत् हूं। अपने आपके सत्की ओरसे मेरा स्वय स्वरूप क्या है इस ओर दृष्टिपात होना चाहिये और इसीकी खोजमे, इस ही के प्रकाशमे हमे अपना पौरुष बनाना चाहिए। हम असहयोग करके इस पौरुषको सफल बनायें असहयोगके मायने यह है कि स्वभावके अतिरिक्त जो कुछ भी गुजरता है, जो भी घटना, लेप, सम्बन्ध, बधन दैव आदिक इन सबका सहयोग समाप्त कर दें, असहयोग आन्दोलन बनायें कि मुझे किसीसे कुछ प्रयोजन नही।

(८४) शरीररहित सहजविकासमय अवस्थाकी प्रतीक्ष्यता—ये प्राणी जितना दुःख पा रहे है वे अपनी परिणतिसे पा रहे, पर जरा आश्रय निमित्त बधन आदिक घटनावोको तो देखिये सारे क्लेश उस शरीरके सम्बन्धके कारण बन रहे है, न मेरेसे शरीर चिपका

होता तो भूख प्यास आदिककी व्याधियां कैसे मुझे सताती ? यदि यह शरीर साथ न लगा होता तो ये सम्मान, अपमान, इष्टवियोग अनिष्ट सयोग आदिक कैसे लग जाते ? इन अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मासे ये सम्मान अपमान आदिकने यह नही आया करते। जब यह जीव शरीरपर दृष्टि दिए है मै यह हू और इसने मुझे ऐसा कह डाला, यह भी कुछ नही समझता और ये मुझे अनेक लोग देख रहे है, इनकी निगाहमे मेरा अपमान हो गया। ये सब बातें शरीरको निगाह करके उठायी जा रही है, तो हम आपके सारे कष्टोका आधार यह शरीर बन रहा है। तब यह भावना बनायें कि मुझे शरीर ही न चाहिए। शरीर रहित मेरा स्वयका स्वरूप है. बस वही स्वरूप मेरा बने। मुझे यह शरीर न चाहिए। यह शरीर अलग हो और आगे कोई शरीर न मिले मेरी ऐसी वाञ्छा है। इसमे क्या नफा पाया जा रहा है ? नया शरीर मिला, जिन्दगीमे जिये, नाना कष्टोको पाया। फिर मरे, फिर नया जीवन पाया, फिर मरे, फिर नया जीवन पाया और उस जीवनसे दु ख पाया। यह धारा क्यो बने मेरे को। यह शरीर ही मेरा न रहे। शरीररहित केवल ज्ञानमात्र आत्मा रहूं, बस यह ही भीतरमे धुन होनी चाहिए कि मुझको तो यही बनना है। सभी मनुष्य अपने अंतिम बननेकी बात चित्तमे लाते है। तो हम आपमे यह ही बात आनी चाहिए कि मैं शरीररहित केवल अपने स्वरूपमात्र रह जाऊँ, इसके अतिरिक्त मुझे अन्य कुछ न चाहिये। यह भावना हो तो जो होनेका है कल्याणके लिए वह सब सहज होता रहेगा। अपना कल्याण तो अपने स्वरूपकी सभाल मात्र है।

दयितजनेन वियोग सयोगं खलजनेन जीवानां।
सुखदु ख च समस्त विधिरेव निरकुश. कुरुते ॥३७०॥

(८५) **सांसारिक घटनाओकी दैवकृतता**—इस लोकमे इष्ट जनोके साथ वियोग, अनिष्टजनोके साथ सयोग और सुख दु खकी प्राप्ति कराना आदिक सब बातें निर्भय रीतिसे प्रवर्ताने वाले दैवकी कृपा है। दैव ही बिना किसी भयके इन सब बातोको करता है। यहाँ बाह्य घटनावोके साथ आत्मस्वरूपके असम्बन्धकी बात दर्शायी गई है। जितने ये सब बाह्य समागम घटनायें हो रही है ये सब औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, ये आत्माके स्वभाव रूप नही है और ऐसा प्रबल निमित्त नैमित्तिक योग है यहाँ कि इस इस प्रकारसे कर्मविपाक होने पर इस इस पदार्थमे इस इस प्रकारकी घटना हो जाती है।

(८६) **कार्यकारणभावका दो पद्धतियोसे निरूपण**—कार्य कारण भाव दो प्रकारसे देखा जाता है। एक उपादानदृष्टिसे और एक घटनादृष्टिसे। उपादानदृष्टिसे तो स्वयका स्वयंमे ही कार्यकारणभाव है। पूर्वावस्थासयुक्त स्वद्रव्य उपादान कारण है और प्रवर्तने वाली नई

अवस्था यह कार्य है। एक ही द्रव्य अपनेमें कारणपने और कार्यपनेको अनुभवता हुआ अनादि से अनन्तकाल तक निरन्तर वर्तता रहता है। घटनादृष्टिसे यह बात घटती है कि जितने स्व-भावानुरूप कार्य हैं वे पर उपाधिका सम्बध पाये बिना स्वय ही अपने आपमे बर्तते रहते हैं। हां कालद्रव्य एक साधारण निमित्त है अतएव उसकी कथनी विशिष्ट नही की जाती। वह तो निरन्तर है ही। पर विकार परिणमन जितने होते है अर्थात् स्वभावके प्रतिकूल परिणमन वे समस्त परिणमन किसी बाह्य प्रसङ्गका सान्निध्य पाकर ही होते है, अन्य प्रकार नही हुआ करते। परिणमन सबका अपने आपमे है। यह तो है वस्तुकी स्वतंत्रता। और विकार परिणमनमे भी वस्तुस्वातन्त्र्यको अपने स्वचतुष्टयके स्वातन्त्र्यको नही छोडता है। निमित्त सान्निध्यमे भी उपादान मात्र अपनी ही परिणतिसे परिणमा है, दूसरेकी परिणतिको लेकर नही परिणमता है, ऐसा ही नियोग है और इस ही प्रकार विकारका उत्पाद चलता है अर्थात् जब घटनादृष्टिसे कार्य कारण भावका विचार करते हैं तो उन्हे कार्य कारण शब्दसे कहना या साध्य साधन शब्दसे कहना। साधन मायने कारण और साध्य मायने कार्य।

(८७) **ज्ञप्तिके साध्य साधनकी व्यवस्था**—देखिये—साधन व साध्य उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनोमे होते है याने ज्ञप्तिमे भी साधन साध्य होता है, उत्पत्तिमे भी साधन साध्य होता है। ज्ञप्ति मायने जानकारी। जैसे ऊपर धुवां उठता हुआ देखा तो उस धुवेंका ज्ञान करनेसे यह ज्ञान कर लिया गया कि इस मकानमे या इस पर्वतमे आग जल रही है। तो धुवांके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान होना ये ज्ञप्तिके साध्य साधन कहलाते है। जिसे दर्शनशास्त्रमे कहा है—"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।" साधनसे साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। तो ज्ञप्तिके साधनसे साध्यका ज्ञान होता है न कि उत्पाद हुआ है। ये जानकारीके साध्य साधन है। जब उत्पत्तिके साध्य साधनकी बात देखते है तो घटना दृष्टिमे उपादान निमित्त सभी प्रकारका परिचय किया जाता है। तो उत्पत्तिकी दृष्टिमे साधन है अग्नि और साध्य है धुवां। धुवांसे अग्नि उत्पन्न नही होती, किन्तु अग्निसे धुवां उत्पन्न होता है। तब जानकारीमे तो धुवांसे अग्निका ज्ञान चला, उत्पत्तिमे अग्निसे धुवांकी उत्पत्ति हुई है। तो उत्पत्ति और ज्ञप्तिमे साध्य साधन एकदम बदल गये। जो ज्ञप्तिमे साधन है वह उत्पत्तिमे साध्य है। जो ज्ञप्तिमे साध्य बना है वह उत्पत्तिमे साधन है। अब इस तरहसे आत्माको निरखिये। आत्मामे विकारभावके जाननेसे कर्म प्रकृतिका उदय जाना जाता है। जैसे अग्नि पदार्थका प्रत्यक्ष नही है, परोक्ष है, तब ही तो धुवां जानकर अग्निका ज्ञान करना पडा है। ऐसे ही कर्मोदय परोक्ष है, प्रत्यक्ष नही है। स्पष्ट नही है और विकार प्रत्यक्ष है। यद्यपि विकार अमूर्तिक भाव है और कर्मविपाक मूर्तिक है तो विकारसे मोटी चीज है कर्म।

अमूर्तिक होनेके कारण वे कर्म मूर्तिक तो हैं और ये विकार उन कर्मोंसे भी सूक्ष्म है, क्योंकि जीवविपरिणमन है, मगर खुदपर बीती हुई बात है इसलिए स्वसम्वेदन उनका बन जाता है, और स्वसम्वेदन होनेसे अपने आपके विकार अपने आपको स्पष्ट प्रतिभात होते हैं पर कर्म विपाक ज्ञात नही होता। तो यहां साधनसे साध्यका ज्ञान किया गया है अर्थात् आत्माके रागद्वेषादिक विकारोंको देखकर कर्मोदयका ज्ञान किया गया है। यहां कर्मोदय अवश्य था, अवश्य है क्योंकि विकार भाव होने से। तो यह है ज्ञप्तिका साधन। जानकारीमें जीव विकार बना साधन और कर्मोदय बना साध्य। यह है जानकारीके विषयकी बात।

(८८) उत्पत्तिके साध्य साधनकी व्यवस्था—अब उत्पत्तिकी ओरसे देखें तो उत्पत्तिसे उपादानका परिचय होता, निमित्तका भी परिचय किया जाता। तो उत्पत्तिकी ओरसे बात यह है कि कर्मोदयका सन्निधान होनेपर रागद्वेषादिक विकार जगा तो यहां कर्मोदय निमित्त कारण है, और विकार नैमित्तिक कार्य है। तो यहां विकार कार्य हो गया, कर्मोदय कारण हो गया। यह कार्यकारणभाव निमित्तनैमित्तिककी व्यवस्था है नही, उपादानकी व्यवस्था वाला नही। उपादान व्यवस्थामें कार्माण स्कंध तो कारण है और कार्माण स्कंधमें जो कर्मानुभाग उदित हुआ है वह उसका कार्य है। जीव यह अशुद्ध उपादान कारण है और जीवमें जो विकार उपयोग बनता है वह कार्य है। पर निमित्तनैमित्तिकदृष्टिसे यहा कर्मोदय निमित्त कारण है और यह विकार नैमित्तिक कार्य है। वहां यह न कहा जा सकेगा कि विकारभाव होनेसे कर्मोदय हाजिर हुआ। यह सिद्धान्तके अत्यन्त विपरीत बात है, जानो जो बात जैसी है, वस्तुस्वातन्त्र्य सब जगह निरखो। उपादान उपादेय भाव सब जगह अमिट है। तो उत्पत्तिकी जब बात कहने लगेंगे तो यह ही कहा जायगा कि कर्मोदय निमित्त कारण है और विकार भाव नैमित्तिक कारण है। वहा कारण कर्मोदय रहा और कार्य विकार रहा, जब कि ज्ञप्तिके प्रसगमें साध्य रहा था कर्मोदय और साधन हुआ था विकार। अब समझना यह है कि उत्पत्ति और ज्ञप्तिमें साध्य साधनकी व्यवस्था अपने अपने भिन्न भिन्न क्षेत्रकी व्यवस्था है। और इसी कारण जब कवका प्रयोग यो होता है कि जब कर्मोदय होता है तब जीवमें विकार जगता है, यह निमित्त नैमित्तिक भाव उस ही समयका है। उस ही समयमें होनेपर भी निमित्त नैमित्तिकका विवरण यथार्थ किया जाता है, अटपट उल्टा नही। जैसे जब दीपक जलता है तब प्रकाश होता है। जब दीपक जलता है उसी समय प्रकाश होना एक क्रिया है, मगर जब दीपक जलता तब प्रकाश होता, यो तो बोला जाता है, पर यो नही कहा जाता कि जब प्रकाश हो जाता तब दीपक जलता। दोनो एक समयमें होकर भी निमित्त नैमित्तिक कार्य कारणकी व्यवस्था एक नियत व्यवस्था है। तो जब कर्मो-

दय होता है तब जीवके विकार जगता है। यो न कहा जायगा कि जब विकार जगता है तब कर्मोदय उपस्थित होता है। यह तो ज्ञप्तिके साध्य साधनकी बात है और वहाँ ज्ञात शब्द लगाना चाहिए। कि जब विकार ज्ञात होता है तब कर्मोदय ज्ञात होता है। यह ज्ञप्तिकी तो बात बनेगी और उत्पत्तिमे जो बात जिस तरह है वह उसी ढगसे होती है।

(८९) **तत्त्वके सर्वविध परिचयसे लाभ**—जीवके जितने भी सुख दुःख रागद्वेषादिक होते है ये उस उस प्रकारके कर्मविपाकका निमित्त पाकर होते हैं। तो ये सुख दुःख रागद्वेष जैसा कि निश्चयदृष्टिमे निरखा जाता है कि आत्मामे हुए, आत्मासे हुए, आत्माकी परिणतिसे हुए। वहाँ दूसरा पदार्थ दिखना ही न चाहिए, क्योकि निश्चयनयके कारण ऐसा ही होता है। यह निश्चयनयकी दृष्टिमे है। वह अशुद्ध निश्चयनय जो कि व्यवहारनयके ही समान है उस अशुद्ध निश्चयनयमे यह जाना गया कि जीवमे जीवकी परिणतिसे रागद्वेष होते चले जा रहे है। अगर अन्यका निषेध किया जाय, घटनाका निषेध किया जाय तो यही एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है। जैसे कोई सामने दर्पण दिख रहा है और दर्पणको देखते ही वहाँ सब जाना जा रहा है जो कुछ पीछेसे बन रहा। लडके खडे है, ऊधम कर रहे है, दांत निकाल रहे है, जीभ मटका रहे हैं वह सब ज्ञात हो रहा है दर्पणको देखनेसे क्योकि दर्पणमे वह प्रतिबिम्ब है। तो वहां केवल दर्पणको देखकर बात की जाय तो कर रहे दर्पणमे दर्पणकी फोटोसे, इस इस तरहसे परिणमन चल रहा है। इस परिणमनको कोई दूसरा नही कर रहा। दर्पणके ही परिणमनसे इस प्रकारका परिणमन वर्त रहा। बात यहाँ एक द्रव्यकी दृष्टिसे सही चल रही है, पर अन्य बातका यदि निषेध किया जाय जैसे कि पीछे लडके खड़े है, उनका सन्निधान पाकर फोटो आ रहा है, इसको न माना जाय तो इसका अर्थ होगा कि दर्पणमे दर्पणके स्वभावमे दर्पणसे ही सब कुछ प्रकट हो रहा है तब इसमे स्वभावका विघात हो गया। दर्पणके स्वच्छ स्वभावकी अब दृष्टि न रही, तो ऐसी ही ये लीलायें है ज्ञानकी। कभी निश्चयकी प्रधानतासे तत्त्व निरखें, कभी घटनाकी दृष्टिसे तत्त्वको देखें। बात दोनो सही है और दोनोका ही परिचय होनेपर पदार्थकी व्यवस्था ज्ञात होती है। किसीसे बुद्धि हटाना, किसीमे बुद्धि लगाना, ये सब कर्तव्य निभ जाते है समस्त परिचय होनेपर। केवल एक ही दृष्टिका परिचय एकान्ततः मान लिया जानेपर उसको यथार्थ प्रकाश नही रहता और वह अपने अकर्तव्यसे हटकर कर्तव्यमे नही आ पाता।

(९०) **अन्य अपेक्षावोके तथ्यका अत्यन्त निषेध करनेपर विवक्षित दृष्टिके तथ्यका भी मिथ्यापना**—जब स्वभावको निरखते है तो यह ध्रुव है, अपरिणामी है, एकस्वरूप है, अचल है, यह बात क्या सही नही है। स्वभावके स्वरूपको निरखकर यह कहा जाता है

पर एतावन्मात्र ही जीव है, इतना ही है, ऐसा ही है, अन्य कुछ यहाँ होता ही नही है ऐसा एकान्त मान लेनेपर ये ही तो बन गए—अपरिणामी पुरुषवाद। जैसे सांख्यदर्शनमे बताया है कि यह नित्य अपरिणामी है, अकर्ता है, इसमे रच परिणमन है ही नही, नित्य अचल है तब फिर जब यह एकान्त बना डाला तो यह प्रश्न उठता है कि तो फिर ये राग द्वेषादिक किसके परिणमन हैं ? तो वहाँ यह उत्तर देना पड़ा कि ये प्रकृतिके परिणाम है। बात यहाँ भी निरखी जायगी उसी निगाहसे। जब आत्माके ध्रुव सहज अपरिणामी अचल एकरूप स्वरूपको निरखें और उसही को मानें कि यह आत्मा है वहाँ प्रश्न उठता है तो फिर ये रागद्वेष मोह आदिक अनेक विकार ये सब किसके परिणमन है ? तो वहाँ यह उत्तर दिया जा सकता है कि ये सब प्रकृतियाँ याने कर्म कर्मप्रकृतिके परिणमन है। अब बात तो वहाँ ऐसी है कि कर्मप्रकृतिका परिणमन कर्ममे हो रहा और चूकि यह ज्ञात है सो इसके उपयोग भूमिमे वे सब विकार झलक रहे है। तो जैसे दर्पणका फोटो झलक रूप है और वे बाह्य पदार्थ जिनके अनुरूप फोटो आया है, हुआ है वे बाह्य पदार्थ भिन्न पदार्थ है। तो ऐसे ही यहाँपर जो कर्मप्रकृतिमे अनुभाग फैला है वह कर्मप्रकृतिका कार्य है। कर्मप्रकृतिका तत्त्व है और जो विकार उपयोगभूमिमे झलका है, विकार है, प्रतिभास है, प्रतिफलन है, छाया है वह जीवका परिणमन है। बस इतनी बात सांख्यदर्शनमे नही मानी गई, बाकी सब मिलजुल रहा है प्राय एक दृष्टिमे, पर वहाँ तो पुरुषको ज्ञाता ही नही माना गया। और स्वरूपदृष्टिसे जब देखते है तो ज्ञाता, जाननहार, जानने वाला आदिक ऐसी उलझन यहाँ स्वरूपमे भी नहीं दिखाई गई है, जब कि एक उत्तम ध्यानमे कोई पुरुष इस ध्येयको पा रहा है। तो उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्, इसका ध्यान नही उस एकान्तमे। सब तरहसे परिचय करने वाला पुरुष अपने आपकी ज्ञानलीला बलसे सही सही अपनी पदवीमे उपयुक्त हो जाता है, पर यथार्थ ज्ञान न हो तो वह केवल बाहरकी चर्चाभर रह जाती है, उसका प्रयोग नही बन पाता। जो उचित प्रयोग होना चाहिए बाह्य तत्त्वोसे हटकर अतस्तत्त्वमे उपयुक्त होना ,यह प्रयोग वहाँ नही बन पाता। जहाँ अज्ञान बसा हुआ है और किसी भी एकान्तका आग्रह बना हुआ है।

(६१) द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुको सर्वविध जानकर हितानुरूप मुख्य गौण व्यवस्थामे प्रयोगकी संभूति—भैया, जानना सब कुछ हर प्रकारसे और फिर कल्याणके अनुरूप कौनसी दृष्टि गौण हो जाती है, कौनसी दृष्टि मुख्य होती है यह बात बनेगी और इस तरहसे प्रयोग बनेगा। जैसे वस्तुमे द्रव्य और पर्याय ये दोनो ही बाते ज्ञात होती है, आत्मद्रव्य अनादि निधन एकस्वरूप अचल जो जाना गया, पर ऐसा ही वह वर्तता है सो बात नही है। परिणमनशून्य कोई भी द्रव्य नही रहता, मगर यह देखनेकी कला है कि यह परिणमन और द्रव्य

दोनोका जाननहार पुरुष इसी समय परिणमनको गौण करके केवल एक द्रव्यपनेसे ही जानता जा रहा है, यह उसकी एक कला है, पर जो पर्यायसे अपरिचित है, पर्यायका निषेध करने वाला है, वह इस द्रव्यत्वको जानने चले तो वह उसका अज्ञान है। वह इसमे सफल नही हो पाता। जानकारी सब बनाकर कल्याणके अनुरूप दृष्टिको मुख्य कर और अन्य दृष्टिको गौण कर यह कला तो अपनाई जाती है पर मूलमे अज्ञानभाव रखकर कोई जीव एकान्त कलासे खेले तो वह उसमे सफल नही हो पाता। जितनी द्रव्य पर्यायें है सभी पदार्थोका सही-सही बोध हो। फिर जिसमें निर्विकल्पता बनती है, समता आती है, अलौकिक अनुभवके साथ परम आल्हादका अनुभव चलता है उस पद्धतिसे चलना यह है प्रयोगकी दशा। परंतु जो पहले जाननेमे ही उल्टा हो उससे यह प्रयोग बन नही पाता।

(६२) **दैवनिरूपणमें निमित्तनैमित्तिकयोग दिखाकर आश्रयभूत विषयोंके अनिमित्तत्वका ज्ञापन करानेका प्रयोजन व्याकुलतासे हटाव**—यहाँ इस दैवनिरूपणके परिच्छेदमे निमित्तनैमित्तिक भावकी बात उठाकर यह सावधानी की है कि तुम्हारे विकारका निमित्त कारण कर्मविपाक है। बाहरी पदार्थोको अपने विकारका निमित्त मत समझो। इनको तो जब आप जानते है, विषय बनते है उपयोगमे लेते हैं तो ये आरोपित हो जाते है। और आश्रयभूत कारण बन जाते है। आज जो मनुष्य इतना परेशान हो रहे हैं, व्याकुल हो रहे है तो इसका कारण यह है कि इन बाहरी पदार्थोमे निग्रह अनुग्रह करना, इष्ट अनिष्ट बुद्धि करना, इस प्रकारकी वृत्ति बन गई है। कर्मोदयका निमित्त पाकर ये सुख दुःख आदिक हुए। इन सुख दु.खोसे व्याकुलता ही बनती। यह तो एक यथार्थ ज्ञान है और इससे तो अपने स्वभाव की दृष्टि जगती है। यह विकार मेरे स्वभावकी चीज नही है। मैं इनसे निराला हू, पर कोई इन विषयभूत, आश्रयभूत कारणको उत्पादक कारण माने विकारका तो वहाँ आकुलता जगती है क्योकि उसे बाह्य पदार्थोका हटाना, बाह्य पदार्थोका रखना कुछ भी अपने आधीन नही है। जीव तो स्वके भावमात्र है, वह अपने भाव करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही कर पाता। वस्तुस्वरूप ही इस प्रकार है। तो ये बाहरी पदार्थ, इनसे मेरेको सुख दु ख रागद्वेष विकार नही बनते। धन अधिक होनेसे सुख नही, धन कम होनेसे दुःख नही, पुत्रादिक होनेसे सुख नही, पुत्रादिक न होनेसे दु.ख नही, ये तो बाहरी आश्रय बताये गए हैं—मोही जीवके द्वारा। दुःख सुखका निमित्त कारण ही तो कर्मविपाक है और दुःख सुखका अपने आपमे अपना संस्कार अशुद्धभाव कल्पना यह भी उपादान कारण है, पर बाहरी पदार्थोसे इसका कोई कारणकार्य भाव नही है कि जिससे व्याकुलता मचायी जाय कि अब मैं क्या करू यह ऐसा हो गया। अरे जो हो गया सो होने दो। ये बाहरी पदार्थ छिद भिद जायें, कही भी जायें,

कुछ भी हो, यह उनका परिणमन उनमे हो रहा है। उस परिणमनसे मेरेमे कोई परिणमन जग रहा हो सो नही है, किन्तु उनको आश्रयभूत करके कल्पना बनाकर इष्ट अनिष्ट बुद्धि लाकर जो अपने आपमे अपने आपको मरोडा जा रहा है, उसका कष्ट हो रहा है। बाह्य पदार्थोंके परिणमनसे अपने आपको कोई कष्ट नही है।

(९३) भ्रमको त्यागकर आत्महितसाधन करनेका अनुरोध—लोग तो व्यर्थ ही मोह रागके प्रसंग बनाकर आकुलित होते है और दूसरोको भी उसी विधिसे समझाते कि बडा गजब हो गया, यह दुःख कैसे मिटेगा ? बिल्कुल जवान लडका और असमयमे चला गया यह तो बड़े कष्टकी बात है। अब देखिये इस मोहके भ्रममे जब उपयोग लगाया तो वहाँ कष्ट ही कष्ट नजर आ रहा है। और वास्तविकता क्या है ? कौन किसका है, स्वतत्र सत्ता सब जीवो की अपने आपमे है, जैसे अनन्त जीव हैं वैसे ही वह भी एक जीव है। अभी यहाँ था, अब न रहा। कोई उससे सम्बध तो नही है, पर यहां उसके प्रति लोग अनेक प्रकारकी कल्पनायें करते है और दु खी होते हैं। तो इन बाह्य पदार्थोको अपने कष्टका उत्पादक कारण न मानें। अपने रागद्वेष सुख दुःखके ये निमित्त कारण नही है। निमित्त कारण कर्मविपाक है, सो वहाँ पर भी अपना समय क्यो खोना, सीधे वे कर्मविपाक ही छूट जायें ऐसा उपाय बनायें। वह उपाय है अपने आत्माके स्वरूपकी सम्हाल और उसकी ही दृष्टि। तो इस निमित्तनैमित्तिक योगसे कर्ममे क्षीणता आने लगेगी और इससे छुटकारा मिल जायगा। बाहरी पदार्थोंमे यह बुद्धि न रखना चाहिये कि ये बाहरी पदार्थ मेरे सुख दुःख रागद्वेषादिकके कारण है। इस बातको यह दैव ही निर्भय होकर अपनेमे एक वेगसे अपने ही निमित्त कारण रूपसे यह सारी व्यवस्था बनाये रहता है। विकार कष्टोका न मैं कर्ता हू और न ये बाह्य पदार्थ कर्ता हे, ऐसा प्रकाश पाकर इन सब बाह्य पदार्थोसे अपने आपको हटाना, अपनेमे अपना विश्राम पाना और अविकल्प ज्ञानज्योतिका, ज्ञानबलका अनुभव करना यह पौरुष आत्मकल्याणका बीज है। अन्य प्रकारसे आत्माका हित होना अशक्य है।

अशुभोदये जनाना नश्यति बुद्धिर्न विद्यते रक्षा।
सुहृदोऽपि सति रिपवो विषमविष जायते त्वमृत ॥२७१॥

(९४) अशुभोदय होनेपर बुद्धिभ्रंश:—इस ससारमे जीवोपर जो भी घटनायें घटती हैं उनका कारण है भाग्य, दैव, कर्म। जब जीवोके अशुभकर्मका उदय होता है तो मनुष्योकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और रक्षा नही हो पाती। अन्य लोग बतलाते है कि जब कुछ विपत्ति का समय आनेको था तो श्रीराम वनमे थे और सीता वनमे हरी गई तो उनके कथनके अनुसार तो जब मारीचने सोनेके हिरणका रूप रखा था तो उनकी नीति कहती है कि यद्यपि

स्वर्णका मृग होना असम्भव है तो भी सीताके कहनेसे श्रीराम उस मृगका लोभ करके उसे मारने गए, वहाँ मौका पाकर रावण सीताको हर ले गया । ऐसा उन लोगोका कथन है । वहाँ यह बतलाया कि जब अशुभकर्मका उदय आता है तो बडो बडोंकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उनकी रक्षा नही हो पाती । यही हम आपके जीवनमें अनेक बार घटनायें घटती है कि कभी ऐसी विपरीत बुद्धि चलने लगती है कि जो न करना चाहिए उस ओर बुद्धि लग जाती है, और पीछे पछताना होता है । तो जब अशुभ कर्मका उदय होता है तो बुद्धि नष्ट हो जाती है । सबसे कठिन विपत्ति है बुद्धिका बिगड़ना । अभी जिस मनुष्यका दिमाग खराब हो जाय, पागलपन आ जाय तो उस मनुष्यका फिर कौन मददगार रहता है ? कुटुम्बी जन भी उसको छोड देते हैं, परवाह नही करते, क्योकि वे जानते है कि अब यह मेरे कुछ काम नही आ रहा, इसकी बुद्धि बिगड़ गई, वह पागल हो गया । अब यह किसीके कामका न रहा । तो सबसे कठिन विपत्ति है बुद्धि बिगड जाना । यह पापके उदयमे होता है । और उस समय फिर इसकी रक्षा नही हो पाती । सभी उपेक्षा कर जाते ।

(६५) **पापोदय होनेपर मित्रजनोंकी भी बाधकता व अमृतका विषीभवन**—जब पापका उदय होता है तो मित्रजन भी शत्रु बन जाते । इस जीवनमे अनेक घटनायें ऐसी आती कि जो अपने मित्र है, हितू है, बधु है वे ही उल्टे बोलने लगते है, उल्टी क्रियाये करने लगते है । जिससे इमको हानि पडती है । तो पापका उदय होनेपर मित्र भी शत्रु बन जाते है और अमृत भी कठिन विष हो जाता है । तो जीवोपर यहाँ जो कुछ खोटी घटनाये घटती है उनका करने वाला किसी दूसरेको मत मानो, व्यर्थमे किसीको शत्रु मानकर अपने आपमे खोटी कल्पनाये न करे, मेरेको दुःख देने वाला दुनियामे कोई दूसरा हो ही नही सकता । जो दुःख होता है वह मेरे पूर्व भवमे कमाये गए पापका फल है । जीव जीव तो सब समान है । कौन शत्रु और कौन मित्र ? सर्व जीव मुझसे भिन्न है, मेरे स्वरूपके समान है और भिन्न जीव सब एक समान है मेरे लिए । वस्तुत तो इन जीवोमे मेरा कोई विरोधी नही, किन्तु हम ही जिस किसी कामकी कल्पना करते है उस काममे हमे जो बाधक जँचता है उसको हम दुश्मन मान लेते है । वास्तवमे मेरा दुश्मन कोई जीव हो ही नही सकता, है ही नही । तो जब कभी अपनेपर आपत्ति आये तो अपने ही पापकर्मको उसका कारण जानिये । किसी दूसरे जीवपर शत्रुताकी कल्पना करके किसीका बुरा मत विचारिये ।

नश्यति हस्तादर्थं पुण्यविहीनस्य देहिनो लोके ।
दूरादेत्य करस्थं भाग्ययुतो जायते रत्नं ॥ ३७२ ॥

(६६) **पुण्य पापके लाभ अलाभ**—जब कोई पुरुष पुण्यविहीन हो जाता है तो उसके

हाथसे हो उसका धन नष्ट हो जाता है। एक कोई डाकू आ गया तो वह अपने ही हाथसे उठाकर उस डाकूको अपना धन दे देता है। डाकू बोलता है कि तू अपने हाथसे तिजोरी खोल और सारा धन खुद निकालकर दे। सो उसे प्राण जानेके भयके कारण सब देना पड़ता है। तो दिया यद्यपि अपने ही हाथोंसे, पर वह देना नही कहलाता, वह तो विवश होकर देना पड़ता है। उधर डाकू भी यदि यह सोचे कि यह खुद अपने हाथसे उठाकर अपना धन देगा तो इससे मुझे दोष न लगेगा सो भी बात नही। वह भी आखिर चोरी ही तो है। चाहे लूट मारकर धन ले तो चोरी है, चाहे छिपकर ले तो चोरी है। तो जब पापका उदय आता है तो अपने हाथसे ही अपना धन नष्ट हो गया है उनका धन कैसे नष्ट हो जाता, इसकी कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। नष्ट हो जाता है और जिस समय भाग्यका उदय होता है तो दूरसे रत्न आकर इसके हाथमे आ जाता। जीव तो केवल अपने परिणाम भर करता है, अन्य कुछ काम नही करता। हर जगह चाहे खोटा भाव कर ले चाहे अच्छा भाव कर ले, अपने परिणामके सिवाय जीव कुछ काम नही करता और उस परिणामका निमित्त पाकर उस प्रकारके कर्मका बंध होता है और कर्मके उदयमे उस प्रकारका क्लेश संक्लेश दुःख होता है। तो ये घटनायें जितनी घटती है, कोई सम्पन्न हो गया, कोई निर्धन हो गया, कोई बुद्धि-हीन हो गया, किसीको राज्य मिल गया आदिक जो भी घटनायें घटती हुई नजर आती हैं वे सब घटनायें भाग्यके उदयसे होती हैं। जीवके तत्कालके भावोसे नही। यद्यपि उस भाग्य को जीवने ही बनाया था। अपना जैसा परिणाम किया वैसा ही भाग्य बना। यद्यपि भाग्य बना तदनुरूप भाव होनेसे, मगर जिस समय उदय हो रहा और कष्ट आ रहा उस समयके भावोसे बात नही बन रही है। वह तो नैमित्तिक है। उदय होगा तो ऐसी घटना होगी ही।

(६७) सांसारिक घटनावोकी दैवकृतताके निरूपणसे प्राप्तव्य शिक्षण व प्रयोग— यहाँ भाग्यकी बात बतलाकर यह शिक्षा दी जा रही है कि हे कल्याणार्थी पुरुषो तुम अपने दु:खमे सुखमे किसी भी जीवको कारण न समझिये। किसीको मित्र और विरोधी न जानिये। अपने ही कमाये हुए कर्म अपने आपके सुख दुःखका कारण होते हैं। भैया, यह बहुत बडी कमाई है कि कोई पुरुष अच्छे परिणाम रख ले। किसीसे ईर्ष्या न करे। किसीका बुरा न विचारे, किसीको तुच्छ न माने। किसीका कभी अपकार न करे, खोटा चिन्तन न करे, ऐसे जीवनसे अगर वह रह सकता है तो समझो वह मनुष्य धर्मात्मा है और उसको उसकी अच्छी करनीका फल अवश्य मिलेगा। यह मनुष्य एक ऐसा अपराधका घर है। इतना कमजोर बन गया है कि वह ईर्ष्या, विरोध, द्वेष आदिक अवगुण कर बैठता है। तो परिणाम यदि कोई अच्छे करे तो अच्छा फल पायगा बुरे करे तो बुरा फल पायगा। आज जैसा उदय है उसके

अनुकूल सब घटनायें हो रही हैं । मानो पुण्यका उदय आ रहा तो समृद्धि हो रही । अब रही कर्तव्यकी बात तो कर्तव्य तो एक इच्छा है और अपनी इच्छाके कारण सभी कर्तव्य करते हैं । कर्तव्य किए बिना कोई रह नही पाता, मगर कर्तव्य सफल किसका होता है ? जिसके पुण्यका उदय है, और जिसके पुण्यका उदय नही है वह कितना ही परिश्रम कर ले, पर वह सफल नही होता । तो उदय अनुकूल होनेपर कर्मोदय चलेगा, संगति चलेगी, साधन मिलेंगे । सर्वकार्य ठीक बन जायेंगे । तो इस बातसे शिक्षा यह लेना है कि जो पहले किया वह आज भोगा जा रहा, पर आज तो अच्छे परिणाम करें जिससे हमारा भावी जीवन बुरा न गुजरे ।

(९८) भावस्वरूप आत्मपदार्थका भावोंसे भावानुरूप भविष्य—जीव एक भावस्वरूप पदार्थ है, जीव सिवाय भावके और कुछ नही कर पाता । जो यह कर रहा कि यह हाथ पैर चलाता, इतनी दूर जाता, गमन करता तो ये सब नैमित्तिक बातें है । जीवकी सीधी करतूत नही हैं । जीवकी सीधी करतूत भाव करना है, इच्छा करना है । अब उस परिणाम और इच्छाके कारण इस जीवमे स्वयं ऐसा परिस्पंद होता, जीवके प्रदेशोंमे हलन-चलन होती है कि उसके ही अनुकूल शरीर वचन ये चल बैठते है । सो इन शरीरादिका चलना यह जीव के भावोंकी प्रेरणा पर होता है । तो मूलमे तो जीवका भाव है । सो जीव चूंकि भावप्रधान तत्त्व है, परिणाम ही करता है । तो अपना परिणाम अच्छा बनाये तो अपनी अच्छी सृष्टि रहेगी और अगर गंदे परिणाम बनाये विषय कषायसे युक्त तो ऐसे ही खोटे कर्मोंका बंध होगा और ऐसा ही उसके सामने फल आयगा । यह सांसारिक घटनाकी बात कही जा रही है । मोक्ष पुरुषार्थके लिए ये सब बाहरी बातें कुछ नही सोचना है । क्या पुण्य क्या पाप, क्या सुख क्या दुःख, ये सब तो बाहरी पदार्थोमे हो रहे है । जिनको मोक्ष पुरुषार्थकी भावना है वे अपने आत्मतत्त्वकी सम्हाल किया करते हैं । यह ही खास पौरुष है । यह बात ज्ञानप्रकाश मिलनेपर हुआ करती है । और संसारमे जो कुछ हो रहा है वह सब पुण्य पापके आधीन हो रहा है ।

(९९) संसारमें साम्यवादकी व्यवस्थाका प्रयास करनेपर साम्य न हो सकनेका कारण—आज कई राष्ट्र ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि प्रजाके सर्व लोगोंको समान लाभ मिले । जिसे कहते हैं साम्यवादी देश, कम्युनिष्ट, सबको भोजन मिले, सबको काम दिया जाय, सबको एक समान बात रहे, पर ऐसा हो सकता क्या ? उस ही राष्ट्रको सम्हालने वाला कोई राष्ट्रपति है, कोई मिनिस्टर है, कोई चपरासी है, कोई सलामी लेता है, कोई सलामी करता है, कोई आज्ञा देता है कोई आज्ञाका पालन करता है, किसीकी कीर्ति गाई जाती है, किसीकी

निन्दा होती है, कोई ऊँच माना जाता है कोई नीच माना जाता है । तो बतावो ये सब बातें कौन मेट सकेगा ? ये सब बातें तो बराबर देखनेको मिलेंगी । वहाँ साम्य कैसे स्थापित किया जा सकता ? तो सांसारिक जितनी घटनायें होती है उन घटनावोंका कारण कर्मका उदय है । जिसके कर्मका शुभ उदय है उसके उस प्रकारकी बुद्धि बनती है, अभ्युदय बनता है, सफल होता है, और जिसके पापकर्मका उदय है वह कितना ही कठिन श्रम करे, पर वहाँ उसे लाभ नही मिल पाता । यही मनुष्योमे बड़े अन्तर दिख रहे हैं । ये घसियारे, लकड़हारे दिन भर बडा श्रम करते, पर दिनभरमे कोई दो-तीन रुपये ही कमा पाते, भरपेट भोजन भी नही कर पाते और कितने ही लोगोको सभी चीजें खूब आवश्यकतासे अधिक प्राप्त हैं, बडे ठाठ-बाट हैं और इतने अनावश्यक ठाठ हैं कि उनके बेटे बरवाद हो जाते, दुराचार करते । शराबी बन जायें, जुवेबाज बन जायें, कितने ही उनके परिणाम गिर जायें । तो उदय है पुण्यका, सुख सम्पन्नता मिली है तो इतना जो कुछ अन्तर है वह अन्तरका कारण है कर्मका उदय । यह कोई कायरताके लिए बात नही कही जा रही कि तुम अपने सुख दुःखमे दूसरे जीवोंको उत्पादक कारण मत मानो, क्योकि वास्तवमे कोई दूसरा इसको सुख दु.ख नही दे रहा ।

(१००) **सांसारिक विषमताओंको दैवकृत जाननेसे अन्य जीवोंमें शत्रुता मित्रताकी व्यर्थ कल्पनाके क्लेशका प्रक्षय**—यहाँ यह बात तो निर्णीत हो गई कि ससारके सुख दु.खकी घटनायें कर्मोदयपर निर्भर है । अब यह निर्णय करें कि आपको संसारमे ही रहना है या संसारसे हटकर मोक्ष पाना है यही निर्णय करना बडा कठिन होता है । कोई मुखसे कह भी देवे, चूंकि सुन रखा है कि मोक्ष अच्छी चीज है, तो केवल कह देनेसे बात तो नही बनती । उसरूप करतूत भी तो होनी चाहिए । अब जिसके हृदयमे निरन्तर इष्टबुद्धि बनी है कुटुम्बमे और पक्षपात बनता है कुटुम्बमे, जब कि सभी जीव एक समान है, भिन्न है । तो इन अनत जीवोमे से उन ४-५ जीवोको क्यो छाँट लिया कि मेरा तो यह ही है सब कुछ । मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ इनके ही लिए है, ऐसा क्यो निर्णय कर लिया ? अज्ञान है, व्यामोह है, संसारमे रुलना है, तो यह भीतरमे निर्णय बना हुआ है । तो जीवोको जो कुछ भी अच्छी बुरी घटनायें आती है उनका कारण पूर्व उपार्जित पुण्य पापकर्मका उदय है, दूसरे लोग नही है, इसलिए किसी जीवपर शत्रुका और मित्रका ख्याल मत करिये—यह श्रद्धा अगर हो तो लडाइयाँ कम हो जाये, सक्लेश कम हो जाय । पडोसियोमे, घरमे, कुटुम्बमे जो लडाइयाँ चलती है, मनमूटाव चलता है उसका कारण है अज्ञान । यह मान रखा है कि इन बाहरी सम्पदावोसे मेरेको सुख है, इन लोगोको मेरेसे सुख है, जब कि तथ्य यह है कि साता

(१०२) एक घटनादृष्टान्त द्वारा स्वकीय सुख दुःखका स्वकीयकर्मानुसार होनेका समर्थन—एक घटना बुन्देलखण्डकी है, शायद वह छत्रशाल 'राजाकी घटना हो। उस बच्चे की माँ जब बच्चा गर्भमे था तो उसका पति गुजर गया। अब राज्य वही राजमाता सम्हा-लती थी। अचानक ही किसी दुश्मनने बडी भारी सेनासे चढाई कर दी। अब वह गर्भवती रानी घोडेपर सवार होकर सेनापतिकी हैसियतसे सेना लेकर शत्रुका मुकाबला करने गई। सब वीरोने बडी वीरतासे शत्रुका सामना किया और उस वीरागना माताने भी उस युद्धमें बहुत सफलता पायी, पर अचानक ही चूकि गर्भके दिन पार हो रहे थे, उसके पेटमे कुछ दर्द सा हुआ, सोचा कि यह तो बच्चा उत्पन्न होनेका समय है तो उस बच्चेकी रक्षाके लिए युद्ध छोडकर आगे बढ गई, शत्रुवोने तब भी उसका पीछा नही छोडा। वह आगे आगे बढती जाय। घोडेपर ही चढे हुए उस वीरागनाके वही बच्चा पैदा हुआ। अब वह सोचने लगी कि यदि इस बच्चेसे मै मोह रखती हू तो कुछ ही देरमे शत्रु आयेंगे और न मुझे जिन्दा छोडेंगे न मेरे बच्चेको सो वह उस बच्चेको एक झाडीमे छिपाकर आगे बढ गई। शत्रु उसका पीछा न कर सके और लौट गए। ५-७ दिन बादमे उस माँ ने सोचा कि जाकर देखें तो सही कि वह बच्चा जिन्दा है या नही, सो वह जब लौटकर आयी तो क्या देखा कि वह बच्चा जिन्दा था। हुआ क्या कि जिस झाडीमे वह पड़ा था उसमे एक मधुमक्खीने शहदका छत्ता लगा रखा था और वह ठीक उस बच्चेके मुखके सामने था। उसमे से एक-एक बूंद शहद टपक रहा था जो कि उस बच्चेके मुखपर पड रहा था। उसकी वजहसे वह बच्चा पूर्ण स्वस्थ था। यह दृश्य देखकर वह वीरागना आश्चर्यचकित हो गई। तो इस ससारकी घटनायें पुण्य पापके अनुसार होती है, किसी दूसरेकी की हुई नही होती। इसलिए किसीको शत्रु या मित्रकी कल्पना करना व्यर्थ है, इसमे इस दैव (भाग्य) को ही कारण मानकर अपनेमे संतोष करना चाहिए।

गिरिपतिराजसानुमधिरोहतु यातु सुरेंद्रमदिरं
विशतु समुद्रवारि धरणीतलमेकधिया प्रसर्पतु।
गगनतल प्रयातु विदधातु सुगुप्तमनेकधायुधै-
स्तदपि न पूर्वकर्म सतत बत मुचति देहधारिणं ॥३७४॥

(१०३) जीवके साथ एकक्षेत्रावगाहस्थ कर्मका बन्धन—जीवोने जो कुछ भी पूर्वमे कर्म किया है शुभ कर्म अथवा अशुभ कर्म, वे अपना फल दिये बिना नही रह सकते। बात यह है कि जीव जब अपने शुभ या अशुभ परिणाम करता है तो जीवके ही साथ लगी हुई जो कार्माण वर्गणायें है वे कर्मरूप बन जाती है। यहां सब यह निमित्तनैमित्तिक भाव है। जीव

के साथ यह शरीर लगा है ना, तो जो शरीर बना है वह तो शरीर है ही, पर इसके साथ और परमाणु भी ऐसे लगे हुये हैं जो शरीर तो नहीं है मगर शरीर बन जायेंगे। उन्हें कहेंगे शरीर बननेके उम्मीदवार। तो जो शरीर बननेके उम्मीदवार और परमाणु साथ लगे है वे शरीर रूप बन जाते है, ऐसे ही जीवके साथ सूक्ष्म कर्म परमाणु लगे है, जीवके साथ बँधे हैं जिनके उदयमें सुख दुःख होता है सो वह तो कर्म है ही, पर ऐसे भी कर्म परमाणु साथ लगे है जीवके जो अभी कर्म तो नही कहलाते, मगर कर्मरूप बन जायगे। सो यह जीव चाहे कहा छिपकर रहे, कही घरमे हो, बाहर हो, चाहे कोई दूसरा जान पाये या न जान पाये, जैसे ही इसके परिणाम हुए उसी समय उन कर्म परमाणुवोंका बंध हो जाता है। अब वह बंध गया तो वह जीवके ही साथ है। सो जब उनका उदय आता है तो यह फल भोगता है। कोई दूसरा ईश्वर या और कोई जीवको सुख दुःख देता होता, तो चलो कभी नजरसे बचा लो, छुपा लो, न देखे, मगर यहां तो सुख दुःखके कारण कर्म है और वे कर्म जीवके साथ ही लगे हुए है। जहां जीव जाता उसके साथ वे कर्म भी है। अब उनका उदय आयगा ही, उनका फल मिलेगा ही।

(१०४) निमित्त नैमित्तिक योगके तथ्योंका परिचय कर स्वकीय भावोंके संभालने सुधारनेका अनुरोध—यह बात पूर्ण निश्चित है कि जो जैसा करता है उसको वैसा फल भोगना पडता है। कोई बीचमे विशेष ज्ञानप्रकाश जगे, सम्यग्दर्शन हो जाय, सम्यक्चारित्र बने तो कर्मोंमे थोड़ा अन्तर पड़ जायगा मगर रत्नत्रय बिना तो इस जीवकी कोई गति ही नही है, जैसा करता है वैसा भोगता है। आज उदय कुछ अच्छा है, पैसा पासमे है अन्य अन्य भी सुविधायें है तो विषयोकी बातें सूझती है। पञ्चेन्द्रियके विषयमे इसका उपयोग लगता है और उन विषयोमे उपयोग लग जाने से ये हीन आचरण बन जाते है, सो इसकी बुद्धि भी बिगड जाती है। अन्याय पर उतारू हो जाता है दूसरोपर अत्याचार करने लगता है। सो आज बल मिला है, धन मिला है, जवानी मिली है, अनेक बातें मिली हुई है तो जैसा मन आये वैसा यह जीव कर ले मगर आगे भी फल भोगना पडेगा। इससे अपने आपको बहुत सावधानीसे चलनेकी जरूरत है। किसी जीवके प्रति गदे भाव उत्पन्न न हो। सब जीव सुखी हो, मेरा कोई विरोधी नही। यदि किसीने स्वार्थके विषयोमे बाधा भी डाली है तो विरोधसे नही डाली है, किन्तु उसने वैसा ही करनेमे अपनी शान्ति समझा है सो वैसा किया है। कोई मेरा शत्रु नही। सर्व जीवोपर क्षमाभाव रखना, सबको भला सोचना, गुणी जनोके प्रति भक्ति भाव, प्रेमभाव, विनयभाव रखना, शुद्ध आत्माका अपमान न हो, अपवाद न हो, अविनय न हो, इस प्रकारकी सावधानी रखना, जो परिणाम अच्छे रखेगा तो आगे

भविष्य अच्छा रहेगा और परिणाम भला न बन पायगा तो भविष्य खोटा रहेगा।

(१०५) **सुमेरुपर पहुँचकर या बडे पुरुषोंके स्थानपर पहुंचकर कर्मफलका अनिवारण**—यह जीव चाहे सुमेरुपर्वतकी चोटीपर चढ़ जाय कि मैं इतने ऊँचे चला जाऊँगा तो फिर मुझे कोई देख न पायगा, वहाँ कर्म न सतायेंगे ⋯तो भले ही चोटीपर चढ़ जाय पर ये कर्म वहाँ भी उसे छोडने वाला नही है। जैसे शुभ अशुभ कर्म किया उस प्रकारका फल भोगना पडता है। चाहे कोई इन्द्रके घरमे घुस जाय कि यह मुझे शरण देगा, यहाँ मेरी सुरक्षा हो जायगी, मैं किसी बडेके पास पहुंच गया हू⋯तो भले ही पहुच जाय, मगर कर्म वहा भी न छोडेंगे। जहाँ सिद्ध भगवान रह रहे है मोक्षस्थानमे, सिद्धालयमे अनन्त सिद्ध भगवान है, वे तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द पा रहे है, पवित्र है और वही निगोदिया जीव भी है, एक श्वांसमे १८ बार जन्म मरण कर रहे, जगह एक ही है, जहाँ सिद्ध भगवान है वही घुसे है निगोदिया जीव भी, पर भगवान सुखी हैं और वे निगोदिया जीव यहाँकी तरह दु खी है। कोई कही चला जाय, किसी बड़ेके घरमे भी पहुंच जाय, मगर कर्म इसे वहाँ भी छोडने वाले नही है।

(१०६) **समुद्र, पाताल, आकाशके मध्य पहुंचकर भी तथा दृढ़ अस्त्र शस्त्र दुर्गसे सुरक्षित करनेपर भी कर्मफलका अनिवारण**—कोई जीव चाहे समुद्रके जलमे बैठ जाय, प्रवेश कर जाय कि मैं जलमे प्रवेश कर जाऊँगा, रहूगा, वहाँ मुझे कोई न सतायेगा, जैसे कभी मधुमक्खी इस मनुष्य पर मडरा जाती, काटने लगती, तो यह मनुष्य जलमे जाकर प्रवेश करता है, यह सोचकर कि ये मक्खी जलके भीतर तो आ ही न पायेंगी, मैं सुरक्षित रह जाऊँगा तो बतावो कब तक वह जलमें रहेगा ? आखिर वह ऊपर उठेगा और उसे वे मक्खियाँ काटेंगी ही। ऐसे ही कोई चाहे जलमे भी प्रवेश कर जाय पर कर्म वहाँ भी उसका पीछा न छोडेंगे। वहाँ भी उनका फल बराबर चल रहा है। कोई मनुष्य पाताल लोकमे प्रवेश कर जाय कि मैं पातालमे चला जाऊँगा तो वहाँ सुरक्षित रहूंगा। जैसे रावणके पुरुषोने लका पायी थी कि यह बड़ा दुर्गम स्थान है, समुद्रके बीच है जहाँ शत्रुका पहुंचना कठिन है। उससे भी अधिक दुर्गम स्थान हो, पाताल हो वहाँ भी कोई जीव पहुच जाय तो जीवके साथ चूंकि लगे है कर्म सो वे कर्म वहाँ भी उसे न छोडेंगे। उदय आयगा, इसका दु ख पाना होगा। चाहे कोई पुरुष आकाशमे बहुत ऊचे चला जाय पर जीवके साथ कर्म वहाँ भी तो है। उनका फल भोगना पडेगा। कोई शस्त्र अस्त्रोसे अपनी खूब दृढ रक्षा कर ले, बड़ा मजबूत किला बना ले, और यह सोच ले कि मै तो अब इसके बीच रहूगा, वहाँ कोई मेरा क्या कर सकेगा, और जीवके साथ ही तो वे कर्म लगे, उनका उदय आनेपर वैसा . संयोग

समागम बन जायगा।

(१०७) शुभ अशुभ घटनावोंको शुभ अशुभ कर्मका फल जानकर लौकिक और अलौकिक सत्कृत्य करनेका अनुरोध—यहां यह बतला रहे है कि जो शुभ अशुभ कर्म जीव करता है उसका इसे फल भोगना पडता है। किसी भी अवस्थामे सुख दुःख दिये बिना कर्म झडते नही है। हां कोई विशेष तपश्चरणका बल बने और कर्ममे कुछ फर्क डाले तो डाल जाय, मगर वह पहले डलता है, उदयकालमे नही डल सकता। उदयकालमे तो कर्म अपना फल देता ही है। तो इस प्रकरणसे हम आपको कई शिक्षायें मिलती है। एक तो यह कि जो कुछ हमारा खोटा भला हो रहा है सुख दुःख, उसमे कारण कर्मका उदय है, जगतके अन्य जीव नही है। जैसे लोगोकी दृष्टि रहती है कि मुझको अमुक भाईने सताया है, इसने हमको इतना कष्ट दिया है। इसने हमको लूट डाला है, यह मेरा विरोधी है, यह मेरे मनके विरुद्ध कार्य करता है। सो जगतमे कोई किसीको सुख दुःख देने वाला नही है। जीवके जब पापकर्म का उदय आता है तो उसके मित्र और कुटुम्बी ही दुःखका कारण बन जाते है। शत्रुकी तो बात छोड़ो, मेरेको दुःख देने वाला जगतमे कोई दूसरा नही है, इस कारण सब जीवोमे मित्रता का भाव लाइये, सब मेरे स्वरूपके समान है। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि जो कर्म बँध जाते है उनका उदय भोगना पडता है, इसलिए अभीसे सावधान रहे कि मेरेसे कोई खोटे कर्म न बने। देखो कर्ममात्र ही मेरे लिए दुःखका कारण है। कर्म साथ लगे है तो शरीर भी साथ लगना पडता है। जब यह शरीर भी साथ है तो सारे दुःख इसके साथ आ गए। रोग का दु ख, भूखका दुःख, अपमानका दुःख, कोई गाली गलौज देता है तो इसका बुरा क्यो मानना ? इसने मान रखा इस शरीरको कि यह मै हू और उसने इस मुझको गाली दो है, बुरा मानते है। तो जितने कष्ट भोग रहे है ये जीव ये सब शरीरके कारणसे भोग रहे है। पहले तो यह इच्छा करें कि हे प्रभु मेरेको यह शरीर ही न मिले, और मै शरीरसे रहित केवल जो मै आत्मा हू सो हो रहू और मुझे कुछ न चाहिये, शरीररहित स्थिति चाहिये, कर्मरहित स्थिति चाहिए, कर्ममात्र मेरे लिए दु.खका कारण है, इसलिए कर्म ही न बधे वह प्रयत्न करिये, पर जब तक ऐसा नही हो पा रहा तब तक अशुभ काम तो छोड़ें। शुभ कामो मे शुभोपयोगमे, शुद्ध तत्त्वकी भक्तिमे दया दान आदिककी प्रवृत्तिमे अपने आपको लगाइये तो शुभ कार्योका फल शुभ मिलेगा, अशुभका फल अशुभ मिलेगा।

—०—

१५वां परिच्छेद—उदरनिरूपण

तावज्जल्पति सर्पति तिष्ठति माद्यति विलसति विभाति ।
यावज्ज्वरो न जठर देहभृतां जायते ज्वलितं ॥ ३७५ ॥

(१०८) जगतके प्राणियोंकी क्षुद्ग्रस्तता—इस परिच्छेदमे क्षुधा सम्बन्धी वार्तावोका विवरण है । यह जीव तब तक बोलता चालता है जब तक कि इसका पेट भरा रहता है । देखिये—क्षुधा रोग समस्त जीवोपर बना हुआ है । कीडा मकोडा वे भी क्षुधा रोगसे ग्रस्त हैं और पेड पौधे इनको भी क्षुधा लगती है । पता नही पडता कि इनको कैसे क्षुधा है ? वे मिट्टी खाद आदिक इन सबको खा लेते कि नही ? वे जडसे खाते हैं, उनका ढग और है, उनके मुख नही है, मगर अपनी जडोमे मिट्टीके परमाणु, पानीके, खादके परमाणु उनको ग्रहण करते है, उन्हे शरीररूप बनाते है, यह ही तो मनुष्य करते हैं । ये मुखसे ग्रहण करते है और उनसे शरीर बढता है । तो क्षुधा रोगसे संसारके सारे प्राणी ग्रस्त है । नारकियोसे तो इतनी क्षुधा है कि यह बताया गया कि—"तीन लोकका नाज जो खाय, मिटे न भूख तृणा न लहाय ।" पशु-पक्षी इनके कितनी क्षुधा है, और देवगतिमे कह यह है कि उनके भूख नही लगती मगर वहाँ भी भूख लगती । लगती है हजारो वर्षमे और भूख लगी कठसे अमृत झड़ा और उनकी क्षुधा मिट गई । कुछ भी हो, मगर क्षुधाका रोग संसारके सारे प्राणियो पर लगा है । इससे अगर कोई छूटा है तो परमात्मा, अरहत भगवान, सिद्ध भगवान, इनके क्षुधाकी व्याधि नही है । सिद्धके तो शरीर ही नही । उनके क्षुधाका प्रश्न ही क्या ? और अरहत भगवानके शरीर है, मगर परमौदारिक । वहाँ क्षुधाका प्रश्न नही । बाकी सब जीवों पर यह क्षुधा रोग लगा हुआ है ।

(१०९) सभी प्राणियोंपर क्षुधाका आक्रमण—हम आप लोग इस क्षुधाकी अधिक चर्चा क्यो नही करते क्योकि खूब अच्छे साधन है, पैसा है, सयोग है, जरा भूख लगी तो तुरन्त खा लिया, सुबह नास्ता किया, फिर भोजन किया, फिर फल खाया, शामको फिर भोजन किया और कई आदमी तो रात दिन जब चाहे खाते पीते ही रहते हैं । एक आदमी ने एकसे चर्चा की कि तुम तो रात दिन मुख चलाते ही रहते हो तो उसने कहा कि हम तो सोते समय खानेका त्याग रखते है, सो सोते समय तो नही खा पाते मगर जगते समयमें बराबर खाने पीनेका ही प्रोग्राम चलता रहता है । यह बात रेलगाडियोमे खूब देखनेको मिलती है । तो सब प्रकारके साधन है, इसलिए नही पता पडता, नही तो क्षुधाकी बड़ी कठिन वेदना इन जीवोके साथ लगी है । जिनको साधनोका सयोग नही है, समागम नही

पढता है भूख सताती है, तो वे जानते हैं कि क्षुधाका कितना बडा रोग लगा है । तो यहाँ एक भवमे खूब आरामसे रह लिया, क्षुधाका दुःख न रहने दिया तो इससे क्या होता है ? क्या अगले भवमे बच जायगा ? गरीबी निर्धनतासे । ये कीडे मकोडे पशु पक्षी क्या जोडकर रखते ? तो क्षुधा रोग इतना कठिन है कि जब तक यह प्राणी क्षुधा रोगसे ग्रस्त रहता है तब तक इसे और कुछ नही सुहाता । तब ही तक यह प्राणी बोलता है जब तक कि इस प्राणीका उदर भरा रहता है । यह तब ही तक चलता, फिरता, उठता, बैठता खुश होता, आनन्द मानता है जब तक कि इसका पेट भरा रहता है । यह उदर निरूपण की बात कही जा रही । ससारके सारे प्राणी इस क्षुधा रोगसे ग्रस्त हैं ।

(११०) क्षुधादिदोषरहित सहजात्मस्वरूपकी आराधनासे सिद्धिका लाभ—यहाँ पूजामे बोलते है ना—'क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामि' क्षुधा रोगके विनाशके लिए मै नैवेद्यको चढ़ाता हू या नैवेद्यको त्यागता हू, नैवेद्यको छोडता हू । लोग जानते है कि क्षुधाकी शान्ति इन व्यञ्जनोसे होती है । तो जब इस जीवने समझा कि मेरा स्वरूप तो क्षुधा आदि व्याधियोसे रहित है, अमूर्त ज्ञानमात्र केवल शुद्ध ज्ञानज्योति, इसमे क्षुधाका क्या काम है ? स्वरूप है इसका ज्ञान । यह जानता रहे, जाननमात्र इसकी प्रवृत्ति रहे यह है इसकी वृत्ति । तो क्षुधारहित आत्माका स्वरूप जब इस ज्ञानीने जाना तो यह ज्ञानी इस नैवेद्यको त्यागता है । अब तुझे इससे कोई प्रयोजन न रहा । खा खाकर कब तक गुजारा चलेगा ? फिर मरेंगे, शरीर मिलेगा, क्षुधा रहेगी, फिर मरेगे, शरीर मिलेगा बस यही तांता लगा रहना पसद है क्या ? इसी तरह अपने आपको संसारसे रुलाना पसंद है क्या ? अब अपने आत्माका दोष सम्हालिये । आत्मतत्त्वके दर्शन करिये, यह भगवंत परमात्माकी तरह है, उसका आदर बनाइये । यह आदर तब ही तो बन सकेगा जब कि कुटुम्ब आदिकसे ममता न रहे । ममता ऐसी बनाये हुये है कि इसके चित्तमे आता ही नही है कि और भी दूसरे जीव है और ये सब एक समान है । घर, स्त्री, कुटुम्ब, पुत्र, मित्र आदि इसके चित्तमे लगे है । ये मेरे है, मेरा सब कुछ तन, मन, धन, वचन इनके लिए ही है, इस प्रकारकी तो ममता लादे है और चाहे कि हमे धर्मका पालन हो तो कैसे हो सकता है ? जब मोहका विष हृदयमे ऐसा घर कर रहा है तो वहा धर्म रच भी हो सकता है क्या ? दिख रहा है कि बहुत बडा समुदाय है धर्म करने वालोका, मदिरमे बडी संख्या है, सभी लोग दर्शन करने आते है, सामायिक करते है, जाप देते है, शास्त्र पढते है, त्यागी व्रतियोकी बडी खबर रखते है, सेवा सुश्रुषा करते है । ये लोग तो बडे धर्मात्मा हे, ऐसा दिखता है पर मोहका विष यदि भीतरमे भरा है तो वहां रच भी धर्म नही है । फिर भी जो कुछ थोडा बहुत करते है उससे कुछ पुण्य कर्म बँध गया. इतना

तो लाभ है मगर उससे मोक्षमार्गका धर्मका रच भी लाभ नहीं है जिनके मोह लगा है, मोह का विष लदा है।

(१११) दोष व दोषनिवृत्तिके अर्थ आत्मनिरीक्षण—अब आप सब लोग अपनी-बात सोचिये कि मेरे चित्तमे मोहका विष चढा है या नही। हम सबका चित्त बता देगा भली भाति पूछेंगे अपने आपसे कि मेरा चित्त कुटुम्ब आदिकमे कितना फंसा हुआ है। ये ही मेरे सब कुछ हैं, उनको देखकर मन खुश हो जाता है कि मेरा यह फलाना आ गया। तो समझ लीजिए कि जहा अज्ञान, ममता मोह भीतरमे घर किए हुए हैं वहां धर्म रच भी नही हो सकता। जैसे जो घडा तेलसे चिकना है उसपर पानीकी बूंद ठहर नही सकती ऐसे ही मोहसे भरे हुए हृदयमे धर्मका प्रवेश रंच भी नही हो सकता। और भी देखिये—धर्म विना इस जीवकी रक्षा करने वाला जगतमे कोई नही है। किसीकी शरण मान लें, कैसी ही बात रक्षा की बना लें, मगर इसकी कही रक्षा नही है। एक धर्मपरिणाम ही ऐसा है जो इस जीवकी रक्षा कर सकता है अन्य कोई नही। वह धर्मपरिणाम क्या है? आत्माका वास्तविक स्वरूप ज्ञानमे रहे और उसके अतिरिक्त सर्व पदार्थोंको अपनेसे निराला समझें, अपने आपमे जो भी विकार जगता है, विचार जगता है उसको माया समझें। यह मैं आत्मा तो सबसे निराला ज्ञानमात्र हू। ऐसी दृष्टि जगे तो धर्म मिलेगा, बाकी मन, वचन, कायकी जो ऊपरी क्रियायें चल रही हैं उन क्रियावोसे धर्म नही मिला करता। जिनको धर्म मिला है उनके मन, वचन, कायकी ऐसी ही क्रियायें होती है जिन्हे हम आप धर्म कहते हैं। यदि धर्मभाव भीतर है तो उसकी धर्मक्रियायें धर्मके लिए बनेंगी मगर जिनके चित्तमे धर्मभाव नही है और धर्मकी ऐसी क्रियायें करें तो उससे कही धर्म न मिल जायगा। सो धर्म ही एक जीवका रक्षक है, जिससे जब तक यह ससारमे रहेगा तब तक भी यह सुखपूर्वक रह लेगा और निकट कालमे ही ससारके सारे संकटोसे वह छूट जायगा और मुक्त अवस्थाको प्राप्त होगा।

(११२) क्षुधा और बुभुक्षाकी वेदना—क्षुधाका यह प्रकरण चल रहा है। क्षुधा मायने क्या है? तो लोग तो कहते है भूख, पर असलमे क्षुधाका अर्थ भूख नही है। भूख शब्दका सही शब्द है बुभुक्षा। भूखका अर्थ है खानेकी इच्छा। और क्षुधाका अर्थ है कोई तरहकी पीडा। क्षुधा एक रोग है और भूख तो क्षुधाको मेटनेके लिये भोगनेकी चाहका नाम है रोग, और रोगको दूर करनेकी इच्छा इन दोनोमे फर्क है, पर क्षुधा शब्दका असली अर्थ हिन्दीके शब्दोमे कोई अर्थ नही मिल रहा, इसलिए भूख शब्द प्रसिद्ध हो गया। भूख लगी तो भूख लगीका अर्थ है मेरेको खानेकी इच्छा जगी। क्षुधा एक रोग है, व्याधि है और उस व्याधिमे, उस पीडामे यह जीव व्याकुल हो जाता है, सो यदि क्षुधा रोगको सदाके लिए निवृत्त करना है तो उसका उपाय बनाइये, उसका उपाय है धर्मसाधना, और जो ४-६ घटेको क्षुधा

मिटाना है तो मिटा लीजिए मगर फिर बुभुक्षा आयगी और देखो रोज क्षुधा सताती है, देखो रोज रोज वही दाल, रोटी, चावल हमेशा खाते आये, पर रोज रोज नया जैसा लगता है। क्यो नया जैसा लगता, क्योकि वेदना है ना, तो इस वेदनाके इलाजमे इसे ऐसा लगता कि मैं आज नई चीज खा रहा हू। तो इस क्षुधाकी पीडाको यदि अपने आपसे हटाना है तो क्षुधारहित कर्म शरीर आत्माका जो ज्ञानानन्दस्वरूप हैं उस ज्ञानानन्द स्वरूपको अपनाइये। मैं यह हू ज्ञानज्योतिस्वरूप अमूर्त। मेरा तो यह शरीर भी नही। एक बार ऐसा अनुभव तो आना चाहिए कि मैं केवल जीव ही जीव, आत्मा ही आत्मा हू। शरीर यहाँ है ही नही, शरीरका ख्याल छोड दीजिये। शरीर सदासे अलग है, मेरी सत्ता अलग है, तब इसका बिल्कुल ध्यान छोड दें, और केवल ज्ञान ज्ञानप्रकाश ही ज्ञानमे रहे ऐसी स्थिति बन जाय। ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, तो समझिये कि ज्ञानका अनुभव बनेगा, अपने आत्माका परिचय बनेगा। इस ज्ञानके अनुभव द्वारा ही हम अपने आपका उद्धार कर पायेंगे। जगतमें कितनी ही माया समेट लें, पर वह पाप है, कलक है, उससे मेरे आत्माका उद्धार नही होनेका। आत्माके उद्धारका कारण तो ज्ञान है, इस ज्ञानसे प्रीति जगे, ज्ञानके साधनोसे प्रीति जगे, ज्ञानी जीवोसे प्रीति जगे तो अपना होनहार अच्छा होगा, बाकी अन्य रागोमे इसका होनहार भला नही है।

यद्यकरिष्यद् वातो निक्षिप्तद्रव्यनिर्गमद्वारं।
को नाम शक्य: कर्तुं जठरघटीपूरणं मर्त्य. ॥३७६॥

(११४) **जठरघटीके पूरणकी अशक्यताका सयुक्तिक विवेचन**—प्राणी पेटभर खाते है, पर खाये हुए अन्नको निकाल देने वाला पवन पेटमे मौजूद है अर्थात् खाया और मलद्वार से वह निकल गया, तब तो पेट खालीका ही खाली रहा, और यही कारण है कि किसीमें ऐसी सामर्थ्य नही है कि इस पेटको पूरा भरा ही रख सके। उदर रूपी घडेमे पड़े हुए पदार्थ को निकालने वाला पवन बराबर मौजूद है। भोजन किया जाता है तो जठराग्निसे वह पच जाता है, पचकर मलिन बन जाता है। मल होकर फिर उदरमे ठहर नही सकता। निसार हुए बाद उस मलको डाटे रहनेकी सामर्थ्य किसीमे नही रहती, अन्तमे वह मलद्वारसे निकल जाता है, फिर पेट तो खाली ही रहा। अब उस खाली पेटको भरे रखे ऐसी किसमे सामर्थ्य है ? यह क्षुधा रोग इस जीवको इतनी महान् पीडा देने वाला है कि प्रतिदिन ही क्षुधावेदना से त्रस्त होता है और थोडे समयको क्षुधा वेदना शान्त होती है जब तक कि वह पेट भरा रहता है। जब वह मल बनकर बाहर निकल गया तो वह पेट खाली रहा। अब उसे कोई नही भर सकता। इतनी बडी विवशता इस जीवके साथ लगी हुई है और यही कारण है

कि रोज रोज इस जीवको परेशान रहना पडता है और उस पराधीनताके साथ-साथ जीवनमें दीनता भी आ जाती है। जब क्षुधावेदना है तो मनमे दैन्यभाव भी आता। अब यह खायें, यह चाहिये इस प्रकारकी प्राप्ति होना यह हो तो दीनता है, क्षुधा रोग कैसे दूर हो उसका उपाय बनाना विवेकी पुरुषोका कर्तव्य है। जब तक शरीर साथ है और जीवको निर्दोषता और गुणपूर्णता नही प्रकट हुई है तब तक तो इसे क्षुधाकी बराबर बाधा बनी ही रहेगी। सो निर्दोषता बने और गुणोका परिपूर्ण विकास हो यह स्थिति चाहिये तो इस क्षुधा वेदनासे हट सकते है।

शक्येतापि समुद्रः पूरयितुं निम्नगाशतसहस्रैः।
नो शक्यते कदाचिज्जठरसमुद्रोऽन्नसलिलेन ॥३७७॥

(११५) **अन्नसलिलसे जठरसमुद्रके पूरणकी अशक्यता**—क्षुधा वेदनाकी कठिनाई इस प्रकरणमे बतलायी जा रही है जिस कठिनाईको जानकर यह शिक्षा लेना होता है कि कोई ऐसा उपाय बनाया जाय कि सदाके लिए यह क्षुधा वेदना नष्ट हो जाय। कुछ कालके लिए व्यञ्जन खा पीकर क्षुधावेदनाको शान्त किया तो उससे कोई पूरा तो नही पडता, बल्कि खानेसे तो यह शरीर रहता है, फिर भूख लगती हे, फिर खाना पडता है, यो उसकी परिपाटी बराबर चलती जाती है। जैसे—समुद्रसे तो सैकडो हजारो नदियोके समूहसे एक बारमे भर लिया जाय तो वह भरा जा सकता है, समुद्र परिपूर्ण हो जायगा उसकी सीमा है चारो ओर, उस सीमा तक जल आ जायगा, और ऐसा भी हो सकता कि और नदियोका पानी आता जाय तो अपनी सीमाको लाँघकर समुद्रका पानी बाहर भी निकल सकता है। जैसे कवि लोग कहते है कि समुद्रसे कभी एक बूद भी पानी नही कहा है ऐसी असम्भवसी बात भी सम्भव हो सकती है किन्तु यह सम्भव नही हो सकता कि उदर रूपी समुद्र अन्न रूपी जलसे कभी भर जाय, फिर कभी रीता न हो। कितने ही अन्न इस पेटमे डालते जाइये, तत्काल तो कुछ पेट भरा रहता है मगर समय जैसे व्यतीत होता, मिनट-मिनट व्यतीत होते कि बस पेट खाली होने लगता। जठराग्नि खाये हुए अन्नको भस्म कर देती है और फिर यह पेट अतृप्त हो जाता है। तो इस उदरसमुद्रकी तृप्ति कितने ही अन्नका पानी डाल दिया जाय तो भी यह पूर्ण नही हो सकता, ऐसी यह क्षुधावेदना लगी है और इसका निमित्त कारण है असाताका उदय और उस ढगके असाताका उदय इस जीवकी परिपाटीको चलाता आ रहा है। जिस भवमे गया यह जीव वहाँ ही क्षुधावेदना इसको सताती। कीडा हुआ तो वहाँ भी क्षुधावेदना, मनुष्य बन गया तो वहा भी क्षुधावेदना। पशुवोकी क्षुधा तो सामने ही स्पष्ट है। मन-मनभर अन्न एक बारमे खा जायें ये हाथी, घोड़ा, झोटा आदिक, यह तो देख

ही रहे है। तो यह क्षुधा वेदना संसारके समस्त जीवोको परेशान कर रही है। इससे मुक्त होनेका उपाय मात्र क्षुधावेदना रहित देहरहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना है।

वैश्वानरो न तृप्यति नानाविधकाष्ठनिचयतो यद्वत्।
तद्वज्जठरहुताशो नो तृप्यति सर्वथाप्यशनैः ॥३७८॥

(११६) जठराग्निकी भोजनेन्धनसे सर्वथा तृप्तिकी असंभवता—जैसे कितनी ही प्रकारके काष्ठोका समूह अग्निमे डाल दिया जाय पर अग्नि कभी तृप्त नही होती। अग्निका तो वह खुराक है ईंधन। ईंधन पायगी तो अग्नि बढेगी। कितना ही काष्ठसमूह इस अग्निपर डाल दिया जाय तो अग्नि कभी तृप्त नही होती, बल्कि अतृप्त होकर और अधिक तृष्णाको ही बढाती चली जाती है याने आग और तेज होती जाती है। फिर उसपर और ईंधन कोई डाल दे तो वह भी आग बनती जाती है। कितनी ही बार डालते जाइये ईंधन, पर अग्नि बढती ही जायगी। तृप्त होनेका तो कोई काम नही है। इसी प्रकार यह उदररूपी अग्नि चाहे इसमे कितना ही अन्नरूपी ईंधन झोक दिया जाय तो भी यह उदराग्नि बढ़ती ही जाती हैं। कभी भी सन्तुष्ट नही होती। मनुष्योका, पशुओका, सभीका रोजका काम देख लीजिए। रोज रोज खाना, कुछ समय बाद मल निकालना, बस यही जीवनभर लगा रहता है। अन्य कामोमे तो परिश्रम होता है मगर यह क्षुधा रोग इस जीवको बहुत परेशान किए हुए है। सो यह उदराग्नि भोजनसे कभी संतुष्ट नही होती। तब इस क्षुधाके शान्त होनेका उपाय जगतमे पौद्गलिक समागम नही है। यह आत्मा स्वय क्षुधा आदिक वेदनाओसे रहित है, ज्ञानज्योति अमूर्त है, स्वय आनन्दस्वरूप है। उसकी दृष्टि बने। उस ही रूप अपने आपको अनुभवे तो यह कठिन वेदना जो कि खाते समय तो यह अपनेको बडा सुखी मानता है पर है यह वेदनारोग। यह दुःख दूर हो सकता है तो मात्र एक अंतस्तत्त्वकी उपासनासे ही दूर हो सकेगा।

यस्यां वस्तु समस्तं न्यस्तं नाशाय कल्पते सततं।
दुःपूरोदरपिठरी कस्तां शक्नोति पूरयितुं ॥३७९॥

(११७) वस्तुन्याससे उदरपिठरीके पूरणकी अशक्यता—उदर रूपी पिठरी कुठिया मे, बर्तनमे रखी हुई वस्तु सारीकी सारी अल्प समयमे ही नष्ट हो जाती है, फिर कौन पुरुष इस उदर पिठरीको भरकर पूरा रख सकता है? बर्तनोमे रखी हुई चीज ज्योकी त्यो बनी रहती है और वह नष्ट नही होती। मानो टकीमे कोई वस्तु भर दी तो वह भरी रहेगी और ऐसी स्थितिमे यह सम्भव है कि वह पदार्थ भरा हुआ बना रहता है, खाली नही रहता, पर यह उदररूपी पिठरी यह भर जाय और भरी हुई बराबर बनी रहे, ऐसा यहां शक्य नही है।

इससे रखी हुई चीज थोडे समय बाद ही नष्ट हो जाती है। जैसे भोजन किया, भोजन कर चुके बाद अब उस पदार्थका विनाश होना, मल होना, निसार होना यह बराबर शुरू हो गया है, तो यो उदरमे रखी हुई चीज थोडे समय बाद ही नष्ट हो जाती है। अब कौनसा उपाय है कि इस उदर पिठरीको बराबर भरा हुआ रखे रहे। यह कठिन ही नही, बल्कि असम्भव ही है। सब प्राणियोको मूल रोग यह लगा हुआ है। क्षुधावेदना। कोई धनिक हो, बडा हो, जिसके पास इतनी समृद्धि है कि जब चाहे खाये पिये, उसे यह महसूस नही होता कि क्षुधा भी कोई वेदना हुआ करती है। पर वेदना सबके होती है और वेदना मिटानेके उपायमे सब लगे रहते है। सो इस क्षुधावेदनीय कर्मका विनाश हो याने अष्ट कर्मोंका विनाश हो, जब वेदनीय नष्ट होता है तब फिर कोई कर्म नही रहता। वेदनीयकर्म अन्तमे ही नष्ट होता है। तो उसके नष्ट होते ही शरीररहित आत्मा हो जाता है। और कैसा पवित्र आत्मा स्वय स्पष्ट बन गया कि अब उसे किसी प्रकारका कष्ट नही रहता। तो क्षुधावेदनासे वही बच सका है जो सदाके लिए शरीररहित हो गया।

तावन्नर कुलीनो मानी शूर· प्रजायतेऽत्यर्थं।
यावज्जठरपिशाचो वितनोति न पीडन देहे ॥३८०॥

(११६) जठरपिशाचपीडा न होने तक कुलीनता मान शौर्य आदिका प्रतिष्ठापन— यह मनुष्य तब ही तक कुलीन बना हुआ है याने कुलके योग्य आचरण करके दुनियाको आदर्श बताता है जब तक कि शरीरमे जठररूपी पिशाच पीडा नही उत्पन्न करता। कदाचित मान लो ऊँचे कुलमे पैदा हुआ पुरुष है और वह कही देश क्षेत्रमे ऐसा फंस जाय कि उसके पास पेट भरनेका कोई साधन न रहा तो अब उसकी कुलीनता क्या कायम रहेगी ? क्षुधा वेदनाके वश होकर जिस किसी भी प्रकार वह आकांक्षा और प्रयत्न करेगा कि जिससे इसकी क्षुधावेदना शान्त हो। तो जब तक यह जठरपिशाच पीडा शरीर पर अपना अधिकार नही जमाती याने क्षुधा वेदनासे जब तक यह त्रस्त नही होता तब तक ही यह मनुष्य कुलीन रहता है और अपने श्रेष्ठ कुलपनेको बातें झोकता है, यह मनुष्य तब तक ही अपना मानीपना दिखाता है, बडा हू, उच्च हू ऐसा गर्व तब तक ही चलता है जब तक कि क्षुधा वेदना इस शरीरपर अधिकार नही जमाती। जिसको क्षुधाकी वेदना लगी है और उसको मिटाने का कोई सुगम साधन नही है तब यह किसीका भी मुख ताकता है, आकांक्षा करता है, वहाँ फिर इसका मान कहाँ रहता ? तो इस मनुष्यका मानीपना तब ही तक दिखेगा जब तक कि क्षुधा वेदनासे यह परेशान न हो। यह पुरुष अपनेको वीर बहादुर होनेका तब तक ही दावा रखता है जब तक कि क्षुधा वेदना इसको परेशान न करे। जहाँ तीव्र क्षुधाकी वेदना

है तो बडे बडे वीर वीर बहादुर भी कायर बन जायेंगे और जिस किसी भी प्रकार भोजन मिले वह प्रयत्न करेंगे। तो जब तक यह जठरपिशाच इस पर अधिकार नहीं जमाता तब तक ही सब बातें बडी कर्तव्य जैसी लगती है और दुनियाको यह मनुष्य दिखानेका प्रयत्न करता है। ज्यो ही क्षुधावेदनाने परेशान किया कि इसका कुलीनपना किनारा कर जाता है। अर्थात् ठहरता नही है। यह मान मानो अपनी पूछ दबाकर भाग जाता है। गर्व फिर वहाँ कुछ नही दिखता। वीरता मानो काला मुख कर यह कही छिप जाती है याने वहाँ वीरता भी नही रहती। जठराग्निसे पीड़ित पुरुष छोटे आदमीके पास भी दीन होकर मांगता फिरता है। ऐसी क्षुधाकी वेदनाको हटानेका उपाय अनन्त गुणधाम अमूर्त चैतन्य महाप्रभुकी उपासना करना है।

यदि भवति जठरपिठरो नो मानविनाशिका शरीरभृतां।
क' कस्य तदा दीनजल्पति मानापहारेण ॥ ३८१ ॥

(१२०) **मानविनाशिका जठरपिठरीकी समस्याके अभावमें दृश्यमान व्यवहारके अभावका प्रसंग**—यदि प्राणियोकी यह जठरपिठरी अर्थात् क्षुधावेदना मानका विनाश करने वाली न होती तो कौन पुरुष फिर किसके आगे दीन होकर वचन व्यवहार करता ? अर्थात् फिर तो सभी स्वतत्र ही थे। घरमे १०-५ लोग रहते है, वे सब किसी बडेके हुक्ममें रहते है, ऐसा क्यो करते है ? उन सबके क्षुधा वेदना है और उसे शान्त करनेका भी आवश्यक काम रोज-रोजका पडा है, इसी कारण एक दूसरेके आधीन है और एक दूसरेकी बात मानते है। यदि यह भूख वेदना, क्षुधा, न लगती होती तो फिर बतलावो कौन पुरुष किसका तावेदार होता, सेवक होता, आज्ञा मानने वाला होता ? फिर तो स्त्री, पुत्र, मित्र आदिक सभी लोग अतीव स्वतंत्र हो जाते। कोई किसीकी परवाह भी न करता। एक यह पेट ही ऐसी चीज है, क्षुधा वेदना ही ऐसा रोग है जिसके कारण बड़े बड़े मानियोका मान भी नष्ट हो जाता है। यही तो ससारमे अनादिसे परिपाटी चली आयी है। इस ही परिपाटीमे यह जीव परेशान हो रहा है। इसकी मुक्ति हुए बिना इसका उद्धार नही है। मुक्तिके लिए इन सब वेदनावोसे रहित केवल शुद्ध चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्वकी, सहज परमात्मस्वरूपकी आराधना करना है। जिसके बलसे यह शरीरलाभकी बरबादी मिटे अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि हो, और वास्तविक आनन्द प्रकट हो।

गायति नृत्यति वल्गति धावति पुरतो नृपस्य वेगेन।
किं किं न करोति पुमानुदरग्रहपवनवशीभूत. ॥३८२॥

(१२१) **उदरपिशाचवशीभूत प्राणीकी विविध विचित्र चेष्टायें**—यह मनुष्य पेटकी

ग्रहपवनके वशीभूत होकर क्या क्या नही कर डालता ? लोकमे अनेक मनुष्य गान तान कर आजीविका करते है । एक व्यवसाय बन गया है और जब चाहे पैसा देकर बुलाये, गाना गवाये । तो गानेकी जो एक आजीविका बनाते है वह इस पेटसे परेशान होकर ही तो बनाते है । तो उदहग्रहसे ग्रस्त हुआ पुरुष यह गाता है, नाचता है, अपने शरीरकी ऐसी कलायें दिखाता, हाथ पैर चलाता, मुख आँखकी भाव मुद्रा बनाता, ये सब किसलिए कोई पुरुषकर रहा है ? केवल पेटरूपी पिशाचसे पीडित होकर ही कर रहा । जैसे किसी को भूत पिशाच लग जाय तो वह खूब नाचता गाता है, जैसी चाहे चेष्टा करता है ऐसे ही यह मनुष्य उदर रूपी भूत पिशाचके वशीभूत हुआ गाता है, नाचता है और बडी बडी डगें भर कर कूदता है । किसी भी जगह जहाँ लाभ सुने वहाँ यह दोडता हे । क्यो दौडता है ? इसलिए कि उस सामग्रीसे यह उदराग्नि शान्त करली जायगी । तो पेटके लिए ही तो यह दौडता है । जेसे भूख पिशाचसे ग्रसा हुआ आदमी ये सारी क्रीडायें करता है—गाना, नाचना, कूदना, दौडना आदिक विसम चेष्टायें करता है इसी तरह इस भूखसे सताया हुआ मनुष्य राजा, धनिक आदिक बड़े पुरुषोके सामने गाता है, नाचता है, कूदता है, दौड़ता है । ये आजीविकायें करके यह मनुष्य राजावोको रिझानेका प्रयत्न कर रहा है । तो ऐसा रिझानेका प्रयत्न अपना पेट भरनेके लिए ही करता है । मानो यदि पेट न होता याने इस जीवके क्षुधावेदना न होती तो कोई कुछ भी न करता ।

जीवान्निहंत्यसत्यं जल्पति बहुधा परस्वमपहरति ।
यदकृत्य तदपि जनो जठरानिलतापितस्तनुते ॥३८३॥

(१२२) जठरानिलतप्त प्राणीका अकृत्यव्यवहार—जो पेटके पीछे काम करनेकी अनेक बातें ऊपर बतायी गई है उनमे कई कार्य करने लायक भी है, जिनके करनेसे किसीको कुछ भी पीड़ा नही होती । सो यद्यपि वह काम भी यह मनुष्य दीनतावश करता है जिनसे किसी दूसरेको पीडा नही होती, परन्तु ऐसे काम भी इस पेटके वश होकर यह जीव कर डालता है जो बिल्कुल नही करने योग्य हे । अयोग्य कामोको भी कर डलता । जेसे कोई किसीको मारकर खा ले तो यह कितना अयोग्य काम है । इस भूखे प्राणीको अन्य जीवोंका स्वरूप ही समझमे नही है, पर रच भी दया नही है तो वे उन्हे मार डालते है, खा डालते है । ऐसे अयोग्य काम यह पेटके कारण ही तो कर रहा है । लोग झूठ बोलते हैं, चोरी करते हुए पकड़े जाते है और और भी जितने अधम कार्य किये जा रहे है वे सब इस पेटके लिए ही तो करते है । तो इस अधम पेटके लिए यह पुरुष जो जठराग्निसे संतप्त है, भूखसे व्याकुल है वह क्या क्या नहीं कर डालता ? योग्य कार्योको करे और अयोग्य कामोको भी कर

डालता है, ऐसी विडम्बना इस क्षुधा वेदनाके कारण करनी पड रही है। इसका मूलसे विनाश तब ही है जब कि शरीररहित आत्माकी शुद्ध स्थिति प्रकट हो जाय।

द्युतिगतिमतिरतिलक्ष्मीलता लसति तनुधारिणां तावत्।
यावज्जठरदवाग्निर्न ज्वलति शरीरकांतारे ॥ ३८४ ॥

(१२३) जठरदवाग्निज्वलन न होने तक प्राणियोंके द्युति गति मति आदि लतावों की शोभितता—जब तक प्राणियोंको समय समय पर खाना मिलता चला जाता है जब तक उनके शरीररूपी वनमे उदराग्नि प्रवेश नही कर पाती है तब तक ही मनुष्यके शरीरकी द्युति कायम रहती है। जैसे जगलमे वृक्ष खडे है, हरे है वहाँ बड़ी द्युति है, बडी उनकी शोभा हो रही है। यह शोभा कब तक रहती है, जब तक कि उस जंगलमें आग नही लग जाती। जहाँ आग लगी कि वे समस्त पत्ते मुर्भा जाते है। तो शरीरकी द्युति कहाँ रही ? इस शरीरकी द्युति, गति, चलनेकी शक्ति यह तब ही तक कायम है जब तक इस जीवको खाना मिलता चला जाता है। यह बुद्धि तब तक काम देती है जब तक शरीरको खाना मिलता चला जाता है। कभी यह भूखसे व्याकुल हो जाय और खानेका साधन न मिले तो उस समय इसकी बुद्धि भी काम नही करती। यह जीव तब ही तक रतिमे (राग मे) रहता है जब तक कि इसको जठराग्नि परेशान नही करती। जैसे जगलमे वृक्षोकी शोभा, लता तब तक सही है, तब तक नही मुर्भाती जब तक कि वहाँ अग्नि नही लगती ऐसे ही जब तक जठराग्निका प्रकोप नही है तब तक इस मनुष्यके शरीरकी शोभा बराबर बनी रहती है। जैसे ही उदराग्नि प्रविष्ट हुई कि गति, बुद्धि, शोभा इन सभीको यह उदराग्नि कर डालती है। समयपर भोजन न पहुचे इस मनुष्यके शरीरमे तो कान्ति नही रहती, चलना फिर बंद हो जाता, बुद्धि बिगड जाती, प्रेम भी नष्ट हो जाता और शरीर शोभारहित होकर, रोगसहित होकर फीका पड जाता है।

संसारतरणदक्षो विषयविरक्तो जरार्दितोऽप्यसुमान्।
गर्वोद्ग्रीवं पश्यति सधनमुखं जठरनृपगदितः ॥३८५॥

(१२४) जठरवेदनाग्रस्त महापुरुषोंकी भी विवशता—जो पुरुष संसारसे पार होनेमे चतुर है अर्थात् ससार सागरसे तिर सकते है, तपश्चरण आदिक करके, आत्मस्वरूपका परिचय करके, अतस्तत्त्वमे मग्न होकर जो ससार पार कर लेनेकी सामर्थ्य रखते है, जिन्हे विषयों से पूर्णतया विरक्ति है, किसी भी इन्द्रियके विषयके सेवनकी कभी भी अपनी इच्छा प्रकट नही करते, जो बुढापेसे पीडित रहते है, वृद्ध होते है ऐसे पुरुष भी जिस समय भूख वेदनासे ग्रस्त होते है, उदर भरनेके फंदमे पड़ते हे उनपर भी जब इस उदरनृपकी आज्ञा चलती है तब गर्वसे ऊँचे हुए धनियोके मुखको आशा भरी दृष्टिसे देखते हैं अर्थात् बहुत उच्च पदमे

पहुंचे हुए पुरुष भी जब जठराग्निकी पीडासे बेचैन हो जाते हैं, शरीर जब नही चलता तो वे भी उदरपूर्तिकी खोजमे अपनी चर्चा करते है। बड़े-बड़े मुनिराज जो परमेष्ठी कहलाते है, देह से विरक्त है वे भी आखिर इस क्षुधावेदनाकी शान्तिके लिए श्रावकोके घर स्वयं जाते है, शुद्ध आहारकी खोज करते है, तो इससे यह जानिये कि इस क्षुधावेदनाने, इस उदरतृपने ससारके जीवोको कैसा फन्देमे फसाया है कि ये जीव इस उलझनमे रहकर कभी भी दीनतारहित अपनी चर्या नही कर पाते। संसारके प्राणियोको जो छोटेसे बडे तक सभीको क्षुधासे ग्रस्त बनाया है तो उससे यह जानना कि संसार ऐसी वेदनावोका घर है और एक जन्ममे मानो क्षुधाशान्ति का सही साधन बना लिया तो इतनेसे क्या होता है? मरण होता है, नया जन्म मिलेगा, यह क्षुधा साथ रहेगी। इस शरीरका सम्बध जीवके लिए बडा कठिन उपसर्ग बना हुआ है। क्षुधा आदि वेदनायें इस शरीरके कारण ही तो सता रही है। सो विवेकी जनोका यह कर्तव्य है कि शरीररहित, वेदनारहित केवल विशुद्ध चेतनामात्र अतस्तत्त्वकी आराधना करके अपने आपको कल्याणमार्गमे ले जायें।

कर्षति वपति लुनीते दीव्यति सीव्यति पुनाति वयते च।
विदधाति किं न कृत्य जठरानलशातये तनुमान् ॥३८६॥

(१२५) जठरानलशान्तिके लिये प्राणियोके नाना श्रम—संसारमे यह शरीरधारी मनुष्य जठराग्निको शान्त करनेके लिए क्या-क्या उपाय नही रचता? जो जो भी बाते उनकी बुद्धिमे आती है उन सब बातोको इस पेट भरनेके लिए यह कर डालता हैं। ये मनुष्य उदराग्निकी शान्तिके लिए ही तो खेत खोदते है। खेत जोतनेमे, गोडनेमे कितना परिश्रम होता है? इतना बडा परिश्रम क्या यह मनुष्य यो ही करता है? प्रयोजन यह है कि अपनी क्षुधा की शान्तिका साधन बनानेके लिए ही तो यह मनुष्य खेत जोतता है, खेतमे बीज बोता हैं, अकुर हो जानेपर उनकी रक्षा करता है, उनकी वृद्धिके लिए परिश्रम करता है, फल आ जाने पर, पक जानेपर उन्हे काटता है, उनका फल निकालता है। प्रारम्भसे अन्त तक किसी विषयक इस परिश्रमको यह जीव जठराग्निकी शान्तिके लिए ही तो करता है। कितने ही लोग जुवा खेलते है और अनेक प्रकारके अन्य व्यापार करते हैं। उनमे यह ही तो आशा रखते है कि कुछ द्रव्यका सचय हो तो वे उस साधनसे अपनी जठराग्नि शान्त कर लें। तो यह क्षुधा वेदना इस जगतके जीवोसे क्या-क्या काम नही करा रही है। लोग कपडे सीते हैं, झाडू लगाते हैं, मजदूरीका काम, सफाईका काम, कपडे सीनेका काम आदि, ऊँचेसे ऊँचे नीचेसे नीचे सभी कामोको यह मनुष्य जठराग्निकी शान्तिके लिए ही करता है। अन्य अन्य बातोपर इस मनुष्यका कुछ वश चलता है या मानता है, पर जब क्षुधावेदना सताती है, जठराग्निका

प्रकोप होता है तब इस जीवका गर्व खतम हो जाता है और उस समय उसे कोई वश नहीं चलता। यह प्राणी इस उदराग्निके साधन, शान्तिके साधन बनाये रखनेके लिए क्या क्या नही करता। न जाने कहाँ कहाँ जाता, कहाँ कहाँ यात्रा करता, किन किन समुद्रोमे, बनोमे प्रवेश करता, न जाने क्या क्या कारीगरी नहीं करता। वस्त्र बुने, अनेक प्रकारकी कलावोसे यह अनेक निर्माणकार्य करता। ये सब कलाये इस जठराग्निकी शान्तिके लिए करता है। एक क्षुधाकी वेदना न हो तो किसीको क्या गर्ज पडी है कि वह कठिनसे कठिन परिश्रमसाध्य किसी नये कार्यको करे। जुवा खेलता है उसमे बदनाम होता है। दर्जीका पेशा करता है, भंगी, मेहतर आदिकका कार्य करता है जुलाहा बनता है ये सब कार्य इस जठराग्निकी शान्ति के लिए ही तो करने पडते है। हाय! यह सारा जगत एक इस क्षुधावेदनासे ऐसा ग्रस्त है कि इससे विवश होकर यह अपना सारा बुद्धिबल खो देता है।

लज्जामपहृति नृणां मान नाशयति दैन्यमुपचिनोति।
वर्धयति दुःखमखिल जठरशिखी वर्धितो देहे ॥३८७॥

(१२६) **जठराग्निवाधित प्राणीके दुःख और दोषोका वर्धन**—जब शरीरमे जठराग्नि बढ जाती है, तेज क्षुधाकी वेदना हो जाती है तो यह मनुष्य लज्जाको छोडकर निर्लज्ज हो जाता है। यहाँ तक कि भीख माँगकर भी अपना पेट भरता है, वहाँ भी शर्म नही करता। तो यह क्षुधाकी तीव्र वेदना इस जगतके जीवोको सताती है। जब जठराग्निका प्रकोप होता है तो मानका सर्वथा अभाव हो जाता है। क्षुधा वेदनासे त्रस्त प्राणी अपना मान नही रख पाते। चाहे वे ऊँची स्थितिमे हो चाहे छोटी पदवीमे हो, पर क्षुधाके आगे मान किसीका नही टिक सका। उदराग्निके प्रकोपके समय दीनताका साम्राज्य छा जाता है। सभीको दीन होना पडता है। अन्यकी तो बात क्या, भले ही कुछ वैराग्यबुद्धिके कारण साधुजन दीनता नही करते है पर भिक्षा चर्या करनेमे दीनताका कुछ न कुछ अंश आ हो जाता है तो क्षुधावेदना होनेपर दीनताका साम्राज्य छा जाता है। क्षुधा वेदनामे अन्य समस्त दुःख सह लेते है, तो यह एक ऐसी कठिन वेदना है कि इसमे निर्लज्जता आ जाना, मानरहित हो जाना, दीनता आ जाना आदिक सारे दोष होते है। तो ऐसा क्षुधा वेदनाका आधारभूत यह शरीर ही इस जीवके साथ न रहे तो यह जीव पवित्र है, कल्याणमय होगा, पर जब तक यह शरीर साथ लगा है तब तक यह जीव अपवित्र बन रहा है। सो शरीररहित अतस्तत्त्वकी उपासना करके अपने आपको ज्ञानशरीरमात्र, ज्ञानज्योतिर्मात्र अनुभवना चाहिये।

गुणकमलशशाकतनुर्गर्वग्रहनाशने महामंत्र।
सुखकुमुदौघदिनेशो जठरशिखी बाधते किं न ॥३८८॥

(१२७) जठराग्निसे गुणोंका भस्म होना—यह जठराग्नि गुणरूपी कमलोके लिए चद्रमाकी तरह है। जैसे चन्द्रोदय होनेपर कमल मुद जाता है इसी प्रकार जठराग्नि होनेपर इस आत्माके गुण सब हीन हो जाते है। यह जठराग्नि गर्वरूपी ग्रहके नाश करनेमे महामत्र का काम देती है। जैसे कही कोई पिशाच लग गया हो या पिशाचका कही उपद्रव आ गया हो तो महामत्रबलसे पिशाचका उपद्रव दूर हो जाता, इसी प्रकार इस जठराग्निका प्रकोप हो जानेपर गर्वका विनाश होता है। जब तक पेट भरा है तब तक जीवके गर्व है, आग्रह है, नाना प्रकारकी यह मनमानी लीलायें करता है। यह जठराग्नि सुखरूपी कुमदोकी मुर्छा देने मे सूर्यकी बराबरी करती है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर कुमुद नामक कमलिनी मुर्झा जाती है ऐसी ही जब इस जठराग्निका प्रकोप होता है तो सुख भी नष्ट हो जाता है। जैसे चन्द्रके उदय होनेसे कमल नही खिलता उसी प्रकार उदराग्निसे पीडित मनुष्यके गुण नही प्रकट होते। जैसे सूर्यका उदय होनेपर कुमुद मुर्झा जाते है इसी तरह जठराग्निकी पीडा होनेपर सुख भी मुर्झा जाता है, सुखके बजाय दुःख घर कर जाता है। तात्पर्य यह है कि ये ससारके प्राणी इस जठराग्निके द्वारा बड़े पीडित है और यह शरीर उसका आधार है। और जब तक ससार है तब तक शरीर मिलता रहेगा। सो यह भव भवमे क्षुधाकी वेदनासे दुःखी रहेगा। सो जब तक यह आत्मा अपनी असली स्थिति नही पाता, शरीररहित केवल अपने स्वभाव-विकासरूप अवस्थाको नही पाता तब तक यह जीव ससारके कष्ट ही कष्ट पाता रहता है।

शिथिलीभवति शरीर दृष्टिर्भ्राम्यति विनाशमेति मति ।
मूर्छा भवति जनानामुदर भुजगेन दष्टानां ॥ ३८९ ॥

(१२८) उदरभुजंगसे दष्ट पुरुषोके शरीरका शैथिल्य और दृष्टिका घूमना—जिसको उदर रूपी भुजंगने डस लिया है अर्थात् जिसको क्षुधावेदना सता रही है और क्षुधावेदनाकी शान्तिके लिए खाने को कुछ न कुछ मिल रहा है उसका शरीर शिथिल हो जाता है। जैसे सर्पके डसने पर डसा हुआ शरीर शिथिल हो जाता है, खडा नही हो पाता, हाथ पैर कैसे ही गिरते रहते है ऐसे ही जब उदराग्नि क्रुद्ध हो जाती है अर्थात् भूख सताती है तो उस तीव्र वेदनामे यह सारा शरीर शिथिल हो जाता है। जैसे सर्पके डसे जाने पर डसे हुए मनुष्यकी दृष्टि घूमने लगती है, दृष्टि स्थिर नही हो पाती है, यह सारा जगत घूमता हुआ दिखता, खुद भी घूमता हुआ रहता है इसी प्रकार जठराग्निसे पीडित हुआ पुरुष अर्थात् जिसको तेज भूख लगी है उस वेदनासे मुर्झाये हुए पुरुषकी दृष्टि घूमने लगती है। उसको सामनेका दृश्यमान यह पदार्थ समूह भी घूमता सा नजर आता है और स्वय भी घूमता रहता है।

(१२९) **जठरभुजंगदष्ट पुरुषोंके मतिविनाश और मूर्च्छाका होना**—जैसे सर्पसे डसे हुए पुरुषकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, दिमाग काम नही करता है, अनबक भी बकने लगता है इसी प्रकार जठराग्निसे पीड़ित पुरुषकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अब उस क्षुधावेदनासे पीडित पुरुषका दिमाग कुछ काम नही करता। किसी कामको करनेमे मन नही लगता। यहाँ तक कि लोगोने एक कहावत बना ली कि "भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कठी माला"। क्षुधा वेदनासे ग्रस्त प्राणी भक्ति, ध्यान आदिक सब कुछ छोड बैठते हे। जैसे जिसको सर्पने डसा हो उसको मूर्छा सताने लगती है इसी प्रकार जिसको इस क्षुधावेदनाने सताया है उसे भी बेहोशी आने लगती है। जब कभी भूखका ऐसा तेज प्रसग आया हो और उसका साधन न मिला हो, प्राय सभीको जीवनमे ऐसा मौका पडा सकता है तो वह स्वयं जानता है कि क्षुधावेदनासे पीडित होकर इस मनुष्यको होश भी नही रहता है। ऐसे क्षुधा वेदनाके उपसर्गसे दूर होनेकी जिनकी इच्छा है उनका कर्तव्य है कि देहकर्म आदिकसे निराले चैतन्यमात्र इस चैतन्य महाप्रभुकी उपासनामे रहे और ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपका ज्ञान करते हुए अलौकिक आनन्दका अनुभव करें?

उत्तमकुलेपि जातः सेवां विदधाति नीचलोकस्य।
वदति च वाचां नीचामुदरेश्वरपीडितो मर्त्यः ॥३९०॥

(१३०) **उदरेश्वरपीडित उत्तमकुलजात मनुष्यको नीचलोकसेवाकी विवशता**—जो पुरुष इस पेटरूपी नृपकी आज्ञासे पीडित है, जिन पर इस पेटकी हुकूमत चल रही है वे लोग उसकी आज्ञाके वश होकर चाहे, उत्तम कुलमे उत्पन्न हुए हो, उन्हे नीच कुल वाले पुरुषोकी सेवा करना पडता है। यह क्षुधा, यह पेटकी ज्वाला इतनी भयकर है, इतनी दुःसह है कि इससे पीड़ित होकर उत्तम कुल वाला भी पुरुष जब कुछ पेटपूर्तिका साधन नही रहता है तो नीच कुल वाले पुरुषकी भी यह सेवा करने लगता है और इतना ही नहीं, इस उदर-पूर्तिके निमित्त नीचसे नीच जो न कहे जाने चाहिए ऐसे वचन भी बोलने पडते है। दीनता आना, गर्वका मिटना, लज्जाका खोना, खोटे वचन बोलना आदि ये सारे कार्य उदर पूर्तिके लिए ही तो करने पडते है। लोकमे ऐसे भाँड, नट, और और भी कितनी ही तरहके लोग दिखते है कि जो जैसे चाहे वचन बोलते है। वे केवल एक ही प्रयोजन अपना साधना चाहते है कि पेटकी पूर्ति होती रहे। क्षुधा वेदना शान्त होती रहे।

दासीभूय मनुष्यः परवेश्मसु नीचकर्म विदधाति।
चाटुशतानि च कुरुते जठरदरी पूरणाकुलितः ॥३९१॥

(१३१) **उदरगर्तभरणाकुलमनुष्यकी परदास होकर नीचकर्म करनेकी विवशता**—

जो मनुष्य इस जठरदरीके पूरण करनेमे आकुलित है याने पेटका गड्ढा भरनेकी चिन्तासे जो बेचैन है वे पुरुष दास होकर दूसरोके घरोमे नीच कर्म करते हैं, जैसे जूठे बर्तन मांजना, कपडे धोना, झाड़ू बुहारी लगाना, गौशालावोका मल-मूत्र साफ करना। भला बताओ कौन मनुष्य ऐसा शौक रखता है कि इन कार्योंको करता फिरे, लेकिन जब इस पेटके गड्ढेको भरनेका प्रसग आता है, जिसके बिना काम नही चलता, शरीर बेमुध हो जाता, शिथिल हो जाय, बडी पीडा हो जाय, ऐसे इस पेटगड्ढेको भरनेके लिए यह मनुष्य दूसरोके घरोमे रहकर नीच कर्मोंको करता रहता है, और इतना ही नही, उन बडे पुरुषोकी अनेक चापलूसीके वचन भी कहनेमे शर्माते नही हे। जिस किसी भी प्रकार हो, ये मुझपर प्रसन्न रहे, इस प्रकार उनकी प्रशसा चापलूसी न गुण हो तो भी उन गुणोको बनाना, बखानना, इन सारे चापलूसीके वचनोके कहनेमे भी वे पुरुष चूकते नही है। सो यह जगत इस क्षुधामे ऐसा परेशान है। सो जब तक यह जीव इस शरीरको अपनाये है, शरीरको ग्रहण करता रहता है तब तक ये वेदनायें सहनी ही पडेंगी। जिनको ये वेदनायें पसद नही वे शरीररहित चैतन्य महाप्रभुको उपासना करें।

> क्रीणाति खलति याचति गणयति रचयति विचित्राशल्पानि-
> जठरपिठरी न शक्त पूरयितु गतशुभस्तदपि ॥ ३६२ ॥

(१३२) **विविध चेष्टाओसे भी पुण्यहीनकी जठरपिटरीपूरणमें अशक्तता**—जिन जीवोका पुण्य नष्ट हो गया है अर्थात् जो पुण्यहीन है वे नाना प्रकारके व्यापार करते है, उनमे भी टोटा पाते है और अपना पेट नही भर पाते। यह ससार कैसा कष्टका घर है। जो लोग ससारकी चीजोमे रमण करते है वे अज्ञानी है, बहुत बडी विपत्तिमे फँसे हुए हैं। अज्ञानके समान विपत्ति अन्य कुछ नही है। पुण्यहीन पुरुष जमीन की खुदाई करते है, बडे कठिन परिश्रमकी मजदूरी करते है फिर भी अपना पेट नही भर पाते। उन्हे इतना द्रव्य नही मिल पाता कि वे भोजन प्राप्त करके अपनी उदरपूर्ति भी कर सकें। इस जगतमे कैसे कैसे पुण्यहीन प्राणी पाये जा रहे है। इस उदरकी पूर्तिके लिए ही अनेक लोग भीख मांगते है, याचना करते है, लोग उन्हे पुकारते है, ये उनकी बात सुन लेते है, भले ही भीतर दुःखी हो, आखिर भीख मांगनेके लिए विवश रहते है। तो पुण्यहीन पुरुष क्या क्या अकर्तव्य नही कर डालते ? जिनका पुण्य नष्ट हो गया वे पुरुष नाना तरहकी कारीगरीका काम करते है। गिनती गिनते रहते हैं अर्थात् जैसा चाहे कार्य करते हैं तो भी अपने उदर की पूर्तिमे समर्थ नही हो पाते। वे मनुष्य बडे गहरे अन्धकारमे है कि जो पूर्वकृत पुण्यके उदयसे कुछ इन्द्रिय विषय भोगोके साधन पाकर यहां मस्त होते है, रमते है, मौज मानते हैं। यह कितने दिनो

का मौज है। आखिर उन्हे भी दु:खमे ही पड़ना पडता है। सो जो पुण्यहीन पुरुष है वे नाना प्रकारके परिश्रम करके भी अपनी उदरपूर्ति नही कर पाते। यह संसार कैसा मूर्ख प्राणियो का घर है कि इस क्षुधावेदनासे ये प्राणी निरन्तर त्रस्त रहते है।

प्रविशति वारिधिमध्य सग्रामभुव च गाहते विषम।
लघति सकल धरित्रीमुदरग्रहपीडित: प्राणी ॥३६३॥

(१३३) उदरग्रहपीड़ित मनुष्य द्वारा कठोर व्यवसायोका भी उपक्रम––पेट रूपी पिशाचसे पीडित हुआ यह प्राणी उदर पालनके प्रयोजनसे समुद्रके मध्यमे प्रवेश करता है। कितने ही लोग जैसे मल्लाह लोग यही आजीविका करते है कि किसी समुद्रके मध्य गए और वहाँ कोई सीप, हीरा आदिक चीज मिली, कोई ऐसी मूल्यवान वस्तु कदाचित् मिली तो उसे बेचकर आजीविका करते है। तो अपने ही पेटके पालनेके लिए कितने ही प्राणी समुद्रके मध्य मे प्रवेश करते है, अनेक लोग पेटके ही पालनेके लिए भयानक सग्राममे शामिल होते है। युद्धमे सिपाही बनकर भर्ती होना और युद्धमे दूसरोको मारना, खुद मर जाना, यो लडाईका ही तो काम किया जाता है। तो ऐसे भयानक सग्राममे भी शामिल होना पडता है इस पेटके पालनके अर्थ। भले ही कुछ लोग चित्तमे वीरताका भी भाव रखते है, पर केवल शौकसे ही नही वे भयानक संग्राममे जाते, साथ ही उदरपालनका प्रयोजन लगा है। कभी बडा पुरुष सेनापति बनकर दूसरोके युद्धमे प्रवेश करता है तो यद्यपि सीधा प्रयोजन उदर पालनका वहाँ नही दिखता, मगर रहता तो है सही पोजीशनके साथ। वे सब भी उदरपूर्तिसे सम्बन्ध रखने वाले विषय है। कितने ही पुरुष इस उदररूपी ग्रहसे पीड़ित हुए समस्त पृथ्वीपर घूमते फिरते है। कहाँ जायें, कहाँ व्यापार करें, कहाँ रत्न आदिककी प्राप्ति हो, इस प्रकारकी खोज मे, रोजगारमे वह पृथ्वीपर यहाँ वहाँ सर्वत्र घूमता फिरता है। उदर रूपी राक्षससे पीडित होने वाले प्राणी इस दुनियामे यहाँसे वहाँ डोलते फिरते है। सो यह सब क्षुधाका त्रास जानकर और उसका आधार शरीर जानकर ऐसा ही उपाय बनाना योग्य है कि इस जीवके साथ शरीरका बधन ही न रहे और सारी व्याधियाँ इसकी एक साथ दूर हो जाये।

कर्माणि यानि लोके दु:खनिमित्तानि लज्जनीयानि।
सर्वाणि तानि कुरुते जठरनरेन्द्रस्य वशमितो जतु ॥३६४॥

(१३४) जठरनरेन्द्रवशीभूत पुरुष द्वारा दुःखनिमित्त व लज्जनीय कार्योंका भी उपक्रम––उदररूपी राजाके वशमे प्राप्त हुआ यह मनुष्य, यह जतु ससारमे जितने भी नीचसे नीच लज्जा उत्पन्न करने वाले दु:खके निमित्तभूत कार्य है उन सबको करनेमे रच मात्र भी आनाकानी नही करता। लोकमे जितने अत्याचार हो रहे है, कोई पुरुष किसीको भी लूट

लेता है, कोई थोडे धनके पीछे दूसरेके प्राण भी हर लेते हैं, और अनेक पुरुष गुंडागर्दीमे जो चाहे कर डालनेकी हिम्मत बनाते, ये सब कार्य एक उदरपूर्तिके लिए ही तो किए जा रहे है। ऐसे इन कार्योंमे नीचसे नीच कार्योंको भी यह जन्तु करनेमे शर्मिन्दा नही होता। पशु-पक्षी, छिपकली आदिक अनेक जन्तु है, ऐसे जिनका कार्य दूसरे प्राणियोका प्राण हनन करता है और उनको खा डालना है। इससे और नीच कार्य क्या हो सकता है जो दूसरे जीवोको न जीने दे, उनको खा जाय, प्राणविघात कर दे, इससे नीच और क्या कार्य हो सकता है? सो ये पशु-पक्षी ऐसे नीच कार्यको कर ही रहे है। कितने ही जन्तु है ऐसे कि जिनका भोजन मास सिवाय दूसरा कुछ है ही नही, जैसे छिपकली सिंह आदि, ये माँस खाकर ही जीवित रहना चाहते है। तो ऐसे अधम कार्योंको यह जन्तु कर डालता है। वे तो पशु पक्षी ही हैं, और मनुष्योको भी देखिये—यह मनुष्य मासभक्षी हो जाता है। कितने ही प्राणियोका हनन करके उनका मांस खाता है, तनिक भी चित्तमे दया नही आती और उदरपूर्तिके लिए कमाई करता है तो उसमे किसीपर कैसा ही अत्याचार करना पडे, झूठ बोलकर दूसरेको फँसा दे, कितने ही खोटेसे खोटे कार्य यह जीव कर डालता है केवल एक उदररूपी राजाके आधीन होकर। सो सारे ससारको इस उदर पीड़ासे पीड़ित जानकर ऐसा निर्णय बनायें कि इस संसारमे कोईसी भी पदवी, कोईसा भी राज्यादिक पदवियोका, समृद्धियोका कोई भी स्थान ऐसा सही नही है कि जो इस जीवको शान्ति प्रदान कर सके। सर्वत्र कष्ट ही कष्ट भरा हुआ है। ऐसे इस कष्टमयी जगतसे विरक्त होना और आत्मशान्तिके पौरुषमे लगना यह इस मनुष्य का कर्तव्य है।

अर्थः कामो धर्मो मोक्षः सर्वे भवति पुरुषस्य।
तावद्यावत्पीडां जाठरवह्निर्न विदधाति ॥३६५॥

(१३५) **जठराग्निबाधा न होने तक ही मनुष्योको चार पुरुषार्थोंमे प्रवृत्ति**—मनुष्यो के लिए ऋषि सत जनोका उपदेश है कि वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पुरुषार्थोंको भली-भाँति सिद्ध करें। धर्मके मायने पुण्य, दया, दान, सयम, व्रत, उपवास आदिक धार्मिक कार्योंका करना, अर्थका अर्थ है धन कमाना, क्योकि धन बिना पालन-पोषण नही हो सकता। तो गृहस्थावस्थामे धनार्जन आवश्यक है। सो न्यायनीतिसे धनका उपार्जन करें। कामका अर्थ है—पालन-पोषण, भोगोपभोग आदिक सो इन बिना भी गृहस्थका कार्य नही चल पाता। तो उन्हे भी न्याय नीतिपूर्वक भोगें और मोक्ष पुरुषार्थके मायने है—मोक्षके लिए कर्तव्य करना, आत्मज्ञान ध्यानका साधन बनाये रहना। मोक्षपथमे लगने वाले गुरुजनोकी सेवा भक्ति करना। सो इन चारो पुरुषार्थोंके कर्तव्यका ऋषि संतोने उपदेश किया, सो यह मनुष्य जब तक इन

चारो पुरुषार्थोंकी सिद्धिका पौरुष करता है तब तक उदराग्नि नही सताती। ज्यों ही भलेसे भले मनुष्योको यह भूख सताती है, जठराग्निका प्रकोप होता है त्यो ही इन सब पुरुषार्थोंको भूल जाता है और अधिक दिन तक साधन न मिले तो अपनी क्रियासे भी भ्रष्ट हो जाता है। तो ये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थोंके कर्तव्यमे पुरुष तब तक ही सावधान रह पाता है जब तक कि यह जठराग्नि इन प्राणियोको बेसुध न कर दे। तात्पर्य यह है कि मनुष्यका कर्तव्य तो है मोक्ष पुरुषार्थको निभाना, सो ध्यान तो यही रखें, पर परिस्थिति है ऐसी कि शरीरको टिकाये बिना यह सयम साधना कर नही सकता और शरीर टिकेगा अन्न पानसे, सो यथा समय यथोचित अन्न पान देकर कर्तव्य यह करें, साधना ऐसी करें कि शरीररहित ज्ञानमात्रकी स्थिति प्राप्त हो याने मुक्ति प्राप्त हो। मुक्त जीव ही पूर्णतया पवित्र है, आनन्दमय है।

एव सर्वजनानां दु:खकरं जठरशिखिनमतिविषम ।
सतोषजलैरमलै. शमयंति यतीश्वरा ये ते ॥३९६॥

(१३६) **अतिविषम जठराग्निका संतोषसलिलसे यतिजनों द्वारा शमन**—यह उदराग्नि समस्त मनुष्योको दु.खी करने वाली है। अतीव विषम है। इस क्षुधाके कारण शरीर शिथिल हो जाता है। किसी भी कार्यके करनेमे उत्साह नही रहता है, इतनी तीव्र वेदनामे यह सब कुछ धर्म बुद्धि गँवा देता है। सो अतिशय कष्टको देने वाली यह जठराग्नि है, परन्तु इस जठराग्निको भी मुनि जन, ज्ञानी महापुरुष संतोषरूपी जलसे शान्त कर डालते है। मनुष्योको क्षुधाकी वेदना होती है। मुनि भी मनुष्य है, शरीरका धर्म शरीरके साथ लगा है। उनके भी क्षुधाकी वेदना होती है किन्तु उनके पास ज्ञान और सतोषरूपी जल है जिससे वे क्षुधा अग्निको भी शान्त कर देते है। वे हाय हाय न कर आत्मचिन्तन द्वारा उस क्षुधा-वेदनाको सह लेते है। वास्तवमे ऐसे महापुरुष मुनि कहलाते है। तो मुनिजन जहाँ तक योग्य चर्यासे योग्य साधन मिलते है तो वे यथोचित आहार कर लेते है, पर आहारके लिए ऐसी कमर कसे हुए नही रहते कि जैसा भी मिले भक्ष्य अभक्ष्य, जब कभी भी मिले उसपर उनका राग जाय। ज्ञानबलमे ऐसा प्रभाव है कि कितने ही दिनोका उपवास भी कर ले और उस उपवासके प्रतापसे कहो क्षुधावेदनाको सदाके लिए भी शान्त कर दे। तो तपश्चरण करनेसे जिन मुनियोको केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर फिर क्षुधा वेदना नही रहती। जब तक मोहनीय कर्म सताता है तब ही तक क्षुधावेदनाका असर होता है। मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर वेदनीयकर्मका उदय यद्यपि सकलपरमात्माके भी चल रहा है परन्तु शरीर वेदनीय कर्मका उनपर कोई भी प्रभाव नही पड़ पाता। तो मुनिजन ही ऐसे

धीर पुरुष है जो इस जठराग्निको संतोषरूपी जलसे शान्त कर लेते हैं।

ज्वलितेपि जठरहुतभुजि कृतकारितमोदितैर्न वाहारैः।
कुर्वंति जठरपूर्णं मुनिवृषभा ये नमस्तेभ्यः ॥३६७॥

(१३७) मुनिश्रेष्ठोकी उदार चर्या—मुनिजनोके उद्दिष्ट आहारका त्याग रहता है। वे आहारके प्रति रच भी आसक्त नही है इसी कारण न वे आहारका आरम्भ करते हैं, न कराते है और न करते हुएको समर्थन करते हैं। ये तीनो प्रकारके कृतकारित अनुमोदनाका आरम्भ मनसे वचनसे कायसे उन मुनीश्वरोंके दूर रहता है इसी कारण वे नवकोटि विशुद्ध कहलाते हैं। तो मुनिगणोको कदाचित् नाना कष्ट देने वाली जठराग्निकी बाधा भी हो जाय तो भी वे मन, वचन, काय, कृतकारित अनुमोदिता आहारसे उदरको नही भरते। ऐसे विरक्त मुनिजनोको हमारा नमस्कार हो। वास्तवमे ये ही पुरुष नमस्कार किए जानेके योग्य है जिनकी धुन ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वमे ही बनी रहती है और इसी कारण शारीरिक क्षुधा आदिक वेदनायें होनेपर भी उनके चित्तमे आहारके प्रति आसक्ति नही होती। जीवोका उपयोग यदि अपने आपके स्वरूपमे लग जाय तो ये किसी भी प्रकारके संकट नही आ पाते। जहाँ अपने स्वरूपसे चिगकर बाहरी पदार्थोंमे उपयुक्त होते हैं कि सारे संकट इसपर लद जाया करते है, ये मुनीश्वर इतने विरक्त है कि कितनी हो क्षुधाकी वेदना हो जाय तो भी वे न स्वतत्र भोजन बनाते है, न बनवाते हैं और न बनाते हुएका समर्थन करते है। और वे ज्ञान से ज्ञानमे ज्ञानका ही स्वाद स्वाद करके तृप्त रहा करते हैं।

तावत्कुरुते पाप जाठरवह्निर्न शाम्यते यावत्।
धृतिवारिणा शमित्वा तं यतय. पापतो विरताः ॥३६८॥

(१३८) मुनिवरोका धैर्यजलसे जठराग्निका शमन करके पापविरमण—यह जीव तब तक पाप करता ही रहता है जब तक कि इसकी जठराग्नि शान्त नही हो जाती। सो जठराग्नि शान्त कर लेनेपर यह जीव फिर पापकी प्रवृत्तियोको नही करता, लेकिन जठराग्नि शान्त हो कैसे? एक बार भोजन कर लिया इससे जठराग्नि शान्त नही हो जाती। थोडी देरको वह दब गई और भीतर अपना काम कर रही है, उस भोजनको मलरूप बनाकर पवन द्वारा खिरा देगी और वही अग्नि प्रज्वलित बनी रहेगी। उस जठराग्निको शांत करनेका उपाय केवल मुनीश्वर जानते है। ऐसी स्थिति तो इस आत्माको चाहिये ही कि जहाँ शरीर ही न रहे। केवल ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व ही अपने स्वरूपमे रहा करे, और धर्म, अधर्म, आकाश आदिक अनेक पदार्थोंकी तरह शाश्वत पवित्र रहा करे। इस स्थितिके पाये बिना जीवका संकट नही मिट सकता। सो ऐसा स्वभाव है आत्मामे। आत्माके स्वरूपमे क्षुधाका क्या काम? यह तो अमूर्त ज्ञानमात्र है। उसमें क्षुधाकी बात ही

कहांसे आ सकती है ? पर जब यह अपने स्वरूपमे नही रह पाता । बाहरी पदार्थोमें ही रमने लगता तो इस जीवकी कैसी दुर्दशा हो जाती इस शरीरके साथमे कि शरीरमे ही कोई ऐसी विलक्षण बात जगती है कि जिससे क्षुधावेदना बनती है और यह जीव तब व्याकुल हो जाता है । यदि अपने स्वरूपकी सभाल करे जहाँ क्षुधाका कोई प्रश्न ही नही है, केवल जाननहार आत्मस्वरूप है तो उस स्वरूपकी भावनाके प्रसादसे यह जीव नियमसे समस्त सकटोके आधारभूत शरीरसे रहित हो जायगा । ऐसा प्रयत्न करने वाले मुनीश्वर धैर्य और ज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूपकी सेवा किया करते है । वे मुनि इस दुष्ट जठराग्निको धैर्यरूपी शीतल जलसे बुझाकर पापसे सर्वथा रहित हो जाते है । कुछ तो जीवके साथ शरीरका बंधन होनेसे शारीरिक वेदनाये चलती है और अधिकतर जब यह जीव अपना उपयोग शरीर या अन्य बाह्य तत्त्वोमे लगाता है तब इस पर संकट प्रकट हो जाता है । सो ये बाह्य वस्तु विषयक कल्पनाये मिटाकर अपने सहज आत्मस्वरूपकी आराधना करे तो वहांसे इसके आ-ल्हाद ही प्रकट होगा वहां सकट इस पर नही रह सकता । तो ऐसे अलौकिक उपायसे मुनि-जन क्या किया करते है और वे धैर्य रखकर ज्ञानदृष्टिकी सलिल वर्षासे इस जठराग्निको शान्त कर दिया करते है, ऐसे मुनिवरोको हमारा नमस्कार हो और उनकी भक्तिके प्रतापसे मेरेको भी वही धीरता जगेगी कि जठराग्नि आदिक समस्त दु:खोको और दु:खोके आधार भूत इस शरीरको दूर करके आनन्द निर्दोषामृतसे तृप्त रहे ।

श्रीमदमितंगतिसौख्य परमं परिहरति मानमपहति ।
विरमति वृषतस्तनुमानुदरदरीपूरणाशक्तः ॥३६६॥

(१३६) **उदरगर्तभरणाशक्त जनोके शान्तिकी असंभवता**—जिन पुरुषोकी उदररूपी गुफा सतोषरूपी जलसे नही भरी गई है और इसी कारण इस उदररूपी गुफाके भरनेमे ही रात दिन आकुलित रहते है वे अपरिमित लक्ष्मी वाले सुखको अपनेसे बाहर हटा लेते है । उन जीवोको सुख कहांसे हो ? उनको आनन्द कभी प्राप्त हो ही नही सकता । जो इस पेट के गड्ढेको भरनेमे रात दिन व्याकुल रहते है, जिनके संतोष नही जिनके ज्ञानका प्रयोग नही वे पुरुष निरन्तर आकुलित रहते है । उनको आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता ? तो आनन्द से तो दूर रहता ही है, पर मानकी मर्यादाका भी विनाश कर डालता है । तृष्णामय होकर यह कर्तव्य न करना चाहिए । इससे पेट भरनेके लिए यह खोटीसे खोटी प्रवृत्तियाँ कर डालता है और खोटी चर्यामे रहकर यह मनुष्य धर्मसे हाथ धो बैठता है । धर्म तो आत्म-स्वभावकी दृष्टिका नाम है । जो क्षुधासे व्याकुल है, शरीरको ही अपना सर्वस्व समझते है उन्हे धर्मका फल कहांसे प्राप्त हो सकता ? धर्म यद्यपि आत्माका स्वरूप है । स्वयं धर्ममूर्ति है

पर जिनको पता नही है उनको धर्मका आनन्द कहाँसे प्राप्त हो सकता।

शुभसंतोपवारिपरिषेकवलेन यतिः सुदु सहं
शमयति यः कृतांत समचेष्टितमुत्थितमौदरानल ।
व्रजति सरोगशोकमदमत्सरदु खवियोगवर्जितं
विगलितमृत्युजननमपवि घ्नमनर्घमनतमास्पद ॥४००॥

(१४०) **मुनिराजो द्वारा सर्व दोष दूर करके अनन्त आनन्दके धामका लाभ**—प्राणियोके जब शरीर लगा हुआ है तो उसके साथ क्षुधाकी वेदना भी लगी है। यह मनुष्य भी अन्य प्राणियोकी भाँति क्षुधाकी वेदनासे घिरा हुआ है। सो जब इस मनुष्यको विवेक जगता है और यह विवेकी इस निर्णयपर पहुचता है कि हमको तो मोक्षका ही पुरुषार्थ करना चाहिए जिसके प्रतापसे सदाके लिए मेरे सकट छूट जायें। तो वह सर्वपरिग्रहोका त्यागकर सबसे ममताको छोडकर ज्ञानमात्र सहज आत्मस्वरूपकी भक्तिमे रहता है और यही स्वरूप जिनके प्रकट हुआ है उन भगवतोके गुण स्मरणमे रहते है ऐसे पुरुष सतोषको प्राप्त होते है। सो वे मुनिराज यमराजके समान भयकर दु ख देने वाले इस जाज्वलित उदराग्निके बेग को सतोषरूपी शीतल जलके प्रवाहसे बुझा देते है वे ऋषिराज इस क्षुधावेदनाको भली भाँति सह लेते है सो अपने कर्तव्यमे रहने वाले ये मुनिजन अन्तमे ऐसे साधनोको पाते है कि जहाँ रोग शोक आदिक दुःखोंका नाम निशान तक भी नही है। शरीररहित ज्ञानमात्र ज्ञानानन्द धाम यह मैं चित्प्रतिभासस्वरूप हू। स्वय सहज अपने ही सत्त्वके कारण जिस रूपमे यह है उस रूपमे ही अपनेको अनुभवने वाले मुनीश्वरोके अब विकल्पजाल नही रहता। ज्ञानप्रकाश को ही ज्ञानमे अनुभवते हुए सदा तृप्त रहा करते है। सो इस ज्ञानमात्र निर्दोष चैतन्य महाप्रभुकी उपासनासे यह जीव मोक्षको प्राप्त करता है। वहाँ अब शरीरका सम्बन्ध नही, कर्मका सम्पर्क नही, इसी कारण रोग शोक घमंड ईर्ष्या विकार आदिक दुःख या किसी प्रकारका दोष कैसे रह सकेगा ? अब वहाँ जन्ममरणका सर्वथा अभाव हो गया, विकार अब रच भी नही रहा है। किसी भी प्रकारसे विघ्न इसे नही सता सकता। तो जो मोक्षपद सर्वोत्कृष्ट अनन्त आनन्दका भण्डार है, जहाँके निवासियोको अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द प्राप्त है। अत्यन्त पवित्र दशा है। विवेकियोको, मुनीश्वरोको प्रिय वह मोक्ष पद प्राप्त हो जाता है। इस कारण विवेकी जनोका कर्तव्य है कि इन क्षणिक घटनावोमे लगाव न रखें इनके मात्र ज्ञाता रहे और सर्व दोषोसे रहित ज्ञानमात्र सहज अतस्तत्त्वकी उपासना करें जिसके प्रसादसे मानसिक वाचनिक शारीरिक समस्त कष्ट दूर होगे और केवल आत्मामात्र रहकर सदा पवित्र बने रहेगे।

१६वां परिच्छेद—जीवसंबोधन

सर्पत्स्वांतप्रसूतप्रततमस्तोममस्त समस्त
सावित्रीव प्रदीप्तिर्नयति वितनुते पुण्यमन्यद्धिनस्ति ।
सूते समोदमैत्रीद्युतिसुगतिमतिश्रीश्रिता कांतिकीर्ति
किं किं वा नो विधत्ते जिनपतिपदयोर्मुक्तिकर्त्री च दृष्टिः ॥४०१॥

(१४१) **वर्तमान संग प्रसंगोकी शरण्यताका अभाव**—मनुष्यकी ऐसी प्रकृति है कि वह किसीको अपना बडा समझकर उसकी छत्रछायामे उसके तत्त्वावधानमे रहना चाहता है। गृहस्थीमे भी जिसको जो रक्षक समझमे आता है उसकी छायामे रहना चाहता है। तो अब जरा यह खोजें व्यापक दृष्टिसे कि हम आपको किसकी छत्रछाया हमारा भला कर सकती है, हमे सुख शान्तिमे रख सकती है। खोज करें, कुटुम्ब मित्र आदिकका शरण गहना शान्तिका साधक तो क्या क्षोभ, आकुलता, क्लेश इनका ही साधक है। यह बात सबको अपने जीवनमे घटित हुई होगी। जिसका भी समागम मिलता है, जिसको बडा प्यारा समझा जाता है, स्त्री हो, पति हो, पुत्र हो, जो भी इसको बडे रुचिकर होते है, सग मिला है तो समझियेगा कि जितना यह सुख मौज अब मान रहा है इससे कठिन दुःख नियमसे आयगा। यह बात एककी नही, सबकी है, चेत जायें, अपनेको समझ लें, यह उनकी बुद्धिमानी हैं, किन्तु जिनको जितना सुख मिला, मौज मिला ससारका, प्रिय बधु मिले, जिनका प्यार मिल रहा, जिनके मोहमे यह मस्त हो रहा, अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझ रहा, वे सबके सब ये संग इस जीवके लिए कष्टकारी है। कष्ट तो जब सग है तब भी चल रहा, पर यह मोहमे अनुभव नही करता, रात दिनकी चर्या देख लो कि अगर पुत्र प्रिय है तो उसे देख-देखकर तनिक मौज मानते हैं पर उसके साथ व्यवहारमे कोई प्रतिकूल बात है, कोई मान नही रहा है, जैसा मैं चाहता हूं वैसी ही मेरी प्रवृत्ति नही हो रही ऐसे कितने ही कष्ट इसके साथ साथ लगे हुए है, पर यह मोहमे नही मानता लेकिन वियोग तो निश्चित है। चाहे खुद मर जाय तो वियोग हो गया या इसके सामने वह इष्ट मर जाय तो वियोग हो गया। तो जितना सुख संयोगमे पाया उससे अधिक दुःख वियोगमे मानेगा यह। यह तो निश्चित समझिये कि जितना सग समागम है वह सब इसके लिए कष्टका ही कारण है इसलिए यह रमने योग्य नही है और इसका शरण इस आत्माकी शान्तिका कारण नही। और आगे बढे—इससे अच्छा तो गुरुजनोका संग है कि जहाँ कोई धोखा नही, छल नही, इतना तो निश्चित है, और जितना मौलिक उपदेश हो वातावरणसे, दर्शनसे स्वयं भी कुछ अपने आपमे जागृति हो वह सब लाभदायक है। तो ये भी सग प्रसग पूर्ण शुद्ध निर्दोष तो नही है। ये तो साधक जीव हैं, यहाँ भी इसको शाश्वत

संतोष न मिल पायगा। आपेक्षिक सतोषकी बात तो मिल जायगी।

(१४२) **परमात्माकी शरण्यता**——जब वर्तमान संग प्रसंग शरण्य नही तब फिर कौन सा जीव है ऐसा कि जिसकी शरण ग्रहण करना चाहिए ? वे है भगवान जिनेन्द्रदेव। जैसा आत्माका शुद्ध द्रव्यस्वरूप है उसके अनुरूप जिसका विकास हुआ है वह कहलाता है भगवान। जैसा स्वभाव है वैसा ही इनका परिणमन हो गया, उनसे और उत्कृष्ट क्या होगा ? आत्माका स्वभाव है ज्ञानदर्शन, जानन-देखनहार रहना। जिसमे क्षोभ नही, आकुलता नही, विकल्प कोई झंझट नही, उलझन नही, ऐसा स्वरूप है भगवानका। सो जब भगवानके स्वरूपका स्मरण करते है तो स्मरण करने वाला वह भी भगवान आत्मा है। नहो आज प्रकट है, पर स्वरूप तो वही है। सो जब प्रभुका स्मरण होता है, जिनेन्द्रके गुणोका ध्यान होता है तो अपने आपका भी स्मरण होता है और उस ही ध्यानमे अन्तर्ध्यान बने तो स्वरूपका स्पर्श होता है। तो जो वास्तविक शरण है, परमार्थ शरण है उसका साधन होनेसे प्रभु जिनेन्द्रदेवका शरण हमारे सकटोका हरण करने वाला है। सकटहरण होनेकी पद्धति तो अपने स्वरूपका अनुभव है, पर स्वरूपानुभवका प्रसग मिलता है जिनेन्द्रदेवके गुणस्मरणमे, इसलिए बाहरमे यदि कोई ग्रहण करने योग्य शरण है तो वह जिनेन्द्रदेव है निर्दोष परिपूर्ण विकासके लिए।

(१४३) **निर्दोष पूर्ण विकसित आत्मामे परमात्मत्व**——आत्माके सहज स्वरूपके विकासको देवका स्वरूप बताया गया है। और नाम न लें जिनेन्द्र, अरहतका, किसीका नाम लेकर न बोले और स्वरूप बोलें तो कोई भी दार्शनिक हो, किसी भी धर्म वाला हो सबको रुचेगा कि बात यही सही है, और नाममे पक्ष हो गया इसलिए नाम सुनते ही लोगोकी दृष्टि और किस्मकी हो जाती। अब आप स्वरूप तो सुनावें कि मै तो उसे मानता हू अपना आदर्श, अपना शरण जिस आत्मामे दोष रच न रहे और गुण परिपूर्ण विकसित हो गए। मेरा आराध्य तो वह है इसमे कौन मनाही करेगा जिसको कि कुछ भी विवेक है ? बस वही तो भगवान है, जिनेन्द्र है रागद्वेष जीतने वाला जिनोके इन्द्र अधिपति, ईश, प्रभु, तो भगवद्जिनेन्द्रकी भक्ति जब परम्परया मुक्तिको प्रदान कर सकती है तब भक्तिके प्रसादसे कौनसा कार्य सिद्ध न होगा ? यह एक बहुत बडा पौरुष है कि आत्माके स्वरूपका बोध हो और अन्तस्तत्त्व की दृष्टि बने और प्रभुभक्तिमे मन लगे, यह चर्या जिस किसी पुरुषकी बन जाय वह पुरुष बडा भाग्यवान है, उसका भवितव्य बडा निर्मल है, क्योकि जगतमे अन्य सब सङ्ग प्रसङ्ग कष्टकारक है, धोखा देने वाले है।

(१४४) **जिनेन्द्रभक्तिसे गहन मोहान्धकारका विनाश व सम्यक् ज्ञानज्योतिका प्रकाश**——जैसे सूर्यकी कांति तेज किरणें ससारके अन्धकारको नष्ट करके प्रकाश फैला देती है उसी प्रकार यह जिनेन्द्रभक्ति मनरूपी घरमे फैले हुए गहन अन्धकारको नष्ट कर डालती है।

जब कभी कोई कहता है कि हमे तो प्रभुभक्तिमे मन नही लगता तो मन उनका कैसे लगे जिनका चित्त मोहमे फंसा हुआ है। मोहसे वासित हृदयमे प्रभुभक्ति समा सकती है क्या ? हाँ भक्ति तो जरूर हर एकके अन्दर है पर किसीको स्त्रीकी भक्ति है किसीको पुत्रकी भक्ति है। यहाँ तो भगवानकी भक्तिकी बात कह रहे, जिसके चित्तमे स्त्री बसी है, यह बडे गुण वाली है, बडी आज्ञाकारिणी है, बडी सौभाग्यशालिनी है, मधुर वचन बोलने वाली है, यही यही जिसे रुच रहा है वह स्त्रीकी भक्ति कर रहा है। जिसको पुत्र रुच रहा वह पुत्रकी भक्ति करता, पर इस भक्तिमे मिलेगा क्या ? कष्ट। इन सबका अतिम परिणाम है कष्ट। यदि इसका त्याग नही किया, मोह नही मिटा तो इसके सगका परिणाम है कष्ट। जब कष्ट आता है तब बात सब समझमे आती है। जब सुख रहता है तो यह बात कम समझमें आती है, पर दूसरोका देख लो, युक्तिसे विचार लो, जितने जो भी इष्ट संग है वे सब कष्टके कारण होते है। एक निर्दोष परमात्माका प्रसग संग भक्ति आराधना उसकी दृष्टि यह तो शान्तिका कारण है, शेष सबका संग कष्टका ही कारण है। तो प्रभुभक्तिने मनमे बसे हुए अधकारको हटाकर एक ज्ञानज्योति प्रकट की।

(१४५) **जिनेन्द्र भक्तिसे पापका विनाश व पुण्यकी वृद्धि**—यह जिनेन्द्रभक्ति पुण्य की वृद्धि करके पापको नष्ट करती है। जिसको जिनेन्द्रके स्वरूपका ज्ञान नही, आत्माके स्वरूपका बोध नही वह वर्षो पूजा करता रहता, जिन भावोसे कर पाता है करता है, पर जब उसका कष्ट नही मिटता बल्कि कष्टके और प्रसंग आते है तो उसका उस पूजा पाठसे, धार्मिक कार्योंसे चित्त हट जाता यह समझकर कि इसमे कुछ नही धरा। देखो वर्षो हम पूजा पाठ करते आये पर हमारा कष्ट नही मिटा। निर्धनता तो और भी अधिक बढ़ गई, कुटुम्बी जनों का तो वियोग पर वियोग हो रहा है। इस पूजा पाठमे कोई अतिशय तो नही दिखाई दे रहा, ऐसा समझकर वह विचलित हो जाता। सो विचलित तो वह पहलेसे ही था। न उसे प्रभुके स्वरूपका ज्ञान था, न आत्माके स्वरूपका ज्ञान था और न भक्ति ही हो रही थी। कभी ऐसा सम्भव तो है कि धर्मकार्य भी भली भांति कोई कर रहा हो, ज्ञान भी सही हो प्रभुका व अपना और भक्ति भी कर रहे हो तिस पर भी पूर्वकृत कोई तीव्र पापका उदय है तो संकट तो उस पर आता है, किन्तु ऐसा व्यक्ति उस सकटकालमे धर्मको और भी अधिक दृढतासे धारण करता है। उसे छोडता नही है और जिसको ज्ञान नही वह ऊपरी तौरसे धर्मकार्य करता चला आ रहा था, संकट कोई आ गया तो वह उसे छोड देता है। ज्ञानीका यह निर्णय है कि कोई सकट अगर आये तो धर्मको और भी अधिक दृढतासे करना, क्योंकि हमारा शरण केवल धर्मपालन है। धर्मपालन कहते हैं आत्माका जैसा सहज स्वरूप है चेतना

मात्र, प्रतिभास मात्र उस रूपसे अपने आपको मानना और ऐसी प्रतीतिके साथ कर्तव्य निभाना यह धर्मपालन कहलाता है।

(१४६) अन्तस्तत्त्वके परिचय बिना धर्मका अपालन—कोई १ का अंक न लिखे और ० (शून्य) जीरो, बिन्दी, लगाये जाये तो कितने ही ० (शून्य) धरता चला जाय पर उनकी कोई कीमत नही है और १ (एक) का अंक लिखा हो, उसके आगे एक ० (शून्य) रखा जाय तो उसकी १० गुना कीमत बढ़ जाती है, दो शून्य रखे जाय तो १०० गुना कीमत बढ जाती है, तीन शून्य रखे जायें तो हजार गुना। तो यो ही समझो वह १ (एक) है आत्मस्वरूपकी समझ करना। यदि एक आत्मस्वरूपकी समझ बन गई तो मन, वचन कायकी सारी चेष्टायें पूजा पाठ स्वाध्याय आदिक इन सभी की कीमत बढ जाती है और एक यदि आत्मस्वरूपका परिचय नही है तो उसकी वे सब क्रियाये कोई कार्यकारी नही होती। हाँ मद कषायके अनुसार थोडा पुण्यबध हो जाता, पर उससे लाभ क्या ? थोडे समयको सुख साधन मिल जाता, मगर आगेकी गाडी उससे नही चलती। तो भक्ति अगर आप निभा सकें इस प्रकार कि सच्चा ज्ञानप्रकाश हो और मोह ममता न रहे तो मोक्षमार्गमे प्रगति कर लेंगे। गृहस्थीमे रहकर राग तो रहेगा, कर्तव्य तो आप करेंगे मगर मोह रच भी न रहना चाहिए कि यह ही मेरा सर्वस्व शरण है, यह ही मेरा सर्वस्व धन है। इस दुर्लभ मनुष्य-पर्यायमे अगर न चेत सके और वही ढला चला चलता रहा जैसा कि करते आये तो समझो कि एक बडा भारी मौका खो रहे है और मरकर कीडा मकोडा पेड पौधा बन गए तो फिर क्या वश चलेगा ? इससे कुछ थोडा अपनेको सभालिये। ज्ञानसे प्रीति करिये, ज्ञानके साधनो से प्रीति रखिये, ज्ञानियोमे प्रमोद रखिये, ज्ञानके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व समर्पित करिये। इतना साहस अगर बना सकते हैं तो कल्याणका मार्ग मिलेगा और यदि मोह ममता तृष्णा इनमे ही लगे रहे तो चाहे कुछ भी क्रियायें करें पर उनसे कल्याण न होगा। एक आत्मपरिचय नही है तो सारी चेष्टायें ० (जीरो) जैसा मूल्य रखती है। आत्मस्वरूपका जिसको बोध है वह ही प्रभुके स्वरूपको पहिचान सकता है और आत्मस्वरूप का बोध नही है तो प्रभुका स्वरूप उनकी दृष्टिमे कुदेवके स्वरूपके समान है। क्योंकि कुदेव कहा है रागी द्वेषी सुख देने वाले, दु ख हरने वाले, यो कल्पना विषयभूतको व हमारे काम आने वालेको। बस ऐसा ही जिनेन्द्र प्रतिमाके आगे लोग करते है, ऐसी श्रद्धा रखते है कि तू मुझे सुख देगा, तू शादी करा देगा, तू लडका पैदा करा देगा, तू मुकदमा जिता देगा। ऐसी ही प्रतीति लेकर तो तीर्थ क्षेत्रोमे लोग घूमते हैं। वही बात यदि यहाँ पायी जा रही तो उन्होने अपने मनमे जो कुदेवका रूप है वही प्रभुमे समझ लिया। अरे भैया! आत्मस्वरूप

कर यह ऐसा एकाग्र हो जाता कि उसे अनुभव प्राप्त होता है, अलौकिक आनन्द मिलता है। यह बात जिसने पायी वह प्रभुके स्वरूपको स्पष्ट जानता है। ऐसा आनन्द उनके निरन्तर है, निर्विकल्पता उनके निरन्तर है। तो ऐसे प्रभुकी जो भक्ति करता है उसका पुण्यरस बढ़ता है, पापरस नष्ट होता है।

(१४७) **आत्माके अविकार स्वरूपकी समझसे परमात्माके निर्विकारस्वरूपकी समझ और परमात्माके निर्विकार स्वरूपकी समझसे आत्माके अविकार स्वरूपकी समझ**—अपना स्वरूप है अविकार प्रभुका स्वरूप है निर्विकार। अविकारका अर्थ है विकार है ही नही। स्वरूपमे विकार है ही नही। स्वरूप तो केवल चैतन्यमात्र है। विकार होता है, प्रसग बनता है, परिणमन चलता है, पर स्वरूप नही है विकार जैसे एक दृष्टान्त तो लो थोड़ा समझने के लिए। जलका स्वभाव कैसा है? सभी लोग बता सकते ना ठंडा। और जब जल गरम हो गया, खौल रहा है तो बतावो उस समय जल ठंडा है कि गरम है, मगर गरमकी स्थितिमें भी जलका स्वभाव गरम नही, ऐसा जिसको बोध है वह जलको ठंडा करने के लिए तत्काल चूल्हेसे पानी हटा लेता है, पखा डुलाता है और शीघ्र ही ठडा जल प्राप्त कर लेता है। यदि वह वह जल स्वभावतः गरम होता तो वह कभी ठडा हो ही नही सकता था। तो स्वभाव और परिणमन आप परख लीजिए। गरम जलका परिणमन गरम है, पर उस समयमे भी उसका स्वभाव ठडा है। गरमके समयमे आपको जल ठडा कही न मिलेगा और स्वभाव ठंडा है, यों ही विकारके समयमे आत्माका प्रदेश कोई भी निर्विकार न मिलेगा, सब प्रदेश विकारसे रचे हुये है, तिसपर भी स्वभाव अविकार है और प्रभु निर्विकार हैं मायने विकारसे निर्गत है, हट गए है, मायने विकार था अब विकार न रहा, यह है प्रभुका स्वरूप। और आत्माका स्वरूप कैसा कि न विकार था, न विकार है, न विकार रहेगा, यह स्वरूपकी बात कही जा रही। परिणमन विरुद्ध होकर भी स्वरूप वही होता जो है। तभी उसे अचल कहा गया है। तो ऐसा जिसको आत्मस्वरूपका बोध नही वह जिनेन्द्रके स्वरूपको क्या जानें? जिसको बोध है वह प्रभुके स्वरूपको जानता है। प्रभुका स्वरूप यह है, प्रभुके स्वभावका प्रकटपना है, मेरा प्रकटपना नही है। जैसे गरम जलका स्वभाव ठंडा है पर ठंडपनका प्रकट-पना नही है, प्रकटपना तो गरमका है, प्रयोगमे जो आयगा वह गरम आयगा। गरम जलका जो ठडा स्वभाव है वह प्रयोगमे न आयगा। कोई यह समझकर कि जलका स्वभाव तो ठडा है, भले हो गर्म हो गया, और उसे यदि वह पी ले तो उसकी जीभ तो जलेगी। जले विना रह नही सकती, तो अपने आपके आत्मस्वरूपमे यह स्वभाव, यह सहज शुद्ध सत्त्व, यह ही ध्येय होता है। आत्मानुभवमे यही बात आती है और उस चैतन्यस्वभावका ध्यान धर धर

कर अनुभव हो, केवल चैतन्यमात्र अपने आपके सत्त्वके कारण चित्स्वरूप प्रतिभास मात्र केवल जाननका स्वरूप समझा हो तो समझेगा कि आत्मा स्वरूपमे राग नही, द्वेष नही। भले ही वर्तमानमे विकार परिणमन है यहाँ मगर स्वरूपमे नही। ऐसा अविकार स्वरूप अपना कोई समझ सके तो निर्विकार भगवानका स्वरूप भी समझ पायगा।

(१४८) **जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे गुणप्रमोदकी वृद्धि**—यह जिनेन्द्रभक्ति इस भक्तके प्रमादको बढ़ाती है, बडा हर्ष होता है उपयोग यहाँ जाय तो। जिसके हृदयमे मोहविष व्याप रहा है उसको इन शब्दोका कुछ ठीक अर्थ न लगेगा, केवल एक सुनना, बाँचना, चर्चा, बस शब्दसे यह वाच्य है, यह तो सब आ जायगा चित्तमे, पर वास्तविकता क्या है, यह बात चित्तमे न आयगी। जैसे जिसने जो मिठाई नही खायी उसके सामने कोई कितना ही उस मिठाईका वर्णन करे पर वह बात उसके अनुभवमे न उतरेगी। मानता तो रहेगा, बोलता तो रहेगा, और उस मिठाईको खिला दिया जाय तो झट उसका अनुभव उसे हो जायगा। बादमे कभी भी आप उस चीजका नाम लेंगे तो झट उसके हृदयमे वह बात उतर जायगी, ऐसे ही आत्माके सहज स्वरूपका अनुभव बन गया तो उसका नाम लेते ही स्वानुभव, आत्म-चिन्तन, जिनेन्द्रस्वरूप, प्रभुस्वरूप कुछ भी बोलें, सब बात उसके चित्तमे उतरती जायगी। तो ऐसा प्रभुका स्वरूप जिसने पहिचाना है भक्तिके समयमे उसको प्रमोद जगता है, यह आन्तरिक प्रमोद है। यो तो कोई रविवारका दिन हो और भगवानकी पूजा कर रहा हो। तो "रविव्रतके दिन माही, सुखसंपति बहु होय तुरत ही" आदि बडा गानतान करता है, बडी अच्छी मुद्रा बनाता है, पर इसलिए बनाता कि ऐसा करनेसे भगवान हमको सुख समृद्धि करेंगे। तो वहाँ वास्तविक स्वरूपके लक्ष्यसे प्रभुभक्ति करता है।

(१४९) **जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे सर्वेष्टसिद्धि**—जिनेन्द्रभक्तिसे मैत्री जागृत होती है। सब जीवोका एक स्वरूप समान विदित होनेसे सर्व जीवोके प्रति मैत्रीभाव होता है। कान्ति, कीर्ति ये सब जिनेन्द्रभक्तिके प्रसादसे प्रकट होते है। सौभाग्य, लक्ष्मी, सुगति, धन-सम्पदा ये सब जिनेन्द्रभक्तिसे प्राप्त होते है। पर यो नही होते कि प्रभु देने आ जायें। प्रभुभक्तिसे जो पुण्यबध हुआ, पुण्यरस बढा, पापरस खिरा, उस निमित्त नैमित्तिक योगमे सुख सम्पदा भी मिलेगी। प्रभु मेरेको सुख सम्पदा दे रहे है यह श्रद्धा यदि है तो बात न बनेगी, सन्मार्ग न मिलेगा। यहाँ तो केवल आत्मस्वरूपकी अनुरूपताके नाते और परिपूर्णताके नाते प्रभुजिनेन्द्र की भक्ति चल रही हो और कोई प्रयोजन न हो, कोई अपेक्षा न हो तो उसका पुण्यरस बढता है और उसके प्रसादसे सुख दुःख समृद्धि प्राप्त होती है। तो ऐसी यह जिनेन्द्रभगवान के चरणोमे की गई भक्ति जब परम्परया हमे मुक्ति प्रदान करती है तो ससारका कौनसा

अभीष्ट कार्य प्रभुभक्तिके प्रसादसे सिद्ध न होगा। यह जीवके लिए सम्बोधन चल रहा, उसमें समझिये भूमिका या मंगलरूप यह प्रथम छद कहा गया।

शुश्रूषामाश्रयध्व, बुधजनपदवी याहि, कोपं विमुच,
ज्ञानाभ्यासं कुरुष्व, त्यज विषयरिपु, धर्ममित्रं भजात्मन्।
निस्त्रिंशत्व जहीहि, व्यसनविमुखतामेहि, नीति विधेहि,
श्रेयश्चेदस्ति पूत परमसुखमय लब्धुमिच्छास्तदोष ॥४०२॥

(१५०) निर्दोष परम आनन्द पानेके लिये मायासे हटकर परमार्थपोषक कर्तव्यका आदेश—हे आत्मन्, तू चाहता है सुख। सुखके लिए अनेक प्रयत्न करता है, अनेक पुद्गल का सग्रह करता है, अनेक लोगोसे प्रेम द्वेष आदिक बनाता है। तू सुखके लिए कितना कठिन परिश्रम करता है और उसके फलमे सुख क्या मिलता है इस पर दृष्टिपात करें तो सुख तो क्या उल्टा दु:ख ही मिलता है, जितनी चेष्टायें करे, जितनी उलझन बढावे उतना ही व्याकुलता बढ़ती है। कुछ सुख नही पा सकता। यदि तुझे सुखकी इच्छा है और वह भी नित्य-सुखकी इच्छा है, संसारका सुख तो क्षणभरको मिलता है, नष्ट हो जायगा पर ऐसे सुखकी नही जो आनन्द सदा काल बना रहे। ऐसे सुखकी यदि इच्छा है तो अब तू कुछ अनोखा कार्य कर। वह कार्य क्या है ? पहली बात सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुका आश्रय लें। यदि निर्दोष परिपूर्ण गुण वाले शुद्ध आत्माका आश्रय हो तो बुद्धि शुद्ध होगी आत्माकी उन्नति होगी। यदि कुदेवका आश्रय लिया तो जो खुद रागी द्वेषी है, अल्पज्ञ है, ससारमे रुलने वाला है, केवल एक ढोंग बनाया है, अपने को भगवान मनवानेकी प्रसिद्धि कर रखी है तो ऐसे कुदेवका आश्रय लेनेसे न बुद्धि शुद्ध होगी न सन्मार्ग दिखेगा। उसे सुखका मार्ग न मिलेगा।

(१५१) शाश्वत आनन्द पानेके लिये देव शास्त्र गुरुके आलम्बनका व ज्ञानीजनोंकी संगतिका आदेश—हे आत्मन्! यदि तू नित्य सुख चाहता है तो सुदेवका आश्रय कर। सच्चे शास्त्र जैनशासनमे ज्ञान और वैराग्यकी बात भरी हुई है, उन शास्त्रोका सहारा ले, अध्ययन कर, पठन पाठन कर जो विषयोकी आशासे रहित है, निर्ग्रन्थ हैं। आरम्भ रहित हैं, परिग्रह रहित है ऐसे साधु जनोकी भक्ति कर। उनकी सेवा सुश्रुषा कर, तेरी बुद्धि शुद्ध होगी और सन्मार्ग मिलेगा और यदि शाश्वत् आनन्द चाहता है तो कुटुम्ब आदिकका मोह त्यागकर देव, शास्त्र, गुरुकी सेवा कर। नित्य शान्ति चाहनेके लिए तू विद्वान पुरुषोकी संगति कर। मूर्ख पुरुष चाहे हितू भी हो, उसका मित्र भी हो, भला भी चाहता हो, पर मूर्ख पुरुष की करतूत कभी न कभी इसके अनर्थके लिए होगी। चाहे वह द्वेषसे अनर्थ न करे मगर उसकी करतूत ही ऐसी बन जायगी कि इसका अनर्थ हो जायगा। एक इस नीतिमे कथा

प्रसिद्ध है कि एक राजाने अपनी रक्षाके लिए पहरेदार बन्दरको रखा था । बन्दर भी समझ-दार था ट्रेन्ड (कुशल) हो गया था । तो रात्रिके समय उस बन्दरको सिपाहीकी पोशाक पहिनाकर, तलवार देकर उसको पहरेदार नियुक्त कर रखा था और बन्दर भी अच्छी पहरे-दारी करता था । एक दिन क्या हुआ कि राजा सो रहा था । कुछ गर्मीके दिन थे, मुख उघाडे सो रहा था । फिर क्या हुआ कि एक मक्खी आकर राजाकी नाकपर बैठ गई । वह बन्दर उस मक्खीको उडाता था पर वह उड-उडकर बार-बार उसी जगह बैठ जाती थी। जब कई बार उस बदरको मक्खी उडाते हो गया तो उसे बडा गुस्सा आया और सोचा कि मैं तलवारसे उस स्थानको ही याने नाकको ही उडा दू तब फिर वह मक्खी कहाँ बैठेगी ? यह सोचकर ज्यो ही नाक काटनेके लिए तलवार उठायी त्यो ही क्या हुआ कि वही पासमे कोई एक चोर छिपा था । वह चोर गरीबीके कारण राजाके यहाँ चोरी करने गया हुआ था। वह था तो एक विद्वान कवि, पर परिस्थितिवश उसे वैसा करना पड़ा था, तो वह चोर एक जगह छिपा हुआ उस घटनाको देख रहा था । ज्यो ही बन्दरने राजाकी नाक काटनेका प्रयास किया त्यो ही उस विद्वान कवि चोरसे न रहा गया और बन्दरके पास पहुचकर उसकी तल-वार छुडायी, उससे मुठभेड कर बैठा । इतनेमे राजा जग गया, और उस विद्वान कवि (चोर) के मुखसे सारा वृत्तान्त सुना तो उस चोरपर बडा प्रसन्न हुआ । राजाने उसे हृदयसे लगाया और उसे मनमाना पुरस्कार देकर विदा किया । तो यह घटना यह बात बतला रही है कि मूर्ख चाहे हितू भी हो, कुटुम्बी हो, मित्र हो तब भी उससे अनर्थकी शंका रहती है, और एक विद्वान चाहे वह आज विपरीत हो, चोरी करने ही तो आया था, विपरीत ही तो था मगर विद्वान होनेसे उसकी रक्षा हो गई । तो विद्वज्जनोकी सगति बडी लाभदायक है । कोई जीव किसीका दुश्मन नही हुआ करता, वे घटनाये उस प्रकारको कल्पना बनवा देती है । जो विद्वान होगा वह दूसरेका बुरा नही कर सकता । तो वास्तविक शान्ति चाहते हो तो विद्वानोकी संगति करो । उससे कुछ धर्मका आश्रय मिलेगा, ज्ञान बढेगा, सन्मार्ग प्राप्त होगा ।

(१५२) शाश्वत आनन्दके लाभके लिये क्रोधपरिहार व ज्ञानाभ्यासका आदेश— इस प्रकरणमे जीवको सम्बोधा जा रहा है कि हे आत्मन् ! यदि तू अपना शाश्वत सुख चाहता है तो तू क्रोधको छोड । क्रोध जीवके सारे गुणोको भस्म कर देता है, उसकी बुद्धि व्यवस्थित नही रहती । धर्मसे विमुख हो जाता है । तो यदि सन्मार्ग चाहिए, शान्ति चाहिए तो तू क्रोधका परित्याग कर । क्रोधमे ही द्वीपायन मुनिने अपना सम्यक्त्व बिगाडा । द्वारिका नगरी भस्मकी । खुद भस्म हो गया, नरक भी गया, क्रोध हमेशा इस जीवको संकट लाता है, पर जीवोके कषायभाव लगा है, प्रतिकूल कुछ बात दिखती है तो क्रोध कर बैठते । बुद्धि-

मान पुरुष वह है कि कैसी ही प्रतिकूल घटनायें आयें उनमे क्रोध न करें और अपने ज्ञानको, अपनी बुद्धिको सही व्यवस्थित रखें। तो यदि शाश्वत आनन्द चाहिये है तो हे आत्मन् ! तू क्रोधको छोड। शाश्वत शान्तिके लिए, मुक्तिके लाभके लिए तू ज्ञानका अभ्यास कर, ज्ञान-स्वरूप आत्माका ज्ञान कर। और उस ज्ञानमे ही अपने ज्ञानको रमा। इसे कहते है ज्ञानका अभ्यास। इसके लिए पहले शास्त्रोका पठन करना, अध्ययन करना, मनन करना, यह आवश्यक होता है और यह इसलिए किया जाता कि ज्ञानस्वरूप अपने आत्माका मनन बना रहे। ज्ञानानुभव ज्ञानके अभ्याससे ही बनेगा और ज्ञानानुभव हुए बिना जीवको मोक्षमार्ग नही मिल सकता। जिसे कहते है आत्माका ज्ञान हुआ, उसके मायने है ज्ञानका ज्ञान होना, अनुभव होना, ज्ञान है सो आत्मा। कही ज्ञान और आत्मा जुदी चीज नहीं है कि आत्मामे ज्ञान भरा हो। अरे ज्ञानस्वरूपको ही आत्मा कहते है। आत्मा अलग वस्तु हो और उसमे ज्ञान भरा गया हो ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञानमय ही आत्मतत्त्व है। यदि ज्ञानके स्वरूपका ज्ञान बना रहे तो ज्ञानानुभव बनता है। तो हे आत्मन् ! यदि तू निर्बाध शाश्वत आनन्द चाहता है तो तू ज्ञानका अभ्यास कर।

(१५३) **शाश्वत शान्तिके अर्थ विषयवैरीके त्यागका आदेश**—शाश्वत शान्तिलाभके लिए विषय शत्रुवोका त्याग कर। जीवका बैरी है विषय। उपयोग विषयोमे लग जाय, इन्द्रियके विषयोकी भीतर वाञ्छा जग जाय तो यह विषय इच्छा, विषयभोग ये इस जीवके बैरी हैं। इसके ज्ञान दर्शन गुणका घात करते है। पुण्यरस मिटता है, पापरस बढ़ता है और तत्काल भी और आगामी कालमे भी इस जीवको कष्ट भोगना पडता है। ये विषयभाव इन्द्रियोने जैसा चाहा उसी प्रकारकी प्रवृत्ति कर डालना यह विषयोकी चाह इस जीवका बैरी है। बैरी कोई दूसरा नही है। कोई भी जीव इसका बैरी नहीं, विरोधी नही, इसको विषय प्रिय लग रहे है चाहमे, तो विषयको जिसके कारण बाधा समझता है उसको यह बैरी समझ लेता है, पर बैरी तो ये विषय है। और विषय बैरीमे जिनसे बाधा आयी उनको वह बैरी समझने लगता, कैसी उल्टी बात है। बैरीका जो बैरी हो उसे तो मित्र मान लेना चाहिए। आपका कोई दुश्मन है और उस दुश्मनका कोई दुश्मन है तो आपको उससे मित्रता हो जायगी, प्रेम हो जायगा। तो विषय बैरी है और विषय बैरीके बैरी बन रहे है कोई जीव, तो वह तो मित्र मान लिया जाना चाहिए। वह बैरी कैसे ? बैरी तो हमारा विषयभाव है। सो विषय बैरीकी प्रीतिको छोडो तो शाश्वत शान्तिका लाभ मिलेगा। जब भी किसी विषयकी इच्छा होती है तो यह जीव बेचैन हो उठता है, और उस बेचैनीसे परेशान होकर यह विषयसाधनोका सग्रह करता है और विषय साधनोका सग्रह करनेपर यह बेचैनीसे उन विषयोको भोगता

है और विषयोको भोगनेके पश्चात् यह फिर बेचैन हो जाता है। विषयोके प्रसंगमे प्रारम्भसे अन्त तक कष्ट ही कष्ट बसा हुआ है। तो हे आत्मन्! यदि तू शाश्वत शान्ति चाहता है तो इस विषय बैरीका त्याग कर।

(१५४) **आत्मीय ज्ञानानन्दके लाभके लिये धर्ममित्रकी सेवाका आदेश**—आत्मलाभके लिए तू धर्मरूपी मित्रकी सेवा कर। हम आपका वास्तविक मित्र है तो धर्म ही मित्र है, क्योकि अन्य सब दगा देने वाले है। मान लो कोई जीवनमे दगा न दे, बडा प्यार रखे तो मरण तो हो ही जायगा। वही एक बडा दगा मिल गया। वियोग होनेका कठिन दुःख मानेगा, यह कितना कष्टकी बात है। तो जगतमे कोई भी पदार्थ मेरा मित्र नही है, सुखकारी नही है। किसी भी पदार्थका नाम लेकर निर्णय बना लीजिए, मेरा मित्र है तो केवल धर्म ही है। और धर्म क्या ? आत्माका चैतन्यस्वरूप और अपने आपमे केवल चैतन्यका अनुभव प्रतिभास मात्र कोई तरग नही, विकार नही, केवल जानन देखन, ऐसी वृत्ति हो तो यह कहलाता है धर्मपालन। हमारा मित्र धर्म ही है, दूसरा कोई हमारा मित्र नही हो सकता। सो हे आत्मन् यदि तू मुक्तिका लाभ चाहता है, सदाके लिए आनन्द चाहता है तो तू धर्म रूपी मित्रकी सेवा कर। बड़े-बडे पुरुषोने, तीर्थंकरोने, चक्रवर्तियोने, राजा महाराजावोने सारे जीवन भर क्या क्या नही देखा था। राजपाट विषय भोग यश कीर्ति, आदिक दुनियामे जो बडी-बडी बाते मानी जाती हैं वे सब उनको उपलब्ध थी, लेकिन उनको उन्होने त्याग दिया। क्यो त्याग दिया कि उसमे उन्हे सुख नही मिला, आनन्द नही मिला और उन सबको त्यागकर एक आत्माका ही आश्रय लिया। धर्मका ही आश्रय लिया, तो धर्म ही एक वास्तविक मित्र है। हे आत्मन्! यदि तू शाश्वत् शान्ति चाहता है तो धर्मरूपी मित्रकी सेवा कर। धर्मकी शरणमे जा। जब चत्तारिदण्डकका पाठ करते है तो तीसरे दण्डकमे बोलते ना चत्तारिसरणं पव्वज्जामि, मैं चारकी शरणको प्राप्त होता हू। वे चार क्या हैं जिनकी शरण यह भव्य जीव चाह रहा ? अरहंते सरणं पव्वज्जामि मैं अरहंत भगवानकी शरणको प्राप्त होता हूं, क्योकि वे शुद्ध आत्मा दोषरहित हैं, गुण पूर्ण है और यही आनन्दकी अवस्था है, यही मुझे चाहिए। यह ही आदर्श है। तो यह भव्य जीव अरहतकी शरणको चाह रहा है। 'सिद्धे सरण पव्वज्जामि—मैं सिद्धकी शरणको चाहता हू। सिद्ध भगवान दो कर्मोसे रहित हो गए, शरीररहित हो गए। केवल ज्ञानपुञ्ज आत्मा ही आत्मा रहा। याने अरहत हुए बाद और पूर्णतया पवित्रताकी स्थिति मिली। पवित्र तो अन्तरंगमे अरहत थे, मगर बाह्य लेप भी अब न रहा, ऐसे सिद्ध भगवानकी शरणको प्राप्त होता हू। तो यह तो अरहत और सिद्धभगवान हैं, देव हैं, वे सदा कहाँ मिलेंगे ? जिनसे हमारा काम रोज पड़ सकता है वे है साधु,

गुरु, आचार्य, उपाध्याय, साधु। मैं साधुकी शरणको प्राप्त होता हू। साहू सरणं पव्वज्जामि, क्योंकि रोज उपदेश उनसे मिलेगा, रोज धर्मका साधन कहाँसे प्राप्त होगा ? तो साधुवोंकी शरण चाहिए। ये तीन शरण चाहकर भी अभी यह संतुष्ट नही हुआ, क्योंकि परमार्थसे तो उनका शरण मिल भी नही सकता। यह तो अपने आपमे भाव बना रहा है। वे परद्रव्य हैं, भले ही साधु हैं, सिद्ध होनेके प्रयत्नमे हैं, लेकिन परका आश्रय परमार्थ आश्रय नही कहलाता। तब चौथा शरण क्या चाहा उसने ? 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' केवलि भगवानके द्वारा कहे गए धर्मकी शरणको मै प्राप्त होता हू। केवलि भगवानने बताया कि वस्तु का स्वरूप, आत्माका स्वभाव अतस्तत्त्व उसकी शरणको मं प्राप्त होता हू। तो किसकी शरण गही अन्तमे ? धर्मकी शरण गही। धर्म ही वास्तविक मित्र है। धर्मकी शरणसे ही यह जीव संसार सकटोसे पार हो जाता है।

(१५५) शाश्वत आनन्दके लाभके लिये निर्दयताके परिहारका आदेश—हे भव्य जीव यदि तू शाश्वत आनन्द चाहता है तो तू निर्दयताका त्याग कर, राक्षसपनेका त्याग कर। स्वार्थमे अंधा मत बन। स्वार्थान्ध होकर दूसरेको मत सता। दूसरेको पीडा देने का परित्याग कर। कोई पुरुष धनी होकर किसी भी कार्यमे, गरीबोपर भी कुछ खर्च न कर सके बल्कि गरीबोपर ब्याजपर ब्याज चढाकर उनसे धन वसूल करना चाहे और उन गरीबोके पास कुछ है नही, उन्हे सरकारी कार्यवाहियोसे सताये, कैसी ही पीडा करे तो उसके हृदयको तो देखो, वहाँ निर्दयता कितनी है, और कितने ही बड़े धनी पुरुष देखे जाते हैं कि ऐसी घटनायें आनेपर तो स्वयं कह देते हैं कि भाई तुम अपना जैसे भी हो गुजारा करो, हम सब छोड़ देते है। जहाँ जैसी बात दिखती है और ऐसे दयालु पुरुष कही दुःखी नही होते, उनके और साधन जुटते है, पुण्यरस बढता है। तो ऐसे ही एक घटना नही, अनेक घटनावोंमे बात सोचिये—हर एकका दिल बता देगा कि मैं दयाभाव पर हूं या क्रूरताके परिणामपर हू, क्योंकि आप सब जानकार हैं, भगवत्स्वरूप है। अपनी बातको कौन नही परख सकता। तो जहाँ क्रूरता है वहाँपर शान्तिका लाभ नही मिल सकता। अतः हे आत्मन्! तू क्रूरताका परित्याग कर और दया धर्मको अगीकार कर। कभी कभी तो ऐसी क्रूरता करने वाले लोग अपने प्राण भी गवा देते है। अनेक दुश्मन बन जाते है। तो दूसरोको दुश्मन बना लेना यह विवेकका काम नही। आज थोडा नुक्सान होता है, पर उसकी तृष्णाके व्यामोहमे दूसरोको बहुत पीडा दे तो उसका फल बहुत कटुक भोगना पडता है। दयाशील रहना, कोई दीन दुःखी दिख जाय तो इसके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करना, जो दयालु है, ज्ञानी पुरुष है उसकी उदारता रोज रहती है। कोई पुरुष सारे जीवनभर तो कृपण रहे, तृष्णा करे, न

धर्मसे कुछ त्याग कर सके, न अपने खाने-पीनेमे विशेष त्याग कर सके, न दूसरेकी सेवा सुश्रुषामे त्याग कर सके, सारे जीवनभर तो कृपणता रखे और अन्तमे कहे कि हमारा गजरथ चलवा दो, अमुक बना दो, हमारा मदिर बनवा दो, हमारा अमुक काम करवा दो, इस प्रकार कोई करे तो जरा उसके जीवनकी परीक्षा तो करो, यदि वह रोज उदारता रखता, रोज धर्मकी प्रतीति करता, रोज दयाभाव पालता तो उसका लाभ था। अब जान रहा है यह कि छूट तो रहा ही है मुझसे। अब तो ऐसा ही कर देना ठीक है, तो अतर तो ताडिये— धर्मकी प्रवृत्ति ऐसी नही होती कि जीवनभर तो क्रूरता रखे और अन्तमे एक गले पडेका बडा धर्म कर जाय। धर्म यो नही होता। धर्म तो भावके अनुसार है, इसलिए यह प्रवृत्ति होनी चाहिए कि हम रोजकी चर्यामे दयालु रहे, धर्मकी प्रीति रखें। तृष्णाका त्याग रखे, यह कार्य यदि हमारा रोज रोज चले थोडा थोडा तो वह तो लाभ देगा और कोई सोचे कि हम तो मरते समय धर्म करेंगे, जिन्दगीमे नही, तो उससे धर्म नही बनता। तो जो दयाहीन है, अन्याय करता है, अत्याचारपर उतारू है उसे वास्तविक शान्तिका लाभ कहाँ मिल सकता ?

गया है उस उपदेशका आश्रय लें।

तारुण्योद्रेकरम्यां दृढकठिन कुचां पद्मपत्रायताक्षी
स्थूलोपस्थां परस्त्री किमिति शशिमुखीं वीक्ष्य खेदं प्रयासि।
त्यक्त्वा सर्वान्यकृत्य कुरु सुकृतमहो कांतमूत्यगनानां
बांछा चेत्ते हतात्मन्न हि सुकृतमृते वांछितावाप्तिरस्ति ॥४०३॥

(१५७) **सांसारिक सुखका बीज पुण्यकर्मविधान**—इसमे जीवसंबोधन प्रकरण चल रहा है। इस जीवको समझा रहे है कि हे मनुष्य यदि तुझे इस ससारमे भोगोपभोगके उत्तम साधन चाहिए तो उन साधनोकी ओर हम मन खराब मत करे किन्तु धर्ममे अपना मन लगावें तो पुण्यका बंध होगा। पुण्यके उदयमे ये सामग्री मिली। एक उदाहरण दिया है, जैसे कोई परस्त्रीका रूप निरखता है, उसकी सुन्दरता देखकर इच्छा करता है तो ऐसा भाव करनेसे सिद्धि न होगी, किन्तु तू यदि अपने धर्म कार्यमे सावधान हो तो आगे ऐसे कुटुम्ब, स्त्री, सम्पत्ति आदिक खूब प्राप्त कर लेगा, पर उन्हीका निगाह रखना यह तो तेरे अनर्थके लिए ही है। लोग प्राय: इन्द्रिय भोग उपभोगके साधनोकी वाञ्छा किया करते है, जिनमे प्रधानतया लोग स्त्रीजनोके रूपको निरखकर उनकी ओर अपना चित्त जगाते है। उन जीवो को सम्बोधा गया है कि ऐसी खोटी करनीसे तू कुछ लाभ न पावेगा बल्कि कष्ट ही पावेगा। यदि तुझे ऐसे सुन्दर समागमो की ही इच्छा है तो अपने धर्म कर्तव्योमे सावधान हो, रीति नीतिके अनुसार चल, जिससे पुण्य बंध होगा, पाप खिरेंगे और जो तू चाह रहा है उस वांछित वस्तुकी प्राप्ति होगी। कही पापका भाव करनेसे इष्ट वस्तु नही मिलती किन्तु धर्मका भाव रखनेसे परिणामोमे विशुद्धि बनती है। स्वय ही सहज सांसारिक सुख साधनोकी प्राप्ति होती है, तो यह तो एक सुखसाधन प्राप्त करनेका उपाय बताया, पर विवेक इसमे हैं, चतुराई इसमे है कि तुम ससारके भोग साधनोकी भी चाह मत करो, क्योकि संसारके सुख किसको मिले है, किसको मिलते रहेगे, कौन सदा सुखी रहेगा? केवल एक व्यक्तिपर निगाह डालकर उसकी चर्या निरख लो। जो पहले पुराण पुरुष हुए है उनको देख लो, आगे वर्तमानमे भी जो लोग बड़े कहलाये उनको देख लो आज जिनको सुख मिला है कुछ समय बाद उनको दु:ख अवश्य होगा। जिनको आज दु:ख है उन्होने पहले कितना सुखकी कल्पनायें करके अपनेको मौजमे रखा था। तो ये ससारके सुख सुख नही है, ये दु.ख है। धोखा है और उल्टे क्लेश बढाने वाले है, इस कारण सांसारिक सुख साधनोकी इच्छा मत करो। उनके सग्रहके लिए तृष्णामे अपना जीवन मत गुजारो, किन्तु आत्माको पहिचानो। आत्मा का आत्मा ही साथी है, दूसरा कोई साथी हो ही नही सकता। जो लोग किसी दूसरे जीव

धर्मसे कुछ त्याग कर सके, न अपने खाने-पीनेमे विशेष त्याग कर सके, न दूसरेकी सेवा सुश्रूषामे त्याग कर सके, सारे जीवनभर तो कृपणता रखे और अन्तमे कहे कि हमारा गजरथ चलवा दो, अमुक बना दो, हमारा मन्दिर बनवा दो, हमारा अमुक काम करवा दो, इस प्रकार कोई करे तो जरा उसके जीवनकी परीक्षा तो करो, यदि वह रोज उदारता रखता, रोज धर्मकी प्रतीति करता, रोज दयाभाव पालता तो उसका लाभ था। अब जान रहा है यह कि छूट तो रहा ही है मुझसे। अब तो ऐसा ही कर देना ठीक है, तो अतर तो लाडिये— धर्मकी प्रवृत्ति ऐसी नही होती कि जीवनभर तो क्रूरता रखे और अन्तमे एक गले पडेका बडा धर्म कर जाय। धर्म यो नही होता। धर्म तो भावके अनुसार है, इसलिए यह प्रवृत्ति होनी चाहिए कि हम रोजकी चर्यामे दयालु रहे, धर्मकी प्रीति रखें। तृष्णाका त्याग रखे, यह कार्य यदि हमारा रोज रोज चले थोडा थोडा तो वह तो लाभ देगा और कोई सोचे कि हम तो मरते समय धर्म करेंगे, जिन्दगीमे नही, तो उससे धर्म नही बनता। तो जो दयाहीन है, अन्याय करता है, अत्याचारपर उतारू है उसे वास्तविक शान्तिका लाभ कहाँ मिल सकता ?

(१५६) सत्य शान्तिके लाभके अर्थ व्यसनोसे विमुख होने व नीतिसे चलनेका आदेश—हे भव्यात्मन् ! यदि तू शाश्वत शान्ति चाहता है तो क्रूर परिणामको तज और मुक्तिलाभके लिए तू व्यसनमे विमुख हो जा। व्यसन कहते हैं बुरी आदतको। जुवा, मांस, मदिरा, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या इनका सेवन ये सब व्यसन कहलाते है। जिसकी जिन्दगी इन व्यसनोमे लगी है उसको न उस समय शान्ति है और न आगे शान्ति मिलेगी। केवल एक व्यसनपर दृष्टि डालें तो वही एक बडा कठिन दिखता है। जुवेंका जिसके व्यसन लगा है वह भी सदा शल्यवान रहता है, उसका चित्त ठिकाने नही रहता। अपने सारे वैभव को अन्तमे वह स्वाहा ही कर देता है। अपने धर्मकी तिलाञ्जलि दे देता है, कोईसा भी एक व्यसन देख लो सबमे अवगुण भरा है, मांस खाने वाला क्रूर होता, उसे दूसरेपर रच भी दया नही। मदिरापानमे बेहोशी, धर्मकी विमुखता, खोटा व्यवहार, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या आदि इन सबका प्रसग इस जीवके लिए दु खदायी है। एक-एक व्यसन जीवको कष्टकारी है, तो जिनके सातो ही व्यसन लगे है उनके कष्टका क्या ठिकाना ? जिनको एक व्यसन लग जाय तो साथ ही अन्य व्यसन भी लग जाते है। तो हे आत्मन् ! यदि शान्ति चाहिए है तो व्यसनसे विमुख बनो और नीतिका सेवन करो। जो वास्तविक नीति है धर्मनीति उसपर चले, ज्ञानलाभ लें, आत्ममनन करें, दूसरोका आदर करें, न्यायसे धन कमायें, पापसे विरक्त रहे, धर्मकी नीतिपर चलें तो परम सुखकी, सतोषकी प्राप्ति हो सकती है और सदाके लिए आत्माका कल्याण होगा। सो अगर शाश्वत शान्ति चाहिए तो इस छंदमे जो उपदेश किया

गया है उस उपदेशका आश्रय लें।

तारुण्योद्रेकरम्यां दृढकठिन कुचां पद्मपत्रायताक्षी
स्थूलोपस्थां परस्त्री किमिति शशिमुखीं वीक्ष्य खेदं प्रयासि।
त्यक्त्वा सर्वान्यकृत्यं कुरु सुकृतमहो कांतमूत्यगनानां
वांछा चेत्ते हतात्मन्न हि सुकृतमृते वांछितावाप्तिरस्ति ॥४०३॥

(१५७) **सांसारिक सुखका बीज पुण्यकर्मविधान**—इसमे जीवसंबोधन प्रकरण चल रहा है। इस जीवको समझा रहे है कि हे मनुष्य यदि तुझे इस संसारमे भोगोपभोगके उत्तम साधन चाहिए तो उन साधनोकी ओर हम मन खराब मत करे किन्तु धर्ममे अपना मन लगावें तो पुण्यका बंध होगा। पुण्यके उदयमे ये सामग्री मिली। एक उदाहरण दिया है, जैसे कोई परस्त्रीका रूप निरखता है, उसकी सुन्दरता देखकर इच्छा करता है तो ऐसा भाव करनेसे सिद्धि न होगी, किन्तु तू यदि अपने धर्म कार्यमे सावधान हो तो आगे ऐसे कुटुम्ब, स्त्री, सम्पत्ति आदिक खूब प्राप्त कर लेगा, पर उन्हीका निगाह रखना यह तो तेरे अनर्थके लिए ही है। लोग प्राय: इन्द्रिय भोग उपभोगके साधनोकी वान्छा किया करते है, जिनमे प्रधानतया लोग स्त्रीजनोके रूपको निरखकर उनकी ओर अपना चित्त जगाते है। उन जीवों को सम्बोधा गया है कि ऐसी खोटी करनीसे तू कुछ लाभ न पावेगा बल्कि कष्ट ही पावेगा। यदि तुझे ऐसे सुन्दर समागमो की ही इच्छा है तो अपने धर्म कर्तव्योमे सावधान हो, रीति नीतिके अनुसार चल, जिससे पुण्य बध होगा, पाप खिरेंगे और जो तू चाह रहा है उस वाछित वस्तुकी प्राप्ति होगी। कही पापका भाव करनेसे इष्ट वस्तु नही मिलती किन्तु धर्मका भाव रखनेसे परिणामोमे विशुद्धि बनती है। स्वय ही सहज सांसारिक सुख साधनोकी प्राप्ति होती है, तो यह तो एक सुखसाधन प्राप्त करनेका उपाय बताया, पर विवेक इसमे हैं, चतुराई इसमे है कि तुम ससारके भोग साधनोकी भी चाह मत करो, क्योकि संसारके सुख किसको मिले है, किसको मिलते रहेगे, कौन सदा सुखी रहेगा? केवल एक व्यक्तिपर निगाह डालकर उसकी चर्या निरख लो। जो पहले पुराण पुरुष हुए है उनको देख लो, आगे वर्तमानमें भी जो लोग बडे कहलाये उनको देख लो आज जिनको सुख मिला है कुछ समय बाद उनको दु:ख अवश्य होगा। जिनको आज दु:ख है उन्होने पहले कितना सुखकी कल्पनायें करके अपनेको मौजमे रखा था। तो ये ससारके सुख सुख नही है, ये दु:ख है। धोखा है और उल्टे क्लेश बढाने वाले है, इस कारण सांसारिक सुख साधनोकी इच्छा मत करो। उनके सग्रहके लिए तृष्णामे अपना जीवन मत गुजारो, किन्तु आत्माको पहिचानो। आत्मा का आत्मा ही साथी है, दूसरा कोई साथी हो ही नही सकता। जो लोग किसी दूसरे जीव

को साथी मान रहे है, उनको शरण, मददगार समझ रहे हैं वे अंधेरेमे हैं। कोई भी जीव किसी दूसरेका प्रेमी हो ही नही सकता। हर एक कोई अपने स्वार्थका, अपनी कषायका प्रेमी हुआ करता है। सो पहले तो यह ही एक अज्ञान है जो यह समझ लिया जाय कि अमुक भाई मुझसे बडा प्रेम रखते हैं। मुझसे कोई प्रेम नही करता। जो प्रेम रख रहा, प्रेमकी बात कर रहा उसके ऐसी ही कषाय जगी है, ऐसा ही उसके मनमे भाव हुआ है सो अपनी ही भाव वेदनाको शान्त करनेके लिए उस प्रकारकी प्रवृत्ति करता है। वास्तविकता तो यह है फिर भी यदि ससारके इन सुखोकी चाह है तो सुख कही चाहनेसे नही मिला करता किन्तु धर्म कर्म पुण्यके प्रसादसे ये सुख साधन मिला करते हैं।

लक्ष्मी प्राप्याप्यनर्घ्यामखिलपरजनप्रीतिपुष्टिप्रदात्री
कांतां कांतांगयष्टिं विकसितवदनां चिंतयस्यार्तचित्त.।
तस्या· पुत्रं पवित्रं प्रथितपृथुगुणं तस्य भार्यां च तस्याः
पुत्रं तस्यापि कांतामिति विहितमतिः खिद्यसे जीव मूढ· ॥४०४॥

(१५८) **संसारी प्राणियोंका उत्तरोत्तर तृष्णासे खेदखिन्नपना**—हे मोही प्राणी तू व्यर्थ ही तृष्णा करके खेदको प्राप्त हो रहा। तू चाहता है कि संसारमे मैं सबसे बडा धनी कहलाऊँ, इसके लिए तू धनके लिए तरसता फिरता है। अन्याय करके, पडोसियोको सताकर, कुटुम्बको सताकर, अत्याचार करके जिस किसी भी प्रकार तू धन समेटना चाहता है। अपने आपको बडा धनी बनाना चाहता है, उसकी ओर रात-दिन कल्पनायें, चिन्तायें, मायाचार, नाना वृत्तियाँ बनाकर दु खी हो रहा है। धनका विशेष अर्जन या तो एकदम पुण्योदय से इकट्ठा किया हुआ ही किसीको मिल जाय, ऐसा होता है या फिर अन्याय करके, अत्याचार करके विशेष धनी बन पाता है। जैसे समुद्र स्वच्छ नदियोसे नही भरा करता, गन्दी नदियो से समुद्र भरा जाता है, ऐसे ही न्यायकी कमाईसे एकदम धनका सग्रह नही बनता। कैसी ही अटपट प्रवृत्तियाँ करके संग्रह बनता। तो हे तृष्णा करने वाले पुरुष पहले तो तू इसके लिए वर्तमानमे ही पाप कर रहा, तृष्णा कर रहा, सो पुण्यका उदय हो तो इकट्ठा धन बने और कदाचित् धन एकत्रित हो गया तो इतनेपर भी संतोष नही करता, किन्तु स्त्री अच्छी भली चाहिए, इस ओर तृष्णा बढाये रहता है। स्त्री भी प्राप्त हो गई तो उसके आगेकी चाह करता है कि सन्तान हो, पुत्र हो। इस प्रकारकी तृष्णा बनाता है। ऐसा भी वाञ्छित बन जाय तो वह बडा हो गया, पुत्रका विवाह हुआ, उसके बाद पोता हुआ, इस तरह तृष्णामे आगे बढता ही जाता है। तृष्णाकी हद नही होती। भले ही आज किसीको ऐसा लग रहा हो कि मेरेको तो बस इतना धन हो जाय फिर कुछ नही करना, कमाई छोड़ दूंगा, खूब

धर्मसाधना करूँगा, पर उतना धन हो जानेपर वह वे सब बातें भूल जाता है और आगेकी तृष्णा करने लगता है। तृष्णा तृष्णामे ही यह अपना सारा जीवन गँवा देता है और अन्तमे मरण कर जाता है। मरनेपर क्या साथ ले जाता ? जैसा परिणाम किया है शुभ अथवा अशुभ, उससे जो पुण्य अथवा पापका बन्ध किया बस वह साथ जाता है, बाकी यहाँका धेला भी साथ नही जाता। तो इस जीवको सम्बोधा जा रहा कि तू क्यो व्यर्थ तृष्णामे अपना जीवन खो रहा है ? अपने आपको सावधानकर, सन्तुष्ट रख और आत्मदृष्टि करके इसमे ही तू मग्न हो। तो यह जीव अपने आप ही सदा कल्पनायें करके दुःखका उपार्जन कर खेदखिन्न हुआ करता है। सो तृष्णामे उत्तरोत्तर चाह करके अपनी बुद्धि भ्रष्ट करता है और जीवनमे अपना कुछ भी हित नही कर पाता।

जन्मक्षेत्रेऽपवित्रे क्षणरुचिचपले दोषसर्पोरुरंध्रे
देहे व्याध्यादिसिंधुप्रपतनजलधौ पापपानीयकुंभे।
कुर्वाणो बंधुबुद्धि विविधमलभृते यासि रे जीवः नाशं
संचित्यैवं शरीरे कुरु हतममतो धर्मकर्माणि नित्य ॥४०५॥

(१५९) **असार देहमें आत्मीयताकी मान्यतामें संकटोंका आक्रमण**—यहाँ उन जीवोको सम्बोधा जा रहा जिनको हित और अहितका विवेक नही है कि हे दुर्बुद्धि जीव तू अपने इस शरीरमे क्यो इतनी ममता करता है। देखिये——प्रत्येक मनुष्यको प्रायः अपने शरीर मे ममता हो रही है और शरीरको माना कि यह ही मै सब कुछ हू और शरीरके नातेसे ही सारा जगत व्यवहार कर रहा। जितने भी कष्ट हैं वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हो रहे है। रोग इस शरीरमे ही तो हुआ करते है। रोग न हो, चगा हो तो भी इस शरीरमे आत्मबुद्धि करके नाना तरहकी मनकी उडान दौड़ाया करता है। मेरा जगतमे यश हो। मेरा मायने यह शरीर, जिसका फोटो उतरवाते है, जिसका नाम रखते है उसका यश हो, कीर्ति हो। अरे यह शरीर क्षणभगुर है। यह शरीर अपवित्रताका घर है। पौद्गलिक है, अत्यन्त भिन्न है, इस पर दृष्टि रखकर तू यशकी चाह करके सारे जीवन दुःख पा रहा है। खूब सोच लें, जितने भी कष्ट हो रहे है वे सब इस शरीरके सम्बन्धसे हो रहे हैं। यदि मुझ जीवके साथ शरीर न हो, केवल मैं आत्मा ही आत्मा होऊँ तो इसको फिर क्या कष्ट है ? जिसके शरीर नही रहता, किसी भी परपदार्थका लेप सम्पर्क नही है, केवल ज्ञानज्योतिमात्र यह जीव है उसका नाम क्या है ? सिद्ध भगवान। जिनको हम पूजते है, जिनको हम आदर्श मानते है वे प्रभु शरीररहित है, ऐसी ही स्थिति हमारी बने तो हम शान्त रहेगे, अन्यथा ससारमे कष्ट ही कष्ट मिलेगा।

(१६०) दुःखके बीजभूत शरीरकी प्रीतिसे संसारसंकटोंकी परिपाटी—जो जीव ससारमे रहकर सुखकी आशा रखते है, मेरेको सुख हो, मौज हो, यह उनकी मूर्खता है। ससारमे सुख रह ही नही सकता। सारा ससार दु.खमय है, जिसको सुख मान रखा है वह कल्पना है, ख्याल है। जैसे कोई स्वप्नमे कुछ अच्छी बात देखे, खूब धन मिल गया, अच्छे महल है, स्त्री पुत्रादिक आज्ञा मान रहे है या राज्य मिल गया, किसीने ऐसा स्वप्नमे देखा तो वह स्वप्नमे मौज मानता, पर बताओ नीद खुलनेपर यह मौज रहता है क्या ? नही रहता। वह तो ख्याल था, कल्पना थी, वह सब नष्ट हो गया, ऐसे ही यह जीव मोहमे कुछ सुख समझता है, पर कोई वह सुख है क्या ? और जिसे सुख मान रहा है, जो अपनेको सुखी समझ रहा है वह नियमसे दु ख पायगा। ससारका ऐसा ही नियम है। तो सारे दु खोका कारण है शरीरका सम्बन्ध। *सो हे दुर्बुद्धि प्राणी तू अपने ही अहित करने वाले शत्रुस्वरूप* इस शरीरके पीछे लगकर तू अपने कर्तव्यसे क्यो च्युत होता है ?

(१६१) अत्यन्त अशुचि पदार्थका निर्णय—इस शरीरका स्वरूप तो विचार, यह महान अपवित्र है। इस शरीरके समान दुनियामे और कोई गन्दी चीज है क्या ? जिनको लोग गन्दा कहते जैसे नाली, कीचड और दुर्गन्धित वस्तुऐं, तो उनमे है क्या ? वह जीवका मुर्दा शरीर पडा है, उसमें कीडे बिजबिजा रहे है, मांस सड़ गल रहा, तो आखिर यह अपवित्र शरीर ही तो गन्दा रहा। तो जरा और भीतर चलकर सोचें तो यह शरीर गन्दा हुआ क्यो ? जब तक इस शरीर पर जीव न आया था तब तक तो यह गदा न था, जब जीव आया, शरीर बना तो यह गदा कहलाया। सो यह जीवके आने पर ही तो शरीर गदा रहा सो कौन सा जीव आया करता है शरीर पानेके लिए। जो रागी है। द्वेषी है, मोही है। तो रागद्वेष मोहके कारण इस जीवके आनेपर शरीर गदा रहा, तो मूलमे गंदा क्या रहा ? रागद्वेष मोह। यह विकारभाव और जिससे बढ बढकर यह शरीर गदा हुआ, जिस शरीरमे ममता कर रहा है और ससारमे जन्ममरणकी परिपाटी बना रहा है, तो यह शरीर इस जीवसे शत्रुताका व्यवहार कर रहा, उसका दुश्मन बन रहा, शरीर न हो तो यहां कोई कष्ट नही। जिसके कारणसे मुझे कष्ट हो रहा उस ही शरीरमे यह मूढ प्रीति कर रहा। जो समझदार है। विवेकी है वह इस शरीरमे मोह नही रखता, इस शरीरको तपश्चरणमे लगाता है। पहले तो यह ही देखें कि यह शरीर अपवित्र साधनोसे पैदा हुआ अपवित्र चीजो से बना, अपवित्र चीजोको हीउगलता है, मलको ही बहाता है। प्रारम्भसे लेकर अन्त तक अपवित्र ही अपवित्र मलोका टोकना है। तो ऐसे अपवित्र मलोके धाम इस शरीरसे तू क्यो प्रीति करता।

(१६२) अशुचि अस्थिर दोषसर्पबिल रोगधाम पापघट देहमें प्रीति करनेकी मूढता— यह शरीर गंदा है और बिजलीके समान अस्थिर है, यदि कोई १००-५० वर्ष जिन्दा रह जाता तो इतनेसे समयकी इस अनन्तकालके सामने कुछ गिनती भी है क्या ? अनादि अनन्त कालके सामने उससे भी कम है जितनी देरको बिजली चमकती है। तो यह जीवन, यह शरीर बिजलीके समान क्षणिक है, विनाशीक है और क्षणिक विनाशीक है, इतना ही नही। यह शरीर तो नाना दोषरूपी सर्पोके रहनेके बिलकी तरह है। जैसे बिलमे सांप भरे रहते है ऐसे ही इस शरीरमे नाना दोष भरे रहते है। तो ऐसा दोषमय गन्दा शरीर तेरे साथ लगा है और तू इस शरीरमे इतनी ममता रख रहा है, इस अपराधका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। खुद ही को जन्म मरण करके जीवनमे नाना कष्ट उठाते रहने पड़ेगे। हे मोही प्राणी यह शरीर क्या है ? नाना रोगोका घर है। अनेक रोगरूपी नदियोसे मिलकर यह समुद्र बन गया है। सर्वत्र रोग। रोगकी एक जाति है क्या ? जितने शरीरमे रोम है उतने प्रकारके शरीरसे रोग होते है, उन सब रोगोका यह शरीर साधन है। यह शरीर पापरूपी पानीका भरा हुआ घडा है। पापका घडा ऐसा लोग बोलते ही है। जब जब शरीरपर दृष्टि होती है तब तब पापके ही भाव होते है, धर्म तो आत्माके सहारे होता है, शरीरकी दृष्टिमे धर्म नही होता। तो यह शरीर पापरूपी पानीका भरा हुआ घडा है। यह शरीर विचित्र मलोका भडार है। कितने मल भरे पडे है इस शरीरमे। हड्डी, मज्जा, मास, खून, चमडी, रोम, थूक, मल, मूत्र, कफ, लार, नाक, आँखका कीचड, कानका कनेऊ, पसीना आदिक ये ही तो सब इस शरीरमे भरे पडे है। सो इन मलोके घररूपी शरीरसे ही तू प्रीति करता है। इस शरीरको ही मानता है कि यह मै आत्मा हू। अरे तू आत्मा इस शरीरसे निराला अमूर्त ज्ञानज्योति स्वरूप है। ऐसे अपवित्र, असार, भिन्न पौद्गलिक देहमे ममता करना, प्रीति करना यह महान मूर्खता है। तब चाहिए क्या ? इस शरीरसे मोह हटाकर धर्ममार्गमे प्रीति करना। यहाँ दो चीजे है—शरीर और जीव। शरीर तो यह स्थूल पौद्गलिक दिख रहा है लोगोको, शरीर यह है और आत्मा अमूर्त ज्ञानस्वरूप जिसमे प्रतिभासका ही काम है वही इसका स्वरूप है, वह ज्ञानमूर्ति है। जब शरीरपर निगाह जाय, दृष्टि जाय तब तो संसार की परिपाटी बढेगी, जन्ममरणका कष्ट बढेगा, और अपने आत्मापर दृष्टि जाय तो धर्ममार्ग मिलेगा, मुक्तिका मार्ग मिलेगा, संसारके सकट टलेंगे। इस कारण शरीरसे मोह हटायें और धर्ममे प्रीति लगायें। शरीरसे आपका मोह हटेगा तो स्वय ही यह ज्ञान जग जायगा कि कुटुम्ब पुत्रादिक ये मेरे कुछ नही है तिसपर भी जब शरीरमे सामर्थ्य नही है त्यागनेका, तो घरमे रहना ही पड़ेगा और तब आप प्रेमका, रागका बर्ताव करेंगे।

(१६३) **सकल संकटोंके परिहारका बीज आत्मज्ञान**—भैया ! मोह न रहे, अज्ञान न रहे, धर्मसे विचलित न हो। एतदर्थ अपना और परपदार्थका सही बोध करिये और अपने आपको उपादेय मानिये। यह ही आत्मतत्त्व मेरा स्वरूप है, इसकी ही दृष्टि मेरे लिए शरण है। यह ही आत्मा जब दोषसे रहित हो जाता है तो यह ही भगवान कहलाने लगता है। शुद्ध होनेपर यह आत्मा सदाके लिए आनन्दमय होता हैं। तब संसारके सुखके लिए नही तरसना है। सांसारिक सुखोको कष्ट मानना, अपवित्र मानना, कीचड समझना, हेय समझना, जो सांसारिक सुखोका आदर रखते है उन्हे कष्ट भोगना ही पडता है। तो जिन्हे कष्ट न चाहिये वे सांसारिक सुखोसे प्रीति न करें, और सांसारिक सुखोका आधार जिस शरीरको बना रखा है उससे प्रीति न करें। एक दृष्टिमे आत्मा ही हो, ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमे समाया हुआ हो तो यह कहलायगा धर्मपालन। सो भाई शरीरसे मोह ममता हटाकर धार्मिक कार्य करिये, शरीरको बन्धु न समझिये, धर्मको बन्धु समझिये। मेरा रक्षक शरीर नही है, मेरा रक्षक धर्म है। धर्म हो तो उसके प्रसादसे सर्वत्र आनन्द ही रहेगा, और अगर धर्म नही है, पुण्य भी नही है, पापरस भी उमड रहा है तो कहाँ जाकर छिपेगा, सब जगह कष्ट पायगा। सो इन सब कष्टोका आधार यह शरीर है। इस शरीरके शृङ्गारमे, इस शरीरके बार-बार निरखनेमे, शरीरको देखकर अहङ्कार करनेमे, इन सब कार्योमे पाप है, मिथ्यात्व है। उस शरीरका लगाव छोडें, उसका ममत्व त्यागें और धर्मके स्वभावसे प्रीति करें। मैं ज्ञान ज्ञान रूप ही रहू, मुझे शरीर न चाहिए। मै शरीरसे निराला केवल जाननहार रहा करूँ, बस यह ही सत्य धर्म है और इस ही मे आत्माका भला है।

यद्वच्चित्त करोषि स्मरशरनिहतः कामिनीसंगसौख्ये
तद्वत्त्व चेज्जिनेंद्रप्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विदध्या ।
किं किं सौख्य न यासि प्रगतभवजरामृत्युदुःखप्रपच
संचित्यैव विधित्स्व स्थिरपरमधिया तत्र चित्तस्थिरत्व ॥४०६॥

(१६४) **मोक्षमार्गमे मनको तन्मय करनेसे निकटकालमे जन्मजरामरणरहित आनन्दधामका लाभ**—यह ससारी-जीव पञ्चेन्द्रियके विषयोकी धुनमे बना रहता है। सो सभी जीवोकी बात देख लो और उनमे इस मनुष्यकी कहानी और विकट है। यह मनुष्य इन्द्रिय-विषयोमे पशु पक्षियो आदिककी अपेक्षा भी और अधिक बढा चढा है। इस मनुष्यके मन है, भाषा है, बोली है, साहित्यिक कलाये है, तो अपनी इन पायी हुई कलावोका प्रयोग इन विषयभोगोमे ही खर्च कर रहा है। सो इस जीवको आचार्य महाराज सम्बोधते है कि हे जीव जिस प्रकार तू कामकी व्यथासे व्यथित होकर कामनीके सगजन्य सुखमे मनको लगा

रहा है, अन्य काम-काज छोडकर उन्ही विषयोके साधनोमें तन्मय हो रहा है उस प्रकारकी तन्मयतासे यदि धार्मिक भक्तिसे प्रेरित हुये उस मनको [जिनेन्द्रभक्तिमें लगाये, जिनेन्द्रदेवके द्वारा बताये गए तत्त्वमे मनको [लगाये तो निश्चयसे समझिये कि जन्म जरा मृत्युसे रहित होकर तू निकट कालमे मोक्षको पायगा । भैया ! सब कुछ धुनकी लीला है । जीव सिवाय धुन और भावके और कर ही क्या सकता है ? यह ज्ञानमात्र है । केवल ज्ञानकी परिणति ही बनायेगा, भाव बनायेगा, इसके अतिरिक्त और करेगा क्या ? किसी पुद्गलसे कोई सम्बन्ध नही कि किसी पदार्थको किसी तरह वह परिणमा दे । यह तो केवल भाव बनाता है और भाव वनाकर उसकी धुन बनाये रहता है । सो यह जीव अपने संस्कारोके कारण विषयभोग के साधनोमे अपनी धुन बनाये हुए है । कैसी तन्मयतासे यह विषयसाधनोमे लगता है, उस ढंगसे तन्मयता यदि धर्मके कार्योमे लग जाय तो जीवका उद्धार हो ज'य, मगर मोहकी ऐसी लीला है कि इसको मोहके काम तो सरल लग रहे है और आत्मीय काम उसे कठिन लग रहे । कितनी उल्टी बात है । जो पराधीन है, जिसपर हमारा अधिकार नही, पुण्ययोगसे प्राप्त हुआ है इसकी बात तो इसको लगती है बडी सरल कि मै कर सकता हू, मै धन खूब कमा सकता हू, मैं इतनोका पालन-पोषण कर सकता हूं, मैं बड़ा रोजिगार कर सकता हूं । यो बाहरी कामोके करनेमे इसको लग रही आसानी और जंच रहा कि मेरे वशका काम है जब कि ये बाहरी संग प्रसग इस आत्माके वशके नही है याने वर्तमान भावके अनुसार संसार के समागम मिल जाये यह इसके आधीन नही है । यद्यपि जिस पुण्यके उदयसे ही सब कुछ मिल रहा है वह पुण्य जब बँधा था तो आत्माके परिणामका ही निमित्त पाकर हुआ था । कहा जाता कि अपना ही कमाया हुआ भोग रहे है । सो इस तरह तो अपनी ही करतूतका फल भोगा, पर वर्तमानमे हम भाव कुछ करते है बीतती हमपर कुछ है । तो वर्तमान भाव हमारे वर्तमान सुख दुःखकी घटना नही बना पाते, यह पूर्वकृत दैवके उदयानुसार होता है ।

(१६४) **अनधिकार चेष्टा त्यागकर स्वाधीन आत्मरमणके पौरुषका कर्तव्य**—हम यदि पूर्णतया स्वतंत्र है, समर्थ है तो मोक्षमार्गके काममे है, सो आज यह योग्यता पायी है हम आपने कि इस मनको मोहसे हटाकर मोक्षमार्गमे ले जाना चाहे तो ले जा सकते है । सो इस जीवको समझाया कि जिस लगनसे तू विषयसाधनोमे लग रहा है ऐसी लगनसे धार्मिक भक्तिसे प्रेरित होकर जिनेन्द्र द्वारा बताये गए मोक्षमार्गमे लगे और इस मोक्षमार्गको ही ध्येय समझे तो निश्चयसे समझ कि जन्म जरा मरण दु.खसे रहित होकर तू अनन्त आनन्दके स्वरूपको प्राप्त करेगा । सो अब बाहरी समस्त झगड़ोको छोडकर परम पवित्र मार्गमे अपने चित्तको स्थिर कर । देखिये—जैसी आप सबकी आज गृहस्थावस्था है और कितनी उलझनें

इसके अन्दर हैं, रोजिगार करना, और कितनी तरहसे उसके लिए परिश्रम करना, विचार करना ये बातें करना होता है और उस गृहस्थदशामे आजीविका न हो तो भी बात न बनेगी। लेकिन यह तो कला हो सकती है कि साधारण आजीविकाके लिए पौरुष करके जो कुछ प्राप्त हो जायगा उसके अन्दर सतोषपूर्वक हम गुजारा बना सकेंगे। फिर चिन्ता किस बात की। मनुष्यको चिन्ता होती है तृष्णाके कारण। गुजारेके लिए चिन्ता नही होती क्योकि गुजारेकी कोई कानून या लिमिट नहीं बनती है, वह तो अपने आपकी परिस्थिति और भाव के अनुसार है कोई लोग हजार रुपया माहवार कमा कर भी समझते कि हमारा गुजारा नही चलता और कोई ऐसे लोग भी है कि जो १००-५० रुपये माहवार कमाकर भी गुजारा कर लेते। सो जो लौकिक बाते है उन्हे तू मुख्य मत बना। जैसा बीतेगा, गुजरेगा, गुजर ले और उसीमे हम अपनी नीति न्यायअनुकूल करेंगे, पर इस दुर्लभ जीवनको पाकर मुख्य काम तो यह है कि ससारसे छूटनेका उपाय बना लिया जाय। जब तक यह शरीर साथ लगा है तब तक चैन नही है। खूब भली प्रकार सोच लो। प्रत्येक कथनमे, प्रत्येक स्थितियोमे इस जीव के साथ शरीरका लगना ही एक अभिशाप है। इससे ही जीवमे कष्ट पडे हुए है। तो यह निर्णय बनाइये कि मुझे आखिर शरीररहित केवल आत्मा ही आत्मा रहना है। यदि यह निर्णय बन गया तो देखिये—अभीसे फर्क आ जायगा। तकलीफ होगी तो कम महसूस होगी, उपेक्षा कर डालेंगे, मान अपमान, निन्दा प्रशसा आदिक सभी बातोमे क्षोभ न आयगा, क्योकि जान रहे कि मुझे तो शरीरसे ही निराला बनना है, और शरीरसे रहित हुए बिना शाश्वत शान्ति न मिल पायगी। एक भवमे आप कुछसे कुछ साधन बना लें, पर उससे पूरा पड जायगा क्या? मरण होगा और जैसा बन्ध किया, जैसा सस्कार बना उसके अनुसार अगले भवमे सुख दुःखके समागम मिलेंगे। मुझे शरीररहित होना है।

(१६५) यथार्थ स्वपरभेदविज्ञान कर एकत्वनिश्चयगत अन्तस्तत्त्वमें रुचि करनेका कर्तव्य—भैया, शरीरको देखकर क्या खुश होना? यह तो मेरे लिए अभिशाप है, कलक है, उपाधि है, पर जब बन्धन बना है शरीरका तो ढगसे निपटेंगे। इस शरीरका एकदम विरोध करके इसकी परवाह बिल्कुल न करना चाहे तो हम न निपट पायेंगे। शरीरकी नौकरी लीजिए जितनी जैसी स्थिति है, पर ध्यान रखना है इस बातका कि जीवनमें मेरेको आत्मस्वरूपकी साधना करना है। दूसरा कोई कार्य मेरे करनेके योग्य नही है। सो हे हितैषी आत्मन्! धुन बने अपने आत्मकल्याणकी, मोक्षमार्गकी। मोक्षमार्गमे अपने चित्तको रमा और परिवार मिला है उसे भी ऐसी ही सीख दें, ताकि तेरा कोई बाधक न बने। वहां भी धुन ऐसी ही बने कि इस जीवनमे जीकर आत्मकल्याणका लाभ लेना है। मोह हटे, परमात्माके

गुणोंका स्मरण रहे, मेरे सहज स्वरूपकी दृष्टि रहे बस यही चाहिये जीवनमे अन्य सुख साधन प्रसग न चाहिये। मिलेगा वही जैसा उदय है, पर ऐसा चाहे मत याने अपना सर्वोच्च मत मानो कि इन बाह्य साधनोके मिलने पर ही मेरा महत्व है, मेरा जीवन है, मेरा पोजीशन है। पोजीशन रखें चारित्रकी, शुद्ध आचरणकी प्रभुके ज्ञानमे हमारी आपकी सही पोजीशन झलकेगी वह तो लाभदायक है और जगतके मोही अज्ञानी प्राणियोकी निगाहमें जिस किसी भी प्रकारकी अपनी पोजीशन बतानेका प्रयास करूँ वह बिल्कुल बेकार है। धुन की बात है। जिसको आत्मप्रकाश मिला है उसकी धुन आत्महितके अनुरूप बनेगी, जिसको आत्मस्वरूपकी सुध नही है उसकी धुन विसम्वादके लिए होती है। सो हे आत्मन्! बाह्यविषयक विसम्वादको त्याग, पवित्र जैन शासनमे अपने चित्तको स्थिर कर।

सद्य. पातालमेति प्रविशति जलधि गाहते देवगर्भं।
भुंक्ते भोगान्नराणाममर युवतिभिः सगम याचते च।
वाँछत्यैश्वर्यमयँ रिपुसमितिहते· कीर्तिकांतां ततश्च
धृत्वा त्व जीव चित्त स्थिरमतिचपलं स्वस्य कृत्य कुरुष्व ॥४०७॥

(१६६) **चंचलचित्त प्राणीका बदल बदलकर पातालमे चित्त, समुद्रमे प्रवेश**—अपने आपमें अपनी बात निरखते हुए सोचिये, यह चित्त चचल रहता है। भले ही कुछ पुरुष गम्भीर है। बडी धीरतासे उसपर विचार करना है। पर जहाँ बाह्य वस्तु विषयक विचार है वहाँ एक जगह चित्त स्थिर रह ही नही सकता। कुछ लोगोके चित्तकी चचलताका बेग और किस्मका है कुछका और किस्मका, मगर बाह्यपदार्थका आश्रय वाला चित्त चञ्चल हो रहेगा। वह स्थिर नही बन पाता। हे जीव! तेरा चित्त बडा ही चञ्चल है। कुछ क्षणको भी यह एक रूपमे स्थिर नही रह पाता। कभी तो यह चित्त पातालकी बातें सोचता, वहाँ चित्त ले जाता। सुन रखा, समझ रखा जहाँ इसको इष्ट जचता है वहाँ यह अपना चित्त ले जाता है। तो कभी यह चित्त समुद्रमे घुसता है। चित्त एक जगह स्थिर कहाँ रहता? कभी कुछ ध्यान आता कभी कुछ। कभी कभी तो लोग ऐसा प्रश्न कर डालते है कि जब कभी माला लेकर बैठते है या जाप सामायिकका सकल्प करके बैठते है तब यह चित्त और अधिक घूमता है सो बात क्या है? जाप और सामायिककी स्थिति एक निरालम्बकी स्थिति है याने किसी एक ओर आलम्बन लिया नही और स्वका आलम्बन मिला नही तो ऐसी स्थितिमे यह चित्त चलता है तो कोई ऐसा सोचे कि जाप सामायिकको तो अपने किसी एक धधापानी मे लग जाय तो वह चित्त अधिक चचल नही होता, मगर यह सोचना ठीक नही है। भले ही जाप सामायिकमे चित्त यहाँ वहाँ जा रहा है तो कमसे कम आपको वह क्षण बतला तो

रहा है कि हमारा इस इस जगह राग बसा है। इतनी त्रुटियाँ हैं, पर किसी एक इन्द्रिय विषयमे चित्तको लगाया तो भले ही थोडी देरको वही चित्त लग रहा मगर कितनी त्रुटि है, कितना भीतर संस्कार बसा है कि कुछ मालूम नही पडता। अब यदि चित्त चंचल जच रहा तो उसको रोकनेका यत्न करें। चित्तकी चंचलताको दूर करनेका भली भाँति वाला उपाय यह है कि आत्माके शाश्वत सहज स्वरूपका मनन करने लगें, क्योकि मेरे लिए यह मेरा सहज स्वरूप ध्रुव है, कभी धोखा देने वाला नही है चूँकि पर पदार्थ जिसका हम ख्याल करते है वह स्वयं विनाशीक है, उसके आधीन नही है। बाहरी पदार्थ हैं। उनका आश्रय किया हुआ चित्त स्थिर नही रह सकता। सो अपने चित्तको स्थिर रखना चाहते हैं तो एक निज स्वरूपमे अपने चित्तको लगा।

(१६७) **चंचलचित्त प्राणीका कभी स्वर्गमे चित्तभ्रमण कभी भोगमे प्रवर्तन**—अहो मनुष्यका कितना चञ्चल चित्त है। कभी पातालमे गया कभी समुद्रमे गया कभी स्वर्गका रास्ता नापता, स्वर्गमे देव हुआ। उन देवोको बडा सुख है, हजार वर्षमे भूख लगती है, कठ से अमृत झडता है, शरीरमे रोग नही होता, वैक्रियक शरीर है। हाड मांस मज्जा वहाँ नही है, चित्त वहाँ जाता है, वहाँ भी चित्त चञ्चल ही रहता है। जैसे यहाँ गरीबोको धनिक लोग बडे सुखी नजर आते है, पर धनिक लोग खुद जानते है अपने चित्तको कि क्या सुख है? हार्ट फेल वाली बात गरीब और मजदूरोके अधिक नही हुआ करती। हार्ट फेल वालोकी सख्या अधिकतर मिलेगी समृद्धशाली पुरुषोकी। चाहे वे धनसे समृद्ध हो या राज काज संभालनेके ओहदेसे समृद्ध हो, तो जैसे यहाँ गरीबोको धनिक लोग बडे सुखी नजर आते है पर सुख वहाँ रच नही, ऐसे ही मनुष्योको ये देव सुखी नजर आते मगर देवोको भी सुख नही। चित्त उनके भी है। कषायें उनके भी लगी हैं, उनका भी चित्त स्थिर नही रहता। बल्कि उनका तो और भी अधिक अस्थिर चित्त है, क्योकि उनको ताकत अधिक मिली है। कही से भी कही क्षण क्षणमे दौड सकते है। कही भी सैर कर सकते है। तो दुःख तो भावो से चलेगा। शारीरिक सुख है तो क्या करें? जहाँ कल्पनायें जग रही वहाँ तो कष्ट ही कष्ट है। तो यह जीव कभी स्वर्गका रास्ता नापता, स्वर्गोके स्वप्न देखता है तो कभी यह मनुष्यो के भोग भोगता है। चित्तकी अस्थिरता बतला रही है कि इस चित्तको सही ठीक ठिकाना नही मिला, अतएव यह जगह जगह डोलता रहता है, कही टिक नही पाता। ठीक ठिकाना है स्वयंका सहजस्वरूप। जब मै स्वय सत् हू तो अपने आप अपने सहज स्वरूप मैं हू। आज उपाधिके सम्पर्कसे विकृत स्थिति बन गई है, लेकिन *स्वरूप* तो मेरे मे *नित्य अन्त प्रकाश*मान अचल है। तो जो मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, चेतनामात्र वहाँ ही तू अपने चित्तको ले

जा, मनन कर। जैसे जैसे अभ्यास बढेगा, अपने स्वरूपको निरखेगा वैसे ही वैसे स्थिरता बढेगी।

(१६८) **चचलचित्त प्राणीके भोगसाधनोकी तृष्णासे विकट क्षोभ—अपना कारण** समयसार, यह अपना सहज आत्मप्रभु जब तक नही मिला जब तक इसका अनुभव नही बना तब तक यह चित्त बाह्य विषयोमे डोलता रहता है और चूँकि विषयोमे चित्त रमानेसे कष्ट ही होता है सो यह निर्लज्ज होकर विषयोके साधनोके कष्ट भोगता रहता है और उन्ही साधनोमे ललचाता रहता है। किस विषयके साधनमे बतलावो शान्ति मिलती है ? सुख मौज मानना और बात है, शान्ति मिलना और बात है, जहाँ चित्त चचल है, जहाँ क्षोभ मचा हुआ है, क्षोभके ही कारण विषयोको भोगता है, क्षोभ पूर्वक ही भोग रहा है, भोगनेके बाद भी इसमे मलिनपना आता है। ससारके सुख साधन इसके लिए शान्तिके कारण कैसे हो सकते ? मगर यह चचल चित्त स्वर्गोका रास्ता नापता है, मनुष्योके भोग भोगता है, यह कभी देवागनावोका संग चाहता है। सुन रखा कि देवगतिके जीव, देवागनाओका स्वरूप सो यह चचल चित्त कभी कभी वहाँ भी दौडता है, यह धन पानेकी तृष्णा इच्छाको बढाता ही रहता है। मनुष्य हुए किसलिए जैसे लोग कहते है ना—आये थे हरि भजनको ओटन लगे कपास। यद्यपि कपास ओटना भी एक काम है मगर ऐसा विमूचन वाला काम है कि दिन भर तो कपास ओटा मगर कोई किलो आधा किलो ही रूई ही निकाल पाये, याने परिश्रम तो बडा किया पर काम थोड़ा सा हुआ। तो ऐसे ही समझो कि आये तो थे हम प्रभुके भजनको, आत्माकी उपासनाके लिए आये थे मगर लग गए पञ्चेन्द्रियके विषयोके भोगमे। अपनी बीती हुई जिन्दगीसे ही अनुभव कर लीजिए, शिक्षा ले लीजिये कि इस बीती हुई जिन्दगी तक हमने क्या क्या नही भोगा ? मगर कुछ धरा है क्या पासमे कि वह सुख जुड गया हो और उन सुखोको निरखकर आज भी आनन्द ले रहे हो। रच नही मिला, और बजाय सुखके कष्ट सामने रहा।

(१६९) **धनकीर्ति भोग आदि सबकी लिप्सा तजकर ज्ञानानुभूतिका पौरुष करनेका अनुरोध**—भैया, दुर्लभ मनुष्यजीवनको पाकर हमे चित्त कहाँ रमाना चाहिए ? इसका निर्णय बनाइये। रमाना चाहिए अपने आपके शाश्वत सहज चैतन्यस्वरूपमे। पर इसका जब ज्ञान नही, अनुभव नही, इस ओर दृष्टि ही नही जाती तो यह चित्त बाहर बाहर डोलता है। धन पानेकी इच्छामे रात दिन व्यग्र रहते है और कभी चाहते है कि मेरी कीर्तिमे जो बाधक है वे मेरे शत्रु है, उनका सफाया किया जाय और इस कीर्तिका बहुत विस्तार किया जाय। शरीर मे कितना व्यामोह है कि कीर्ति चाहता है यह। मै ज्ञानमात्र आत्मा हू, ऐसा जानकर कौन

कीर्ति चाहेगा ? यह शरीर ही मैं हू, ऐसी जब बुद्धि हुई है तब ही कीर्तिकी चाह पैदा होगी। सो यह सब मिथ्याभावका ही तो प्रसार है। सो यह चपल चित्त जगह जगह डोल रहा है। इसके डवाडोलसे कोई सिद्धि नही। तब कर्तव्य यह है कि इस चित्तको एक जगह स्थिर रखिये। किस जगह स्थिर रखा जाय ? जो स्वय जगह है मेरा शाश्वत चित्स्वरूप, वहाँ चित्त रमावो, यह ही मौलिक धर्मपालन है और इस ही की सेवाके लिए बार बार धर्मंमे अपना चित्त लगाइये। भोगसाधनोंमे अपने चित्तको न लगाइये, क्योंकि भोगसाधनोंमे चित्त रमेगा तो यह चंचल ही रहेगा और धर्मंमे चित्त लगेगा तो धीरता आयगी। तब ही हम अपने आप में कुछ समृद्धि का भी अनुभव कर सकते हैं।

नो शक्यं यन्निषेद्धुं त्रिभुवनभवनप्रांगणे वर्तमानं
सर्वे नश्यति दोषा भवभयजनका रोधतो यस्य पुंसां।
जीवाजीवादितत्त्वप्रकटननिपुणे जैनवाक्ये निवेश्य
तत्त्वे चेते विदध्याः स्ववशमुखप्रद स्व तदा त्व प्रयासि ॥४४८॥

(१७०) **आत्माश्रय बिना चित्तकी चंचलताके निरोधकी अशक्यता**—इस परिच्छेदमें जीवको सम्बोधन किया है। ये प्राणी विषयोकी प्रीतिके कारण चंचल चित्त वाले हो गए है। चित्त क्यो चचल है ? उत्तर उसका एक ही है कि इसका चित्त विषयोमे रमना चाह रहा है। विषय हैं विनश्वर, विषय हैं पराधीन, विषय हैं अपनेसे भिन्न। तो उसमे लगाया हुआ चित्त स्थिर कैसे हो सकता ? फिर विषयोमे जो चित्त लगा है वह हो गया अपनेसे बाहर। जब अपने स्वरूपसे बाहर हो जाय तो वह स्थिर कैसे रह सकता ? तो चचल चित्त वाले पुरुषोको सम्बोधा है कि देख तेरा चित्त ऐसा चचल चल रहा है कि तीनो लोक रूपी आँगनमे घूमते हुएको कोई भी नही रोक सकता। क्षणमे कही क्षणमे कही चित्त जा रहा। यह चित्तकी चचलता बिल्कुल स्पष्ट है और बाहरी पदार्थोंमे रमकर कोई चाहे कि मैं स्थिर चित्त वाला हो जाऊँ तो कभी नही हो सकता। स्थिर चित्त होनेके लिए स्वाधीन स्थिर तत्त्व का आश्रय चाहिए। वह है आत्मस्वरूप। जिसको अपने स्वरूपका परिचय है और जान लिया है कि यह ही मेरा सर्वस्व है, यहाँ ही जिनको सतोष होता है उनका चित्त तो चंचल न होगा, बाकी विषयोमे जब प्रेम है तो चित्त चचल होगा ही।

(१७१) **आत्महितके लिये आचरणका प्रारंभसे अन्त तक सहयोग**—कल्याण केवल ज्ञानसे नही है, केवल ऊपरी आस्था बनानेसे नही है, मात्र चर्चामे समय गुजारनेसे नही है। उसके लिए चाहिये कुछ प्रयोगात्मक आचरण। आचरणहीन पुरुषके सम्यक्त्व उत्पन्न नही हो सकता। कोई सोचे कि यह तो केवल ज्ञानकी बात है, जान लो, तत्त्वका जानना बना

तो उसकी बात बोल लो, सम्यक्त्व हो जायगा, सो न होगा। सम्यक्त्व होता है आत्माके अनुभवपूर्वक। आत्मानुभवपूर्वक ही सम्यक्त्व जगता है, सम्यक्त्व जगे बाद आत्मानुभूति रहे न रहे, बहुत समय बाद मिले, मगर यह नियम है कि सम्यक्त्व जब उत्पन्न होता है तो आत्मानुभूति पूर्वक ही होता है, और आत्माका अनुभव अन्त. संयम, सदाचार, अपनी ओर अभिमुखता, व्यसन आदिकका परिहार हो, नाना विकल्पजालसे छूटें, यह बात हुए बिना आत्माका अनुभव नही जग सकता। तो आप समझिये कि सम्यक्त्व पाना यो ऊपरी भावसे केवल यह ही ध्येय जिसने बनाया कि आचरणकी क्या आवश्यकता, सम्यक्त्व हो गया, काम बन गया, तो भाई आचरण बिना सम्यक्त्व न होगा और आचरणकी वृद्धि बिना मोक्षका लाभ न होगा। तो जिसकी अभिमुखता आत्माकी ओर है, जिसका आचरण वैराग्यपूर्ण है, विषयोमे जिसका चित्त नही रमता उसके ही स्थिरता आयगी और वह ही शान्तिका लाभ पा सकेगा। करणानुयोगमे बताया है कि ७ प्रकृतियोका जो क्षय होता है, जिससे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ वे ७ प्रकृतियाँ है अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शनमोहनीयकी तीन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। इन ७ का क्षय क्या एक साथ होता है ? पहले क्षय होता है अनन्तानुबंधीका। इसके बाद क्षय होता है दर्शनमोहका। अनन्तानुबंधी प्रकृति है चारित्रमोहकी, जो किसी प्रकारके आचरणका घात करती है। अनन्तानुबंधीका क्षय होनेपर एक ऐसा आचरण बनता है कि जिसके पालनपर अन्तर्मुहूर्त बाद दर्शनमोहका क्षय होता है। प्रयोगात्मक विधि बनाये बिना अनुभूति न होगी, सम्यक्त्व न जगेगा।

(१७२) सहज स्वावलम्बन बिना बेतुकी विडम्बना—जब अपने आपका स्वरूपका आश्रय बनता है तो चित्तमे स्थिरता आती है। इसके बिना इस जीवका चित्त इतना चंचल है कि तीन लोकमे यह सर्वत्र चक्कर लगाता ही रहता है। कभी कुछ विचार, कभी कुछ विचार। कभी कही गया, कभी कही गया। यदि इस चित्तकी चचलताका निरोध हो जाय अर्थात् एक सहज आत्मस्वरूपको ही प्रधान कर ज्ञान जानता रहे तो इसीको कहते है ऐकाग्र्य। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका एकत्व होना ही ऐकाग्रका परम स्वरूप है। तो ऐसी एकाग्रता आ जाय तो जन्म मरणके समस्त दु ख नष्ट हो सकते है। थोडीसी सुविधा मिल गई। लोगोके बीच बैठकर थोडा बोलना आ गया, कुछ लोग कहने लगे कि यह भाई अच्छे समझदार है, पडित है, ज्ञानी हैं, कुछ धन आदिककी सुविधायें हो गईं, कुछ राजकाजमे सत्ता, प्रतिष्ठा, प्रभाव बन गया तो इसनेका क्या गर्व करना ? यह गर्व लायक चीज नही है। यह तो जितना बाहर उडान चलती जायगी उतना ही इसको भविष्यमे कष्ट मिलेगा। जो

जितनी सुख सुविधावोंमे मस्त रहना है वह उससे कितना ही गुना अन्तमे कष्ट पाता है। यह बात देखी हुई, बीती हुई सब तरहसे समझ लीजिए। जिनसे प्रेम था उनका वियोग हो गया, आज उस बारेमे सोच सकते हैं यदि विवेक है कि मैंने व्यर्थ ही इतना समय उनके स्नेहमें गंवाया। लाभ क्या मिला ? जो सुख सुविधावोमे मस्त होना चाहते हैं और यहाँ ही गर्व रखते है उनको बहुत बडा कष्ट आने वाला है। पुण्यके फलमे जो हर्ष नही मानते, सुख सुविधा सम्पदावोमे जो अपने आपको मस्त नही बनाते, उनके भी ज्ञाताद्रष्टा रहते हैं कि यह सब दैवका (भाग्यका) फल है और पापका उदय आनेपर उसमे विह्वल नही होता, उसका भी ज्ञाता रहता है कि यह भी दैवका फल है। वह पुरुष अपने चित्तको स्थिर रख सकता है। जिनको दैवफलमे हर्ष विषाद करनेकी प्रकृति पड गई है उनका चित्त स्थिर कैसे हो सकता है।

(१७३) **शरण्य सहज परमात्मतत्त्वका शरण पाये बिना जीवका बेठिकाने परिभ्रमण**—चित्तकी एकाग्रताका मूल उपाय निज सहज आत्मस्वरूपमे आत्मत्वकी प्रतीति है। यहाँ ही मनको रमा। केवल एक भावका ही तो सारा खेल चल रहा है। किस ओर दृष्टि है कि क्या बीत रहा है, यह बात आप खूब निर्णयमे रखिये। जब दृष्टि बाह्य विषयोंकी ओर रहती है तो क्षोभ है, आकुलता है, अज्ञान है। चित्तकी अस्थिरता है। अपनेमे दीनताका अनुभव है। और ऐसी स्थिति है कि जैसे वह बेठिकाने हो रहा हो, कही ठिकाना नहीं पडता, और जब अपने सहज ज्ञानमात्र ज्ञानघन आनन्दधाम सहज आत्मस्वरूपकी सुध होती है कि मै यह हूं तो चूंकि यह कभी अलग नही हो रहा, यह कही बाहर न भग जायगा। यह तो अन्तः ही बना रहता है और इस ही मे आत्मत्वका अनुभव कर रहा है तो ऐसे अपने आपके स्वभावको लखने वाला पुरुष धीर बनता है। उसमे इतना साहस आ गया, उसमे इतना सदाचार आ गया कि वह बाहरी पदार्थोंकी परिणति निरखकर क्षोभ नही मचाता, आकुलता नही करता। जानता है कि जो मै समझता था सो ही तो हो रहा। इन विषय-साधनोमे मौज मानने वाला पुरुष यह नही सोच पाता कि ये साधन नष्ट होते हैं। वह अपने बारेमे समझता है कि ये जो कुछ मुझे समागम मिले हैं ये सदैव रहेंगे, ऐसा उसके भीतर अवधारण बना हुआ है। भले ही कदाचित् दूसरोका विषयसाधन नष्ट होता देखकर कह उठते है कि यह जो मिला है सब नष्ट होगा, पर अपने बारेमे नही सोच सकता, क्योकि उसे उन साधनोमे प्रीति लगी है। जिनमे प्रीति लगी है उनके नष्ट होनेकी कल्पना न कर पायगा। तो भले ही यह जान रहा कि मेरेको सुख साधन मिले हैं और ये सदा रहेंगे, स्त्री पुत्रादिक ऐसे आज्ञाकारी मिले हैं, मै बडा भाग्यशाली हू, मेरे समान भाग्यशाली और कौन होगा ? यो

बडा मस्त हो रहा, लेकिन जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग अवश्य होगा। यह नहीं कल्पनामे लाता कि इनका वियोग होगा, पर इसके न सोचनेसे कही वियोग रुक तो न जायगा। तो जब वियोग होता है तब यह उन सुखके दिनोकी मौजसे कई गुना कष्ट भोगता है। चित्त की चचलताके बस ये ही तो फल हैं।

(१७४) **नैमित्तिक भावोसे विविक्त अन्तस्तत्त्वके आलम्बनमें शाश्वत शान्तिका लाभ**—अपने आपके स्वरूपका आलम्बन लें तो चित्तमे एकाग्रता बनेगी और ससार सकटोसे छुटकारा पानेका अवसर मिलेगा। अतः हे हितैषी पुरुष तू इस चचल चित्तको रोक, इस चचल चित्तको जीत। जीव अजीव आदिक यथार्थ तत्त्वोके प्रकट करने वाले जैन शास्त्रोके चिन्तत मननमे अपने चित्तको लगा और आत्माधीन शान्तिको प्राप्त कर। आत्मकल्याण स्वाधीन है और सुगम है और जिन बाह्य विषयोमे रम रहा है, सग्रह कर रहा है, जिसकी व्यवस्था बना रहा है ये सारी बातें पराधीन है और कठिम है। कठिन क्या असम्भव है। कल्पनामे ही यह मानता है कि मै ऐसा कर लेता हू, पर कर थोड़े ही पाता। यह तो अपने भाव भर बनाता है बाकी जो कुछ होता है वह सब ओटोमेटिक याने निमित्तनैमित्तिक योग से होता है जिसे कहते है ओटोमेटिक हो रहा। लोग बोलते ना कि यह छापने वाली प्रेस मशीन जर्मनीसे आयी है ६०-७० हजारमे, यह ओटोमेटिक काम करती है, यह कागजको खुद उठाती है, छापती है, और छपे हुए कागजको एक जगह धरती है, यह ओटोमेटिक काम करती है। तो इसका अर्थ क्या है कि इस निमित्तनैमित्तिक योग पूर्वक काम हो रहा, अमुक पेंच पुर्जा इस प्रकार चल रहा, उसके सयोगमे दूसरा इस प्रकार चल गया, उसका निमित्त पाकर यह पुर्जा इस प्रकार चल गया, उसका वहाँ सम्बन्ध बना, इस तरह सब काम चल रहा। तो ससारकी जितनी घटनायें है सुखकी दुःखकी वे सारी घटनायें निमित्तनैमित्तिक योगपूर्वक है। उनमे तेरा स्वरूप नही। उन सब विडम्बनासे उपयोग हटाकर सहजानन्दमय निजधाममे मनको विलीन कर।

(१७५) **निमित्तनैमित्तिक योगके यथार्थ परिचयसे प्राप्त उपलब्धियां**—यहाँ इतनी बात समझना कि हमारे सुख दु.ख रागद्वेषादिक विकारमे केवल कर्मविपाक निमित्त है। जो बाहर इतनी चीजे पडी है विषयभूत घर मकान, कुटुम्ब, मित्र, शत्रु आदिक ये निमित्त नही कहलाती। ये निमित्त है ही नही। हमारे विकारमे ये बाहरी पदार्थ आश्रयभूत बनते हैं, निमित्त नही होते। निमित्त तो केवल कर्मविपाक है, सो कर्मविपाक निमित्त है, रागद्वेषादिक भाव नैमित्तिक है, ऐसा जाननेसे हमको दो प्रेरणायें मिली। पहली तो यह कि जितने बाहरी विषयभूत दृश्यमान पदार्थ है ये मेरे विकारके बिगाड़के निमित्त नही है, इनपर तू रोष तोष

मत कर, इनमे तू किंकर्तव्यबुद्धि मत कर। ये तो आश्रयभूत हैं। तूने स्वयं अपने विषयभूत बनाकर इनको आरोपित किया है। इनसे आश्रय हटा, आलम्बन इनका तज। पहली प्रेरणा तो यह मिलती है निमित्तनैमित्तिक योगका सही परिचय होनेसे। दूसरी प्रेरणा यह मिलती है कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक भाव ये नैमित्तिक हैं, ये तेरे स्वभाव नही हैं। तेरे ही मात्र सत्त्वसे केवलसे ये बन गए हो परप्रसंग बिना, ऐसा नही है। ये तेरे स्वरूप नही, तेरे स्वभाव नही, ये परभाव हैं, रागद्वेषादिक भाव परभाव हैं कि स्वभाव। यदि स्वभाव है तो सदा रहना चाहिए, फिर तो इनसे कभी मुक्ति हो ही नही सकती, जब परभाव है, रागद्वेषादिक भाव परभाव है यह आपने कैसे समझा? तो कुछ लोग यह उत्तर देने लगते कि आश्रयभूत परपदार्थोमे उपयोग जानेसे ये रागद्वेषादिक होते हैं इस कारण परभाव हैं, पर इस कारण परभाव नही है ये। यद्यपि यह भी बात है व्यक्त विकारमे, पर विकारोके परभावपने का कारण यह नही है कि उन विषयभूत पदार्थोंका आश्रय लेकर विकार जगे हैं इस कारण परभाव है, किन्तु किस कारण परभाव है कि कर्मोदय निमित्तके सन्निधानमे ही ये हो पाते है इस कारण परभाव है। इन दो बातोमे अन्तर क्या है? कोई रागद्वेषादिक भाव जो अबुद्धि पूर्वक हैं, अव्यक्त है, उन विकारोके समय तो किसी भी आश्रयभूतका आश्रय नही रहता और विकार सो हो गए, मगर उन अव्यक्त विकारोके समय कर्मविपाक रूप निमित्त सान्निध्य है ही। तो पर मायने निमित्तभूत कर्मोदय, उसका सन्निधान पाकर होने वाले भावको परभाव कहते है। सो एक मुख्य काम तो यह है ना कि हम अपने आपको अपने स्वभावरूप अनुभवें। सो जब हमने यह जाना कि ये विकार औपाधिक हैं, नैमित्तिक है, परभाव है, तो इनसे हमारी उपेक्षा हो जाना प्राकृतिक बात है। इनमे क्या सिर रगडना? इनमे क्या मन फसाना? यह तो बिगाड है, विकार है। ये तो परभाव हैं, विनश्वर है, मेरे स्वरूपसे निराले हैं। मैं तो एक शाश्वत चैतन्यस्वरूप मात्र हू, इस स्वभावकी दृष्टि सुगमतया हो जाती है निमित्तनैमित्तिक भावका यथार्थ परिचय होनेसे यह तीसरी प्रगति है।

(१७६) सहजात्मस्वरूपकी सम्हालका चमत्कार—अब पुन. सम्हाल कीजिये कि कैसी सम्हाल रखना है? पहली सम्हाल तो यह है कि जगतमे जितने दृश्यमान पदार्थ हैं, जिनमे चित्त जानेसे ये विकार बढते है व्यक्त होते है, ये दृश्यमान पदार्थ मेरे विकारके निमित्त कारण नही है, किन्तु आश्रयभूत कारण है, पहले तो यह सम्हाल बने, दूसरी यह सम्हाल बने कि ये रागद्वेषादिक भाव कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए है इसलिए ये परभाव हैं, ये निमित्तके खातेसे जुडकर मेरेसे दूर हट जावें। जैसे दर्पणके सामने हाथ किया, वहाँ हाथका फोटो आ गया तो दर्पणमे आया हुआ फोटो यह नैमित्तिक है, हाथका सान्निध्य पाकर

हुआ है । यह दर्पणके स्वभावरूप नहीं है, स्वाभाविक नही है, निरुपाधिक नही है, इसलिए समझदार आदमी अगर दर्पणमे वह फोटो नही चाह रहा तो हाथको हटा देता है । तो उस नैमित्तिकको, फोटोको निमित्तके खातेमे डालकर निमित्तके साथ ही उसको दूर कर देता है, पर यहाँ नैमित्तिक तो है और निमित्तके हटनेपर यह नैमित्तिक हट जाता है, पर निमित्तको हटानेका उपाय निमित्तपर दृष्टि डालना नही है, किन्तु अपने स्वभावकी सम्हाल करना है । इतना अन्तर है । इन सर्व अन्य पदार्थोंसे विविक्त अपने आपके स्वरूपमे एकत्वगत शुद्ध अर्थात् परसे रहित अपनेमे परिपूर्ण चैतन्यशक्ति मात्र अपनेको समझें, प्रतीतिमे लें, अनुभवें तो वहाँ कर्मोंमे सक्रमण होना, कमजोरी होना, क्षीण होना, घात होना ये सब बातें स्वयं उनकी परिणतिसे होती रहती है । हमारा कर्तव्य तो अपने सहज स्वरूपकी सम्हाल है । इस सम्हाल मे संतोष, शान्ति, धीरता, स्थिरता, सन्मार्ग ये सब बातें पायी जा रही है ।

(१७७) **सहजात्मस्वरूपकी सम्हालके सदर्भमें प्रभुभक्तिकी उपयोगिता**——अपने सहज स्वरूपकी सहज सम्हालमे जब हम नही रह पाते तो यह सम्हाल जिनके बन चुकी है ऐसे आत्मावोका भजन करना, गुणस्मरण करना ताकि हम अपनी सम्हालके लिए फिरसे उद्यमी बन जायें । यह ही है प्रभुभक्तिका सम्बध । प्रभुभक्ति क्यो कर रहे है ? प्रभुका स्वरूप, मेरा स्वरूप एक समान है, किन्तु 'अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।' सो यह अन्तर नैमित्तिक है । जो नैमित्तिक होता वह मिटाया जा सकता । जो स्वाभाविक होता वह मिटाया नही जा सकता । यह मिट जायगा अपने स्वरूपकी सम्हाल करनेसे । बाहरके अचेतन अचेतनमे जो निमित्तनैमित्तिक योगकी व्यवस्था है वहाँ तो यह बात चलती है कि निमित्तको हटा दिया जाय तो नैमित्तिक न रहेगा । हाथको हटा लिया जाय तो दर्पणमे वह फोटो न रहेगा । यहाँ भी यही विधि है कि निमित्तके दूर होनेपर नैमित्तिक भी दूर हो जायगा, मगर यहाँ इस निमित्तपर वश नही चल सकता । यह तो केवल एक यह ही तत्र है कि अपने सहज आत्मस्वरूपकी सम्हाल करिये, उसरूप अनुभविये, यहाँ ही अपना उपयोग रखिये, यही सतुष्ट होइये, यही रत होइये, यही रहकर परम विश्राम करिये तो वे सब बातें जो होनी चाहियें कर्म हटनेके लिए, निमित्त दूर होनेके लिए जैसा कि करणानुयोगमे बताया है वह सब प्रक्रिया स्वय होने लगती है । तो हमारे दो ही काम तो मुख्य रहे, उनमे भी एक ही मुख्य रहा निज सहज आत्मस्वरूपकी सावधानी, दृष्टि, प्रतीति, अनुभूति और इस ही प्रयोजनकी सिद्धिके लिए जो सम्हाल कर चुके है ऐसे शुद्ध आत्माकी भक्ति, पच परमेष्ठियोकी भक्ति । प्रभुभक्ति, सहज आत्मस्वरूपका मनन । बस यह ही हम आपको इस दुर्लभ जीवनमें करनेकी बात है । इसीकी पूर्तिके लिए अन्य सब व्यवस्थाये धार्मिक चला करती हैं । तो

अपने स्वरूपके अभिमुख हों और चित्तकी चचलता समाप्त करें, इस ही उपायसे हम अपने मोक्षमार्गमे प्रगति कर पायेंगे ।

मित्रत्वं याति शत्रु कथमपि सुजनं नापहतुं समर्थो
जन्मन्येकत्र दुःख जनयति भविनो शक्यते घातघातु ।
नैवं भोगोऽथ वैरी मृतजननजराद् खतो जीव ! शश्व-
त्तस्मादेन निहत्य प्रशमशितशरैर्मुक्ति भोग भज त्व ॥४०६॥

(१७८) भोगवैरीकी अपरिवर्तित प्रबल शत्रुता—इन भोगासक्त ससारी प्राणियोको सम्बोधन किया जा रहा कि हे जीव ससारमे जैसा अहित ये विषयभोग करते हैं वैसा अन्य कोई भी तेरा अहित नहीं कर पाता । हम आपका वास्तविक दुश्मन कौन ? मिथ्यात्व और ये विषयकषाय । ये हम आपके प्रबल वैरी है । दूसरा कोई मेरा वैरी नही है । कोई भी जीव मेरे विरोधके कारण कुछ नही करता, किन्तु जिसमे उसे भला मालूम होता वह काम वह करता है और हम यहां विषयोमे बाधा समझते है तो उसके विषयमे कल्पना करते हैं कि यह मेरा विरोधी है । जगतमे मेरा विरोधी दुश्मन, अहितकारी कोई दूसरा पदार्थ नही । मेरे ही ये विषयभोग, काल्पनिक काम ये ही प्रबल शत्रु है । कुछ विवेक पाया है, ज्ञान पाया है तो उसका फल यही है कि इन विषयोसे विराम लें । यदि विषयोसे विरक्ति नही होती, इनसे उपेक्षा नही होती, विराम नही लेते, तो वह ज्ञानकी वार्ता एक तोता रटत मात्र है । खुद पर उसका कुछ असर न पड़ा और ज्योका त्यो दु खी रहता । बात बातमे, धर्मकी चर्चा ही मे जो क्रोध उमड आता है उसका कारण क्या है ? अज्ञान । शरीरमे अज्ञान, शरीरमे अहंकार, मनके विषयोसे प्रीति, ये सभी दोष उस पुरुषमे मौजूद है, उसको लाभ क्या मिला ? सो हे जीव तू निर्णय कर कि मेरे अहितके करने वाले हैं ये विषयसाधन, भोग । दूसरा कोई अहित नही करता । ये विषयभोग, पञ्चेन्द्रियके भोग, मनके यश कीर्तिका लाभ ये ही प्रबल वैरी है जो इस आत्माको परेशान किए है, तिडबिडा रहे है और यह आत्मा क्षुब्ध होकर कर्म बांध रहा है । देहधारी शत्रु तो कभी किसी कारणसे शत्रु हुए पर मित्र भी हो सकता है, पर अपनी वासना विषयोके भोग, ये कभी मित्र नही हो सकते । आज जिस पुरुषको हम मान रहे कि यह हमारा विरोधी है, दुश्मन है, पर कलके दिन कहो कोई ऐसी बात बन जाय कि वह मित्र बन जाय, पर ये विषय कषाय किसी भी समय मित्र नही हो सकते । और फिर ये व्यर्थकी कल्पनायें । मानो स्पर्शन, रसना आदिक इन्द्रियके विषयोको भोग डालें तो इस जीवके पास बढ क्या गया यह तो ज्योका त्यो रिक्त है, क्योकि तृष्णा है, आशा है, उसके कारण इसका गड्ढा ज्योका त्यो खाली है । सो बाहर कोई पुरुष जिन्हे लोग शत्रु

मानते है वे तो कदाचित् मित्र हो जायेंगे, पर ये विषय तेरे कभी भी मित्र नही हो सकते ।

(१७६) भोगवैरीसे पुण्यापहरण व निष्प्रतिक्रिय दुःखजननकी विशेषता—अब देखिये—इन विषयोमे माने गए अन्य शत्रुवोकी अपेक्षा कितनी प्रबलता है । दूसरे प्राणी जिनको हमने शत्रु करार किया है वे शत्रु उसके पुण्यको नही छीन सकते, और हुआ भी ऐसा ही । कितनी ही घटनायें हुईं ऐसी कि उन शत्रुवोने बुरा करना चाहा, पर उसका पुण्य न छीन सके । श्रीकृष्ण नारायणके पुत्र प्रद्युम्नपर कालसम्वरके अनेक पुत्रोने कितने उपद्रव ढाया, कही गुफामे ले गए, कही बावडीमे ढकेला, पर सर्वत्र निधि पाया । उसके पुण्यको न छीन सके, पर ये विषयबैरी इसके पुण्यको छीन डालते हैं, यहाँ विषय बैरीमे और लौकिक शत्रुमे तुलना बतायी गई है, यह कितना प्रबल बैरी है । कोई शत्रु अधिकसे अधिक एक जन्ममे दुःख दे देगा, पर विषय शत्रु भव-भवमे दुःख देते है । अब तुलना करो, जो विषय रुचते है, जिनके लिए जीवन समझ डाला है वे विषय हम आपके कितने बडे दुश्मन है, उनसे विराम लेना चाहिए और आत्महितके लिए जो मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके पालनका उस मार्गसे चलना चाहिए । ये विषय बैरी कैसा प्रबल शत्रु है । ये माने गए मनुष्य दुश्मन कभी कोई प्रहार करे तो हम उसका प्रतिकार कर लें, मुकाबला कर लें, उसे हरा दे, कुछ प्रतिबध किया जा सकता है, किन्तु जब ये विषयशत्रु मुझपर लद जाते है तो हम निष्प्रतिबध हो जाते है, उस वासनाके वश होकर जो कुबुद्धि जगती है उसके अनुसार ही व्यवहार कर बैठते है । तो देखिये अन्य शत्रुवोसे कितनी अधिक प्रबल शत्रुता है इन विषयोमे । कभी कोई शत्रु दु ख दे दे तो उस दुःखको हम दूर कर सकते है, पर विषय शत्रु ऐसे नही है । वे विलक्षण है, प्रबल दुःखके हेतुभूत है, ये किसीके भी हितकारी नही है ।

(१८०) आत्मज्ञान व विषयविरक्तिमें अपना हित—अब अपनी अपनी बीती व होनी सब कुछ सोचिये—भीतर इस जगतमें जो प्रिय लग रहा है, इन्द्रियके विषय, उन विषयोके साधन, स्त्री-पुत्र, मित्रादिक, सुजन जो जो भी प्रिय जच रहे है उनके मौजका फल क्या होगा ? कष्ट । दु ख, ससारमे जन्ममरणकी परिपाटी, इस अज्ञानका फल यही है । तो यह बात हमे प्रतिदिन सोचनी चाहिये और उसके अनुसार हमे प्रयोग करना चाहिए भीतरमे कि मेरे बैरी ये विषय शत्रु है, इनसे हटना तत्त्वज्ञान और वैराग्यके बलसे बनेगा । तत्त्वज्ञान मे जब यह समझ बन जाय कि मेरा परमार्थ निरपेक्ष वास्तविक अपने ही स्वरूपके कारण जो कुछ मुझमे है वह तो एक चेतनामात्र है । शुद्ध प्रतिभास है । वहाँ राग रंग कषाय विषय ये हमारे स्वरूपमे नही है । यह कर्मकी छाया है । कर्मका प्रतिफलन, नैमित्तिक भाव, पर भाव इनसे मेरा मेल नही है । तो अविकार ज्ञानस्वरूपकी आराधना करिये तो ये विषयोके

आक्रमण सब दूर हो जायेंगे । ये विषयशत्रु, ये गदे परिणाम ये अनेक दुःखोंको उत्पन्न करने वाले है । भव भवमे जन्म मरणके कारणभूत हैं । पुण्यको हरने वाले, किसी तरह रोके न जा सकें ऐसे विषयोका लगाव इस जीवके लिए कलक है, कष्ट है, अभिशाप है, बरबादी है । ये भोग आज बडे सस्ते लग रहे, सरल मालूम होते, पर ये बडे महँगे पडते है । इनका फल बडा कटुक होता है । आत्माका ज्ञान, आत्माकी दृष्टि, आत्मस्वरूपमे ही आत्मत्वका अनुभव, सतोष, यह है सन्मार्ग, जिसमे धोखा नही । वर्तमानमें शान्ति, आगे शान्ति, और इन इन्द्रिय-विषयोकी प्रीति, विषयसाधनोका व्यामोह ये सब पर है, परभाव है, अतएव इनका लगाव नियमसे कष्टका ही देने वाला है । सो हे जीव समझ और शान्तिरूपी तीक्ष्ण बाणोके प्रहारसे अपने इस विषयवासना शत्रुका विनाश कर और मोक्षमार्गकी प्रगति करके मुक्तिका आनन्द प्राप्त कर । जो समागम है उसमे न रमना । वह सब लगाव दुःखका हेतु है, उनकी उपेक्षा करके अपने सहज आत्मस्वरूपमे मनको लगाना यह तो है कल्याणका उपाय और यदि ऐसा नही बनता तो जैसे ससारमे रुलते चले आये, रुलते आ रहे, आज ऐसे शुभ अवसरको यदि यो ही खो दिया गया तो इसका कुछ प्रायश्चित्त न हो पायगा । कीडा मकोडा एकेन्द्रिय आदि किसी भी भवमे उत्पन्न हो गए तो अब क्या करेंगे ? यहाँ तो जरा जरासी कला पाने पर शान बगराते, अहकार करते, घमंड करते, मै ही सब कुछ हू ऐसा मानकर ऐंठे जा रहे भीतर ही भीतर मगर जैसी करनी वैसी ही आगे भरनी । कीडा मकोडा, पेड-पौधे बन गए अब कहाँ रहेगी शान ? क्या गुजरेगी ? इस वास्ते नम्र रहना, क्षमाशील रहना, सरल रहना, इन परवस्तुवोसे तृष्णाको त्यागना, ऐसी सही करनी करनेमे ही अपना हित है ।

रे जीव ! त्व विमुच क्षणरुचिचपलानिन्द्रियार्थोपभोगा-
नेभिर्दु ःख न नीतः किमिह भववनेऽत्यनरौद्रे हतात्मन् !
तृष्णा चित्ते न तेभ्यो विरमति विमतेद्यापि पापात्मकेभ्य.
संसारात्यतदु खात्कथमपि न तदा मुग्ध ! मुक्ति प्रयासि ॥४१०॥

हे आत्मन् ! इन बादलोमे चमकती हुई बिजलीके समान विनश्वर इन इन्द्रिय विषयो के भोगोको छोड दे । जैसे मेघमे बिजली चमकती है । तो तुरन्त नष्ट हो जाती ऐसे ही ये इन्द्रिय विषयभोग क्षणभरको मिले है, क्षणके बाद ही ध्वस हो जाते है । वे साधन ध्वस नही हुए, यहाँका भाव ध्वस हो गया, मति ध्वस हो गई । तो ये सब क्षण विनश्वर है । और देखो इन विषय शत्रुवोने इन इच्छा आदिक विकारोने इस ससाररूपी गहन वनमे भटकते हुए तुझको क्या क्या दु ख नही दिया । दुःख जितना मिलता है वह विषयोकी प्रीतिके कारण मिलता है । कोई किसी विषयमे प्रीति किए है, कोई मनके विषयमे प्रीति किए हुए है । इस

जगतमे मेरा यश फैल जाये, हाय यह कितनी गंदी भावना है । चाहे औरका विध्वंस हो, पर मेरा नाम बढ जाना चाहिए, ऐसा सोचने वालेके कितना मिथ्यात्व लगा है । शरीरमे अहंबुद्धि हुए बिना मेरा यश फैल जाय यह भावना नही बनती । क्या कोई अमूर्त ज्ञानमात्र आत्माको मैं समझे और सोचे कि मेरा यश हो जाय ऐसे किसीके भाव बना ? जो यशके पीछे मर रहा है और यशके पीछे दूसरोकी बरबादी तकको भी तक रहा है, मेरा नाम सर्वत्र फैले, इस धुनमे लगा हुआ है, उसको तीव्र मिथ्याभाव बना हुआ है । तो यह विषयोकी प्रीति इस जीवका अनर्थ करने वाली है । क्या क्या दु.ख नही दिया इन विषयोके प्रेमने ? जो ससारमे बड़ेसे बडे क्लेश है वे सब विषयप्रेमसे ही तुझको प्राप्त हुए है । सबकी विचित्र विचित्र घटनायें हे, नाना ढंगके क्लेश है । सबकी बात सब अपनी अपनी जानते हैं । परख लो, अपने बचपनसे लेकर अब तक जो भी कष्ट पाये है वे कष्ट किस कारणसे मिले ? इन्द्रिय और मनके विषयोसे प्रेम है तब कष्ट पाया । सो यदि अब भी इन विषयोके साथ ही रहनेकी इच्छा है तो पापस्वरूप विकार इच्छावोके साथ ही तेरेको मौज आ रहा है । अब भी इनको ही भोगना चाहता है । तो हे मूढ जीव निश्चयसे यही समझ कि अनन्त दु.खोके देने वाले इस ससारसे फिर छुटकारा न हो पायगा । किसी तरह निस्तारा होना शक्य नही है । अज्ञान, मोह, मिथ्यात्वभाव ये तेरे प्रबल बैरी है । फिर तो सदा ही ससारमे रहकर, पडकर, गिरकर दु.ख पाता रहेगा । अपनेको सम्हालिये, ज्ञानप्रकाशमे प्रेम कीजिए, गुणी जनोका सत्सग कीजिए । अपने आपमे अहकार भाव न रखिये । जो भली-भाँति चलोगे तो रास्ता सही मिलेगा । जो खोटी बुद्धिसे चलोगे तो रास्ता न मिलेगा । यह आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है । अपने आपके ज्ञानबलसे यह हित, अहित, सत्य, मिथ्या सबका निर्णय कर सकता है, पर जब कोई खोटी श्रद्धा हो जाती है तो विवेक करने वाली प्रतिभा फिर चित्तमे नही रहती । एक गाँवकी ऐसी घटना है । उस गाँवके एक छोरपर एक बढ़ई रहता था । तो मुसाफिर जब दूसरे गाँवके जाने वाले उस गाँवसे गुजरते थे, तो जो सबसे पहले घर मिलता वहां मुसाफिर उससे पूछता कि अमुक गाँवका रास्ता किधर गया ? तो वह बढई बडा ही मजाकिया (मजाक करने वाला) दूसरेके कष्टको न समझने वाला उल्टी राह बताता था । मानो है तो पश्चिमकी ओर वह गाँव, और बता दिया दक्षिणकी ओर । बता दिया इसी तरफ जाना । थोडा गाँवमे जाकर रास्ता फूटा है दक्षिणको, उस रास्तेसे जाना, और देखो इस गाँवमे सभी लोग मजाकिया रहते है, तुम किसीसे पूछोगे कि अमुक गाँवका रास्ता किधरको गया तो वे तुम्हे उल्टा बतायेंगे । अब वह बेचारा मुसाफिर आगे जाता है और लोगोसे पूछता है कि अमुक गाँवका रास्ता किधरको गया ? तो वे लोग सही-सही बता देते कि पश्चिमको गया, मगर वह यह

विश्वास किए बैठा था कि देखो बढई ठीक ही कह रहा था, वास्तवमे इस गाँवके सभी लोग मजाकिया है । इस उल्टी श्रद्धा होनेके कारण फल क्या होता है कि वह दक्षिणकी ओर बढता चला जाता है । जब आगे दूसरा गाँव मिलता है, वहाँ पूछता है तो वे लोग बताते है कि अरे तुम तो उस गाँवसे ही रास्ता भूल गए । उल्टे जावो और वहाँसे फिर पश्चिमकी ओर जाना । खोटी श्रद्धामे फिर सन्मार्गकी ओर चाहे कोई कितना ही समझाये मगर वह लग नही सकता । देखिये कितनी बडी विपत्ति है कि जिसने दिमागको ही खोटा कर दिया ऐसा मिथ्या श्रद्धान इस जीवका प्रबल बैरी है, और उस ही के प्रसगसे ये इन्द्रियविषय इसपर प्रेक्टिकल शत्रुता निभा रहे है । सो इस ससारके जजालसे बचना है तो विषयोकी प्रीति छोडो । तत्त्वज्ञानकी ओर लगो । तत्त्वज्ञानकी ओर मन लगेगा तो पार हो जावोगे और अपनी पुरानी हठपर ही अडे रहोगे तो ससारमे रुलोगे ।

यत्तस्त्रीनेत्रलोलाद्विरम रति सुखाद्योषितामतदु खा-
त्प्राज्ञान् प्रेक्षातितिक्षामतिधृतिकरुणामित्रताश्रीगृहाश्च ।
एतास्तारुण्यरम्या न हि तरलदृशो मोहयित्वा तरुण्यो
दुःखात्पातु समर्था नरकगतिमितानगिनो जीव ! जातु ॥४११॥

(१८१) **विषयरतिकी घातकता व दुःखोसे बचानेमे अत्यन्त असमर्थता**—५ इन्द्रिय और एक मन इन ६ के विषयोमे रहकर यह जीव अपने आपको बरबाद किए जा रहा है । उनमे प्रधान अज्ञानविषय है स्पर्शनइन्द्रिय । उसके विषयमे यहाँ आचार्यदेव समझा रहे है कि हे जीव मत्त स्त्रियोके नेत्रकी तरह चचल और अन्तमे दुःखके देने वाली इस स्त्रीविषयक रतिका सुखका त्याग कर दो । यौवन अवस्थासे जो सुन्दर लगती है ऐसे स्त्रीजन बडे-बडे प्रतीक्षा गुणोके धारी पुरुषोको भी चलित कर देती है, जिनमे बडी प्रतिभा, जिनमे अधिक सहनशीलता, बुद्धि, करुणा, मित्रता आदिक सर्व गुणोमे सम्पन्न पुरुषोको भी मलिन करनेके ये साधन है । वास्तविक बात तो यह है कि इस जीवको स्त्रीजन क्या, अन्य साधन कोई भी विचलित नही करते, किन्तु यह ही जीव अज्ञानवश कामादिक प्रकृतियोके उदयका निमित्त पाकर स्वयं विकृत बनता है । उस विकारके समय जब बाह्य साधनोको उपयोगमे लेता है तो विकार प्रकट हो जाता है । देखो विकारके बारेमे बहुत सूक्ष्मतया यह सिद्धान्त समझना कि ये विकार नैमित्तिक भाव है, परभाव है, कर्मोदयका निमित्त पाकर हुए है, इस कारण परभाव है । इनके साथ जब दृश्यमान किसी भी पदार्थमे उपयोग लगता है तो ये विकार प्रकट होते है । यदि नही उपयोग लगता है तो ये विकार अव्यक्त होकर निकल जाते है, पर विकार कर्मोदयका निमित्त पाकर ही हो पाते है इस कारण ये परभाव कहलाते है । यद्यपि

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणति नही करता, पर उपादानमे ही ऐसा स्वभाव पडा है कि अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्त सान्निध्य पाकर अपनी परिणतिसे अपनेमे विकारभावको प्रकट करता है । यदि ऐसा न होता तो ये विकार मिट न सकते थे नित्यविकारका कर्ता बन जाता । वास्तविकता तो यह है । इस वास्तविकताको जानने वाला पुरुष इन विषयोके फदेमे नही पड़ता । सो हे आत्महित चाहने वाले पुरुष विषयवासनाओसे विराम लेकर अपनी रक्षा कर । ज्ञान और वैराग्य ये दो ही अपने वास्तविक मित्र है, दूसरा कोई मित्र नही । मोह और विषय ये ही वास्तवमे अपने शत्रु है, दूसरा नही ।

(१८२) **आत्मस्वरूपमें उपयुक्त होना अहितसे हटनेका उपाय**—भैया, क्या करना कि हम अहितसे तो हट जाये और हितमे लग जायें, बस उसका उपाय यह है कि आत्माके अविकार स्वरूपका परिचय करें और बाह्यविषयोसे अपने मनको हटा लें । मिलावटमें भी प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्वरूपमे ही रहती है । तैल पानी मिल गया, पर तैलमे तैलका स्वरूप, पानीमे पानीका स्वरूप, दूध पानी मिल गया, पर पानीमे पानीका स्वरूप, दूधमे दूधका स्वरूप । उपाय बनाया जाय, अग्निमे तपाया जाय तो पानी पानी उड जायगा, दूध रह जायगा । तो शरीर, कर्म और जीव इन तीन चीजोका आज मिलावट है, मिश्रण है और उस ही प्रसङ्गमे यह पर्याय बनी है । इसे असमानजातीय द्रव्य पर्याय कहते है । इस सश्लेषके होनेपर भी जीवके स्वरूपमे जीव है । पुद्गलके स्वरूपमे पुद्गल है । युक्तिसे, प्रतिभासे इस भेदको समझ ले और अपने स्वरूपसे प्रीति रुचि रखें और अन्य स्वरूपसे अरुचि रखे । यह इन्द्रजाल है, मायाजाल है । इसमे लुभ गए तो बरबादी है, न लुभा गए, अपनेको सम्हाल लिया, सावधान रहे तो अपनी उसमे विजय है । बात दोनो सामने है । यदि ससारमें रुलना है तो उसका उपाय है शरीरादिकमे अहबुद्धि रखिये, और इन विषय कषायोका खूब मौज लूटिये । और यदि जन्ममरणके संकटसे छूटना है तो आत्माके सहज चित्स्वरूपमे आस्था बनाइये । उसमे मैं का अनुभव करनेका पौरुष कीजिए और समस्त बाह्य तत्त्वोसे मोह ममत्व हटा लीजिए । अब इन दोनोमे जो पंथ रुचता हो उसपर चलिये । कल्याण रुचता हो तो कल्याणमार्गपर चलिये और पतन रुचता हो तो उसपर तो चल ही रहे हैं । उसका विवेक करे, अहितको छोडें और हितपंथमे लगें ।

दृष्ट्वा लक्ष्मी परेषां किमित हतमते खेदमतः करोपि
नैषा नैते न च त्वं कतिपयदिवसैर्गैत्वरं येन सर्वं ।
तत्त्व धर्मं विधेहि स्थिरविशदधिया जीव मुक्त्वान्यवांछां ।
येन प्रध्वस्तबाधां विततसुखमयी मुक्तिलक्ष्मीमुपैषि ॥४१२॥

(१८३) धनिकोंको दयापात्र जानकर उनसे ईर्ष्या न कर धर्ममें चित्त लगाते हुए खेदरहित होनेका उपदेश—हे अविवेकी पुरुष ! तू दूसरेकी बढ़ती हुई लक्ष्मीको देखकर क्यो भीतर घुला जाता है ? ईर्ष्या करके क्यो अपनेको दीन बना रहा है ? मनुष्योंकी प्रकृति है ऐसी कि दूसरे बड़े लक्ष्मीवान धनिकोंकी विभूति देखकर यह भीतर ईर्ष्या करता है, जलन करता है, घूरता रहता है । उसको समझाया है कि तू क्यो व्यर्थ अपना घात कर रहा है ? क्यो नही चलना चाहता ? उसका यह कारण है, पहली बात तो यह है कि जो उसको वैभव लक्ष्मी प्राप्त हुई है वह विनाशशील है, सदा न रहेगी । दूसरी बात यह है कि जिस लक्ष्मीको पाकर उसमे यह मस्त हो रहा है तो वह अपनेको भूल गया, अपने स्वरूपसे बेसुध हो गया, यह एक बडी विपत्ति उसने अपने आपपर लदी है । वह तो दयाका पात्र है, न कि ईर्ष्याका पात्र है । वह तो बहुत बडी विपत्तिमे है, वह अपना विघात कर रहा । तीसरी बात यह है कि ये तो बाह्य पदार्थ है, उनकी लालसा रखनेसे लाभ नही बल्कि हानि ही है । आत्मा अपने एकत्वस्वरूपमे है, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे है, इसका कोई साथी नही, इसका साथ कोई देने वाला नही, न रहने वाला है । तो व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंमे जिनका मुझसे कोई लेन देन नही, कल्पना करके कर्मबध किया जा रहा और जन्म मरणकी परम्परा बढाई जा रही है, तू ऐसे धनिकोंको देखकर जले मत, किन्तु उनको विपदामे ग्रस्त समझ और उनको तो दयापात्र समझ । ये धनिक जन जो अपने वैभवमे मस्त है उनपर यह बडी विपत्ति है । ससारके जो जितने अधिक इन सुखोसे सुख समझते है वे उससे कई गुना दुःख पायेंगे, यह बिल्कुल निश्चित बात है । तो वे दयापात्र है ऐसा समझ, न कि धनिकोंको देखकर उनसे जलन रख । यह वैभव, यह दृश्यमान जगत क्षणभर बाद न रहेगा, तब तू स्थिर हो, शान्त चित्त हो, धर्मका सेवन कर । धर्म क्या वस्तु है ? धर्म आत्माका स्वरूप है । अपने आप सहज मेरे ही सत्त्वके कारण जो मेरेमे शक्ति है, कला है बस वही धर्मका स्वरूप है । उसरूप अपनेको मान । मैं यह केवल चेतना मात्र हू । और इसका कोई कार्य है तो चिद्वृत्ति, शुद्ध प्रतिभास, जिसमे कोई कल्पना नही जगती, वह मेरा कार्य है, ऐसा अपने आपको निरख, यही धर्मसेवन है, इसके प्रतापसे सारे संकट टलते है । तो तू अपने धर्मका पालन कर और बाह्यविभूतिको देखकर उनकी वाञ्छा न कर । यदि ऐसी चर्या रहेगी तो सदा बाधावोसे जो रहित है ऐसा निर्वाणपद तू प्राप्त कर लेगा और जो यहींके इन दृश्यमान क्षणभगुर अत्यन्त भिन्न असार बाह्य वैभवोको ही तरसता होगा तो बस मरे, पैदा हुए, जिन्दगीसे जिए, वहाँ भी नाना कष्ट पाया, फिर मरे फिर जिए, बस यह ही धारा चलती रहेगी । यदि यही पसद है तो यहाँके सुख साधनोमे तू अपना मन फँसा और यदि सदाके लिए निर्बाध आनन्द चाहता

है तो अपने सहज स्वरूपकी दृष्टि कर।

भोगा नश्यति कालात्स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोपि
तज्जीवैतान् विमुंच व्यसनभयकरानात्मना धर्मबुद्धया।
स्वातंत्र्याधेन याता विदधति मनसस्तापमत्यतमुग्र
तन्वंत्येते तु मुक्ता· स्वयमसमसुख स्वात्मजं नित्यमर्च्यं ॥४१३॥

(१८४) विनश्वर भोगोंको शीघ्र ही स्वयं त्याग देनेमे आत्मलाभ—देख ये इन्द्रियके विषय जो कुछ भी नजर आ रहे है तो वे क्या नजरमे आ रहे, क्या ज्ञानमे आ रहे ? इन बाह्य पदार्थोके बारेमे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द और नामवरीकी कल्पनायें ये ही तो विष-यभूत है। तो ये सब विषय किसी न किसी समय निकट ही कालमे स्वयमेव नष्ट हो जाने वाले हैं। सो इस तरह ये पदार्थ स्वय नष्ट हो जायें, तो ये विमुक्त होकर जिनमे तू रम रहा था वे पदार्थ तुझे कोई गुण प्राप्त करा जायेंगे क्या ? तेरेमे कुछ सुधार बना जायेंगे क्या ? नही। बिगाड किया था और वियोग होनेपर भी इसके ख्यालमे बिगाड ही रहेगा। जिन पदार्थोंको यह मोही पुरुष इष्ट समझता है उनके सयोगमे भी बिगाड उनके वियोगमें भी बिगाड। जब संयोग बना है तब आत्मासे बेसुध और बाह्यमे उपयोग, अज्ञानदशाका प्रसार, अपना घात ही घात चल रहा है और जब इसका वियोग हो गया तो इसके वियोगमे कष्ट; महा संक्लेश, आर्त ध्यान कर करके अपना घात करेगा। तो इन सब पदार्थोकी उपेक्षा करके यह आत्मस्वरूपकी दृष्टिमे ही अपना निर्वाह है, बाकी तो इन बाह्य पदार्थोके सयोगमे भी कष्ट और वियोगमे भी कष्ट, इस कारण हे जीव! भयकर दुःख देने वाले इन बाह्य विषयोको तू खुद ही तज दे इनका वियोग होनेसे पहले, इसमे तू लाभ पायगा। पहले ज्ञान द्वारा समझ तो सही कि ये मेरी सत्तासे अत्यन्त भिन्न हैं, इनकी सत्ता इनमे है, मेरी सत्ता मुझमे है। क्या सम्बध है ? कौनसी गुंजाइश है जिससे कि यह बात बने कि ये भोग विषय, ये मकान धन-धान्य ये कुटुम्बीजन ये मेरे कुछ तो कहलायें ? उनके सत्वको परखिये, रच भी गुंजाइश नही है कि एक भी परमाणु, एक भी जीव कुछ भी मेरा हो सके। मोहकी कैसी विचित्र दशा है कि इन अनन्त जीवोमे से जिनको आज गैर समझ रहे, परिचय भी नही, कोई एक जीव घरमे पैदा हो गया, पुत्र हो गया, अब उसकी शक्ल देख देखकर यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा समझते हैं उस भिन्न जीवको एकमेक कर डालते है, 'यह तो इस जीवपर बड़ी विपदा है, मोहके समान प्रबल शत्रु इस जीवका और कौन हो सकता है ? सो जब तक ये विषय, ये साधन, ये पाये हुए वैभव नष्ट न हो, उससे पहले ही तू छोड़ दे, क्योकि ये तो नष्ट होने ही। ये नष्ट होगे और तू छोड़ न सके तो उनके वियोगमे भी कष्ट पायगा। और उससे पहले

तू छोड़ देगा तो उनसे तेरा चित्त भी हट गया, शान्ति पायगा, सन्मार्ग पायगा। यदि तुझसे पहले इसने छोडा तो तू कष्टमे रहेगा। उनके छूटनेसे पहले तूने अगर छोड दिया तो तू अनंत धाम, अनन्त सुख पायगा। अब यह तू विचार ले कि तू पहले ही इन सबसे मुक्त होना चाहता है या ये अपने आप छूटे और तू उनके वियोगका दुःख पाये, यह ही स्वीकार करता है? कुछ विवेक कर। जो हितका मार्ग है उस मार्गपर चल।

धर्मे चित्त निधेहि, श्रुतिकथितविधि जीव भक्त्या विधेहि,
सम्यक्स्वात पुनीहि, व्यसनकुसुमित कामवृक्ष लुनीहि।
पापे बुद्धि धुनीहि, प्रशमयमदमान् शिढि, पिढि प्रमाद,
छिधि क्रोध, विभिधि प्रचुरमदगिरीस्तेऽस्ति चेन्मुक्तिवाछा ॥४१४॥

(१८५) **धर्ममे चित्त लगाने व शास्त्रोक्तविधिसे आचरण करनेका मुमुक्षुवोका कर्तव्य**—हे आत्मन्! यदि तुझे मुक्तिकी इच्छा है तो अपनी चर्या इस प्रकार बना, उस चर्याका इस छदमे जिक्र किया है। मुक्ति मायने छुटकारा, किससे छुटकारा? जन्ममरणसे छुटकारा जन्म मरण क्यो होता है? आयुकर्मके उदयमे नया भव मिला, आयुकर्मके उदयमे यह भव मिटा, उस ही समय नवीन आयुकर्मका उदय हुआ, दूसरा भव मिला। इस निमित्तनैमित्तिक योगमे यह परिपाटी चली आ रही है। तो जहाँ समस्त सकटोसे छुटकारा होता है वहाँ शरीरसे, कर्मसे, विकारसे सबसे छुटकारा हुआ। यदि संकटोसे छुटकारा पाना हे तो उनसे छुटकारा पानेका उपाय क्या है? क्या शरीरको मले, शरीरका घात करे तो यो शरीर मिटेगा? अरे यो तो और भी बुरा शरीर मिलेगा। तो क्या जो कर्मोकी बात सुन रखी है उन कर्मोका नाम ले लेकर उनको मिटानेकी बात कहे? प्रभुस्तवनमे उन कर्मोको ही खूब गालियाँ दें, इस प्रकार कर्मोसे छुटकारा हो जायगा क्या? यो भी छुटकारा नही है। तब कैसे छुटकारा होगा? कर्मफल जो रागद्वेषादिक विकार है ये नैमित्तिक है, औपाधिक हैं, परभाव है, मेरे स्वरूपमे इनका क्या सम्बध है? मेरे स्वरूपसे बाह्य है। इन बाह्य तत्त्वोको क्यो लपेटें? मैं अपने स्वभावरूप ही अपनेको अनुभवूं, यह स्थिति बन सके, केवल चैतन्यमात्र प्रतिभ समात्र अपने आपको अनुभव सके तो यह पुरुषार्थ समस्त सकटोसे छुटकारा दिलायगा।

(१८६) **जीवविकारके संदर्भमे निमित्तनैमित्तिक योगके यथार्थ परिचयमे आत्मप्रगतिका अवसर**—सब कुछ तत्त्वज्ञान विकारसे हटने और स्वभावमे रमनेके लिए कराया जाता है। सबका एक ही प्रयोजन है, क्योकि आत्माकी शान्ति, वास्तविक समृद्धिका लाभ विकारसे हटकर स्वभावमे रमनेपर ही होता है, सो आप आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान करें और जिनसे छुटकारा पाना है उन विकारोका भी निर्णय बनायें जिससे कि उपेक्षा बन जाय। तो

संक्षेपमे आप एक सुगम विधिसे समझिये, ये विकार हैं, ये नैमित्तिक है, यह बात अगर यथार्थ रूपसे समझमे आये तो आपमें तीन प्रकारसे प्रगति बनेगी। यथार्थ समझ क्या कि पूर्वबद्ध कर्म जिसमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार प्रकारका बन्ध तत्काल हो गया था उनका जब अनुभाग उदय होता है तो होता है, कर्मके अनुभागका उदय कर्ममे है, सो जैसे कोई चूने का डला है और उसका काल समाप्त हो जाय या उसपर कोई पानी डाल दे, उदीर्णा हो जाय तो जैसे उस डलेका विडरूप बन जाता है, फूल जाता है, विचित्र स्थिति बन जाती है और उसके बाद वह शक्तिहीन हो जाता है, ऐसे ही कर्ममे जो अनुभाग पड़ा है, फलशक्ति उदय आनेपर या उदीर्णा होनेपर उस कर्मनिषेकमे बडा भयकर विस्फोट होता है। जैसे दर्पण मे यदि किसी लड़केने दांत निकाला हो, बुरी प्रकारकी चेष्टा वाला मुख फोटोमे आ रहा है तो आप यह समझिये कि ऐसी भयकर चेष्टाका वह मुख बना रहा है और उसका निमित्त पाकर यह भयंकर फोटो आ रहा है, ऐसे ही जब कर्ममे अनुभाग उदय होता है तो कर्ममे ही भयकर स्थिति बनती है और उसकी फोटो, प्रतिफलन यह है जो रागद्वेष जैसा भयकर रूप जीवमे बन रहा है, बस विकारका निमित्तनैमित्तिक योग यहाँ है, अन्यत्र नही। ऐसा परिचय करनेमे आपको तीन सुविधायें मोक्षमार्गकी प्रगतिके लिए मिलती है।

(१८७) निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयमें होने वाली प्रगतियोका निरूपण—निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका प्रथम लाभ यह है कि जो लोगोने यह भ्रम कर रखा है कि ये दृश्यमान पदार्थ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिक, धन वैभव कुटुम्ब मित्र आदिक ये मेरेको सुख दुःख देनेके निमित्तभूत हैं, एक तो यह भ्रम खत्म हो जायगा। वास्तवमे ये दिखने वाले पदार्थ मेरे सुख दुःखके निमित्त नही है। हमारे सुख दुःख रागद्वेष विकारके निमित्तभूत केवल कर्मविपाक है, दूसरा नही है। फिर लगता तो है यह। ये आश्रयभूत कहलाते है। इनमे उपयोग लगाया जायगा तो व्यक्त विकार बनेगा। तो विकारको प्रकट करनेके लिए ये आश्रयभूत कारण बनते है, आरोपित कारण बनते है। हमारे बनाये हुये कारण बनते हैं। ये वास्तवमे निमित्त नही है। निमित्त तो केवल कर्मोदय है। तो देखिये कितना शान्तिका अवसर मिला। जो घबडाते थे—हाय यो हो जायगा तो मुझे कष्ट हो जायगा। बाहरमे यो चीज बन बैठेगी तो मेरा क्या हाल होगा? अरे कुछ भी बन बैठे उससे मेरा हाल नही बिगडता। वह तो आश्रयभूत है। हम उनको उपयोगमे ही न लें तो फिर क्या बिगाड होगा? तो एक तो आश्रयभूत पदार्थोंसे उपेक्षा हो जाती है जिससे तत्काल शान्तिका अवसर मिलता है निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयमे दूसरी प्रगति यह है कि जहाँ यह जाना कि ये रागद्वेष सुख दुःख आदिक विकार नैमित्तिक है, वहां यह बोध तो हुआ ना कि ये मेरी चीज नही है.

मेरे लिए वह कलंक है, अभिशाप है। मेरेसे विकार निपटकर केवल मेरे दु खका ही बीज बनता है, जब यह बोध हो गया तो उन विकारोंके भी लगाव न रहेंगे। तीसरी प्रगति क्या कि जिसने विकारको नैमित्तिक समझा है उसने उससे निराले अपने स्वभावको समझा है। जिसने चैतन्यमात्र अपने स्वरूपको समझा है वही इस परभावको समझ सकता है। तो स्व-भावदृष्टि होते ही सुगमतया ये तीन प्रगतिया चलती है।

(१८८) विकारसे हटने व स्वभावमें लगनेके पुरुषार्थियोका कर्तव्य—विकारसे हटना, स्वभावमे लगना, बस यह ही एक काम पडा हुआ है, दूसरा मेरेको कोई काम नही पडा। यदि यह कर सके तब तो हमारे ये क्षण सफल है और यह बात यदि नही बनती तो लोग कहा करते हैं ना एक कहावत कि "आये थे हरिभजनको, ओटन लगे कपास।" यह जैन-शासन, यह सुकुल, यह जिनवाणीका श्रवण, यह प्रतिभा, यह क्षयोपशम, ये मानो पाया था, इसलिए कि सदाके लिए संकट छूट जायें, ऐसा यह उपाय बना लें, किन्तु उपाय बनाया इसने संसारमे रुलनेका ही। सो यदि तू मुक्ति चाहता है तो उसका उपाय बना ले। चाहता कि नही चाहता? देख सारे दुःखकी जड़ यह शरीरका सम्बन्ध बन रहा है। एक मोटे रूपसे सोचो—यदि शरीर न होता, केवल मैं ही मैं आत्मा होता जैसा कि मैं स्वरूपसे सत् हूं तब क्षुधा, तृषा, रोग, खांसी, ज्वर, श्वांस आदिक ये कहांसे होते? यदि शरीर न होता इस जीवके साथ तो इसकी वेदना यहां आती क्या? केवल ज्ञानपुञ्ज जैसा कि मैं अपने शरीरसे हूं वैसा ही रहता तो इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग अपमान, निन्दा, गाली गलौज, कल्पना आदि ये बनते क्या? किसी पुरुषने समझा कि मेरेको तो बडा अपमान हो गया तो उसने शरीरको समझा कि यह मैं हूं तब जाकर अपमानकी कल्पना बनी। ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको मानें कि यह मैं हूं तो उसके अपमानकी कल्पना बन ही नही सकती। इसका अपमान होता ही नही है। तो सारे कष्ट इस शरीर सम्पर्कमे हुए है। तो एक तो भावना बनाना कि मुझे तो शरीररहित अपना सत् चाहिए। ऐसी वाञ्छा होनेपर आपका शरीरसे मोह हट जायगा। इस शरीरका क्या मोह करना कि जिसके सम्बन्धसे दुःख ही दुःख रहता है और जो कुछ ही समय बाद इन इष्ट जनो द्वारा जला दिया जायगा। उस शरीरको इस ज्ञानसे पकड़े रखनेमें तुझे लाज नही आती। यह तो अत्यन्त भिन्न वस्तु है।

(१८९) मोहके इच्छुक जनोंको संतोंका आदेश—भैया, अपने ज्ञानस्वरूपकी सम्हाल, धर्ममे चित्तको लगा दे। जैसी वास्तवमे विधि बतायी है, धर्मसाधनाका उपाय बताया है उस उपायसे मन लगाकर चल, अपने मनको पवित्र रख। मनकी पवित्रता उसके बन सकती है जो कि सर्व जीवोमें उस चैतन्यस्वरूपको निरख सकता है। इसीके बलसे दूसरोसे घृणा न

रहेगी, दूसरोसे द्वेष न रहेगा, अपने आपमे नम्रता जगेगी, गुणोमे प्रमोद जगेगा, अपना विकास होगा। अपने मनको पवित्र रखें और व्यसन रूपी फूलोसे फूले हुए इस कामरूपी वृक्षको काट डालें, कामभावको त्याग दें, इसके फूल फल केवल विपत्तियाँ हैं, व्यसन हैं। पापकर्मसे अपने चित्तको हटा लें, शान्ति, दमन, और यम नियमका सहारा लें, विषयोका शमन करें, इन्द्रियो का दमन करें। अयोग्य कार्योंका सदाके लिए त्याग करें या कुछ अवधि लेकर त्याग करें। बाह्यपदार्थोंका त्याग करना यदि कठिन लग रहा है तो इसके मायने है कि उनमे व्यामोह है। विषयोका परिग्रहोका यथाशक्ति याने शक्ति न छिपाकर उनका परिहार कर। यदि तू चाहता है तो प्रमादको दूर कर, क्रोधादिक कषायोको नष्ट कर, घमण्डको चूर कर। घमण्ड कोई एक विधिका नही होता, किसीको बलका घमण्ड, किसीको रूपका, किसीको ज्ञानका, किसीको अपने ऐश्वर्यका, किसीको अपने चलाका घमंड है। जहाँ मद भरा हुआ है चित्तमे वहाँ आत्मस्वरूपकी दृष्टि नही बन सकती। अहङ्कारका मोह मिथ्यात्वसे सीधा सम्बन्ध है। जो मैं नही हू उसमे अहंबुद्धि रखना अहङ्कार है और इस ही का अर्थ प्रसिद्धिमे घमण्ड है। सो हे आत्मन्! जैसा कि इस छन्दमे बताया गया उन विधियोको किए बिना वास्तविक आनन्द पानेकी आशा करना केवल दुराशा है। तू मुक्ति चाह और मुक्तिके लिए धर्ममे चित्त लगा, कषायोका परित्याग कर, सर्व जीवोको अपने स्वरूपके समान निरख। तत्काल भी आनन्द पायगा और इसी विधिसे कर्म नष्ट होगे, सदाके लिए आनन्द पायगा।

बाधाव्याधावकीर्णे विपुलभववने भ्राम्यता संचितानि
दग्ध्वा कर्मेंधनानि ज्वलितशिखिवदत्यंतदुःखप्रदानि।
यद्दत्ते नित्यसौख्यं व्यपगतविपदं जीव मोक्ष समीक्ष्य
बाह्यांतर्ग्रंथमुक्ते तपसि जिनमते तत्र तोषं कुरुष्व ॥५१५॥

(१६०) अनादि भवभ्रमणमें संचित कर्मेन्धनको जलानेके लिये निर्ग्रन्थ तपश्चरणमें संतोष करनेका उपदेश—हे आत्मन्! बाधा रूपी व्याधोसे व्याप्त इस संसाररूपी गहन वन मे तूने अनादिकालसे भ्रमण किया है। जीव कबसे है? क्या कोई दिन बता सकते कि इससे पहले न था। जो न था वह है नही हो सकता। जो है उसका आदि अन्त नही होता। जीव है तो यह अनादिसे है। तो अनादिसे क्या इसकी हालत रही? यदि यह शुद्ध होना पहले तो अशुद्ध हो न सकता। यह अनादिसे ही अशुद्ध पर्यायमे चला आ रहा है। जीव यह स्वतंत्र सत् है, जैसे कि अन्य सभी पदार्थ सत् हैं इस कारण इनका स्वरूप इनमे है और वह स्वरूप यही है। जो है इस प्रकारका शुद्ध स्वरूप है, किन्तु परिणति अनादिसे अशुद्ध ही चली आ रही है। सो अनादिसे भ्रमण करते हुए तूने जिन कर्मोको कमाया, जो कर्म जाज्वल्मान अग्नि

के समान दुःख देने वाले है ऐसे जिन कर्मोंका सचय किया है उनको जलानेके लिए उपाय बना। वह उपाय है बाह्य और अन्तरङ्ग दोनो परिग्रहोसे रहित होकर चैतन्यस्वरूपमे उपयोग लगानेरूप परम तपश्चरणका करना। तू तपश्चरणमे अपना चित्त लगा, विषयोसे चित्त को हटा। इस परम तपश्चरणका फल नित्य और आपत्तिरहित मोक्षसुख है। तू तू ही है, तुझमे दूसरेके सत्वका मिलावट नही है, अब तू जैसा है वैसा अपनेको मान ले तब तो मोक्ष को प्राप्त कर लेगा और दूसरोसे मिला हुआ दूसरोके कारण ही मेरा अस्तित्व है, ऐसा अगर भाव रहेगा तो समारका रुलना ही बना रहेगा।

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि।
कर्मोद्भूत समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे
पर्यालोच्येति जीव! स्वहितमवितथ मुक्तिमार्गं श्रय त्वं ॥४१६॥

(१९) सहजस्वरूपदृष्टि करके मोक्षमार्गमें विहार करनेका उपदेश—जैसे बताते हैं कि जलका स्वभाव ठंडा होता है, और जिस समय अग्निका संयोग पाकर वह जल गरम हो गया तो परिणति क्या है और स्वभाव क्या है, जैसे वहाँ बात समझमे आ रही है कि परिणति गरम है, विकृत है, अशुद्ध है, स्वभाव शीतल है। एक दृष्टान्त है। दृष्टान्त एक देश हुआ करता है, ऐसे ही अपने वर्तमान आत्माका विचार करे, परिणति अशुद्ध है, स्वरूप इसका चेतनामात्र है, जैसे दर्पणका स्वरूप स्वच्छ है, पर उसमे वर्तमान फोटो रहा ही करता है, दर्पणको आप सन्दूकमे बन्द कर दें तो क्या वहाँ प्रतिबिम्ब न रहेगा? दर्पणको डिब्बेमें बन्द कर दीजिए तो क्या वहाँ प्रतिबिम्ब न रहेगा। जो सामने है उसका प्रतिबिम्ब। तो वहाँ निजी स्वच्छता और प्रतिबिम्ब जैसे दोनो पाये जाते हैं ऐसे ही आत्मामे निजी स्वरूप स्वच्छता और प्रतिबिम्ब नाना प्रकारके ज्ञान और जब कर्मोदयका निमित्त सन्निधान है तो वहाँ नाना प्रकारके रागद्वेषादिक विकार। तो परिणति अशुद्ध है, स्वभाव अपने रूप है, प्रयोग किसका होगा? फल किसका मिलेगा, अनुभव किसका बनेगा? जैसा परिणमन है उसका, और जिसके विवेक जग गया, ज्ञान जग गया वह अपने स्वरूपको दृष्टिमे लेकर मोक्षमार्गमे प्रगति करता है। सो मेरा एक शाश्वत आत्मा है, पर इस समय यह संसारमें दुःख भोग रहा है। मेरा स्वभाव ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह सब है और वर्तमान हालत संसारमें दुःख भोगनेकी है, सो भले ही यह परिणति चल रही है, परन्तु परमार्थ तत्त्व तो देख, तेरा मात्र आत्मा ही तेरा है, अन्य कुछ तेरा नही, एक वस्तुका दूसरा कुछ होता नही। तब धन, स्त्री पुत्रादिक पदार्थ कुछ भी तेरे नही है। तेरा तत्त्व मात्र तेरा है जो तेरे अस्तित्वमें है,

परिणमनमे है वह तो तेरे पास है । तेरी वस्तु है, बाकी अन्य कुछ भी तेरा नही है । परिणमन भी जो नैमित्तिक है वह भी तेरा नही, क्योकि यह मेरा नही है, सोच तो सही । मेरे घरमे आये है, मेरे शरीर सम्बंधसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए सब कुछ नाता रिश्ता बन रहा है यह तो कहता नही यह इस कारण तेरे नही कि ये कर्मोसे उत्पन्न हैं और विनाशीक हैं, यह संयोग, यह सम्बन्ध ये कर्मजन्य हैं, और इसी कारण विनाशीक है, इनका वियोग होगा, अतः ये सब तेरे नही हैं, इनमे मोह करना बिल्कुल व्यर्थ है । ऐसा कुछ ध्यान तो ला । अपने स्वरूपको तो टटोले नहीं और बाहर ही बाहर दृष्टि करके क्षोभ मचाये तो इसका कष्ट कोई दूसरा भोगने न आयगा । तेरेको ही कष्ट भोगना पड़ेगा । सो हे आत्मन् ! परम हितकारी सत्य मोक्षमार्गका आलम्बन कर, ये बाहरी कुछ भी तत्त्व आलम्बनके योग्य नही हैं, अपनेको बार-बार अनुभव कर कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानघन हूं, सहज आनन्दमय हूं, ज्ञानमात्र हूं अर्थात् मैं अपने सर्व प्रदेशोमे ज्ञानसे ठोस हू, सहज आनन्दमय हूं, मेरे स्वरूपमे कष्ट है ही नही । दुःख तो बताया जाता है, आनन्द मेरे स्वभावमे है, सो अपने स्वभावकी दृष्टि कर और मोक्षमार्गका आलम्बन कर ।

> ये बुध्यतेऽत्र तत्त्व न प्रकृतिचपलं तेऽपि शक्ता निरुद्धु
> प्रोद्यत्कल्पांतवातक्षुभितजलनिधिस्फीतवीचिस्यद वा ।
> प्रागेवान्ये मनुष्यास्तरलतरमनोवृत्तयो दृष्टनष्टा-
> स्तच्चेतश्चेद्गतस्थिरपरमसुख त्वं तदा किं न यासि ।।४१७।।

(१९२) प्रकृतिचपल चित्तके वेगकी प्रबलता और उसके विघातका उपाय—यह मन बड़ा चचल है, इसका वेग बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी रोकनेमे असमर्थ हो जाते हैं । इस चंचल मनके वेगको कौन रोक सकता है ? जैसे कल्पांतकालमे अर्थात् प्रलयके समयमे जो प्रबल वायु का वेग चलता है उस वायुसे प्रेरित समुद्रकी लहरोको कौन रोक सकेगा ? ऐसे ही इस अज्ञानी के प्रबल मनकी चंचलताको कौन दूर कर सकता है ? पूर्व समयमे भी अनेक चञ्चल मन वाले रहे, मरण किया, अन्यत्र उत्पन्न हुए, कोई न रह सके । मनकी चंचलतासे कोई सिद्धि नही । इन विषयोकी चञ्चलतासे कोई सिद्धि नही, इन विषयोके प्रेमसे कोई सिद्धि नही । एक अपने सहज आत्मस्वरूपका परिचय पा ले तो तेरा हित है । ऐसा यह मन चञ्चल है, इसकी चञ्चलता दूर करनेके लिए सभी प्रकारका उपदेश है, जो शुद्धोपयोगमे तो ठहर नही पाता, यह तो बड़े त्याग तपश्चरण द्वारा साध्य है और शुभोपयोगसे घृणा कर करके अपना समय गुजारा तो उसके खोटे भवितव्यको कौन रोकने वाला है ? निरन्तर इस मनको सत्कार्योंकी ओर लगाये रहे अन्यथा अशुभमे, पापमे इसका मन लगेगा । दूसरे जीवोसे घृणा

करना यह पाप है और धर्मके नामपर घृणा रखना यह और भी महापाप है । सर्व जीवोंका स्वरूप एक समान है, उस सहज स्वरूपपर दृष्टि क्यो नही जाती ? परिणतिपर क्यो दृष्टि जाती है ? स्वरूपपर दृष्टि प्रथम जाय तो प्रयोग तो परिणतिसे ही होगा, बाद परिणतिका ख्याल रखे ऐसा ज्ञानबल है तब तो अपनेमे सन्तोष करिये और किसीको देखते ही बाहरी दृष्टि जगे तो इस अज्ञानका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा ।

(१६३) स्वरूपदृष्टिके बलसे परम आनन्द पानेका तंत्र करनेका उपदेश—भैया ! अपने आपमे सही विचार करिये—सर्व जीव एक चित् स्वरूप हैं । जितना अपराध है यह सब नैमित्तिक है । जीवका स्वयका स्वरूपका क्या अपराध ? पर वह प्रकट नही है अतएव भ्रमण कर रहा । सो हे चञ्चल मन वाले पुरुष, देव, शास्त्र, गुरुकी भक्तिमे, गुणी जनोकी सगतिमे, गुणी जनोसे अपने आपके दोषोकी गर्हा निन्दा करनेमे दूसरेके गुणोका स्मरण करनेमे, सभी प्रकारके सत्कार्योंमे तू अपने चित्तको लगा, पर ध्यान रख केवल एक ही कि मुझे शरीर रहित आत्माकी स्थिति पानी है और वह स्थिति जिस उपायसे प्राप्त हो सकती है वह उपाय है इस अपने सत्तामात्र सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमे लेना । सो ध्येय तो यह रहे मुख्य, पर प्रवृत्ति अपनी शुभोपयोगकी करें, गृहस्थोके शुभोपयोगकी प्रधानता आचार्योंने कहा है । शुभोपयोगसे भ्रष्ट हुए गृहस्थोको कही ठिकाना न पड पायगा । एक कथानक है कि एक राजाको देवता सिद्ध हो गया वह देवता बडा कठोर था । सिद्ध होते ही बोला—राजन् काम बताओ, हम तुरन्त करेंगे और अगर काम न बताओगे तो हम तुम्हे तुरन्त खा जायेंगे ? तो राजाने कहा—अच्छा अमुक महल बना दो ।···लो महल बन गया, राजन् काम बताओ । ' तालाब बना दो ।··· लो तालाब बन गया, राजन काम बताओ । "सडक बना दो ।··· लो सडक बन गयी, काम बताओ । अब वह राजा बडी चिन्तामे पड गया कि आखिर कहाँ तक इसे काम बतायेंगे । यदि इसे काम न बतायेगे तो यह मुझे मार देगा सो उसे एक युक्ति समझमें आ गई । बोला—एक ५० हाथका लम्बा लोहेका डडा गाड दो···गाड दिया, काम बताओ । इसके एक छोरमे लोहेकी लम्बी साँकल बाँध दो और एक छोर अपने कमरमे बाँध लो । ·· बाँध लिया, काम बताओ ।··· अच्छा अब तुम बन्दर बन जावो और हम जब तक मना न करें तब तक इस लोहेके डंडेमे चढो उतरो । अब चढ गया तो उतरनेका काम पडा है, उतर आया तो चढनेका काम पडा है । इस तरह करते करते वह तो बडा हैरान हो गया, अन्तमे हार मानकर बोला—राजन् माफ करो, हमे इस परेशानीसे बचावो, अब जब कभी आप याद करेंगे तभी हम आपकी सेवामे हाजिर होंगे···। तो यह मन बन्दरकी तरह चञ्चल है । इसको काममे लगाये रहो तो यह वशमे रहेगा और अगर इसको काम न बतावोगे तो यह

अशुभ कामोमें लग जायगा। यह आप सब अनुभव भी कर रहे होगे। तो इस बेईमान मन को जो धीरता पूर्वक वश कर लेगा, शान्त कर लेगा, उसे आत्मतत्त्वमे लगा लेगा तो परम सुख साधन भूत मोक्ष पद निकट कालमे ही प्राप्त होगा। अपनेसे बाहर कोई भी पदार्थ आश्रय करने योग्य नही है, एक आत्मस्वरूप ही आश्रय लेने योग्य है। और उसके नातेसे जिसके आत्मस्वरूप प्रकट हो गया है, परिणतिमे भी वही अवस्था आयी है जो स्वभाव है वह परमात्मा आराध्य होता है। अपने मनको परमेष्ठियोकी भक्तिमे अपने आपके स्वरूपके मननमे लगा, तेरेको कल्याणमार्ग मिलेगा।

रे पापिष्ठातिदुष्ट ! व्यसनगतमते निंद्यकर्मप्रसक्त
न्यायान्यायानभिज्ञ प्रतिहतकरुण व्यस्तसन्मार्गबुद्धे ।
किं किं दुःख न यातो विनयवशगतो येन जीवो विषह्यं
त्वं तेनैनो निवर्त्यं प्रसभमिह मनो जैनतत्त्वे निधेहि ॥४१८॥

(१६४) पापाशयवश किये कर्मोके फलका स्मरण कर निवृत्तिमार्गमें चलनेके कर्तव्य का उपदेश— सदा पाप कर्मोमे ही लवलीन रहने वाले ये पुरुष अपने आपके आचरणपर विचार तो करें, तृष्णावश न जाने किन किनसे क्या-क्या व्यवहार करते है। असत्य, छल कपट, मायायुक्त वचन बोलकर न जाने किस किस प्रकारके व्यवहार करके अपना आचरण करते है। सो हे पाप करनेमे लवलीन रहने वाले पुरुष और भी अपनी त्रुटियोको तो निरख। इन्द्रियविषयोका तो तू लोलुपी बना है और अहंकारमे ऐसा डूबा है कि मै ही समझदार हू, मैं ही बुद्धिमान हू, अपने आपको ज्ञानी समझ रहा है और है विपयलम्पटी। सो अपने आपकी त्रुटिको तो निरख। नीचकर्ममे लगे हुए हे पापिष्ट, न्यायकी पहिचानसे रहित निर्दय होकर तू मोक्ष मार्गसे भ्रष्ट हो रहा और पुण्योदयसे कुछ सुखसाधन पाया तो तू इतना अहकार बसा रहा है कि तेरी दृष्टिमे अन्य कोई मानो जीव ही नही है, मैं ही सब कुछ हूं, ज्ञानी हूं, ध्यानी हू, समझदार हूं, पुण्यशाली हू, वैभववान हूँ, ऐसा अपनेमे अहकार बसाये है और अन्त: नीचकर्ममे लग रहा। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पापोमे रहना यह अपने आपको भ्रष्ट करना ही तो है। ऐसे श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट हुआ जीव न जाने क्या क्या दु:ख नही भोगता। नरकोमे नरक जैसा, पशुपक्षियोमे रहकर उन जैसा, मनुष्योमे मनुष्य जैसा, जिस भवमे गया उस ही भवमे तू ने कल्पनासे या शरीरकी व्याधिसे या अनेक कारणोसे अहंकारवश तू ने दु:ख भोगा। अब तू पापके परिणामोको तिलाञ्जलि दे दे और जैन शासनके अनुसार जो चर्या कही गई है, आचरण कहा गया है उस आचरणमे, उस संयममे अपने मन को लगा। शरीरका यह जीव इतना रुचिया बन गया है कि सयम साधना किये जानेके प्रश्न

पर ज्ञानकी गप्प लगाकर अपनेको विषयोंका प्रेमी रखना चाहता है, इतना विषयलोलुपी है। कदाचित कोई यह कहे कि ज्ञान बिना विषयोका त्याग करना, संयमका पालन करना ये फल नही देते, तो क्या ज्ञान बिना असंयमसे बना रहना यह फल दे देगा ? कुछ तो विचार, इस अपवित्र शरीरसे इतनी प्रीति क्यो की है ? अपनी शक्तिको न छिपाकर जैन शासनमें बताया गई विधिसे अपनेको आचरणमे लगा और साथ ही साथ अन्तः विशुद्धिके लिए तू परमात्मतत्त्व की, सहज आत्मस्वरूपकी उपासनामे चल। जो इन विषयोको तिलाञ्जलि न देगा तो संसार मे जन्म मरणके दुःख सहते ही रहना पडेगा।

लज्जाहीनात्मशत्रो कुमतगतमते त्यक्ततत्त्वप्रणीते
धृष्टानुष्ठाननिष्ठ स्थिरमदनरते मुक्तिमार्गाप्रवृते।
ससारे दु:खमुग्रं सुखरहितगताविन्द्रियै: प्रापितो यै-
माधिद्या स्तेषजोव ! व्रजसि गतघृण ! ध्वस्ततुद्धे ! वशित्वं ॥४१६॥

(१९५) दुःखबीज कुकर्मोंमें उमंग करनेकी निन्दा—हे लज्जारहित आत्माके शत्रुभूत मिथ्या धारणावो के मतो के आलम्बन करने वाले तत्त्वश्रद्धानसे रहित जीव, कुछ तो विचार कर। जो पापकी प्रवृत्तियां हैं, इन्द्रियके विषय सेवन हैं, कामादिकमें जो दृढ प्रतीति कर रखी है उन प्रवृत्तियोसे इस संसारमे तू ने अपने आपको बड़े कष्टमे रखा। रंच भी अपने को आनंद न दिला सका। चिन्ता, विचार, कल्पना, क्षोभ, हापड़ धूपड अधीरता, पराधीनता आदि कितनी ही तकलीफ पायी, पर तू अपने उस मोहको न छोड़ सका, कष्ट ही पाता रहा, जिस मोहके कारण उस ही मोहसे तू लगाव भी रखता रहा। तो जिन इन्द्रियों ने दुःखमयी ससारमे तुझे नाना प्रकारके कष्ट दिया तू उन इन्द्रियोंके वश अब भी चल रहा है। अब तो इन्द्रियकी दासता छोड़ दे और अपने धर्माचरणमे लगा दे। देखिये—इस शरीरके प्रति जो लगाव है, यह मैं हूँ इस प्रकारकी भीतर जो बुद्धि है यह बहुत बडा पाप है, इसीके कारण ही दूसरेका अपमान करना, दूसरोसे अपमान मानना, कितनी ही मनकी उडान ये सारे कष्ट इस शरीरके लगावसे चल रहे हैं। शरीरकी कल्पना छोडकर स्वयं ज्ञानमय अपने आपके इस ज्ञानस्वरूपको निरख और देख ले कि ज्ञानमें ज्ञानको रमानेसे कैसी निराकुलता मिलती है, जब कि इन बाह्य समागमोमे चित्तको रमानेसे कष्ट ही कष्ट भोगना पडता है। सो इन इन्द्रियके वश मत हो, इनका लगाव छोड अर्थात् इनको अपना सर्वस्व मत मान। एक सेवककी भांति जब तक आवश्यकता है तब तक इस शरीरकी रक्षा करते हुए अपने आत्मस्वरूपको उपासनामे, मननमे अपने चित्तको लगा।

सर्वव्याघ्रेभवैरिज्वलनविषयमग्राहशत्रुप्रहाद्यान्
हित्वा दुष्टस्वरूपान् ददति तनुभृतां ये व्यथां सर्वतोऽपि ।
तान् कोपादीन्निकृष्टानतिविषमरिपून्निर्जय त्वं प्रवीणान्
रे रे जीव ! प्रलीनप्रशमगतिमते दग्धभग्नस्वशत्रो ॥४२०॥

(१९६) **जीवके प्रबल शत्रु कामादिक विकार**—शान्ति सुखसे विमुख हुए हे प्राणी तू जिन पदार्थोंको अपना बैरी समझता है वे वास्तवमे तेरे बैरी नही हैं। ये लोग जिन्हे बैरी समझते हैं सांप, शेर, हाथी, अग्नि आदिक वे वास्तवमें तेरे शत्रु नही हैं, किन्तु तेरे ही चित्त मे जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदिक बसे हैं ये ही तेरे बैरी हैं, क्योंकि वे बाह्य पदार्थ तेरे शुद्ध स्वरूपका विघात करने वाले नही हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ परिणमन नही कर पाता क्योकि प्रत्येक वस्तु स्वयं अपना अस्तित्व लिए हुए है, किन्तु ये विकार, मोह, काम क्रोधादिक भाव ये तेरे शुद्धस्वरूपका साक्षात् विघात करने वाले हैं, अर्थात् तेरी शुद्ध अवस्थाको प्रकट नही होने देते। तब वास्तवमे तेरा शत्रु कौन रहा ? ये काम क्रोधादिक भाव। तो अब तू किसी भी पर पदार्थको अपना बैरी मत समझ, किन्तु विकारभावको ही अपना घातक समझ कर उनकी असलियत जान और उनकी उपेक्षा कर। इसी प्रकार जिन को तू अपना हितू समझता हैं वे वास्तवमे तेरे कठोर शत्रु है, इस ओर ध्यान दे।

(१९७) **मोही जीवका मौलिक मोह**—इस मोही जीवको सबसे प्यारा क्या है ? सबसे अधिक प्यारा है इसको अपना विकार। यह तो एक कहना मात्र है कि बन्धु प्रिय है, पुत्र प्रिय है, धन प्रिय है, बाह्य वस्तु प्रिय हैं। बाह्य वस्तु प्रिय बने ऐसा वस्तुस्वरूपमे हो ही नही सकती, क्योकि प्रेम एक पर्याय है। राग परिणति है। किसकी परिणति है ? इस मोही रागी अशुद्ध जीवकी परिणति है। तो परिणति स्व द्रव्यके प्रदेशोमे रहेगी या परद्रव्यके प्रदेशोमे पहुचेगी ? चाहे विकार परिणति हो वह भी अपने ही द्रव्य प्रदेश में रहती है अन्य जगह नही रहती। परिणति इस जीवकी है, तो रागका प्रयोग स्वयंपर हुआ या अन्य पर हुआ ? स्वयं पर हुआ। तो यह जीव अपने पर ही प्रेम करता है दूसरे पर नही करता। और यह करता है अपने इस विकार रूप पर। घरमे कोई लुटेरा आ जाय बदूक लिए हुए तो सबको अपनी-अपनी पड़ती है। वहां फिर जो प्रेमकी गप्प मारी जा रही थी वह कहां जाती है ? एक दूसरेका ख्याल कोई नही करता, वह स्वयं अपने प्राण बचाकर झट भगता है। तो खुद पर ही तो वास्तवमें इसने प्रेम किया, पर विकृत स्वयं पर प्रेम किया। कोई ऐसे भी महापुरुष हुए हैं कि वे शुद्ध स्वरूपकी रुचि करते हैं। मोही जीव अपने विकृतरूप की रुचि करते हैं, पर कोई किसी दूसरेमे प्रेम नही कर पाता। तूने अपना हितू समझा है हे

मोही अपने विकारस्वरूपको । क्रोध, मान, माया, लोभ इन विकारोसे तू प्रेम करता है । राग मे राग होनेमे ही तू अपना महत्त्व समझता है ।

(१६८) **विकार शत्रुवोसे हट कर शाश्वत शरण्य सहज स्वतत्त्वमें रुचि करनेका कर्तव्य**—राग भी खोटा होता है, ज्ञान जग जानेपर भी कुछ काल तक राग चलता है, मगर ज्ञानी जीवको अपने राग परिणमनमे राग कभी नही होता । मोही, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव को अपने विकार परिणमनसे बडा प्रेम होता है । यह मैं हू । सो हे प्राणी जिसको तू अपना हितू समझता है वह तेरा वास्तवमे शत्रु है । तुझे सब तरहसे पीडा देने वाला कौन ? यह भीतरकी कल्पना, भीतरका विकार, भीतरका मोहविलास, यह तुझे पीडा देता है । यह निकृष्ट है और बडी कठिनतासे जीतने लायक है । यह सुगमतया नही जीता जा पा रहा । जीता तो जाता सुगमतया, जिसे मार्ग मिल गया उसे सब सुगम है, जिसको वह मार्ग नही मिल उसके लिए कठिन है । एक निज अतस्तत्त्वमे आपा माने, फिर यह सब सुगमतया जीत लिया जायगा, पर कोई कुमार्गपर तो चल रहा और उसे मान रहा कि मैं ठीक चल रहा हू तो उसका यह हठ इतना कठिन होता है कि उसे इस आग्रहका छोडना कठिन होता है और वह ससारमे रुलता है । ये विषय ही तेरे कठिन शत्रु हैं । तब तू अन्य जीवोमे वैर बुद्धिको त्याग दे और अपने इन विकारोको शत्रु समझकर विकारोसे हटनेके लिए तू अपना पौरुष कर ।

मैत्री सत्त्वेषु मोदं गुणवति करुणां क्लेशिते देहभाजि
मध्यस्थत्व प्रतीपे जिनवचसि रति निग्रह क्रोधयोधे ।
अक्षार्थेभ्यो निवृत्ति मृतिजननभवाद्भीतिमत्युद्दु खाद्
रे जीव त्व ! विधत्स्व च्युतनिखिलमले मोक्षसौख्येभिलाष ॥४२१॥

(१६९) **सर्व प्राणियोमे मैत्रीकी सद्भावना**—हे आत्मन् ! तू अपने कल्याणके लिए शाश्वत मोक्षका आनन्द पानेके लिए तू सद्भावनाको कर । सर्व प्राणियोमे मैत्री भाव कर । कहाँ तो यह चाहिए कि चाहे एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक कोई भी जीव हो सर्व जीवोमे उनके सहज चैतन्यस्वरूपको निरखना और इस नातेसे उनमे मैत्री भाव आना और कहाँ रागद्वेष मोहके वश होकर गुणीजनोसे भी विमुख होना, घृणा होना और अपने आपमे अहकार लाना। एक ऊँची स्थिति पाकर भी यदि विकल्पका काम चल रहा है तो इतना कठिन विकल्प होगा कि फिर सुलटना बडा कठिन होगा । करणानुयोगमे बताया है कि यह जीव त्रस पर्यायमे आता है तो कुछ अधिक दो हजार सागर तकके लिए आता है, इसके बाद फिर त्रस पर्याय नही रहती । इसके बाद नियमसे स्थावरोमे जन्म लेना होता है । जीवनका एक एक क्षण कीमती है । जिसमे परिणामोकी सावधानी रखना परिणामोको नम्र, क्षमाशील कपट रहित

सही रखना अन्यथा इतने ऊँचे स्थानसे गिरकर उसकी बहुत ही खोटी अवस्था प्राप्त होगी। तो देखो सर्व जीवोंमे तू मैत्री भाव रख, अपने पर करुणा कर, बाहरमे कुछ मत समझ, मत देख। न बाहरका कोई सकोच बना, अपने आप पर दया करके जो अपने योग्य पंथ है, मार्ग है आत्ममार्ग उस मार्गके अनुसार प्रवृत्ति कर। सबसे पहली विजय यह है कि प्रत्येक जीवमें मेरे सहज स्वरूपका दर्शन हो। जैसे अन्य लोग कहते है कि घट घटमे भगवान बसा है, उनके घट घट तो समस्त पदार्थ है पर यहाँ हम आपका घट घट जीव पदार्थ है। समस्त जीवोमे वह भगवत् स्वरूप बसा हुआ है। अपने सत्त्वके कारण अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वयं सहज किस रूप है उस रूपके सर्व प्राणियोमे दर्शन करें। इससे लाभ यह होगा कि शत्रुता और मित्रता इन दोनोकी कल्पना दूर हो जायगी और सहज विरक्ति जगेगी। सर्व जीवोमे मित्रता करें अर्थात् किसी भी जीवके दुःखकी भावना मत करें। सर्व जीव अपना स्वरूप प्राप्त करें। एक चादरकी ओटमे ही बड़े समुद्रका अवगाह रुक गया, ऐसे ही एक स्व परके विभ्रमकी ओटमे इस आनन्दधाम भगवान अतस्तत्त्वका अनुभवरूप अवगाह रुक गया। स्वरूपदृष्टि करें और स्वरूपदृष्टि करनेका पात्र तब ही हो पायगा जब कि कषाये मद हो। कुछ थोडा विवेक हो, जैन शासनके अनुसार आचरण वृत्ति चलनेका प्रयास हो, ऐसे योग्य आत्मामे वह दृष्टि जगती है जिससे सहज स्वरूपका दर्शन होता है। तो हे मुक्ति सुख चाहने वाले पुरुष सर्व जीवोमे मित्रताका प्रयोग कर।

(२००) **गुणवंतोंमें प्रमोदकी सद्भावना**—हे मोक्षाभिलाषी आत्मन्, गुणवानोका आदर कर। मनुष्योमे एक बडी दुर्बलता यह होती है प्रकृत्या कि वे अपनेको यह मान बैठते है कि मैं जो समझता हू बस समझ वही है और अन्य जीवोमे शायद यह भी नही समझ पाता कि इसमे भी ज्ञानस्वरूप है। वह समझता है कि अगर यह जान रहा है तो कुछ उधार जान रहा है, एक ऐसी अहकारकी वृत्तिकी दुर्बलता मनुष्योमे प्रकृत्या होती है और इस त्रुटिके कारण वे गुणवंतोके प्रति आदरभाव नही रख सकते। उसका फल यह होता है कि दर्शनमोहका तीव्र बन्ध होता है और संसारके जन्म मरणकी परिपाटी लम्बी हो जाती है। हितके लिए तो यह प्रकृति बनना चाहिए कि अपनेमे अपनी कमी देखे, दोष देखें ताकि घमंड न आये और उन दोषोको दूर करनेका मनमे भाव जगे। यदि कोई ज्ञानी पुरुष है, सम्यग्दृष्टि है, चतुर्थ गुणस्थानमे है तो अपने अविरत भावके प्रति उसे खेद है, अविरत भावको दूर करनेका निरन्तर भाव रहता है और उसे अपनी यह अविरत त्रुटि नजर आती है और कोई अज्ञानी है तो अपनेमे ज्ञानकी, सम्यक्त्वकी कल्पना बनाकर अविरत भावकी ओरसे तो कुछ कल्पना ही नही जगती। दूसरोके व्रत महाव्रत आदिकको विष देखता है मगर अपने अविरत

भावकी मोहविषता उसकी नजरमे भी नही आती और कल्पित अपनेमें बुद्धि बनाकर अहंकार करता है। तब ही तो बताया है कि ज्ञानी वही है जिसके सयमके लिए एक भीतर छटापटी का भाव रहता है। मैं कब सयम पालूं, कब आत्ममग्न रहू, यह बुद्धि उनके ही जग सकती है जिनको गुणवंतोमे प्रमोदकी भावना है और अपने आपमे अहकार नही जगता। सो हे मुक्तिसुखके इच्छुक तू गुणवानोमे प्रेम कर। कदाचित् कोई न हो गुणवान सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सयमी और उसके बाह्य रूपसे और अपनी एक भक्ति परिपाटीसे उनमे प्रमोद जगे तो उससे हानि नही है, किन्तु किसी ज्ञानीकी आसादना हो जाय तो उससे विकट हानि है। अतः सावधान रह और गुणवतोके प्रति प्रमोद रख। दूसरोमे क्यो नही गुणका दर्शन होता? उसका कारण यह है कि स्वयमे गुणोके प्रति प्रेम नही, किन्तु विकारके प्रति दोषके प्रति प्रेम है, जिसको दोषकी प्रकृति रहती है जिसको दोषका आदर रहता है उसे अन्यत्र तुरन्त पहले दोष ही नजर आते हैं, जिसको गुणोसे प्रेम रहता है, अपने गुणोमे रुचि रहती है उसको अन्यत्र प्रथम गुणके दर्शन होते हैं। तो हे मुक्तिसुखके इच्छुक पुरुष इस जगतमे कोई किसीका सहाय नही, अपने आपपर स्वयं करुणा करनी होगी और अपने आपमे अपना पौरुष जगाना सोगा। तू गुणप्रेम कर। गुणीजनोका आदर कर, उनमे प्रमोदभाव कर।

(२०१) दुःखी जनोमें कारुण्यकी तथा विपरीतवृत्तियोमे माध्यस्थ्यकी सद्भावना—हे सुखेच्छुक! जो रागादिकसे पीड़ित है, किसी भी कारण दुःखी हैं उन दुःखी जीवोमे करुणा भाव कर। तेरेमे सामर्थ्य है कि अपने किसी पौरुषसे उसके सकटके दूर करनेमें हम सहयोग दे सकते है और फिर भी तू उनपर दया नही करता है, क्रूर परिणाम रखता है तो उस रौद्रध्यानका फल कोई दूसरा भोगने न आयगा। तू दुःखी जीवोपर दया कर। चौथी बात—शत्रुवोमे, अज्ञानियोमे, विरोधियोंमे जिन्हे मान रखा कि ये विपरीत वृत्ति वाले हैं उनमे मध्यस्थ भाव रख, क्योकि विपरीत वृत्ति वाले अर्थात् दुष्ट लोगोमे यदि राग करे तो आपत्ति, द्वेष करे तो आपत्ति। तो जो दुष्ट जन है उनमे तू मध्यस्थ भाव रख, उनसे शत्रुता मत कर, उनसे बदला लेनेकी भावना मत रख। जान ले कि परवस्तु हैं, ऐसा परिणमन है, उनमे मध्यस्थ भाव रख।

(२०२) जिनोपदिष्टतत्त्वश्रद्धान, क्रोधपरिहार व भोगपरिहारकी सद्भावना—५वी बात—जिनेन्द्रभगवानके वचनोपर श्रद्धा कर। प्रभुने क्या उपदेश दिया। कैसे आत्मदृष्टि करना, कैसे कषायोपर विजय करना, कैसे अन्य पदार्थोंकी उपेक्षा करना। जो उपाय बताये गए हैं उन उपायोका श्रद्धान कर और शक्ति न छुपाकर उन उपायोपर चल। छठवी बात—क्रोधरूपी योद्धावोके शत्रुवो के निग्रह करनेमे लवलीन हो। क्रोध परिणति, जरासी प्रतिकूल

बात किसीकी दिखी तो झट चित्तमें क्रोध भर आता है। ऐसे कायर जन आत्मकल्याण कैसे कर सकते हैं ? तो क्रोधका निग्रह कर। ७वी बात--इन्द्रियभोगोंसे सर्वथा दूर रह। कामसेवन किया, स्पर्शनइन्द्रियका सुख लिया तो कौनसा लाभ पा लिया ? बहुत बडी अवस्थामें पहलेके किए हुए अपराधोंपर पछतावा होता है। किसी पुरुषको तो अत्यन्त बुढापा होनेपर भी पछतावा नही होता, बल्कि उनका स्मरण करके भीतर मौज मानता है। अनेक प्रकारके पुरुष है जो बुढापेमें भी पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण कर मौज मानते है। शान समझते हैं और दूसरोंको जताते है कि हमने ऐसे ऐसे सुख भोगे, वे तो बहुत हीन नम्बर बाले व्यक्ति हैं, उनसे अच्छे तो वे हैं जो अपने भोगे गये भोगोंपर, अपराधोंपर पछतावा करते है कि हमने व्यर्थ समय खोया, और सबसे भले वे है कि अपनी जवानीके समय भी उन सब अपराधोंसे दूर रहनेकी भावना रखते हैं और उनसे भले वे है जो बचपनमे ही उन सबसे दूर रहनेकी भावना रखकर शुद्ध आचरण वाले बन जाते हैं।

(२०३) **भोगासक्तोंका एक चित्रण**—वेदान्तकी जागदीशी टीकामे एक छोटासा दृष्टान्त दिया है कि एक भगिन मलका टोकना लिए जा रही थी, बाजारमे से निकली, तो एक सज्जनने उसको बहुत बढ़िया सफेद चमकीला तौलिया दिया और कहा कि तू इस तौलियासे ढाक ले, इस मलको देखकर बहुतसे लोगोंको कष्ट होता है, सो उसने उस चमकीले, साफ तौलियासे ढाक दिया मलके टोकनेको। अब उसे देखकर उसके पीछे तीन व्यक्ति लग गए। तो भंगिनने पूछा--आप लोग मेरे पीछे क्यों लगे है ? तो वे बोले--हम लोग देखना चाहते हैं कि तुम इस टोकनेमे क्या लिए जा रही हो ? तो भगिन बोली—मल है इस टोकनेमे। तो मलका नाम सुनकर उनमेसे एक व्यक्ति वापिस हो गया, दो व्यक्ति अभी भी पीछे लगे रहे। फिर भगिनने पूछा--आप लोग अभी भी पीछे क्यो लगे है ? तो वे बोले--हमे तुम्हारी बातपर विश्वास नही होता, तुम झूठ बोलती हो। हमे तो खोलकर दिखाओ तब विश्वास होगा। सो भगिनने तौलिया उघाड़ दिया, सो मल देखकर उन दो मे से एक व्यक्ति वापिस लौट गया। उस तीसरे व्यक्तिको अभी भी विश्वास न हुआ, वह फिर भी भंगिनके पीछे लगा रहा। भंगिनने फिर पूछा—भाई अभी भी तुम मेरे पीछे क्यो लगे हो ? तो वह व्यक्ति बोला--हम तो जब सूंघ सांघकर अच्छी तरह परीक्षा करके समझ लेंगे तब विश्वास होगा, तभी वापिस लौटेंगे। आखिर भगिनने टोकना उघाड़कर रख दिया, उसने भली-भांति सूंघ-सांघकर परीक्षा कर लिया तब वापिस लौटा। तो ऐसे ही समझो कि कुछ लोग ऐसे होते कि जरासे उपदेशमे, निर्देशमे विषयभोगोका परिहार करते है, कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उनको देख-भालनेके बाद छोड़ते हैं और कुछ ऐसे मोही होते हैं कि उस ही की चिन्तामें

रहेगे, छोडेंगे कभी नही । ये विषय तेरे शत्रु है, इनमे प्यार न रख, प्रीति कर तो अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, धर्मपालनमे, आत्मस्वरूपके निरखनेमे । और उसमे उपयोग रमा-कर तृप्त रहनेमे तू अपना पौरुष कर ।

(२०४) **जन्ममरणव्याप्त संसरणसे निवृत्त होने व शाश्वत मोक्षका आनन्द पानेकी सद्भावना**—हे आत्महितैषी, अब तो दुःख देने वाले जन्म, जरा, मरणसे भयभीत हो । देख तुझे यदि जन्म चाहिये तो उसका सबसे सुगम उपाय है कि इस शरीरको मानता रह कि यह मैं हू । बस तुझे खूब जन्म मिलते रहेगे । जरा और मरण प्राप्त करते रहनेकी भी यही विधि है कि खूब इस शरीरको आपा मान कि यह ही मैं सर्वस्व हू, बस तुझे खूब जीवन मिलेंगे, अनेक जन्म मिलेंगे । सो जरा सोच तो सही कि जन्म ले लेकर तूने क्या नफा पाया ? कष्ट ही कष्ट पाया । जन्मते समयका कष्ट, मरते समयका कष्ट और जन्ममरणके बीचमे जितनीसी जिन्दगी मिलती है उसमे नाना तरहके कष्ट, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, नाना वेदनायें, नाना आशायें करके नाना कल्पनायें करके कष्ट पाता है । सो अब तू जन्म जरा मरण आदिकसे भयभीत हो अर्थात् उनसे दूर होनेके लिए शरीरसे उपेक्षा कर । ६वी बात—अन्तिम बात यह है कि कर्ममलरहित पवित्र नित्य शाश्वत सुखके प्राप्त करनेकी अभिलाषा रख । यह पूर्ण निर्णय बना कि मुझे तो शरीररहित केवल स्वरूपमात्र रहनेकी स्थिति प्राप्त हो और इसके लिए इसी समय शरीरसे निराले ज्ञानमात्र अपने अंतःस्वरूपकी उपासना कर ।

> कर्मानिष्ट विधत्ते भवति परवशो लज्जते नो जनानां
> धर्माधर्मौ न वेत्ति त्यजति गुरुकुल सेवते नीचलोक ।
> भूत्वा प्राज्ञः कुलीनः प्रथितपृथुगुणो माननीयो बुधोपि
> ग्रस्तो येनात्र देही तुद मदनरिपु जीव ! त दुःखदक्षं ॥४२२॥

(२१५) **कामविषयकी अतिनिन्द्यता**—आत्मस्वरूपका बोध न होनेसे इस जीवके इन्द्रियविषयोमे प्रीति अनादिसे चली आ रही है । शरीरको माना कि यह मैं हू और इन्द्रिय द्वारा ज्ञान हो सक रहा है, परोक्षज्ञानकी यही विधि है, जाननहार तो आत्मा है, पर जैसे किसी कमरेमे बन्द पुरुष खिड़कियो द्वारा ही देख सकता है ऐसे ही इस बन्धनमे बद्ध जीव इन इन्द्रियो द्वारा ही जान सकता है । सो इस जीवको इन्द्रियोमे प्रीति होना प्राकृतिक बात है । सो यह जीव इन्द्रिय विषयोमे आसक्त हो रहा है, इसे सहज आनन्दके धाम निज स्वरूप की सुध ही नही है और आनन्द पानेका इसका व्रत है, सो आनन्द यह जरूर पायेगा, चाहेगा, चाहे विकृत हो, चाहे शुद्ध हो । तो यह इन्द्रियविषयोसे इन्द्रियकी सेवाके लिए प्रीति कर रहा है और उन विषयोके दुःखमे दक्ष विषय है कामविषय । जो अन्य विषयोकी अपेक्षा

बहुत ही बेकार है। विषय सभी बेकार हैं, पर खाना पडता है, संयमका साधनभूत शरीरकी रक्षा करनी होती है, खाना जरूरी हो गया जीवन रखनेके लिए। एक सही वातावरण भी चाहिये नही तो यह शरीर मुर्झा जायगा, तो थोड़ा गंधका वातावरण भी जीवनके लिए उपयोगी है। नेत्र सदा काम करते रहते हैं। हाँ पलक बन्द कर लो तो न करेंगे काम, देखते तो रहते ना, इन नेत्रोसे हम स्वाध्याय करें, सत्संग करें, गुरुदर्शन करें, प्रतिबिम्बदर्शन करें, हम कई कामोंमे इनका उपयोग कर सकते है। अच्छा कर्णेन्द्रियकी भी बात देख लो—प्रवचन सुनना, जिनवाणी सुनना, उपदेश सुनना, यो बहुतसे कामोमे इन कानोका उपयोग कर सकते है, पर स्पर्शनइन्द्रियका उपयोग तो बताओ और क्या हो सकता ? उसमे कामसाधनकी बात कह रहे, इन इन्द्रियविषयोमे रसनादिके विषयोको तो हम कुछ ठीक उपयोग भी बना सकते, पर इस कामविषयक जो विषय है उसका उपयोग कोई नही बन सकता। इतना गंदा अपवित्र अहितकारक यह विषय है, जिसके विचारसे खोटा बध, जिसके आरम्भमे खोटा बन्ध, जिसके प्रयोगमे खोटा बंध।

(२०६) **कामवशी जीवोंकी अयोग्य कार्य करनेमें निर्लज्जता व विवेकशून्यता**—हे प्राणी सबसे प्रबल शत्रु तेरा है काम जिसके कारण कुछ बडा बन जानेपर भी विद्वान्, कुलीन, गुणी, सम्माननीय होनेपर भी अनिष्ट कार्योंको कर डालता है। कैसा यह भूत है कि देवोका भूत फिर भी अच्छा, पर अपने आपमे जो कामविषयक भूत है वह कितना विनाशकारी है कि बुद्धिको बिगाड़ दे और अनिष्ट कार्योंको करा दे। और कामके वश होकर यह जीव ऐसा पराधीन हो जाता कि इसको तनिक भी लज्जा नही आती। जो कामके वशीभूत है अनेक लोग उनको कोई तिरस्कारपूर्व वचन भी सुना देता है, वे परोक्ष भी सुन लेते है पर वे कामासक्त जन अपने आग्रहको नही छोड पाते। कैसा विवश है यह जीव अज्ञानके कारण। अज्ञान मोह जैसी कोई विपदा नही। जिसको परिचय न हो पदार्थोंका उसपर बड़ी विपदा है। चूंकि जगतमें हम आप रहते है, कर्मके वातावरणमे रहते हैं तो हमको सर्वतोमुखी ज्ञान चाहिए तब हम आत्माके स्वरूपकी आराधना कर सकते है। जिनसे हमे हटना है उनका परिचय करते नही है सही, सो हटनेका प्रयोग न बन पायगा, सो अनात्म तत्त्वोका भी विधिवत् परिचय चाहिये। कार्य यह होगा फिर कि अनात्मतत्त्वसे हटना आत्मतत्त्वमे लगना, पर इस विधिके लिए हमे सर्व प्रकारसे ज्ञान चाहिए, और ज्ञान बढ़ता जाय वह लाभ ही देगा। तो यथार्थ ज्ञान बिना इस जीवके इन्द्रिय विषयोमे आसक्ति बन जाती है और उनमे प्रधान है स्पर्शनइन्द्रियका विषय। सो इसके वश होकर लोग निर्लज्ज होते हैं, अनिष्ट कार्य कर डालते हैं। कामी पुरुषके धर्म अधर्मका विचार नही रहता है, मानो उसके दिमागमे कीड़ा

नाचने लगता है। बुद्धि व्यवस्थित नही रह पाती।

(२०७) निष्काम अन्तस्तत्त्वकी भावनासे कामादि विकारोंका शमन—कामव्याधिसे निवृत्त होनेके लिए मौलिक उपाय निष्काम अविकार अंतस्तत्त्वका अनुभव है। आत्मभक्तिमे कोई कोई चरण है ऐसा जिनका अर्थ सबको विदित नही हो पाता। उनमे एक चरण यह भी है— "सर्वगत आत्मगत रत न, नाही विरत, ब्रह्मप्यारे।" यहाँ आत्मस्वरूपके चार विशेषण दिए गए है—यह आत्मस्वभाव ऐसा है कि जैसा स्वभाव है वैसा विकास हो जाय तो यह सर्वगत हो जाता है। अर्थात् ज्ञानद्वारा लोकालोक सबमे पहुच जाता है। सर्वज्ञ होकर, लेकिन सर्वथा एकान्ततः यह न समझना, वह आत्मगत है सदैव यह बहुत आत्मस्वरूप आत्म-प्रदेशोमे ही रहता है। सर्वज्ञदेव सब जगह जा जाकर नही जानते, किन्तु अपने स्वरूपमे ही लीन रहकर जानते है, आत्मप्रदेशोमे ही यह ज्ञान अपनी ऐसी परिणतिसे परिणम रहा है कि जिसमे सर्व सत् ज्ञेय हो रहे सो आत्मगत। रत न, आत्म-स्वरूप रागी नही है इसका स्वरूप है जानना। देखिये वर्तमानमे ऐसी बात है उस मुझमे विकार तो है पर मेरे स्वरूपमे विकार नही। जैसे पानी गरम है तो गर्मी पानीमे तो है पर गर्मी पानीके स्वभावमे नही है। जैसे यह बात खूब समझमे आ जाती, यद्यपि पानीका स्व-भाव ठडा नही है, न गर्म है, वह कोई द्रव्य भी नही है पर दृष्टान्त एकदेश होता है, यह बात भली-भाँति समझमे आ जाती है, पानीमे गर्मी है, पानीके स्वभावमे गर्मी नही। हाँ कोई उस गर्म पानीको पी ले तो स्वभावकी मेहरबानी वहाँ प्रयोगमे न आयगी, पर्यायकी मेहरबानी प्रयोगमे आयगी याने गरम पानीको पीनेसे स्वभाव ठडा है इस कारण जीभ न जले सो बात न बनेगी याने जीभ जल जायगी। सो परिणतिकी ओरसे तो मुझमे सब प्रदेशोमे विकार बन रहे है पर स्वरूपमे विकार नही। जो अपने आपके सत्त्वसे है जो सत्त्वमे है वह है मात्र चेतना। अब उसमे राग है तो यह नैमित्तिक है इसलिए स्वरूपमे नही, पानीमे गर्मी है वह नैमित्तिक है इसलिए गर्मी पानीका स्वभाव नही। नैमित्तिकताके परिचयकी बडी मेह-रबानी है कि आश्रयभूतसे उपेक्षा हो जाय, नैमित्तिकसे उपेक्षा हो जाय, निमित्तसे उपेक्षा हो जाय और स्वभावकी अभिमुखता हो जाय। तो ये सब विकार नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूपमे नही हैं। सो अविकार स्वरूपकी आराधनाके प्रतापसे इन निमित्तोमे छटनी बनेगी, स्वय सहज और यह नैमित्तिक भी गायब हो जायगा। सहज आत्मस्वरूपके आलम्बनका ऐसा चमत्कार है कि यह जीव जैसा सही है वैसा ही विकसित हो जाय।

(२०८) कामादिविकारोसे हट कर अविकार स्वभावमे लीन होकर शाश्वत शान्ति पानेके लिये आचार्य द्वारा जीवोको संबोधन—यहाँ जीवोको सम्बोधन किया है कि यह काम

भाव बडा अनर्थकारी भाव है। कामके वशीभूत होकर यह जीव गुरुजनोंकी संगति छोड़कर नीचोकी प्रीति करने लगता है। विकारी पुरुषोंको गुरुजन न जचेंगे ठीक, उनको तो आसक्त, व्यमोही, अविरती, परिग्रही, विषयव्यामोही पुरुष ही भले जचेंगे और कदाचित् उनसे यह उपदेश मिल जाय कि तुम ज्ञानकी बात मुखसे बोल लो, तुमको सब छुट्टी है, तुम मोक्षमें जावोगे, कुछ करनेकी आवश्यकता नही। तो जैसी प्रकृति अनादिमे पड़ी है उसी प्रकृतिको पोषने वाले वचन मिल जायें तब तो और भी अच्छा लगेगा। इसे गुरुजनोकी, विरक्तजनोंकी सगति नही सुहाती, कामी पुरुष तो प्रकट ही नीच लोगोका सहवास करेंगे। नीच मायने व्यामोही आसक्त कामप्रेमी। उनकी संगतिमे जायगा। सो हे भाई सर्वप्रथम तू कामको तो जीत। ब्रह्मचर्यके मायने क्या है ? स्पर्शनइन्द्रियके विषयोको जीतेगा, कामको जीतेगा। सिर्फ इसीके मायने ब्रह्मचर्य नही है। ब्रह्मचर्यका शुद्ध अर्थ है—अविकार ब्रह्मस्वरूपमे लीन होना। तो इसका अर्थ यह है कि सर्व विषयोसे हटकर केवल अविकार चित्स्वरूपमे रमना, इसे ब्रह्मचर्य कहते है, लेकिन यह बात सोचिये कि प्रसिद्धि इसीकी क्यो हुई ? स्पर्शनइन्द्रियके विषयों पर विजय करनेको ब्रह्मचर्य कहते है। प्रसिद्धि ऐसी है ना ? रसना इन्द्रियके विजयमें ब्रह्मचर्यको प्रसिद्धि नही। अन्य इन्द्रियके विषयके विजयसे ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि नही। एक काम वासना स्पर्शनइन्द्रियके विजयमें ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि है। इसका कारण यह है कि सर्वविषयों मे गदा, अपवित्र, घातक, किसी भी अपेक्षामें इस जीवका भला न करने वाला, कभी भी हितके उपयोगमें न आने वाला विषय है यह काम, इसलिए इसके त्यागमे ब्रह्मचर्यकी प्रसिद्धि हुई, सो हे हितार्थी पुरुष सर्व प्रथम इस काम पर विजय कर।

रागाद्युक्तोपि देवोतरतदितररजः ग्रंथशक्तोपि साधु—
जींवध्नोसोपि धर्मस्तनुविभव सुखं स्थाष्णु मे सर्व देति।
ससारापातहेतुं मतिगतिदुरितं कार्यते येन जीव—
स्त मोहं मर्दय त्वं यदि सुखमतुलं वांछसि व्यक्तबाधं ॥४२३॥

(२०६) **जीवका मौलिक व्यामोह**—हे आत्मन् ! यदि तू अनन्त निर्बाध शाश्वत सुख की चाह करता है तो तू मोहरूपी प्रबलशत्रुका मर्दन कर। व्यामोह जिसका जिस और मूड गया, जिसमे अपना माहात्म्य समझने लगा बस उसका उपयोग उस ही का आग्रह कर बैठता है। इसीको कहते है व्यामोह। विवेक जहाँ नही जानता किन्तु अपनी पसंदगी ही जच रही है, ऐसी विवेक रहित पसंदप्रियताको व्यामोह कहते हैं। मोह मूलमे यह है कि यह जीव विकारभाव और स्वभावमे अन्तर नही जान पाता और विकारभावमे हो इसका राग मोह बना रहता है, अन्तर नही जान पाता और विकारभावमे ही इसका राग मोह बना रहता है। जैसे दर्पणमे होने वाले फोटोमे और दर्पणके कांचके भीतरकी स्वच्छतामे अन्तर लोग समझते हैं

ग्रौर इसी कारण उसका सही प्रयोग बना लेते है ऐसे ही विकारभावमे ग्रौर ग्रात्माके सहज स्वभावमे ग्रन्तर जानता है ज्ञानी । जैसे यहाँ हर कोई समझना है कि यह फोटो दर्पणकी निजी प्रकृति नही है, स्वभाव नही है, स्वच्छता नही है, दर्पणकी निजी चीज नही है, फोटो दर्पणमे है फिर भी दर्पणकी निजकी चीज नही, क्योकि वह जानता है कि फोटो परभाव है, नैमित्तिक है, परकी प्रसग पाकर हुई है, इसलिए यह दर्पणकी निजकी चीज नहीं है । ज्ञानी भी जानता है कि यह विकार कर्मग्रनुभागकी छाया है, नैमित्तिक है, परभाव है, विनश्वर है, पराधीन है, यह मेरा स्वभाव नही है । मेरी ग्रनादि ग्रनन्त स्वच्छता, चेतना, चित्शक्ति जो प्रकट तो कभी हुई नही, पर ग्रन्तः प्रकाशमान है । कैसी समस्या है कि जरासे शब्दोका सही प्रयोग न होने पर लोग भ्रममे पड़ जाते हैं । सही-सही प्रकार शब्दोसे चलें तो भ्रम होनेका ग्रवसर नही हो सकता । तो यह मोह ग्रपनी सुध नही ग्रौर जो मुझपर परभाव लद गया उसको ग्रपना डाला, इसे कहते है मूल मोह । ग्रब इसके कारण बाह्य वस्तुवोमे भी मोह ग्रज्ञान यह सव चलता है । तो इस मोहको यदि दूर करना है तो विकारका ग्रौर स्वभावका ग्रन्तर जान । बाह्य पदार्थका ग्रौर निज ग्रात्मतत्त्वका स्वतन्त्र सत्त्व पहिचान । मोह मिटेगा जिसका उसकी पीडा मिटेगी ।

(२१०) **मोहकी विचित्र लीलायें**—इस मोहका मिटना बडा कठिन है, पर जिसको दृष्टि मिल गई उसके लिए बडा सुगम है । मोहकी कैसी विचित्र लीला है कि यह मोही शरीर में मोह वनाता है ग्रौर घर्मका कोई कार्य करे जिसे प्रायः लोग करते है—स्वाध्याय, पूजा, ज्ञानवार्ता, चर्चा करना, उन चेष्टावोको करते हुए उन चेष्टावोको जो भीतर सर्वस्व समझ लेता है ग्रौर उससे ग्रपनेको महान् भाग्यशाली, मैं समझदार हू, विवेकी हू इस प्रकारकी बुद्धि ग्रा जाना यह कितनी इस मोहकी लीला है । तो मोहका तजना बडी पैनी ग्रन्तर्दृष्टिसे हो पाता है ग्रौर यहाँ एक स्थूल रूपसे सम्बोधन किया है कि तू मोहरूपी प्रबल शत्रुका नाश कर ग्रर्थात् जो व्यासंग लगा है, बाह्य पदार्थोंका निबंध बना है उसका तू त्याग कर, जिसके वशीभूत होकर तू रागद्वेषयुक्तको भी देव मानता है ग्रौर उसके तालसे तारीफ भी करता है । तूने उसको सुखी किया, उसको तारा, उसको दर्शन दिया । रागद्वेषमय चारित्र बनाकर देवकी भक्ति करता है । तेरी बडी लीला है, तेरी महिमा ग्रपरपार है, तेरी महिमा कोई जान नही सकता, तूने दही, मक्खन चुराया था, तू कामिनियोके बीच रहता था, तूने ग्रमुकका चीर हरा था,.... ग्रादि ग्रनेक रूपसे प्रभुकी लीलायें मानी जाती है । रागद्वेषसे दूषित ग्रात्माको तो यह मोही जीव देव मानता है ग्रौर परिग्रहसे युक्तको गुरु मानता है । इसकी दृष्टिमे यह नही रह पाता कि जो बाह्य ग्राभ्यंतर परिग्रहरहित है, निर्ग्रन्थ है वह ही गुरु हो सकता है, यह इसकी दृष्टि मे नही रह पाता, क्योकि व्यामोह लगा है । ग्रपने ग्रापकी जो संसारकी पसंदगी है उसमे

इसके व्यामोह लगा है इसलिए यह परिग्रहसहितको गुरु मानता है । यह मोहकी लीला है, और जो आत्माका विनाशक है, धर्मका नाशक है, जीवोंका विघात करने वाला है तो ऐसे उपदेशको यह धर्म मानता है । ऐसी प्रवृत्तिको यह धर्म मानता है । यह मोहकी लीला बतायी जा रही है ।

(२११) शाश्वत आनन्द पानेका बाधक अनित्य असार सुखोंमें आसक्त व्यामोह— अनित्य सुखको यह मोही शाश्वत सुख मानता है । अभी किसी बूढे व्यक्तिसे पूछा जाय कि भाई तुम कैसे हो ? तो वह कहेगा कि बडा मौज है, खूब हरे भरे है, अनेक लडके है, अनेक नाती पोते है, बीसो लोगोंका परिवार है, बडी भारी जायदाद है, आरामके सब प्रकारके साधन हैं, बडा मौज है····। अरे उस आत्माको कहाँ मौज ? किसीकी बात किसीमें लपेट रहा है, और अपनी खबर नही है कि हमारे मरनेके दिन आ रहे है । तो यह अनित्य सुख को, दुःखस्वरूप सुखको सुख मानता है, यह ही तो व्यामोह हैं, जिसके कारण यह जीव संसार समुद्रमे गोते खायगा । भोग तजना शूरोका काम, भोग भोगना बडा आसान । वीरता है भोगोके तजनेमे । कायरता है भोगोके भोगनेमे । एक जीवनमें 'यह ही एक बात बना ले कि जो जीवनके लिए, जिन्दा रहनेके लिए आवश्यक है, उसे तो करना पड़ता है पर अनावश्यक व्यर्थके विषयोमे मैं न पडूँगा । एक इतना ही बोध बना लें । जैसे बहुत रसीले व्यञ्जन बन रहे हैं, बडा एक भडार बनाया जा रहा है, अनेक प्रकारके आरामके साधन बनाये जा रहे है । अरे इससे तेरेको क्या मिलेगा ? अगर पुण्यका उदय है और यह धन अटूट आ ही पड़ता है तो तू मध्यम या साधारण जनोकी भाँति सात्त्विक वृत्तिसे रह और पाये हुए द्रव्यका उपयोग कर, परके उपकारमे लग । अपने आराम और भोगोकी वृद्धिमे मत पड । यह तो है विवेक । और मानो आज धन मिला है तो जितनी दुःख और सुखकी बात बनेगी उतनी ही मलिनता बढती चली जायगी और सात्त्विक वृत्तिसे रहेगे और आये हुए द्रव्यका उपयोग पर के उपकारके लिए करेंगे तो संतोष मिलेगा, सत्कार मिलेगा और सन्मार्ग मिलेगा । भोगनेके जीवन न समझिये किन्तु आत्मदृष्टि बनाये रखनेके लिए इस जीवनका उपयोग करिये । जिसका ध्येय सही बन जाय वह सदाचारसे, संयमसे रहेगा, गुणी जनोका सम्मान रखेगा, अपने आपमे नम्रताका भाव रहेगा, अहंकार फटकने न पायगा । तो जगतमें दुःखमयी स्थिति है और करेगे विषयकषायोके ओटपाये तो इसका शरण कोई नही है । खुद ही खुदका शरण है इसलिए सात्त्विक वृत्तिसे रहना, सयत आचरणसे रहना और अहङ्कारको तजना, गुणीजनों का मनमे विनयभाव रखना, यदि ऐसी वृत्ति चलेगी तब तो मिल जायगा उद्धारका अवसर' अन्यथा संसारमे जन्म मरण करते रहना ही हमारी करतूतका फल रहेगा ।

तोव्रत्रासप्रदायिप्रभवमृतिजराश्वापदव्रातपाते
दुःखोर्वीजप्रपंचे भवगहनवनेनेकयोन्यद्रिरौद्रे ।
भ्राम्यन्प्राप्यापि नृत्वं कथमपि शमतः कर्मणो दुष्कृतस्य
नो चेद्धर्मं करोषि स्थिरपरमधिया वंचितस्त्वं तदात्मन् ॥४२४॥

(२१२) **वर्तमान उपलब्धि और परिस्थितिपर ध्यान देनेका सुझाव**—हे आत्मन् ! कुछ अपनी वर्तमान पायी हुई उपलब्धियोका तो विचार कर । यह मैं जीव अनादि कालसे भव-भवमे भटकता चला आया। उसके साथ सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर ये दोनो लगे चले आ रहे हैं । सूक्ष्म शरीरका तो एक क्षण भी अलगाव आज तक नही हुआ अनादिकालसे । इस स्थूल शरीरके मरणके बाद जन्मस्थान पर पहुचनेके लिए यदि मोडे वाली गतिसे जाना पडे तो एक समय, दो समय, तीन समय अधिकमे अधिक स्थूल शरीरका वियोग रहा । स्थूल शरीर मायने औदारिक और वैक्रियक शरीर । सूक्ष्मके मायने तैजस और कार्माण शरीर । तो सूक्ष्म शरीरका आज तक भी अनादिकालसे एक समयको भी वियोग न हो सका । वह लगा हुआ है । नया आना, पुराना खिरना यह तो बना है मगर उसकी धारा अब तक चली आयी है, तो वर्तमानकी खोटी परिस्थिति और उपलब्धि इन दोनो ही पर ध्यान दें ।

(२१३) **हमारी वर्तमान उपलब्धियां**—अबकी उपलब्धिपर ध्यान दें तो आज मनुष्य भव पाया है, उसमे भी अच्छे कुलमे जन्म हुआ है और उस पर भी शरीर स्वस्थ है । यो तो किसीका भी शरीर स्वस्थ नही, कोई न कोई रोग प्रत्येक शरीरमे मिलता है मगर काम चले, हमारे ज्ञान ध्यानकी वार्ता बनी रहे, इतनी स्वस्थता तो है ही । फिर इन्द्रियाँ भी सही हैं । बहिरे हो जायें, अंधे हो जायें तो उसमे बाधा है । हाँ ज्ञानी पुरुषोको तो बहिरे होनेमे भी बाधा नही, अंधे होनेमे भी बाधा नही, मगर जहाँ हमारी साधना प्रारम्भ हो रही है वहाँ तो इनकी आवश्यकता है । सो ये भी सही हैं । मन भी कुलीनताको लिए हुए है । समागम भी गुरुजनो का प्राप्त होता रहता है, कुछ बुद्धि भी सही है प्रतिभा भी है युक्तिकी भी समझ है, अनुभव भी बन सकता है, तो इतनी बडी उपलब्धियाँ हम आपको मिली हैं, ऐसी उपलब्धियोको पाकर यदि प्रमाद करेंगे, विषय कषायोमे चित्तको लगायेंगे तो इस संसारमे जन्ममरणकी परिपाटी ही बनायेंगे । देखो यहाँ जो दिख रहा है यह हमारा कुछ नही है । किसको अपनी शान बतानेके लिए तुम किसी आग्रहपर उतारू हो, इसका निर्णय तो बताइये । किसपर शान बनाते ? ये दिखने वाले जितने पुरुष हैं सब माया है, क्योकि ये सब असमानजातीय-द्रव्यपर्याय है । जहाँ मिलावट है माया कहा जाता है । जहाँ केवल है उसे परमार्थ कहा जाता

है। तो इस मायामय इन दृश्य देहियोंको आप अपनी शान बताना चाहते। मैं समझदार हूं, ज्ञानी हूं और इस जगतमे अपनी कोई पार्टी सी बनाकर इन्हे क्या दिखाना चाहते हो? न यह पार्टी संग रहेगी, न लोग संग रहेगे। एक अपने आपको अकेला तो अनुभव कर, और उस अकेलेके ही नाते तू समस्त जीवोसे मैत्रीभाव बना, यह तो है उद्धारका उपाय, बाकी कषायावेशमे जो मर्जी हो सो कीजिये, पर उससे कल्याण नही होता।

(२१४) **वर्तमान परिस्थिति और अपना कर्तव्य**—यह संसार अनेक विपत्तियोंसे भरा हुआ है। खुद पर ही क्या विपत्तियाँ है सो तो देख। जन्म लेगा वहाँ तीव्र त्रास होगा, मरण करेगा वहाँ भी त्रास होगा जो बीचकी जिन्दगी मिलेगी वहाँ भी नाना प्रकारके दुःख जाल है। केवल कभी कल्पनामे कुछ सुख मान लिया सो केवल कल्पनाकी ही बात है, सांसारिक सुख जितने है वे सब आकुलताके मूल पर खडे हुए है। उस सुखके साधनके लिए आकुलताकी, सुखके भोगनेके समय आकुलता हो रही। देख लो, ससारके जितने सुख हैं उनके भोगनेके समयमे यह जीव शान्त रहता है कि आकुलित रहता है? भली प्रकार परीक्षा करें तो सही उत्तर मिल जायगा तो जहाँ अनेक विपदायें भरी है ऐसे इस संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर करके आज तू इतनी उत्तम स्थितिमे आया है यह संसार महा बन है, अनेक दुःख रूपी वृक्षोंसे यह घनीभूत है। जहाँ अनेक योनियोंके पहाड़से यह बन महा भयंकर बना हुआ है, सो कैसे कैसे जन्म पाये तूने, सो यदि बहुतोंका तू स्मरण नही कर सकता तो जो पशु पक्षी कीड़ा मकोड़ा दिख रहे हैं इनका ही ध्यान धर ले कि ये ही तो पहले मैं भी था और अब यदि ठीक ठीक न चलेंगे तो ये ही फिर बनेंगे। यहाँ तो अहंकारमें चूर हो रहे, थोडा सा सुखसाधन मिला, ऐश्वर्य मिला ज्ञान मिला, बल मिला, प्रतिष्ठा मिली, उस पुण्यफलमे यहाँ अहकार कर रहे, पर इसके फलमे जब कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी बनेंगे तो फिर शान कहाँ रहेगी? यह झूठा शान झूठा गर्व है जिसमे बने रहते है, मुह फुलाये रहते है और अपने भीतर ही एक अपनेको सर्वाधिक मानते हैं। स्वरूपदृष्टि कर, सबको समान निरख। यदि यहाँ भी आत्महित न कर सके तो उसका फल इस संसारमे ही तो जन्म लेना रहेगा। तू जानता है कि यहाँ मै बडी चतुराईकी बाते कर रहा, पर यह ध्यान नही कि अपने आपको ही ठगे चले जा रहे है, और ऐसी दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर आपना सर्वस्व खोये जा रहे है। सो हे आत्मन्! अब तू प्रमाद न कर याने विषय कषायमे प्रेम मत कर और मोक्षमार्गमे अपनी प्रगति बना।

ज्ञानं तत्त्वप्रबोधो जिनवचनरुचिर्दर्शनं धूतदोषं
चारित्र पापमुक्तं त्रयमिदमुदितं मुक्तिहेतु प्रधत्स्व।

मुक्त्वा संसारहेतुत्रितयमपि पर निद्यबोधाद्यवद्य
रे रे जीवात्मवैरिन्नमितगतिसुखे चेत्तवेच्छास्ति पूते ।।४२५।।

(२१५) आत्मीय अनन्त आनन्द पानेका उपाय रत्नत्रयधर्मधारण—अपने आप अपना अहित करने वाले हे मोही जीव ! यदि तेरे आत्मीय अनन्त आनन्दके प्राप्त करनेकी इच्छा है तो तू सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको धारण कर । मोही कहना या मूढ कहना इन दो मे कुछ अन्तर है क्या ? मुह धातुसे ही तो मोह शब्द बनाया गया और मुह धातुसे ही मूढ शब्द बना, अर्थमे कोई अन्तर नही, मगर आपको मोही कहकर पुकारें और सम्बोधन करें तो उतना अधिक बुरा न मानेंगे और मूढ शब्द अगर कहे तो आप बुरा मान जायेंगे । अरे मोह और मूढ़मे फर्क क्या रहा ? व्याकरण वालोसे पूछ लो कि इन दो के अर्थ मे कोई फर्क है क्या ? उसीका नाम मोही है और उसीका ही नाम मूढ है, अन्तर कुछ नही है, पर मूढ शब्द क्यो नही सुनना चाहते ? मोही शब्द सुनकर तो अधिकसे अधिक इतना सोच लेंगे कि ठीक कह रहे, पर अधिक बुरा न मानेंगे और कितने ही लोग तो उसमे प्रशसा समझेंगे । अगर कहा जाय कि इनका बच्चा बढा अच्छा है, आज्ञाकारी है, सज्जन है और इनको बस बच्चेमे मोह है और कुछ नही, तो इतनी बात सुनकर वह खुश हो जायगा, समझेगा कि कोई बुरी बात नही कही जा रही । और अगर कहा जाय कि ये तो बच्चेमे मूढ बन रहे हैं तो यह सुनकर बुरा मान जायेंगे । अरे मोही और मूढ एक ही बात है । तो हे मूढ़ आत्मन् ! तू यदि वास्तविक आनन्द चाहता है तो रत्नत्रयका धारणका

(२१६) आत्महितकी धुनवालेका सर्वारम्भसे आत्महितमे प्रवर्तन—जब धनकी इच्छा और तृष्णा होती है तो उसके लिए आप सैकड़ो उपाय करते हैं और किसी उपायसे भूल होती है तो भी उस उपायको नही छोडते । ऐसे ही जिनको वास्तवमे रत्नत्रय धर्मसे प्रेम है वे इस के पालनके लिए अपने सभी पौरुष बनाते है । कहते हैं ना कि सर्व आरम्भ पूर्वक मोहके क्षयके लिए मै अब खड़ा हुआ हू । तब वह यह नही सोचता कि मेरे पहले सम्यग्दर्शन हो जाय फिर मै व्रत ग्रहण करूँगा । इस प्रकारकी वार्ता वचनालाप वह स्वयके लिए न करेगा । उस सम्यग्दर्शनकी कहाँ परीक्षा लेने जावोगे कि कोई यह कहे कि सम्यग्दृष्टि हो गया, तब व्रत शुरू करेंगे । अरे सम्यक्त्व चाहे न जगे, बादमे जग लेगा मगर अपने विवेकसे व्रत ले लिया, पापोका परित्याग ..र दिया तो वह तो अपने आपमे पवित्रताकी ओर बढ ही रहा है । वहाँ यह निरीक्षण करना यह एक बहाना है, छल कहलाता है । एक साधारणतया हम चल रहे हैं, श्रद्धा है, जान रहे है तो आत्मकृपालु सर्व कुछ त्याग करनेको तैयार रहता है, सम्यक्त्व साथ है, तो मोक्षमार्गकी विशेषता बन जायगी । यदि सम्यक्त्व नही है तो भी हम किसी एक

पुण्यकार्यमे तो चल रहे है। आगे सिलसिला बन जायगा। तो जैसे जिसको धन जोड़नेमें प्रेम है वह अनेक कार्य करता है, किसी कार्यमे सफल होता है किसीमे सफल नही होता है। सफल न होते हुए भी उन्ही उपायोमे आस्था रखता है—होगा तो इस ढगसे होगा। शास्त्रका अध्ययन, मनन, ज्ञान, चर्चा, शुद्ध आचरण, अभक्ष्यका त्याग, गुणीजनोको देखकर प्रमोद, अपना अहकार मिटानेके लिए गुणी जनोकी भक्ति आदिक जो जो भी इसको आरम्भ आत्महितके लिए जचते है और आम्नाय परिपाटीमे जो चला आया है, सभी प्रकारके आरम्भसे वह अपने आपको पुरुषार्थी बनाता है। तो तू पौरुष कर और रत्नत्रयको धारण कर। शक्ति माफिक कर। जब यह कहा जाता कि शक्ति माफिक कर तो मनुष्यकी दुर्बलता देखिये—उसका अर्थ लोग यह लगाते हैं कि शक्तिसे अधिक न कर, शक्तिसे कम कर। और शक्तिमाफिक कर, इस का अर्थ क्या यह नही होता कि शक्तिको न छिपाकर बराबर साहसके साथ कर? दोनों अर्थ हैं। मगर जिनको प्रमाद है उनको यह अर्थ सुहाता कि शक्तिसे अधिक न करना, थोड़ा करना, और जिनको उसकी धुन है उन्हें यह अर्थ सुहायेगा कि शक्ति न छिपाकर करना, अपनी पूर्ण शक्तिके साथ कर।

(२१७) **संसारसंकटोसे छूटनेका भाव होनेपर सन्मार्गकी सुलमता**—जिनको वास्तविक मायनेमे मुमुक्षा बनी है, इस संसारके संकटोसे छूटनेका भाव बन गया है उनको अधिक समझानेकी आवश्यकता नही होती है। उनमें स्वयं प्रतिभा है और वे सब पौरुष करेंगे, थोड़ा मार्गदर्शन भर चाहिये। और जिनको इस संसारसे ऊब नही आयी है, इन सकटोसे हटनेका मनमे भाव ही नही जगा है, बस इस समुदायमे मेरा नाम हो, इनमे मैं बडा कहलाऊँ, इनमे मैं खास कहलाऊँ, इनमे मेरी बात बने····। और, तब ही तो जरा जरा सी प्रतिकूल बात सुनकर बुरा लगना यह किसका द्योतक है? यह मिथ्यात्वका, मोहका द्योतक है। शरीरमें इतनी तीव्र ममता है कि रंच भी प्रतिकूल बात सुनना नही चाहते। कोई अगर प्रतिकूल बात बोलता है तो वह किसको बोल रहा है? प्रथम बात तो यह है कि वह किसी को नहीं बोल रहा। वह अपनेमे कोई लक्ष्य बनाये है और अपनी कषायके अनुसार अपने भाव उगल रहा है। और, साथ ही सोचना कि किसको बोल रहा है? तो आप ही बताओ—वह गाली देने वाला, वह प्रतिकूल बोलने वाला क्या मुझ ज्ञानमात्र अमूर्त आत्माको बोल रहा है? क्या उसकी दृष्टिमे यह बसा है कि यह जो अमूर्त ज्ञानमात्र परमज्योति तत्त्व है इसको सुनाऊँ कुछ? इस तरहका लक्ष्य रखने वाला तो सुनायगा ही नही। वह तो इस मूर्त शरीरपर दृष्टि दिए हुए है उसीको लक्ष्यमें लेकर सुना रहा है। वह तो यो कर रहा है। तो जो शरीरको माने कि मैं यह हूं वही तो बुरा मानेगा। और जो शरीरको समझ चुका कि यह पौद्गलिक है, पिण्ड है,

भिन्न है, असार है, कुछ नही है, जला देंगे, मैं इससे निराला ज्ञानमात्र अमूर्त हू, वह कैसे बुरा मानेगा ? तो जो भीतर यह समायी नही होती कि कोई जरा विरुद्ध बोल जाय, थोडा ही प्रतिकूल बोल जाय तो उसमे बन गया द्वेष, बन गया मोह । सो यह तो ससारतत्त्व है, मोक्षतत्त्व नही ।

(२१८) **आत्मव्यवहारसे मोहलपटोके क्लेशका शमन**—इस मोहकी बडी लपटें हैं। मोहकी कोई लपट धर्मका रूपक बनाकर फैलती है, कोई लपट बुद्धूपन प्रकट करके फैलती है, पर लपटमे ज्वाला सबके है चाहे किसी ढगसे लपट फैले ? तो प्रथम सो यह विचार करें कि मैं इस जगतमे केवल अकेला एक पदार्थ हू, मेरा दुनियामे कोई साथी नही, एक यह निर्णय बनायें और फिर इस नाते ही अपना व्यवहार बनायें और अपना सब कुछ बनावें तो इसमे सफलता मिलेगी और एक अपने इस आत्मतत्त्वका नाता तोडा और रागद्वेष पक्षपात, पार्टी, मजार्टी अमुक तमुक इस तरहका अपनेमे मोह बनायें तो बस यह जीवन खोया । आत्मकल्याण का अवसर पाया था उसे बिल्कुल खो दिया । सो हे विवेकी आत्मन् ! प्रमाद न कर, अपने आपका जैसे उद्धार हो, कल्याण हो, जैसे ससारके संकट मिटें उस प्रकारका अपनेमे अपना व्यवहार करें उसे बोलते हैं आत्मव्यवहार ।

(२१९) **श्रद्धान ज्ञान चारित्रसे आत्मोद्धारके पौरुषीका उदात्त वात्सल्य**--जिनेन्द्र भगवानके उपदेशे गए तत्त्वमे श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन है । देखिये मिलान-अनुभव होने पर जो शास्त्रोमे लिखा वह मैंने अपनेमे पाया । जो मैंने अपनेमें पाया देखो वही शास्त्रोमे लिखा । दोनोका परस्पर समन्वय है और उसीमे ही यह संतोष पायगा । आत्मामे सहज होने वाली बात ही तो शास्त्रोमे लिखी गई । पदार्थोंमे अनादि अनन्त धाराप्रवाह जो-जो कुछ बात स्वरूप है वही तो शास्त्रोमे लिखी गई । वही प्रभुने बताया । तो जो अनुभवमे आया वही शास्त्रोमे मिला । जो शास्त्रोने देखा वही मैंने अनुभवमे पाया । दोनो ओरसे उसको अपना निर्णय बन जायगा । सम्यग्ज्ञान वास्तविक तत्त्वका बताने वाला सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र—पापसे बचाने वाला सम्यक्चारित्र । ऐसे रत्नत्रयका धारण कर । सम्यग्दर्शनके जो ८ अंग है वे अंग तब निभेगे जब आपकी उदारता और सार्वभौमता प्रकट होगी । साधर्मी जनोसे वात्सल्य करना । अब यदि उन साधर्मीजनोमे यह छाँट करने लगें कि ये हमारी जैसी बात बोलते कि नही, नही तो साधर्मी नही, इन्होने ऐसा ज्ञान किया कि नही, ये तो साधर्मी नही । ये ऐसी ऐसी बात बोलते कि नही, ये तो साधर्मी नही···इस प्रकारसे अगर साधर्मी की छाँट करेंगे तो उनसे वात्सल्य अंग न पलेगा । जैसे घरमे रहने वाले पुरुष मंद बुद्धि वाले पुत्रका भी निभाव करते, अच्छी बुद्धि वाले पुत्रका भी निभाव करते, वहाँ पुत्रपनेकी दृष्टि रहती

है ऐसे ही कोई अधिक ज्ञान रखता है तो वह भी वात्सल्यका पात्र है और कोई कम ज्ञान रखता है तो वह भी वात्सल्यका पात्र है। उनमे परीक्षाकी ही धुन रखना यह वात्सल्यकी प्रेरणा नही है। यह कषायकी प्रेरणा है और वैसा अनुभव पायेंगे।

(२२०) धर्मप्रेमीका अल्पज्ञानी बहुज्ञानी सभी साधर्मियोके प्रति वात्सल्य—चाहे मरो चाहे जियो इस प्रकारकी उपेक्षा सौतके तो हो जायगी पर जिसके पेटसे वह बच्चा पैदा हुआ उससे उपेक्षा न बनेगी। उन दोनोके विचारोमे बडा अन्तर हो जायगा। एक ऐसा कथानक है कि एक पुरुषके दो स्त्रियां थी, पहली और दूसरी। दूसरी स्त्रीके एक लडका था और पहली स्त्री उससे बहुत जला करती थी। कुछ दिन बीते उस पहली स्त्रीने उस लड़के पर अपना कुछ अधिकार सा जमाया। उसपर दोनो स्त्रियोमे विवाद बढ़ गया। वह विवाद इतना बढ गया कि उसका केस राजाके पास गया। पहली स्त्री कहे कि यह लडका मेरा है, युक्ति भी दी कि जो पतिका धन होता है वह सब धन स्त्रीका भी होता है। उधर दूसरी स्त्री कहे कि यह लडका मेरा है। अब राजाकी समझमे न आया कि इसका क्या न्याय करना चाहिये। आखिर एक युक्ति सूझी और कहा—अच्छा जावो कलके दिन इसका न्याय होगा। इधर राजाने जल्लादोको समझा दिया कि देखो कलके दिन इन दोनो स्त्रियोका न्याय होना है। तुम लोग तलवार लिए पासमे खडे रहना, हम कहेगे कि इस बालकके बराबर-बराबर दो टुकडे करके एक एक टुकडा दोनो स्त्रियोको दे दो, ऐसा हम कहेगे पर तुम तलवारसे उसके टुकड़े करना नही। केवल दोनो स्त्रियोको परीक्षा लेनेके लिए हम वैसा उपाय करेंगे। जल्लाद लोग सब बात समझ गए। दूसरे दिन जब राजाके सामने न्याय सुननेके लिए दोनो स्त्रियाँ पहुची तो वहाँ राजाने न्याय दिया कि यह लड़का तुम दोनो स्त्रियोका है। इसपर तुम दोनो का बराबर बराबरका अधिकार है इस लडकेके बराबर बराबर दो टुकड़े किए जायेंगे और एक एक टुकड़ा तुम दोनोको दे दिया जायगा, यही इसका न्याय है। इतना कहकर जल्लादो को आदेश दिया कि ऐ जल्लादो तुम इस बालकके बराबर बराबर दो टुकड़े करके एक एक टुकडा इन दोनो स्त्रियोको दे दो। अब राजाका इस प्रकारका न्याय सुनकर पहली स्त्री तो बड़ी खुश हुई, क्योकि वह तो ऐसा चाहती ही थी कि यह लडका न होता तो अच्छा था। उधर दूसरी स्त्री राजाका न्याय सुनकर बड़ी दुःखी हुई और बोली—राजन इस बालकके दो टूक मत करो। यह बालक मेरा नही है। इसीका है। देखिये—उसके मनमे यह आया, कि यह बालक यदि मर गया तो मुझे देखनेको भी न मिलेगा और यदि जीवित रहा तो चाहे कही रहे पर मैं इसे देख देख कर ही खुश रहूगी। आखिर राजाने समझ लिया कि वास्तवमे यह लड़का इस दूसरी स्त्रीका है सो वैसा ही फैसला कर दिया। तो यहां वात्सल्य अंगकी

बात चल रही थी कि धर्मात्माजनोके प्रति उपेक्षाका भाव न होना चाहिए बल्कि एक धर्मात्मा को दूसरे धर्मात्माके प्रति वात्सल्यभाव होना चाहिए। वहां छांट करना, परीक्षा करना यह आचार्योने नही बताया। जो प्रवाह मूल आम्नायका अभी तक चला आया वही चलता रहेगा तो स्वयं एक निरापद रहेंगे और आत्मानुभवके लिए उसके अपने आपमे जागृतियां होगी।

पापं वर्धयते, चिनोति कुमतिं, कीर्त्यंगनां नश्यति,
धर्मं ध्वंसयते, तनोति विपदं, संपत्तिमुन्मर्दति।
नीतिं हंति विनीतिमत्र कुरुते कोपं धुनीते शमं,
किं वा दुर्जनसंगतिर्न कुरुते लोकद्वयध्वंसिनी ॥४२६॥

(२२१) **दुष्टसंगसे पाप और कुमतिकी वृद्धि**— यहां दुर्जननिरूपणका परिच्छेद चल रहा है। इस छंदमे बतला रहे है कि तीनो लोकोका बिगाड करने वाली दुर्जन संगति न जाने क्या क्या अनर्थ नही करती। दुर्जन कहते किसे है? जिनको विषयोकी रुचि है, जिनको पापोसे विरक्ति नही है, जिन्होने अपने सांसारिक सुखोमे ही आग्रह कर रखा है, जो किसी भी पापके करनेमे हिचकते नही है, जिनके चित्तमे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें भरी हुई हैं। ऐसे पुरुष और उनके बारेमे अधिक क्या कहना, सब जान लेते हैं कि ये दुष्ट प्रकृतिके हैं। तो जो दुर्जन हैं उनकी संगति इस जीवका बडा अनर्थ करती है। पहला अनर्थ यह है कि वह पापको बढाता है, क्योकि पापियोके संगसे वैसी ही बुद्धि बनेगी। स्वयमे भी पापका ही भाव बनेगा। संगकी बड़ी महिमा है, सत्संगकी महिमा प्रधानतया अन्य लोगोने गाई है। किन्ही साधुवोके आनेपर वे कहते है कि चलो सत्संग करें। कही प्रवचन आदिक होनेपर लोग कहते है कि सत्संगमे जा रहे है। सत्संगकी बडी महिमा है। इस जीवको कुपथसे बचाकर सन्मार्गमे ले जानेके लिए प्रथम सहारा सत्संगका होना है। जिन जिनका उद्धार हुआ है वे जानते है कि मुझे जीवनमे सत समागम जो मिला उससे हमारी दृष्टि सन्मार्गकी ओर बढी है। जो संसार, शरीर भोगोसे विरक्त हैं और सब जीवोके सुखी होनेकी भावना रखते हैं, जो अपना कोई स्वार्थ नही चाहते उनका संग सत्संग कहलाता है। सबसे बड़ा भारी स्वार्थ है यश कीर्तिकी चाह, नामवरीकी चाह। यह जीव वह सब कुछ कर डालता है जिसमे दूसरे जीवोको चाहे कुछ भी कष्ट उठाना पड़े। कल बताया था कि इन पञ्चेन्द्रियके विषयोमे सबसे खोटा, अनर्थकारी, अनुपयोगी विषय है स्पर्शन इन्द्रियका, पर जरा मनके विषयकी ओर भी दृष्टि दें तो यह बहुत बड़ा व्यभिचार है जो यश कीर्तिकी ओर आग्रह बन गया है। सर्वप्रथम इसपर विजय होना चाहिए। जिसको आत्मकल्याणकी इच्छा हो वह पहले यह साधना बनाये

स्वरूपाभ्यासके बलसे कि मुझे इस हड्डी चमडी वाले शरीरकी मूर्तिकी इज्जत दुनियामे कायम करनेका आग्रह न रहे । तो जो विषयोसे विरक्त है, संसार, शरीरसे विरक्त है, जो किसी भी पापकर्ममे नही पड़ना चाहते हैं ऐसे पुरुष सज्जन है, और जो कषायों मे लिप्त है, नामवरीका आग्रह है, भले ही कुछ पुरुष देखनेमें या प्रवृत्तिमे बहुत ठीक जंचते है, पर जो जितना विशेष कपट रखता हो, सबसे बड़ा कपटी पुरुष वह है कि लोग उसका कपट पहिचान न सकें । तो दुर्जनो मे सबसे पहला नम्बर है छल कपट करने वाले पुरुषका । तो ऐसी संगति इस जीवसे क्या क्या नही करवा डालती । दुर्जनका स्वरूप स्वय आचार्यदेव आगेके छंदों मे बतायेंगे, पर सामान्यतया सभी जानते है कि दुष्टकी सगति इस जीवके लिए अनर्थकारी है, पापवर्द्धक है, कुमतिवर्द्धक है ।

(२२२) **कुसंगसे बिगाड़का एक उदाहरण**—चारुदत्त जो विवाहित हो जानेपर भी कामबाधावो से भी अपरिचित था । उसका प्रयत्न कुटुम्बी जनोने किया, तो क्या किया कि उसके चाचा उनको एक बार वेश्यावोकी गलीमे ले गए और पहलेसे ही यह प्रबन्ध करवा लिया कि गलीके सामनेसे एक हाथी आया, और यह भय दिखाकर डरके कि ये दोनो (चाचा और चारुदत्त) एक वेश्याके घरमे घुस गए, जब वेश्याके घरमे चारुदत्त और उसका चाचा रुद्रदत्त पहुंचे तो सब बात पहलेसे कही हुई थी । वहाँ चौपड खेलना शुरू किया जिसमें हार जीतकी दृष्टि होती । वहाँ चारुदत्त और उस वेश्याकी लडकी ये दोनो खेलने लगे और उस समय बस वह चारुदत्त रागमे बह गया और इतना बह गया कि घरकी उपेक्षा कर दी । घर का बहुतसा द्रव्य उस वेश्याके नाम खर्च कर डाला । बहुत बुरी स्थिति हो गई चारुदत्तकी और जब उसके पास कुछ न रहा तो उस वेश्याने उसे अपने यहाँ आनेको मना कर दिया, इतनेपर भी चारुदत्त न माना तो उस वेश्याने चारुदत्तको एक संडासमे पटक दिया । उस सडासमे चारुदत्तको सूकर चाट रहे थे फिर भी चारुदत्त यही समझ रहा था कि मेरी प्रेमिका मेरेको चाट रही है । तो बताओ संगतिका असर क्यासे क्या नही करवा देता । ऐसी दुर्जन की सगति त्याज्य है जो पापमे ढकेले और कुबुद्धि बढाये । दुर्जन संगतिसे कीर्ति भी नष्ट हो जाती है । इसका प्रभाव अहितकर है । जब बच्चेकी उम्र कुछ बड़ी होती है, बच्चा किशोर अवस्थामे आता है तब उसके माता-पिताको इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि हमारा बेटा कही कुसंगमे तो नही पड गया । नही तो उस अवस्थामे कही शराबी बन जाय, जुवा खेलने वाला बन जाय, घरको लूटने वाला बन जाय । जैसी चाहे स्वच्छद वृत्ति हो जाती है । यदि धर्मके कुछ अंकुर जमाया हो पहलेसे जैसे कि मन्दिर आना, दर्शन करना, त्यागियोके निकट बैठाना, उनकी वैयावृत्ति कराना, शास्त्र सुनाना, कुछ यम नियम दिलाना आदि तो

इन धार्मिक प्रसगोमे आनेका फल बडा होता है। नही तो कुसग मिलनेपर वह बच्चा बरबाद हो जाता है। सो ऐसे कई दृष्टान्त मिलेंगे।

(२२३) दुष्टसंगसे कीर्तिका विनाश धर्मका ध्वस व विपत्तिका प्रसार—यह दुर्जन सगति कीर्तिको नष्ट कर देती है। वहाँ लोग कहने लगते कि काहेका बड़ा कुल, इसने तो बाप दादाका भी नाम डुबो दिया। खुदका भी अनर्थ और दूसरेका भी अनर्थ। तो यह दुर्जन संगति तीनो लोकोका ध्वस करने वाली है। दुष्टसंगतिसे धर्मका विध्वस होता है, विपत्तिका विस्तार होता है। बडा पुरुष वह है जो विपत्तिसे बचाये और सबको समान दृष्टिसे देखे, सबको सुखी होनेकी भावना रखे। जो दूसरेको विपत्तिका निमित्त बने और दूसरेको विपत्ति मे देखकर खुश रहे, ऐसा यदि कोई करता है तो समझो कि वह बड़ा ही अनर्थकारी है। आर्षपरम्परामे सबके लायक सबको समय-समयपर उपदेश किया गया है। एक चाण्डालको यही नियम दिलाया, जब पूछा कि तुझे किसका मांस पसंद है ? तो उसने कहा—कौवेका। " अच्छा तू कौवेका ही मांस छोड़ दे। घटना देखिये—किस किस प्रसगमे किसको कहांसे प्रारम्भ किया और उद्धारका कहांसे साधन बना। जो चाण्डाल जैसा है उसके लिए ऐसे मूल गुणोकी व्यवस्था की कि भाई मद्य, मांस, मधु और पच उदम्बर फल छोड़ दे, तू श्रावक है। अच्छे कुलमे जन्म लेने वालेके लिए यह मूल गुण बताया कि मद्य, मांस, मधुका त्याग, उदंबर फलोका त्याग, देवदर्शन, जीवदया, जल छानकर पीना, रात्रिभोजन त्याग। तो सबपर सहानुभूति हो, सबके योग्य जिस प्रकारसे इसका उत्थान हो उस प्रकारका उनको सहयोग करें ऐसे महापुरुष उदात्त और समझिये कि सबके माता-पिताके रूपमे होते हैं। जैसे माँ अपने सब बच्चोपर एक पुत्रवत स्नेह रखती है ऐसे ही ज्ञानी धर्मप्रेमी पुरुष नामका भी जैन, स्थापनाका जैन, द्रव्य जैन, भाव जैन, अल्पज्ञानी हो, बहुज्ञानी हो, न जानता हो पर एक मैं जीव हू हित चाहता हू इतनी भर श्रद्धा रखता हो, सबपर उसका साधर्मिता सम्बंधित वात्सल्य होता है। सबपर उसका प्रेम होता है, पर यह मेरा है, यह पराया है, यह गणना लघु चित्त वालोंके होती है और अपने परायेका भी निर्णय क्या ? अपनी कषायसे जिसकी कषाय मिल गई उसे कहा जाता है अपना और जिसकी कषायसे दूसरेकी कषाय नही मिलती उसे कहा जाता है पराया। ये सब जहाँ दोष पाये जाते हैं, जिनके निन्दाकी आदत बनी रहती है समझिये वह संगति भली नही होती।

(२२४) संगति व मननकी सावधानी—भैया, एक मोटी पहिचानमे तो जहाँ अपने को कुछ प्रेरणा मिलती है—वैराग्य मिले, शान्ति मिले, सन्मार्ग मिले वह संगति तो श्रेष्ठ है और जहाँ पापकी ओर बुद्धि जाय वह सगति श्रेष्ठ नहीं है, क्योकि इस जीवका अनर्थ करने वाला स्वयंका विकार है। उसकी पुष्टि यदि होती है तो वह हमारे लिए बड़ी कठिन समस्या

है और हमे उस समय विवक करना चाहिये कि मेरे द्वारा किसी जीवका बिगाड न हो, मेरे द्वारा मेरा बिगाड न हो, इस बातकी ओर बहुत सावधानी रखनेकी जरूरत है। अन्यथा संसारमें पुण्यके बलपर कोई किसी प्रकार बडा बन गया तो उस बडा बननेका कोई महत्त्व नही, राजा भी मरकर कीडा बन जाता है। कीडा भी मरकर राजा बन जाता है। जहाँ इतना विचित्र परिवर्तन होता है वहाँ सांसारिक बड़प्पनका क्या महत्त्व है? सो स्वरूपदृष्टि के बलसे इस बातका अभ्यास जरूर होना चाहिए धार्मिक प्रसंगोमे, सामायिकमे, आत्मकल्याण के कार्योंके प्रसगमे कि मुझे इस ससारमे यश, कीर्ति, नामवरी ये लाभदायक नही है, इनमे मुझे चित्त नही फँसाना है। यह अभ्यास होना चाहिए, यह आत्मदयाके लिए बहुत आवश्यक है, क्योकि जितना बाह्य विकल्पोसे हटा हुआ रहेगा उतना ही इसे अवसर है कि वह सहज आत्मस्वरूपकी अनुभूति पा ले। इस शरीरको निरख करके अहकार होना—मै कितना ज्ञान वाला हू, कैसा रूप वाला हू, कैसा प्रतिष्ठा वाला हूं, कैसा चला ऐश्वर्य वाला हू, जितना जो कुछ अहंकार होना है वह सब शरीरको अपनानेसे होता है। फोटो, नाम, ये सब शरीरमे आत्मबुद्धि वाले ही तो किया करते है नही तो क्या आग्रह? तो अपने आपमे यह साधना बनाये बिना हम आत्मानुभवके पात्र नही हो सकते। पडे रहेगे मायामे और चाहे कि मुझे उस सहज ज्ञानस्वरूपकी अनुभूति जगे तो यह बात नही बन सकती। तो सन्मार्गपर चलनेके लिए आवश्यकता है हमे सत्संगकी ओर दुर्जन संगतिसे हटनेकी।

(२२५) **दुष्टसंगतिसे सपत्तिका विनाश एवं नाना विकृतियां**—दुष्ट संगतिके कारण सम्पत्तिका भी विनाश हो जाता है। बहुतसे लोग जिनके पास इतना धन है कि बिना कमाये ही यदि खर्च चलाना चाहे तो दो-चार पीढी चले, मगर जो एक जो सालमे ही साराका सारा धन खर्च हो जाता है उसका कारण आजीविका सम्बंध नही है, त्याग नही है, दान नही है, उसका कारण है दुर्जनसंगति। दुष्टसंगति होनेपर, कुसंग मिलनेपर बरबादी होती है। खायें पियें, दूसरोके उपयोगमे लगायें, इसमे कभी बरबादी नही होती। आपको ऐसी घटनायें अनेक मिलेंगी। तो दुष्ट संगतिसे सम्पत्तिका उन्मर्दन हो जाता है। दुष्टसंगतिसे फिर न्याय नीति कुछ नही रहती, विनय भी नही रहता। और दुष्टसंगति होनेपर ऐसी विचारधारा वह निकलती है कि वह फिर किसीका भी सन्मान न कर पायगा और साधुजन, गुणीजन इनसे तो द्वेष ही रखेगा। तो यह दुष्ट संगति क्या क्या इस जीवको अनर्थ नही करती। यह बताकर आचार्यदेव इहलोक और परलोकको बिगाड़ने वाली दुर्जनसंगतिसे बच्चेका आदेश देते हैं। चित्तमे क्रोध भरा रहता है। यह दुष्टसंगतिका ही असर है। जो क्षमाशील हैं, मानरहित हैं, जैनशासनके अनुसार अपने आचरणमे कदम बढाये हुए हैं उन पुरुषोकी संगतिमे कोई रहे तो

उसे क्रोधका क्या अवसर आयगा ? क्रोधका अवसर दुष्टसंगति होनेसे होता है और शान्तिका विध्वंस हो जाता है । अशान्त चित्त हो जाता है । आत्महितके लिए जिसे आत्महित चाहिए वह सही ज्ञानप्रकाश उस थोडेमे भी पा लेता । कोई विरुद्ध दशामे चलता है और बहुत कुछ जाननेमे सूक्ष्मता भी करे तो भी उसे आत्महित न मिलेगा ।

(२२६) सही श्रद्धाके बिना कल्याणमार्गमे आनेकी असमर्थता—सत्य श्रद्धा विना जीव कल्याणके मार्गमे लग ही नही सकता, और सत्य श्रद्धा क्या ? अपने आपका जो सहज आत्मस्वरूप है अपने आपके ही सत्त्वके कारण अपने आपमे जो स्वरूप है उस रूपमे अपने आपको मान लेना कि मैं वास्तवमे यह हू और ऐसी ही धुन बनाये रहना, दृष्टि बनाये रहना, जिसके प्रतापसे कभी यह स्थिति बने कि ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, इसका पौरुष करना चाहिए और यह होता है शान्तिमे, कषायोंके शमनमे । अपने आपको निष्पक्ष बनाये रहनेमे । आत्माके नाते ही अपने आपका व्यवहार बनायें । हम अपने आपको ही गिराते हैं, और हम अपने आपको ही उठा सकते हैं, हम अपने आपको ही नरकादिकमे ले जाते हैं तो हम अपने आपको ही ससार संकटोसे छुटा सकते हैं । इसके लिए चाहिए सत्य का आग्रह और असत्यका असहयोग । ये विकार, ये वाह्य सग पदार्थ ये सब मेरे स्वरूपास्तित्वमे नही हैं, इनका सहयोग न चाहिए । मेरे स्वरूपास्तित्वमे मेरा चित्प्रतिभास चैतन्यस्वरूप है उसरूप आग्रह करिये । मैं सही हू और इस भावनाकी सिद्धिके लिए जिन्होने ऐसे स्वरूप को प्रकट किया है उन अरहंत सिद्ध प्रभुकी भावना कीजिये, भक्ति कीजिये और ऐसा होनेके लिए जो प्रयत्नशील है ऐसे आचार्य, उपाध्याय, मुनि इनकी भक्ति कीजिए । पच परमेष्ठी ही तो एक आदर्श है, आराध्य हैं, पूज्य है । तो जब इस अपने सहज आत्मस्वरूपमें हम न रह सके तो जिनके विकास हुआ है उनकी आराधना जो इस पंथमे चल रहे हैं, मोक्षमार्गमे प्रयत्नशील है, साधक हैं उन साधु जनोकी भक्ति, यह तो व्यवहारमे करने योग्य बात है और परमार्थमे शुद्ध सहज आत्मस्वरूपकी आराधना यह करने योग्य बात है । जब स्वरूपकी बात कहा तब ऐसा ध्यान धरना चाहिए कि बस मेरे ही सत्त्वके कारण जो मेरेमे अभिन्न अनादि अनंत तत्त्व है उसकी बात कही जा रही है । तब ही आप यह समझ जायेंगे कि आज मुझमे विकार है, पर मेरे स्वरूपमे विकार नही । उस स्वरूपकी आराधना करनी है, उस ही को शुभ द्रव्य के रूपसे आदेय बताया जाता है । तो ये सब दृष्टियाँ हमारी बनें, उसके लिए हमारा व्यवहार ऐसा चाहिए कि दुर्जनोके संगमे हमारा समय न व्यतीत हो और जो निश्छल पुरुष हो जिनकी भावना इस संसार, शरीर, भोगोसे छूटनेकी हो उनकी सगतिमे हमारा अधिकाधिक समय व्यतीत हो ।

न व्याघ्रः क्षुधयातुरोऽपि, कुपितो नाशीविषः पन्नगो,
नारातिर्बलसत्त्वबुद्धिकलितो मत्तः करीन्द्रो न च ।
तं शक्नोति न कर्तुमत्र नृपतिः कंठीरवो
दोषं दुर्जनसंगतिर्वितनुते यं देहिनां निंदिता ॥४२७॥

(२२७) समस्त घातक संगोंसे भी कुसंगकी सर्वाधिक घातकता—इस जीवका अहित यह दुष्टसंगति करती है । हमारा अहित करने वाला संसारमे कोई पदार्थ नही । यदि कोई भूखसे पीडित व्याघ्र है तो वह अधिकसे अधिक क्या करेगा ? एक भवका मरण कर देगा । पर यह दुष्टजनोका संग ऐसा भयंकर है कि इसके फलमे भव-भवमे जन्म मरण करना पडता है । यदि कोई सर्प क्रुद्ध हो गया तो वह उतना अधिक अहित न करेगा जितना कि दुर्जनकी संगति करती है । कोई बड़ा पराक्रमी बलशाली शत्रु हो तो वह उतना भयंकर नही है जितना कि दुष्टजनोका संग भयकर है । मदोन्मत्त हाथी क्रुद्ध हो, राजा या बड़े-बडे बलवान सिंहादिक जंतु क्रुद्ध हो तो ये अधिकसे अधिक एक भवमे ही दुःख दे सकेंगे, पर दुष्टोंका संग पापको बढ़ाने वाला होनेसे अनेक भवोमे दुःख उत्पन्न करता है । इसलिए जीवनमे दुष्टसंगसे बचना और सत्संगमे अपने आपको लगाना यह बहुत ध्यान देनेकी बात है, और ऐसे ही अपनी सन्तानके प्रति भी ध्यान रखना कि वे कुसगमे न पड़ें । ज्ञानी ध्यानी विरक्त साधु संत, उनकी ही संगति करते रहे । धर्म ध्यानमे कुछ चित्त लगता रहे, व्यसनोका त्याग करा दें, अभक्ष्यका त्याग करा दें तो उस नियमके पालनेमे उसका उपयोग लगेगा, खोटी संगतिकी ओर चित्त न जायगा, ऐसे ही अपनेको और अपने परिजनोको भी धर्मके मार्गमें लगानेकी बात सोचना चाहिये और करना चाहिये ।

व्याध व्यालभुजंगसंगभयकृत्कक्षं वरं सेवितं
कल्पांतोद्गतभीमवीचिनिचितो बार्द्धिर्वरं गाहितः ।
विश्वालोषकरोज्ज्वलशिखो वह्निर्वरं
चाश्रितस्त्रैलोक्योदरवर्तिदोषजनके नासाधुमध्ये स्थितं ॥४२८॥

(२२८) कुसंगमें सर्वाधिक बुराई—शिकारी हो, सर्प हो ऐसे ये अनेक भयानक प्राणनाशक जन्तुवोसे भरे हुए वनमे निवास करना तो भला है, पर दुष्टोके संगमे निवास करना भला नही है, क्योकि यहाँ भाव बिगड़ते है, पाप वृद्धि होती है और जन्म जन्मके लिए अपनी खराबी बनती है । प्रलयकालके समय उठे हुए भयानक तरंगोसे तरगित समुद्रकी धारा मे डूब जाना भला है, पर दुष्टसग भला नही । अभी इस छन्दमे आगे दुष्टसंगतिकी व्याख्या की जायगी । उसी प्रसंगमे बतला रहे है कि बढेसे बडे उपद्रव, प्राणविनाश भी भला है पर

टसंग भला नही। सारे संसारको भस्म करनेमें समर्थ जाज्वल्यमान अग्निकी ज्वालामे जलकर भस्म हो जाना भला है, परन्तु दुर्जनोके सङ्गमे रहना भला नही, क्योकि वहाँ ष ही उत्पन्न होगे अतएव भव भवमे बुरा होगा। सो दुष्टसग इस जीवके लिए सबसे हितकारी प्रसंग है।

वाक्यं जल्पति कोमल सुखकरं कृत्य करोत्यन्यथा
वक्रत्व न जहाति जातु मनसा सर्पो यथा दुष्टधीः।
नो भूतिं सहते परस्य न गुणं जानाति कोपाकुलो
यस्त लोकविनिंदितं खलजनं कः सत्तमः सेवते ।।४·

(२२९) दुर्जनका लक्षण प्यारे वचन, किन्तु चित्तमें कपट—दुर्जनका लक्षण क्या, इसका सकेत इस छन्दमे दिया गया है। यह दुष्ट पुरुष कोमल वचन बोलता है इस प्रकार कि सुन करके उसे सुख उत्पन्न हो। सो ऐसा बोलना बुरा नही है मगर बोलना तो इस प्रकारका है कि कोमल बोलें, सुखकारी बोलें, बड़े सम्मान वाले वचन बोलें, पर कर्म उससे विरुद्ध करें। बस उसको फसाना, बहकाना यह भावना रखकर कोमल और प्रिय वचन बोलते है दुर्जन पुरुष और वे इस प्रकार विरुद्ध चलते है, अपना कपट, टेढापन, वक्र चलना नही छोडते, सदा टेढा ही चलते हैं। जिस प्रकार कि सर्प कभी सीधा नही चलता इसी प्रकार दुर्जन भी अपने मनसे टेढा ही टेढा चलते हैं। तो वे कपटको कभी नही छोड पाते। पहिचान करना भी बडा कठिन है। क्योकि जो कपट जालमे बढ़े चले हैं, जिनकी जितना ऊँचा कपट करनेकी आदत है उनका ऐसा सुन्दर व्यवहार बनता है कि लोग पहिचान नही सकते और उल्टे ये बड़े साधु है, सन्त हैं, बहुत ही उच्च पुरुष है इस प्रकारकी भावना उसके प्रति बन जाती है, बस यह ही दुर्जनका लक्षण है। मनमे और, वचनमे और, करे कुछ और। दुर्जन पुरुषके लक्षण बताये जा रहे हैं।

(२३०) दुर्जनका लक्षण ईर्ष्या करना व गुणी व उपकारीका अपमान व विघात—जो दूसरेकी बढ़तीको देखकर मन ही मन जल भुनकर खाक हो जाते हैं, सह नही सकते, ईर्ष्या वाले पुरुष हैं वे दुष्ट पुरुष है। उनकी संगति करनेपर कभी वह उसपर भी ईर्ष्या करे, आक्रमण करे अथवा जिसका चित्त कलुषित है उस पुरुषके साथ रहनेपर सदैव धोखा ही धोखा रहता है। कदाचित् वह पुरुष कारणवश क्रुद्ध हो जाय तो वह गुणियोके गुणोको तनिक भी नही गिनता, क्रोधवश नही गिनता, कपटवश नही गिनता, मानवश नही गिनता। अपने आपमे कीर्तिकी इच्छाके कारण गुणियोके गुण नही गिनता। जिसकी दृष्टिमे गुणीजन न कुछ हैं ऐसा भाव बना रहता है वहाँ दुर्जनताका निवास है। दुष्ट पुरुष उपकारीके उप-

कारको भी तनिक भी नही मानता, तुच्छ हृदय है। स्वार्थकी गंध है। दूसरा कितनी ही तक-लीफ पाये उस ओर उसकी दृष्टि नही। इतना मन स्वच्छद हो जाता है कि वह उपकारी पुरुषके उपकारको भी भूल जाता, ऐसा उसका कषायसहित हृदय है तो ऐसे दुष्ट पुरुषका संग विवेकी पुरुष नही करते।

(२३१) **दुर्जनोंके प्रथम और द्वितीय लक्षणका पुनः परिचय**—इस छदमे दुष्टोके लक्षण मे पहला लक्षण तो यह बतलाया कि जो बोल तो बहुत मीठे बोले, सुखकारी बोले मगर भीतरी भाव विरुद्ध हो। वह दूसरा मेरी चालमे फस जाय, यह मेरा सेवक सा बन जाय। यह मेरा ही गुणगान करने वाला, कार्य करने वाला, बन जाय ऐसे किन्ही आशयोसे वह मीठे वचन बोलता है। दूसरोका सम्मान करने वाले वचन बोलता है, दुष्ट पुरुषोका पहला प्रधान चिन्ह यह है, जिनकी सगतिके लिए कितना अभी वर्णन हुआ था कि दुष्ट सगसे भला तो अग्निमे जल जाना है, समुद्रमे डूब जाना है, पर दुष्ट संग भला नही है, क्योकि उस प्रसगसे संस्कार बढता, कषायभाव बढ़ता, मोहभाव बढ़ता, जिससे जन्म-जन्ममे दुख भोगना होता है। दूसरा लक्षण है कि वह किसी भी समय कपटको नही त्याग सकता। अपने बारेमे कितनी ही कथनी गढेगा, लोगोको तैयार करेगा यहाँ वहाँ प्रशसाके पुल बँधायगा, अनेक प्रकारकी अपनी करतूत करेगा एक अपने कपट द्वारा, जिससे कि अपने स्वार्थकी सिद्धि हो। स्वार्थ केवल धनसचयमे ही नही है, नामवरीकी चाह रखना यह इतना बुरा स्वार्थ है कि जिसके पीछे अपने सग प्रसंगमें रहने वाले लोग धोखेमे आ जाते है और दु.खी होते है। तो दुनियामे अनेक प्रकार के जीव बस रहे हैं, रहे, पर अपने आपको सावधान रखना।

(२३२) **अपने प्रयोजनमें सावधानीका कर्तव्य**—भैया, आपको केवल दो ही तो चीजें चाहिए—एक आजीविका, दूसरा धर्म। आजीविकाके बिना गृहस्थका निभाव नही और धर्म बिना तो गृहस्थका निभाव होगा ही नही। आजीविका थोडी हो उसमे भी गुजारा हो जायगा, जैसा हो उसमे ही गुजारा किया जा सकता, पर धर्मके बिना तो आत्माका कभी गुजारा सही बन ही नही सकता, सदा अशान्ति रहेगी। सो दो बाते चाहिए, दोनो बातोमे सावधान रहना चाहिए। धर्मके प्रसंगमे इतनी ही तो बात है कि अपनेको अपने स्वभावकी दृष्टि बने और यह आस्था बने कि मैं स्वभावमात्र हू, चेतना मात्र हूं। जो मै अपने आप अपने ही बलसे अपनी ही सत्तासे जैसा मेरा स्वरूप है बस उसकी आस्था बने कि मैं तो यह हू, बाकी सब पर है। मेरे लिए बेकार है। वे अन्य पदार्थ हो अथवा विकार भाव हो, ये सब मेरे लिए बेकार है। इनमे लगाव न रखूगा और मैं अपनेको एक चेतना मात्र अनुभवनेका प्रयास करूँगा, यह बात जिन जिन भवोमे मिले, इसका अपात्र न बनूं, इसके लिए शुभो-

पयोग भी करना पडे तो करता है और उस कालमे वह उपादेय समझता है, वह कभी भगवानके सामने ऐसी स्तुति न करेगा कि हे प्रभो, तुम परद्रव्य हो, तुम्हारी श्रद्धा करनेसे संसार बढता है ..., बताओ यह भी कोई भक्ति है क्या ? यह तो गुणोका इस ढगसे स्मरण करेगा कि वह अपने आपका नाता उसमें जोड लेगा, स्वरूपसाम्य । तो गृहस्थजनोमे तो शुभोपयोग की ही मुख्यता कही गई है आस्था और श्रद्धामे क्या बोलेंगे कि यहाँ हमारे लेप हूं, परिग्रहमे वसना है, कुटुम्बमे वसना है, व्यापारके समय कितने प्रसग मिलते हैं, नीचसे नीच लोगोसे वार्ता करनी होती है कितने ही दुष्ट जनोका भी सग प्रसंग मिलता है तो इतना जहाँ लेप बना है वहाँ अगर शुभोपयोगको भी छोड दे तब तो यह क्या ? अशुभोपयोगका वतावरण हैं। शुभोपयोगको छोड़ दें, शुद्धोपयोग वहाँ अशक्य है, तब तो वह अपने आपको बस बरबाद ही कर रहा । सो दो ही तो कार्य हैं—आजीविका करें और अपनी पदवीमे धर्मका पालन करें और अपनी पदवीमे धर्मका पालन करें । ये दो वस्तु चाहिए, ऐसा जिनका निर्णय है वे कही धोखा न खायेंगे । चाहे कोई उतने तकका भी सग हो कि जिसका कपट हम पहिचान भी न पायें, लेकिन उसका लगाव अपने आपकी ओर होगा, दूसरेकी ओर न होगा ।

(२३३) दुष्ट पुरुषके अन्य लक्षण—यहाँ दुष्टोंके लक्षणमे दूसरा लक्षण बताया है कि वे कपटको कभी छोड़ नही सकते । तीसरा लक्षण यह कहा है कि दूसरे पुरुष किसी कार्यमे प्रगति कर रहे हो लौकिक अलौकिक किसी भी कार्यमे तो उनके प्रति उसे ईर्ष्या जग जाती है । वह उसे सहन नही कर पाता । और भीतर मानो जलकर खाक हो जाता है । चौथा लक्षण बताया कि गुणीजनोके गुणोको न देखकर केवल दोष ही निरखता है, दोष ही उगलता रहता है । मनुष्यकी यह सबसे बड़ी भारी कमी है, भला यह तो बतलावो कि दूसरेके दोषोको निरखते समय उसके उपयोगमे क्या बसा ? दोष बसा कि गुण ? दोष बसा है । तो स्वयं दोषमय हो गया तब तो उसकी दोष बोलनेकी आदत बन गई । सो गुणीजनोके गुणोको न निरखकर दोषोको ही निरखता है, यह दुष्ट पुरुषका चौथा चिन्ह है । ५ वाँ चिन्ह यह है कि उसका किसीने तनसे, मनसे, धनसे ज्ञानसे भला सोचनेके सद्भावसे कितनाही उपकार किया हो, पर वह उपकारको नही गिनता और वह अपनी कषायोका ही लगाव रखता है । वह अपने लिए कष्ट नही झेल सकता । चाहे उस प्रसगमे उपकारी पुरुषके विरुद्ध भी चलना पड़े तो विरुद्ध भी चलता उपकारी पुरुषके उपकारको तनिक भी नही गिन सकता मायने कृतघ्न नही हो सकता यह दुष्ट पुरुषका ५ वाँ लक्षण है । तो ऐसे अन्य भी लक्षण समझना । ऐसे दोषयुक्त पुरुषोका संग करना भला नही है । अब इनमे कितनी ही बातें तो अनुभवमे उतरती होगी कि ऐसे पुरुषका सग करनेसे अपने भावोंमें क्या प्रभाव पडता

है और किस तरहसे हमारी बरबादी प्रारम्भ हो जाती है ।

नीचोच्चादिविवेक नाशकुशलो वाधाकरो देहिना—
माशाभोगनिरासनो मलिनताच्छन्ननात्मनो बल्लभ' ।
सद्दृष्टिप्रसरावरो घनपदुर्मित्रप्रतापाहतः
कृत्याकृत्यविदा प्रदोषसदृशो वर्ज्य. सदा दुर्जन' ॥४३०॥

(२३४) **दुष्ट जनोंकी प्रदोषकालवृत् अनर्थकारिता**—जिस दुष्टके संगका निषेध किया गया है उस दुष्टकी कुछ बातें बतायी जा रही हैं जिन लक्षणोसे पहिचान बने और उसका संग छोड़ दिया जाय जाय । जैसे प्रदोष कालमे रात्रिके समय पश्चिम रात्रिमे वह समय कुछ ज्ञान नही होने देता कि वह जगह ऊँची है, यह नीची है, कहाँ क्या पडा है, क्योकि वह अधकार का समय है । तो जैसे अधकारका समय ज्ञान न होने देनेमे कारण है इसी प्रकार दुष्ट मनुष्यो का प्रसंग भी ऊँच नीचका विचार न करनेमे कारण होता है । क्या श्रेष्ठ है, क्या लघुता है, इसका विचार फिर दुष्ट संगतिमे नही रहता । देखिये—अच्छा कुलमे होना, अच्छा वातावरण होना अच्छा सग प्रसग होना, यह बड़ी उत्तम चीज हुआ करती है । उसका बड़ा दुर्भाग्य है कि अच्छे कुलमें उत्पन्न होकर भी कोई ऐसी दुष्ट सगति रुच जाय जिससे व्यसनकी ओर, पाप की ओर, दूसरेको बाधा देनेकी ओर अथवा अपनी कीर्तिको जिस किसी भी प्रकार बढानेका भाव बने । यह सब इस जीवके लिए विपदा है । जैसे प्रदोषकाल याने पश्चिम रात्रिका समय है, प्राणियोको ठड आदिककी बाधासे दुःख पहुचाता है इसीतरह यह दुष्ट प्रसग भी प्राणियोको नाना तरहसे दु.ख पहुचाता है । जैसे प्रदोष काल दिशावोके विस्तारका ज्ञान नही होने देता, याने कुछ दिखता ही नही कि किस जगह क्या हैं, है इसी प्रकार यह दुष्ट प्रसग भी सत्य अ-सत्य तत्त्वका परिचय नही होने देता । उसी समय तो चोर आदिक मलिन मनुष्य लोग अपना ऊधम बखेड़ा मचाते हैं और उनको यह पिछली रात्रि बडी प्रिय होती है । चोरी का समय पिछली रात ही हुआ करती है दो बजे तीन बजे, तो जैसे पिछली रात्रि चोरोको प्रिय है इसी प्रकार यह दुष्ट प्रसग, यह दुष्ट संग चोर जुवारी, परस्त्री लम्पटी आदिक पुरुषोको प्रिय होती है । ५ प्रकारके पाप कहे गए, उनमे अपने आप पर कुछ बात घटाते रहना चाहिए । मेरे द्वारा दूसरे जीवोको कष्ट होता क्या ? यदि मैं दूसरेको व्यर्थ ही कष्टका कारण बना जा रहा हूं तो वह मेरी चर्या धिक्कारके योग्य है । क्या मैं दूसरे पुरुषोपर झूठे कपटभरे वचन बोलकर उनका विघ्न कर्ता बनता हू ? यदि यह झूठ बोलनेका मुझमे संग प्रसग बनाता है तो उसके लिए हितरूप नही है । ऐसा चोरी, कुशील किया, किसी पर नारीपर यदि मेरे भाव खोटे बनते है तो यह मेरे हितके लिए नही है, ऐसे ही पौद्गलिक इन ढेरोके लिए यदि तृष्णा जग

रही है तो उसमे मेरा हित नही है। अपनी वृत्ति पापोसे रहित दूसरोका हित करने वाली होनी चाहिए।

(२३५) दुष्टप्रसंगसे अज्ञानान्धकार व व्यर्थ विसंवादका प्रसार—यहाँ दुष्ट प्रसंगमे कह रहे हैं कि जैसे वह प्रदोष काल तेज आँख वालेको भी कुछ दिखने नही देता ऐसे ही यह दुष्ट प्रसग सज्जनोकी सज्जनता रोकनेमे चतुर होता है, शुद्ध भाव नही रह पाता। हमारे शुभ, अशुभ, शुद्ध, विशुद्ध कुछ परिणाम चलते रहे तो यह तो हमारे लिए हितकी बात है और यदि कोई बातका प्रसग बना लेवें कि जिसमे हितसे दूर होते जायें तो वह हमारे हितके लिए बात नही है। कितने ही विवाद बिना काम व्यर्थ चलते हैं जिनसे कोई लाभ भी नही होता, पर कषायकी प्रेरणा है कि चाहे लाभ भी न हो पर चाहिये अपनी कषायका लगाव। जैसे कभी दो मनुष्योमे वार्ता छिड जाय कि भाई अमुक गाडी मान लो बाम्बेमेल इस स्टेशनसे बाम्बेके लिए कितने बजे जाता है। तो एक तो बोला कि रात्रिको ९ बजे जाता है। दूसरा बोला—नही तू झूठ बोलता ११ बजे जाता है। बस इसी बात पर दोनोमे विवाद बढ गया और इतना विवाद बढ गया कि हाथापाई होनेकी नौबत आ गई। अब वहाँ कोई तीसरा व्यक्ति आया पूछा भाई आप लोग क्यो झगडते हो, बात क्या है ? तो उनमे से एक बोला—देखो यहाँसे बाम्बेमेल रात्रिको ९ बजे जाता है और यह झूठ बोलता कि ११ बजे जाता है, दूसरा बोला—नही नही, झूठ तो यह बोल रहा, बाम्बे मेल तो रात्रिके ११ बजे ही यहाँसे बाम्बेके लिए जाता है न कि ९ बजे। तो उस तीसरे व्यक्तिने पूछा—अच्छा यह तो बताओ कि तुम दोनोमे से बाम्बे किसको जाना है ? तो वे बोले—जाना तो हम दोनोमे से किसीको भी नही है, केवल बात ही बातकी लड़ाई है। तो ऐसी ही बात यहाँ समझ लो, धर्म तो कोई करना नही चाहता पर धर्मके पीछे लडाई, पार्टीबाजी मनमोटाव करनेको तैयार रहते है। आजकल कुछ ऐसा ही वातावरण बन गया। मेरे विचारसे तो आजसे कोई ५०-६० वर्ष पहले का वह वातावरण अच्छा था जो कि मान लो कम पढे लिखे होते थे पर उनमे श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य आदिके कारण आनन्द बरसता था। आजके जो वृद्ध लोग है वे सब इस बातको अच्छी तरहसे जानते है। तो व्यर्थके विवादके प्रसंग किसीके भी हितके कारण नही बनते, तो ऐसे प्रसगोसे दूर रहे और अपने आपको वर्तमानमे कुछ शान्ति संतोषका अनुभव हो तो हम आगे प्रगतिकी भी आशा रख सकते हैं। जब वर्तमानमे ही हम व्यग्र हो गए तो हम आगे हितकी क्या आशा कर सकेंगे ? सो अपनेको बहुत सम्हालकर रखनेकी जरूरत है। यहाँ कोई किसीका शरण और रक्षक नही है, खुदको खुदके विवेकसे काम लेना होगा और अपने ही ज्ञानप्रदेशी प्रभुसे कुछ निर्णय लेकर अपना जीवन चलायें, इसमे ही अपना हित है।

ध्वांतध्वंसपरः कलंकिततनुर्वृद्धिक्षयोत्पादकः
पद्माशी कुमुदप्रकाशनिपुणो दोषाकरो यो जड. ।
कामोद्वेगरस: समस्तभविता लोके निशानाथवत्
कस्त नाम जनो महासुखकरं जानाति नो दुर्जनं ॥४३१॥

(२३६) **दुर्जनोंकी ध्वान्तध्वंसभिन्नता**—यह दुष्टसग निरूपणका परिच्छेद चल रहा है याने दुर्जनकी संगतिसे जीवका कैसा अनर्थ होता है यह बात बतायी जा रही है। उसी सिल सिलेमे यहाँ दुर्जनका लक्षण बताया गया। दुष्ट पुरुष कौन-कौन कहलाते है ? तो इन विशे- षणोंमे साहित्यिक ढंग है सो शब्दो द्वारा ज्ञान कराया गया है। प्रथम विशेषण दिया है कि यह दुर्जन चद्रमाकी तरह ध्वांतध्वसपर है। अब इन सब विशेषणोके दो दो अर्थ चलेंगे। चंद्रमाका अर्थ और दुष्टजनोका अर्थ, चंद्र है ध्वांतध्वंसपर, ध्वांत मायने अधकार उसके ध्वस मायने विनाशके करनेमे तत्पर जब चंद्रकी किरणे फैलती है तो वहाँ अधकार नही रहता। तो दुर्जन कैसे है ? ध्वांतध्वंसपर, ध्वांत मायने अज्ञान अधकार, उसका ध्वस करने वाले जीव उससे पर मायने भिन्न है, मायने अज्ञानका नाश नही करते किन्तु अज्ञान नाशक पुरुषोसे जुदा है। दुर्जन दुष्टोकी सगतिसे अज्ञानका प्रसार होता है, बुद्धि खराब हो जाती है, तो उसके अज्ञानकी ही बातें बनती है। दुष्ट संगतिका वर्णन किया जा रहा, इसमे दुष्टोका लक्षण कहा गया था और आगेके छदमे कहा जायगा। यह कहा गया था कि दुष्टजनमे सबसे पहला लक्षण तो यह है कि बात तो बड़ी कोमक सुखकारी नम्रताकी बोलेंगे, पर उनके चित्तमे कपट रहेगा, यह दुष्टका प्रधान लक्षण है। देखनेमे बडे सुहावने, बड़े सुखकारी वचन बोलते है मगर चित्तमे कपट भरा है। कपट क्यो हुआ करता ? विषयोके लोभसे। कोई इन्द्रियके विषयोके लोभसे कपट कर रहा है तो कोई कीर्ति नामवरीकी चाहसे कपट कर रहा है। सो कपटी पुरुष दूसरो का अहित और दु.ख नही विचारता है। चाहे दूसरेको कैसी ही बरबादी हो, पर स्वयंका स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए, यह उनके मनमे बात रहती है, पर ऐसे पुरुषोका संग प्राणियोका अहित करता है। ये दुर्जन अज्ञानी अज्ञानविनाशक पुरुषोसे विपरीत है।

(२३७) **दुर्जनोकी कलंकितशरीरिता व वृद्धिबाधकता**—दूसरा विशेषण है कलकित- तनुः। चन्द्रमाके शरीरमे कलंक बना है। चन्द्र कहलाता है पृथ्वीका यह पिण्ड जो लोगोंको दिखता है। यह खुद देवता नही है किन्तु चन्द्र देवताके रहनेका विमान है। सो उस विमान मे कलक है, उसमे काला काला दाग रहता है। जिसे कोई लोग कहते है कि बुढ़िया रहटा कात रही है, कोई लोग कहते है कि यह जगल है, उसमे हिरण बना है। तो वह जो दाग है वह चंद्रमामे कलक है। तो यह दुष्ट कैसा है ? कलकिततनु., दोषसहित शरीर वाला है।

जिसका मन दोषसे भरा हुआ होता है उसके शरीर पर भी दोष उतरते हुए दिखते हैं। तो यह दोषोका घर है, ऐसे दुर्जनों की संगति लाभकारी नहीं होती। तीसरा विशेषण है, वृद्धि-क्षयोत्पादक. याने चन्द्रमा तो वृद्धि और हानिको उत्पन्न करता है। कृष्णपक्षमे चन्द्रकी कलायें घटती जाती हैं। शुक्लपक्षमे चन्द्रकी कलायें बढती जाती हैं। तो दुर्जन कैसा है? वृद्धिक्षयोत्पादक याने दूसरोकी वृद्धिमे यह दुःखी होता है तो उनका विनाश करनेका ही उसके चित्तमे चिन्तन चलता है। उसे कोई बडे पुरुष नही सुहाते। कोई धनमे बडा है तो उससे द्वेष रखेगा। तो दुर्जनोका हृदय ऐसा कषायसे भरा है कि वह दूसरे लोगोकी प्रगति नही देख सकता। तो जो ऐसी दुष्ट प्रकृतिका है वह दूसरेकी प्रगति नही देख सकता। ऐसे दुर्जनका सग करना वह दूसरेकी प्रगति नही देख सकता। योग्य नही है।

(२३८) दुर्जनोंकी धनविनाशकता दुःखकारिता व दोषपूर्णता—चौथा विशेषण है पद्माशी। चद्रमा तो पद्मा मायने कमलको मुरझा देने वाला है याने कमल दिनमे फूलता है और रात्रिमे मुरझा जाता है। तो यह दुर्जन कैसा है कि पद्मा मायने लक्ष्मी, उसका विनाश करने वाला है याने धनका नाश करने वाला है। दुष्टोकी संगतिमे संगति करने वालेका धन खतम हो जाता है। जैसे बड़े घरके बालक छोटे हृदय वाले बालकोका संग करें, उनकी दोस्ती बनायें तो उसमें कुलीन बालक लुटते ही हैं, उन्हे लाभ कुछ नही प्राप्त होता। तो दुष्टोके संगसे सम्पत्तिका भी नाश होता है। ५वां विशेषण है—कुमुदप्रकाशनिपुण, चंद्रमा तो कुमुद जातिके फूलोंका प्रकाश करनेमें निपुण है। जैसे गदूलके फूल रात्रिको फूलते हैं, तो ये दुर्जन कैसे हैं? कुमुद प्रकाश निपुण, कु कहो खोटा, मुद कहो हर्ष अर्थात् दुःखके प्रकाश करनेमें निपुण है। ये दूसरेका दुःख ही करेंगे। दुष्टसंगसे कोई जीव सुख शान्तिसे नही रह सकता। छठा विशेषण है दोषाकर। जैसे चन्द्रमा दोषा मायने रात्रिका करने वाला है तो यह दुष्ट दोषोका आकर मायने खान हैं। कषायभरा, स्वार्थभरा, कपट भरा दुनियाको धोखा देनेका ही काम है, तो ऐसा दोषाकर दुर्जन संगति करनेके योग्य नही है।

(२३९) दुष्टोंकी मूर्खता कामोद्वेगप्रियता व परपीडाकारिता—७वां विशेषण है जड़। चंद्रमा तो जड़ है मायने शीतल है और दुर्जन जड़ मायने मूर्ख है। संग उसका बताया गया है जो अपने समान हो या अपनेसे गुणोमे अधिक हो। उसका संग लाभ करने वाला होता है। और जो अधम हैं, दुष्ट प्रकृतिके हैं उनके संगमे कभी चैन नही मिल सकती। ८वां विशेषण है कामोद्वेगरस। जैसे चन्द्रमा कामके उद्वेगको बढ़ाने वाला है ऐसे ही दुर्जन पुरुष काम के उद्वेगसे प्रीति करने वाले हैं। जिनको काम विषय अधिक रुचे, दूसरी स्त्रीजनोको देखकर भी कामकी बाधा ज्यादा आये और विषय रुचे वह पुरुष दुष्ट कहलाता है। ऐसे दुर्जनोका

संग किसीको भी लाभकारी नही है। सो यह दुर्जन पुरुष महान दुःखको उत्पन्न करने वाला होता है। यहाँ अंतिम विशेषण दिया है महासुखकर चंद्रमा तो महान् सुखका करने वाला है और दुर्जन महा असुखकर याने बहुत बडे दुःखका करने वाला है। इस छंदमे आचार्यने साहित्यिक छटाके आधारपर दुर्जनकी विशेषता कहा है। अब अगले छन्दमे दुर्जनके कर्तव्यसे उनका परिचय कराया गया है।

दुष्टो यो विदधाति दुःखमपरं पश्यन्सुखेनान्वित
दृष्ट्वा तस्य विभूतिमस्तधिषणो हेतुं बिना कुप्यति।
वाक्यं जल्पति किञ्चिदाकुलमनादुःखावहं यन्नृणां
तस्माद्दुर्जनतो विशुद्धमतयः कांडाद्यथा बिभ्यति ॥४३२॥

(२४०) दुर्जनोंकी परक्लेशकारिता व परसुखासहता—दुष्टजनोकी प्रकृति होती है कि वे दूसरे मनुष्योको सुखी नही देख सकते है। वे दूसरोको सुखी देखकर भीतर ही भीतर जल भुन जाते है। ऐसी दुष्टता विरले पुरुषोमे पायी जाती है, वे तो बहुत नीच वृत्ति वाले है। सो ऐसी बात प्रायः लोगोमे नही मिलती, पर किसी किसी पुरुषमे यह दुर्भावना मिल जाती है। वह दूसरोको सुखी नही देख सकता। कोई सुखी न हो, मै ही एक मात्र सुखी रहू बाकी सब दुःखी रहे, यही जिन्हें पसद है ऐसे दुर्जनोकी कौन कहानी कहे ? ये दुर्जन पुरुष किसी न किसी प्रकार दूसरोपर विपत्ति डालकर उनको दुःखी कर देते है। होते हैं कुछ ऐसे दुष्टजन कि जो दूसरोको दुःखी करनेकी ही बात सोचा करते है और उस उपायमे यदि वे सफल हो गए तो उसमे बड़ा हर्ष मानते है। यह है हिसानन्द रौद्रध्यान। दूसरोको दुःखी देखनेमे ही मौज मानना यह बहुत अधर्म प्रकृति है, दुर्जन पुरुष दूसरोकी बढ़ती हुई विभूतिको देखकर क्रुद्ध हो जाते है, क्रोध उमड़ जाता है। कैसा विचित्र उनके पापका उदय है कि वे स्वय बडे कठिन दुःखमे पड़े रहते है। यही उनको दुःख है, वे दूसरोकी विभूतिको नही देख सकते।

(२४१) दुर्जनोंकी क्रोधशीलता व दुर्वचनव्यवहारिता—ये दुष्ट जन लोगोपर बिना ही किसी कारण क्रोध कर बैठते है। क्रोध करनेकी प्रकृति बहुत बुरी प्रकृति है इससे यह मनुष्य न इस लोकमे सुखी रह सकता है और न परलोकमे सुखी रह सकता है। अज्ञान बसा है। जरा जरासी बातपर क्रोध उमड़ आता। जिनके ज्ञान है उनके एक समान वृत्ति चलती है। वे क्षमाशील होते है, दूसरोको क्षमा कर देते हैं, किसी भी समय क्रोधभाव नही लाते, पर दुष्टजनोकी प्रकृति ऐसी है कि कोई न कोई कारण हो तो क्रोध करें, पर कारण भी कुछ नही तो भी क्रोध करनेकी उनकी आदत बनी हुई होती है। ये दुष्टजन दूसरोको

खोटे वचन कहकर आकुलित कर देते है और इस कारण दूसरे लोग बडे दुःखी हो जाते हैं। जब हृदय खोटा है, स्वार्थमे अधा है तो वचन सही कैसे निकल पायेगे। जो भीतर बात बसी है उसके अनुकूल ही वचनव्यवहार होगा। सो जो निर्मल बुद्धिके धारक है ऐसे पुरुष उन दुष्टजनोके उन वचनबाणोमे दूर रहते है, भयभीत रहते हैं अर्थात् ऐसा प्रसग नही बनाना चाहते कि जिससे मुझपर दुष्टजन वचनबाणोकी वर्षा करें। ये वचन बाणकी तरह चुभते है। बल्कि उससे भी अधिक चुभते है। एक बार बाणका घाव तो कोई सहसता है पर वचनोका घाव नही सह सकना। और ऐसा क्या पडी है कि ऐसे खोटे वचन निकलें कि जिससे दूसरो का हृदय दुखी हो जाय। मर्मभेदी वचन किसलिए निकाले जायें? मगर दुर्जनोको तो भीतर अज्ञान बसा है सांसारिक सुख ही उसे सर्वस्व जचते है, तो कपट वहाँ बढता ही है और उनके वचन भी दूसरोको दुःखी कर दें इस प्रकारके निकलते है।

(२४२) कुसग तजकर सत्संग करनेका उपदेश—यह एक शुद्ध व्यवहार बनानेके लिए आचार्यदेव यह सब उपदेश कर रहे है, सगति यदि भली रहेगी तो इसका उत्थान होगा। सगति जिसकी खोटी हो जाती है वह सभी प्रकारके व्यसनोमे लग जाता है। जुवा खेलनेकी आदत बन जाती जिससे अपने घरका सब धन लुटा देते। नही रहता धन फिर भी जुवाकी आदत कहाँ जाय? तो वह चोरी करता है। फिर झूठ बोलना पडता है, दूसरोपर डकैती करता है, फिर ऐसा जिसका भाव गंदा हो गया वह ब्रह्मचर्य कहाँ पाल सकेगा, वह तो पर-स्त्रीगामी, वेश्यागामी बन जाता है। तो खोटा सग करने वाले पुरुष बडी विपत्तिमे पड जाते। कुलीन घरोमे सत्सगका वातावरण होनेसे उनके सतान अच्छे भावके होते है। बचपन से ही मंदिरमे आना, विनती पढना, पूजा सीखना, पूजा करना, व्रती, त्यागी, साधु सत आयें तो उनकी सेवा करना, गुणियोका गुणगान करना यह सब ऐसा सत्सग है कि जिसमे रहकर बच्चा सम्हला रहता है और वह अपना इहलोक भी सम्हालता है और परलोक भी सम्हाल लेता है।

> यस्त्यक्त्वा गुणसहति वितनुते गृह्णाति दोषान्परे
> दोषानेव करोति जातु न गुण त्रेधा स्वय दुष्टधीः।
> युक्तायुक्तविचारणाविरहितो विध्वस्तधर्मक्रियो
> लोकानदिगुणोपि कोपि न खल शक्नोति सबोधितु ॥४३३॥

(२४३) गुणदृष्टि न करके दोषग्रहण करनेकी दुर्जनप्रकृति—दुष्ट पुरुष अपने मन ही मन समझदार बनते है कि उनको समझानेके लिए बडे-बडे पुरुष भी समर्थ नही हो पाते। जिन्होने समस्त लोकको आनन्दमय कर दिया ऐसे पुरुष भी दुष्ट पुरुषोको सबोधन नही कर

पाते । ये दुष्ट जन दूसरोके गुणोको छोड़कर दोषोपर ही दृष्टि देते हैं। जैसे एक जोंक कीड़ा होता है जो प्रायः पानीके किनारेपर रहा करता है वह यदि किसी दुधारू गाय या भैंसके थनमे लग जाय तो भी वह दूधको नही ग्रहण करता, बल्कि उसके खूनको ही ग्रहण करता है, ऐसे ही दुष्टजन गुणी पुरुषोके गुणोको न देखेंगे बल्कि उनमे दोष ही निकालेंगे। उनकी दोषोकी दृष्टि है, उनके हृदयमे भी दोष भरे हैं। तो वे कषायका उगाल किया करेंगे। दोष ही दोष देखेंगे। तो यह दुष्टजनोका प्रधान लक्षण है कि वे गुणग्राही नही होते किन्तु दोषग्राही होते और दोषोको ही उत्पन्न कराते रहते है। ऐसे दुष्टजन गुणोको तो पैदा नही कर सकते, किन्तु दोषोका ही विस्तार करते रहते हैं। ऐसे मनुष्योका संग न करना जिनकी आदत दोष बखाननेकी अधिक रहती है, जिसकी चाहे निन्दा करते हैं, जिस चाहेकी कमी बताते है, दोष बताते हैं, यह आदत जिनके लग गयी हो उसका संग करनेसे कोई लाभ नही।

(२४४) दुर्जनोकी विवेकहीनता व धर्मनाशकता—ये दुष्ट जन योग्य अयोग्यका बिल्कुल विचार नही करते। कैसा विचित्र कर्मोदय है कि ये दुर्जन पुरुष कैसा दु.खी है? उनके मन, वचन, कायकी कोई चेष्टा भली न होगी, बल्कि दूसरोके दु.खका ही कारणभूत होगी। तो दुष्ट पुरुष योग्य अयोग्यका विचार नही रख पाते और वे धार्मिक क्रियावोका नाश करनेमे उद्यमी रहते हैं। धार्मिक क्रियायें जो परम्परासे आम्नायमे चली आयी है उन सबमें कोई न कोई रहस्य रहता है अन्यथा रूढि न चले, पर उस रहस्यको जब कोई नही जानते तो वे केवल रूढिपर चलने वाले हो जाते। पर आज जितने पर्व और जितने क्षेत्र जितने जो कुछ भी व्यवहारधर्ममे किये जा रहे हैं उन सबमे तत्त्व है, गुणकी शिक्षा है, मगर जिसके तत्त्वदृष्टि नही होती, केवल दोष देखनेकी ही जिनकी आदत होती वे पुरुष बड़े भयकर होते है, वे धार्मिक क्रियावोको उखाडकर फेंक देते है, पर ये माने जाने जितने हमारे पुरषा लोग जो कुछ भी करते आये है उनमे अवश्य ही कोई उत्तम रहस्य है, लक्ष्य है, पर उसका ध्यान रहे नही तो उसकी रूढि बन जाती है।

(२४५) महापुरुषोसे चली आई हुई प्रथाका प्रयोजन न जाननेपर ही रूढिका आरोप—एक ऐसा ही कथानक है कि एक सेठने जब उसका कोई काम काजका अवसर आया, प्रीति भोज किया तो वहां यह सोचा कि लोग जिस पातलमे भोजन करते हैं उसीमें छेद कर जाते है, पातलमे भोजन परोसा गया तो लोग भोजन कर चुकनेके बाद दांतोका मल निकालनेके लिए उस पातलमे से ही सीकें निकालते है जिससे उस पातलमें छेद हो जाता है। यह सोचकर उसने क्या किया कि जब पातलमे भोजन (पूडी, कचौड़ी, मिठाई आदि) परोसा तो उसके साथ ही चार-चार अंगुलकी दो दो सीक भी परोस दिया। तो देखिये सीक परोसनेका

यहाँ प्रयोजन तो यह था कि कोई पातलसे छेद न करे पर इस प्रयोजनका पता न होनेसे देखना क्यासे क्या विडम्बना बन गई। सेठ जी तो गुजर गए। अब उनके लडकोंका कोई कामकाज आया, मानो किसी लडकेकी लडकीका विवाह हुआ तो उस लडकेने सोचा कि हमको अपने पिताका नाम ऊँचा रखना है, अपने पिताकी कोई बात गिराना नही है, बल्कि उठाना है। सो हमारे पिताने जैसा समारोह किया था उससे हमे डबल काम करना है, कम नही करना है। तो सेठने मानो दो मिठाइयाँ बनवायी थी तो उसने ४-५ मिठाइयाँ बनवायी और और भी चीजे अपने पितासे अधिक बनवायी। सभी चीजें पातलमे परोसी गईं। जब सीक परोसनेकी बारी आयी तो अगुलके बजाय १२-१२ अगुलके डडे परोसवाये। देखिये—प्रयोजनका पता न होनेसे सीककी जगह डडा परोसनेकी नौबत आ गई। अब उसके मरनेके बाद जब उसके लडकेको कोई कामकाज करना हुआ तो उसने विचारा कि हम अपने पितासे भी दूने स्टैन्डर्डसे काम करेंगे। उन्होने ४-५ मिठाइयाँ बनवायी थी तो हम ८-१० मिठाइयाँ बनवायेगे। देखिये चाहे दो चार मिठाई बनवाई जाये चाहे ८-१० खर्चा करीब-करीब उतना ही लगेगा। क्योकि ४-५ मिठाइयाँ होनेसे अधिक अधिक परोसना पड़ेगा और ८-१० मिठाइयाँ हो जानेसे थोडा थोडा परोसना पडेगा। खर्चमे कोई खास फर्क नही होता, सो उसने करीब १० तरहकी मिठाइया बनवायी। जब पगत बैठी तो सभी चीजें परोसते गए, अन्तमे जब सीककी बारी आयी तो उसने कोई डेढ डेढ हाथके डडे भी पातलमे परोसवा दिए। अब क्या होगा उन डडोका सो बताओ ? तो प्रयोजनका पता न होनेसे जैसे वहाँ विडम्बना बन गई इसी प्रकार यहाँ धार्मिक कार्योंमे भी प्रयोजनका पता न होनेसे रूढिवाद बन गया और कुछसे कुछ अटपट वृत्तियाँ लोगोकी बन गईं। पहले जमानेमे जो भी धार्मिक क्रियाकांड किये जाते थे उनमे कुछ तथ्य था, बेकार न थे, पर आज उनके प्रयोजनका पता न होनेसे वे सब बातें उठ गईं और यदि कोई उनको करता भी है तो देखने वाले लोग उसकी खिल्ली उडाते है तो हमे उन धार्मिक क्रियाकाण्डोका ख्याल रखना चाहिए पूजन, दर्शन, वंदन, यम, नियम आदिकमें। हमारी सर्वत्र एक धार्मिक दृष्टि रहे, पर दुष्ट लोग उन धार्मिक कृत्योका विनाश कर डालते है।

दोदेषु स्वयमेव दुष्टधिषणो यो वर्तमानः सदा
तत्रान्यानपि मन्यते स्थितिदतस्त्रैलोक्यवर्त्यंगिनः।
कृत्यं निंदिनमातनोति वचन यो दुःश्रुव जल्पति
चापारोपितमार्गणादिव खलात्सतस्ततो बिभ्यति ॥४३४॥

(२४६) दुष्टकी दुष्ट बुद्धिका एक उगाल—दुर्जन पुरुषोकी बुद्धि दुष्ट होती है, उनकी

बुद्धिमे ऐसी ही बातें उतरेंगी जिनसे दूसरोको पीडा हो, धोखा हो। और ज्यो ज्यो वे दूसरों को कष्ट देंगे त्यो त्यो वे आनन्द मनायेंगे। दुष्ट जन तीव्र रौद्रध्यानी होते है। रौद्रध्यान तो औरोके भी पाया जाता है। सम्यग्दृष्टिके भी अविरत अवस्थामे रौद्रध्यान होता है मगर भद्र और जो दुष्ट प्रकृतिके लोग है उनके रौद्रध्यान ही मुख्य है, मानो उनमे जीव ही नही है, झूठ बोलनेमे, मजाक करनेमे उनको बहुत आनन्द आता है। चाहे किसीपर कैसी ही आफत आये, किसीकी चीज चुरा लेना इसे तो वे कुछ भी अयोग्य नही समझते। दूसरेकी स्त्रीपर कुदृष्टि करना, व्यभिचारकी प्रकृति होना यह सब गुंडागर्दी दुष्ट पुरुषोसे होती है। तृष्णा लालच इस ढंगसे होता कि कुछ न कमाना पड़े किन्तु लूटमार करने, धोखा देनेकी आदत होती है। तो ऐसे जो दुष्ट जन है उनका संग न करना चाहिए, क्योंकि दुष्टसंगसे अपने परिणाम भी बिगडते हैं। ये दुष्ट जन सदा दूसरोके दोषोकी तरफ ही दृष्टि रखते है। गुणियो के ऐब देखना, साधारणजनोके ऐब देखना, उन ऐबोकी कथनी करना, दोष सुन सुनकर प्रसन्न रहना, यो दोषदृष्टि रहती है। वे दुष्टजन बडे दयापात्र है जिनको अपनी कुछ सुध नही है, खुद विपत्तिमें अपनेको डाल रहे है, वे दुष्ट जन अज्ञानी है, इस ससारमे रुलने वाले है। सो है तो वे दयापात्र मगर उनकी सगति कोई करेगा धीरे धीरे उसका भी वैसा ही परिणाम बन जायगा। यह दुर्जन जिस पुरुषकी या जिस पदार्थकी सगति करता है उसके दोष ही दोष ग्रहण करता रहता है। दुष्टताकी प्रकृति प्राय: जन्मसे होती है, किसीकी सोहबतसे भी वैसी प्रकृति बन जाती है।

(२४७) दुष्टमें दोषकी उद्भूति—दोष देखनेकी, दोष बोलनेकी जिसकी प्रकृति है ऐसा पुरुष चाहे किसी समय बडा हितू बन रहा हो तो भी उसका सग ठीक नही होता। वह तो दोष ही ग्रहण करता है, यदि खुदके गुणपर दृष्टि हो तो दूसरी जगह गुण ग्रहण करे। जैसे खुदमे वीतराग होनेका परिणाम बने तो वीतराग भगवानकी भक्ति की जाय तो ऐसे ही जिसमे खुद गुण हो वह दूसरेके गुणोको देखेगा। जो स्वय दोषमय है उसे सब जगह दोष ही दिखेंगे। जैसे लोकमे देखा जाता है कि कोई पुरुष किसी कारण दुःखी है तो उसे दुनियामे सब दुःखी नजर आते है, क्योकि उसका उपयोग स्वय दुःखमे है और कोई पुरुष सांसारिक सुखमे है तो उसे सभी जगह सुख नजर आयगा, उसे कोई दुःखी न दीखेगा। कोई दुःखी भी हो तो उसे देखकर यह समझेगा कि यह वास्तवमे दुःखी नही है, यह तो दुःखका रूपक बना रहा है। यो नजर आयगा। एक चुटकला है कि एक खवास बादशाहकी हजामत बनाने आता था। तो नाई लोग बाते बहुत करते है हजामत बनानेमे, सो वह खवास बादशाहसे भी खूब बातें करे। एक बार बादशाहने उससे पूछा कि खवासजी

यह तो बताओ कि इस समय हमारी प्रजाके लोग दुःखी है या सुखी ? तो खवास बोला—महाराज इस समय आपकी प्रजा बहुत सुखी है घर घर घी दूधकी नदियाँ बहती हैं। तो बादशाहने फिर पूछा कि तुम्हारे यहाँ कितनी गाय, भैंसें है ? तो २०-२५ जितनी भी बताया, तो बादशाह समझ गया कि इसके यहाँ खूब घी दूध होता है और सुखसे रहता है इसलिए इसको सारी प्रजा सुखी नजर आ रही, सो क्या किया कि उसपर कोई झूठा मूठा आरोप लगवाकर उसकी सब गाय, भैंसें कुड़क कर ली। फिर ५-७ दिन बाद वही खवास बादशाह की हजामत बनाने आया तो बादशाह फिर पूछ बैठा—कहो खवास जी इस समय हमारी प्रजा सुखी है या दुःखी ? तो खवास बोला—महाराज इस समय आपकी प्रजा बड़ी दुःखी है, घी दूधके तो दर्शन ही किसीको नही होता। तो बादशाह बोला—देखो जब तुम खुद सुखमे थे तब सारी प्रजाको सुखी समझ रहे थे और जब तुम खुद दुःखमे हो तो सारी प्रजा तुमको दुःखी नजर आ रही। खैर तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारी सब गाय, भैंसें तुमको वापिस कर दी जायेंगी। तो अपने अनुभवसे ही देख लीजिए यदि खुदको मौज है, खूब काम चल रहा है, सब प्रकारसे खुशहाली है, तो उसे सारी जनता सुखी नजर आयगी और अगर खुद दुःखमे है तो सबके ऊपर उसे दुःख ही दुःख दिखेगा। यह तो एक आदत है ऐसी। तो दुर्जन पुरुष स्वय दोषसे खूब भरे है, छल कपट उनमे बहुत अधिक भरा है, तृष्णा बहुत अधिक बढी है, और और भी दोष भरे है तो ऐसे दोषसे भरे दुर्जन पुरुषको बाहर नजर आयगा तो दोष ही नजर आयेंगे, गुण नजर न आयेगे, और जिनको गुणोमे प्रेम है उनको गुण ही नजर आयेंगे।

(२४८) दुर्जनोकी दोषप्रियता व दोषग्राहिता—देखिये—जैसे आजकल साधु जन, मुनिजन जितने साधक होते है तो वे गुण ही गुणसे भरे हो यह बात नही हो सकती, अगर दोष न होते तो वह साधक ही क्यो बनता ? वह तो साधक कहलाता। आखिर साधक बन कर दोषोका ही तो निवारण कर रहा है। तो साधु जनोमे कुछ दोष भी होते और गुण तो विशेषतया होते, यह नियमकी बात है। अगर दोष न हो तो वह अरहत ही न हो जाय। सो कुछ दोष तो होते ही है, यह तो प्राकृतिक बात है, मगर उनकी आस्था तो मोक्षमार्गकी है और अपनी बुद्धि माफिक वे गुणके रास्तेपर ही चल रहे है। अब श्रावक जन जिनको गुणोसे प्रेम है उन्हे साधु संतोमे गुण ही गुण नजर आयेंगे, अगर कोई एक आध दोष भी हो तो वे भी गुणग्राही प्रकृतिके कारण गुणके रूपसे ही नजर आयेंगे, दोष रूपसे नही, और जिनका दिल दोषोसे भरा हुआ है। कषायसे भरा हुआ है उनको साधुवोमे दोष ही नजर आयेंगे, गुणकी तरफ रंच भी दृष्टि नही। तो जो दुष्टजन है उनकी दृष्टि दोषोपर ही रहती है

और वे दूसरोंके दोष ही ग्रहण करते हैं और वे दूसरोंको दोषी ही समझते हैं । अभी कोई व्यभिचार प्रिय पुरुष हो, जो व्यभिचारकी आदत रखता है, परस्त्री, वेश्यागमन आदिक कितने ही प्रकारके दोष रखता हो तो उसकी नजरमे प्रायः सब लोग दोषी ही नजर आयेंगे, और वह सब पर शंका रखेगा कि शायद ये भी ऐसे ही होगे । भले ही ऊपरसे ऐसे दिख रहे मगर इनकी भी आदत यह ही होगी, यो ही उसे नजर आयगा । और जिनको ब्रह्मचर्य प्रिय है उनको सर्वत्र ये गुण नजर आयेंगे, सब ठीक है, शीलसे रहते है, अपनी धार्मिक वृत्तिसे चल रहे है···यही नजर आयगा । तो जो दुष्ट जन है उनको सर्वत्र दोष ही नजर आते है ।

(२४९) क्रूर चित्त वालोंके संगकी हेयता—यहाँ दुर्जनोकी व्याख्या करनेका ध्येय नही है किन्तु दुर्जनोंका सग न करना चाहिए यह बात बता रहे है । जो जैसा है सो रहे, हमको दुर्जनोके दोषोपर दृष्टि नही देना है मगर दुर्जनोका संग छोड़ना है । सग छोडनेके ही प्रयोजनसे दुर्जनोके दोषोका वर्णन किया जा रहा है । ये दुष्ट जन निन्द्यसे निन्द्य कार्य भी कर डालते है । जिसको चाहे मार डालते है । आजकल अनेक लोग ऐसे उद्दण्ड हो गए है कि थोड़ेसे रुपयोके पीछे लोगोकी जान ले लेते है । कही भी लूट मार रहे अथवा जरासा भी गुस्सा आया और उनके हाथमे हथियार हो तो जान ले लेनेमे जरा भी रहम नही करते । तो समझिये ऐसे लोगोका हृदय कितना क्रूर है । तो जो ऐसे दुष्ट जन है वे निन्द्यसे भी निन्द्य कार्य कर डालते है और वे कडवे, दूसरोको तुरन्त दुःख देने वाले वचन बोलनेमे रच भी नहीं हिचकते ।

(२५०) सब जीवोंके सुखकी भावना होनेपर प्रवृत्तियोंकी शुभरूपता—देखो जीवन मे और अधिक गुण न आ सकें तो एक यह गुण तो आ ही जाय कि हममे जितनी सामर्थ्य है उतना दूसरोका भला करनेका ही प्रयास करें, और अपने वचन दूसरोको सुखकारी, हितकारी बोलें । उन वचनोसे चाहे बुरा बोल ले चाहे भला बोल ले । अगर बुरा बोलते है तो जब तक खुदमे दुःख न हो तब तक कोई बुरे वचन नही बोल सकता । जब स्वय दुःखी हैं तब ही बुरा बोलते है । और बुरा बोलनेके फलमे आफतें बढती है, दूसरा व्यक्ति तो बुरे वचन सुनेगा वह भी बुरा बर्ताव करेगा । फिर झगडे बढते जाते है । तो खोटे वचन न बोलें, प्रिय, हितकारी, परिमित, कमसे कम वचन बोले और मन इतना विशुद्ध रखें कि सबका भला हो । किसीका बिगाड सोचनेसे पापका ही बध होगा और यह जीव दुःखी रहेगा इसलिए मन इतना साफ होना चाहिए कि किसी भी जीवका अनिष्ट न विचारें, दुःख न विचारें, कभी कोई किसी तरहका दुर्व्यवहार भी करे तो भी उसका अहित न विचारें । इतनी साधना अगर किसीकी बन गई हो तो समझ लो कि वह उन्नतिकी ओर चल रहा और किसीने अगर दुर्व्यवहार किया और हम भी उसके साथ दुर्व्यवहार करने लगे तो इसके मायने यह हुआ कि

दूसरा तो मूर्ख है ही, उसके साथ हम भी मूर्ख बन गए। तो अपने वचनोंपर एक नियन्त्रण रहना चाहिए फिर देखिये उसका आनन्द। अगर दूसरेसे सम्मानके वचन बोलेंगे तो वह भी अच्छे वचन बोलेगा और वह खुश होकर आपकी सेवामे तत्पर रहेगा। तो खोटे वचन न निकालना और सबका भला सोचना ये दो गुरा अपनेमे आने चाहिएँ, नही तो मनुष्य होनेका लाभ क्या ?

(२५१) मन, कर्ण, नेत्र आदिका सही उपयोग न होनेपर इनके पुनः न मिलने और स्थावर जैसे भवोमे रुलते रहनेकी नौबत—मनुष्यको श्रेष्ठ मन मिला है, चारो गतियोमे सैनी जीव पाये जाते है पर इतना श्रेष्ठ मन अन्य गतियोमे नही होता जितना श्रेष्ठ मन मनुष्यमे हो सकता। और इस मनके नामपर ही इसका नाम मनुष्य रक्खा गया। जिसके श्रेष्ठ मन हो उसका नाम मनुष्य। तो इतना श्रेष्ठ मन पाकर यदि हम मनको बिगाडें तो कर्म मानो यह कहेगे कि तुझे मनकी जरूरत ही नही है, तुझे मन दिया है, और तूने इस मनका खोटा उपयोग किया है तो अब तुझे मन न मिलेगा याने अब तू असज्ञी बन जायगा। सभी इन्द्रियोका ऐसा ही प्रयोग है। कर्णेन्द्रिय मिली है तो कानोसे प्रभुका उपदेश सुनना, भगवान का पूजा पाठ स्तवन सुनना इसमे कर्णेन्द्रियका उपयोग है। अब कोई मनुष्य श्रेष्ठ कर्णेन्द्रिय को पाकर भी यदि खोटी हो बात सुनना चाहता है, रागरागनी, प्रेमकी बातें, कामवर्द्धक बातें सुनना पसंद करे तो उसको फिर अगले भवमे कान थोडे ही मिलेंगे। कर्म मानो उससे यह कहेगे कि तुझे कानोकी जरूरत नही है तू चल चारइन्द्रिय जीव बन जा। अब कोई आंखोका यदि खोटा उपयोग करे जैसे किसी अन्य स्त्रीका रूप निहारना खोटे भावसे या ऐसे ही खेल तमाशे देखना, सिनेमा देखना, राग रागनीकी बातें देखना, चोरी चमारीकी बातें देखना आदि तो ऐसा आंखोका उपयोग करने वालेको यह समझ लो कि उसे अगले भवमे आंखें न मिलेगी, तीनइन्द्रिय या उससे भी कम इन्द्रियका जीव बनेगा। तो इन इन्द्रियोका यदि सही प्रयोग न कर सके तो आगे यह आशा न रखें कि कोई अच्छा भव मिलेगा। हमारा मन सही हो, वचनव्यवहार ठीक हो, कायकी चेष्टा ठीक हो तो आगे भी हम प्रगति पायेंगे।

(२५२) दुष्टोका मर्मभेदी वचनव्यवहार—जिसका मन, वचन, काय दूषित है ऐसे दुर्जन पुरुषोका सग भला नही है। दुष्टोका वचन ऐसा खोटा निकलता है और ऐसा बुरा घाव करता है जैसे कि धनुपपर चढा हुआ वाण धनुषसे छूट जाय तो जिसको लगे उसको व्यथा पहुचाता है। देखिये—मुखकी जो शक्ल है सो जिस समय यह गुस्सामे आता है और वचन बोलता है तो इसका मुख धनुषकी तरह चढा हुआ हो जाता है। चित्रमे धनुषका जैसा चित्रण है ठीक वैसा धनुष सा बन जाता है। और जब यह बोलता है तो यह धनुषकी तरह चढ जाता है और इस चढ़े हुए धनुषसे बचनवाण निकलता है तो जैसे धनुष परसे वाण निकल

जाय तो फिर यदि वह धनुष चलाने वाला कुछ पछतावा करे, विवेक करे, मन्नतें करे कि ऐ बाण मैंने व्यर्थ ही तुझे छोड दिया, तू वापिस आ जा, तो वह छोड़ा हुआ बाण वापिस नही आ सकता। वह तो जिसका लक्ष्य करके छोडा गया उसके हृदयको बेध देगा, ठीक ऐसे ही यह मुख धनुषकी तरह है और इससे जो वचन निकलते है वे बाणकी तरह हैं। यदि मुखसे वचन रूपी बाण निकल चुका तो फिर कोई कितनी ही मिन्नतें करे पर वह वापिस नही हो सकता, वह तो जिसका लक्ष्य करके बोला गया उसके हृदयमे गहरी चोट पैदा करेगा। जब कषाय जगती है तब इस जीवको सूझता कुछ नही है, वह दुर्वचन बोलता है, पर दुर्वचन बोलनेसे इसको फायदा क्या मिला ? उल्टा विपत्तिमे पड गया। जिसपर वह वचनबाण लगा उसका भी अनर्थ हो गया। तो जो कषायवान हैं, कपट रखते है, आरामप्रिय है, तृष्णाका जिनके बहुत लगाव है, अन्यायका दूसरोसे व्यवहार कर, उनको पीडा देकर धनोपार्जन करना चाहते है वे दुष्ट है, और ऐसे प्राणियोकी संगति करना अनर्थकारी होता है।

योन्येषां भषणोद्यतः श्वशिशुवच्छिद्रेक्षणः
सर्पवदग्राह्यः परमाणुवन्मुरज वद्वक्त्रद्वयेनान्वितः।
नानारूपसमन्वितः शरदवद्वको भुजगेणवत्कस्यासौ
न करोति दोषनिलयश्चित्तव्यथां दुर्जनः ॥४३५॥

(२५३) दुष्टोंकी भौंकने व दोषदेखनेकी प्रकृति—दोषोका घर यह दुर्जन पुरुष किस के चित्तकी पीड़ाको नही करता। जिसकी आदत कुत्ते अथवा कुत्तेके बच्चेकी तरह दूसरोको देखकर भौंकनेकी है। जैसे बिना ही कारण कुत्तेके बच्चे जिस मनुष्यको देखते हैं उस ही की तरफ भौंकने लगते है ऐसे ही ये दुर्जन मनुष्यको देखते है, वे चाहे गुणवान हो चाहे दोषवान हो, उनसे कुछ न कुछ कह ही बैठते है। दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषोकी आदत बकवाद करनेकी अधिक होती है, गुणीकी भी मजाक करते, पापीकी भी मजाक करते, तो ऐसे पुरुषोसे जो कुलीन जन हैं, भले लोग है वे दूर ही रहते हे, बल्कि कभी कोई दुष्ट गुंडा पुरुष कुछ बात भी कहे तो वे सज्जन पुरुष इस तरहसे निकल जाते है जैसे मानो कुछ सुना ही नही। और यह दुष्ट भी यह जान लेगा कि इसने तो मेरी कुछ बात सुना ही नही। तो जो दुष्ट जन है वे कुत्ते के बच्चोकी तरह बिना ही कारण जिस चाहे मनुष्यको देखकर बरबाद करते हैं, भौंकते रहते हैं, ये दुष्ट पुरुष सांपकी तरह छिद्र ही देखते है। जैसे सांप इसी फिक्रमे रहता है कि मुझे कोई छिद्र दिख जाय जमीनमे कही पर जिससे मैं वहाँ पर घुसकर अपने प्राण बचा सकूं। भले ही वह सांप कही बाहर लोटे फिर भी उसके चित्तमे यह बात रहती है कि वह है बिल। वह है छिपनेकी जगह। यह बात पहले मालूम करके रखता है तब ही बाहरमे वह डोलता

दूसरा तो मूर्ख है ही, उसके साथ हम भी मूर्ख बन गए। तो अपने वचनोपर एक नियंत्रण रखना चाहिए फिर देखिये उसका आनन्द। अगर दूसरेसे सम्मानके वचन बोलेंगे तो वह भी अच्छे वचन बोलेगा और वह खुश होकर आपकी सेवामे तत्पर रहेगा। तो खोटे वचन न निकालना और सबका भला सोचना ये दो गुण अपनेमे आने चाहिएँ, नही तो मनुष्य होनेका लाभ क्या?

(२५१) मन, कर्ण, नेत्र आदिका सही उपयोग न होनेपर इनके पुनः न मिलने और स्थावर जैसे भवोमे रुलते रहनेकी नौबत—मनुष्यको श्रेष्ठ मन मिला है, चारो गतियोमे सैनी जीव पाये जाते है पर इतना श्रेष्ठ मन अन्य गतियोमे नही होता जितना श्रेष्ठ मन मनुष्यमे हो सकता। और इस मनके नामपर ही इसका नाम मनुष्य रक्खा गया। जिसके श्रेष्ठ मन हो उसका नाम मनुष्य। तो इतना श्रेष्ठ मन पाकर यदि हम मनको बिगाड़ें तो कर्म मानो यह कहेगे कि तुझे मनकी जरूरत ही नही है, तुझे मन दिया है, और तूने इस मनका खोटा उपयोग किया है तो अब तुझे मन न मिलेगा याने अब तू असंज्ञी बन जायगा। सभी इन्द्रियोका ऐसा ही प्रयोग है। कर्णेन्द्रिय मिली है तो कानोसे प्रभुका उपदेश सुनना, भगवानका पूजा पाठ स्तवन सुनना इसमे कर्णेन्द्रियका उपयोग है। अब कोई मनुष्य श्रेष्ठ कर्णेन्द्रियको पाकर भी यदि खोटी ही बात सुनना चाहता है, रागरागनी, प्रेमकी बातें, कामवर्द्धक बातें सुनना पसंद करे तो उसको फिर अगले भवमे कान थोड़े ही मिलेंगे। कर्म मानो उससे यह कहेगे कि तुझे कानोकी जरूरत नही है तू चल चारइन्द्रिय जीव बन जा। अब कोई आँखोका यदि खोटा उपयोग करे जैसे किसी अन्य स्त्रीका रूप निहारना खोटे भावसे या ऐसे ही खेल तमाशे देखना, सिनेमा देखना, राग रागनीकी बातें देखना, चोरी चमारीकी बातें देखना आदि तो ऐसा आँखोका उपयोग करने वालेको यह समझ लो कि उसे अगले भवमे आँखें न मिलेगी, तीनइन्द्रिय या उससे भी कम इन्द्रियका जीव बनेगा। तो इन इन्द्रियोका यदि सही प्रयोग न कर सके तो आगे यह आशा न रखें कि कोई अच्छा भव मिलेगा। हमारा मन सही हो, वचनव्यवहार ठीक हो, कायकी चेष्टा ठीक हो तो आगे भी हम प्रगति पायेंगे।

(२५२) दुष्टोका मर्मभेदी वचनव्यवहार—जिसका मन, वचन, काय दूषित है ऐसे दुर्जन पुरुषोका संग भला नही है। दुष्टोका वचन ऐसा खोटा निकलता है और ऐसा बुरा घाव करता है जैसे कि धनुपपर चढा हुआ बाण धनुषसे छूट जाय तो जिसको लगे उसको व्यथा पहुचाता है। देखिये—मुखकी जो शक्ल है सो जिस समय यह गुस्सामे आता है और वचन बोलता है तो इसका मुख धनुषकी तरह चढा हुआ हो जाता है। चित्रमे धनुषका जैसा चित्रण है ठीक वैसा धनुप सा बन जाता है। और जब यह बोलता है तो यह धनुषकी तरह चढ जाता है और इस चढ़े हुए धनुषसे बचनबाण निकलता है तो जैसे धनुष परसे बाण निकल

कठिनतासे वशमें आ पाते है। ये सर्पकी तरह वक्र होते है, इनकी गति, इनकी प्रवृत्ति टेढी ही होती है। तो ये दुष्ट जन दोषोका घर होनेके कारण सभी जीवोके चित्तको कष्ट पहुचाते रहते है। क्या नफा है कि मेरे द्वारा किसीको कष्ट पहुंचे ? यदि मैं किसीका बहुत अधिक उपकार भी नही कर पाता, नही है सामर्थ्य इतना तो ध्यान रखा जाय कि मेरे द्वारा किसी को कष्ट भी तो न पहुचे, मगर दुर्जनोमे यह बुद्धि नही होती है। दोषोका घर होनेके कारण ऐसा ही मन, ऐसे ही वचन, और ऐसी ही कायकी चेष्टा होती है कि दूसरे लोग धोखा खा जायें और कष्ट सहन करें। तो ऐसे दुर्जनोका सग त्याज्य है यह बात इस प्रकरणमे बतायी जा रही है।

गाढ श्लिष्यति दूरतोऽपि कुरुतेऽभ्युत्थानमार्द्रेक्षय
दत्तेऽर्द्धासनमातनोति मधुर वाक्य प्रसन्नाननः।
चित्तांतर्गतवञ्चनो विनयवान्मिथ्यावधिर्दुष्टधी
र्दुखायामृतभर्मणा विषयो मन्ये कृतो दुर्जनः ॥४३६॥

(२५६) दुर्जनोका ऊपरसे अतिमधुर व्यवहार व अन्तः ठगनेका भाव—यहां दुर्जनका प्रकरण चल रहा है, दुर्जनकी सगतिसे बचना बहुत आवश्यक है, क्योकि जीवनमे दुष्टसंगति से बडी बडी विपत्तियां आती है। सो ही इस प्रकरणमे यह बतला रहे है कि दुष्टोका संग तजना चाहिये। दुष्ट कैसे होते है, उनकी क्या पहिचान है, यह वर्णन चल रहा है। मुख्य पहिचान और उनकी मुख्य क्रिया है यह कि दूसरोको देखकर वे उनका बडा सम्मान करेंगे, पर भीतरमे कपट रखेगे, यह दुष्ट जनोकी क्रिया होती है, दुर्जन पुरुष दूसरोको दूरसे ही देखकर उठकर सत्कार करेंगे, पास आनेपर बड़े प्रेमसे मिलेंगे उनको अपने आसनपर बैठायेंगे, बड़े प्रसन्न होगे, बड़े भले वचन बोलेंगे, इतना करनेमे तो कोई हानि नही मगर उनके दिल मे कपट है और कोई अपनी स्वार्थ साधनाकी ही बात रख रहे है इस कारण ये सब उनके अवगुणमे आ गए। करेंगे दूसरोका सत्कार और भीतर रखेंगे उनके प्रति कपट जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध करेंगे और उन दूसरोका चाहे कुछ हो।

(२५७) वस्तुत कर्मसंगकी अनर्थकारिता—मुख्य बात तो यह है कि वास्तवमे देखा जाय तो दुष्टसग तो कर्मोका सग है, उन कर्मोके सगसे दूर हटना चाहिए, पर उसका पात्र वही बनेगा जो कुसगको छोडकर सत्सगमे रहेगा। वही कर्मोके नाशका उपाय बना सकता है। लोग बाहर देखते है और और बातें, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा विरोधी है, यह गैर है पर यह नही देखते कि मेरे साथ जो कर्म लगे है वे ही मेरे शत्रु है, दूसरा जीव कोई मेरा शत्रु नही। स्वयके पापका उदय होगा तो दूसरे भी उसके एक साधन बन जायेंगे दुःखके,

फिरता है। तो जैसे साँप छिद्रको ही खोजता, छिद्र मायने बिल ऐसे ही दुष्ट लोग दूसरेके छिद्र को ही मायने दोषको ही देखने वाले होते हैं। कैसा पापका उदय है उन दुष्ट जनोके कि उन का उपयोग सदा मलिन रहता है, गुणकी ओर उनका चित्त ही नही जाता। तो दुष्टजन साँप की तरह दूसरेके दोषोको ही खोजते रहते है।

(२५४) दुर्जनोकी अग्राह्यता व द्विमुखता—दुर्जन परमाणुकी तरह अग्राह्य हैं। जैसे कोई परमाणुको ग्रहण नही कर सकता। ये जितने दिखने वाले पदार्थ है हैं तो ये पुद्गल, मगर अनन्त परमाणुवोके पिण्ड हैं तब हम इनको छू सकते है, इन्हे किसी उपयोगमे भी ले सकते है, मगर एक परमाणु ग्रहण करने लायक नही हो पाता। उसका पता ही नही पाड़ सकते कि है कहाँ? ऐसे ही दुर्जन पुरुषके भीतरका कोई पता ही नही पाड सकता कि इसके दिलमे क्या बसा हुआ है। तो जैसे परमाणु इन्द्रियके ग्रहणमे नही आता इसीप्रकार यह दुर्जन पुरुष भी दूसरेके द्वारा पकडा नही जा सकता। याने वह किसीके फन्देमे नही आ पाता। वह उद्दण्ड है। सज्जन लोग तो उससे दूर ही रहा करते हैं। जैसे मृदग दो मुख वाला होता, दोनो तरफसे बजता है ऐसे ही यह दुर्जन पुरुष भी दो मुख वाला है, तब ही उसे दोगला कहते है। उसके दो गले है, मायने किसीसे कुछ कहना किसीसे कुछ कहना एकसे दूसरी बात कहना, दूसरेसे उससे खिलाफ बात कहना, मित्रोमे वह द्वेष उत्पन्न कर देगा। कोई दो मित्र हो और दुर्जनको मिल जायें तो उसे उसके खिलाफ कहेगा, उसको उसके खिलाफ कहेगा। दोष वाले मनुष्योकी यह आदत ही है खिलाफ बात बोलें जिससे उसे भी गुस्सा आये। उसे दोष ही प्रिय होते है। तो जैसे मृदगके दो मुख होते हैं और दोनो मुखोसे बजता रहता है ऐसे ही दुर्जन पुरुषके भी दो मुख होते हैं, किसीसे कुछ कहा किसीसे कुछ कहा और दोनो मुखोको ही बजाता रहता है।

(२५५) दुष्ट जनोकी विचित्ररूपधरता व अवशता—दुष्ट पुरुषोका अलंकारके रूप मे साहित्यके ढगसे चित्रण किया है। ये शरदऋतुकी तरह हैं। जैसे शरद ऋतुमे नाना तरह के फल फूल वाली होती है ऐसे ही दुर्जन पुरुष भी तरह तरहके रूप बदलने वाले होते हैं। शरीरका रूप भी बदलें, मनका रूप बदलें, वचनका रूप बदलें। अत्यन्त धोखा देने वाले होते है। ऐसे युगके निन्दा प्रिय दोष देखने वाले पुरुषोका सग न करना चाहिए। इस रूप बद-लनेके कारण कभी किसीका शत्रु बन जाता, कभी किसीका मित्र बन जाता, यह ही रूप बद-लता है। कभी यो जचेगा कि यह मेरा बडा हितू है पर है वह दुष्ट, कपट वाला तो किसी समय उससे भयकर चोट पायगा। यह दुष्ट पुरुष काले सर्पकी तरह अवश है। जैसे महाभुजग किसीके द्वारा वश नहीं किया जा पाता, मुश्किलसे वश होता है ऐसे ही दुर्जन पुरुष भी बडी

कठिनतासे वशमें आ पाते है । ये सर्पकी तरह वक्र होते है, इनकी गति, इनकी प्रवृत्ति टेढी ही होती है । तो ये दुष्ट जन दोषोका घर होनेके कारण सभी जीवोके चित्तको कष्ट पहुंचाते रहते है । क्या नफा है कि मेरे द्वारा किसीको कष्ट पहुंचे ? यदि मैं किसीका बहुत अधिक उपकार भी नही कर पाता, नही है सामर्थ्य इतना तो ध्यान रखा जाय कि मेरे द्वारा किसी को कष्ट भी तो न पहुचे, मगर दुर्जनोमे यह बुद्धि नही होती है । दोषोका घर होनेके कारण ऐसा ही मन, ऐसे ही वचन, और ऐसी ही कायकी चेष्टा होती है कि दूसरे लोग धोखा खा जायें और कष्ट सहन करें । तो ऐसे दुर्जनोका सग त्याज्य है यह बात इस प्रकरणमे बतायी जा रही है ।

गाढ श्लिष्यति दूरतोऽपि कुरुतेऽभ्युत्थानमार्द्रेक्षय
दत्तेऽर्द्धासनमातनोति मधुर वाक्य प्रसन्नानन· ।
चित्तांतर्गतवञ्चनो विनयवान्मिथ्यावविर्दुष्टधीं
दु खायामृतभर्मणा विषयो मन्ये कृतो दुर्जनः ।।४३६।।

(२५६) दुर्जनोका ऊपरसे अतिमधुर व्यवहार व अन्तः ठगनेका भाव—यहाँ दुर्जनका प्रकरण चल रहा है, दुर्जनकी सगतिसे बचना बहुत आवश्यक है, क्योकि जीवनमे दुष्टसंगति से बडी बडी विपत्तियां आती है । सो ही इस प्रकरणमे यह बतला रहे हैं कि दुष्टोका संग तजना चाहिये । दुष्ट कैसे होते है, उनकी क्या पहिचान है, यह वर्णन चल रहा है । मुख्य पहिचान और उनकी मुख्य क्रिया है यह कि दूसरोको देखकर वे उनका बडा सम्मान करेंगे, पर भीतरमे कपट रखेगे, यह दुष्ट जनोकी क्रिया होती है, दुर्जन पुरुष दूसरोको दूरसे ही देखकर उठकर सत्कार करेंगे, पास आनेपर बड़े प्रेमसे मिलेंगे उनको अपने आसनपर बैठायेंगे, बडे प्रसन्न होगे, बड़े भले वचन बोलेंगे, इतना करनेमे तो कोई हानि नही मगर उनके दिल मे कपट है और कोई अपनी स्वार्थ साधनाकी ही बात रख रहे है इस कारण ये सब उनके अवगुणमे आ गए । करेंगे दूसरोका सत्कार और भीतर रखेंगे उनके प्रति कपट जिससे अपना स्वार्थ सिद्ध करेंगे और उन दूसरोका चाहे कुछ हो ।

(२५७) वस्तुतः कर्मसंगकी अनर्थकारिता—मुख्य बात तो यह हे कि वास्तवमे देखा जाय तो दुष्टसग तो कर्मोका सग है, उन कर्मोके सगसे दूर हटना चाहिए, पर उसका पात्र वही बनेगा जो कुसगको छोडकर सत्सगमे रहेगा । वही कर्मोके नाशका उपाय बना सकता है । लोग बाहर देखते है और और बातें, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा विरोधी है, यह गैर है पर यह नही देखते कि मेरे साथ जो कर्म लगे है वे ही मेरे शत्रु है, दूसरा जीव कोई मेरा शत्रु नही । स्वयके पापका उदय होगा तो दूसरे भी उसके एक साधन बन जायेंगे दुःखके,

पर स्वयंके असाताके उदय बिना दूसरोसे कभी कष्ट नही मिल सकता। तो निमित्तदृष्टिसे देखें तो कर्म ही बैरी है। मै स्वभावसे ज्ञान और आनन्दमय हू, स्वरूप ही मेरा ऐसा है, जो प्रभुका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है। फर्क यह हो गया कि प्रभु निर्दोष है, वीतराग है और यहाँ हम आप सब रागसहित है। जैसे एक चावल बोरीमे भरा या कनस्तरमे भरा है और एक चावलका सीभकर भात बन गया, तो जाति दोनोकी एक है, एक अभी कच्चा पडा है और एक पक गया है मगर स्वरूप दोनोका एक है, ऐसे ही हम आप अभी कच्चे है और भगवान सीझ गए, सिद्ध हो गये। सिद्ध कहते किसे है ? जो सीझ गए, जो अंतिम पाकपर उतर गए। सीझना क्या है कि जैसा हमारे आपके आत्माका सही स्वरूप है बस वही भर रह जाय उसीके मायने सिद्ध भगवान है।

(२५८) बीत रहे संकटका रहस्य—वर्तमानमे हो क्या रहा है कि हम आपके साथ एक तो शरीर बँध गया, कर्म बँधे है ही मूलमे और उसके कारण रागद्वेष मोह आदि विकार जग रहे है तो यह तीनका बधन हो गया मेरेमें शरीरका, कर्मका और विकारका। तो समझ लो हम आप कितनी गिरी स्थितिमे है, कितने कष्टकी स्थितिमे है। आज कुछ पुण्यका उदय पाया, कुछ सुख समागम पाया तो उनमे लोग मस्त हो जाते, कितनी अज्ञानदशा है। पर आचार्यदेव कहते है कि अरे क्या सुखमे मग्न हो रहा, तेरेपर तो भयकर विपदा छायी है। आज कुछ कर लेगा, दूसरोपर शान जमा लेगा, पर निभेगा तो नही सदा। कर्मबध होगा, संसारकी परिपाटी चलेगी। तो बुद्धिमान पुरुष वह है जो इन तीनो बधनोसे हटनेका उपाय बनाये। जिनमे मस्त हो रहा है, जिसको मान रहे मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, मेरा बच्चा, अमुक तमुक, और बड़े खुश हो रहे, पर इस खुशीका कुछ महत्त्व नही, क्योकि आज पुण्यका उदय है सो यह सब दिख रहा, पर आगे यह कुछ न रहेगा यदि अच्छी करनी नही है तो पापका उदय आयगा और इसे कठिन दुःख होगा। और वैसे भी मोटे रूपसे देख लो तो जिनको जितना अधिक सुख है दुनियावी दृष्टिसे उनको नियमसे उतना ही अधिक दुःख आयगा। सब बातें बीत ही रही है हम आपपर। क्या अधिक सिखाना बताना इस सम्बंधमे। आज अगर कोई परिजनके लोग हमसे बडा-बडा प्यार करने वाले हैं, और उनमे मौज मान रहे है तो क्या ये समागम सदा रहेगे ? अरे इन सबका वियोग नियमसे होगा। सबपर ही बीत रही है यह बात। तो जितना अधिक सुख माना जायगा उसके वियोगमे उससे अधिक दुःख मानना पडेगा। तबका कष्ट देखिये।

(२५९) मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहनेका स्वकीय अधिकार—यह ससार अजायबघरकी तरह है। इसको तुम देखे जावो पर छुवो नही, इसमें लगाव न रखो। किसी अजायबघरमे

देखने वाले जाते है तो उन्हे देखनेभरकी इजाजत रहती है, ये कोई चीज छू नही सकते । अगर किसी चीजमे हाथ लगायेंगे तो उसके निरीक्षक लोग उसे पकड लेंगे, दण्ड देंगे, अपमान करेंगे । तो ऐसे ही दुनियामे जितने भी समागम मिले है ये समागम केवल जानने देखनेभरके लिए है । इनमे लगाव करनेकी, प्रेम करनेकी इजाजत नही है । कोई अगर इनसे लगाव रखता है, प्रेम रखता है तो उसको कर्म दण्ड देगे । तो देखिये—तीन चीजें बतायी—शरीर, कर्म और विकार । जितने कष्ट हम आपपर आ रहे है वे सब इस शरीरके सम्बधसे ही तो आ रहे है । भूख प्यासका लगना, खाँसी ज्वर आदिकका होना सम्मान अपमान आदिकी बातें होना ये सब इस शरीरके सम्बधसे ही तो है । लेकिन शरीर निराली चीज है । जिनके शरीर नही रहा उनकी पूजा होती है । अब जन्म नही होना है जिनका वे आदर्श है । तो इतनी बात तो चित्तमे आना ही चाहिए कि हे प्रभो मेरेको शरीर न चाहिये । आगे भी कभी मुझे शरीर न मिले । इस शरीरके बिना जैसा मैं अपने आप हूं वैसा ही हो जाऊं यह भावना होना चाहिए। शरीर मिला क्यो ? कर्मके उदयसे । तो इसके प्रति भावना रखिये कि कर्म मुझे न चाहिये । ये कर्म दु:खके हेतुभूत हैं । मै कर्मसे रहित हूँ । जैसा यह मैं केवल हूं वैसा ही रहना चाहता हूं । जब कर्म नही तो विकार भी नही । पर ऐसा होनेका उपाय क्या है ? उपाय है स्वरूपदृष्टि । अपने स्वभावमे आत्मत्व अनुभव करना, मैं यह हू । जो मै अपने आप अकेला, अपने सत्त्वसे जिस स्वभावमे हू, जिस रूप हू उस रूप अपनेको अनुभवना, यह है उपाय सर्व उपयोगोसे हट जानेका ।

(२६०) आत्मसर्वस्वको आत्मारूप अनुभव कर आत्महित कर लेनेका अनुरोध— देखिये—जीवनमे आज अन्य जीवोकी अपेक्षा कितनी भली स्थिति पायी है । श्रेष्ठ मन मिला, जैनशासनका शरण मिला, आचार्य सतोका उपदेश सुगम मिला है, ऐसी भली स्थितिमें हम यदि आत्माके कल्याणका उपाय न बनायें और जो धर्मव्यवहार चल रहा उसको एक अपनी मात्र रुटीन (दिन चर्या) सी ही बनाकर रह जायें और उसमे भी प्रयोजन यह ही रखें कि मेरेको सुख शान्ति मिले, केवल इतना ही प्रयोजन रखें तो समझिये कि यह दुर्लभ अवसर हम खो रहे हैं । ध्यान यह रखना चाहिये कि जैसा मै खुद अपने आप हू बस वही मात्र मैं रह जाऊँ, सारा झगडा दंद फद मेरा मिट जाय, बस यह दृष्टि होनी चाहिये । आज जिन जिनका सग मिला है । जो जीव आये है घरमे क्या उनसे पूर्वभवमे भी आपका कुछ सम्बन्ध था ? अनन्त जीवोमे से कोई दो-चार जीव आपके घर आ गए तो उनसे मोह किया जा रहा । ये ही मेरे सब कुछ हैं । तो यह तो अज्ञान है, और इसमे बहुत विकट कर्मबन्ध होता है । यद्यपि गृहस्थीमे रहकर प्रेम रखना होगा, राग चलेगा पालन पोषणकी जिम्मेदारीसी

भी मानी जायगी। उचित व्यवहार होगा पर यह समझो कि यह सब गुजारेके लिए करना पड़ रहा है। पर मेरा ही है सब कुछ ऐसा मान करके यदि कोई चले तो उसमे मिथ्यात्वका बंध है। मेरा सर्वस्व तो मेरा स्वरूप है जो मेरेमे अनादिसे अनन्तकाल तक रहता है। बस यह ही मैं हू, अन्य कुछ मै नही। यह श्रद्धा जब तक नही बनती तब तक ससारमे जन्ममरण करना पडेगा। तो वास्तविक दुष्ट कौन रहा ? मेरा ही मोह रागद्वेष। उसका निमित्त कारण कौन रहा ? कर्मविपाक। यह कर्मविपाक क्यो आया ? यह पहले बँध गया था। यह पहले क्यो बँधा था ? हमारी ही गल्तीसे, हमारी कषायसे। इससे मोह और कषाय ये हमारे प्रबल बैरी है, ये दुष्ट भाव है, ये मुझ आत्माको बरबाद कर रहे है, सो अपने आपपर दया करें और यह हिम्मत लायें कि मैं इन मोह कषायोसे हटकर अपने आपके स्वरूपका प्रकाश ही पाऊँ।

(२६१) ज्ञान और वैराग्यकी वास्तविक उपकारिता—पहले जो पुरुष छोटी अवस्था मे ही विरक्त हो जाते थे, सुकौशल मुनिकी चर्या देख लो—कोई उनकी अधिक उम्र तो न थी। जवानी प्रारम्भ ही हुई थी, कारण पाकर विरक्त हो गए। लोगोने उनको बहुत बहुत समझाया कि अभी तुम्हारी पत्नीके पहला गर्भ है, कमसे कम बच्चेका मुख तो देख लो, उसे राजतिलक करनेके बाद विरक्त हो जाना। तो क्या उत्तर उनका था कि जो भी बच्चा पेटमे हो उसको मैंने अभीसे तिलक कर दिया। जिसमे मोह नही रहता और आत्मज्ञान जग जाता है वह तो आत्महितकी ही बात करेगा, अन्य बात न करेगा। लेकिन आप देख लीजिए, मोही मनुष्योका खोटे कार्य करते करते सारा जीवन गुजर जाता है, वृद्धावस्था आती है, मरण होता है लाभ क्या हुआ उससे ? ज्ञान और वैराग्य ये दो ही इस जीवके लिए उपकारी है, अन्य कोई उपकारी नही। यहां कोई मेरा मददगार हो ही नही सकता। यदि कोई बच्चा बच्ची यदि मेरी सेवामे तत्पर हो रहे तो समझना चाहिए कि मेरे ही पुण्यका उदय है जिससे ये सब मेरे सेवक बन रहे। अन्यथा राजा श्रेणिकका लडका जिसका नाम कुणिक था वह आखिर राजाका लडका ही तो था मगर वह अपने पिताका ही विरोधी हो गया और राजा श्रेणिकको उसने कितना कष्ट दिया…। यद्यपि राजा श्रेणिक सद्व्यवहारी था, किन्तु उसके पूर्वबद्ध कर्मका ऐसा ही तीव्र उदय आया।

(२६२) स्वयंके भलेपन और पुण्यविपाकसे ही सुविधा विश्रामका लाभ—कोई यदि भला बर्ताव कर रहा है तो हम भले हैं तभी तो भला बर्ताव मिल रहा है दूसरोसे। यदि हम भले नही है, हमारा उदय खोटा है, हमारा भाव विपरीत है तो कोई भला व्यवहार करने वाला न रहेगा। तो खुदकी खुदपर बडी जिम्मेदारी है। जो दूसरोका आसरा तकते है उनका जीवन भी क्या जीवन है। वे अपने

जीवनको यो ही बिता रहे। तो ज्ञान और वैराग्यकी दिशामे बढ़ें और दूसरेकी अपेक्षा न रहे, एक ही हो कि मुझे अपने आत्माको पहिचानता है और अपने आपके आत्माको निरखकर अन्तः प्रसन्न रहना है। संसारके जालसे सदाके लिए छूटना है। ऐसा कोई कदम रखे वह तो बडा ऊँचा कदम है। तो यह समझ लीजिए कि हम लोगोका अनर्थ करने वाला हमारा ही विकार है और उस विकारका निमित्तभूत कर्म उसका बंधन मेरे लिए खोटा है। सो अपनेको शरीरसे रहित, कर्मसे निराला, विकारसे परे केवल प्रतिभासमात्र चैतन्यमात्र जहाँ केवल ज्ञानप्रकाश है अन्य कुछ नही है, इस रूपमे अपने आपको निरखना यह है धर्मपालन। बाहरी साधन तो साधनमात्र है। उन साधनोमे रहकर यदि यह भीतरी काम किया जा सके तो उसके धर्मपालन है, और यदि यह भीतरी काम न कर सके तो वह रूढि पालन है। जैसे यहाँ दुर्जन पुरुष दूसरोका बडा सत्कार करें, मीठे वचन बोलें, पर भीतरमे कपट रखें तो अन्तिम परिणाम दुःखका ही रहता है ऐसे ही ये पुण्यकर्मके उदय बडे अच्छे लग रहे हैं, सुख साधन मिल रहे हैं, मनचाहे भोग साधन प्राप्त हो रहे हैं मगर इसका परिणाम क्या है? कटुक। नियमतः ये सब मुझे छोडेंगे। जितने भी संग मिले हैं वे सब आपको छोड देंगे। चाहे आपसे पहले ये चीजें अलग हो जायें या खुद मरण कर जाय तो ये छूट गए। तो यो छूटना भला नही है किन्तु खुद उनको छोड दें ज्ञानबलसे, संयमबलसे और ऐसा जीवन बिताये तो उसका भला है, सो वर्तमान सुख साधनमे अपनेको रमाना नही किन्तु इन विपत्तियोको देखना कि मेरे साथ शरीरका बंधन लगा, कर्मका बंधन लगा, रागद्वेष विकारका आक्रमण हो रहा, मुझे तो बडी सावधानी चाहिए जिससे कि ये सारी विपत्तियाँ दूर हो जायें।

(२६३) आत्मनिरीक्षण व आत्मप्रगतिचिन्तन—भैया! रोज रोज ऐसी प्रार्थना करते पूजनमे, भजनमे, स्तवनमे कि हे प्रभो आप अनन्त आनन्दमय हैं, आप ही सर्वज्ञ हैं, निर्दोष है, आदर्श है। आपकी उत्कृष्ट अवस्था है, पर ऐसा आप अपने लिए चाहते कि नही चाहते? चाहते। और चाहना तब कहलायगा जब कि हम उसके अनुसार परमात्म पंथपर तो चलें उनके बताये मार्गपर तो चलें। उनका बताया मार्ग है मोह दूर करना, तो जीवनमे यह अपना गुजारा तो लगाइये कि मोह दूर किया जा रहा है या भीतरमे मोह और दृढ हो रहा है? केवल बातसे तो कुछ न बनेगा। भोजनकी खूब बात करें और भोजन न मिले तो पेट तो नही भरता, तो ऐसे ही हम बातें तो धर्मकी खूब करें और मार्गपर जरा भी न चलें तो उसका फल तो नही मिलता। अपना लेखा जोखा लगायें। मैं कितना तृष्णा और मोहमे बढ रहा हू कि अपने आत्माकी कभी सुध ही नही ले पाता, कभी विश्राम ही नही मिल

पाता कि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव तो कर लूं। यदि ऐसी गति है तो कुछ थोड़ा अपने आपपर अफसोस करना चाहिए और उसका उपाय बनना चाहिए। उपाय यह ही है ज्ञान और वैराग्य। सीधी सी बात। अगर शान्ति चाहिये, आनन्द चाहिए, स्वतत्रता चाहिए, सत्य आनन्दका अनुभव चाहिए तो ज्ञान और वैराग्यमे बढिये पर चल रहे इससे उल्टी चाल। 'आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखें आपको कष्ट दान।' आत्माका हित करने वाला है ज्ञान भाव और वैराग्यभाव, पर यह मिथ्यादृष्टि जीवको कष्टदायक प्रतीत होता है। ज्ञानभावमे चाहिए अपने स्वरूपका चिन्तन। मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हू। जैसे दर्पण है तो उसमे दो बातें पायी जाती हैं। खुदकी स्वच्छता और दूसरे पर, पदार्थोंकी झलक, ज्ञान यह मेरा स्वरूप है। राग करना, द्वेष करना यह मेरा स्वरूप नही। यह तो कर्मकी फोटो है। इससे मैं निराला हू बस इसपर दृढ रहिये तो समझिये आप ज्ञानमे बढ़ रहे, और इसीके प्रतापसे सबका मोह भी छूटेगा, राग छूटेगा। घरमे रहकर भी स्वरूपकी सुध तो रखें फिर गृहस्थीसे सम्बंधित कार्य भी करें क्योकि गृहस्थीमे रहना तभी बन सकता है जब कि सब ठीक-ठीक व्यवस्था बनी रहे। गृहस्थीमे रहते हुए यह तो उन्नतिका मार्ग है और यदि मोहमे लिप्त हो गए तो यह ससारमे रुलनेका मार्ग है।

> यद्वच्चदनसंभवोपि दहनो दाहात्मकः सर्वदा
> सपन्नोपि समुद्रवारिणि यथा प्राणांतको दुंदुभिः।
> दिव्याहारसमुद्भवोपि भवति व्याधिर्यथा बाधकस्तद्वद्-
> दुःखकरः खलरतनुमतां जातः कुलेप्युत्तमे ॥ ४३७ ॥

(२६४) दुष्ट जनोंकी दुःखकरता—जिन पुरुषोका मन कपटसे, खुदगर्जीसे भरा हुआ रहता है, जिनको क्रोध करनेकी आदत है ऐसे पुरुषोंका सग छोडने योग्य बताया है, क्योंकि जिसमे खुदको भी दोष आने लगे और कषाय बढनेका प्रसंग होने लगे, विपत्ति भी आये तो ऐसा सत्सग आत्महित चाहने वालोको योग्य नही होता, इसी कारण इस प्रकरणमें दुष्टजनोके लक्षणका वर्णन चल रहा है। यह प्रसंग सर्वदा जीवोको जलन करने वाला होता है। जैसे चदनके वृक्ष ठडे माने जाते है, चंदनका लेप ठंडा माना जाता है, पर चदनके वृक्षसे उत्पन्न होने वाली अग्नि सदा जलाने वाली ही होती है, ऐसे ही जिसका हृदय क्रूर है, रुद्र है वह चाहे किसी समय कितना ही मीठा व्यवहार करता हो उसका सग जीवोको कष्ट देने वाला ही होता है। इसलिए जिसका हृदय स्वच्छ है, धर्मसे प्रीति रख रहा है ऐसे पुरुषका संग ही इस जीवका भला कर सकता है। जैसे समुद्रके जलसे विष पैदा होता है, ऐसा लोग कहते है तो भले ही समुद्रके जलसे हो विष, जिससे अमृत भी होता है लेकिन विष तो प्राणो-

का घातक हुआ करता है। ऐसे ही चाहे बड़े कुलमें ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, चाहे कितना ही उसे पढ़ा लिखा लिया हो, लोकव्यवहारमें भी कुछ चतुराई पा ली हो, फिर भी यदि हृदय स्वार्थ, कपट और क्रोधसे भरा हुआ रहता है तो उसका सब जीवोंको हितकारी नहीं होता। जैसे रोग कभी हितकारी नहीं होता। चाहे वह रोग बड़ा मोटा आहार करनेसे हुआ हो पर रोग तो दुःख ही पैदा करता है इसी प्रकार ये कपट हृदय वाले पुरुष चाहे कैसा ही दानाध्यक्ष बना हो, लेकिन वे दुःखके ही कारणभूत होते है। इस कारण सगति भली करनी।

(२६५) सत्कर्तव्योंमें सत्संगकी सुगन्ध—पूजामें कहते ना—आर्य पुरुषोंकी हमें संगति प्राप्त हो, सबके सत्संगकी बात ही बसी हो। जैसे अन्तमें बोलते हैं—शास्त्रका हो पठन सुखदा, शास्त्रका पठन हो तो शास्त्र पढ़नेसे हृदयपर छाप किसकी पड़ती है? जो महात्मा हैं, सिद्ध आत्मा है, महापुरुष है, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदिक धर्मोंके पालनहार हैं उनका ही तो प्रताप पूजते है। तो वहांपर भी सत्संग चल रहा है। लाभ सत्संगति यह तो साक्षात् ही लाभ है। ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, संत पुरुषोंका लाभ मिल रहा, सद्वृत्ति सुगम, जिनका चारित्र अच्छा है, उनको गुणगान करना चाहिए। उनके गुणोंकी संगति मिल गई, गुणोंपर दृष्टि होगी तो गुणोंका असर होता है। लाभ सत्संगतिका, संत पुरुषोंके दोषोंको ढांकूं। प्रथम तो किन्हीं धर्मात्मा जनोंके द्वारा कभी कोई अपवादकी बात आती तो तो धर्मप्रभावनाके हेतु उसको ढकना, लोगोंमें प्रकट न करना, हां उसे समझाना, अपनी गोष्ठीसे

निरन्तर रहेगा तो अपनी भी प्रगति है। कभी लोग प्रश्न करने लगते हैं कि हमारा मन बडा चंचल रहा करता है। जब हम ध्यान करने बैठते तो मन स्थिर नही रहता, इधर उधर दोडता है तो उसका कारण क्या है ? तो उसका कारण यह है कि कुसंगमे अधिक रहना हो रहा, सत्संग बहुत कम मिलता है। जैसे घर गृहस्थी बाल बच्चे इनका प्रसंग यह भी कुसग है आत्महितकी दृष्टिसे। जिस बातमे मोह बढे, रागद्वेष बढे वह सब कुसंग कहलाता है। अच्छा, घरके वातावरणसे दूकानपर गये तो वहाँ भी कितनो ही तरहके लोग मिलते हैं, न जाने कितनी तरहके हृदय वाले लोग मिलते हैं, सबके साथ बात करनी पडती है और धनार्जनके प्रसगमे कितना कितना श्रम, पौरुष, विचार करने पडते हैं। तो उन सब संगोका फल भो मिलेगा। जहाँ उपयोग बाहर ही बाहर रमा और वह भी रमा अयोग्य साधनोमे तो चित्त फिर स्थिर कैसे रह सकता ? चित्तकी स्थिरताका कारण है सत्सग। स्वाध्याय किया जाय मननपूर्वक अपने आपपर ज्ञानसे घटित करते हुए और उसका लाभ लिया जाय। अभ्यास बनाइये। संत, त्यागी, व्रती, ज्ञानी, जो संसार शरीर भोगोसे विरक्त हों ऐसे पुरुषो का सग अधिक होगा तो चित्त स्थिर होने लगेगा। चित्त जो स्थिर नही रहता उसका मुख्य कारण है कुसंग। सो गृहस्थीके प्रसगमे, घरमे, बाहर सब जगह रागी द्वेषी मोही लोगोका सग अधिक मिलता है यही कारण है कि चित्त स्थिर नही हो पाता।

(२६७) सारहीन तत्त्वोंसे लगावका फल कष्ट--ससारमें किसी भी बातमे कुछ सार रखा है क्या ? ममता तो किये जा रहे हैं पर यह तो बतलावो जिस जिसमे ममता पहुच रही है वह वस्तु आपके लिए सारभूत है क्या ? आत्माका हित कर सकते हैं क्या ? सब अपनी अपनी बात जानते है कि कहाँ ममता लगी हुई है। सो सोच लीजिए। जिस कुटुम्बमे, जिस किसी भी व्यक्तिमें मोह ममता जग रही है वे आपकी परिणति कुछ बना सकेंगे क्या ? कोई सुधार कर सकेंगे क्या ? आपको मोक्षके रास्तेमे लगा सकेंगे क्या ? अरे उनका लगाव तो अपने कल्याणसे विरुद्ध ही चलायगा। तो सार कहाँ रखा ? धन वैभवकी तृष्णा बढाये जा रहे हैं, खूब उसका सचय करनेमें लगे हैं पर आत्माके लिए वह कुछ सारभूत चीज है क्या ? आत्माके साथ वह जायगा क्या ? और जब तक पास है तब तक भी उससे शान्ति मिल रही है क्या ? जो विश्वके बडे बडे धनिक हैं उनपर जरा दृष्टिपात करके देख लो, वे निरन्तर आकुलित रहते है, क्योंकि विकल्पका आश्रय उनके बहुत बढ गया है। तो जहाँ इतने विकल्प चल रहे हैं वहाँ इस जीवका शान्तिका क्या प्रसग ? सारी बात खोज डालो कही सार रखा है क्या ? खुदका भी देह जिसमे इतनी ममता बन रही है, जिस देहके आधारपर ही अहकार ममकार, रोग, शोक, सम्मान अपमान आदिककी सारी बातें बन रही

है वह देह भी कुछ सारभूत है क्या ? कुछ भी सारभूत नही है, बल्कि जीवको बड़ी विपत्ति रूप है। जब बिल्कुल भिन्न वस्तु है आत्मा और शरीर, शरीर पौद्गलिक है, आत्मा चेतन है, जाति भी नही मिलती हैं तो फिर इस शरीरसे आत्माको कुछ लाभ मिलेगा या बिगाड़ होगा ? बिगाड ही होगा। तब फिर इस शरीरसे भी ममता क्यो ?

(२६८) **गुणिभक्ति, आत्मभक्ति व निर्मोहताका प्रसाद**—देखिये धुन होनी चाहिए गुणी पुरुषोमें और अपने आत्माके स्वरूपमे। तीसरी बात कोई भली नही है। जिनके सम्यक्त्व है, ज्ञान है, सयम है, व्रत, तप, नियम है ऐसे पुरुषोकी प्रीति करें और अपने आत्माके स्वभावकी रुचि करें तो कुछ सारका मार्ग मिलेगा, मगर बाह्य संग प्रसंग कुटुम्ब मित्र आदिक इन सग प्रसंगोमे कुछ भी सार नही मिलनेका। अब तक जिन्दगी भी काफी बीत गई, वृद्ध हो गए पर चित्तसे बाह्य विषय व्यामोह नही निकलता। परिवार तो छोडना ही पड़ेगा। वह यों छूट जाय इससे पहले विवेक करके खुद क्यो न छोड दिया जाय ? तो ऐसा विवेक रखे, मोह ममता हटायें, गुजारेके लिए भले ही प्रेम व्यवहार करना पडता है, घरमे रहना लड झगडकर नही हो पाता। शास्त्रोमे बताया है कि स्त्री पुत्र आदिक परिजन नरकके ले जानेके हेतुभूत है तो क्या घरमे रहकर आपसमे यो बोलेंगे कि तुम तो मेरे लिए नरक ले जानेके हेतुभूत हो, हटो यहांसे····। अरे गुजारा चलानेके लिए सबके साथ प्रेमका व्यवहार करना पड़ेगा पर अपनी प्रतीतिमे सही बात बनी रहे। वहां किसीसे मोह ममता न रखे। यदि मोह ममता न रहेगी तो उनके बीच रहकर भी किसी प्रकारकी उलझन न आयगी। उलझन जितनी होती है वह मोहके कारण होती है। कुछ बचपनसे बढे, कुछ ख्याल हुआ धर्मका तो सोचते है कि हमे जीवनमे ज्ञान और धर्मकी सिद्धि करता है जब कुछ ही दिनोमे हो गया विवाह तो अब स्त्रीकी ओर आकर्षण हो गया, धर्ममे अब लगन कम हो गई, और कुछ दिन बाद यह आशा करने लगते कि मेरे सतान हो। जब संतान हो गये तो उनके पालन पोषणमे लग गए। जब वे सन्तान बडे हुए तो उनको पढाने लिखाने तथा उनके विवाह आदिकी अनेक बातें सामने आ गईं। वहां फिर धन कमाने तथा सब प्रकारकी व्यवस्थायें बनानेकी पडती है। यो जीवनमे कभी चैन नही मिल पाती। धनार्जन करनेमे तो कभी चैन मिल ही नही पाती। जिसके पास जितना धन है वह उससे आगेकी ही सदैव दृष्टि रखता है, वह जितना है उससे सन्तुष्ट नही हो पाता। परपदार्थोंकी आशा तृष्णामे सारी जिन्दगी यो ही निकल जाती है। तो अब कुछ अपने हितकी भी बात सोचना चाहिए। अपना रात दिनके २४ घटेमे कुछ समय जाप, सामायिक, पूजा पाठ, आत्मध्यान आदि कार्योंके लिए भी लगायें, अपने भाव विशुद्ध बनायें। तो जिन जिन पदार्थोंका सङ्ग होनेसे आत्मा-

संसार वढता है वे सब इस आत्माके लिए कुसंग हैं। सो घरमे रहनेमे बडी सावधानी चाहिये। तो यह तो चर्चा है, जो इस भवमे परका हित चाहते है उनके संगकी, मगर जिनके चित्तमें कपट बसा है, कुछ भी धार्मिक नातेसे प्रीति नही है, और अज्ञानके कारण स्वार्थ ही जिनके समाया हुआ है, अपने आपमे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें बसाये रहते है ऐसे पुरुषोका सग हम लोगोको धार्मिक वातावरणसे दूर कर देता है। इसी कारण बतला रहे कि अधिकसे अधिक सत्सगका प्रयत्न करना चाहिये।

(२६९) वर्तमान उपलब्ध श्रेष्ठ अवसरको व्यर्थ न गमानेका विवेक—भैया यह बडी भली बात है कि जैन कुलमे पैदा होने वालोको सत्सगके बहुत अवसर आते है। एक तो वर्ष मे इतने दिन है पर्वके, तीर्थंकरोके, कल्याणकी तिथियोके या सोलह कारण, कर्मदहन आदिक व्रत विधानोके, उनके सहारे धर्मध्यान चलता है। व्रत चले, उपवास चले, ज्ञानध्यान चले, पूजा चले, यो कितने ही अवसर आते। समय समयपर साधु सत जनोका समागम भी प्राप्त होता है, वह भी लाभदायक है। बडा अवसर प्राप्त होता है मगर यहाँ ही कोई इसकी ओर दृष्टि न दे और अपने आपके स्वार्थ और मोहमे ही चित्त लगाये है तो समझो उसने अपना दुर्लभ अवसर व्यर्थ खो दिया। देखो जिस देवकी हम आराधना करते हैं वह देव परम विशुद्ध है। पूजामें किस ओर आपका ध्यान जाता ? जो पूर्ण केवलज्ञानी सर्वज्ञ है। सर्व दोषोसे पूर्णतया रहित है, जिसमे कभी विकार आनेका सदेह नही है ऐसे परमात्माकी ओर ध्यान जाता है। कैसी विशुद्ध आराधना जैनशासनमे बतायी गई है और वह भी इस प्रयोजनसे कि जिस मार्गसे चलकर प्रभु भगवान हुए बस वही मार्ग मेरे लिए हितकारी है। उस मार्गसे मैं भी चलकर सदाके लिए ससारके सकटोसे हट जाऊ। तो देवपूजामे कैसा शुद्ध भावनाका प्रसग मिलता है। शास्त्रस्वाध्यायमे प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग जिसका भी स्वाध्याय किया जाता है उससे रागकी शिक्षा नही मिलती। कैसा ही कथानक हो उस कथानकमे भी वैराग्यकी शिक्षा बसी हुई है। आचार्यसतोके उपदेशका ध्येय ही यह है—वैराग्यकी ओर ले जाना। तो कितना आपको शुभ अवसर मिला है, जैनशासनके गुरु जो त्यागकी ओर ही बढ रहे है, केवल आत्माके मननकी ओर ही जिनकी धुन रहती है। जिनके विषयवासना नही, किसी प्रकारका सचय नही, कषायका अवसर नही ऐसे साधु सत जनोकी सेवा भक्तिके अवसर मिलते है। तो अपने उद्धारके लिए इस वर्तमान समयमे कैसा सुन्दर अवसर मिल रहा है तिसपर भी यदि कोई इस ओर न लगे और बाह्य पदार्थोकी धुन, तृष्णामे ही अपना समय गमा दे तो यह तो उसकी भूल है। उसका भवितव्य भला नही है। अपना भवितव्य अपने आधीन है। हम सत्कार्योमे अपना उपयोग लगायें तो हमारा

भला होगा। छह आवश्यक कर्तव्योंमें कैसी पवित्रता है। प्रभुकी पूजा करें, उनके गुणोंका गान करें, गुरुवोंकी सेवा करे, स्वाध्याय करें इन्द्रियसंयम पालें, यथा तथा न खावें, जीवोकी दया पालें, मेरे द्वारा किसी भी जीवका प्राणविघात न हो। इच्छायें आती हैं उनका निरोध करें। मैं इच्छारहित केवल ज्ञाताद्रष्टा मात्र रहूं ऐसी भावना बनायें और अन्तिम आवश्यक है दान। धन पाया है तो उसे अच्छे कार्योंमे लगायें जिससे दूसरोका उपकार हो, अपना भी भला हो। तो ये छह आवश्यक कार्य श्रावकोंके ये कितना पवित्र विचारोको बढाने चलते हैं सो जो हमे समागम मिला है उस समागमका हमें पूरा लाभ उठाना चाहिए। ऐसी उमंग अपने चित्तमे रहे तो यह हम आपके लिए बहुत ही भलेका काम बनेगा।

लब्धं जन्म यतो यत: पृथुगुणा जीवंति यत्राश्रिता
ये तत्रापि जने वने फलवति प्लोषं पुलिंदा इव।
निस्त्रिंशा वितरंति धूतमतयः शश्वत्खला: पापिनस्ते
मुंचति कथं विचाररहिता जीवंतमन्यं जनं ॥४३८॥

(२७०) दुष्ट जनोंकी जंगली भील लोगोंकी तरह भयकर प्रवृत्ति—जिस प्रकार जंगली भील लोग जिस ही जंगलमे पैदा होते है, जिस ही जगलसे उनका संरक्षण होता है, जहांके फल खाकर भूख मिटाते हैं। जिस जगलके बलसे ही जीवित रहते हैं उसी जंगलको दयारहित होकर वे निर्बुद्धि पापी जला डालते है और उस समय कितने ही जीवित जीवोको मार गिराते हैं, इसी तरह दुर्जन जिससे गुण सीखता है, सैकड़ों हुनरकी बात सीखता है, जिनके सहारेपर जीवित रहता है उसी फल वाले उपकारी पुरषको दुष्टबुद्धि होकर राक्षसके समान दयारहित होता हुआ मार गिराता है, अर्थात् कोई कितना भी उपकार करे उसका भी अपकार कर बैठता है। तब वह जिससे कोई सम्बध नही, जिसका उसपर कोई उपकार नहीं ऐसे पुरुषोको तो छोडेगा ही क्यो? अर्थात् यह दुर्जन पुरुष उनका अहित किए बिना नही रह पाता। दुष्ट प्रकृति होनेसे सदैव चित्तमे क्रोध भरा रहता है। क्रोधका कारण दुष्टता होती है। क्रूरता हुए बिना चित्तमे क्रोध नही आ सकता। तो यह दुर्जन पुरुष क्रोधी होकर सभी जीवोको दुःख पहुचता है। ऐसे दुष्ट प्रकृति वाले मनुष्यका सग त्यागने योग्य है।

यः साधूदितमन्त्रगोचर मतिक्रांतो द्विजिह्वाननः
क्रुद्धो रक्तविलोचनोऽसिततमो मुंचत्यवाच्यं विषं।
रौद्रो दृष्टिविषो विभीषित जनो रंध्रावलोकोद्यतः
कस्तं दुर्जनपन्नगं कुटिलगं शक्नोति कर्तुं वशं ॥४३९॥

(२७१) दुष्ट जनोकी उद्दंडता और स्वच्छन्दता—दुर्जन पुरुष सज्जनोंके कहे हुए

वचनोका उल्लंघन करते हैं। दुर्जनोको अपनी दुर्बुद्धिपर अहंकार रहता है। उस अहंकार के कारण बड़े पुरुषोके कहे हुए वचनोका उल्लघन कर देते हैं। और ये दुष्ट पुरुष दो जीभ वाले होते हैं। एक ही बातको दो तरहसे कहने वाले होते है अथवा कहो दो गला। किसी पुरुषसे वही बात प्रशंसात्मक रूपसे कहता है और किसी पुरुषसे परोक्षमे निन्दारूपसे बात करता है। ये दुष्ट जन सदा क्रुद्ध रहा करते हैं और इस कारण आँख आदिक भी लाल हो जाया करते है। ये पेटके काले होते हैं, इनमे कपट होता है, इनके मनमे कुछ रहता, वचनमे कुछ कहते और इनकी बुद्धिपर किसीको भरोसा नही होता, क्योकि ये विश्वासके योग्य नही होते। ऐसे ये दुर्जन न कहने योग्य वचनरूपी विषको सदा उगलते रहते है अर्थात् जो वचन न कहे जाने चाहिएँ ऐसे वचन निकलते रहते है। उसका कारण यह है कि हृदय उनका मलिन है अतएव वचन उनके सही नही निकल पाते, जिनकी दृष्टिमे, चिन्तवनमे विषका सा असर रहता है, क्रूर परिणाम निरन्तर रहता है। जिस समय ये दुर्जन अपनी दृष्टि डालते है उस समय उसका सर्व नाश कर छोड देते हैं, जिनको देखकर लोग सदा भंग खाया करते हैं। ये दुर्जन पुरुष सदैव दूसरोके दोष खोजनेमे लगे रहते हैं। ये दुष्टजन उन नागोके समान भयकर हैं जो विषैले होते है। जो सदैव छिद्र देखनेकी खोजमे रहा करते है। जैसे भयकर सर्प सपेरोके भी वश नही आ पाता, मत्रवादियोके भी वशमे नही हो पाता ऐसे ही ये दुर्जन पुरुष किसीके वश नही आ पाते, ऐसा स्वच्छन्द चित्त रहता है कि जिस चित्तपर किन्हीं भी बड़े पुरुषोका, सज्जनोका असर नही हो पाता। ये नेत्रमे विषैले होते हैं, लोगोके लिए बड़े भयंकर होते हैं। ऐसे कुटिल सर्पकी तरह ये दुर्जन पुरुष सदैव सर्वके अहितकारी होते हैं। दुष्टो का संग रहनेसे आत्मपरिणामोमे शुद्धि नही आती, इस कारण ऐसा सग सर्वथा त्यागने योग्य ही है।

नो निर्धूतविषः पिबन्नपि पयः संपद्यते पन्नगो
निंबागः कटुतां पयोमधुघटैः सिक्तोपि नो मुंचति।
नो सीरैरपि सर्वदा विलिखित धान्य ददात्यूषर
नैव मुचति वक्रतां खलजन. ससेवितोप्युत्तमै. ॥४४०॥

(२७२) दुष्ट जनोकी कुटिलताकी कठिनता—जैसे सांपको दूध भी पिलाया जाय तो भी सांप अपने विषैलेपनको कभी छोड नही सकता। जब वह सर्प उगलेगा तो विष ही उगलेगा। इस ही प्रकार दुर्जन पुरुपका कितना ही उपकार किया जाय पर जब भी वह उगलेगा तो विषैले वचन ही उगलेगा जिनको सुनते ही हृदयपर चोट आये और जिसके कारण दूसरोका बिगाड़ होवे। जैसे नीमका पेड चाहे दूधसे सीचा जाय या शक्करसे सींचा जाय या

मीठे जलसे सीचा जाय, पर नीमका पेड कभी मीठा नही हो सकता इसी प्रकार बड़े-बड़े पुरुषोसे सेया गया भी दुर्जन पुरुष अर्थात् जिसका बड़े पुरुष भी सत्कार रखें, सेवा करें ऐसी स्थितिमें भी दुर्जन पुरुष कभी दुर्जनता नही छोड़ सकते । सज्जनोकी संगतिमे रहकर भी दुर्जन पुरुष अपनी कुटिलताको किसी भी प्रकार नहीं छोड़ सकते क्योंकि उनका ऐसा ही विकट कर्मोदय है, ऐसा ही चिरकालकी संगतिका असर है, ऐसा ही उनका सस्कार है जिस कारण सज्जनोके बीच रहकर भी कभी सज्जनता नही पा सकते । ऐसे दुष्ट जनोके संगमे रहने वाले पुरुष स्वयं अधीर हो जाते है और नाना विपत्तियोमे पड जाते है । इससे आत्म-हित चाहने वाले पुरुषोका कर्तव्य है कि वे दुष्ट पुरुषोका संग कभी न करें ।

वैरं यः कुरुते निमित्तरहितो मिथ्यावचो भाषते
नीचोक्तं वचनं शृणोति सहते स्तौति स्वमन्यं जनं ।
नित्यं निंदति गर्वितोभिभवति स्पर्धां तनोत्यूर्जितामेवं
दुर्जनमस्तशुद्धधिषणं संतो वदंत्यंगिनां ॥ ४४१ ॥

(२७३) **दुर्जनोंमें अकारण वैर करते, दुर्वचन बोलने व निन्दा करनेकी खोटी प्रकृति**—दुर्जन पुरुष बिना ही कारण विपत्ति कर डालते है । उनकी प्रकृति वैर, दोष, शत्रुता संस्कारमे पड़ी रहती है, ऐसे दुष्ट पुरुष बिना ही कारणके वैर करते रहते है, और ये झूठ मूठकी बात बनाकर यहाँ वहाँ कहते रहते है । दुष्टोको मिथ्या वचन कहनेमे या दूसरेके दोष कहनेमे सतोष होता है । ये नीच पुरुषोके कहे गए वचनोको बड़े चावसे सुनते है और नीच पुरुषोके वचनोको सहन कर डालते है । ये दुष्ट पुरुष स्वयं अपने आप अपनी प्रशसा गाते हैं और अहंकार होनेके कारण सदा दूसरोकी निन्दा और दूसरोका तिरस्कार किया करते है । नीच और तुच्छ जीवन ही दुष्टोको पसन्द रहता है । वे शुद्ध वातावरणमें कदाचित् पहुच जायें तो उनको ऊब आती है और वहाँसे हटकर नीच वातावरणको ही पसंद करते है । ये दुष्ट जन हमेशा स्पर्धा अथवा दूसरोसे शर्त ठाना करते है । स्वयं गुणहीन होकर भी गुणियो से अपने आपको अधिक मानते हैं और उनसे अधिकपना जतानेकी ही सदैव कोशिश करते रहते हैं । ये दुष्ट जन पवित्र बुद्धिसे रहित होते है, इनकी बुद्धिमे वह बात आती है जिसके प्रयोगसे दूसरोका बिगाड होता रहता है । ऐसे दुष्ट पुरुष किसी भी प्रकार संग किये जाने योग्य नहीं हैं, क्योकि दुष्टोके संगसे इस भवमे भी आपत्ति आती है और विशुद्ध भाव नष्ट हो जानेसे परभवमे भी दुःख भोगना पड़ता है ।

भानोः शीतमतिग्मगोरहिमता शृंगात्पयोऽधेनुतः
पीयूषं विषतोमृताद्विषलता शुक्लत्वमंगारतः ।

वह्नेर्वारि ततोनलः सुरसज निर्यादुभवेज्जातुचिन्नो
वाक्यं महित सतां हतमतेरुत्पद्यते दुर्जनात् ॥४४२॥

(२७४) दुर्जनोंसे सद्वचन निकलनेकी असंभवता — चाहे एक बार सूरजमे ठंडी पैदा हो जाय, पर दुर्जन पुरुषोसे कभी श्रेष्ठ हितकारी वचन नही निकल सकते। दुष्टजन जब भी बोलेंगे तब दूसरोको क्लेश करने वाले खोटे ही वचन बोलेंगे। हां अपनी गोष्ठीमे अथवा जो इसे रुच जायें उनसे मधुर वचन बोलेंगे सो वे भी ठगनेकी अभिलाषासे ही बोलेंगे। उनके मधुर वचन बोलकर किसी न किसी स्वार्थकी साधना अपने विषयोंकी साधना ही उनके प्रयोजनमे रहती है। एक बार चाहे चन्द्रमा गर्मी उत्पन्न कर ले, वैसे चन्द्रमे गर्मी कभी उत्पन्न नही होती, बल्कि गर्मीके दिनोमे भी शुक्लपक्षकी रातोकी अपेक्षा कृष्ण पक्षकी रातें कुछ ठंडी ही रहती है। सो चंद्र कभी गर्मी उत्पन्न नही करता, पर मान लो यह असम्भव बात भी सम्भव हो जाय पर दुर्जन पुरुषोसे कभी भी हितकारी वचन निकलना सम्भव नही। उनकी चेष्टा दूसरोके लिए सुखकारी नही हो सकती। गायकी सींग अति रुक्ष होती हैं, उनमे कोमलताका नाम नही, सो चाहे गायकी सींगसे कभी दूध भी निकल जाय, असम्भव बात भी सम्भव हो जाय तो हो जाय, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोसे कभी भी सही वचन नही निकल सकते। कभी विष अमृत बन जाय, कोई विप खा ले और अमृतका काम कर दे, ऐसा भी चाहे सम्भव हो जाय तो भी यह सम्भव नही हो सकता कि दुर्जन पुरुषोके वचन कभी भी हितकारी और प्रिय निकल सके। कभी अमृतसे विषकी बेल उत्पन्न हो जाय तो हो जाय, असम्भव बात भी एक बार चाहे सम्भव हो जाय, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोके वचन कभी भी श्रेष्ठ नही हो सकते। जब भी बोलेंगे तो दूसरोको दुःख देने वाले और खोटे वचन ही बोलेंगे। कोयला भीतर बाहर सर्वत्र काला ही होता है। कोयलेमे सफेदीका कही भी अंश नही होता, सो चाहे कोयला कभी सफेद होने लगे, पर दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोसे कभी मोहनीय वचन अर्थात् जो कुछ श्रेष्ठ हो, भले हो, जिनसे आशय ठीक झलकता हो ऐसे वचन नही निकल सकते। कभी अग्निसे चाहे जल बहने लगे या कोई नदी निकलने लगे, ऐसी असम्भव बात भी चाहे सम्भव बात भी चाहे सम्भव हो बैठे पर दुष्ट पुरुषोके मुखसे कभी सुन्दर हितकारी उपकारी वचन नही निकल सकते। कदाचित वे कभी उपकार भी करें तो उनका वह उपकार कोई किसी समय किसी प्रयोजनको लेकर धुनमे हो जाता है। सो उनका भी आशय कोई अपने स्वार्थसे भरा हुआ रहता है। दुष्ट पुरुष किसीके उपकारके काम नही आ पाते। उनके वचन भी कभी सही नही निकल पाते। जलसे अग्नि चाहे पैदा हो जाय, तो कभी कभी बडे-बडे समुद्रोमे बडवानल उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कठिन बात हो जाय सो वह बडवानल कोई अग्नि नहीं

किन्तु जलमेसे जल सम्बंधित ही सताप है । कदाचित् जलसे ऐसी अग्नि पैदा हो जाय जैसे ईंधनमे अग्नि लगी रहती है, ऐसा असम्भव-समाचार बन जाय लेकिन दुर्जन पुरुष कभी अपने मुखसे श्रेष्ठ वचन नही निकाल सकते । यो ही चाहे नीमसे मीठा मीठा रस चूने लगे, लोगोंको नीमके रससे मिठास आने लगे अथवा वह मीठा बन जाय, तो ऐसी असम्भव बात भी सम्भव हो जाय परन्तु दुष्ट बुद्धि वाले पुरुषोके वचन कभी सही नही निकल सकते, वे दूसरोको उलझनमे डालने वाले ही वचन बोलते है । तो ऐसे दुष्ट आशय वाले पुरुषोका संग ग्रहण करना बिल्कुल योग्य नही है ।

सत्या योतिरुज वदंति यमिनो दंभं शुचेर्धूर्तता
लज्जालोर्जडता पटोर्मुखरता तेजस्विनो गर्वता ।
शांतस्याक्षमतामृजोरमतितां धर्माथिनो मूर्खता-
मित्येवं गुणिनां गुणास्त्रिभुवने नादूषिता दुर्जनैः ॥४४३॥

(२७५) **गुणोको दोषरूप बनाकर कहनेकी दुर्जनोंमें दुष्टप्रकृति**—इस लोकमे दुर्जन पुरुष सज्जनोके गुणोको भी दूषित कर रहे है । जिन लोगोकी दृष्टि गुणोपर नही पहुचती और गुण भी अवगुणके रूपमे दिखते है । तो जिसको दूसरोके दोष ही नजर आयें और गुण भी दोषरूपसे ही नजर आये ऐसे दुर्जन पुरुषोका सग सदा ही कष्टको उत्पन्न करने वाला होता है । सो इन दुर्जनोने सज्जनोके सारे गुणोको दूपित कर डाला और समस्त गुणोको किसी न किसी कारणके बहाने ये खोटा ही बतलाते है । जैसे कोई पुरुष संसारसे विरक्त है अथवा महिलायें जो अपना शील व्रत पालन करती हैं, ब्रह्मचर्यको अखण्डित करती है उन्हे खोटी कह दें, दोषी बतलायें, गुणवान पुरुषोको भी ये दोषी बताते रहते है । जो दोषी है ही नही, बिल्कुल दोषरहित है, गुणसहित है तो एकदम मिथ्या वचन कहकर उनको दोषयुक्त ही बताते रहते है । जो संयमी पुरुष है, अपने मन, वचन, कायको वशमे रखने वाले है उनको ये कपटी, तृष्णावान आदि नाना प्रकारके ऐब लगाकर दूषित ठहराते है । जो पुरुष पवित्र है, व्रतके धारक है उनको धूर्त आदिक कहकर पुकारते है । वो गुरुजन है, लज्जाशील है, अपने यम सयमकी साधना करने वाले है ऐसे गुरुजनोकी विनय करनेमे दुष्ट जनोको लज्जा आती है, वे उनकी विनय नही कर सकते, क्योकि दुर्बुद्धिके कारण उनके स्वय अहकार बना हुआ है । वे अपनी दुर्बुद्धिको सही बुद्धि मानते है और अन्य जनोकी बुद्धिको, गुणियो की बुद्धिको दूषित कहते है, और ऐसा समझते कि लोग कुछ समझते नही हे ।

मेरेमे जो चतुराई है और चतुराईके बलसे हम जो चाहते है वह काम कर डालते हैं, ऐसे दुष्ट पुरुष जिनके संगमे रहते है उनका जीवन इस लोकमे भी

कष्टकारी रहता है और अगले भवमे भी उससे कायरता बनती है और कष्ट भोगते हैं। दुष्ट जन गुणी जनोको मूर्ख बतलाते है, और जो चतुर हैं, वक्ता है, भला उपदेश करने वाले हैं उन्हे व्यर्थ बकवाद करने वाला कहकर बदनाम किया करते हैं। जो पुरुष तेजस्वी हैं, पराक्रमी हैं, स्वाभिमानमे रहते है उन्हे ये अहकारी बतलाते हैं। दुष्टजन शान्त पुरुषोंको असमर्थ बतलाते हैं। अनेक सज्जन हैं ऐसे जो अपराधीके अपराधको तुरन्त क्षमा कर देते हैं और शान्त चित्त होकर सहन करने वाले होते है। तो ये दुष्ट जन यह समझकर कि ये सब बातें सहन कर लेते हैं, दूसरेके द्वारा कितने ही उपद्रव, आक्रमण दुर्वचन मिलें तो भी ये शान्तिसे सह लेते हैं तो ये असमर्थ हैं अतएव सह लेते हैं, क्योंकि जिसकी जैसी दुष्ट प्रकृति है उसके अनुसार ही सबका हृदय परखते हैं, ये दुष्टजन सरल पुरुषोको यो समझते हैं कि ये कुछ जानते ही नही। जो मायाचार नही जानते, सरल व्यवहार रखते हैं ऐसे पुरुषोंको ये दुष्ट पुरुष अपने चित्तमे मूर्ख समझते हैं, बुद्धिहीन, भोंदू समझते हैं। तो धर्मके अर्थी पुरुष हैं, जो धर्मका सेवन करते हैं, धर्म धारण करते है उन्हे ये पुरुष बेवकूफ कहकर पुकारते हैं। ये बुद्धिहीन है और धर्मके कार्योंमे लगे है, इन्हे दुनियाकी कुछ खबर नही है, इस प्रकार धर्मात्माजनोंको ये मूर्ख कहकर पुकारते है। दुष्ट जन ससारमे जितने भी गुण हैं उन सबको ये दूषित ठहराते हैं। इनकी दृष्टिमे न कही गुण है और न कही कोई धर्म है, ये स्वयं ही धर्महीन हैं और अनेक दोषोसे दूषित रहते हैं। दूसरोसे ईर्ष्या करते, अपनेसे हीन समझने, अपनेको चतुर मानते, स्वच्छ हृदय बनाकर स्वार्थमे अधे रहते ऐसे पुरुष दूसरे पुरुषोके गुणोको कैसे गुण समझ सकते हैं ? उन्हे दोषरूप ही वे ठहराते हैं। तो जिनकी निरन्तर दोषदृष्टि रहती है, सदैव निन्दाकी प्रकृति रहती है ऐसे पुरुषोके सगमे रहने वाले पुरुष अपनी भलाई कैसे कर सकते हैं ?

प्रत्युत्थाति समेति नौति नमति प्रहलादते सेवते
भुक्ते भोजयते धिनोति वचनैर्गृहणाति दत्ते पुनः।
अग श्लिष्यति संतनोति वदनं विस्फोरितार्द्रेक्षणं
चित्तारोपितवक्रिमोनुकुरुते कृत्य यदिष्ट खलुः ॥४४४॥

(२७६) **दुःसंगसे निवृत्त होकर लोकोत्तम प्रभुकी भक्तिमयी अलौकिक संगति करनेका कर्तव्य**—सगका प्रभाव प्राय· सभीपर पड जाता है, खोटी सङ्गति होनेसे अनेक प्रकारके उलझन बन जाया करते है। इसी कारण कुछ दुष्ट जनोके हृदयका परिचय दिया। प्रायः जिनके चित्तमे कपट है जिनको अपने स्वार्थका ही ख्याल है, स्वार्थके मायने बाहरी विषयोंकी पूर्ति करना। बाहरमे चाहे वह कैसी ही चेष्टायें कर परन्तु ध्यान उसका अपने स्वार्थसिद्धिका

ही रहता है । ऐसे दुर्जनोंका संग बड़ा कष्टकारी होता है सो कुसंगका पूर्ण त्याग किया जाना चाहिये । जब मनुष्य कुसंगसे हट कर सत्संगमे रहता है तो उसकी बुद्धि स्वच्छ रहती है । स्वच्छ बुद्धि होनेसे आत्माके गुणोका विकास होता है । तो आत्महितार्थी पुरुष लोकोत्तम व अलौकिक तत्त्वकी भक्ति करता है । लोकोत्तम प्रभु है उन्होंने अलौकिक तत्त्व पाया है । ज्ञानी पुरुष प्रभुभक्त व आत्मदृष्टा होता है प्रभुके गुणोंका स्मरण करनेपर स्वरूपका स्पर्श होता है । इस नातेसे प्रभुकी स्तुति की जाती है । यदि लौकिक जनोकी भाँति प्रभुका यह स्वरूप बना दिया जाय कि ये मुझे सुख देते हैं इस कारण प्रभुकी विनय करनी चहिये, तो भला बतलावो कि प्रभुकी भक्ति डरसे हुई या गद्गद् होकर हुई ? यदि ईश्वर मुझे सुख दुःख देता है ऐसी श्रद्धा है तो ऐसी श्रद्धा वाले लोग प्रभुकी भक्ति डरसे करेंगे, गद्गद् होकर न करेंगे । गद्गद् हृदय तब होगा जब कि स्वरूपसाम्य समझमें आयगा । प्रभु चेतन है, हम आप भी एक चेतन पदार्थ है । सर्व चैतन्य पदार्थोंका वही स्वरूप है जो चेतनमे हुआ करता है । प्रभुमे स्वरूप और परिणमन एक समान हो गया है, हममे स्वरूप और परिणमन एक समान नही है । जैसे ठंडा जल उसका स्वभाव और परिणमन दोनो समान है । जैसा स्वभाव है उस ही के अनुकूल परिणमन है गरम जलमे स्वभाव और परिणमन इनकी समानता नही है । स्वभाव ठंडा है । परिणमन गरम है । तो हममे स्वभाव वही हैं जो प्रभुका स्वरूप है, पर परिणमन कषायवान बन रहा है यही तो अन्तर है यह अन्तर तो मिटाया जा सकता । स्वरूप समान है । यह तो बहुत बडा बल है कि हम कषायको दूर कर सकते हैं, प्रभुवत् हो सकते हैं । तो प्रभुभक्ति सातिशय किसके होती है ? एकरस होकर प्रभुभक्ति बने और प्रभुमें और अपनेमें अन्तर न रहे ऐसी अभेदभक्ति रहे, यह तब ही हो सकता जब स्वरूप की समता दृष्टिमे हो । तो जब यह बात रहेगी चित्तमें कि ये प्रभु सुख देने वाले हैं, ये हमारे कुटुम्बकी रक्षा कर देंगे, ये हमारी प्रगति कर देंगे, या इनकी भक्तिसे हमारा यह काम प्रगति का बनेगा । यह भाव अगर रखेंगे तो सातिशय भक्ति नही बन सकती, उसमे डर कारण रहेगी, पर आनन्दाश्रुसे गद्गद् हो जायें, इस प्रकारकी भक्ति न बनेगी ।

(२७७) **सहजात्मस्वरूपकी निरख**—अपने स्वरूपको देखिये—यह है दर्शनज्ञानानन्दस्वरूप । दर्शन अन्तर्मुख चित्प्रकाश है, ज्ञान बहिर्मुख चित्प्रकाश है । दर्शनका महत्त्व ज्ञानसे क्या कम है ? स्वरूप ही तो है । दर्शन कहते हैं एक अन्तः स्वच्छताको और ज्ञान उसे कहते हैं कि जिसमें सर्वका प्रतिबोध रहता ऐसी कला । तो स्वच्छता जिसमे है उस ही में प्रतिबिम्ब हो सकता है । जैसे दर्पणमे दर्पणकी निजी स्वच्छता और दर्पणमे बाहरी अनेक चीजोंका फोटो आता तो फोटो आना यह तो ज्ञान जैसा काम है और निजकी झिलमिलाहट

रहना, अन्दर वह दर्शन जैसा काम है । तो आत्माके दर्शन स्वरूपका भी ध्यान दीजिये, जिसे कहते है सामान्यचेतना, निराकार चेतना अन्तः स्वच्छता । मै दर्शनज्ञान स्वरूप हू, सहज आनन्दस्वरूप हू ।

(२७८) जीवमे गड़बड़ी, गड़बड़ीका कारण व उसके यथार्थपरिचयका प्रभाव— अहो विकारवाली यह गडबडी क्यो मुझ दर्शनज्ञानानन्दस्वरूपीमे हो गई ? गडबड यद्यपि अभी यह जीव चल रहा है मगर यह गडबडी जीवके स्वभावकी चीज नही है । यह बात सुगमतया तब समझमे आयगी जब निमित्त नैमित्तिक भावका यथार्थ स्वरूप ज्ञानमे रहे । यहाँ दो भूलें हो जाती है—एक तो यह भूल कि जगतके ये जितने पदार्थ दिख रहे है रूप, रस, गध, स्पर्शवान, इनका निमित्त मान लेते है कि मेरे विकारके ये निमित्त है, पर मेरे विकारके ये बाह्य पदार्थ निमित्त नही होते । इनका जब आलम्बन लें, इनको जब ज्ञानमे लें तो ये आश्रय भूत कारण कहलाते है । विषयभूत पदार्थ विकारके निमित्त कारण नही है वास्तवमे किन्तु आश्रयभूत कारण हैं । एक तो यह ध्यानमे रखना, दूसरी बात यह ध्यानमे रखना कि निमित्त कारण कही कहने मात्रका ही निमित्त नही है, अर्थात् कुछ नही है यो कह डालने जैसी बात नही है, निमित्त कहलाता है कर्मोदय, सो हमारे जितने विकार प्रसग होते हैं वे कर्मोदयका सन्निधान पाकर ही होते हैं । कर्मोदयके अभावमे कही भी विकार होना बताया हो या होता हो सो खूब खोज लीजिये । ऐसा हो ही नही सकता । ये विकार स्वभावतया नही होते । यदि निमित्त सन्निधान बिना विकार होने लगे अपनी मर्जीसे, अपनी बातसे, तो एक बार आत्मा सिद्ध प्रभु हो जाय तो भी विकार होनेका सदेह बना रहेगा अथवा कभी विकार मिट ही नही सकता । यदि विकार निमित्त सन्निधान बिना होता हो तो सदैव विकार चलता रहेगा, विकार मिटेगा नही । ये विकार परभाव हैं, नैमित्तिक है अतएव ये हटाये जा सकते है । इस यथार्थ परिचयमे स्वभावदृष्टि सुगमतया होती है । स्वभावदृष्टि पाने के लिए ही निमित्त नैमित्तिक भावका परिचय होता है, न कि वहाँ कुछ निमित्तके जुडनेका परिचय किया जा रहा है या अपने उपयोगमे निमित्तकी बलवत्ता धारण करनेके लिए परिचय कराया जा रहा है ।

(२७९) निमित्तनैमित्तिकभावके परिचयका प्रयोजन अहंकार व कायरता मिटकर स्वभावदृष्टि होना— निमित्त नैमित्तिकके परिचयका प्रयोजन मात्र स्वभावदृष्टि है । मैं अपने स्वभावको निराला स्वच्छ कैसे निरख पाऊं । जैसे दर्पणका स्वरूप, स्वभाव निराला निजमे स्वच्छता मात्र है उसे यह आप कैसे समझ पाते हैं ? जब यह भाव रहता है कि इसमे हाथ छाया या पुस्तककी छाया, कपडेकी छाया आदिक जो भी फोटो पड रहे हैं ये नैमित्तिक हैं, यह ध्यानमे रहेगा तो उस फोटो विकारसे आप उपेक्षा करके दर्पणकी स्वच्छताकी दृष्टि

आपको सुगमतया मिलेगी। तो ध्यानमे यह लाना चाहिये कि निमित्तसे उपेक्षा, नैमित्तिकसे उपेक्षा करनेके लिए ही इनका सही परिचय किया जाता है। तब ही तो समयसार बधाधिकारमे बारंबार यह समझाया गया है कि तू ऐसा ख्याल मत कर कि मैं इसको सुखी करता हू, दुःखी करता हू, सुखी करता हू, मारता हू, क्योकि यह तेरा भाव अर्थ क्रियाकारी नही है। जैसा परिणाम तू कर रहा है वहाँ वैसा काम बन जाय तेरे परिणामके किए जानेसे तब तो उसे अर्थ क्रियाकारी कहेगे, किन्तु ऐसा नही होता। तेरे वशकी ही बात नही है। तू उनका निमित्त कारण नही। उनका जीवन उनकी आयुके उदयसे ही होगा, उनका मरण उनकी आयुके क्षयसे ही होगा। उनका सुख दुःख उनके साता असाताके उदयका निमित्त पाकर ही होगा। यह स्पष्ट लिखा है। तो यह ध्यान दिलाया गया है कि तू यथार्थ निमित्त नैमित्तिकको देख और इन आश्रयभूत पदार्थोमे मैं करता हूं या मुझे इसने कुछ कर दिया ऐसे अहंकारको और कायरताको तज दे। देखिये—कायरता तो यो छूटी निमित्त नैमित्तिकके परिचयमे कि इन आश्रयभूतके प्रति सदेह न रहा कि ये मेरेको सुखी दुखी करेंगे, ये मेरा बिगाड करेंगे···। निश्चय हो गया कि मुझ द्रव्यका ये अन्य जीव कुछ नही कर सकते। स्वरूप तो यो है कि निमित्त भी उपादानमे कोई वृत्ति नही कर रहा है, वह तो वहाँ उपस्थित है, पर उस उपस्थिति बिना यह उपादान अपनी विकृतिकी कलाको नहीं खेल पाता है। इसीको कहते है विकार होनेके प्रसगमे ऐसा ही वस्तुस्वभाव है याने उपादानमे खुद ऐसी कला है कि वह अशुद्ध उपादान अनुकूल निमित्त पाकर उस प्रकारका विकार परिणाम करता है, पर निमित्त सान्निध्य बिना विकार परिणमन होता नही है। अतएव वे परभाव है और वे हटाये जा सकते है। सब कुछ उपदेश स्वभावदृष्टि करानेके लिए है न कि बाह्यवस्तुवोका ही परस्पर संबध ध्यान जुडाव निरखनेके लिए। विकारसे हटें स्वभावमे आये, बस यह ही पौरुष करना है। यह या बनेगा, यह दृष्टि बनेगी तो आपको सर्व बातें ऐसी स्पष्ट होगी कि आप विकारमे हटेंगे और स्वभावमे लगेगे।

(२८०) जीवके वैरीका निर्णय—देखिये मेरे प्रति दुष्टताका काम कोई भी इन्द्रिय विषयभूत पदार्थ नही कर रहा है। दुष्टताका साक्षात् काम तो उसका अज्ञान और कषायभाव कर रहा है और निमित्त दृष्टिसे जिसे कहते है अष्टकर्म, ये शत्रु है, दुःखके कारण है, सो वे दुष्ट लगे है और वैसे सबके अनुभवमे आ रहा कि जितने भी हम आपको कष्ट हो रहे है, वे इस शरीरके कारण हो रहे। यदि शरीर हमारे साथ न होता तो हमारे लिए कोई कष्ट न था। हम शरीर वाले है, शरीरका बन्धन भी साथ चल रहा है तो सारे कष्ट हम पर आ रहे है, जन्मका कष्ट, मरणका कष्ट, जीवनमे इष्टवियोग अनिष्ट सयोग, व्याधि, वेदना आदि अनेक

प्रकारके आशा तृष्णा आदिक जितने भी हम आप कष्ट पा रहे है वे सब इस शरीरके लगावसे पा रहे हैं। कल्पना करलो कि यदि मेरे साथ यह शरीर न होता, मैं अकेला ही रहता, जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही मैं प्रकट होता तो मेरे लिए क्या बाधा थी ? अनन्त आनन्द था निराकुलता थी, पवित्रता थी। निस्तरग रहता। यह शरीरका प्रसंग और इस शरीरका लगाव यह हमारी सारी बाधावोंका कारण बन रहा है। एक बात और भी सोचिये—जब कभी धार्मिक चर्चायें करते है और अपनी अपनी आदतके अनुसार जब तालमेल नही खाता तो यह जल्दी क्रोध क्यो आ जाता है ? चर्चा तो धर्मकी कर रहे, ज्ञानस्वरूपकी कर रहे, आत्माकी कर रहे वहाँ क्रोध क्यो आ जाता ? उसका भी कारण है शरीरका लगाव। यह मेरी बात नही मानता····अरे यहाँ मेरेके मायने क्या ? जिसकी फोटो उतरती है, जिसका कि नाम रखा है यह शरीर, इसे कहता है मैं, और इसने मेरी बात नही माना, वहाँ यह भाव नही है कि ज्ञानमात्र मुझ आत्माकी बात नही मानी। वहाँ तो शरीरको निरखकर ही वह चित्तमे अवधारण कर रहा कि इसने मेरी बात नही मानी। तो आप देख लो, सारे झझट उलझन, विवाद, झगड़े ये सब कुछ इस शरीरको व्यामोहके कारण हो रहे हैं। तब यह भावना भाइये कि मैं शरीरसे न्यारा हूं, कर्मसे न्यारा हू और कर्मके प्रतिफलनसे निराला हू। स्वय केवल चैतन्यमात्र हूं, यह है मेरा स्वरूप। और इस स्वरूपको अपना लिया जाय फिर कषाय न होगी। विवाद न होगा। अशान्ति न होगी, उलझन न रहेगी। जब स्वरूपकी दृष्टि तो हो नही पाती। शरीरको तो माने हुए हैं कि यह मैं हूं और धर्मके कुछ प्रसगमे मुखिया नेता बननेका दावा रखते हैं तो वहाँ फिर ये कषाय बनते हैं अन्यथा कषायका क्या काम ?

(२८१) कल्याणार्थीका कर्तव्य सहज स्वभावमे आत्मत्वकी प्रतीति और इस ही का अनुयोगोंमें समर्थन—जिसे कल्याण चाहिए उसका कर्तव्य तो यह है कि अपने सहज स्वभावको निरखकर उसको अपनाये। उसमे आत्मत्वका अनुभव करे। यह है उसके कल्याण का उपाय और उसी स्वभावके निरखनेके ये सब परिचय हैं। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सबमे जो कुछ लिखा है उन सबका उद्देश्य यह है कि ये इसी स्वभावका दर्शन कर लें। अनुयोगोंकी पद्धति जुदी जुदी है, पर अन्तमे निष्कर्ष ध्येय यह ही आयगा कि स्वभावदृष्टि करें। पुराणोमे कितने ही कथन आये हैं। क्या गृहस्थी थी, क्या भोग भोगे, अन्तमें कैसे विरक्त हुए, कैसे तपश्चरण किया, कैसे उन्होने मोक्ष पाया उनका कल्याण कब हुआ ? तो सर्वसंग छोडकर केवल स्वभावदृष्टिमे ही समय व्यतीत हो तो उनको यह निर्वाण मिले। यह ही तो शिक्षा मिली प्रथमानुयोगके कथनमे। अब उसमे कथन अनेक प्रकारसे किए गए हैं, पर शिक्षा यह ही मिलती है। करणानुयोगमे जीव और कर्मकी

जो दशायें बतायी गई है उनमे निमित्तनैमित्तिककी घटना बतायी गई है जीवोके परिणाम का निमित्त पाकर कर्मोंमे दशा बनती है, शुद्ध निर्मल परिणाम हुए तब कर्मोंका विध्वंस होने लगता । कषाय परिणाम हुए तो कर्मोंमे कर्मत्व आने लगता । हो रहे दोनों जगह दोनो काम । एक काम दो का नही और एकके दो काम नही । परिणति सबकी अपने आपमे हो रही है मगर ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक योग चल रहा है वस्तुस्वरूपको परखिये । प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनसे ही परिणम रहा है । हाँ अनुकूल निमित्तयोगमें यह उपादान इस रूप परिणम जाता, पर परिणमने वाला वह अकेला उपादान ही है उस रूप । सबका अपने में अपना ही परिणमन चलता है । तो चूँकि जैसे सामने आयी हुई चीजका निमित्त पाकर दर्पणमें फोटो प्रतिबिम्ब हुआ है तो इस कारण वह परभाव है तभी तो तुरन्त हाथ हटा दिया तो प्रतिबिम्ब भी हट गया । हाथ कर दिया तो प्रतिबिम्ब हो गया । इतना सब कुछ होने पर भी हाथकी परिणति हाथमे ही है । हाथकी कोई परिणति हाथके प्रदेशसे निकलकर बाहर न होगी, पर ऐसा ही योग है । यह योग स्वभावदृष्टिका परिचय कराता है । मैं स्वभावत: विकाररूप नही परिणम रहा । मेरा स्वरूप विकार परिणमनके लिए नही है किन्तु मात्र चिद्वृत्तिके लिए है । जैसा मेरा सहज स्वरूप है उस प्रकारकी वृत्ति चले यह है मेरे स्वरूपका काम स्वभावका काम और बाकी जो हो रहा है वह सब औपाधिक है । इन औपाधिकमें लगाव न रखें, अपने सहज स्वरूपकी संभाल करें । तो स्वभावदर्शनके लिए करणानुयोगमे भी जीव और कर्मकी दशावोके प्रसंगमे बताया गया है विशुद्ध अध्यात्म किन्तु यथार्थतया किस रूप है इसको पहिचान ।

(२८२) **औपाधिकभावसे निराले स्वभावमात्र अन्तस्तत्त्वके परिचयका चमत्कार**— मैं स्वयं अपने सत्त्वके प्रतापसे चैतन्यमात्र हू । केवल प्रतिभास ही, इतना मात्र हूं । इसमें जो रागद्वेषादिक विकार चलते हैं वह कर्मकी छाया, माया, फोटो है, उपचारसे वे कर्मके कहे जाते वस्तुत: वहाँ निमित्त नैमित्तिक योग है । जैसे प्रकाश जो है सो ही है, हरा कागज लगा तो हरा प्रकाश हुआ । अब इस हरे प्रकाशमें प्रकाशका स्वरूप क्या है और हरापन क्या है ? यह भेद तो जान रहे ना ? प्रकाश तो है प्रकाशकका निजीरूप और यह हरापन औपाधिक रूप है । रागद्वेषादिक औपाधिक रूप हैं और निज चिद्वृत्ति, चित्प्रतिभास यह एक स्वाभाविक वृत्ति है । इस मिश्रसे मिश्रणको हटाना, इसमे भेद करना और अपनेको स्वभावमात्र निरखना यह ही तो एक पौरुष है, जिसके किये जाने पर हमारेमे प्रगति होगी । तो अपना किसीको शत्रु न समझें, कोई जीव मेरा हित नहीं करता, उसका अपना परिणमन चल रहा । जैसी योग्यता है जैसे कषायादिक भाव हैं उस प्रकारसे उसका परिणमन चल रहा

है पर वह मेरा कुछ बना नही है । सुख दुःख रागद्वेषादिक ये मेरे कमाये अर्जित कर्मोके विपाकके अनुसार है, इनके अनुसार नही है । तो बाह्य आश्रयभूतसे मेरा बिगाड नहीं है ऐसा जानने से कायरता मिटती है । मैं किसी भी दूसरे प्राणीको सुख दुःख देने वाला नहीं हू, ऐसा जाननेसे अहकार मिटता है । आप देखिये प्राय. सभी कभी अहकारके शिकार हो रहे है । कभी कायरताके शिकार हो रहे है, ऐसी ही बुद्धि तो चलती है, मडरा रही है । देखनेमे बडे सुन्दर जचते है बडे-बडे लोग, बडे-बडे ढग जैसे मानो बहुत ही उदात्त हो, पर चित्तमे अहकार और कायरता ये मूलसे नही मिटें तब तक इसका धर्ममे प्रवेश नही हो पाता है । खूब सोच लीजिए कि अहंकार बुद्धि कैसे मिटती है ? निमित्त नैमित्तिकके सम्बन्धमे की जाने वाली भूल खतम करनेसे मिटेगी, जो यह भूल लगा रखी है कि मैं इनके सुख दु खका निमित्त हू, मैं इनके सुख दुःखका करने वाला हू तो न मैं निमित्त हू दूसरेके सुख दुःखका, न मैं करने वाला हू, मेरे सुख दुःखका निमित्त मेरा कर्मोदय है । ऐसा जानते ही अपना अहकार खतम हो जाता है । ये मेरा न जाने क्या बिगाड कर देंगे, मैं इनको प्रसन्न रखूँगा तो ये मुझे सुख देंगे, इस प्रकार की जो भीतर कातर बुद्धि चलती है यह भी कैसे मिटे ? तो वह भी मिटेगी निमित्त नैमित्तिकके यथार्थ परिचयसे । ये मेरे सुख दु खके निमित्त नही है, ये मेरा सुधार बिगाड़ करने वाले नही है । लोगो पर जो कुछ यहाँ बीत रहा है वह कर्मविपाकके अनुसार बीत रहा है । अन्य मेरेको कुछ नही करते, ऐसा जान लेनेपर यहाँसे कायरता तो हट गई ।

(२८३) **दैववाद व पौरुषवादका निर्णय**—अब कोई कहे कि कर्मको निमित्त जानें, तो वहाँ कायरता रहेगी । तो भाई अष्टसहस्रीमे बताया है कि दैवसे कार्य होता कि पुरुषार्थसे ? सांसारिक कार्योकी बात कह रहे । मोक्षका कार्य तो पौरुषसे ही है । उसकी बात नही कह रहे, पर सांसारिक कार्य तो साक्षात् दैवके निमित्तके अनुसार होते है । मगर इसीका ही कोई हठ कर ले तो बताओ वह जो दैव बना वह किस कारणसे बना ? वह आत्माके परिणामसे बना । तो परिणाम मायने पौरुष है, और कर्मोदय मायने दैव है । तब एकान्त नही कर सकते । जब यह कह दिया जाय कि जैसा मैंने किया वैसा भोग रहा हू तो यह हो गई पौरुषकी ओरसे बात और जैसा कर्मोदय है वैसा मैं भोगता हू, यह हुई दैवकी बात । सब समन्वय है । यथार्थ ज्ञान रखें तो उसमे उलझन सब खतम हो जाती है ।

सर्वोद्वेगविचक्षण प्रचुरमामुचन्नवान्यं विष ।
प्राणाकर्षपदोपदेशकुटिलस्वांतो द्विजिह्वान्वित ।

भीमभ्रांतविलोचनोऽसमगतिः शश्वद्दयावर्जि
तश्छिद्रान्वेषणतत्परो भुजगवद्वर्ज्यो बुधैर्दुर्जनः ॥४४५॥

(२८४) **दुर्जनोंकी सर्वोद्वेगविलक्षणता**—दुर्जन पुरुष सर्पकी तरह नाना प्रकारसे अनर्थकारी होते है इसी कारण जैसे लोग सर्पसे दूर रहा करते है ऐसे ही विवेकी पुरुष दुर्जनोसे दूर रहा करते है, न कोई सर्पको अपने पास रखता है न सर्पके रहनेके स्थान पर पहुचता है ऐसे ही विवेकी पुरुष न अपने पास किसी दुष्ट पुरुषको रहने देते है और न दुष्टोंके संगमे वे जाते है। सर्पकी तरह कैसे अनर्थक है ये दुर्जन, सो देखिये—सर्वप्रथम तो जैसे सर्प सभी तरहके उद्वेगका कारण होता है। जहाँ सर्प निकला कि सब लोग घबडा जाते हैं, सबको उद्वेग हो जाता है, चित्तमें विह्वलता हो जाती है, इसी तरह दुर्जन पुरुष सबके चित्तमे उद्वेग उत्पन्न करने वाले होते है। वे दुर्जन पुरुष दुष्ट जन जहाँ भी पहुचते है वहाँ उनसे अनेक लोगोको बाधा होती है तो उद्वेग उत्पन्न होने लगता है। तो ये दुर्जन सर्पकी तरह सर्व प्रकार उद्वेग उत्पन्न करानेमें समर्थ होते हैं। दुष्टजन अपनी प्रकृति छोड़ नही सकते। उनमे ईर्ष्या भरी है, क्रोध भरा है, स्वार्थ भरा है। उसके निकट जो रहेगा उनके मन, वचन, कायकी चेष्टावोके कारण उद्वेग होता ही रहेगा। तो विवेकी पुरुष दुर्जन पुरुषोका सग नही किया करते। सर्प किसे उद्वेग करानेके लिए नहीं बनता ? वह निकला और लोगोको उद्वेग हो जाता है। डर लगता है। लोगोंको उससे प्राण जानेका भय रहता है। तो ऐसे ही कोई दुर्जन चाहे यह भी मनमे ध्यान न रखे कि मैं दूसरेको दुःखी करूँ पर उसकी कुछ चेष्टायें ही ऐसी बनती हैं कि जिससे दूसरोको कष्ट पहुंचता है। दुर्जन लोगोके पास रहने वालोको उनसे अनेक बाधायें आती हैं, तिरस्कार होता है और उद्वेग होता है। तो दुष्ट पुरुषोका संग सर्वके उद्वेगका कारणभूत है। अतः दुष्टोका संग न करें।

(२८५) **दुर्जनोंकी अवाच्यविषप्रमोचकता व प्राणापघातकता**—जैसें सर्प विष ही उगलता है, चाहे उसे दूध पिलाया जाय, या अमृत पिलाया जाय फिर भी वह विष ही उगलेगा, ऐसे ही दुर्जन पुरुषकी चाहे कोई कितनी ही सेवा करे लेकिन वह ऐसे ही वचन बोलेगा कि जिन्हे न बोलना चाहिए। दूसरोके दिलको पीड़ा करें ऐसे वचन उसके मुखसे निकलते है। तो अवाच्य वचन विषसे कम नहीं कहलाते। तो दुर्वचन बोलनेकी प्रकृति है, निन्द्यनीय वचन ही दुर्जन लोग बोला करने हैं क्योकि उनका चित्त वशमे नही है, जो मनमें आया और मनमे क्या आया, उनके दोष दृष्टि हुआ करती है इस कारण वे दूसरोकी निन्दा के ही वचन कहेंगे। अब उनका संग कोई करे तो जो अवगुण नही हैं फिर भी निन्दाके वचन बोला करे तो लोगोकी दृष्टिमे कुछ फर्क आ सकता है। निन्दाके वचन जो भी पुरुष

बोले समझना चाहिए कि उसका आशय मलिन रहता है। नही तो निन्दाके शब्द बोलनेका क्या प्रयोजन ? अपना धर्म करना है। अपना कल्याण करना है तो अपनेसे मतलब रखा जाना चाहिए। दूसरे पुरुषोके वचन, निन्दाके वचन बोलते रहने की प्रकृति खोटे आशय बिना नही हो सकती। तो ये दुष्टजन अवाच्य विषवचन बोला करते हैं। जैसे सर्प निकल आया, सम्पर्क हो जाय तो वह पुरुषको डस लेता है ऐसे ही दुष्टोके चित्तमे दया तो होती नही है, क्योकि वे स्वार्थसे अधे है, अपनी कषाय आग्रहके हठी है। तो वे दूसरोके प्राणघात के कारण बन जाते है। तो जैसे जहाँ सर्प रहते हैं उस स्थानमे न रहना चाहिये क्योकि सर्प प्राणनाशक होते है ऐसे ही दुष्टजन जहाँ रहते है वहाँ सज्जन पुरुषोको न रहना चाहिये क्योकि वे भी प्राणोका नाश करने पर उतारु हो जाते हैं।

(२८६) दुर्जनोकी कुटिल हृदयता, द्विजिह्वता व निर्दयता आदि—जैसे सर्प खोटी जगहमे रहते है, साफसुथरी जगहमे रहनेका उनका भाव नही रहता, अटपट जगहमे रहते हैं और कुटिल चालसे चलते है ऐसे ही ये दुष्टजन छल कपटसे कुटिल रहा करते हैं। जिस प्रकार सर्प दो जीभ वाले होते है उसी प्रकार ये दुष्ट पुरुष भी दो जीभ वाले हैं अर्थात् एक ही बात को दो तरहसे कहने वाले होते है याने कपट होनेके कारण ऐसी बात बोलेंगे कि जिसके दोनो अर्थ हो जायें। यह देखनेमे बड़े-बड़े पुरुषोके भी बात पायी जाती है तथा किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, किसीसे कुछ कहा, ऐसी इनकी प्रकृति होती है। साँप जिस प्रकार भयंकर इधर उधर घूमते हुए चचलनेत्रोसे युक्त रहता है इसी प्रकार ये दुर्जन पुरुष भी अपनी भयंकर नजरसे इधर उधर घूमते रहते है। वे अपना दाँव देखते रहते हैं कि किस प्रकार अपना स्वार्थ सिद्ध किया जाय, किस प्रकार इनको धोखा दिया जाय। जिस प्रकार साँप विसम गति वाला होता है, टेढा चलता है, उसी प्रकार दुर्जन पुरुष भी विसम गति वाले होते हैं याने किसीसे कुछ बोलते किसीसे कुछ, कभी हितकी भी बात बोलते और अक्सर अहितकी बात बोलते। साँप जैसे निर्दयी होता है, बाल, वृद्ध, युवक सभीको डस लेता है ऐसे ही दुर्जन पुरुष दयारहित होते है, शत्रु मित्र, अपराधी, गरीब धनी कोई भी हो, सभीको तंग करते हैं क्योकि दुष्ट प्रकृतिमे यही रहता है। साँप जैसे बिल ढूढनेमे सदैव तत्पर रहता है इसी प्रकार दुष्ट पुरुष भी दूसरोके दोष ढूढनेमे सदैव तत्पर रहते हैं। इन दुष्टोका सग अपने लिए विपत्ति का कारण है अत. उनका सग तजना योग्य है।

धर्माधर्म विचारणा विरहिता सन्मार्गविद्वेषिणो
निन्द्याचारविधौ समुद्यतधियः स्वार्थैकनिष्ठापरा.।

दुःखोत्पादकवाक्यभाषणरतोः सर्वाप्रशंसाकरा
द्रष्टव्या सपरिग्रहव्रतिसमा विद्वज्जनैर्दुर्जनाः ॥४४६॥

(२८७) **दुर्जनोंकी दोषपूर्णताका चित्रण**—दुष्टजन मानो परिग्रही पाखण्डी संन्यासी जनोकी तरह है जैसे कोई पाखण्डी पुरुष धन धान्य दासी दास, चेतन अचेतन परिग्रहसहित होते हैं तो ऐसे ही ये दुर्जन भी धर्म अधर्मका विचार इनके नही है, पुण्य पापका विचार इनके नही है तो ये भी उन्ही परिग्रहोंकी तृष्णामे लगे हुए हैं। इस छदमे दुष्ट पुरुषोके मुख्य मुख्य लक्षण विशेषणके रूपमे कहे गए हैं, जिनमे प्रथम परिचय यह है कि दुष्टजन धर्म और अधर्म अथवा पुण्य और पापके विचारसे रहित होते हैं। दूसरा लक्षण यह है कि ये दुष्टजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं, जैसे पाखण्डी तपस्वीजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं। जो वास्तविक साधुजन है उनसे विद्वेष रखते है। उसी प्रकार ये दुर्जन पुरुष भी श्रेष्ठ मार्गसे विद्वेष करने वाले होते है। क्योकि इन दुष्टोंको चाहिए विषय और कषाय। विषय कषायके साधन गुणीजन या साधुजन नही होते। सन्मार्ग तो पापोको दूर हटाता है और ये हैं पापके अभिप्राय वाले तो इन्हे व्यसनी पुरुष पापी पुरुष जो स्वयं गुण्डागर्दीके भावके हो वे तो सुहा जायेंगे पर जो ज्ञानी सयमी श्रेष्ठ आचरणके हैं वे पुरुष इसे भी न सुहायेंगे। तो इसने समीचीन मार्गसे द्वेष ही तो किया। दुष्टजन धर्मात्माजनोको इस प्रकार देखते हैं जैसे कि वे तुच्छ हो, असहाय हो अथवा उनको कोई सुविधा न होनेसे यह मार्ग बनाया हो, इस ढगसे देखते हैं। तो दुष्टजन सन्मार्गके विद्वेषी होते हैं, यह उनका दूसरा लक्षण है। तीसरा लक्षण है कि निन्दनीय आचरणके करनेमे उनकी बुद्धि तैयार रहती है याने निन्द्य आचार उनको पसंद रहता है, उन आचरणोके करनेमे ही उनका सारा प्रयत्न चलता है। चौथी पहिचान यह है कि दुष्टजन एक स्वार्थमें ही अपनी बुद्धि रखते हैं, अपने इन्द्रियके साधन मिलें, आरामके साधन मिलें, भोग विषयोके साधन मिलें, ऐसी उनकी दुर्बुद्धि होती और निजके स्वार्थमे ही उनकी आस्था बनी रहती है। ५वां परिचय उनका यह है कि वे ऐसे ही वचन बोलते हैं जिन वचनोसे दूसरोको दुःख उत्पन्न हो। उनके वचनोमे निष्ठुरता होती है। कदाचित मधुरता भी हो तो भीतर कपटपना बना रहता है जिससे दूसरे लोग दुःख पायेंगे। तो उनका वचनसम्पास सर्व दुःखोको उत्पन्न करने वाला होता है। दुष्टजनोका छठा परिचय यह है कि सभी पुरुषोकी वे निन्दा किया करते हैं। चाहे गुण हों उसकी भी निन्दा करेंगे। किसीमें गुण कम हो उसकी भी निन्दा करेंगे। निन्दा करना ही उनका स्वभाव पढ गया है और इस कारणसे वे अपने मनको संतुलित नही रख पाते और कषायोमे ही व्यग्र रहकर वे स्वयंको निरन्तर क्लेश सक्लेशमे रखा करते हैं। ऐसे दुष्टजनोंका संग छोड़ना ही उचित है।

मान मार्दवतः क्रुद्ध प्रशमतो लोभ तु सतोषतो।
मायामार्जवतो जनोमवनतेर्जिह्वाजयान्मन्मथ ॥
ध्वांत भास्करतोनलं सलिलतो मन्त्रात्समीराशनं।
नेतुं शांतिमलं कुतोपि न खल मर्त्यो निमित्ताद्भुवि ॥४४७॥

(२८८) **दुर्जनको शान्त कराये जानेकी अशक्यता**—ये दुष्टजन किसी भी प्रकारसे वशमे नही आते। अनेक खोटी और कठिन बातोपर विजय प्राप्त किया जा सकता है मगर दुष्ट पुरुषोपर विजय प्राप्त नही किया जा पाता। उनको वशमे नही कर पाते। देखिये मान कषाय एक बहुत खोटा भाव है मगर उसे भी मार्दव धर्मके द्वारा शमन कर दिया जा सकता क्रोधभावको प्रशमभावसे नष्ट किया जा सकता है। यह क्रोध भी इतना भयकर विकार है कि जब क्रोधभाव जगता है तो यह सद्बुद्धिसे दूर हो जाता है और वहाँ चित्तमे जो आता वही करता है। ऐसे क्रोधको भी प्रशमके द्वारा वश किया जा सकता है। लोभ कषाय जो जीवोको निरन्तर क्लेश उत्पन्न करती है उस लोभ कषायको भी सतोषसे शान्त किया जा सकता है। न लोभ रहे, संतोष वृत्तिसे रहे, यह बात आ सकती है। माया कपट भाव एक ऐसा विकार भाव है कि इस मायाके रहते हुए धर्मका प्रवेश भी नही हो सकता। ऐसे छल कपट जैसे खोटे भावको आर्जव धर्मके द्वारा दूर किया जा सकता है। तो इन कषायोके वेगको तो दूर किया जा सकता है किन्तु दुष्टजनोको किसी भी प्रकारसे वशमे नही किया जा सकता, उनका शमन नही किया जा सकता। स्त्रीजनोको अनुनय विनयसे प्रसन्न किया जा सकता है पर इन दुष्टजनोको किसी भी प्रकारसे प्रसन्न नही किया जा सकता, सिद्ध नही किया जा सकता। ये किसीके वशमे नही आ पाते। जिभ्या इन्द्रियको जीतनेसे कामके वेग को शान्त किया जा सकता है लेकिन इन दुष्टजनोको किसी भी प्रकारसे वशमे नही किया जा सकता। अधकारको प्रकाशक पदार्थोका सम्बन्ध दूर कर देता है। प्रकाश द्वारा अधकार दूर किया जा सकता है किन्तु ये दुष्टजन किसी भी प्रकार दूर नही किए जा सकते, अर्थात् इनके चित्तको शुद्ध नही किया जा सकता। अग्नि जलके द्वारा बुझ सकती है। लोग प्रयोग करते ही हैं। जब अग्नि प्रज्वलित होती और उसके बुझानेकी आवश्यकता होती तो झट पानी डालकर उसे शान्त कर दिया जाता है परन्तु दुर्जन पुरुष किसी भी प्रकारसे शान्त या वशमें नही किए जा सकते। सर्प एक भयंकर जानवर है जब उसे किसी पर क्रोध आता है तो कितना ही दूर हो, वही पहुंचकर उसे डस लेता है, ऐसे सर्पको मंत्रके वशसे कीलकर शान्त किया जा सकता, परन्तु दुर्जन पुरुष किसी भी प्रकार वश नही किया जा सकता। ऐसे स्वच्छंद चित्त वाले दुर्जन पुरुषोका संग त्यागने योग्य ही है।

वीक्ष्यात्मीयगुणैर्मृ णालधवलैर्यद्वर्धमान जनं ।
राहुर्वा सितदीधिति मुखकरैरानंदयंत जगत् ॥
नो नीच: सहते निमित्तरहितो न्यक्कारवद्धस्प्रहः ।
किंचिन्मात्र तददभुतं खलजने येन वृकेव स्थित: ॥ ४४८ ॥

(२८६) **दुर्जनोंकी भेड़ियेकी तरह दुर्दृष्टि व दुष्प्रवृत्ति**—दुष्ट जन अपनी दुष्टताकी प्रकृतिको नही छोडते । कोई पुरुष निर्मल गुणोसे बड़ा प्रगतिशोल हो रहा हो, जो समस्त जगतको आनंदित कर रहा हो, ऐसे उत्तम गुणी पुरुषोको देखकर दुष्टजन अकारण ही उनको नीचा करनेका प्रयत्न किया करते हैं । तो मानो उनको ग्रसकर गिराना चाहते हैं । जैसे कि चन्द्रमा जो जगतको शीतलता प्रदान करता है, जिसकी किरणें बडी उज्ज्वल है उस चन्द्रसे मानो यह राहु गुणोकी दृष्टि न देख सकनेसे उसे ग्रसनेका प्रयत्न करते है, भले ही कुछ समयके लिए चन्द्र ग्रसा जाता है मगर उसका वश सदा नही चलता । तो भले ही कोई दुर्जन किसी गुणीको सताये तो वह गुणी अपनी सद्भावनाके कारण अन्तमे सुरक्षित ही रहता है मगर दुष्टजन उनको सताये बिना नही रहते । अर्थात् दुष्टजन गुणी पुरुषोंके गुणोमे ईर्ष्या रखकर उसका बुरा ही करनेमे लग जाते हैं । सो मालूम होता कि ये दुष्टजन भेड़ियेकी तरह है । जैसे भेड़िया टकटकी लगाकर भीतर ही भीतर झुन्नाता रहता है, अवसर देखता रहता है । जैसे ही उसने अवसर पाया कि झट भेड बकरी आदिक जानवरोका शिकार कर लेता है इसी तरह दुष्ट पुरुष भी सदा ताक लगाये बैठे रहते हैं, वे अवसर देखते रहते हैं और जैसे ही अवसर मिलता है तो ये गुणोंको मलिन कर डालते हैं । गुणी पुरुषोके गुणोको भी अवगुणरूपमे प्रकाशित करते है और अपने गुणोको तो मलिन कर ही रहे हैं । तो जो दुष्टजन मिथ्या मलिन आशयके हैं उनका संग करने से इस मनुष्य को लाभ कुछ नही, उल्टे हानि ही हानि है । इसलिए अपनी बुद्धिके सुधारके लिए सन्मार्गमे निर्बाध गमन करनेके लिए विवेकी पुरुषोका कर्तव्य है कि वे दुष्टजनोका संग छोड दें ।

त्यक्त्वा मौलिकसंहतिं करटिनो गृह्णाति काकाः पलं ।
त्यक्त्वा चंदनमाश्रयंति कुथितयोनिक्षत मक्षिकाः ॥
हित्वान्नं विविधं मनोहररसं श्वानो मलं भुंजते ।
यद्वल्लाति गुणं विहाय सततं दोषं तथा दुर्जनाः ॥४४९॥

(२९०) **दुर्जनोंकी सतत दोषग्राहिता**—दुष्टजन गुणियोंके गुणोको छोड़कर निरन्तर उनके दोषोको ही ग्रहण करते हैं और प्रकट करते हैं । जैसे कि कौवा हाथीके गजमोतियो को तो छोड़ देता है और मांसको ही ग्रहण करता है । किसी किसी गजके मस्तकमे मोती

भी होते हैं। जैसे हड्डियाँ होती तो वे भी पौद्गलिक हैं ऐसे ही कोई विशिष्ट जातिका लौकिक उत्तम मूल्यवान पदार्थ भी वहाँ उत्पन्न होता है। तो काग जब कुछ कमजोर हाथीको या तुरन्तके मरे हुए हाथीको चोटते है तो उनकी दृष्टि केवल मांस खानेमे रहती है, भले ही वहाँ और भी मूल्यवान पदार्थ है, पर उनको वे छोड देते है, करें क्या? कौवेकी प्रकृति मांसकी ही तो होती है अएतव मोतियोके समुदायको छोड़कर केवल मांसका ही भक्षण करते है इसी तरह ये दुष्ट पुरुष गुणीजनोंके गुणोको त्यागकर केवल उनमे दोषको ही ग्रहण करते है। उपयोगमे लेते है और उसीको ही जिभ्यासे बोलते हैं? दुष्टोंको गुणोसे क्या मतलब रहा? उसमे रुचि ही नही। गुणोसे प्रेम ही नही, गुणोको तो वे देखते हैं जिनको गुणोमे प्रेम होता है। तो गुणोसे द्वेष रखने वाले दुष्टजन गुणीजनोके गुणोको छोडकर केवल दोषोको ही ग्रहण करते हैं। जैसे मक्खियाँ चदनको छोडकर निन्द्य घावका ही आश्रय करती हैं। जैसे किसी पुरुषको घाव हुआ हो और उसमे चदनका लेप किया हो तो मक्खियाँ उस चंदनसे प्रेम नही करती, चदनके लेपको तो छोड देती हैं और उस घाव पर मुख देती हैं ऐसे ही दुष्टजन गुणीजनोके गुणोका उनपर पूरा लेप है लेकिन उन गुणोको दुष्टजन ग्रहण नही करते, बल्कि कोई थोडा दोष हो तो उसका ही आश्रय करते हैं। दोष ही उसकी दृष्टिमे रहते हैं। कदाचित दोष न भी हो तो दोष बना बनाकर वे उगलते रहते हैं। जैसे कुत्ते बड़े रसीले भोजनको छोड़कर केवल वमन जैसे मलोको ही खाते हैं। उन कुत्तोको उस वमनके खानेमें ही प्रेम होता है ऐसे ही ये दुष्टजन गुणी पुरुषोके गुणोको त्याग कर केवल उनके दोषको ही निरखते रहते हैं। दुष्टजन क्या करें, उनको दोषमे प्रेम है इस लिए दूसरोमें दोषको ही देखते हैं और वे स्वयं दोषको श्रेष्ठ समझते है। वे दोषोके करनेमे पापकार्योंके करनेमे अपनी बहादुरी भी मानते है। मैं पुरुषार्थी हू, मैं बडा हू, सबसे अधिक समझदार हूं, मैं अनेक लोगोकी आंखोमे धूल झोककर अपना काम बना लेता हू, ऐसा उन दुष्टजनोंके मनमे गर्व रहता है। तो इन दुष्ट प्रकृति वाले लोगोंका दोष ही दोषमे निवास है। उनका संग करनेसे कभी भी धर्मका लाभ नही हो सकता, बल्कि धर्ममे हानि होती है, उद्वेग बढ़ता है इस कारण धर्मके इच्छुक पुरुषोंका दुष्टजनोंका परित्याग करना ही चाहिये।

ये जल्पन्ति व्यसनविमुखा भारतीयस्तदोष
ये श्रीनातिद्युतिमतिधृतिप्रीतिशांतीर्ददते।
येभ्यः कीर्तिर्विगलितमला जायते जन्मभाजां
धाश्वत्संतः कलिलहतये ते नरेणाव सेव्याः ॥४५०॥

(२६१) सत्संग किये जानेके योग्य सज्जनोंका हितकारिणी वाणीसे परिचय व

सत्संगके लाभ—यह सज्जन निरूपण नामका परिच्छेद है। संग सज्जनोंका सेवन करनेके योग्य है। दुष्टसंगसे तो बनवास या अन्य कार्य भी भले हैं। संग होना चाहिये सत्पुरुषोंका क्योंकि सत्संगसे बुद्धि पवित्र रहती है। सन्मार्ग मिलता है, शान्ति प्राप्त होती है। तो वह सज्जन पुरुष कौन होता है उसका वर्णन इस छदमे किया हैं। सज्जनकी पहिचान है निर्दोषवाणी। जिनकी निर्दोष वाणी दुःखोंसे अलग रखती है वे सज्जन पुरुष कहलाते है। जिन्होंने आत्माका और ससारके स्वरूपका भली भाँति निर्णय किया है उनमे ही यह कला आती है, वे ही वास्तवमे सत्पुरुष कहलाने योग्य है, उनकी ही वाणी ऐसी निर्दोष निकलती है कि जिसमे मिथ्याका काम नही, दूसरोंका अहित नही। मनुष्योंकी पहिचान वाणीसे होती है मगर कभी कभी यह भी धोखा रहता है कि जिसकी वाणी सुननेमे तो भली लग रही है मगर हृदयमें कपट है, स्वार्थवासना है तो उसकी पहिचान थोड़ा कठिन तो होती है मगर बहुत दिन बसे बसे सब ज्ञात हो जाता है कि यह वाणी तो वास्तवमे निर्दोष है और यह कपटभरी है। सज्जन पुरुषोंकी निर्दोष वाणी दूसरोंको विपत्तियोंसे हटाती है, विभूति, कीर्ति, कान्तिका वर्द्धन करती है। जिनका हृदय पवित्र है, इस संसारके सर्वसंकटोंसे हटनेकी खुदको वाञ्छा है उनकी वाणी कपटभरी कैसे हो सकती ?

(२९२) **परविविक्त स्वैकत्वगत सहजात्मस्वरूपकी प्रतीतिका कर्तव्य**—देखो इस जीवनमें करने योग्य खास काम क्या है ? जो करने योग्य काम है वह कठिन नही, सुगम है, स्वाधीन है। वह काम क्या है ? अपने आपके सहज स्वरूपका परिचय बना लेना। मैं हूं तो अपने आप ही तो हू, मेरी सत्ता किसी दूसरे पदार्थकी दया पर नही है। अपने आपसे ही सत्व हूं। तो स्वय अपने आपसे मैं कैसा हूं इसका जिसको निर्णय हुआ है वह ही वास्तविक विरक्त होगा और अपनी स्वरूपदृष्टि करके ससारसे पार होगा। स्वरूपदृष्टि करनेके लिए एक संक्षिप्त मनन करें कि मै देहसे, कर्मसे, विकारसे निरोला केवल चेतनामात्र हूँ। ऐसी बात दृष्टिमे आनी चाहिए। किसी परपदार्थके सम्बन्धसे क्या हो रहा ? निर्णय तो रखिये जरूर मगर अनुभवके प्रसंगमे दृष्टि केवल निज सहज स्वरूपपर देनी है। भले ही कई चीजोंका मिलाप हो और उस मिलापमे सभी अपने स्वभावके विपरीत परिणम रहे हों तिसपर भी सबकी सत्ता अपने आपके निरपेक्ष है और स्वयंके रूप ही हुआ करती है। मैं देहसे निराला हू। यह बात सही है या नही ? कहनेमे तो झट आ जायगा कि सही है मगर परीक्षाके अवसर जब आते है तब जैसे कहते है अपनी सिट्टी भूल गए। अच्छा एक दिन खाना न मिले या तीव्र ज्वर हो जाय, या कोई बिकट रोग हो जाय तो उस समय जो ऊपरी बातें कर रहे थे वे तो डिग जायेंगे और जिन्होने पदार्थोंके सहज स्वरूपका निर्णय बनाया है वे धैर्य

पायेंगे उन कठिन परिस्थितियोमे भी ।

(२६३) **देहबन्धनकी असुविधायें**—भैया, इतना तो स्पष्ट निर्णय सबको है कि मरेके बाद लोग शरीरको क्यो जला देते है ? जिस शरीरसे लोगोका ऐसा प्रेमपूर्ण व्यवहार रहा ऐसे मित्रजन, वे ही सगे भाई बंधु इस मुर्देको झट ले जाकर जला आते है । दो घडी भी उसको घरमे नही रहने देते तो क्यो नही रहने देते ? उनको इस बातका ज्ञान है कि जीव न्यारा है, देह न्यारा है । जीव चला गया, खली यह देह रह गया, तो यो भी झट समझमे आता है कि जीव न्यारा है, कर्म न्यारे है, और शरीर न्यारा है, पर बंधन ऐसा है कि इनका प्रयोग रूप देनेमे बडी बाधा आती है । भूख प्यास आदिक रोगोकी बात तो दूर जाने दो, इष्टवियोग हो गया या अपनी कषाय वश विरुद्ध कोई बात बोल दी तो उसमे झट तिल-मिला जाते है । अब बताओ कहाँ गया वह ज्ञान कि देह जुदा और मैं आत्मा जुदा ? कोई विपरीत बात कह दे तो बात कहने वाला जुदा है । मूर्तिक है, भाषावर्गणाके शब्द है, अपनी कषायके अनुकूल काम कर रहा है, उसमे मुझ ज्ञानमात्र आत्माका क्या सम्बध है ? किन्तु उसे सुनकर झट तिलमिला जाते । मालूम होता है कि वह सब तोतारटन्त बात है—शरीर जुदा मैं जुदा, इसका अभ्यास नही बनाया, मनन नही बनाया सो बुरा लग रहा । अपने शरीरको माना कि यह मैं हू और दूसरे शरीरोंको माना कि ये दूसरे लोग है और उस गालीके शब्दोमे यह बात जोड ली कि इतने लोगोके सामने यह मुझे गाली दे रहा, तो शरीरमे लगाव है तब तो गाली दे रहा, तो शरीरमे लगाव है तब तो गाली बुरी लगी, इष्ट वियोगका दुःख हुआ ।

(२६४) **गुणरुचि व साम्यभावमे वास्तविक समृद्धि**—जो बात कहनेमे भली लगती है उसका अगर प्रयोग हो जाय तब तो बेडा पार हो । सभाके बीच किसीको व्याख्यान देने खडा कर दिया तो वह जितनी बातें कहेगा वे सब भली कहेगा । किसीकी निन्दाकी बात न बोलेगा अगर बोलेगा भी तो वह प्रशंसाके रूपमे बोलेगा । निन्दाकी बात कहनेको तैयार होगा तो उसके हाथ पैर काँपने लगेंगे । वह ठीक तरहसे बयान नही कर सकता, और अगर किसी की प्रशसाकी बात बोलेगा तो वह स्थिर रहेगा, प्रसन्न रहेगा । तो आप प्रयोग करके देख लो, जो बात करनेमे भली लगती है उस रूपसे प्रयोग बने तो इसमे आत्माका कल्याण है । देह जुदा मैं जुदा यह कहनेमे कितना भला लगता और यह ही व्याख्यानमे बोला जाता और इसका यदि भीतरी मनन बन जाय तब तो इसे शान्ति प्राप्त होगी । तो अभ्यास यह बनाइये कि मैं देहसे न्यारा हू । जैसे प्रतिकूल किसीकी क्रिया हो जाती तो वहाँ क्यो कषायका वेग होता ? अरे प्रतिकूल कुछ नही है दुनियामे जो बाहरी पदार्थ जैसा परिणमते है, परिणम रहे है वे मेरे प्रतिकूल क्या ? अज्ञानसे ।

हम मान रहे कि ये मेरे प्रतिकूल है। कोई लोग कहते कि मेरा ही बेटा और मेरी ही बात नही मानता। जिसकी २०-२५ वर्ष तक सेवा की, पढ़ाया लिखाया, शादी करायी, सब प्रकारकी सेवायें की, मगर यह मेरेसे प्रतिकूल बोलता है।....अरे वह प्रतिकूल कुछ नही बोलता, वह तो अपनी कषायके अनुकूल बोल रहा। जिसमे उसे सुख शान्ति नजर आती वह कार्य कर रहा है। चाहे वह कार्य उसके ही खिलाफ बने, उसके ही बिगाडका कारण बने, मगर सब लोग अपने-अपने माने हुए सुखके लिए अपनी प्रवृत्ति करते है। जो करते है सो करने दो, दुनियामे करोडो मनुष्य कर रहे ऐसा काम जैसे कि यह मनुष्य कर रहा, वहाँ क्यो बुरा मानते ? उनमे लगाव न रखें, उनमे मोह बनाया है, लगाव रखा है इससे बुरा मानते हैं, और लगाव कब है ? जब उसने अपने शरीरको माना कि मैं यह हू। तब तो लगाव है, नही तो ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मस्वरूपको दृष्टिमे लेकर कौन कहेगा कि यह मेरे प्रतिकूल है।

(२९५) **स्वरूपाभिमुखतामे स्वरूपदृष्टि**—धर्म स्वरूपाभिमुख होनेपर धर्म बडा सुगम है, लेकिन जो लोग खोटे पथकी ओर चल रहे हो उनके लिए अतीव दुर्गम है। जैसे दर्पण है, इसके समक्ष मुख कर लिया तो अपना दर्शन बडा सुगम है और दर्पणकी ओर पीठ कर लें तो अपना दर्शन बडा दुर्गम है। देखिये जासे मे ही कितना अन्तर हो गया। तो जिनको कल्याण इष्ट है, जो जान चुके कि मेरा हित किसी बाह्य पदार्थके लगावमें नही है वह भिन्न है, मेरे लिए असार है, मुझे वहां क्या करना ? अनन्त भव गुजर गए इसी चक्करमे मेरा किसी अन्यसे प्रयोजन नही। आत्मस्वभाव मेरी दृष्टिमे आये बस एक मात्र यही करनेका काम पड़ा हुआ है। मैं देहसे न्यारा हू। और देहसे भी बहुत सूक्ष्म पुद्गल, जिनका कि विकट बंधन बना है, अनादिसे भरे चल रहे है, बधन है, वे कर्म भी पौद्गलिक है। उन कर्मोंसे भी मै न्यारा हूं। जैसे शरीरसे न्यारा ऐसे ही कर्मसे न्यारा। यद्यपि मरण हो जानेपर शरीर साथ नही जाता कर्म साथ जाते है। वे पौद्गलिक सूक्ष्म कर्म जीवके साथ जाते हैं इतनेपर भी उन कर्मोंसे यह आत्मा जुदा है। तो मनन करें कि मैं आत्मा इन कर्मोंसे भी न्यारा हू। तीसरा मनन करिये कर्मका उदय आया। जब कर्म बंधे है तो अपने समयपर उनका विपाक आया। तो कर्मका विपाक कर्ममे आया। कर्मके उदयमे कर्ममे ही भयकर रूप बन गया। लेकिन जब यह निमित्त नैमित्तिक बधन है तो कर्मके उदयका वह भयकर रूप यहाँ उपयोगमे आया, यहाँ उसका प्रतिफलन हुआ। फोटो आयी कैसे ? छाया बनी तो वह बनी जिनके विकार भाव रूप और इसीको जीवने मान लिया कि मैं यह हू और इस मान्यतासे संसारमे रुलता है। मैं इन विकारोसे भी नि-

राला हूँ, क्योंकि वे मेरे स्वरूपकी चीज नही है, वे नैमित्तिक है, इनसे मै न्यारा हूँ। तो देह से न्यारा कर्मसे न्यारा और विकारसे न्यारा केवल चेतना मात्र।

(२९६) **पुद्गल व पौद्गलिक भावका बन्धन होनेपर भी स्वरूपसत्त्वकी विविक्तता**— अब अपने स्वरूपकी ओरसे देखिये यह मात्र चैतन्यस्वरूप है। अपने आपके बारेमे उस चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि जाय तो जीवको धर्मका मार्ग मिलता है। सो धर्मकी इच्छा तो है सबके इसी लिए तो मंदिर आते, धर्म भावोसे ही तो आते। तो यह धर्ममार्ग कितना सुगम है, थोडा इसका ज्ञान बना ले और अपने आपको मात्र चैतन्यरूपमे सही स्वरूप मानें, बिगाड कितने ही हो रहे मगर स्वरूप तो सही है। जैसे दूध और पानी भले ही मिल गए है मगर पानी पानीसे ही रचा है दूध दूधसे ही रचा हुआ है। यद्यपि मिले हुए दूध पानीमे से कोई दूध दूध पी ले, पानी न पिये ऐसा करना कठिन है। प्रयोगमे न आ पायगा किन्तु स्वरूप तो देखो वहाँ कि पानी पानीमे ही है, दूध दूधमे ही है उसको आगसे तपा दिया जाय तो दूध दूध तो रह जाता और पानी भाप बनकर ऊपर उड जाता। मशीनो द्वारा भी दूध और पानी अलग अलग देखे जा सकते। हंस पक्षीकी चोचमे भी कोई ऐसा रसायन होता जिससे उस चोचको मिले हुए दूध पानीमे डालने पर दूध अलग हो जाता और पानी अलग हो जाता तो जैसे मिले हुए दूध पानीमे दूधकी सत्ता अलग है और पानीकी सत्ता अलग है ऐसे ही शरीर कर्म और जीव इन तीनोंका मिश्रण होनेपर भी सब एक दूसरेसे भिन्न है।

(२९७) **सहजात्मस्वरूपभावनासे पवित्रताकी संभूति**—मैं आत्मा केवल चैतन्यमात्र हूँ, यह जिनकी दृष्टिमे आ गया है उनका मन शुद्ध है, उनके वचन शुद्ध है। और की तो बात क्या कहे उनके कायको भी शुद्ध कहते है। जो रत्नत्रयसे पवित्र है ऐसे साधुवोके देह को किसने अपवित्र कहा ? उनके स्नानका त्याग है लेकिन उनके शरीरको किसी ने अपवित्र कहा क्या ? कोई साधु स्नान न करके आहारके लिए आया हो तो उसे आप आहार देनेमे मना तो नही करते। भले ही कोई ऐसा तेज शोधिया बना हो कि इस ही भावसे अलग भोजनका प्रबध करे, आंगनमे लगाये कि ये नहाते तो हैं नही, ये चोकेमे आ गए तो हमारा चौका अपवित्र हो जायगा ऐसा सोचकर यदि कोई अलग प्रबंध करे तो उसका दूषित भाव है, पर ऐसा कोई करता नही। साधुका, रत्नत्रयधारीका देह सदा ही पवित्र माना जाता। उनके वचन तो पवित्र है ही किसीको पीडा कारक वचन नही है। उनके क्रोध, मान, आदिक कषाय नही जगते। साधुसतोने वास्तविक क्या चीज पायी है जिसके बलपर उनके कषाय नही जगते ? तो उन्होने पाया है स्वभावदृष्टिका बल। मैं यह हूँ, चैतन्यमात्र। जैसा जो कोई अपने बारेमे बार बार सोचता है उस रूप उसका परिणाम, परिणमन होने लगता

है। आप किसीके बारेमे सोच रहे हो कि यह मेरा बड़ा विरोधी है, यह मेरेको देखता नहीं है तो आपको ऐसा ही दिखने लगेगा और उसकी प्रत्येक क्रिया आपको यों ही समझमे आयगी कि यह मेरा विरोध कर रहा है। जो बार बार यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य हूँ मायने यह देह वाला हूँ तो उसके सब संसार बढने वाली बात बनेगी और जिनका मनन बराबर यह चलता है कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूँ तो उसके ज्ञाताद्रष्टा रूप व्यवहार चलने लगेगा।

(२९८) भावनानुसार भविष्य—देखो जैसे पहाडसे कोई रत्न निकालता है या आग निकालता है ऐसे ही आत्मामेसे सुभाव निकालते हैं या दुर्भाव निकालते है यह अपने भावोके आधार पर है। उसने किसका मनन कर रखा है, किसको अपना रखा है उस आधार पर बात है कि कोई चाहे रत्न निकाले या आग। जिसने अपनेको पर्यायरूपसे मनन किया है उससे आग निकलेगी और जिसने अपने आपके लिए चैतन्यस्वरूप मात्र मनन किया है उसकी वाणी निर्दोष निकलेगी। तो सज्जन पुरुष वह है जिसकी निर्दोष वाणी दूसरोका दुःख दूर कर देती है। जो विभूति, नीति, कान्ति, शुद्ध लक्ष्मी वर्द्धक वृद्धिको करती है जिसके सम्बन्धसे निर्मल कीर्तिका प्रादुर्भाव होता है ऐसे सज्जन पुरुषोका सदा सेवा सत्संग करना चाहिए। पहले एक यह निर्णय बना लो कि आपको इस संसारमे बारबार जन्म लेने मे मजा आता है या जन्म बिल्कुल न हो आगे यह आपको चाहिए? इसका निर्णय बनायें पहले। यदि कोई यह कहे कि मुझे तो जन्म चाहिये, जन्म अच्छी चीज है, जन्ममें ही तो बड़े उत्सव समारोह होते हैं, स्वर्गोमे देव समारोह करते हैं यहाँ सेठ लोग समारोह करते हैं, तो जन्म अच्छा है ना? तो ठीक है जन्म लेना यदि आपको पसंद है तो आप एक काम करिये कि इस शरीरको खूब मानते रहिये कि बस यह ही मैं हूँ, बस इस ही मान्यतासे आपको खूब शरीर मिलते रहेगे। और अगर आपको जन्म न चाहिए, जन्म लेना पसंद नहो है और आपके मनमे यह भाव हो कि मैं शरीरसे रहित केवल आत्मा ही रहूँ, अन्य पदार्थ भी तो अकेले अकेले ही हैं। निर्लेप धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य वगैरह तो इनकी भाँति मैं आत्मद्रव्य भी अकेला ही रहूँ, कोई संग न चाहिए, कुछ लेप न चाहिए, अगर ऐसी इच्छा है तो उसका उपाय यह है कि शरीरको हम (मैं) न मानें और शरीरसे निराला अपनेको ज्ञानमात्र, चैतन्यमात्र मनन करें। दोनो ही बातें सामने रखी है। अब यह अपनी छटनी कर लें कि जन्म लेना पसंद है या जन्मसे हटकर केवल आत्मा रहना आपको पसंद है? यदि जन्म लेना पसंद है तो देखलो संसारमे ये ही सब तो जीव भरे हुए हैं—निगोदिया, अन्य एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय,

पचेन्द्रियमे तिर्यंच और नारकी देव, मनुष्य, ऐसे प्राणी होते रहना पसंद है, तो यह बात कोई विवेककी नही है। प्रभुभक्ति करके यह ही तो एक उमंग बढाना है कि हे प्रभो, जैसे आप सर्व लेपसे रहित हो गए। हे सिद्ध भगवान जैसे आप शरीरसे सदाके लिए छूट गए। अब केवल निर्लेप ज्ञानपुञ्ज ही रह गए ऐसा ही मैं अपने आपको चाहता हूं, क्योकि ऐसा हुए बिना आत्मकल्याण नही सो जन्म लेता रहूं यह बात रंच भी पसंद न कीजिए। किन्तु मै जन्मरहित हो जाऊं, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाऊं, बस यह भावना भरें।

(२९९) अन्तः आशयके अनुसार उपलब्धि—देखो भीतरकी लगनका फर्क होता है। जिसने यह भावना भरी उसके मोह कहाँ रहेगा। कैसे मान सकेगा कि ये पुत्रादिक मेरे हैं। यह मै हू यह बुद्धि उसके आ ही नही सकती। हाँ रहना है तो प्रेमका व्यवहार तो बनाये रखना पड़ेगा, क्योकि मुझ समान ही ये भी चेतन हैं, मगर रागका व्यवहार बना कर भी ज्ञानीके निर्मोहता रहती है। तो हे प्रभु मैं देहरहित होना चाहता हूं, याने जन्मरहित होना चाहता हूं। देह और जन्मका बीज है कर्म। कर्मके उदय होते, देहका बंधन होता, यही परम्परा अनादिसे चली आयी है। तो भावना करे कि मैं कर्मसे रहित होना चाहता हूं। न मुझे शुभ कर्म चाहिये न अशुभ कर्म, न पुण्य चाहिये न पाप चाहिए, क्योकि पुण्यकर्मके फलमें एक बार राजा, नेता, धनी बन जायें तो उसकी क्या गारन्टी है कि वह दुःखी न होगा या अगले भवमे उससे हीन पद पर न आयगा ? बल्कि प्रायः यह होता है जिसके पुण्यका उदय है, धन वैभव मिला है तो उसका हृदय स्वच्छंद हो जाता है, विषयोमे लग जाता है, मनमाने पाप करता है। यह पुण्यके उदयसे नही कर रहा, यह तो अपने वर्तमान भावोंके अनुसार कर रहा मगर ऐसी बात होने तो लगती है। तो इस पुण्यकी कोई गारंटी नही है कि पुण्य मिल गया तो उसका कल्याण होगा ही। इससे न पाप चाहे बल्कि उनसे हटनेका काम करें। उनसे हटनेका क्रम यह ही है कि पहले पाप भावोको छोड़कर पुण्य भावोमे आयें पर लक्ष्य अपना रखें शुद्धभावोका तो बात बनेगी। यदि शुद्ध भावना हो जाय, अपने सहज स्वरूपका निर्णय हो जाय तो ये सब बातें आसान हो जाती हैं। तो हमे यह चाहिये कि जो ज्ञानी पुरुष है, सज्जन पुरुष हैं उनका सत्सग करें तो उनकी मुद्रासे, चेष्टासे हमे सन्मार्ग मिलेगा।

नैतच्छ्यामा चकितहरिणीलोचना कीरनाशा
मृद्वालापो कमलवदना पक्वबिंबाधरोष्ठी।
मध्ये क्षामा विपुलजघना कामिनी कांतरूपा
यन्निर्दोषं वितरति सुखं संगतिः सज्जनानां ॥४५१॥

(३००) सत्संगतिसे निर्दोष सुखका लाभ—सज्जन पुरुषोकी संगति जिस निर्दोष

सुखको प्रदान करती है वैसे सुखको दुनियावी लोगोके द्वारा मानी गई कामिनी भी प्रदान नही करती। लौकिक जन सर्व पदार्थोमे सर्वाधिक सुख देने वाली स्त्रीको माना है, और साहित्यकार अपने साहित्यमें उसकी प्रधानताका बड़े गौरवके साथ वर्णन करते हैं। किस प्रकार वर्णन करते हैं कि जो युवती जन हैं वे चकित हिरणीके समान चंचल नेत्र वाली हैं। नेत्रोंको जल्दी यहाँ वहाँ घुमायें ऐसी स्त्रियोको उनकी सुन्दरता मानते हैं। कीरनाशा जिनकी नाक सुव को तरह है, उसका भाव यह है कि नासिकामें छिद्र सीधे यदि दिखें तो लोगोंको ग्लानि उत्पन्न होती तो ऐसी नाक जिसमे कि छिद्र दिखें नही वह तो तोतेकी होती है। साहित्यकार जिस-जिस ढंगमें स्त्रियोकी सुन्दरताका वर्णन करते हैं लौकिक पुरुष भी उस उस ढंगमे उस सुन्दरताको निरखते हैं। ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ भी वह सुख नही प्रदान करती जो निर्दोष आल्हाद सज्जनों की संगतिसे प्राप्त होता है स्त्रियोका वर्णन मृदु आलाप वाली सुन्दरता बतानेके लिए है। ये लौकिकजन भी उसीको ही अधिक प्रिय मानते है जो मधुर वचन बोलें। जिनका वदन कमल के समान कोमल हो। जैसे कमलके पत्ते कोमल होते हैं इसी तरह जिनका बदन भी कान्तिमय और कोमल हो ऐसी स्त्रियोमे लौकिकजन सुन्दरता समझते हैं। जिनके ओंठ वक्र हो, बिम्ब-फलके समान लाल हो याने ललाई प्राकृतिक ओंठो पर पायी जाय वहाँ लौकिकजन सुन्दरता मानते हैं और साहित्यकार कवि भी उसी ढंगसे वर्णन करते है, जिनकी कमर मध्यमे अत्यन्त पतली हो और जंघा मोटे हो उस कामिनीको लौकिक जन सुखका कारण मानते है और अच्छे ढंगसे साहित्यकार भी वर्णन करते हैं, लेकिन ऐसी युवती स्त्रीजनोसे उत्पन्न होने वाला सुख सदोष है। तत्काल भी खोटे परिणाम ही बनते हैं और कर्मबंध भी होता है। भविष्यमे उसका परिणाम खोटा भोगना पडता है। तो भले ही कुछ कल्पनामें लौकिकजन स्त्रियोको सुखका कारण मानें लेकिन सुखका कारण नही हैं तत्काल भी और आगे भी क्षोभका कारण हैं लेकिन सज्जन पुरुषोंकी संगति तत्काल भी और भावीकालमें भी संतोष और आनन्दको प्रदान करने वाली होती है। अतः सत्संगति करना योग्य है और उसमे ही आत्मा अपने गुणोंको समृद्ध बना सकेगा।

यो नाक्षिप्य प्रवदति कथानाभ्यसूयां विधत्ते।
न स्तौति स्वं हसति न परं वक्ति नान्यस्य मर्मं ॥
हंति क्रोधं स्थिरमति शमं प्रीति तो न व्ययीति।
संतः सतं व्यपगतमदं तं सदा वर्णयंति ॥४५२॥

(३०१) सज्जनपुरुषोंके आक्षेपकथन, ईर्ष्या व स्वप्रशंसाके भावकी असंभवता— सज्जन पुरुषोका संग लाभदायक होता है यह प्रकरण इस ग्रन्थमें चल रहा है। तो वे

सज्जन पुरुष कौन होते उसका कुछ वर्णन इस छदमे है। जो पुरुष कभी भी दूसरोंपर कटाक्ष न करें, आक्षेप न करें ऐसी उनकी व्यावहारिक प्रवृत्ति रहती है जिसके चित्तमें सर्व जीवोका स्वरूप समाया है और जानते हैं कि जो भी त्रुटि है वह सब औपाधिक है। इनके स्वभावमें से यह त्रुटि नही आयी है ऐसा जो देखते है, जीवोके स्वरूपकी दृष्टि रखते हैं ऐसे सत्पुरुष दूसरोका कटाक्ष और आक्षेपके वचन कैसे बोल सकते हैं ? चित्तमे कषाय हो तो उसके कारण लोग आक्षेप भरी बातें बोला करते हैं। तो प्रथम परिचय यह है कि जिनकी वाणी दूसरोके कटाक्ष और आक्षेप भरी नही होतीं। कोई दोष भी करता हो तो उसे जान तो जाते हैं, पर उस दोषको उसके स्वभावमे उत्पन्न नही करते। ज्ञानी पुरुषोकी ऐसी रीति नीति होती। ज्ञानी पुरुष सज्जन पुरुष किसीके गुणोमे दोषका आरोप नही करते। जिनको गुणोमे रुचि होती है वे अन्यत्र भी गुणोका दर्शन करते हैं। रुचिके अनुसार लोगो की बाह्य प्रवृत्ति होती है। जैसे जिसका कलुषित हृदय है वह बाहर सबमे कलुषित ही कल्पना करता है, जिसकी गुणोमें रुचि है, निर्मल चित्त है उसको बाहरमे प्रथम तो दोषके दर्शन ही नही होते। गुण और दोष सबमे मौजूद होते है, पर जिनकी गुणोमे रुचि है उनकी गुणोंपर प्रधानतया दृष्टि रहती है। जिनके दोषोमे रुचि हैं, दोषमय जिनका हृदय है उनको सब जगह दोष ही दोष दिखते है। जैसे जो स्वय अवगुणसे भरा है, कहिये चोरी जैसी वृत्ति है वह दूसरोपर किसी प्रकारकी शंका रखता है और झट उन्हे पहिचान भी लेता है, जिनकी गुणोपर दृष्टि है उन्हे गुणोके दर्शन होते हैं और उनमे प्रमोदभाव जगता है। ईर्ष्या अहंकार ये एक ऐसे दोष हैं कि जिनके कारण प्रकृति दुष्ट हो जाती है। तो जो सत्पुरुष हैं वे कभी कटाक्ष नही करते और किसीके गुणोमे दोषका आरोप नही किया करते। जो जैसा है वैसा बाहरमे वे परख लेते हैं। सत्पुरुष कभी अपनी प्रशंसा और दूसरोकी बुराई नही करते। ये तो नीच गोत्रका बंध करने वाले भाव हैं। अपनी प्रशसाका भाव भी वे नही रखते। ऐसी सरलता उन सत्पुरुषोमे होती है।

(३०२) **सत्पुरुषोके सहजात्मस्वरूपकी धुन**—सत्पुरुषो मे केवल जो एक उनका कर्तव्य है उसकी ही धुन होती है। वह कर्तव्य क्या है ? अपने आपको सहज स्वरूपमे देखनेका पौरुष होना। धर्मपालन वस्तुतः अपने आपको जैसा कि सहज सत्त्व है, स्वयं स्वरूप है उस रूपमे अपने आपको मानना व उसपर दृढ रहना और ऐसा ही निरन्तर जानते रहना यह है वास्तविक धर्मपालन। यह जिसने निर्णय कर लिया है वह पुरुष इस वृत्तिका पात्र रहे इसके लिए आगे बढ़ता है। चरणानुयोगके अनुसार व्रत, तप, संयम आदिक ग्रहण करता है ताकि हम अपने स्वभावदर्शनके पात्र बने रहे और समय समयपर यह दृष्टि करके अपना जीवन

सफल करें। मुख्य बात है अपने आपके सही स्वरूपको पहिचान लेना, यह जिसने नही किया वह भले ही थोडासा पुण्यबध कर ले, लेकिन उसे मोक्षमार्ग नही मिलता। तो सर्व आरम्भ करके, पौरुष करके जैसे आत्माके सही स्वरूपका परिचय बने वह काम करिये। वह है ज्ञान। भेदविज्ञान। वस्तुस्वरूपका परिचय। निरखना क्या है कि मैं केवल चेतना मात्र हू। मेरे सत्त्वमे दूसरेका सत्त्व मिल करके बना हो ऐसी बात नही है। जो भी सत् है वह स्वयं है, स्वयं पूर्ण है। किसीकी सत्ता अधूरी नही रहती। तो मैं जब सत् हू तो वह वस्तुतः क्या हू यह बात जिनके अनुभवमे आ जाती है उनको मोक्षमार्गका लाभ होता है।

(३०३) **अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति विना गल्पवादका प्रवर्तन**—देहसे मैं न्यारा हू ऐसी बात तो प्रायः सब बोलते है और थोड़ा इस पर विश्वास भी रखते है। जैसे कोई पुरुष गुजर गया तो सभी कहते है कि हसा उड गया, मिट्टी रह गयी, इसको तो उन्होने भी स्वीकार किया। देहसे न्यारा यह मैं आत्मतत्त्व हू। भले ही विपर्ययरहित विधिसे नही जान पाया फिर भी साधारणतया सभी लोग इस बातको थोडा थोड़ा जानते है कि यह जीव देहसे निराला है। जरा इसी बातको वस्तुस्वरूपके परिचयके साथ और जाननेकी आवश्यकता है। यह देह क्या है? अनेक परमाणुओका पिण्ड है, स्तम्भ है, रूप, रस, गंध, स्पर्शवान है। इसमे चैतन्यस्वरूप नही है। मूर्त कोई चेतन हो ही नही सकता, और मैं एक जाननहार आत्मतत्त्व हू। बंधन है आज और वह बंधन भी विकट है। जब आराममे है तब भेदविज्ञानकी बात सब बोल लेंगे (आजकी स्थितिकी बात कह रहे) और कोई ज्वर हो, खांसी हो, श्वांस हो, कोई रोग हो, चोट हो, कोई वेदना आ जाय तो प्रयोगात्मक विधिसे अपने आपमे तको कि मैं अब भी भेदविज्ञानपर अमल कर पाता हूं कि नही। तो गप्प करना तो सबको आसान रहता है और गप्प सप्पमे ही विवाद हो जाया करता है। तव विवादात्मक विधिसे जितने क्षणका संकल्प हो उसकी प्रायः सारी समस्यायें सुलझ जाती है और ठीक विधिसे वे अपने स्वरूप तक पहुंच लेते है। आज ऐसा बन्धन है, पर स्वरूप देखो तो सबका अपना अपना जुदा-जुदा है। उसका अभ्यास नही है। अपने आपके एकत्वकी लगन नही है। पूरी तरहसे निर्णय भी नही किया है, अतएव ऐसी बातें गप्पोमे आती है, पर प्रयोग रूपमे उत्तीर्ण नही हो पाते। तो जरूरत इस बातकी है कि मैं अपने आप स्वय जैसा चैतन्यमात्र हू उस प्रकारकी निरख करें।

(३०४) **अन्तस्तत्त्वकी अनुभूति होनेपर ही सहजात्मस्वरूपका वास्तविक परिचय**—मोह ममतासे अन्य पदार्थोंको मानना कि ये ही सब मैं हूं, ये मेरे है, रागद्वेषके जितने व्यवहार हैं, जितनी रागद्वेषकी भीतरी जागृतियां हैं उनसे तो अपनेको अलग कर सकते है अन्तर

मे पर कुछ प्रयोगात्मक विधिसे हो तो अपने आपका स्पष्ट बोध हो। जैसे मिश्री मीठी है, ऐसा बारबार कहने पर भी जिसने मिश्री नही चखी है उसे उस मीठेपनकी बात भीतर उतरती नही है, मुखसे तो वह कह देगा, सुन रखा है, कुछ युक्तियां बताती है कि गन्ना इतना मीठा होता है, उसका रस निकाल लिया जाय तो वह और भी मीठा होता उसको पकाकर राब बना दिया जाय तो वह उससे अधिक मीठा होता, राबका गुड़ बना दिया जाय तो वह उससे अधिक मीठा, गुडसे शक्कर बना दी जाय तो वह और भी अधिक मीठा और फिर उस शक्करका मैल निकालकर मिश्री बना दिया जाय तो वह और भी मीठा, इस तरह कोई शब्दो द्वारा मिश्रीका खूब ज्ञान भी कर ले, शब्दोसे बोल भी ले पर सही रूपसे मिश्रीके स्वादका निर्णय वह नही कर सकता। हाँ उसको मिश्रीकी एक डली खिला दी जाय तो वह मिश्रीका सही सही स्वाद समझ लेगा, जान लेगा। तो ऐसे ही आत्मस्वरूपकी बात कोई बहुत-बहुत सुन ले, मुखसे भी बोल ले फिर भी उसे आत्मस्वरूपका सही सही अनुभव नही हो पाता। आत्मस्वरूपके अनुभवका ढग, आत्मकल्याणका ढंग तो बडी शान्तिका है। धीरताका है जब भीतर अपनेको सम्बोधन करें। अपने आपकी, और उन्मुख हो, उसका प्रयोग करें। प्रयोग भी तब ही बनेगा जब कि कुछ आचरण सही हो।

(३०५) सदाचरण होनेपर सम्यक्त्वलाभकी संभवताका एक सिद्धान्तसे परिचय—करणानुयोगमे बताया है कि क्षायिकसम्यक्त्व कैसे होता। अन्य सम्यक्त्वकी भी विधि बतायी है। ७ प्रकृतियाँ जो इसके मिथ्या दर्शनके निमित्तभूत हैं उन प्रकृतियोका क्षय होने पर सम्यक्त्व प्रकट होता है। तो उस प्रसंगमें यह बताया है ना कि जब करणलब्धि होती है तो उसके प्रसादसे सर्वप्रथम अनन्तानुबंधीका अन्तर करण, विसयोजन व अनन्तानुबंधीसे हटनेकी बात आती है। अनन्तानुबंधीका क्षय हुए बाद यह जीव अन्तर्मुहूर्त विश्राम करता है, उसके पश्चात् दर्शनमोहका क्षय होता है। अनन्तानुबधी चारित्रमोहकी प्रकृति है। यह विधि भी बतला रही है कि आचरणका अंश जगे बिना यह दर्शनमोहको साफ न कर पायगा और न अनुभव बन पायगा। तो अपने योग्य आचरणमे रहकर भीतर धुन बनाइये, मनन करिये अपने स्वरूपका। उसके प्रसादसे जो जैसा होना है ओटोमेटिक निमित्तनैमित्तिक योग मे हो जायगा। कैसे कर्म दूर होते हैं, क्षीण होते हैं, क्या उनमे स्थिति बनती है वह सब आत्माके विशुद्ध परिणामका निमित्त पाकर होता रहेगा। अपना काम है अपने स्वरूपपर दृष्टि देना।

(३०६) विकारोंकी नैमित्तिकता व परभावताके परिचयका प्रथम लाभ—देखो जितने विकार होते हैं, जिन्हे कहते हैं परभाव, रागद्वेषादिक भाव, ये क्या जीवमे स्वभावतया

होते ? नही होते । हो रहे जीवके परिणमन, पर जीवोमे स्वभावतया नहीं होते । रागद्वेप करनेका जीवका स्वभाव नही है । और हो सो जाते हैं । जैसे एक दर्पणमें किसी भी चीजका फोटो छाते रहना क्या परके सान्निध्य विना दर्पणके स्वभावसे ही होता है जिस वस्तुका सामने सान्निध्य होता है उसके अनुरूप वैसा दर्पणमें फोटो रूप परिणमन होता है । यह निमित्त नैमित्तिक भाव है, ऐसे ही मुझमे जो रागद्वेपादिक विकार जगते हैं वे पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर ये जीवमे विकार परिणतियां बनती हैं, ऐसा सब लोग जानते है, मानते हैं, पर इस श्रद्धासे अपनेको लाभ क्या मिलता है ? पहला लाभ तो यह है कि जो एक यह त्रुटि बन रही है कि जितने ये बाहरी पदार्थ है रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द इनको लोग विकारका निमित्त कारण मान मानकर अहंकार और कायरता इन दो भावोका बढ़ा रहे हैं । मैंने अमुक को सुख दिया । अमुकको दुःख दिया ऐसा मानकर वह अहंकार बढा रहा है, मुझको अन्य जीवने सुख दिया, दुःख दिया ऐसा मानकर यह कायरता बढ़ा रहा है । तो निमित्त नैमित्तिक योग केवल जीवके विकारके प्रसंगमे कर्मके साथ है । जगतमे जो अन्य इतने पदार्थ हैं, इनके साथ नही है, इनको हम उपयोगमे लेते हैं, इन्हे आश्रयभूत बनाते हैं तो ये आरोपित निमित्त बन जाते हैं सो भी व्यक्त विकारके प्रसंगमें । आश्रयभूत का हम ध्यान न करें और किसी प्रतिपक्षभावका हम प्रवर्तन करें, जैसे मानो भगवानके गुणोके स्मरणमें लग रहे हैं व आत्माकी चर्चामें हम चल रहे हैं तो यद्यपि क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें निरन्तर उदयमे चल रही है पर आश्रय भूत हमने बाहरी पदार्थोको नही बनाया और हम अपनी आत्मचर्चा, आत्मचर्यामें लग गए, तो वहां विकार अव्यक्त रहेगा । जिसे अबुद्धिपूर्वक कहते हैं, व्यक्त न हो पायगा, बुद्धिपूर्वक न बनेगा । व्यक्त विकार होता ही तब है जब कि आश्रयभूत पदार्थमें हमारा उपयोग जाय । तो जब हमने— कर्मविपाक और विकारका ही निमित्त नैमित्तिक योग है, यह बात परख ली तो आश्रयभूत पदार्थोंसे हमारा अहंकार और कायरता बननेका एक दोष निकल गया । पहला लाभ तो यह है । अब निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका दूसरा लाभ सुनिये ।

(३०७) निमित्त नैमित्तयोगके परिचयका द्वितीय लाभ—निमित्त नैमित्तिकयोगके परिचयका दूसरा लाभ यह है कि इस निमित्त नैमित्तिक योगके परिचयमे सहज स्वभावकी दृष्टि साथ पड़ी हुई है, यह स्वभावदृष्टि सुगमतया बन जाती है । यह विकार नैमित्तिक है मायने मेरा स्वरूप नही । ऐसा बोध करनेके साथ एकस्वभाव नजरमें आ रहा है । अगर स्वभाव दृष्टि नही है तो वह विकारको नैमित्तिक नही बोल सकता । उसकी दृष्टिमे है कि मैं केवल चैतन्यमात्र हूं । इस चैतन्यमात्रकी स्वभाववृत्तिमें रागद्वेष विकार नहीं हैं । ये हमये

है, ऐसा ही कर्ममे भयंकर विस्फोट है वही झलक रहा है, यह नैमित्तिक है। परभाव शब्द का अर्थ है यह कि परका निमित्त पाकर होने वाला भाव। यहाँ परभावका यह अर्थ नही है कि पर पदार्थको उपयोगमे लेकर होने वाला भाव। उसे परभाव कह तो सकते हैं, किन्तु वह व्याप्य मात्र है और परकर्मका निमित्त पाकर होने वाला भाव परभाव है, यह व्यापक रूप है। अर्थात् जितने परभाव होते हैं वे सब किसी "पर पदार्थको उपयोगमे लेकर नही होते कोई परभाव परपदार्थको उपयोगमे लेकर होते हैं। कोई परको उपयोगमे न लेने पर भी होता है जो परको उपयोगमे लेनेसे परभाव होते हैं वे कहलाते हैं व्यक्त, बुद्धिपूर्वक और परको उपयोगमे न लेने पर भी निमित्तनैमित्तिक योगवश जो विकार बनते हैं वे होते अव्यक्त, बुद्धिपूर्वक तो देखो ये परभाव बाह्यपदार्थका आलम्बन लिए बिना भी हो गए, यह एक ऐसी ओटोमेटिक बात है। तो जहाँ हमने यह जाना कि ये विकार भाव तो कर्मविपाक की छाया भर है, और इसे जीवने अपना लिया, यह अज्ञान है। तो ऐसा नैमित्तिकपना समझमे आते ही उसकी दृष्टिमे स्वभाव आ गया। यह मैं चैतन्यमात्र हू और ये भाव नैमित्तिक है। तो देखिये एक लाभ यह हुआ कि सुगमतया स्वभावकी दृष्टि बन गई।

(३०८) यथार्थ स्वलक्ष्य होनेपर परिज्ञमनकी विशुद्धता—भैया! चाहिये तो यही ना, विकारसे हटना, स्वभावमें उपयुक्त होना और एक यही लक्ष्य बनाइये इस लक्ष्यके होने पर फिर आपको सही सही सर्वज्ञ दर्शन होगा। उसका प्रयोजन है विकारसे हटना और स्वभावमे लगना। यदि भीतरमे यह प्रयोजन नही बनता है अपनी ईमानदारीके साथ कि सचमुच मुझे इस जन्म-मरणसे इस शरीरसे रहित होना ही है, ऐसा हुए बिना मेरा हित नही, उद्धार नही, ऐसी एक पक्की बात ठान लें तब यह धुन बन जायगी कि मुझे तो अब इस शरीर और कर्मबंधनके मूलभूत इस विकारभावसे हटना है और अपने आपको स्वभाव मात्र अनुभवना है। तो जैसे विकारसे हटा जाय उस तरहसे ज्ञान बनेगा। जैसे स्वभावदृष्टि बने उस प्रकारसे ज्ञान बनेगा। तो मौलिक लाभ यह है और ऐसी बात जग जानेपर फिर जो व्यवहार बनना चाहिये योग्य वह योग्य व्यवहार बनने लगता है। ऐसे जीव दूसरोपर क्या कटाक्ष करेंगे, दूसरोकी क्या निन्दा करेंगे और अपनी क्या प्रशंसा करेंगे। प्रशंसा और निन्दाकी बातें शरीरके लगावके साथ रहा करती हैं। जैसे किसी ने निन्दा की, उसे सुनकर बुरा मानते तो क्यो बुरा मानते ? इसलिए कि अभी इसको शरीरसे उपेक्षा नही है। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूं। ऐसी दृष्टि होने पर कैसे यह भाव बनेगा कि इसने मेरी निन्दा की ? यह मुझको देख ही नही रहा। जो मुझको नही देख रहा वह मेरी निन्दा कहाँ कर सकता और जो मुझको देख रहा वह मेरी निन्दा कैसे कर सकता ? मैं हूं अमूर्त ज्ञानमात्र। यह बात न

निन्दकके परिचयमे है और न इस सुनने वालेके परिचयमे है तब यह झगड़ा बन गया कि इसने मेरी निन्दा की । तो ध्यानसे रखिये जितने उपद्रव मुझपर बीत रहे हैं वे सब उपद्रव इस शरीरके लगावमे बीत रहे हैं, यदि बड़ी सच्चाईके साथ अपने आपके सहज स्वरूपकी धुन बन जाय कि मैं तो यह हूँ और मुझे यह ही प्रकट होना है ऐसी वास्तविक धुन बन जाय तो उसकी कितनी ही आदतें जो खोटी थी वे निकल जायेंगी और जो अच्छी हैं वे बातें आ जाती है । पर एक बार ऐसी धुन बनना चाहिए अन्यथा हित न होगा ।

(३०९) सत्पुरुषोंकी उदात्त वृत्ति—सहजात्मस्वरूपकी प्रतीति प्राप्त कर लेने वाले पुरुष मौलिक सत्पुरुष कहलाते हैं और वे आत्मप्रशंसा और परनिन्दासे दूर रहते हैं । ये पुरुष कभी दूसरेके गूढ अभिप्रायको प्रकट नही करते किसीको मर्मभेदी वचन नही कहते बड़ा इनका उदात्त भाव हो जाता है । जितना हो सके दूसरोका हित हो उसके लिए तो इनकी वृत्ति रहती है मगर किसीके अहितके लिए इनकी वृत्ति नही होती । ये सत्पुरुष क्रोधको सदा शान्त किया करते हैं । क्रोध किनके जगता है ? जिनको कि शरीरमे कुछ लगाव है । इसने मेरी प्रतिकूल बात कह दी, ऐसा सोचने वाले ने मेरा किसे कहा ? इस शरीरको । या शरीर धारीके लिए मेरा कहा है । जो निराला मेरा स्वरूप है उसको मेरा सोचता हुआ कोई दुःखी न होगा कि इसने मेरे प्रतिकूल बात कहा है । जो इसने कहा वह इसका परिणमन है । दूसरे के कल्याणकी वह इतनी तेज धुन बनाये रहता कि प्रतिकूलताकी बुराइयां अपनेमे लादे तो यह बात ज्ञानवृत्तिमें नही होती । कोई अगर उल्टा चलकर अपनी हठ चला रहा हो तो उस का खेद नही । जहां अनन्तानन्त जीव उल्टे हैं वैसे ही ये कुछ लोग भी उल्टे हो गये तो उस का क्या बुरा मानना ? कही तेजकमर कसकर धर्मका प्रसार करना ज्ञानीके मनमे नही होता । कमर कसी जाती है किसी त्रुटिके कारण । पर जैसे सभी आचार्योने बहुत बहुत लिखा, उपदेश किया मगर कोई भीतरमे उन्होने ऐसी कषाय नही बनायी कि वे लोगोका इस इस तरहसे कमर कसकर कार्य करें । होता है । स्वयं जब उपकारमें चल रहे है, अपने आपके उद्धारमे चल रहे हैं तो सहज ही ऐसा वातावरण होता है कि लोग उससे लाभ ले लेते हैं । आत्मधुन अर्थात् सहज ज्ञानस्वरूप मैं हूं, इस प्रकारकी अपने आपकी दृढ भावना जहां जगती है वहां फिर कुछ नही समझाना पड़ता कि आपको किस किस तरहसे बात करना है । बोलना है ? वे सब बातें सहज ही आयेंगी । एक भीतरमे ज्ञानप्रकाश बने उसके प्रतापसे सारी बातें सही चलने लगती हैं ।

(३१०) प्रतिभा तर्कणा योग्यता हो जानेपर बुद्धिकी गतिशीलता—बुन्देलखण्डकी एक ऐसी घटना गुरु जी सुनाते थे चाहे वह छत्रशाल राजाका किस्सा हो, कि उस बालकका

छोटी ही उमरमें पिता वहांका राजा था। तो उस राजाके गुजरनेके बाद जब तक उसकी संतान बालिग नही हो पाती थी तब तक उस राज्यकी संभाल उस राज्यके एजेन्ट लोग किया करते थे, सो जब तक वह बालक नाबालिग रहा तब तक उस राज्यको एजेन्ट लोग चलाते रहे! धीरे धीरे वह बालक बड़ा हुआ तो उस राजमाताने एजेन्टोंसे अपील की कि मेरा बालक अब बालिग हो चुका है उसे राज्य दे दिया जाय। तो उस राज्यके साहबने एक तिथि निश्चित कर दी कि अमुक तिथिको उस बालकको हमारे पास भेज दो, पहले हम उसकी बुद्धिमानीकी परीक्षा लेंगे और यदि वह बालक राज्य चलाने योग्य जंचा तो जरूर उसे राज्य दे दिया जायगा। अब जिस तिथिको उस बालकको साहबके सम्मुख उपस्थित होना था उस तिथि तक उस राजमाताने अपने बेटेको बीसो बातें सिखा दी, बेटा यदि साहब यह पूछे तो यो जवाब देना, यह पूछे तो यो जवाब देना, पर बादमे वह बालक बोला और यदि इनमें से एक भी बात साहबने न पूछा तो? ··· तो वह राज माता बोली बेटा अब मैं समझ गई कि तुम जरूर सही सही उत्तर देकर आवोगे। क्योकि जब तुम्हारी बुद्धिमें यह तर्क पैदा हो गया कि यदि इन सब बातोंके अतिरिक्त अन्य कुछ पूछा तो क्या उत्तर देंगे। तो तुम जरूर उत्तर देकर आवोगे चाहे कुछ भी साहब पूछे। आखिर वह बालक उस निश्चित तिथिपर साहबके सम्मुख उपस्थित हुआ तो साहबने कुछ पूछा तो नहीं पर उस बालकके दोनों हाथ बड़े जोरसे पकड़ लिया और कहा देखो अब तुम कुछ नही कर सकते, मेरे आधीन हो गए ना? तो वह बालक बोला—साहब आप क्या बात करते? अरे आधीन हम हो गए कि आप। आप स्वयं हमारे आधीन बन गए न कि हम आपके आधीन बने। तो साहब ने पूछा कि हम कैसे तुम्हारे आधीन बने? तो वह बालक बोला—देखो जब किसी लड़कीका विवाह होता है तो वहाँ लड़का उस लड़कीका केवल एक हाथ पकड़ लेता है भाँवर पड़ते समय तो वह उस लड़कीके आधीन जीवन भर रहता है याने जीवन भर उस लड़की की उसे रक्षा करनी पड़ती है, फिर आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए फिर मुझे अब क्या डर? मैं तो पूर्ण रक्षित हो गया ···· इस प्रकारका तर्कणा पूर्ण उत्तर सुन कर साहब उस बालक पर अति प्रसन्न हुआ और उसे राज्य दे दिया। तो बात यहाँ यह बताया कि जब कोई एक प्रतिभा हो जाती है तब उसके लिए सब आसान हो जाता है। जिसको आत्मस्वरूपकी दृष्टि हो जाती है उसके मन वचन कायकी सब क्रियायें आसान बन जाती हैं। मूल स्वभाव तो यह है कि मेरेमे देह नही, कर्म नही, विकार नही, मैं तो वास्तवमें चैतन्यस्वरूपमात्र हूं। इस दृष्टिकी आवश्यकता है। फिर जितनी प्रवृत्तियां होती हैं करनी पड़ती है वे सब बाह्य प्रवृत्तियां बनती हैं। ये सज्जन पुरुष लोगोंके अपराधको क्षमा

करते हैं, उनमे भ्रान्ति स्थिर नही रखते हैं, कभी अहंकार नही करते। यह बात इस परमार्थ दृष्टिके प्रतापसे सहज ही बन जाती है। तो ऐसे कोई सत्पुरुष हो उनका संग, सेवनके योग्य है ताकि खुदमें गुणोंकी वृद्धि हो और कभी भी सन्मार्गसे भ्रष्ट न हो सकें।

धृत्वा धृत्वा ददति तरवः सत्रणाम्रं फलानि
प्रायं प्रायं भुवनभृतये वादि वार्दाः क्षिपंति।
हत्वा हत्वा वितरति हरिर्दंतिनः संश्रितेभ्यो
भो साधूनां भवति भुवने कोऽप्यपूर्वोऽत्र पंथा ॥४५३॥

(३११) सज्जनोंका फलवान वृक्ष व वारिदोंकी तरह उपकारशीलता—संसारमें साधुजनोका उपकार करनेका मार्ग अपूर्व ही होता है। सज्जन पुरुष अपना स्वार्थ नही तकते किन्तु दूसरे पुरुषोका भला हो ऐसी ही प्रवृत्ति करते हैं। जैसे वृक्ष अपने मतलबके बिना, उद्दण्डताके बिना घमंडसे रहित होकर, नम्र शाखाओमे प्रवृत्त होकर, नम्र होकर फल देते है, कोई भी वृक्ष जब फलवान हो जाता है तो उसकी शाखायें झुक जाती हैं और लोगोको मधुर फल वहांसे प्राप्त होते हैं, तो साहित्यकार अलंकारमे कहते हैं कि वृक्ष भी नम्र होकर दुनियाको अपना फल प्रदान करते हैं इसी प्रकार सज्जन पुरुष भी नम्र होकर दूसरोका उपकार करते हैं। ऐसा भी नही है कि किसीका उपकार कर दें, कोई कार्य बना दें फिर उसपर एहसान बतायें या शान बतायें, ऐसा भी नही होता, किन्तु सज्जनोकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वे स्वभावतः नम्र भी होते हैं और दूसरोका हित भी करते हैं। जैसे मेघ समुद्रसे जल खीच खीचकर अपनेमे भरकर पीछे लोगोंमें उस जलका वितरण कर देते हैं याने वर्षा कर देते हैं, जिस वर्षाका इतना बड़ा फल कि लोग अन्न पाते हैं और सुखसे जीते हैं, तो मेघोंका कितना बड़ा उपकार है। वे अपनेमें मानो कष्ट ही सह रहे हैं। समुद्रसे बड़ी गर्मी द्वारा भापसे पानीका खीचना, फिर वह होकर घन होकर आकाशमें यत्र तत्र डोलना। जब वे बादल आपसमे टकरा जाते हैं तो बड़ी गर्जना होती है, आघात होता है, ये सब बातें सह लेते हैं ये मेघ और दुनियाको वर्षा देकर, जल वर्षा कर अन्नादिक उत्पन्न करके सुखी करते हैं ऐसे ही सज्जन पुरुष कठिनसे कठिन परिश्रम उठाते है और दूसरोका हित करनेका ही भाव रखते हैं।

इस छंदमे तीसरा एक लौकिक दृष्टान्त दिया है। जैसे सिंह अपने शरणमें आये हुए जीवोंको आहारकी सुविधा देता है और अन्य प्राणियोको मारकर भी वहीं उन्हे भोजन दे देता है तो इस दृष्टान्तके अनुसार सिर्फ यह ही बात समझना है कि सज्जन पुरुष भी दूसरेके उपकारके लिए अपनेमें कुछ थोड़ी बहुत मर्यादामें किसी कालसे कमी आ जाय तो भी वे

उनका उपकार करते हैं और वे कभी अपना उपकार करके एहसानका घमंड नही करते। तो सज्जन पुरुष दूसरोके हितके लिये अपनी प्रियसे प्रिय वस्तुको भी प्रदान कर देते हैं ऐसे सज्जन पुरुष जिनके स्वार्थ नही लगा है। केवल दूसरोके उपकारकी वृत्ति है और साथ ही जिनको अपने स्वरूपकी दृष्टि है जिन्होने सर्व जीवोको अपने समान समझ पाया है उन महा पुरुषोका तो कहना ही क्या है ? सो सत्पुरुषोकी सगतिसे सन्मार्ग मिलता है, आदर्शकी आराधना होती है और सब क्षण शान्तिसे व्यतीत होते हैं।

वार्धेश्चन्द्रः किमिह कुरुते नाकिमार्गस्थितोऽपि
वृद्धौ वृद्धिं श्रयति यदयं तस्य हानौ च हानिं।
अज्ञातो च भवति महतः कोप्यपूर्वस्वभावो
देहेनापि व्रजति तनुतां येन दृष्ट्वान्यदु.खं ॥४५४॥

(३११) सज्जनोंका चन्द्रवद् सर्वसुखकारिता—सज्जन पुरुष दूसरोके दुःखको देखकर खुद भी दु.खी हो जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि सब जीवोको अपने ही स्वरूपके समान भले प्रकार माना है, तब उनमे कोई दुःख होता है तो उसी प्रकारका स्वरूप तो खुदका है सो खुदमे भी वैसा ज्ञान होता है और तद् विषयक सहानुभूति बनने लगती है। सो ऐसे पुरुष दूसरोके उपकारके लिए क्या क्या नही कर डालते ? देखो आकाशमे हजारो कोशो की दूरी पर है चन्द्रमा, पर इतनी दूर रहता हुआ भी चन्द्रमा समुद्रका कितना उपकार कर देता है सो लोगोको विदित ही है कि जब चन्द्रकी किरणोमे वृद्धि होती है तो समुद्रकी वृद्धि होने लगती है, पर जब चंद्रकी कला ही घटने लगे तो बेचारा चद्र क्या करे ? वहाँ समुद्र भी घटने लगता है, पर चन्द्र उपकार तो सही है कि उसकी किरणोका स्पर्श पाकर यह समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है, अथवा समुद्रकी ओरसे भी तो देखिये—समुद्रका कैसा उदार स्वभाव है कि चंद्रमाकी वृद्धिमे तो यह समुद्र बढ़ता है, फूला नही समाता और चद्रकी हानिमे यह समुद्र भी घटने लगता है, उदास हो जाता है तो ऐसे ही सज्जन लोग भी दूसरोकी वृद्धि और विभूतिकी उन्नति देखते हैं तो वे हर्ष मानते हैं और उनकी घटती अथवा अवनति दिखती है तो उससे भी दुःख मानता है। तो सज्जन पुरुषोकी प्रकृति भी ऐसी है कि संसारके जीवोको वे सुखी ही देखना चाहते हैं।' उनके हृदयमे सतत भावना है कि सर्व जीव सुखी हो, सर्व जीव निरोग हो। जीवोको अपने स्वरूपका भान हो जिसके प्रतापसे ये सर्व जीव संकटोसे दूर हो जाते हैं। तो ऐसी सद्भावना वाले सज्जनोकी संगति आत्माका कल्याण करने वाली होती है।

सत्यां वाचं वदति कुरुते नात्मशंसान्यनिंदे
नो मात्सर्यं श्रयति कुरुते नापकारं परेषां।

नो शप्तोपि व्रजसि विकृतिं नैति मन्युं कदाचित
केनाप्येतन्निगदितमहो चेष्टितं सज्जनस्य ॥ ४५५ ॥

(३१३) सज्जन पुरुषोंकी सत्यवादिता, आत्मप्रशंसापरिहार परनिन्दापरित्यागका निर्देश—सज्जन पुरुषोकी चेष्टा अद्भुत होती है । सज्जन लोग सदा सत्य ही वाणी बोलते है । सत्य उसे कहते हैं जो हितकारी हो, परिमित हो, प्रिय हो, सबका भला करने वाली हो । तो सबका भला करने वाली वाणी वही हो पाती है जो वस्तुस्वरूपके अनुरूप हो और इसी कारण उसको सत्य वाणी कहते हैं । तो सज्जन पुरुष सदा सत्य वाणी ही बोलते हैं । सत्पुरुष कभी अपनी प्रशंसा नहीं करते । वे जानते है कि आत्मप्रशंसासे क्या होता ? संसार में देह कर्म और विकारके बंधनके बीच फसा हुआ यह मैं प्रशंसा योग्य भी नही हूं और फिर प्रशंसा बिल्कुल व्यर्थकी चीज । किसको अपनी प्रशंसा बतलायें ? संसारके ये मनुष्य सब अपनी अपनी कषायके अनुसार अपनी अपनी दशायें भोग रहे हैं, स्वार्थको सिद्ध कर रहे हैं, छद्मस्थ है, संसारमे रुलने वाले है । इनको क्या अपनी प्रशंसा सुनाना ? अथवा प्रशंसा है ही क्या ? जब प्रशंसनीय आत्मा हो जाता है तो वहां विकार नही रहता । जब प्रशंसाका भाव रहता है तो निश्चित समझिये कि वह विकारी है, प्रशंसाके लायक रंच भी नही है । सर्व तत्त्वोंको स्पष्ट सही जानने वाले सज्जन पुरुष कभी भी अपनी प्रशंसा नही करते और किसी अन्य पुरुषकी निन्दा भी नही करते, क्योंकि अन्यकी निन्दा करनेसे क्या प्रयोजन है ? उससे क्या बढ़वारी होती ? बल्कि ईर्ष्या आदिक अवगुण जाहिर होते है । तो सज्जन पुरुष अन्य किसीकी निन्दा नही करते ।

(३१४) सज्जन पुरुषोंसे मात्सर्यादि अवगुणोंकी असम्भवता— जिन पुरुषोकी संगति उपादेय है उन पुरुषोंका कुछ परिचय दिया जा रहा है । सज्जन पुरुष दूसरे लोगोमे कभी मात्सर्य भाव नही रखते । मात्सर्यसे मात्सर्य करने वाले पुरुष दूसरोके गुणोको दोषरूप ठहरानेका प्रयत्न किया करते हैं । भले ही गुण हो मगर उन्हे दोषरूपमे ही साबित करने की आदत दुष्टजनोके होती है । जो ज्ञानी पुरुष है जिन्होने स्व और परपदार्थके स्वरूपका भले प्रकार निर्णय किया है, वे जानते है कि कोई जीव बडोसे बडी समृद्धि पाये, ऊँचासे ऊँचा विकास पाये तो उसमे वे खुशी मानते है, उनका विकास हो, उन्नति हो इसकी तो वे ज्ञानी पुरुष अनुमोदना करते है । जब ऐसी बात है तो फिर वे किसीके साधारण विकासमे ईर्ष्या कैसे कर सकें ? सज्जन पुरुष कभी भी दूसरेके गुणोको दोषी ठहरानेका प्रयत्न नही करते सतजन कभी किसीको कैसा ही मानसिक, वाचनिक अथवा कायिक (शारीरिक) दुःख नही देते । सज्जनोंकी ऐसी ही चेष्टा और अपने आपका ध्यान रहता है कि जिससे कभी दूसरो

को मानसिक व्यथा हो ही नही सकती। यदि कोई दुष्ट सज्जनको ही निरखकर दुःखी हुआ करे तो उसका कोई उपाय नहीं, किन्तु सज्जन पुरुषोंकी कोई वृत्ति ऐसी नही है जिससे दूसरे लोग मानसिक दुःख पायें। उनके वचन तो कभी खोटे निकलते ही नहीं। तो वाचनिक दुःख कैसे उनके द्वारा हो सकते हैं ? इसी प्रकार शारीरिक दुःख भी सज्जन पुरुषोंके द्वारा सम्भव नही है।

(३१५) सत्पुरुषोंके किसी भी स्थितिमें परोपकारभावकी असंभवता—सज्जन पुरुषोंका यदि कोई उपकृत पुरुष बिगाड भी कर दे तो भी वे अपने भीतर विकृत नही होते अर्थात् अपकार करने वालेसे बदला लेनेकी कभी मनमें भावना नही जगती, क्योंकि वे जानते हैं कि मुझको दुःखी करने वाला कोई दूसरा पदार्थ हो ही नही सकता। केवल अपने बांधे हुए कर्मोंके उदयका सान्निध्य पाकर ही ये दुःखी हुआ करते है। सो उन दुःखोके लिए भी मैं कर्मोंको क्या जिम्मेदार ठहराऊँ ? वे कर्म भी तो मेरे परिणामके अनुसार ही बंधे हैं। अर्थात् जैसा मैंने किया था वैसा ही मैं आज भोग रहा हूं। इसमें किसी दूसरेको क्या करामात ? यह निर्णय उनके बड़ी दृढतासे बैठा हुआ है इस कारण सज्जन पुरुष कभी भी दूसरोंके द्वारा बिगाड होने पर भी कभी वे विकृत नही होते। संत पुरुष दुनियाके समस्त समागमोको असार जान रहे हैं और इसी कारण किसी भी घटना पर उन्हे क्रोध नहीं जगता। समस्त बाह्य परिणमन हैं। जैसा जहाँ जिसका हो रहा है वह उसकी योग्यतासे चल रहा है, उस पर क्रोधका क्या अवकाश ? और इसी तरह शोक भी नही करते, कोई पदार्थ कैसा ही परिणमे उससे मेरेको क्या हानि ? तो सज्जन पुरुष क्रोध अथवा शोकको प्राप्त नही होते और सदा प्रसन्न मुख ही बने रहते हैं, इसलिए सज्जन पुरुषोंका एक विलक्षण उदारता पूर्ण ही समस्त व्यवहार होता है। ऐसे सज्जनोकी संगतिमे जो पुरुष रहते हैं वे संतोष शान्ति और सन्मार्गपर गमन करने वाले होते हैं।

नश्यत्तंद्रो भुवनभवनोद्भूततत्त्वप्रदर्शी
सम्यग्मार्गप्रकटनपरो ध्वस्तदोषाकरश्रीः।
पुष्पल्पक्षो गलिततिमिरो दत्तमित्रप्रतापो
राजतेजा दिवससदृशः सज्जनो भाति लोके ॥४५६॥

(३१६) सत्पुरुषोंकी निष्प्रमादता—एक पुराने भजनकी टेक है—धनि धनि साधु मिलनकी घड़ी। साधर्मी जनोके समागम की घडीको धन्यवाद किया है। जगतमें अनेक चीजें मिलना सुलभ है पर साधर्मी पुरुषोका सत्संग मिलना बड़ा दुर्लभ है और इस मनुष्य का उद्धार सत्संगके बिना नही हो पाता। पुराने चरित्र देख लो—किसको कहाँ क्या सत्संग

मिला। कैसे उसका उद्धार हुआ। यह सब चरित्र आपको मिलेगा। इस समय भी देखलो जो जिस संगमे रहता है उसकी वैसी बुद्धि बन जाती है। तब यह आवश्यक है कि हम आप सबको सज्जनोका सत्संग अधिक प्राप्त हो ताकि इस पाये हुए मनुष्यजन्मकी सफलता हो। उन्ही सज्जनोका इसमे स्वरूप बताया जा रहा है। ये सज्जन पुरुष इस लोकमे दिनके समान शोभित होते हैं याने लौकिक दृष्टिमे, जो दिनमें गुण मिलते है वैसे ही गुण सज्जन पुरुषोंमें होते है। कैसे कि विवश होते हैं। नष्टतंद्रो मायने जब दिन होता है तो आलस्य दूर हो जाता है, यह सब लोग जानते हैं। जब रात रहती है तो लोग प्रमादमें और आलस्यमे रहते हैं। जब रात्रि समाप्त होती है तब लोगोका आलस्य स्वय छूट जाता है। लोग जगते हैं, मुख धोते हैं, नहाते हैं। तो ऐसे ही सज्जन पुरुषोकी तंद्रा नष्ट हो गई, उन्हें भी आलस्य नही, प्रमाद नही। प्रमाद नाम किसका? जो मोक्षमार्गमे बाधक हो उस भावका नाम है प्रमाद। कोई पुरुष बड़ी वीरता जताये कि मुझे आलस्य नही है तो उसका वह केवल कहना मात्र है। आलस्य वहाँ न कहेगे जहाँ परिणामोंमे निर्मलता हो, जिससे मोक्षमार्ग बने, क्योंकि जगतमें कोई भी वस्तु सारभूत नही है।

(३१७) असारसमागमोसे व्यामोह दूर कर दुर्लभ नरपर्यायको सफल करनेका संदेश—भैया, खूब सोच लो, जहाँ आपका मन हो उस बातका विचार कर लो। क्या यह धन वैभव सदा मेरे काम आयगा? अरे अब भी काम नही आ रहा आत्माके तो आगे क्या काम आयगा? यह कुटुम्ब मित्रजनोका समागम मेरेको शरण है क्या? ये अनेक सुखसाधन इनसे शान्ति किसीको मिली है क्या? बड़े-बड़े धनिक पुरुषोसे भी पूछ लो कि धन होनेसे आपको तो बड़ी शान्ति हुई होगी?....तो वह यही कहेगा कि शान्ति तो नही मिली हाँ कुछ काल्पनिक मौज भर माना गया। तो जगतमें कोई भी समागम ऐसा नही है कि जिसमें शांति उत्पन्न हो सके। प्रथम बात तो यह ही देख लो—यह जो शरीर लग बैठा जीवोंके साथ भिन्न सत्ता होनेपर भी अनादिसे धारा चली आ रही है सूक्ष्म शरीरकी और उसीके कारण सूक्ष्म शरीर भी साथ लगा है, तो यह ही बड़ी विपत्ति है। सारे कष्ट इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। और की तो बात क्या कही जाय, ऐसे भयानक इस संसारवनमें आलस्य करनेसे अर्थात् धर्मसे दूर रहनेसे क्या लाभ है? हानि ही है। बहुत कालमे आज यह दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया है। यहाँ बताया गया है कि असंख्यात कालके बाद कभी किसीको दो हजार सागर तक ही त्रस पर्याय मिलती है और त्रस पर्यायमे दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, नारकी, पशु पक्षी, देव, मनुष्य आदिक सभी प्रकारकी पर्यायें हैं। ये दो हजार सागर अगर व्यतीत हो जायेंगे इस मनुष्य पर्यायके साथ या थोड़ा बहुत कम होगा तो अन्य पर्यायके साथ, तो

फल क्या होगा ? स्थावरमे ही जन्म होगा, पेड, पृथ्वी, आग, हवा, फल फूल आदिक बनना पडेगा। फिर उद्धारका मार्ग कहाँसे मिलेगा ? तो यह मनुष्यभव बडा दुर्लभ है, यह विषयोंमें खोनेके लिए नही है। आज पुण्यका उदय है, सुख साधन प्राप्त हैं, शरीरकी स्थिति भी सबल है, तो इस समय कोई यदि यह सोचे कि खूब विषयसाधन करें, खूब सुख लूटें और वह विषयोंमे मस्त रहे तो अन्तमें उसे बहुत पछताना पडता है। जितना समय रह गया उतने समय ही चेत लीजिए। बहुत समय निकल गया। थोडीसी आयु रह गई, अब रही सही आयुमे यदि मोह किया, अज्ञान रहा, आत्मस्वभावकी दृष्टिके लिए न चले तब यह भव ऐसा ही खो दिया समझियेगा। अब जीवनका रहा सहा समय तो धर्मदृष्टिमे लगाना चाहिये। तो जो ज्ञानी पुरुष है, जिन्होने आत्मस्वरूपका परिचय पाया है वे पुरुष मोक्षमार्गमे प्रमाद नही करते।

(३१८) सत्पुरुषो द्वारा सन्मार्गप्रकाश व उनके गुणप्रकाशसे दोषाकर जनोंकी शोभा का ध्वंस—सत्पुरुष सूर्यकी तरह इस लोकभवनमे रहने वाले पदार्थोंका सही प्रकाश करते हैं। सूर्यका उदय होता है, सब चीजें प्रकाशमे आ जाती है। तो सज्जन पुरुष भी ऐसे ज्ञानी होते हैं कि परोक्षज्ञानसे या कुछ प्रत्यक्षज्ञानसे वे समस्त लोक और पदार्थोंको जान लेते हैं। और देखिये प्रयोजनकी बात तो इतनी है कि मैं जीव हू, चैतन्यस्वरूप वाला हूं और मेरे ही समान अनन्त जीव भी चैतन्यस्वरूप वाले हैं पर मेरी सत्तासे जुदे हैं, और जितने भी पुद्गल हैं सभी पुद्गल मेरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, सभी पदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न है, ऐसा एक भेद-विज्ञान बने तो इसमे सारा जान लिया। जो कुछ समझना था वह सब परख लिया, क्योंकि बहुतको जानना इसीलिए होता है कि मैं अपने स्वभावको समझ लू। अपने सत्को जान लूं। तो जिसने आत्मस्वरूपको जाना उसने सब जान लिया समझिये। अन्य विशेष जाननेसे क्या प्रयोजन रहा ? तो सत्पुरुष वास्तविक तत्त्वमे जाननहार होते है। जैसे—सूर्य सही मार्गके प्रकट करनेमे तत्पर होता है ऐसे ही ये सज्जन सही मार्गके प्रकट करनेमे तत्पर हैं। सही मार्ग क्या ? ज्ञाताद्रष्टा रहना, विकल्प त्यागना यह ही सही मार्ग है। सो इसको प्रकट करते ही है। वस्तुस्वरूप जानकर यह ही तो अवधारण किया जाता है कि मैं आत्मा स्वय स्वभावत ज्ञानानन्दमय हू, मैं किस स्वरूपसे रचा हू, जैसे ये दिखने वाले पदार्थ है तो ये रूप, रस गध, स्पर्शसे बने हुये है, स्पष्ट मालूम होते है ऐसे ही यह आत्मा किस रूपसे रचा हुआ है यह भी तो अत परखिये। यह है ज्ञान और आनन्दसे रचा हुआ। दुःख बनाया जाता है आनन्द स्वयमेव होता है। जब कि आज लोग इस बातको तरसते हैं कि हमे आनन्द चाहिये। आनंद बने। तो बननेकी चीज आनन्द नही होती। क्लेश है बनावटकी चीज। किन किन आश्रय-

भूतोंपर दृष्टि दी, किन किन साधनोपर मोह ममत्व कर रहे, दुःख ही बन रहे। सही ढंगसे चलें, यथार्थ श्रद्धा रखें, आनन्द अपने आप है। तो ये सज्जन पुरुष सही मार्गके प्रकट करनेमें तत्पर होते है। जैसे सूर्य चन्द्रकी शोभाको नष्ट कर देता है। सूर्यके उदयकालमे दिनमें कभी चंद्र भी आकाशमे रहता है पर उसकी शोभा तो नही रहती, ऐसे ही ये सज्जन पुरुष दोषाकरके अर्थात् दोषोकी खान दुर्जन पुरुषोकी शोभाको ध्वस्त कर देते हैं याने लोकमें सज्जनोकी ही शोभा है उनके सामने दुर्जनोंकी शोभा नही है।

(३१९) आत्मविकासके उपाय सत्याग्रह व असहयोग—सत्पुरुषोंके गुणविकास कैसे बना कि उन्होने अपने उस स्वरूपको पहिचाना जिस स्वरूपकी पहिचानपर आत्माका विकास होता रहता है। स्वरूप क्या है? ज्ञानप्रकाश जाननमात्र। अन्य विकल्पोंको हटाकर केवल ज्ञान ज्योति मात्र ही तत्त्वज्ञानमे रखें तो वह प्रकाश, वह अनुभव अपने आप बन जायगा। देखो आत्मा तक पहुचनेके या आत्माकी आजादी पानेके दो उपाय हैं—सत्याग्रह और (२) असहयोग। जैसे भारत देशको आजाद करनेके लिए ये दो ही उपाय अपनाये गए थे ना—सत्याग्रह और असहयोग, क्या किया था नेताओने असहयोगमे कि विदेशी मालको न खरीदना, बल्कि यहाँ तक आन्दोलन किया था कि कोई विदेशी टोपी लगाये हो तो उस की टोपी लेकर टोपीको जला देना, यह तो था उनका असहयोग और सत्याग्रहमें क्या किया था कि हमारे देशकी उपज देशकी चीज यह हमारे प्रयोगकी चीज है। उपयोगकी चीज है, इस पर प्रतिबन्ध न होना। जैसे नमक बनाना आदिक कामोमे प्रतिबंध था उनको तोड़ा। जिनकी बडी उम्र होगी वे सब लोग इस बातको भली भाँति जानते ही होंगे। तो असहयोग और सत्याग्रह इन दो के बलपर जैसे भारतदेशकी आजादी प्राप्त की थी ऐसे ही आत्माकी वास्तविक आजादी भी इन दो उपायोसे प्राप्त की जा सकती है असहयोग और सत्याग्रह। विदेशी तत्त्वोसे याने नैमित्तिक तत्त्वोसे, बाह्य पदार्थोंसे और रागद्वेषादिक परभावोसे उपेक्षा रखना उन्हे न अपनाना, उनमे लगाव न रखना, यह तो करें असहयोग और सत्याग्रहमे क्या करें कि आत्माका जो सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र, उसका आग्रह करें। मैं यह हूं चैतन्य स्वरूप मैं अन्य कुछ नही हूँ। मैं मनुष्य नही, मैं त्यागी नही, मैं गृहस्थ नहीं, व्यापारी नहीं कुटुम्ब वाला नहीं, अमुक गाँव वाला नही, यो आप सारी बातें लगाते जाइये, ये कुछ भी मैं नही हूं। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। एक द्रव्य हूँ ना, सत् हूँ ना। तो मैं केवल चैतन्यस्वरूप हूँ। अन्य चीजोको भुला दीजिये, और अपने आपका जो सत्यस्वरूप है उसका आग्रह करिये। तो ये दो उपाय ऐसे हैं सत्याग्रह और असहयोगके कि हम अपने आत्माकी आजादी प्राप्त कर सकते है। यह ही किया, अन्य सब संतोंने, तीर्थंकरोंने जिनकी आज पूजा

भक्ति भावसे पूजा करते हैं।

(३२०) **प्रभुताका साधन व प्रताप**—प्रभुको पूजनेका क्या प्रयोजन है, जरा प्रयोजन भी तो अपना निर्णीत करें। ये सुख देंगे, नरकसे बचा देंगे, स्वर्गमे पहुंचा देंगे या कुटुम्बको बढ़ा देंगे या दूकान भला देंगे, इस प्रयोजनसे क्या प्रभुकी भक्ति करने आया करते हैं? यदि यह प्रयोजन भी सिद्ध न होगा और आपका परिश्रम भी व्यर्थ जायगा, क्योकि खोटा प्रयोजन रखनेसे पुण्यरस भी नही बनता और कदाचित कुछ हो भी जाय तो यह पूर्वबद्ध पुण्यके उदयसे हुआ। तो अपना प्रयोजन क्या रखें कि हे प्रभो! तुम भी कभी मुझ जैसे ही संसारी प्राणी थे जितने भी सिद्ध हुए उन सब सिद्धोने पहले निगोद अवस्था भोगा था इतना तो निश्चित है। अन्य पर्यायमे क्या भोगा क्या नही भोगा, भले ही कुछ कम बढ बात हो मगर सबने निगोद पर्याय तो भोगा था। निगोदसे निकलकर मनुष्यपर्याय पाया। तो मनुष्य पर्यायमे यह ही विवेक किया, यही तपश्चरण किया असहयोग और सत्याग्रह। देह मैं नही, यह स्थूल पौद्गलिक है। कर्म मैं नही, ये सूक्ष्म पौद्गलिक है। विकार मैं नही। ये औपाधिक नैमित्तिक हैं, परभाव हैं। मैं तो केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। तो ये मैं नही, ये परभाव मैं नही। ऐसा जानकर उनका सहयोग न रखें, उनमे उपयोगको न फंसाया जाय यह तो है असहयोग और मैं आत्मा एक चेतना मात्र हूँ। यह सत्य बात है, परमार्थ सत्य है, अनादि अनन्त सत्य है। उस चैतन्यस्वरूपका आग्रह होना चाहिए कि मैं यह हूँ। ये दो उपाय तो अपनाइये, फिर आपके अणुव्रत, महाव्रत, ध्यान, तपश्चरण आदिक साधनायें होती जायेंगे। और आप मोक्षमार्गमे बढ़ते जायेंगे। तो ये सज्जन पुरुष अपने आपके इस ही सन्मार्गको प्रकट करने वाले हैं और समस्त दोषोको दूर करने वाले हैं। ऐसे सत्पुरुषोका संग करना चाहिए। सत्पुरुषोका एक सीधा लक्षण यह मिलेगा जो देखनेमे अनुमानमे आये कि संसार, शरीर और भोगोसे विरक्त रहेगे। उनकी कुछ प्रवृत्तिसे, उनकी वाणीसे, उनके व्यवहारसे यह समझमे आ जायगा कि यह रागद्वेषादिकका झगडा रगडा इनसे अलग हैं, ये विषय भोगोंसे दूर रहते हैं। ये अपने शरीरमे ममत्व नही रखते, यह बात उस संगसे समझमे आ जाती है। यह सत्पुरुषोकी एक मौलिक पहिचान है।

(३२१) **सत्पुरुषोकी पुण्यतपद्मता**—ये पुरुष सूर्यके समान पुण्यतपद्म अर्थात् जैसे सूर्यके उदयसे पद्म पुष्ट हो जाते हैं, कमल फूल जाते हैं, विकसित हो जाते है ऐसे ही इन सज्जन पुरुषोके संगसे इनकी पद्मा कहो विभूत, लक्ष्मी, शोभा, कान्ति, लौकिक सिद्धि ऐश्वर्य ये सब पुष्ट हो जाते हैं। देखिये ऊँचासे ऊँचा पुण्य कौन बांध सकता है? पुण्यमे ही चलें और यही निरीक्षण करें कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषके जितना उच्च पुण्यबध हो सकता है उतना अज्ञानी

मिथ्यादृष्टिके नही हो सकता। और यह खासियत देखिये कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुण्यको चाहते नही, उस पुण्यमे उनका मन नही रमता फिर भी रहे सहे भावके कारण ऐसा पुण्यबंध होता है जैसा कि अज्ञानीके नही हो सकता। तो यहाँ एक बातपर दृष्टि दें कि मिनिस्टरके साथ रहने वाला कोई चपरासी, सिपाही या राष्ट्रपतिके साथ या राजाके साथ कोई पहरेदार, चपरासी हो तो वह भी कितना प्रभाव वाला होता है। सब लोग वहाँ नही फटक पाते हैं। उनका भी कुछ आन मानते हैं, तो उस सिपाहीमें, उस राजाके साथ रहनेके कारण इतना प्रभाव बनता हैं तो ऐसे ही समझिये कि वैराग्यभूमि तो राजा है, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन उसका धनी, उस आत्माके जो राग शेष रह गए उस राग चपरासीमें जो इतना प्रभाव आया है सो ज्ञानी आत्माके संगसे प्रभाव आया। तो सज्जन पुरुष पुण्यंतपम होते अर्थात् इनकी सम्पत्ति लक्ष्मी ऐश्वर्य पुष्ट होते हैं। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदिक जैसे बड़े-बड़े पद ये सम्यग्दृष्टिको ही प्राप्त हो पाते है। भले ही नारायण प्रतिनारायण उस भवमे सम्यग्दृष्टि नही रहे, मगर ऐसे पदका बंध उन्होने किया था पूर्वभवमे मुनि होकर, शुद्ध ज्ञानी होकर, उस तपश्चरणके साथ भले ही थोड़ी गल्ती रही जिससे निर्वाण न हो सका मगर संसारकी बड़ीसे बड़ी विभूतियाँ शुद्ध श्रेष्ठ आत्मावोको प्राप्त होती हैं।

(३२२) सत्पुरुषोंका अज्ञानान्धकारापहरण—ये सत्पुरुष सूर्यके समान अंधकारके नष्ट करने वाले हैं। यहाँ अज्ञानभाव नही रहता। जैसे सूर्यके उदयमें अंधेरा नही रहता ऐसे ही ज्ञानियोके कोई अंधेरा नही रहता। सारी बात स्पष्ट रहती है, जीव क्या, अजीव क्या, तत्त्व क्या ? यह सब उनके स्पष्ट रहता हैं। देखिये धर्मकी भावना है सबके मगर क्या चाहते हैं अनेक लोग कि मेरे ऐसा ही तो आलस्य रहे और कुछ परिश्रम न करना पड़े, न ज्ञान सीखना पड़े, न तत्त्वज्ञानमे उपयोग देना पड़े और हमको धर्मलाभ होता रहे। तो ऐसे धर्मलाभ नही होता। इस पायी हुई प्रतिभाको, बुद्धिको आप उपयोगमें लीजिए। जीवादिक ७ तत्त्वोका ही जिनको परिचय न हो उनको क्या कहा जाय ? चाहे निश्चयतया सम्यग्दर्शन नही है मगर व्यवहारसम्यक्त्व जो कि निश्चयसम्यक्त्वका हेतु बनता है वह कुछ होना ही चाहिए। ७ तत्त्वोका परिचय यह प्रत्येक भाईको हो तो ये कुछ धर्ममार्गमें आगे प्रगति कर सके। तो ७ तत्त्व क्या हैं ? मैं जीव हूं, देह अजीव हैं, कर्म अजीव है और कर्मोंका उदय पाकर जो भाव जगते हैं विकार वे भी चेतनासे रहित हैं। मैं चैतन्यस्वरूप हूं। जीव और अजीवका ज्ञान किया। जब यह जीव रागद्वेष विकार भाव करता है, यह अजीव ये कार्माणवर्गणा, ये कर्मरूप धारण कर लेते हैं तो जीवके साथ इन कर्मोका एक क्षेत्रावगाह होता है। आना और बँधना यह ही आश्रव बंध है। जब जीव अपने ज्ञान वैराग्यकी सम्हाल करता है

अपने स्वरूपकी दृष्टि करता है तो कर्म बँधना बंद हो जाता है। वे बहुत कम रह जाते हैं। उनके बंधका रुकना यह हुआ सम्वर और इसी ज्ञान और वैराग्यके प्रतापसे पहले बँधे हुए संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है। सम्वर और निर्जरा होते जायेंगे इस ज्ञान और वैराग्यके प्रसादसे तो मोक्ष हो जाता है। जीवका हित मोक्षमे है, जहाँ रंच भी आकुलता नही है। आकुलता संसार है और निराकुलता एक मुक्ति है। जहाँ पूर्ण निराकुलता है उसे मोक्ष कहते हैं। एक ऐसी कथासी है कि एक भाई भगवानके आगे बहुत बहुत कहा करते थे कि हे भगवान मुझे मोक्ष दीजिए। मैं मोक्ष ही चाहता हू, अन्य कुछ नही चाहता। तो मानो किसी देवने आकर उसकी परीक्षा की। देव बोला—भाई चलो मोक्ष, हम तुम्हें वहाँ लेनेके लिए आये हैं। तो वह पुरुष बोला—पहले यह तो बताओ कि वहाँ स्त्री, पुत्र, मकान, चाय, लड्डू हलुवा आदि सब चीजें मिलेंगी कि नही ? तो वह देव बोला—भाई वहाँ ये कोई चीजें नही मिलेंगी, वहाँ तो तुम सिर्फ आत्मा ही आत्मा रहोगे। तो वह पुरुष बोला—तो फिर हमे ऐसा मोक्ष न चाहिये। अभी आप जावो, फिर कभी आगे देखा जायगा।... तो जब तक यह भीतरमें तीव्र भावना नही बनती कि मुझे तो केवल चैतन्यमात्र आत्मा ही रहना है। शरीर और कर्मका मेरेको लेप और सम्बध न चाहिये। ऐसा जब तक पक्का निर्णय नही बनता तब तक वह धुन नही आ पाती, जिसमे धर्म बनता है, मोक्षमार्गकी प्रगति होती है। एक यह ही निर्णय कर लेना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। मुझे शरीरका सम्बन्ध न चाहिए। मुझे केवल जैसा मैं हूं वैसा ही रहना चाहिए। यह निर्णय बने तो वहाँ धर्मकी प्रगति है।

(३२३) सत्पुरुषोंका प्रताप और तेज—ज्ञानी सत्पुरुषोका सर्व प्रकारका अज्ञान अंधकार हट गया अतः उनके संसर्गसे मिश्र जनोंका भी प्रताप बढ़ता है, सत्संगसे दूसरोकी भी पगति होती है। जैसे सूर्यके उदयमे अनेक पदार्थोंका प्रताप बढता है सूर्य अपने तेजसे शोभायमान होता है। ऐसे ही ये ज्ञानी सत्पुरुष अपने तेजसे शोभायमान होते हैं। तेज क्या ? अपना शुद्ध ज्ञान। आनन्द शुद्ध ज्ञानमे है, कल्पनामे आनन्द नही। किसी बाह्य पदार्थको अपनानेमे ममता करनेमे आनन्द नही है। आनन्दस्वरूप तो यह आत्मा स्वयं है। अन्य दार्शनिक कहते हैं—आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, यही बात तो यहाँ भी है। वहाँ जरा एकान्त कर लिया गया और यहाँ उसके साथ ज्ञान भी माना गया। सभी अनन्त गुण माने गए, यहाँ एकान्त नही है, पर प्रयोजनकी दृष्टिसे तो आनंद मुख्य चीज है। तो आनद तो मेरा स्वयंका स्वरूप है। ज्ञान जगे तो आनन्द भी बढ़े, पर बाह्य पदार्थोंका लगाव लगेगा तो आनन्द घटेगा और दु:ख बनेगा। यदि एक ज्ञानका प्रकाश आ जाय तो समझिये कि बहुत बड़ी विभूति है। "धन कन कंचन राजसुख सबहि सुलभ कर जान, दुर्लभ है संसारमें एक यथारथ ज्ञान।" यदि यथार्थ ज्ञान

हो गया तो संसारमे फिर रुलता क्यो ? वह तो सर्व संकटोसे छूट जाता । तो हमे यथार्थ ज्ञानका प्रयत्न करना चाहिए, और बाहरी बातोका अधिक विकल्प न रखना चाहिए जैसे कि सम्मान किया, अपमान किया, निन्दा किया प्रशंसा किया···, अरे ये सब मायामयी चीजे हैं, ये कोई मेरेको तार न देंगे, किन्तु मेरे स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो तो वह ही मुझे तार देगा इसलिए एक यह ही भावना होनी चाहिए कि मेरेको यथार्थ स्वरूपका ज्ञान जगे, तो ये सत्पुरुष इस लोकमे प्रतापी सूर्यकी तरह शोभायमान होते हैं, और ऐसे सत्पुरुषोका संग कल्याणका उपाय है । इस बातकी बहुत दृष्टि रखना चाहिए ।

(३२४) सत्संगका प्रभाव—लोग कहते कि मेरा चित्त स्थिर नही रहता । पूजा पाठ भी करने आये । गुरुवोके पास बैठकर उनकी वाणी भी सुनते, और और भी अनेक उपाय करते पर चित्त क्यो नही स्थिर रहता ? तो भाई देख लो इस जीवनमे कुसंग कितने समय तक रहता है ? दुकानमे, घरमे, परदेशमे, मोही ज्ञानी जनोके संगमे कितना अधिक समय बीतता है और निर्मोह पुरुषोका, सत्पुरुषोका कितना संग आप करते हैं जरा इस पर भी तो विचार कीजिए । तो जिनमे उपयोग अधिक फंसा रहता है उनका प्रभाव तो रहेगा ही । तो सत्संगमे अपना अधिकाधिक समय लगे, ऐसा प्रयत्न बनाना चाहिए और ऐसी भावना रखना चाहिये कि निर्मोह पुरुष, साधुसत पुरुष मेरे सच्चे बंधु है जो मेरेको संसारसे उद्धार करनेका उपाय लगायेंगे या उनके संगसे उद्धारका उपाय बनेगा । धर्मात्मा जनोको अपने कुटुम्बके प्रेमसे भी अधिक साधर्मी जनोसे, गुरुजनोसे प्रेम होता है । वे जानते है कि साधर्मीजनोके वात्सल्यसे तो हमारे आत्माकी प्रगति होगी पर कुटुम्बीजन, मित्रजन, इनकी भक्तिसे आत्माकी प्रगति नही हो सकती । तो सत्संगका महत्त्व दीजिए और जीवनमें अधिकसे अधिक प्रसंग सत्संग मिले और रोज सभावो द्वारा सत्संग बनाये रहे तो अपना उद्धार सम्भव ही नही, बल्कि निकट है ।

ये कारुण्यं विदधति जने सापकारेऽनपेक्षा
मान्याचारा जगति विरला मंडनं ते धरित्र्याः ।
ये कुर्वंति ध्रुवमुपकृतिं स्वस्य कृत्यप्रसिद्धयैः
मर्त्याः संति प्रतिगृहममी काश्यपीभारभूताः ॥४५७॥

(३२५) दयाशील सदाचारी उपकारी सत्पुरुषोंकी विरलता—जो सज्जन अपना अपकार करने वाले पुरुषोपर भी दया धारण करते हैं वे सज्जन इस जगतमे बड़े विरले है । साधारणतया किसी जीवको दुःखी देखकर दया हो जाना स्वाभाविक बात है, पर कोई पुरुष जिसका अपकार कर रहा हो, जिसका बिगाड़ कर रहा हो वह पुरुष फिर भी दया दिखलाये

उनको मूर्ख अज्ञानी समझकर दया करे और कभी भी उनसे बदला लेनेकी इच्छा न करें ऐसे पुरुष पृथ्वीमे भूषण स्वरूप है और वे जगतमे बहुत विरले हैं। लेकिन ऐसे पुरुष जो कामसिद्ध हो जाने के लिए तो उपकार करते हैं और उस कार्यके बिगड जानेपर अपकार कर बैठते है ऐसे लोग सर्वत्र निन्द्यवान हैं और पृथ्वी पर भाररूप हैं। सत्जन वही है कि अपकारीका भी उपकार करें। ऐसी योग्यता ज्ञानवान पुरुषोमे ही हुआ करती है। जिनका चित्त अज्ञान अंधेरेसे भरा पड़ा है उनकी कभी भी ऐसी वृत्ति नही बनती। हाँ अपना उपकार करने वालेका उपकार करना और अपना बुरा करने वालेका बुरा करना, ऐसी जिनकी प्रकृति है वे पुरुष बहुतसे हैं। वे यत्र तत्र सभी जगह मिलते हैं परन्तु अपकार करने वालोका भी उपकार करें ऐसे सत्जन पुरुष विरले ही देखनेमे आते हैं।

> सम्यग्धर्मव्यवसितपरः पापविध्वंसदक्षो
> मित्रामित्रस्थिरसममनाः सौख्यदुःखैकचेताः।
> ज्ञानाभ्यासात्प्रशमितमदक्रोधलोभप्रपंचः
> सद्वृत्ताढ्यो मुनिरिव जनः सज्जनो राजतेत्र ॥४५८॥

(३२६) **सज्जनोंका मुनिकी तरह निर्मल हृदय**—सत्जन पुरुष सच्चरित्र मुनियोंकी तरह शोभायमान होते हैं। जैसे मुनियोकी वृत्ति सम्यक्चारित्रके धारण करनेकी होती है सो सम्यक्चारित्रके धारक श्रेष्ठ मुनि होते हैं वैसे ही और वही वृत्ति श्रेष्ठ आचरणके आचरने वाले सत्जन पुरुषोकी भी होती है। लोकमे जो सत्जन हैं उनका आचरण पापसे दूर रहने का और सत्कार्योमें लगने का होता है। जैसे ये मुनिजन समीचीन धर्मके धारण करनेमे तत्पर रहते हैं इसी प्रकार ये सत्जन पुरुष भी जो चाहे मुनि भेषमे न आ सकें, किन्तु ज्ञान और श्रद्धान सही है वे समीचीन धर्मके धारण करनेमे निपुण होते है। महाव्रत है उनके पापोका सर्वथा त्याग है तो ऐसे ही अन्य सत्जन पुरुष भी अपनी पदवीके अनुसार पापका विध्वस करनेमे चतुर होते हैं। साधुजन जैसे शत्रु और मित्रमे समान भाव रखते हैं, शत्रु भी सदा संगमे न रहेगा, मित्र भी सदा संगमे न रहेगा। शत्रु भी अपने भावोके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, मेरा कुछ नही करता, तो मित्र भी अपनी कषाय वृत्तिके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, मेरा कुछ नही करता ऐसा जिनका निर्णय है उनके लिए शत्रु और मित्र दोनो एक समान जंचते हैं। यों शत्रु और मित्रमे सत्जनोके समता भाव रहता है, सत्जन पुरुष सुख और दुःखको एक समान समझते हैं, दुःख आया, तो क्या है? बाह्यपदार्थ की परिणति है और यदि कोई बंधन है तो थोड़ा उसे कष्ट होता है। तो सुख भी क्या है?

बाह्यपदार्थोका जो परिणमन है वह हो रहा है, उसमे कुछ अनुकूल कल्पनायें करते हैं और वहाँ कुछ सुख माना जाता है। पर ज्ञानी जीव सुख और दुःखको एक समान समझते हैं, क्योंकि दोनो संसाररूप है। आज सुख है तो थोडी देर बाद दुःख हो गया, या अभी दुःख है तो थोड़ी देर बाद सुख हो गया। तो सत्‌जन पुरुष सुख और दुःखको एक समान समझते है। दोनो ही परभाव हैं। उपयोग जब आत्मासे दूर होता है तब ही ये सुख दुःखकी वेदनायें, कल्पनायें चलती है। ज्ञानी पुरुष अपने परमार्थस्वरूपको जानता है। उसे सुख और दुःखमे इष्ट और अनिष्ट बुद्धि नही होती। जैसे मुनिजन ज्ञानके अभ्याससे क्रोधादिक कषायों को शान्त कर डालते है ऐसे ही सत्‌जन पुरुष भी अपने ज्ञानबलसे इन कषायोको शान्त कर डालते हैं। तो यो सत्‌जन पुरुष सच्चरित्र मुनिकी तरह शोभायमान होते हैं। उनका संग समागम जीवोको लाभकारी है।

यः प्रोत्तुंगः परमगरिमा स्थैर्यवान्वानगेंद्रः
पद्मानदी विहतजडिमो भानुवद् धूतदोषः।
शीतः सोमोमृतमयवपुश्चंद्रवद् ध्वांतघाती
पूज्याचारो जगति सुजनो भात्यसौ ख्यातकीर्तिः ॥४५९॥

(३२७) सत्पुरुषोमें नगेन्द्रवत् उत्तुंगता व स्थिरता एवं सूर्यवत् निर्बोजता व आनन्दकारिता—सज्जन पुरुष उदार हृदयके होते हैं, उनका चित्त स्थिर होता है वे थोड़ी अनुकूलता प्रतिकूलतामे भी या विशेष अनुकूलता प्रतिकूलता हो तो भी वे अपने पदसे विचलित नही होते। सो सज्जन पुरुष सूर्यके समान तीन विशेषणोसे युक्त है, पद्मानंदी है, अर्थात् जैसे सूर्य कमलोको आनन्दित करने वाला है ऐसे ही ये सज्जन पुरुष पद्म अर्थात् लक्ष्मी ऐश्वर्यको आनन्दित करने वाले है। उनके इतना पुण्योदय चलता है कि उनका ऐश्वर्य वृध्यंगत होता रहता है। सूर्य विहतजडिम होता है अर्थात् जडिम मायने सर्दी, उसको नष्ट करने वाला होता है। सूर्यका यह गुण है कि उसके उदयमे ठंड नही रहती। तो ये सज्जन पुरुष जडिम कहो मूर्खता, मोह बुद्धि, उसको नष्ट करने वाले हैं याने सज्जनोके चित्तमें किसी प्रकारका व्यामोह नही रहता। सूर्य जैसे धूतदोष होता है, धूत मायने नष्ट कर दिया है रात्रिको जिसने, सूर्योदय होनेपर रात्रि नही रहती ऐसे ही सज्जन पुरुष भी धूतदोष होते है अर्थात् दोषको नष्ट करने वाले होते हैं। तो ये प्रभु मनुष्य अपने विचारके उन्नत ऐसे ऊँचे कि किसी दुर्जनके द्वारा उल्लंघन नही किये जा सकते और अचल, किसी भी कार्यसे विचलित नही होवे और गौरवसहित होते। जैसे कि पर्वत उन्नत होता, स्थिर होता और गुरु होता, ऊँचा तो होता ही है तो ऐसे ही सज्जन पुरुष दिलके ऊँचे होते हैं, पर्वत जैसे स्थिर रहते हैं, ऐसे ही सज्जन पु—

भी अपने सद्विचारमे स्थिर रहते हैं। उनके क्षणमे ऐब, क्षणमे राग, क्षणमे द्वेष, क्षणमे अनुराग, क्षणमे प्रीति, ऐसी वृत्ति नही होती। उनका चित्त स्थिर होता, और जैसे पर्वत गुरु होता, वजनदार होता ऐसे ही सज्जन पुरुष भी आत्मगौरवसहित' होते हैं याने आत्मामे कोई हीन वृत्ति न आये ऐसी उनकी प्रकृति होती है।

(३२८) सत्पुरुषोंकी चन्द्रवत् अमृतस्राविता व कीर्ति—सज्जन पुरुष चन्द्रकी तरह सोम अमृत शरीर वाले और ध्वांतघाती होते है। जैसे कि चन्द्रमा सोम है, शान्त है, उसका दूसरा नाम सोम है, जिसपर सोमवार कहा जाता, तो प्रकृतया वह शान्त है, ऐसे ही सज्जन पुरुष भी प्रकृतया शान्त रहते हैं, उनके चित्तमे क्रोधका उद्वेग नही होता, क्योकि सज्जनोने अपना और संसारका स्वरूप भली-भाँति परख लिया और ससारको असार समझ लिया तब कैसे बाह्य परिग्रहोके पीछे वे अशान्त रहेगे? ये अचेतन हैं, मेरा तो मेरा आत्मा है। मेरा शरण, मेरा साथी यहाँ अन्य कोई नही, फिर किसी अन्यकी कुछ भी प्रतिकूलता देखकर क्रोध कैसे आयगा? जो जिस प्रकार चल रहा है वह उसका फल पायगा। उससे मेरेमे क्या बिगाड होता है? भली वृत्ति करने वाले सज्जनोके अशान्ति नही आती। जैसे चन्द्र अमृतरूप शरीर वाला माना गया है ऐसे ही ये सज्जन पुरुष भी अमृतकी तरह जीवोको हितकारी हैं। याने जीव, प्राणी सज्जन पुरुषोको निरखकर उनका सत्संग पाकर स्वयं हित प्राप्त करते हैं जैसे चन्द्र ध्वांतको नष्ट करने वाला है तो ये सज्जन पुरुष भी अज्ञानरूपी ध्वांतके अर्थात् अंधकारके नष्ट करने वाले हैं। तो ये सज्जन पुरुष उन्नतिमे स्थिर हैं, गौरवमय है, ऐश्वर्यवान हैं, व्यामोहरहित हैं, सतोषी हैं, शान्त हैं, दूसरोको सुखदायी है, अज्ञानके नाशक हैं इसी कारण उनकी कीर्ति सर्वत्र फैलती है और ऐसे सज्जनोका संग किया जाने योग्य है।

> तृष्णां चित्ते शमयति मद ज्ञानमाविष्करोति
> नीतिं सूते हरति विपदं संपदं संचिनोति।
> पुसां लोकद्वितयशुभदा सगति' सज्जनानां
> किं या कुर्यान्न फलममलं दुःखनिर्नाशदक्षा ॥४६०॥

(३२९) सज्जनोंकी सुखदायिता—सज्जन पुरुषोकी सगति जीवोको सुखदायी होती है। सत्संगमे चित्तकी तृष्णा बुझ जाती है। किसी गुरुके निकट बैठनेसे, प्रभुमूर्तिके निकट बैठनेसे किसी महान् पुरुषका सत्संग करनेसे उस समय तृष्णाका विकल्प नही रहता। तो उस समय उसकी रक्षा ही तो हो रही है। तृष्णासे जीव क्षुब्ध रहता है और कर्मोका बंध करता रहता है। तो जितने समय तृष्णा दूर होती है उतने समयमे जीवकी रक्षा है। सत्संग होनेसे घमंड नष्ट हो जाता है। बड़ेका संग इसीलिए बताया गया कि अपनेमे किसी प्रकारका

मद न रहे और बड़ेका संग छोडकर कुसंग आ जाय, छोटे लोगोका संग किया जाय तो वहाँ अहकार जग सकता है। मै बडा हू ऐसी महत्ताका विकल्प जग सकता है, किन्तु सत्संगमे यदि वह अपनेको बड़ा मानता है तो आत्मामे गुणोको देखकर बड़ा मानता है। शरीर और इस शक्ल-सूरतके नातेसे अपनेको बड़ा नही समझता। तो सत्संगसे घमंड नष्ट होता है। सत्संग करनेसे गुणोकी वृद्धि होती है। प्रथम तो सज्जन पुरुषोके दर्शनसे ही बहुतसा अज्ञान दूर होता है और ज्ञानमार्गपर चलनेकी वृत्ति बनती है। फिर उनकी वाणी मिलनेसे उनका प्रसाद आशीर्वाद प्राप्त होनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती ही है। सज्जन पुरुषोकी संगति होनेसे नीति का पालन होता है। न्यायके पथपर आचरण करने लगते है और सत्संगसे सारी बिपत्तियाँ दूर भागती है। चूँकि तृष्णा नही रही, घमड नही रहा, ज्ञान जग गया, न्याय पर चल रहे तो फिर विपत्तियाँ कहाँसे आयेंगी, और ऐसे पुरुषोंका सम्पत्ति इकट्ठी होकर आश्रय करने लगती है। जहाँ सदाचरण है वहाँ पुण्यका बध है और उसका पुण्योदय होनेपर सम्पत्ति आश्रय करने लगती है। सत्संगसे इह लोक और परलोक दोनो मे शुभ फल प्राप्त होता है। इस लोकमे भी शान्ति रहेगी न्याय नीतिपर चलेंगे, अज्ञान दूर होगा और परलोकमे भी जायेंगे तो वहाँ भी ये सब समागम प्राप्त होंगे। तो बहुत कहनेसे क्या फायदा? सत्सग एक ऐसा महान् गुण है कि वह सर्व दुःखोंके नष्ट करनेमे समर्थ है। सत्संगका क्या फल नही मिलता? जिनको मोक्ष भी मिला है उनको पूर्व कालमे सत्सग मिला उसका फल है। वे आगे बढ़े और समाधिभाव धारण किया, उनके कर्मोका नाश हुआ और सदाके लिए संसारसंकटोंसे मुक्त हो गए।

चित्ताह्लादि व्यसनविमुखं शोकतापापनोदि
प्रज्ञोत्पादि श्रवणसुभगं न्यायमार्गानुयायि।
तथ्यं पथ्यं व्यपगतमद सार्थकं मुक्तबाधं
यो निर्दोष रचयति वचस्त बुधा। सतमाहुः ॥४६१॥

(३३०) **निर्दोष वचनोसे सत्पुरुषोंका परिचय**—जो पुरुष चित्तको प्रसन्न करने वाले वचन बोलते हैं। जो विधिके विरुद्ध कुछ भी नही बोलते हैं, जिनके वचन शोक और संताप को नष्ट करने वाले होते हैं वे ही सज्जन संसर्ग किए जाने योग्य है। उनकी सत्सगतिसे बुद्धि बढ़ती है और उन जैसे ही वचन बोलनेकी अपनी वृत्ति बनती है वे न्याय मार्गके अनुसार स्वयं चलने वाले हैं तो उनका संग करने वाले पुरुष भी न्याय मार्गपर चलने लगते हैं, जो मनुष्य अपने आपमे सहीपनेका अनुभव करना चाहते हैं उनका कर्तव्य है कि वे अपनी वाणी निर्मल बनायें। मनुष्यका हृदय वाणीसे जाना जाता है। जिनकी वाणीमे मर्मभेदीपना है,

है, अयोग्य वचनालाप हैं, अनवसर वाणी है तो समझना चाहिए कि उनके हृदयमे पवित्रता नही है। जब पवित्रता नही होती, चित्तमे कषायवृद्धि होती है तो उनकी वाणी स्पष्ट और मिष्ट नही हो सकती। तो मनुष्योंका प्रधान कर्तव्य है कि वे अपने मनको निर्दोष बनायें जिससे वाणी भी निर्दोष बने, क्योंकि वचन भावके अनुसार ही निकलते हैं। कपटी पुरुष ही मनमे कुछ है, वचनमे कुछ बोलेंगे, पर जिन्होने कपटका बडा तेज अभ्यास किया है-वे ही ऐसा कर सकते है। उनके मनसे कुछ है और वचन मधुर बोलते हैं लेकिन प्राय: मनुष्योकी वाणी हृदयके अनुसार निकलते है। तो हृदयको निर्मल बनायें जिससे कि वाणी शुद्ध निकले और शुद्ध हृदय होनेसे अर्थात् सज्जनता आनेसे सर्व प्रकारकी विपत्तियोका उसके बचाव हो जाता है।

कोपो विद्युत्स्फुरिततरलो ग्रावरेखेव मैत्री
मेरुस्थैर्यं चरितमचलः सर्वजतूपचारः।
बुद्धिर्धर्मग्रहणचतुरा वाक्यमस्तोपपातं
किं पर्याप्तं न सुजनगुणैरेभिरेवात्र लोके ॥४६२॥

(३२१) सत्पुरुषोंके कषायका गलन—जिन आत्मावोने अपना और समस्त परपदार्थका प्रायोगिक स्वरूप परिचय पा लिया है उन्होने यह निर्णय किया कि यह मैं आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वरूप हू, ज्ञानस्वरूप हूं अतएव उनको बाहरमे कोई आकांक्षा नही रहती। बाहर से आनन्द आये तब तो बाहरकी उपेक्षा की जाय किन्तु ऐसा कभी नही होता। यह मैं स्वयं आनन्दमय हू। सो अपने आपमे रमूं तो आनन्द कही नही गया। अपनेसे हटकर बाहरी पदार्थोंमे आनन्दकी आशा लगाये फिरते है तो आनन्द गायब है। तो जिन्होने अपने ज्ञान और आनन्दका निर्णय किया है उन पुरुषोके मोह और कषायभाव नही रहता। मोह तो नाम है अज्ञानका। स्व और परका भेद न आ पाना और एकमेक मानना इसे कहते हैं अज्ञान, इसे कहते है मोह। राग और मोहमे यही तो अन्तर है। राग तो उसे कहते हैं जहाँ परवस्तुविषयक प्रीति भाव जग गया। परिस्थिति ऐसी है कि राग करना भी पडता है, पर मोहभाव कहते है उसे कि जिसको अपना राग सुहा जाय और सदा ऐसा ही रहे इस प्रकार का आशय बन जाय। जैसे कोई रोगी पुरुष है उसको बडे आरामके साधन दिए जाते हैं। दवा दी जाती है, डाक्टर समय समयपर आता है, मित्रजन भी वार्तालाप करते हैं और उस रोगीको डाक्टरसे भी प्रेम है, समयपर डाक्टर न आये तो उसे बुलवाते हैं। दवा समयपर न मिले तो झुंझला जाते हैं। तो दवासे प्रेम तो है उस रोगीको मगर उसके मनमे ऐसा नही है कि ऐसी दवा मुझे हमेशा मिलती रहे। उसके मनमे तो यह रहता कि कब यह दवा लेना

छूट जाय। तो दवा छोडनेके लिए दवा लेता है। तो ऐसे ही समझिये रागमे और मोहमे अन्तर है। जिन्होने अपने स्वरूपका निर्णय किया उनको बाह्य पदार्थोंमे कही भी व्यामोह नही रहता और इसी कारण उनके कषायका वेग कम हो जाता है, उन्हीको सत्पुरुष कहते है।

(३३२) सत्पुरुषोके कारणवश आगत क्रोधकी विद्युतवत् क्षणस्थायिता—सज्जनो का क्रोध बिजलीके स्फुरणके समान चचल है, जैसे मेघमे बिजली चमकी तो वह कितनी देर रहती है, ऐसे ही सज्जनोका क्रोध कितने समय रहेगा ? कोई कारण पाकर क्रोध आ गया तो वह क्रोध थोडी देर ठहरता है, तुरन्त मिट जाता है, यह है सज्जनोकी पहिचान। ज्ञानी पुरुष किसी दूसरे जीवोके प्रति हठ बांधकर नही रहता कि मैं इसका ऐसा ही करूँगा इसे बरबाद ही करूँगा। उनके कोई हठ नही रहती। उनके क्रोध बन गया किसी परिस्थितिमे मगर क्रोध अधिक देर नही ठहरता। सिद्धान्तमें बताया है ना चार प्रकारके क्रोध, अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन। अनन्तानुबंधी क्रोधमे तो ऐसा भाव संस्कार रहता है कि वह भव-भवमें बैर बांधता है, पर अप्रत्याख्यानावरण क्रोधमे इसके क्रोधका संस्कार ६ माहसे अधिक न रह सकेगा। यह होता है ज्ञानी अव्रती पुरुषोको। प्रत्याख्यानावरण क्रोधका संस्कार १५ दिनसे अधिक न रह पायगा। यह होता है श्रावकोके और उज्वलन क्रोध क्षण मात्र अन्तर्मुहूर्तको रहेगा। यह होता महाव्रतियोके तो जैसे-जैसे अपने ज्ञानमे अभ्यास बने, दृढता बने वैसे ही वैसे ये कषायोके वेग भी कम हो जाते है।

(३३३) मोह और कषायसे आत्माकी बरबादी—हम आपको सताने वाला है मिथ्यात्व और कषाय। बाहरी हमको कोई सताने वाला नही है। भीतर मोह पड़ा है। दुःखी होते है और इसी कारण कषायोसे जकडे रहा करते है। सिवाय मोह और कषायके हम आपको दुःखी करने वाला कोई दूसरा जीव नही है। दूसरा कोई भी जीव हो, वह अपने सुखके लिए अपनी चेष्टा तो करेगा, पर आपके लिए कुछ न करेगा। जो भी करेगा वह अपने लिए करेगा। यहाँ हम जो कुछ करते है वह अपने लिए करते है। तो इस जगत में अनादि कालसे अज्ञानसे घूमते चले आये हैं। कैसे-कैसे भव धारण किया और उसी सिलसिलेमे आज भी मनुष्यभवमे आये, परिवार भी बसाया, घर भी है धन दौलत भी रखी है, यह सारा सग जुटा है, इसमे मोह भाव बनता है, तो जैसा भव भवमे करते आये वही बात यहाँ कर रहे है। उसमे कुछ अन्तर नही आया, ऐसा ही पशु पक्षी करते है, यह ही हम मनुष्य लोग करते है। क्या पशुपक्षी अपने बच्चोसे मोह करना नही जानते ? उनके भी

बडा तीव्र मोह होता है। यदि गाय भैस आदि किसीका बच्चा गुजर जाय तो वह कितना बॉय बाँय कर रोती है, अश्रु भी बहाती है। तो पशुवोके भी वैसा मोह रहता जैसा कि मनुष्योके। पशुवोके क्या विषयका भाव नही है जैसा कि मनुष्यके है ? बल्कि मनुष्य विषयो को कलाके साथ भोगता है। तो उनमे तीव्र कषाय बनी है। तो मनुष्योमे पशुवोमे अन्तर है तो एक धर्मभावका है। मोह करना राग करना, अपना मानना, गैर मानना, किसी को अपना मानकर जो जो कुछ बातें विकारकी चल रही है ये बातें सब इस आपको अनर्थके लिए हैं। इसमे आत्माका कोई हित नही है। आत्माका हित है तो अपना परिचय पाकर अपनेमे रमे तो आत्महित है। सो जिन ज्ञानी पुरुषोने अपने आत्मतत्त्वका परिचय पाया है उन्हे शान्ति है। क्रोधादि भाव कम हो जाते है।

(३३४) क्रोधकी अतिक्रूरता—क्रोध बडा बैरी है, यह इस जीवके सारे गुणोको फूंक डालता है। कोई कितना ही दूसरेका भला करे पर एक बार भी क्रोध आ जाय तो मानो साराका सारा ऐहसान पानीमे घुल गया। उसकी फिर कदर नही रहती। बाप अपने पुत्रका कितना पालन पोषण करता है बचपनसे लेकर बडे तक और एक बार भी वह बाप यदि क्रोध कर दे तो लो बेटेके दिलसे बाप उतर गया। बेटेके लिए बापकी अब कुछ कदर नही रहती। वह बैर बांधने लगता। तो ऐसे ही समझिये सर्वत्र यह क्रोध जीवको हानि करने वाला होता है और दोनो ही अगर क्रोधी क्रोधी मिल गए तब तो वहां वडी कठिन नौबत आ जाती है। यदि उन दोनोमे एक शान्त हो तो सब गनीमत, पर दोनो क्रोधी हो तो वहाँ बडी विकट बात बढ जाती है और यहां तक कि एक दूसरेका हनन भी कर डालते हैं। पर एक शान्त हो घरमे तो घरमे फिर क्रोधकी ज्वाला नही बढ़ती, शान्त रहती है। एक ऐसी ही घटना बताते हैं कि कोई एक बजाज सेठ था, सो जब वह घरपर आता था तो उसकी सेठानी रोज किल्लत मचाया करती थी, झगड़ा किया करती थी। तुम मेरे लिए अमुक चीज बनवाकर नही लाये, हम कबसे कह रहे, तुम एक भी बात नही करते, तो उसको भोजन भी करना कठिन पड़ जाता था। सेठानी तो थी गुस्सैल (गुस्सा करने वाली) और सेठजी थे शान्त प्रकृतिके। ऐसा ही कई दिन होता रहा। एक दिन जब सेठ भोजन करके उतर रहे थे सीढियोसे तो सेठानीको गुस्सा बहुत भरा हुआ था कई दिनोसे तो उसने जो एक बर्तनमे धोवन धरा था दाल चावल वगैरहका उसीको सेठ जी के सिरपर फेंक दिया। सेठ जी की पगड़ी तथा सारे कपडे भीग गए। तो वहां सेठजी बोले—सेठानी जी तुम गरजी तो बहुत पर बरसी आज हो। वहां सेठकी शान्त दशा देख सेठानी शर्मके मारे सेठके चरणोमे लोटकर बोली—माफ कीजिए मेरी गल्ती। मैंने आपको रोज रोज पीड़ा दिया, पर आप देवता सरीखे

शान्त रहे, और मैंने आपकी कोई कदर नही की। अबसे मैं कभी आपके ऊपर क्रोध न करूँगी। तो घरमे अगर एक भी शान्त हो तो वह क्रोधकी ज्वाला बढ नही सकती और जब दोनो ही शान्त हो तब तो फिर वहांका कहना ही क्या है ? ऐसा कई जगह दिखता कि पति भी कम नही, पत्नी भी कम नही तो उनकी कैसा बनती कि चाहे आप सिनेमा, थियेटर देख लो चाहे उन्हे देख लो। तो यह क्रोधभाव तब तक शान्त नही हो पाता जब तक कि शान्तस्वरूप अंतस्तत्त्वका परिचय नहीं मिलता। तो सज्जन पुरुषोका क्रोध बिजलीकी चमक की तरह चंचल है।

(३३५) सत्पुरुषोंकी मित्रतामे पाषाणरेखावत् स्थायित्व—सत्पुरुषोकी मित्रता पत्थर की रेखाकी तरह दृढ है, सर्व जीवोमे मैत्रीभाव है। सज्जनोकी यह आदत नही होती कि क्षणमें बडे खुश हो गए और दो मिनट बाद रुष्ट हो गए, यह आदत सज्जनोकी नही हुआ करती। जो अधीर है, अज्ञानी है, स्वार्थी है। केवल अपना ही अपना सब सोचते है उनमे तो यह आदत बन जाती है कि जरासी देरमे खुश हो गए और जरासी देरमे अप्रसन्न हो गए, पर सज्जनोकी मित्रता दृढ रहा करती है। पहले तो सर्व जीवोके साथ मैत्रीभाव करना सर्व जीव मेरे स्वरूपके समान है। जैसे मै दर्शन ज्ञान आनन्दस्वरूप हू ऐसे ही सर्व जीव है, जो कुछ यहाँ अन्तर दिख रहा है यह सब कर्मविपाकका अन्तर दिख रहा है, औपाधिक भावो का अन्तर दिख रहा है, पर स्वरूप तो सब जीवोका समान है। यहाँ तक कि प्रभु सिद्ध अरहंत और मैं, सर्व जीव एक ही जातिके पदार्थ है उनके स्वरूपमे अन्तर नही। अन्तर है तो यह कर्मविपाकका है। सो यदि कर्मविपाकमे लगाव रखें याने मोह रखें तो यह अन्तर बना ही रहेगा और जहाँ भेदविज्ञान बना कि मै इस कर्म और कर्मविपाकसे निराला केवल चैतन्यमात्र हूं, ऐसी स्वरूपकी दृष्टि बने तो यह अन्तर मिट जायगा। जो प्रभुका स्वरूप है वही स्वरूप प्रकट होने लगेगा। तो कुछ अपने पर करुणा करके चिन्तन करें कि जन्म-मरण कर करके संसारमे रुलते रहना ही ठीक है क्या या जन्म मरण छूटे और यह मैं आत्मा जो हूं सो ही रह जाऊँ, केवल निर्लेप, इन दो मे से अपनी छांट जरूर करियेगा। ससारमे जन्म मरण करते रहनेमे संकट ही संकट है, इस कारण इस देहसे इस समागमसे, इन बाह्य अर्थो से अपने विकारसे भी ममताको त्यागकर केवल एक चित् प्रतिभासमात्र अपनेको ज्ञानमे ले और इसी प्रयोजनके लिए पूजा करें, स्वाध्याय करे। सर्व काम इसी प्रयोजनके लिए करें तो इसमे अपना उत्थान है।

(३३६) सत्पुरुषोके चारित्रकी मेरुवत् स्थिरता व सर्वोपकारकी अचलता—सज्जन

पुरुषोका चरित्र मेरुके समान स्थिर रहता हैं। जैसे मेरू जहां है वहां ही अचल है, ऐसे ही सत्‌जन पुरुषोका चारित्र स्थिर रहता है, और जो अज्ञानीजन है वे कभी चारित्रका रूप दिखायेंगे कभी उससे बिल्कुल अलग हट जायेंगे, विभिन्नता बनी रहेगी, मगर सत्पुरुषोका चारित्र मेरुके समान स्थिर होता है। यह प्रकरण चल रहा है इसलिए कि सब जीवोको, मनुष्योको सत्‌जनोका ही सग करना चाहिए दुर्जनोका सग न करना चाहिये। जिसके मनमे और है, वचन कुछ और, करे कुछ और जिनको केवल अपना यश फैलानेकी ही भावना है उनके वचन दूसरोके हित करने वाले निकलें, यह जरा सम्भव नही है। अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए जैसा होना चाहिए वैसा ही कहेगे वे जिनको किसी भी इन्द्रियके विषयसे प्रेम है अथवा अपनी नामवरीसे प्रेम है उस पुरुषका सग कष्टदायी होता है, उसमे तृप्ति और सतोष नही मिल सकता। अतएव सत्‌जन पुरुषोका परिचय किया गया है कि उनका कैसा व्यवहार होता है सत्‌जन पुरुष सर्व प्राणियोका उपकार करते है। समस्त शत्रु और मित्रसे उनका उपकार रहता है। ये मेरे वैरी हैं। ये मेरे बधु हैं, ऐसी विषय भावना सत्पुरुषोमे नही होती, ज्ञानियोके नही होती। क्योकि ज्ञानी जानता है कि जीव जीव सब समान है। जो कुछ इनकी चेष्टा हो रही है वह कर्मविपाककी लीला है। यह जीवमे फर्क नही है, कौन मेरा शत्रु कौन मेरा मित्र ? यह सब मायारूप व्यवहार है। तो शत्रु और मित्रमे समान उपकारकी बुद्धि रहती है। राजा श्रेणिकके चरित्रमे जब श्रेणिक और चेलनामे कुछ बातोकी दौड सी चल रही थी धर्मके प्रसगमे, तो श्रेणिकने एक बार क्या किया कि जगलमे जा रहे थे, वहाँ एक मुनिराज बिराजे थे तो उनके गलेमे मरा हुआ सांप डाल दिया, और तीन दिन बाद चेलनासे कहा किसी प्रसगमें कि हमनें तुम्हारे साधुके गलेमे मरा हुआ सांप डाला, तो चेलना बोली—आपने अनर्थ किया, श्रेणिक बोले—इसमे अनर्थकी क्या बात ? वह तो सांपको हटाकर कही चले गए होगे। तो चेलना बोली—यदि वे निर्ग्रन्थ साधु हैं तो वही विराजे होगे, वे उपसर्गको अपने आप न टालेगें। आखिर जब वहाँ दोनो (श्रेणिक और चेलना) गए तो क्या देखा कि मुनिराज शान्त मुद्रामे विराजे थे। उनके गलेमे सांप पडा था, जिससे चोटियाँ सारे शरीरपर चढ़ी हुई थी। यह दृश्य देखकर श्रेणिक बडा पछताये, ओह मैंने व्यर्थ ही मुनिराजपर उपसर्ग किया, धिक्कार है मेरेको।....तो चेलनाने उस समय नीचे शक्कर बिखेर दी जिससे सभी चीटियां नीचे उतर आयीं फिर उस सांपको गलेसे निकाल दिया। उस समय जब मुनिराजने आँखें खोली और सामने खडे राजा श्रेणिक व रानी चेलना को देखा तो दोनोको एक समान आशीर्वाद दिया। उभयोर्धर्मवृद्धिरस्तु तुम दोनोंको धर्मवृद्धि हो। अब उस समयके परिणाम देखिये मुनि महाराजके। उनकी दृष्टिमे यह न था कि यह

तो मेरा उपासक भक्त है इसमें राग करें और यह मेरा विघातक शत्रु है इसमे द्वेष करें। न उनकी दृष्टिमे शत्रु आया और न मित्र, क्योकि स्वरूपका परिचय हुआ है। कौन जीव शत्रु है और कौन मित्र हैं ? यह तो कर्मविपाककी छाया है जो इस प्रकार सब बातें दिख रही है और अज्ञानी जीव उन ही को अपना रहे है। तो शत्रु और मित्रमे सज्जनोका समान विचार चलता है।

(३३७) सत्पुरुषोंकी धर्मग्रहणचतुरा बुद्धि—सत्पुरुषोकी बुद्धि धर्मको ग्रहण करनेमे चतुर रहती है। धर्म क्या ? रागद्वेष न होना, समता परिणाम जगना, अपने ज्ञानानन्दका अनुभव होना यह ही धर्मका ग्रहण है और इसीलिए पंच परमेष्ठियोंकी भक्ति, पूजा, स्वाध्याय यह ही सब धर्मका ग्रहण है तो धर्मके ग्रहणमे सत्पुरुषो की बुद्धि चतुर होती है। धर्म प्रिय होता है। देखिये—धर्मसे बढकर प्रिय जगतमे कुछ नही है। भले ही मानते है जीव कि मेरेको घर प्रिय है, स्त्री प्रिय है, बच्चे प्रिय है पर प्रियका लक्षण यह है जो पूरा प्रिय हो, जो प्यार फिर कभी न बदले। आप रोज रोज अपने जीवनमे देखते है कि आज इसपर प्यार है कल नही रहा। तो वह वास्तवमे प्रिय नही कहलाता। वास्तविक प्रिय वस्तु वह है जिसपर एक बार प्यार आये और फिर न अटके। ऐसा कोई नही है बाह्य पदार्थ कि जिस पर प्यार आये और फिर न हटे। मानो स्त्रीसे प्यार है, वह कोई दुर्वचन कह दे या शंका हो जाय तो फिर प्यार उससे हट गया। आज बच्चेसे प्रेम है उसने यदि कोई अविनय कर दिया तो प्यार हट गया। जरा खोजो तो सही कि जिसपर प्यार हो और फिर न मिटे। तो सुनो एक कथानक द्वारा बताते है।

(३३८) धर्मभावकी सर्वाधिकप्रियताका एक चित्रण—देखो जब कोई बच्चा ४-६ माहका होता है या साल डेढ सालका होता है तो उस बच्चेसे यदि यह पूछा जाय कि हे बच्चे तुझको सबसे प्यारा क्या लग रहा ? तो उसका उत्तर क्या होगा कि मुझे सबसे प्यारी माँ की गोद लगती है। जब कभी कोई उस बच्चेको छेडता तो झट माँ की गोदमे पहुंचकर अपनेको रक्षित मानता। माँ की गोदसे बढकर उसे कुछ प्रिय नही रहता। वही बच्चा जब बढ़कर ४-५ वर्षका हो जाता तो अब उसे खेल खिलौने प्रिय हो जाते। माँ की गोद भी अब उसे प्रिय नही रहती। यदि किसी बच्चेका मन खेल खिलौनोंमे लगा है तो भले ही उसकी माँ उसे पकडकर खिलानेके लिए अपनी गोदमे बैठाये पर वह नही बैठना चाहता। वह तो माँकी गोदीसे छूटकर खेल खेलनेके लिए भाग जाना चाहता है, क्यो कि उसे अब खेल खिलौने अधिक प्रिय हो गए, माँकी गोद अब उसे प्रिय नही रही। वही बालक जब ८-१० वर्षका होता तो उसे विद्या प्रिय हो जाती। नई नई विद्यायें पढना, कलायें सीखना यह उसे प्रिय

हो जाता, उसे अब खेल खिलौने प्रिय नही रहते । वही बालक जब १७-१८ वर्षका हो जाता तो उसे अब विद्या भी प्रिय नही रहती । बस किसी तरहसे परीक्षामे पास हो जाना चाहिए। यह ही उसके चित्तमे रहता । पास होनेके लिए अनेक प्रकारके नाजायज उपाय रचता । वही बालक जब २०-२१ वर्षका होता तो उसे अब डिग्री प्रिय हो गई बी. ए., एम. ए. आदिकी डिग्री चाहिए, चाहे कैसे भी मिले । कुछ और बडा हुआ, विवाह हो गया तो उसे अब स्त्री प्रिय हो गई, डिग्री भी प्रिय न रही । देखिये प्यारकी चीजें कैसा बदलती जा रही है । कुछ दिन बाद जब बच्चे हुए तो बच्चे प्रिय हो गए । उसे अब स्त्री भी प्रिय नही रही । फिर कुछ बडा हुआ, बच्चा बच्ची भी बडे हो गए, अब कमाईकी चिन्ता बढी । तो वहाँ उसे धन प्रिय हो गया । बाल बच्चे भी उसे प्रिय नही रहते । उसके यहाँ कोई आकस्मिक घटना घट गई । मान लो वह किसी दफ्तरमे काम कर रहा था, उसके पास टेलीफोन पहुचा कि घरमें आग लग गई तो वहाँ दौडा दौडा घर पहुचा, धन निकाला, बच्चे निकाला, पर जल्दी जल्दी मे एक बच्चा घरके अन्दर रह गया, आग तेज बढ गई, अब वह लोगोसे कहता है—भाइयो कोई मेरे बेटेको निकाल दो, हम १० हजार रुपये इनाम देंगे । अब यहाँ बताओ उसे धन प्रिय रहा क्या ? अरे धन भी नही प्रिय रहा । उसे प्रिय हो गए अपने प्राण । वही व्यक्ति कुछ ज्ञान जग जाय, उसी प्रसगमे उसको वैराग्य जग जाय, विरक्त होकर (निर्ग्रन्थ होकर) चल दे, वनमे तपश्चरण करने लगे और कदाचित् उसके शरीरको स्यालनी चोटने लगे, या सिंह भक्षण करने लगे, या कोई उसके सिरपर अगीठी जलाने लगे या कोई कैसा ही उपसर्ग उसके ऊपर ढाने लगे तो अब वह अपने प्राणोकी भी परवाह न करके अपने ज्ञानस्वरूपकी सम्हाल करता है । उस समय उसका ऐसा भाव रहता है कि ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि मेरी क्षण-भरको भी न बिगडे । इतने उसे ज्ञानसे प्रेम हुआ । अब देखिये उसे सबसे प्रिय हो गया ज्ञान । यहाँ तक तो हम ले आये अब इसके बाद आप लोग बताइये कि कौनसी चीज ऐसी हो सकती जो कि ज्ञानसे भी अधिक प्रिय हो जाय ? तो इस ज्ञानसे बढकर प्रिय चीज अन्य कुछ नही है । अन्य सभी प्यार तो बदल जाते हैं क्योकि वे वास्तविक प्रिय चीजें नही हैं, पर ज्ञानका प्यार कभी नहीं बदलता । एक बार ज्ञानकी प्रीति हो जाय तो फिर वह कभी नहीं छूटती । इस तरह जाने कि सर्वाधिक प्रिय वस्तु है तो मात्र ज्ञान है । और ऐसे ज्ञानस्वरूपको ग्रहण करना, ज्ञानमे रखना, ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो, ऐसी स्थिति बनना, इसे कहते हैं धर्मका ग्रहण करना । तो सत्जन पुरुषोकी बुद्धि धर्मको ग्रहण करनेमे बडी चतुर होती है ।

(३३६) सत्पुरुषोके वचनोकी पीडाहारिता—जिनका संग करना है, जिनसे लाभ होता उनका परिचय किया जा रहा है । सत्पुरुषोके वचन पीडासे दूर रखते हैं । सत्जनोका

यही भाव रहता है कि सर्व जीव सुखी हो। किसी भी जीवको दु.ख न हो। किसीने आक्रमण भी किया हो, अपमान कर रहा हो, बैर रख रहा हो, कोई दुर्वचन बोल रहा हो उसपर भी क्षमाभाव रहता है और मीठी वाणी बोलते है। हितकारी वाणी बोलते हे, उसका भी अहित नही चाहते। यह सब है ज्ञानकी महिमा। तो ऐसे ज्ञानी पुरुषोका सग हो तो उसमे शान्ति, सतोष, धीरता ये सभी गुण आ जाते हैं। और फिर सत्संगका लाभ यह लेना चाहिए कि मुझमें भी वह ज्ञानदृष्टि जगे जिसके प्रसादसे धीरता और शान्ति उत्पन्न होती है। तो सज्जन पुरुषोके वचन किसीका भी विघात करने वाले नही होते, इन्ही गुणोके कारण सत्पुरुषोकी कीर्ति जगतमे छायी रहती है। ...

जातु स्थैर्याद्विचलति गिरि· शीततां याति
वह्निर्वार्दीनाथः स्थितिविरहितो मारुतः स्तम्भमेति।
तीव्रश्चद्रो भवति दिनपो जायते चाप्रताप
कल्पांतेपि व्रजति विकृतिं सज्जनो न स्वभावात् ॥४६३॥

(३४०) सभी स्थितियोमे सज्जनोंके हितकर स्वभावकी अविचलता—जीवकी भलाई सत्संगमे है कुसगमे नही, इसलिए कुसगसे बचना, सत्संगमे रहना यह लाभदायक है। इसी कारण सत्सग इसे प्राप्त हो, उनकी जानकारी मिले इसके लिए सज्जनोका स्वरूप बताया जा रहा है। सज्जन पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष, ज्ञानी पुरुष अपने हितकारी स्वभावको छोड़कर कभी भी दूसरोके अहितकर नहीं बनते। वस्तुतः जिन पुरुषोने अपने अतस्तत्त्वका स्वरूप पहिचाना है, अपने सहज स्वरूपको अनुभवा है, जिसके बलपर यह निर्णय बना कि जगतमे अन्य कुछ भी मेरा शरण नही, कुछ भी मेरा हितकारी नही। यह मैं स्वय आनन्दस्वरूप हू यह जिनके अनुभव बना है वे पुरुष दूसरोका अहित करे यह कभी हो ही नही सकता। न ऐसा उनका मन बनेगा न वाणी वैसी होगी न कायचेष्टा होगी। उसीकी सामर्थ्य है कि चाहे पर्वत अपनी स्थिरताको छोड दे याने असम्भव बात भी सम्भव हो जाय, पर सत्पुरुष कभी भी अपनी हितकारी प्रकृति नही छोड सकते। अग्नि चाहे ठडी हो जाय याने असम्भव बात भी कभी सम्भव हो जाय तो भी सज्जन पुरुष अपने हितकारी स्वभावको नही तजते। समुद्र चाहे अपनी मर्यादाका उल्लघन कर दे याने समुद्रमे से चाहे नदियाँ निकलने लगें, जैसा कि आज तक कभी हुआ नही, तो चाहे ऐसी कठिन बात भी बन जाय तब भी सज्जन पुरुष अपने हितकारी स्वभावको नही छोड़ते। इसी तरह अन्य भी दृष्टान्त दिया कि चाहे हवा बहना बंद कर दे मायने कही एक जगह ठहर जाय, यदि ठहरे तो हवा नही, जहाँ हवा है वहाँ ठहरे नही, हवाको ठहरनेका क्या काम? हवाका काम है चलते रहना, बहते रहना। तो चाहे

नही बनता। ऐसा योग होनेपर कही उस कर्मने अपनी परिणति नही कर दी, यह जीव विकल्परूप, विकाररूप जो परिणमता है उस रूप जीव परिणमा है। कही उसरूप कर्म नही परिणमा, लेकिन इस अशुद्ध उपादानमे ऐसी ही कला और योग्यता है कि वह जैसे कर्मविपाक का सान्निध्य पाता है उस रूप परिणम जाता है। विवेक जग जानेपर ये आश्रयभूत विकार हटते है और अन्तस्तत्त्वमे उपयोग जमता है तो इस पुरुषार्थसे इन बद्ध कर्मोमे भी सक्रमण होता है, उपशम होना आदिक इन सब कर्मोमे कर्मकी परिणतियाँ ही चलती रहती हैं। उसको फिर आगे और विशुद्धिका मार्ग मिलेगा और विशुद्धि प्रकट हो जाती है।

(३४४) **शास्त्रोके अध्ययनसे प्राप्तव्य शिक्षा**—प्रयोजन यह है कि हमको विकारसे हटना है और स्वभावमे लगना है और इस ही की प्रेरणा मिले, ऐसा सब शास्त्रोका तात्पर्य और मर्म है। प्रथमानुयोगमे जब कथन पढ़ते हैं और उन कथनोमे घटाव, वृद्धि सब बातें जानी जाती है कि यह गृहस्थी पाया, यह मोहमे लगा, फिर कारण पाया, विरक्त हुआ, समाविष्ट हुआ, मुक्त हुआ, उस चरित्रसे यह ही तो शिक्षा लेना है कि देखो जब तक वह जीव विकारके अभिमुख रहा तब तक कष्टमे रहा, और जब विकारसे उपेक्षा की, स्वभावकी अभिमुखता ली और स्वभावमे ही रमनेका पौरुष बना तब सकट मिटा। तो उस चरित्रसे यह ही तो प्रेरणा मिली—विकारसे हटना और स्वभावमे लगना। तो यो करणानुयोगमे जो वर्णन है, घटनायें है उनमे भी यह ही शिक्षा मिलती है—चरणानुयोगके आश्रयभूतका त्याग करना। उसमे भी यह ही प्रयोजन निकला— विकारसे हटना और स्वभावमे लगना। जब हम द्रव्यका स्वरूप जानते तब वहाँ यह शिक्षा मिलती ही है।

विषयभूत पदार्थ नोकर्म है। अथवा आश्रयभूत हैं। इनका आश्रय करके हम विकार प्रकट किया करते है। कदाचित न भी आश्रय करें, किसी अन्य बातमें हम लग जायें, जैसे प्रभुके ध्यानमे लग गए, मंदिरमे पहुंचे, गुणस्मरण कर रहे, अन्य कार्योंमे लग गए, तो क्रोधादिक प्रकृतियोका कर्मविपाक चल रहा है कही वह धारा नही टूटी, वह विपाक चल रहा है और उसका निमित्त पाकर प्रतिफलन भी हो रहा किन्तु विषयभूत कोई वास्तवमे नही है। सो वह विकार व्यक्त नही होता, अव्यक्त रहता। इसीको कहते है अबुद्धि पूर्वक। जैसे कहा है कि सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिश इत्यादि याने बुद्धिपूर्वक रागादिकको तो यह त्याग देता है और जिस उपायसे यह त्याग रहा है बुद्धिपूर्वक रागादिकको उसी उपायसे जो अबुद्धिपूर्वक रागादिक है वे छूटेंगे। परन्तु जब तक कर्मोदय है निमित्त नैमित्तिक विकार बराबर वहाँ बनता रहता है, मगर आश्रयभूतका उपयोग न करनेसे ये अव्यक्त हो जाते है।

(३४३) निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका लाभ—निमित्तनैमित्तिक योग या किसी की भी चर्चासे हमको क्या शिक्षा लेना चाहिए? विकारसे हटना और स्वभावमे लगना। बस एक ही कदम, एक ही निर्णय है ज्ञानीका कि विकारसे मुझे हटना है, स्वभावमे मुझे लगना है। तब देखिये हमने यदि कर्मविपाक और विकारका निमित्तनैमित्तिक योग जाना मायने इन आश्रयभूत पदार्थोंके साथ कारण कार्यका निमित्तनैमित्तिक सम्बध नही समझा तो इससे उपेक्षा हो गई। ये मेरेको सुख दुःख नही देते। जिसे समयसारमे बंधाधिकारमे खूब प्रकट किया है, कोई भी जीव किसी दूसरेका सुख दुःख नही करता। वैसा ही वहाँ कर्मोदय है जिससे सुख दुःख होते रहते है। तो इन बाह्य पदार्थोंने मेरेको रागी नही किया, यह इसके ज्ञान बना कर्म विपाकसे विकारका निमित्त नैमित्तिक योगका सवंध जाननेपर। तो अब इसके चित्तमें कायरता नही आती। जब यह जान रहा था कि कोई भी परपदार्थ मेरेको सुखी कर देगा, दुःखी कर देगा तो इसको आशा और भय लगा रहा करता था, अब यह आशा और भयसे दूर हो गया, साथ ही निमित्त नैमित्तिक योगके परिचयसे इसकी स्वभावदृष्टि सुगम हो गई। उस ही के साथ स्वभावका बराबर विवेक बना हुआ है। जिनको स्वभावका निर्णय नही वे नैमित्तिक शब्द भी नही 'बोल सकते, विकारको नैमित्तिक नही जान सकते। जिन्होने स्वभावको जाना कि मैं चित्स्वरूप इन औपाधिक भावोसे निराला हूं ऐसा जो जानेगा वह ही समझेगा कि ये नैमित्तिक है औपाधिक हैं, हटाये जाने योग्य है ये मेरे स्वभावसे नही प्रकट हुए हैं। तो ज्ञान का प्रयोजन होता है विकारसे हटना और स्वभावमे लगना। यह ही बात मुमुक्षुको चाहिए। अब इसमे और भी सूक्ष्म निर्णय देखें तो भले ही कर्मदशाका और विकारका निमित्त नैमित्तिक योग है, अर्थात् कर्मोदय होनेपर ही विकार बनता है और कर्मोदय न रहने पर विकार

हवा बहना बंद कर दे पर सज्जन पुरुष अपने हितकर स्वभावको कभी नही छोड सकते। ऐसी कला स्वभावतः सत्पुरुषोमे रहती है और उसका मूल कारण यह ही है कि उन्होने सहज परमात्मतत्त्वका परिचय पाया है और अपने ही समान सर्व जीवोके स्वरूपको पहिचाना है। सर्व जीव एक समान है चित्स्वरूप।

(३४१) अनुकूलता व प्रतिकूलताके भावका कारण विषयानुराग—यदि किसीको कोई अनुकूल जचता तो कोई प्रतिकूल जचता, तो जाचने वालेका ही एक भाव है ऐसा कि यह मेरे अनुकूल है और यह मेरे प्रतिकूल है। वह तो अपनी कषायके अनुसार अपनी प्रवृत्ति कर रहा है और वह भी अपनी सुख शान्तिके लिए कर रहा है। जिसमे उसने सुख समझा है वह प्रवृत्ति कर रहा है। पर यह कल्पनायें करता, उसकी कषायकी अनुकूल काम नही बनता तो उसमे बाधा मालूम होती है और उसे प्रतिकूल समझता और यदि सहायता जचती तो उसे अनुकूल समझता, पर ज्ञानीका दृढ निर्णय है कि मेरा जो कुछ है सो मुझमे है। भला हो बुरा हो, जो भी परिणति हो वह सब मेरी मेरेमे है। मैं कभी अपनेसे बाहर किसी भी जगह किसी परद्रव्यमे कुछ भी नही करता। मैं अपनेमे परिणमता रहता हू। सभी सतो का यही स्वभाव है। कोई सत् किसी दूसरे रूप नही परिणम सकता, यह अनादि अनन्त वस्तुमे स्वरूप है। तो मैं परका क्या कर सकूँगा, पर मेरा क्या कर सकेगा ? वास्तविकता तो यह है पर यह मुग्ध होनेसे बाह्यमे ऐसी कल्पनायें करता है और उसका निमित्त कारण उस समय उस प्रकारका कर्मविपाक है।

(३४२) जीवमें विकारोत्पादका विधान—जीवमे जितने भी विकार प्रकट होते हैं वे जीवमे स्वभावतया तो नही होते, विकार स्वरूप नही है, स्वभाव नही है तो फिर ये औपाधिक है। निमित्त है याने कर्मविपाकका सान्निध्य पाकर होते हैं। जीवके विकारका निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध यहाँ है और दुनियामे जितने बाह्य पदार्थ पड़े है इन पदार्थोके साथ विकार का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध नही है, फिर दिख तो रहा ऐसा कि एक दूसरेका सहयोगी बन रहा, रागद्वेष पैदा करने वाला बन रहा। सो इसका समाधान सुनो—अन्य कोई सुख दुःख और रागद्वेषका उत्पन्न करने वाला नही है, किन्तु यह जीव अपने ही परिणामोसे पूर्वमे बद्ध कर्मोके विपाकका निमित्त पाकर जो उसकी फोटो, उसका प्रतिफलन उपयोगमे आया, जिससे अन्दरसे यह घबड़ाया विह्वल हुआ, बेचैन हुआ और उस ही छायाको मानने लगता है अपना स्वरूप सो यही उसकी मोह परिणति हुई सो उस समय जो भी बाह्यमे विषयभूत पदार्थ उपयोगमे आते है, जिनकी कल्पना करके, जिनको विषयभूत बनाकर यह रागी द्वेषी बनता, व्यक्त राग, व्यक्त द्वेष करता हे वह पदार्थ आश्रयभूत कहलाता है, जिसे नोकर्म भी कहते हैं। तो ये

विषयभूत पदार्थ नोकर्म है। अथवा आश्रयभूत हैं। इनका आश्रय करके हम विकार प्रकट किया करते हैं। कदाचित न भी आश्रय करें, किसी अन्य बातमें हम लग जायें जैसे प्रभुके ध्यानमें लग गए, मंदिरमे पहुंचे, गुणस्मरण कर रहे, अन्य कार्योंमे लग गए, तो क्रोधादिक प्रकृतियोंका कर्मविपाक चल रहा है कही वह धारा नही टूटी, वह विपाक चल रहा है और उसका निमित्त पाकर प्रतिफलन भी हो रहा किन्तु विषयभूत कोई वास्तवमे नही है। सो वह विकार व्यक्त नही होता, अव्यक्त रहता। इसीको कहते है अबुद्धि पूर्वक। जैसे कहा है कि सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं इत्यादि याने बुद्धिपूर्वक रागादिकको तो यह त्याग देता है और जिस उपायसे यह त्याग रहा है बुद्धिपूर्वक रागादिकको उसी उपायसे जो अबुद्धिपूर्वक रागादिक है वे छूटेंगे। परतु जब तक कर्मोदय है निमित्त नैमित्तिक विकार बराबर वहां बनता रहता है, मगर आश्रयभूतका उपयोग न करनेसे ये अव्यक्त हो जाते है।

(३४३) निमित्तनैमित्तिक योगके परिचयका लाभ—निमित्तनैमित्तिक योग या किसी की भी चर्चासे हमको क्या शिक्षा लेना चाहिए? विकारसे हटना और स्वभावमे लगना। बस एक ही कदम, एक ही निर्णय है ज्ञानीका कि विकारसे मुझे हटना है, स्वभावमे मुझे लगना है। तब देखिये हमने यदि कर्मविपाक और विकारका निमित्तनैमित्तिक योग जाना मायने इन आश्रयभूत पदार्थोंके साथ कारण कार्यका निमित्तनैमित्तिक सम्बध नही समझा तो इससे उपेक्षा हो गई। ये मेरेको सुख दुःख नही देते। जिसे समयसारमे बंधाधिकारमे खूब प्रकट किया है, कोई भी जीव किसी दूसरेका सुख दुःख नही करता। वैसा ही वहां कर्मोदय है जिससे सुख दुःख होते रहते है। तो इन बाह्य पदार्थोंने मेरेको रागी नही किया, यह इसके ज्ञान बना कर्म विपाकसे विकारका निमित्त नैमित्तिक योगका सबंध जाननेपर। तो अब इसके चित्तमे कायरता नही आती। जब यह जान रहा था कि कोई भी परपदार्थ मेरेको सुखी कर देगा, दुःखी कर देगा तो इसको आशा और भय लगा रहा करता था, अब यह आशा और भयसे दूर हो गया, साथ ही निमित्त नैमित्तिक योगके परिचयसे इसको स्वभावदृष्टि सुगम हो गई। उस ही के साथ स्वभावका बराबर विवेक बना हुआ है। जिनको स्वभावका निर्णय नही वे नैमित्तिक शब्द भी नही बोल सकते, विकारको नैमित्तिक नही जान सकते। जिन्होने स्वभावको जाना कि मैं चित्स्वरूप इन औपाधिक भावोसे निराला हूं ऐसा जो जानेगा वह ही समझेगा कि ये नैमित्तिक हैं औपाधिक हैं, हटाये जाने योग्य है ये मेरे स्वभावसे नही प्रकट हुए हैं। तो ज्ञान का प्रयोजन होता है विकारसे हटना और स्वभावमे लगना। यह ही बात मुमुक्षुको चाहिए। अब इसमे और भी सूक्ष्म निर्णय देखें तो भले ही कर्मदशाका और विकारका निमित्त नैमित्तिक योग है, अर्थात् कर्मोदय होनेपर ही विकार बनता है और कर्मोदय न रहने पर विकार

नही बनता । ऐसा योग होनेपर कही उस कर्मने अपनी परिणति नही कर दी, यह जीव विकल्परूप, विकाररूप जो परिणमता है उस रूप जीव परिणमा है । कही उसरूप कर्म नही परिणमा, लेकिन इस अशुद्ध उपादानमे ऐसी ही कला और योग्यता है कि वह जैसे कर्मविपाक का सान्निध्य पाता है उस रूप परिणम जाता है । विवेक जग जानेपर ये आश्रयभूत विकार हटते है और अन्तस्तत्त्वमे उपयोग जमता है तो इस पुरुषार्थसे इन बद्ध कर्मोंमे भी संक्रमण होता है, उपशम होना आदिक इन सब कर्मोंमे कर्मकी परिणतियाँ ही चलती रहती हैं। उसको फिर आगे और विशुद्धिका मार्ग मिलेगा और विशुद्धि प्रकट हो जाती है ।

(३४४) **शास्त्रोके अध्ययनसे प्राप्तव्य शिक्षा**—प्रयोजन यह है कि हमको विकारसे हटना है और स्वभावमे लगना है और इस ही की प्रेरणा मिले, ऐसा सब शास्त्रोका तात्पर्य और मर्म है । प्रथमानुयोगमे जब कथन पढते हैं और उन कथनोंमे घटाव, वृद्धि सब बातें जानी जाती है कि यह गृहस्थी पाया, यह मोहमे लगा, फिर कारण पाया, विरक्त हुआ, समाधिष्ट हुआ, मुक्त हुआ, उस चरित्रसे यह ही तो शिक्षा लेना है कि देखो जब तक वह जीव विकारके अभिमुख रहा तब तक कष्टमे रहा, और जब विकारसे उपेक्षा की, स्वभावकी अभिमुखता ली और स्वभावमे ही रमनेका पौरुष बना तब संकट मिटा । तो उस चरित्रसे यह ही तो प्रेरणा मिली—विकारसे हटना और स्वभावमे लगना । तो यो करणानुयोगमे जो वर्णन है, घटनायें है उनमे भी यह ही शिक्षा मिलती है—चरणानुयोगके आश्रयभूतका त्याग करना । उसमे भी यह ही प्रयोजन निकला— विकारसे हटना और स्वभावमे लगना । जब हम द्रव्यका स्वरूप जानते तब वहाँ यह शिक्षा मिलती ही है ।

(३४५) **आत्मोत्थानका प्रथमावसर**—अब यहाँ एक बात यह सोचना है कि कर्मोदय होनेपर हमको जागृति मिल सकती क्या ? तो एक बात पहले देखिये—इस जीवकी एक अनादि अवस्था जो भी गुजर रही निगोद स्थावर, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिक होना, वे भी जीव है, वे जीव क्या करें ? कोई विवेक नही कर सकते, कोई प्रतिभा नही बना सकते, उनके भेदबुद्धि नही जग सकती । और जब जीवका स्वरूप है कि अपना पौरुष करें, स्वभाव मे आयें, शक्ति प्रकट करें तो क्यो नही करता ? तो सिद्धान्तमे यह बताया गया कि इस जीव को सर्वप्रथम क्षयोपशमलब्धि प्राप्त होती है एक प्रगतिके सिलसिलामे ।क्षयोपशमलब्धिका यह अर्थ है जैसा कि प्रारम्भमे हो सकता है । जीव जब कर्म बाँधता है तो उस कर्मपुञ्जमे जितनी स्थिति बनी वे सब कर्म एक समयमे नही उदयमे आते । जैसे मानो कि १० हजार वर्ष वाली स्थिति बाँध ली—एक दृष्टान्त दे रहे है, ऐसी स्थिति श्रेणी वाले मुनीश्वरोको छोडकर कोई नही बाँध पाता । आयु कर्म आदिकी कोई हीन स्थिति बाँध लें यह बात अलग है, पर सामा-

न्यतया कर्मोकी जघन्य स्थिति श्रेणीमे रहने वाले मुनि बाधते है। यहाँ तो दृष्टान्त दे रहे, तो १० हजार वर्षके लिए कर्म बँधा तो थोडे समय बाद मायने आबाधाकाल छोडकर बाकी जितने समय है उन सब समयोमे वे कर्म बँट जायेगे। मानो १० अरब परमाणु बँधे तो उन समयोमे यो बँट जायेगे कि मानो ५०० परमाणु पहले समयमे उदयमे आयेंगे। तो उससे कम अगले समयमे उदयमे आयेंगे। यों बराबर १० हजार वर्ष तक बँध जायेंगे और उनमे फल देनेकी शक्ति अनुभाग जितना कम कम परमाणु बांटमे मिलेंगे आगे आगे समयमे उतना उतना अनुभाग उनमे बढता ही होगा। तो इस तरह कर्म मानो १० हजार वर्ष पहले बांधा उसके बाद फिर बांधा फिर बांधा तो यो अगले समयके बांधे हुए कर्म आज हमारे आपके उदयमे चलते है, सभी जीवोके उदयमे चलते है किसी भी जीवके किसी एक समयका जो विपाक है, उदयमे, वह उदय, वह कर्म कितने भवो पूर्वके बधे हुए कर्मोमे से है? अरबो खरबो भव पहिले तकका हो सकता है। तो शक्तिका जब बटवारा हुआ तो किसी एक समयमे जो उदय होता है उसका जो अनुपात हो वैसा फल प्राप्त होता। एक जगह बताया—कई दवाकी गोली एक जगह मिला दो तो अब उनमें प्रभावकी बात अनुपातसे बँट गई। कितनी ठंडी कितनी गरम, तो यह उनके अनुपातके अनुसार फलका कार्य होता है ऐसे ही जब उसका अनुपान बना, जिस समयहीन अवस्थामे आता है, जैसे नदी बहती है खूब तेज और जहाँ उसका वेग कम हुआ कि हम आप उस नदीको पार कर लेते है ऐसे ही यह कर्म बेग, यह कर्म अनुभाग जहाँ इस ढंगसे कम मिला अनुपातमे उस समय उसके परिणामोमें कुछ विशुद्धि कुछ उसके अनुकूल बात हुई तो वहाँसे उसके उत्थानका प्रारम्भ होता है।

(३४६) **विशुद्धिबलसे प्रगतिके विशेष अवसरोका लाभ**—क्षयोपशमलब्धिके बाद विशुद्धि बनी, देशना बनी। तो आज हम आप सब लोग अपने लिए यह सोचें कि क्षयोपशम लब्धि तो प्राप्त है अन्यथा मनुष्य कैसे बन गये। विशुद्धि भी मिल रही, देशना भी मिलती जा रही। कुछ तत्त्वाभ्यास भी करते हैं, ज्ञानाभ्यास भी करते है तो बात बनती है। यह निमित्त नैमित्तिक योग दोनो तरफसे है। जैसे बताया कि कर्मविपाकके सान्निध्यमे विकार जगता है तो ऐसे ही जब परिणामोमे प्रगति बने और उस ओर अधिक उपयोग देने लगे तो उसका निमित्त पाकर कर्मोंमे भी हीनता आती है। जैसे जब कर्मका उपशम क्षयोपशम होता तो सम्यक्त्व होता। वहाँ उपशमादि उनको यो ही अचानक नही हो जाते। परिणामोकी विशुद्धिका निमित्त पाकर कर्मोंमे हीनता होने लगती सो अपने पौरुष पूर्वक होता। और उसीको कहा गया करणलब्धि। करणलब्धिमे भी पौरुष जगता तो वहाँ क्या होता है कि अनन्तानुबंधी प्रकृतिमे हीनता आने लगती है। जिसका क्षय क्षयोपशम होता वहाँ हीनता

चलने लगती है। जब करणलब्धिका और प्रताप बढता तो उनके उपशम क्षय, उपशम आदिक पूर्णतया हो जाते हैं। तो इस प्रकारसे जीवकी विशुद्धिका निमित्त पाकर कर्मोमे बदल, कर्मोका निमित्त पाकर जीवमे भी बदल इस तरह ये दोनो ओरसे निमित्त नैमित्तिक योगकी बातें है। अब चू कि यहां इतना अवकाश है ज्ञान पानेसे कि हम अपना उपयोग अच्छी ओर लगायें और खोटे विषय, इनको आश्रयभूत न बनायें। भगवानका दर्शन, पूजन, वदन, चर्चण, गुणस्मरण, सामायिक आदिक कार्योमे उपयोग यदि लगायें तो यद्यपि कर्म-विपाक खाली न जायगा मगर अव्यक्त विकार रहेगा, व्यक्त विकार नही रह सकता और व्यक्त विकार न होने पर उस आश्रव, बधमे भी मदता आती है और वह भी एक पुरुषार्थका कार्य बन आता है। तो यहां हम जब अच्छी स्थितिमे है, अच्छी योग्यता पायी है तो उसका अच्छा उपयोग करें। अतस्तत्त्वका ध्यान करें। इस ही के प्रतापसे कल्याण होगा। अब चूंकि यह बात ज्ञान द्वारा साध्य है और ज्ञान प्राप्त होता है सत्संगसे, इसलिए जीवनमें सत्संगमे रहने व कुसंगके त्यागनेका बडा ध्यान रखना चाहिये।

॥ सुभाषित रत्नसदोह प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ॥

वास्तविकता

१– १०४२ जगतमे अनन्त आत्मा है और उससे अनन्त गुणे जड परमाणु है ।

२– १०४३ वे सभी आत्मा व सभी अणु अनादिकालसे है, अनन्तकाल तक रहेगे ।

३– १०४४ प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक अणु अपने आप सत् है, किसीकी कृपा या असर से नही ।

४– १०४५ प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी परिणतिसे ही परिणमते हैं, दूसरोंकी परिणतिसे नही ।

५– १०४६ आत्माकी दो अवस्थाएँ होती है; पहली अशुद्धावस्था, दूसरी शुद्धावस्था ।

६– १०४७ जहां आत्माके परमे आत्मबुद्धि है, अपनी या परकी पर्यायमे चित्त है, वह उसकी अशुद्धावस्था है ।

७– १०४८ जब आत्मा संकल्प विकल्पसे रहित हो जाता है ज्ञाता मात्र रहता है वह उसकी शुद्धावस्था है ।

८– १०४९ प्रत्येक आत्मा व अणु परस्पर अत्यंत भिन्न है । किसीके स्वरूपमे किसीका प्रवेश नही है ।

९– १०५० शरीर और आत्माका सम्पर्क होते हुये पशु, पक्षी, मनुष्यादिके रूपमें होना अज्ञान दशाका फल है ।

१०– १०५१ अणुवोका काठ, पत्थर, ईंट, लोहा, सोना, चांदी, शरीर आदि स्कंघ रूपमे होना उनकी विकार परिणतिका फल है ।

११– १०५२ आत्मा निर्विकार होकर फिर कभी विकारी नही होता । परन्तु अणु निर्विकार होकर भी विकृत हो सकता ।

१२–१०५३ आत्माके विकारका कारण पूर्वविकार है, अणुके विकारका कारण अणुके स्निग्ध रूक्ष गुणका परिणमन है ।

१३– १०५४ किसी भी आत्मा या स्कंधके साथ अपना समवाय समझना अज्ञान है, दुःखका कारण है ।

१४– १०५५ आत्मामे उठने वाली राग द्वेषादि तरंगें स्वभावसे नही हैं, इसीलिये नाशवान हैं व दुःख स्वरूप है ।

१५– १०५६ पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं, जिसमे सामान्य अंश तो ध्रुव है, विशेष अंश अध्रुव है ।

१६– १०५७ द्रव्यके त्रैकालिक, एकाकार (अखण्ड) स्वभावको 'सामान्य' कहते है, और उसकी प्रतिसमयकी अवस्थाओंको विशेष कहते हैं।

१७– १०५८ "सामान्यकी दृष्टिमे विकल्प नही, विशेषकी दृष्टिमे नाना विकल्प है।"

१८– १०५९ जीवके गुणोंका सामान्य स्वभावके अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्माओंमे इसी कारण परस्पर विलक्षणता नही होती।

१९– १०६० मुक्तात्मा पूर्ण समान है, पूर्ण सर्वज्ञ है, जिनकी सत्य उपासना होने पर उपासकके उपयोगमे कोई व्यक्ति नही रहता।

२०– १०६१ जिस भावमे व्यक्ति नही उस भावमे परमात्मा एक है, वह भाव है शुद्ध चैतन्य भाव।

२१– १०६२ कोई भी आत्मा परमात्मा होकर शुद्ध चैतन्य भावरूप ब्रह्ममे मग्न हो जाता उससे विपरीत सत्ता वाला नही रहता।

२२– १०६३ यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यहीं "ॐ तत् सत्" यही "सत् चित् आनन्द" यही 'सत्य शिव सुन्दर" है।

मुद्रक—सहजानन्द शास्त्रमाला प्रेस, सदर मेरठ